भगवान श्री ऋषभदेव (हिरण्यगर्भ) की महान् श्रमण योग परम्परा में

योगानुशीलन

प्रथम व द्वितीय भाग

(EXPLORING THE PINNACLES OF YOGA)

लेखक

कैलाश चन्द बाढ़दार एम. ए, एल. एल. बी.

प्रस्तावना

डा० दामोदर शास्त्री

अध्यक्ष जैनदर्शन विभाग,

श्री लाल बहादुर शास्त्री केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली

प्रकाशक

प्रबन्धकारिणी कमेटी, दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र

श्री महावीरजी

प्राप्ति स्थान—

मन्त्री कार्यालय
प्रबन्ध कारिणी कमेटी
दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी
सवाई मानसिंह हाइवे
जयपुर ३०२००३

मैनेजर कार्यालय
दि० जैन अ० क्षेत्र श्री महावीर जी
श्रीमहावीरजी
(राजस्थान)
३२२२२०

प्रथम संस्करण १९८२

मूल्य—७५.०० रुपये

मुद्रक—
मनोज प्रिन्टर्स, जयपुर
७९१, गोदीकों का रास्ता
किशनपोल बाजार
जयपुर-302003

सादर समर्पण

प्रातः स्मरणीय विश्वबन्द्य अखिल योगी जनों के आराध्य

परम गुरु योगीन्द्र प्रभु ऋषभ नाथ-हिरणगर्भ

के

पावन पाद-पद्मों में

जो

अपनी अमल आभा से हमें साधना यात्रा में ध्रुव नक्षत्र हैं

एवं

अजस्त्र, अमित आनन्द और प्रकाश को प्रवाहित करते हैं

यह भावपूजा पुष्प सादर समर्पित

प्रकाशकीय

"योगानुशीलन" को प्रकाशित कर पाठको के हाथो मे देते हुए हमे प्रसन्नता की अनुभूति हो रही है। यह ग्रन्थ दो भागो मे निबद्ध हुआ है, जिसमे प्रथम भाग ६ तथा द्वितीय भाग मे ७ इस प्रकार कुल १३ अध्याय हैं।

यह ग्रन्थ महावीर ग्रन्थमाला का २४वा पुष्प है। इससे पूर्व २३ ग्रन्थो का प्रकाशन प्रबन्धकारिणी कमेटी दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी द्वारा हो चुका है। प्रकाशित ग्रन्थो की सूची ग्रन्थ के पिछले पृष्ठ पर प्रकाशित है। इन प्रकाशनो का जैन साहित्यकारो ने स्वागत किया है। इन प्रकाशनो से जैन साहित्य के शोधकर्त्ताओ को विशेष लाभ हुवा है तथा जैन साहित्य की विशालता एव समग्रता का परिचय भी हुआ है। साहित्य की धारा लोक जीवन को सदा से अनुप्राणित करती आई है। हर युग का मोड नव सृजन की माग करता है। साहित्य का नव नव वेष मे सृजन होता रहना समाज की सक्रिय जीवन्तता का प्रमाण है।

वर्तमान युग मे जहा विज्ञान ने भौतिक समृद्धि के नये द्वार खोले हैं वहाँ मानसिक तनाव व आकुलता को भी अनजाने ही नवजीवन दे डाला है। भौतिक सुखो से उत्पन्न मानसिक अशान्ति के निराकरण हेतु पाश्चात्य अति विकसित कहे जाने वाले देश भी भारतीय सतो की योग और ध्यान की शिक्षा के लिये लालायित हो रहे है। भौतिक सम्पन्नता और औद्योगिक प्राविधिकी कल-पुर्जे की भाति मानव का अवमूल्यन होने पर योग–विद्या के लिये यह अभूतपूर्व प्यास अप्रत्यासित नही है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् हमारे देश मे भी योग विद्या के लिये नई चेतना जागी है। इस युग प्रवाह मे जैन योग-साहित्य का क्या योगदान है? जैन विद्या मे योग व ध्यान विशिष्ट और प्रमुख अ ग है। वस्तुत जैन धर्म योग धर्म ही है। भगवान महावीर के निर्वाण के ५०० वर्प पश्चात् से धीरे–धीरे ध्यान की पद्धति लोप हो गई और केवल मात्र शरीर को कष्ट देना ही धर्म समझा जाने लगा। लोग जैन अध्यात्म विज्ञान का मात्र व्रत उपवास से ही समीकरण करने लगे। यह भ्राम भ्राति व्याप्त हो गई कि जैन धर्म मे योग विज्ञान जैसा कुछ नही है। जबकि सत्य यह है कि जैन धर्म पूर्णत अन्तरग महायोग है। इसका उत्स योगशासन के रूप मे सर्व प्रथम विश्व मे हुवा। मूलत यही इसके धर्म

शासन की चतु' सीमा को भी रेखाकित करता है। यहा योग विज्ञान मात्र आसन या प्रणायाम नही है अपितु यह वह विज्ञान है जिससे आत्मा अनुशासित होती है, परम सिद्ध होती है ।

इस आशामय दृष्टिकोण को सस्थापित किया है सर्वज्ञ अर्हन्त प्रमुखो ने । उन्होने सद्दृष्टि के साथ बन्धन मुक्ति और परमानन्द लाभ के लिए पद्धति और क्रम भी दिये है । जैन योग साधना पद्धति की अपनी विशेषता है । इसमे एकान्तिकता नही है । अपितु श्रद्धा, ज्ञान व सदाचार का पूर्ण समन्वय दृष्टिगोचर होता है । कोरे ज्ञान को या कर्मकाण्ड को इसमे स्थान नही है । जैन साधक को मुक्ति के लिये किसी अन्य की शरण मे नही जाना पडता । स्वय ही स्वय की शुद्धिकर परमात्म पद प्राप्त करना होता है । "अयमात्मा स्वय साक्षात् परमात्मेति निश्चय " (ज्ञानार्णवः) । बुद्धि विचार और भाव ही मानव के बन्धन के निमित्त रहे है । पर दिशा बदलने पर ये ही शुद्ध सम्यक् जीवन जीने के लिये व मुक्ति की खोज के लिए उत्कृष्ट तत्वरूप मे निमित्त बनते है ! मोक्षोपाय और योग एकार्थक है । चेतन आत्मा को अचेतन कर्म-पुद्गल के कालिमा मय वातावरण से मुक्त करने के प्रयोजन मे योग शासन व्याख्यात हुआ है ।

जैन अध्यात्म मे योग का क्या महत्त्व है, क्या विस्तार है, क्या लक्षण व परिभाषाए है ? इसकी प्राचीनता और प्रमाणिकता के क्या आधार है, क्या प्रमाण है ? इसकी विश्व को क्या देन है, इसके तत्त्वो की आज के आलोक मे क्या संगति है ? इन सबको विद्वान लेखक ने प्ररूपित किया है । लेखक ने बहुत से ज्ञात अज्ञात प्रमेयो को देकर नाना प्रकार की व्याप्त भ्रान्तियो को दूर करने का भी सफल प्रयत्न किया है ।

सब धर्मों के मूलत. आदि सस्थापक पूर्ण पुरुष हिरण्य गर्भ ऋषभप्रभु रहे है । इस स्थापना मे योग के प्रथम प्रवक्ता के द्वारा जाति और धर्मो की एकता समन्वय और समादर की दृष्टि लेखक ने दी है जो अनेक सस्कृति व धर्म बहुल भारत मे भावनात्मक एकता के लिए उतनी ही उपयोगी है जितनी इस सर्वज्ञ योग विज्ञान की अनेकान्त दृष्टि । इस परिप्रेक्ष्य मे जैन विद्या के विशिष्ट योग विज्ञान को प्रतिपादित करने वाली यह रचना बहुमूल्य है । अन्तरग योग अध्यात्म सस्कृति के प्राँजल गौरव गरिमा स्वरूप को प्रकट करने के लिए पर्याप्त भी है ।

स्वर्णकार कठहार बनाने हेतु कच्चा माल बाजार से ही उपलब्ध करता है परन्तु उसका सौष्ठव बनावट, आकार घडत, जडाई आदि तो उस शिल्पकार की अपनी विशिष्ट कला को लेकर प्रगट होती है । श्रीवाढदार जी की रचना मे अपना ही वैशिष्ठ्य है । कथ्य का चुनाव, भाषा वर्णन की शैली इन सब मे उनकी मौलिकता की छाप है । इसके साथ ही उनके अभ्यास अनुभव इस रचना की उपादेयता की वृद्धि ही करते है । लेखक ने हमारे प्राक्काल के पृष्ठो मे झाका है जो अति सृजनशील व गौरव गाथामय रहे हैं । जिन साक्षियो तर्कों तथा उद्धरणो को लेखक ने प्रस्तुत किया है वे उस प्रागैतिहास पर नई दृष्टि व नये निष्कर्ष को आमन्त्रित करती है । पाठक इन्हे सद्अभिप्राय सहित निरस्त आग्रह होकर मनन करे ।

देश मे आज नैतिक अवमूल्यन हो रहा है । इनके पुनर्स्थापन हेतु जन चेतना जागे यह बहुत आवश्यक हो गया है । इस वातावरण को प्रभावित करने मे सद् साहित्य का भी योग होता है । इसके लिए आवश्यक है कि हम प्राचीन आदर्शजन व आदर्शों को निष्ठा व आस्था से प्रतिष्ठापित करें तथा अर्हंतो तीर्थंकरो ने शाश्वत जीवन रहस्यो तथा मूल्यो का जो योग विद्या के रूप मे प्रतिपादित किया है उनका जीवन्त रूप मे निर्वाह् करें ।

हम श्री कैलाशचन्द्र जी बाढदार का धन्यवाद ज्ञापन करते है जिन्होने अपनी रचना को हमे प्रकाशितकरने का सुयोगप्रदान किया है । "योगानुशीलन" युवा वर्ग व वृद्धजन सबके लिए पठनीय व मननीय है । यह विश्वविद्यालयो के लिये भी सग्रहणीय । आशा है सर्वत्र सभी समुदायो मे इसका समुचित स्वागत व सत्कार होगा ।

क्षुल्लक-रत्न श्री सिद्ध सागरजी महाराज मौजमाबाद के भी हम अत्यन्त आभारी है जिनने हमे आशीर्वाद से गौरान्वन्वित किया है । ब्र० कुमारी कौशलजी ने अपने प्रवास काल मे ग्रन्थ का अवलोकन कर उत्साहवर्धक सम्मति प्रदान कर हमे कर्त्तार्थ किया है । हमारे क्षेत्र के वयोवृद्ध विद्वान प० मूलचन्द जी शास्त्री के ग्रन्थ के सम्बन्ध मे लिखे गये अभिमत के लिए हम उनके भी आभारी है । श्री ज्ञानचन्द जी बिल्टीवाले को भी हम धन्यवाद दिये बिना नही रह सकते जिनके इस ग्रन्थ के प्रकाशन मे पूर्ण सहयोग प्रदान किया है ।

योगानुशीलन की प्रस्तावना लिखने हेतु हमने लाल बहाबुर शास्त्री केन्द्रीय सस्कृत विद्यापीठ नई दिल्ली के प्राध्यापक एव जैन दर्शन विभाग के अध्यक्ष डा० दामोदर जा शास्त्री से अनुरोध किया था । आदरणीय शास्त्री जी ने बडा परिश्रम करके वह प्रस्तावना लगभग ३०० पृष्ठ की हमारे पास भिजवा भी दी थी, जिसके लिए हम उनके अत्यन्त कृतज्ञ हैं । नि सन्देह विद्वान लेखक ने इस प्रस्तावना मे विस्तार से भारतीय योग परम्ररा का अनुशीलन कीया है किन्तु इसको इस पुस्तक मे सम्मिलित करना पुस्तक का वृहद्‌कार कलेवर को देखते हुए व्यवहार्य नही था । इसलिए हमने श्री शास्त्री जी से क्षमा मागते हुए उनकी रचना को स्वतन्त्र रूप से प्रकाशित करने की स्वीकृति प्राप्त करली है और इस पुस्तक मे मात्र औपचारिक अ श ही प्रस्तावना के रूप मे प्रकाशित किया जा रहा है ।

कपूरचन्द पाटनी
मन्त्री

जयपुर
कार्तिक कृष्णा अमावस्या
वीर निर्वाण सम्वत् २५०९

आमुख-आशीर्वचन

- दुःख मुक्ति की एव अनाकुल सुखामृत की चाह प्राणीमात्र को अनन्तकाल से है ।

- करुणा मूर्ति दिगम्बर निर्ग्रन्थ तीर्थङ्कर अनन्त काल से प्राणी मात्र को अमृतमयी योग साधना का कृति रूप से उपदेश करते आ रहे है । उनका ही योग मे शासन रहा है—अन्य सब इसके मात्र अनुशासन है ।

- "एस पडिकम्मण विहि सव्वेहिं जिणेहिं पण्णत्ता,"
चेतना का बाह्य से अन्तर की ओर, अतर से परम ऊर्ध्व की ओर प्रत्यावर्तन हो, तीर्थंकर इस प्रतिक्रमण विधि को अनादि से प्रतिपादन करते आ रहे है ।

- श्री वर्धमान महावीर प्रभु के गणधर श्री गौतम स्वामी ने ईसा से सात शतक पूर्व अनादि से प्रवाहित आ रही सनातन प्रतिक्रमण विधि के बहुभाग को निवद्ध किया ।

- "चैलं वोस्सरामि, अचैल मुट्ठं मि" उक्त प्रतिक्रमण मे इस उल्लेख द्वारा निर्ग्रन्थ पथ की प्राचीनता का समर्थन है ।

- "दस विह धम्म झाणाणा," "एकादस पडिमासु" तथा "नैगाइय" का उल्लेख उक्त प्रतिक्रमण मे है।

- यास्क के निरुक्त मे "उच्चावचैश्च पदार्थाना"—मे जैनो की सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ विवेचना का अनेकातात्मक रूप से माने जाने का समर्थन है ।

- योग शास्ता आदि पुरुष श्री हिरण्यगर्भ ऋषभ नाथ प्रथम तीर्थङ्कर ने इस युग के आरम्भ मे सर्वप्रथम इस धरा पर इसी देश मे मगल विहार करके दिव्य-ध्वनि द्वारा दुःख-मुक्ति का "मग्ग" प्रशस्त किया और योग-शासन दिया । उन्होने 'अप्पाण-धम्म' का प्रवचन किया । अस्तित्व का परम बोध दिया । आत्म-शासन के रूप योग शासन को प्रवाहित किया ।

- उन्होने आत्म-पुरुषार्थ, करुणा, वीतरागता, समता, स्वातत्र्य के अलौकिक प्रकाश दिये। उन्होने आदर्श स्थापित किये—

  निर्माण और निर्वाण के

  कर्म और निष्कर्म के

  बध और अबध के

  प्रवृत्ति और निवृत्ति के

  क्रिया और अप्रतिक्रिया के

  योग और अयोग के

- उनका दिव्य स्वर त्रिकाल निनादित है—
  स्वय सत्य खोजो। किसी के अनुकरण या अनुसरण मे सत्य नही, अपने ही अन्तर मे श्रम मय श्रमण मार्ग मे वह है।

- उन्होने अन्तर्दर्शन की विधा दी, सत्य-अन्वेषण की प्रक्रिया दी। ज्ञान-चक्षु दिये। चारित्र पथ आलोकित किया। अध्यात्म-साधना संवर तथा तप के सूत्र दिये और तीर्थ प्रवाहित किया।

- अन्तर्दृष्टि, अन्तर्ज्ञान और अन्तश्चरण रूप रत्नत्रयात्मक धर्म-स्वरूप मे आत्मा को ख्यात किया अपने चारित्र चिन्हो से सत्य-पथ को रेखाकित किया।

- उन चरण चिन्हो की दिशा मे फिर तेवीस दिगम्बर तीर्थङ्कर–प्रभुओ ने भी आत्म-पथ रूप प्रमुक्ति पथ को आलोकित किया और अप्पाण-सद्धर्म के प्रवचन किये। कोटि-कोटि साधक जन उनकी ज्योति के आलोक मे पूर्णत्व को प्राप्त करते आ रहे है।

निस्सन्देह सामयिक और महत्त्वपूर्ण ही है यह ग्रन्थ-प्रस्तुति। इसमे उस प्राचीन योग-शासन की परम्परा के आध्यात्मिक सत्य एवम् साधना के अनेक आधार तथा स्वरूप नव समन्वय शैली मे प्रस्तुत है। इस "योगानुशीलन" मे इस योग के अनेक अन्तर्तत्त्वो की झाकी तथा समीक्षा आधुनिक सन्दर्भो मे दी है। यह अपने आप मे एक मौलिक और महत्त्वपूर्ण रचना का व्यक्तित्व रखती है और योग वाङ्मय मे अपना विशिष्ट स्थान प्राप्त करेगी यह निस्सदेह है।

यह रचना सग्रह-परक तथा चिंतन परक है। इसमे अनेक प्रमेयो का चिंतन प्रशसनीय है और हम सुयोग्य लेखक के बहुत आभारी हैं। उन्होने योग साहित्य मे लेखन के मार्ग को प्रशस्त किया है— अत यह प्रयास स्तुत्य है, आधुनिक युग के सन्दर्भ मे बहुत उपयोगी है।

अमृत और अमृत-घट की चर्चा से आरम्भ कर इस अनुशीलन मे महा-अमृत-घट प्रभु हिरण्य-गर्भ वृषभेश्वर का योग सन्दर्भ मे जीवन वृत्त दिव्य-उपदेश तथा तत्त्व निरूपण का विवेचन है। इनमे योग विद्या की प्राचीनता तथा प्रमाणिकता का विवेचन एक शोध-प्रबन्ध का ही महत्त्व रखता है।

सुयोग्य लेखक साधुवाद का पात्र है कि प्राचीन चिंतन तथा अध्यात्म योग विज्ञान को नये परिवेश मे प्रस्तुति का सत्साहस किया है। बहुत अपेक्षणीय लोकोपकारी मगल मय सद्साहित्य का यह निर्माण है। निर्मल साहित्य धारा सबको ही धन्य करती है।

यह स्तुत्य है कि सुयोग्य लेखक ने योग-ग्रन्थ माला की ही सयोजना अपने पिता श्री की स्मृति के लिए करके पितृ ऋण, ऋषि ऋण तथा गुरु ऋण से विमुक्त होने का कार्य किया है। उस योग माला का यह प्रथम तथा द्वितीय पुष्प है। इन अध्यात्म पुष्पो की सुगध आत्मोपासको के चित्त को बहुत काल तक प्रसन्न करती रहेगी, इसमे कोई सदेह नही।

इसमे गुणस्थान, मार्गणा, सज्ञाएँ आदि के विवेचन ज्ञान ध्यान के अनुकूल है। श्लोकवार्तिक मे गुण स्थान मार्गणा वगैरह मे योजित करके चित्त स्थिर करने को धर्म ध्यान के अन्तर्गत माना गया है। समत्व जब ज्ञान मे होता है तो समीचीन ध्यान सवर निर्जरा के लिये विशेष रूप है। मुक्ति-मग्ग, प्रमुक्ति-मग्ग निर्ग्रन्थ मार्ग है—इसे ही भगवान गौतम ने प्रतिक्रमण सूत्र मे मोक्खमग्ग कहा है। यह निर्जरा तथा रत्नत्रय रूप स्वात्मोपलब्धि का मार्ग है। यह जिब्भय, निद्दोस, विराग, णिमम, विमोह आदिक रूप से प्रतिक्रमण सूत्र मे ख्यात है। प्रतिक्रमण सूत्र प्राचीनतम सूत्र ग्रन्थ है और उसमे परम्परा से प्रवाहित प्राचीनतम निर्ग्रन्थ अध्यात्म पद्धति निबद्ध हे। प्रतिक्रमण सूत्र मे "अट्ट रुद ज्झाण वोस्सरामि, धम्म सुक्कज्झाण अब्भुट्ठे मि" मे आर्त व रौद्र ध्यान के त्याग और धर्म और शुक्ल ध्यान ग्रहण करने के उल्लेख है। "शुभमण" यह ज्ञान-ध्यान निखर कर पवित्र केवल ज्ञान रूप होता है, "सम-मण" वीतराग विज्ञान रूप होता है। 'तपपहाण' इच्छा रोध को प्रभावित करने वाला गुण रयणसील सागर यानी गुणरत्न और शीलो का सागर होता है।

नि शल्य व्रत योग ध्यान के लिए आवश्यक है। यह चारित्र रूप वृक्ष का मूल है। सयम इसका स्कन्ध है। यह नियमादि रूप योग-अभ्यास जल से इसका सिंचन होने पर नाना ध्यान-ज्ञान-तप रूपी पत्रो का प्रस्फुटन होकर शिव सुख रूप फल प्राप्त होता है। यह दया और अहिंसा रूपी शीतल छाया से सुशोभित है। पाप के सताप और भव भ्रमण को रोकने वाला यह चारित्र वृक्ष हमारे ही भीतर है। ऐसा चिदात्म चैत्य वृक्ष आत्म-चेतना मे ही प्रस्फुटित होता है, अन्यत्र कही नही। इस चारित्र सम्बन्धी योग साधना का ही विवेचन इस ग्रन्थ मे अभिनव व रोचक रूप मे हुआ है। यह योगानुशील उत्तरोत्तर निखरता गया है। इसे पढकर पुरुष जागता है, अप्रमत्त होता है और ध्यान व ज्ञान से आत्म मग्नता चाहने लगता है।

इस ग्रन्थ मे दर्शन-मार्ग के नाम से आख्यात प्राचीन सर्वज्ञ प्रमाणीक ज्ञान तथा तत्त्वो का अनावरण है। लोक अलोक को जानने वाला ज्ञान-आत्मा का सुन्दर चिन्तन किया है। यह प्रस्तार्थ का

स्वरूप है, जिसे आचार्य अलकन ने इस तरह भी कहा है– अनाकुल स्वमवेद्य स्वरूप मे रह, जाग्रत रह, आग्रह मतकर, प्रमादमत कर, स्वं परम् विद्धि । तथा उसमे भी व्यामोह का छेदन कर-ऐसा बताया है। दर्शन मार्ग होने से यह निष्ठा और आत्मावलोकन का, अत. अन्तर्दर्शन और केवल दर्शन का मार्ग है। अन्तर्दृष्टि साधना की ही आधुनिक सज्ञा प्रेक्षा या सम्प्रेक्षा है और वह इस प्राचीन आर्ष योग मार्ग की आधारभूता साधना है। इसे समझे बिना साधना का फल प्राप्त नही होता। इस विधा के तथा ध्यान साधना भूमिकाओ के–अभ्यासो के विवेचन इसमे सराहनीय है। अर्हन्तो के निष्कर्ष और विज्ञान के आलोक मे विवेचन शरीर शास्त्र, मनोविज्ञान तथा आधुनिक विज्ञानो के स्पष्टीकरण से आकर्षक और पठनीय हैं। योग और धर्म वस्तुत एक ही बिन्दु पर अवस्थित हैं और यह सत्य ही है कि योग मोक्षोपाय है, यह रत्नत्रयात्मक है– दर्शन ज्ञान ध्यान-चारित्र सबका इसमे विवेचन है। प्राचीन अर्हत् धर्म गुरुओ के उज्जवल अनुपम तत्त्वज्ञान तथा अध्यात्म पद्धति को इसमे आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ मे दिया गया है। पर अध्यात्म विद्या का विज्ञान लौकिक विज्ञान से भी उच्चतर व उत्कृष्ट है। दोनो के क्षेत्र अलग-अलग भी हैं। पर उस लौकिक ज्ञान के आश्रय अध्यात्म विज्ञान के तत्वो का स्पष्टीकरण आज के समय मे आकर्षक है और स्फूर्ति दायक है। विशेषताओ से भरपूर यह ग्रन्थ अति लोक प्रिय होगा, स्वागत सत्कार को प्राप्त होगा। इस भावना सहित शुभाशीर्वाद है।

सद्धर्म धेनुरखिलोत्सवसंगे
श्री–समागम–सूचन–दूती
देव–मानव–मनोरथ सिद्धि–
–धर्म–वृद्धिरियमस्तु तवैव ॥

—क्षु० सिद्धसागर
मोजमाबाद
(जयपुर राज०)

मेरा अभिमत

श्री महावीराय नमोनमः

अत्यन्त पुलकित तन होकर मै श्रीमान् वयोवृद्ध कैलाशचन्द्रजी बाढदार साहब को अधिकाधिक धन्यवाद इस कारण देता हूँ कि उन्होने सरस्वती माता के भण्डार मे योग के सम्बन्ध मे अनुशीलन कर एक अनुपम नवीन कृति की रचना करके उसे स्थापित किया है।

मैं इस कृति और कृतिकार की सादर एवं गौरव के साथ स्तुति करता हुआ यावच्चन्द्रार्क इसकी महिमा धरातल पर विराजमान होकर योग विद्या के प्रचार और प्रसार मे अपना योगदान करती रहे यही मांगलिक भावना प्रकट करता हूँ। लेखक को कोटिश धन्यवाद।

विदुषां वशवदः
मूलचन्द्र जैन शास्त्री
श्री महावीरजी

योग से अयोग

अत्यन्त रुचिपूर्वक तथा पुलकित मन से मैने श्रीमान् वयोवृद्ध अध्यात्म रसिक श्री कैलाशचन्द्र जी बाढदार रचित योग-विद्या विषयक स्वरूपानुचिन्तन, ध्यानानुचितन एव योगानुशीलन नामक तीनो खण्डो का अवलोकन किया। विभिन्न साधको एव लेखको के ध्यान सम्बन्धी अनेक रहस्यो को आधुनिक सन्दर्भ मे उन्होने सामजस्य पूर्वक सकलित एव उद्घाटित करके सचमुच ही साधक समाज एव सरस्वती भण्डार की सेवा मे अपूर्व योगदान किया है। तीनो ही खण्ड पठनीय एव माननीय है। विषय की स्पष्टता एव सरसता पाठक को बरबस ही अनवरत पढने को विवश करती है।

ध्यान की कला से ही धर्म प्राणवान हो सकता है। आज के विकार एवं तनाव-ग्रस्त मानव को योग विद्या ही मुक्ति दिला सकती है। अर्हतो की सभी प्रतिमाये ध्याना-वस्थित है। जैन साधना का मूलसूत्र ही ध्यान है। एक योग-विद्या ही ऐसा स्थल है, जहां सभी सम्प्रदाय आकर एक हो जाते है। अतः यह कृति यावत् पृथ्वी पर जीवन है तावत् मानव मात्र को योगविद्या के प्रचार प्रसार मे अपना योगदान करती रहेगा। इसी पवित्र एव मागलिक भावना के साथ कृतिकार को मेरा आशीर्वाद है कि योग से अयोग की पुण्य यात्रा मे उन्हे शुद्धात्मा की पावन अनुभूति हो। शुभम्

ब्र० कुमारी कौशल
प्रवास–जयपुर
१६८१

प्रस्तावना

प्रस्तुत कृति 'योगानुशीलन' के लेखक विद्वान् श्री कैलाशचन्द्र बाढदार है। पुस्तक दो खण्डो (भागो) मे विभाजित है। प्रथम भाग मे छ प्रकरण है और द्वितीय भाग में सात प्रकरण है। अन्त मे तीन परिशिष्ट भी हैं।

प्रथम खण्ड के प्रथम प्रकरण का शीर्षक है—स्वरूपामृत प्रदायिनी योग-विद्या (योग-विमर्श) (पृ० ७-३१)। द्वितीय प्रकरण है—तत्त्वो पर विचार : अनन्त सत्ता के परिप्रेक्ष्य मे (पृ० ३२–४७)। तृतीय प्रकरण का शीर्षक है—चेतन आत्म-द्रव्य पर विचार-विमर्श (पृ० ४८–८४)। चतुर्थ प्रकरण है—अन्तर्शोधन के विशुद्धि-मार्ग मे भावो के मोड-गुणसक्रान्तिया (पृ० ८५–११५)। पाचवा प्रकरण है—सर्वज्ञ अर्हन्तो के चिन्तन निष्कर्ष विज्ञानो के आलोक मे (पृ० ११६–१९८)। छठा प्रकरण है—भावोन्मेष ही भावोन्मेष भावो के खेल और भावातीत (पृ० १९७–२२९)।

द्वितीय खण्ड के सात प्रकरण इस प्रकार है—(१) अतीन्द्रिय सुखमय शुक्ल ध्यान तथा निर्विकल्प महासमाधिया (पृ० २३५-२९८), (२) उद्बोधक योग-मीमासाए (पृ २९३-३५१), (४) योग-शासन की प्रागैतिहासिक तथा वेदपूर्व-परम्परा (पृ ३५२-४७९), ५) बोधि, सिद्धि और मुक्ति का यह अनुत्तर मार्ग (पृ० ४८०-५२७), (६) योग-सद्दृष्टिया (पृ. ५२८-५७४), (७) अर्हत्शासन के अन्तरङ्ग विशिष्ट बोध (पृ. ५७५-६१३)।

परिशिष्टो मे भगवान् महावीर के परवर्ती आचार्य योगीश्वरो की परम्परा, तथा दिगम्बर जैन सस्कृति के वैश्विक स्वरूप एव उसका सनातन प्रवाह आदि विषयो पर चर्चा की गई है।

इस प्रकार, लेखक ने भारतीय योग-साधना, विशेषकर जैन साधना के विविध पहलुओ पर विस्तृत प्रकाश डाला है। जैन साधना से सम्बद्ध ऐसा कोई विषय नही रहा है, जो इसमे चर्चित न हुआ हो। जैनेतर धर्मों व दर्शनो मे स्वीकृत मान्यताओ का भी प्रसगानुरूप निरूपण कर लेखक ने व्यापक व उदार दृष्टि अपनाई है, जो सराहनीय है।

प्रकाशक के प्रति आभार प्रदर्शन

प्रस्तुत कृति 'दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी' द्वारा प्रकाशित की जा रही है, इसके लिये प्रकाशन-सस्था के सभी अधिकारी धन्यवाद के पात्र है। सामान्यत किसी तीर्थ से सम्बन्धित

सस्था का इतना ही कर्तव्य समझा जाता है कि वह तीर्थ मे आने वालो की सुविधा का ध्यान रखें, तीर्थ की सुव्यवस्था बनाए रखे या फिर वहा आने वाले यात्रियो की सहायता करें। किन्तु उक्त सस्था, उक्त सामान्य उत्तरदायित्व के स्तर से भी ऊपर उठकर, महनीय कार्य कर रही है, जो स्तुत्य व अनुकरणीय है। 'निश्चय दृष्टि' से यह आत्मा ही तीर्थ है, स्वय देव है, स्वय देवालय है, और सद्ज्ञान या सत्साहित्य का प्रचार प्रसार करना उक्त देवरूप आत्मा के कल्याण की दृष्टि से, तथा देवालय की प्राप्ति हेतु साधना दृष्टि से, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण व उपयोगी है, यह निर्विवाद है। अत यह सस्था प्रकारान्तर से तीर्थ व देव आदि से ही सम्बद्ध कार्य कर रही है।

सस्था की ओर से इस पुस्तक की भूमिका लिखने का मुझे सुअवसर दिया गया जिसे मै अपना सम्मान समझता हूँ, और इसके लिए सस्था के अधिकारियो के प्रति, विशेषकर श्री ज्ञानचन्द्र खिन्दूका जी के प्रति, मैं अपना सविनय आभार प्रकट करता हूँ।

मुझे आशा है कि इस पुस्तक के माध्यम से पाठक आत्मसाधना कर, जीवन को परिष्कृत कर सकेंगे।

१५-६-८२

दामोदर शास्त्री

ग्रन्थ-प्रस्तुति

योग विद्या इस भारत धरा की ही उत्कृष्ट और अति प्राचीन काल से आई विद्या है। परम तत्व पारगामी मनीषी अर्हंतपुरुषो एव तीर्थंकरो ने जिज्ञासा और विचारणा तक ही न रह कर अन्तरात्म-क्षितिजो के पार स्वय आनन्द मूर्ति ज्ञान घन रूप मे ही अपने को विकसित भी किया था। योग विज्ञान का उत्स प्राणी-जीवन के परिष्कार को, निर्मल सत्य आनन्द स्वरूप को लक्ष्य करके तथा उसको ही समर्पित होकर इस भारत धरा पर उन्होने किया।

विश्व के अखिल धर्मो का एक ही स्रोत रहा है। सद्धर्म वही है जो मानव को दु ख मुक्त करके निर्मल आनन्द स्वरूप मे धृत रक्खे। मूल सद्धर्म के ही मूल आधार तत्वो को लेकर विभिन्न सप्रदाय परिपुष्ट हुए है। विभिन्न दर्शन-भूमियो पर से ही नानात्व दृष्टिगोचर होता है। निर्मल आत्म स्वरूप की अन्तर्दृष्टि पर तो प्राणी मात्र समान रूप से चेतन तत्व ही दीख पडता है। जब परम शिव प्रभु हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर ने इस विश्व को इस युग के आरम्भ मे सर्वप्रथम योगशासन दिया तब मानव जाति नाना मतो तथा सप्रदायो मे विभक्त न थी। उस योग मय धर्म-प्रवर्तन मे एक ही सद्धर्म की दृष्टि थी, एक ही निर्मल आत्म ज्ञान की अवधारणा थी। यह समूची मानव जाति के लिए थी। इसकी सीमाए किसी एक प्रदेश या कालखण्ड के लिये नही थी। यह शाश्वत् धर्म अवतारणा थी।

सर्व योगी-जन, आगम, मनीषी पुरुष तथा प्राचीन सप्रदाय एक स्वर से हिरण्य गर्भ प्रभु को ही आदि पूर्ण पुरुष तथा योग के प्रवक्ता स्वीकार करते है। सर्वज्ञ जैन परम्परा उन्हे हिरण्यगर्भ कहने के अतिरिक्त प्रथम तीर्थंकर आदीश्वर आदि भी कहती है। वेद रचना से पूर्व योग विद्या उस योग शासन मे परिपक्व हो चुकी थी, यह एक सर्वमान्य तथ्य है। सम्पूर्ण जीवन की विशिष्ट पद्धति रूप यह योग सारे विश्व मे प्राचीनतम ही विद्या है। इसके प्राणदायी तत्वो को अपनी अपनी धारणा तथा दर्शन मान्यता अनुसार सर्वत्र ग्रहण किया गया है। एक समान सूत्र की तरह यह योग सर्व धर्म-सप्रदायों की एक मूलता को भी प्रकट करता है। यह योग वेद पूर्व प्रागैतिहासिक काल से जुडा है। इसमे आत्मा की मौलिक निर्मलता तथा अनेकात दृष्टि आदि वे तत्व है जो मानव के मद्रूपातरण के लिये मूलभूत है, तथा राष्ट्रीय एकीकरण, सर्व धर्म समादर के लिए, मानसिक उत्क्रान्ति के लिए भी आधार भूत है।

वेदो की तुलना मे उपनिषद्, जैन आगम तथा बौद्ध त्रिपिटक आदि अर्वाचीन समझे जाते है। परन्तु यह निश्चित है कि अर्वाचीन समझे जाने वाले आगम साहित्य मे आध्यात्मिक चिंतन धारा जो

पाई जाती है, वह अति प्राचीनतम काल से ही चली आ रही है। उसका स्रोत सुदूरवर्ती अतीत मे से ही प्रवाहित होता आया है। वही कालान्तर मे लिपिवद्ध होकर वहुत अशो मे अद्यावधि सुरक्षित है। यह सुनिश्चित है कि योग शासन के पुरस्कर्ता हिरण्यगर्भ ऋषभदेव ही है जिनकी ऋग्वेदादि मे स्तुतियाँ है। वेद सूक्तो पर सायण-भाष्य तो अपेक्षतया अर्वाचीन है और यह सचाई है कि सायण ने श्री शकर पूज्यपाद से प्रभावित और प्रेरित होकर वेद मत्रो के अर्थ करने के कई जगह प्रयत्न किये है। वेद उपदेश ही नही, इतिहास भी है, उस इतिहास के साथ भारत की गौरव शाली प्राचीन गाथाएँ भी जुडी हुई हे। उन प्राचीन त्रेषट्शलाका पुरुषो से जुडी है जिनसे भारत के आलोकमय अध्याय वने। उनसे हमारी धर्म, सस्कृति और सारी विद्याओ के उत्स ही जुडे हैं।

तीर्थङ्कर और अर्हत्पुरुष वीतरागी और निग्रन्थ रहे, वे मात्र प्रवचन करते थे अत ग्रन्थ रचनाए नही की। जैन आगम तथा योग रचनाए वहुत वाद मे उस सरस्वती काल मे आरम्भ हुई जिसका पता मथुरा की ककाली टीले के उत्खनन से प्राप्त सरस्वती एव जैन मूर्तियो से चलता है। इसके वाद तो दक्षिण और फिर ऊत्तर भारत के कई समर्थ आचार्य गणो ने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ प्रणयन किये। पर यह भी पता चलता है कि प्राचीन काल मे "निविद" नाम से एक लक्ष-श्लोक प्रमाण ग्रन्थ आदि चक्रवर्ती सम्राट भरत, जिनके नाम पर यह भारतवर्ष कहलाया, की शिक्षा-दीक्षा के लिए महाराजा ऋषभदेव द्वारा लिपिवद्ध हुआ था, पर दुर्भाग्य वश आज उपलब्ध नही है।

आगम शास्त्र, निरुक्तियो आदि के अतिरिक्त योग विषयक रचनाओ मे, ध्यान शतक या ध्याना-ध्ययन, ज्ञानार्णव, तत्त्वानुशासन, योग सार प्राभृत, योग मार्ग, योगामृत, आदि पुराण, समाधि तत्र इष्टोपदेश, तत्त्वार्थ सूत्र तथा उसकी अनेक टीकाए, परमात्म-प्रकाश, द्रव्य सग्रह आदि के अलावा प्रवचन सार, समयसार, नियमसार, रयणसार, अष्ट पाहुड, पचास्तिकाय, समयसार कलश टीका, पुरुषार्थ सिद्ध्-युपाय, आत्मोनुशासन आदि दिगम्बर रचनाए है तथा योगसदृष्टियाँ आदि, हेम योगशासन आदि श्वेताम्वर रचनाए भी हैं। वाद की रचनाओ मे समयसार नाटक, छ ढाला, व्रह्म विलास, अध्यात्म रहस्य ध्यानोपदेश, चिद्विलास, अनुभव- प्रकाश, ज्ञान दर्पण तथा योग प्रदीप आदि अन्य दिगम्बर रचनाए है।

प्रकट ही जैनो मे विपुल योग तथा अध्यात्म साहित्य रचनाए है। इनमे वह चिन्तन पर्याप्ति प्रस्तुत हुआ है जो मूलत प्राचीन रहा है। यही कारण है योग स्वरूप के लक्ष्य एव स्वरूप तथा मोक्षादि तत्त्व प्रतिपादन मे जैन दृष्टि एक स्वर से समान ही रहती आई है जो इसकी विशिष्ट मौलिकता है–जव कि यह वात अन्य सप्रदायो मे मोक्षादि अवधारणा के सम्बन्ध मे नही देखी जाती। जैन आध्यातम परम्परा मे अव भी आचार्य एव मुनिजनो का विहार है, यद्यपि सर्वज्ञ तीर्थकरो का इस भू-भाग मे विहार नही है। ये परम्परा चाहे कई शाखाओ मे विभक्त हो गई पर फिर भी सिद्धातादि तथा योग तत्त्वो मे मौलिक रूप से एक तथा समान है। समर्थ आचार्यगणो ने परम्परा से प्राप्त तीर्थकर प्रवचन तथा ज्ञान को अवधारित करके व्याख्याओ आदि के रूप मे यथा द्रव्य क्षेत्र काल भाव से पुन पुन विवेचित किया है। सर्वज्ञ तीर्थकरो के वचन सूक्ष्म रूप मे अद्यावधि अपनी सम्पूर्ण ज्योति-शक्तियो के साथ गगन मण्डल मे

स्पदित है और साधक यागीजनो को उन वचनो मे निहित महिमा मय सद् सकल्पो के प्रत्यक्ष चित्र मय दर्शन और अनुभव भी होते रहे है। उनमे आज भी उनके अभिमुख होने पर मानव को मानवता तथा देवत्व मे प्रतिष्ठित करने की क्षमताए वर्तमान है। योग का मार्ग सर्वत्र अर्हत् पुरुषो जिनेश्वरो के चरण चिन्हो से सुस्पष्ट चिन्हित है, इसमे स्वपुरुषार्थ से, आत्म शरण लेने से अन्तर्या त्रत होने पर चला जाता है।

यह योग शासन जैनो मे मुक्ति-मग्ग या मुक्ति मार्ग वा तपोयोग के नाम से जाना जाता रहा है। इसमे जीवन दर्शन के अतिरिक्त ध्यान, चारित्र, तप, अहिसा आदि अनेक उपाय रत्नत्रय रूप मोक्ष मार्ग का कथन है। ऋषिगणो ने इसे श्रेष्ठ विद्या स्वीकार किया—"सा विद्या या विमक्तये"—ऐसा उद्घोष किया।

अध्यात्म पथ का द्वार चर्चा (विचय) का चर्या (चारित्र) के साथ एकत्व होने पर निश्चित खुलता है। अन्तश्चेतना का निर्मल रूपातरण,—जो अध्यात्म मे उपादेय है, चर्या से, न कि केवल चर्चा स होता है। (देव) मार्ग का ध्येय एव लक्ष्य, (गुरु) मार्ग का पथ-प्रदर्शक, (शास्त्र) मार्ग का ज्ञान—इन तीनो तत्वो के अन्तर्स्वरूप का जब साधक के अन्तर्भाव मे एकत्व घटित होता है, तब यथार्थ अन्तर्ज्ञान ही प्रकाशित हो जाता है। चर्चा आरोपित ज्ञान है, बुद्धि स्तर से अधिक नही जाता। योग-चर्या इन्द्रिय प्राण एव मन-बुद्धि के स्तरो को वेध करके चेतना की अन्तर्दृष्टि उन्मुक्त करके अन्तर अनुभव लोको मे ले जाती है। तब परमानन्द बोध पर पडे आवरण निर्मलतर हुए भाव-आयामो के उन्मेष पर स्वत. टूटने लगते है।

अर्हंतपुरुषो ने मानव की अभिव्यक्ति को सुधारने हेतु तथा दु ख मुक्ति के हेतु मानव के अन्तर्निहित प्रभु-तत्व को ही बाहर प्रकट करने के प्रयत्न दिये है, मानव की वर्तमान चेतना के अन्य परम चेतना मे उर्ध्वीकरण के उद्योग किये है। उनके निकट वर्ण, जाति, कुल, मत, पन्थ आदि के ग्रहण तथा भेद रेखाए भी महत्वहीन रही है। वे सर्व कृत्रिम भेद सीमाओ से परे, स्वय मानव के ही परम सत्य के खोजी रहे और प्रवक्ता रहे है। यह परम सत्य ही मानव मे सदा से विद्यमान रहा है और विकास की प्रतिक्षा मे है। उस सत्य का निरावरण, दर्शन और आराधन ही मुख्य तत्व है। उस दर्शन को उन्होने निर्विकल्प होकर प्राप्त किया। दर्शन का ही विस्तार ज्ञान है। वह ज्ञान समग्र अस्तित्व का है। समग्र अस्तित्व के दर्शन से ही समग्र ज्ञान का प्रतिफल मिलता है।

अपने दर्शन तथा ज्ञान से बडा या उच्चतर न कोई तत्व है, न द्रव्य है। आत्मा स्वय अपना ईश्वर है, नियामक है। अतः ही वही एक मात्र शरण है। पचपरमेष्ठी इस आत्मा के ही स्वरूप है। परमेष्ठी का अर्थ है जो परम स्वरूप आत्मा मे स्थित है। यही तो मानव आत्मा का परम प्राप्तव्य है। यह प्राप्त ही है—मात्र विकसित होने तथा आवरण क्षय होने की ही प्रतीक्षा है। मानव की सर्व इयत्ता अपने परम ज्ञान के उद्घाटन तक ही है—अर्थात् सर्वज्ञता ही इयत्ता है या कहे वही अनन्तता है। स्व तथा पर सब तत्वो तथा द्रव्यो की विद्यमानता ज्ञान तथा ज्ञान के द्वारा ही है। सब पर पदार्थ ही

थया—स्वय आत्मा भी अपने अस्तित्व, सत्ता, परिचय, सिद्धि तथा सार्थकता के लिए आत्मा के चैतन्य ज्ञान की ऋणी है।

एक दृष्टि मे ज्ञान मय परम निज आत्म सत्ता मे ही सबका अधिष्ठान भी कहा जा सकता है। "अप्पा सो परमप्पा।" वह परमप्पा आप अकेला, विशुद्ध निर्मल अद्वैत सुशाभित होता है। जब तक अन्य द्रव्य के रागात्मक साथ की स्वीकृति है तो जीवात्मा दु खी ही रहता है। एक से दो की स्थिति मे ही सघर्ष है। इसलिए कर्म विमुक्त निर्मल अवस्था ही मुक्ति की अवस्था है—वह अविभक्त अवस्था है।

सत्य धर्म आत्म परक व आत्म धर्म रूप ही हो सकता है, अनात्म पर-स्वरूप रूप हो भी कैसे सकता है ? आत्मा का सहज स्वभाव दर्शन ज्ञान रूप ही है और आत्मा की परिणति तथा उपयोग परिणाम भी चिद्रूप है। इसी के अन्तस्तत्व का प्रवचन अर्हत् तीर्थ कर करते है। इसके ही विस्तार मय चिन्तन मे आगमो का सर्जन हुआ है और सक्षेप मे यह निरक्षर ओकार ध्वनि रूप है। यही सद् धर्म सदा जीवन्त है। इसका उन्मेष या साक्षात्कार चिन्तन-ध्यान की पराकाष्ठा मे निश्चिनता के काल-जयी क्षण मे सम्भव होता है।

आत्मतत्व की मान्यता, निष्ठा-श्रद्धा ही इस योग धर्म का आधार है। यह मान्यता ही अन्तर्प्रविष्ट होकर साकार तथा साक्षात्कार को प्राप्त कराती है। यही आगम चक्षु की सद्दृष्टि को ग्रहण करके परम सत्य के दर्शन को सम्भव कराती है। सम्यक् दृष्टि ही परम सत्य को आविर्भाव करके निरावरण देखती है। इसीलिये उसका स्वरूप सत्य सस्पर्शी होता है। निज अन्तर्यात्रा मे - सम्यक् चारित्र मे—ज्ञान के अनुरूप जीवन स्थिरता मे ही स्व सवित्ति रूप परम आत्म तत्त्व का दर्शन समुपलब्ध होता है।

इस योग विज्ञान में दर्शन ज्ञान और चारित्र की अखण्डता हे। चारित्र ही सारे योग अभ्यास की चरम परिणति है। चारित्त खलुधम्मो। इस ग्रन्थ के आरम्भ मे ही आदर्श वाक्य के तौर पर श्री प्रवचन सार की गाथा इसी सत्य को प्रकट करने को दी है। वह धर्म रूप सत्य समता रूप मे ही प्रकट होता है, सब विषमताओ का नाश करके।

ज जाणइ त णाण ज पिच्छइ त च दसण भणिय।
णाणस्स पिच्छिदस्स य समवण्णा होइ चारित्त ॥ –अष्ट पाहुड ॥

जिसे जानता है वह ज्ञान, जिसे देखता है—प्रेक्षा करता है वह दर्शन। ऐसे ज्ञान व दर्शन (प्रेक्षा) करने वाले को इनके समायोग से चारित्र होता है। आचार्य श्री ने यह गाथा चारित्र पाहुड और मोक्ष पाहुड दोनो मे दी है। ज्ञान व दर्शन (प्रेक्षा) मे आत्म योग ही तो चारित्र को शुद्ध करता है।

योग मार्ग या मग्ग सदा से चिन्तन (ज्ञान) और दर्शन का अत निर्मल सत्य आत्मा का सुनिश्चित मार्ग रहा है और है। आन्तर मौलिक रहस्यो एव सत्यो की सम्प्राप्ति कराने वाले तत्त्वमार्ग

का मग्ग या मार्ग से अतिरिक्त नाम भी क्या हो सकता है ? यह कभी मत या पक्ष के रूप मे व्याख्यात भी नही हुआ। न इसकी पद्धतियाँ किसी ऐसे प्रयोजन के लिए ही है। यह आत्म आलोक का ही मार्ग है—अत सर्वकालिक है—सार्वजनीन है, सारी मानवजातियो को सम्बोधि से बोधित करता है।

यह आत्मा को आत्मा के परम स्वरूप मे—निर्मल उज्ज्वल स्वरूप मे आने का आमन्त्रण देता है, आग्रह करता है। इससे अधिक कुछ भी मगलकारी नही है। यह चारित्र निर्माण करता है—व्यक्तित्व को निखारता है, समृद्ध और पवित्र करता है। मात्र अपेक्षा है इसके तत्वो के व्यवहार की—निष्ठा और जागृति की।

यह आत्मा को आत्मा के निर्मल स्वरूप मे योग कराने से सार्थक रूप ही योगविज्ञान है। विविक्त आत्मा के जो अव्यय, नित्य है, परिज्ञान मे ज्ञान और सम्प्राप्ति (अवस्थिति) अन्तर्निहित ही है। इस अवस्था को ही विषमता से निवृत्ति और समता मे प्रवृत्ति कहा जाता है। यह समता ही समाधि है। यह आत्म-परिस्पदन रूप योगावस्था से अयोग की उत्कृष्ट अयोगिजिनेश्वर रूप आत्मावस्था मे ले जाता है। वही पूर्ण योगावस्था है। यह किसी एक नय या दृष्टि की सकीर्णता से बधा नही है। यह अनेकान्त आत्मा का प्रतिपादक और प्रतिष्ठापक है।

आत्मा विराट है, उसका ज्ञान विराट है, अनन्त है। वह किसी वाणी मे नही बाँधा जा सकता। वह चिद्रूप है और स्वसवेद्य है। इसका दर्शन ज्ञान और आनन्द नित्य और नवीन रहता है क्योकि साधक का स्वरूप आन्तर-वैयक्तिक है। वह अपने ही भावो का उन्मेष करके अपने को निर्मल प्रकट करता हुआ भावातीत के परले पार पहुँचता है। अपने समग्र अस्तित्व ज्ञान की कुंजी सिवाय खुद के और किसी के पास नही। बाहर से आया ज्ञान तो इन्द्रिय ज्ञान है, पर का व पराश्रित ज्ञान है। वह खण्ड ससीम तथा नश्वर है। स्वरूप से इन्द्रिय, मन, प्राण, चित्त सब बाहर ही रह जाते है।

प्राचीन निर्ग्रन्थ श्रमण परम्परा अर्थात् भगवान हिरण्यगर्भ-ऋषभदेव की परम्परा ही बाद के सर्व तीर्थङ्करो के शासन मे भी बहती हुई आई है और पडिकम्मण परम्परा और योग विधियाँ इसी के मार्ग से जुडी है और इसी से ही वस्तुत हैं। अत यह योगमार्ग या योग शासन आत्म धर्म या सहज सनातन सद्धर्म या विश्व धर्म रूप है। निर्मल स्वभाव को साधन बनाकर यह निर्मल स्वभाव ध्येय के लक्ष्य को प्रकट करता है, और उसी मे अभिन्न होकर केवल रूप कर देता है जो सत्य की परम भूमि है।

निश्चय सत्य की परम भूमि के नीचे व्यवहार की—शब्द की भी भूमि है। यही भूमि निर्मल होती है, प्राजल बनती है, तब परम की भूमि के दर्शन सम्भव होते हैं। उस सत्य की ही दृढ अवधारणा और निष्ठा के लिए एक सशक्त–मननात् मन्त्र रूप शब्द को लेकर चलते है। वह आत्म बीज होता है। उससे सम्यक्त्व का जन्म होता है। उसमे उत्कृष्ट भाव प्रकम्पनो का ऐसा ग्रन्थन रहता है कि वह साधक को अति त्वरा से उच्च मनोभूमियो के पार सत्य के निकट पहुँचा देता है—वह चाक्षुषरूप मे सकल जिनेश्वर प्रतिमा का अन्तर्हृदय मे निर्माण सम्भव कर देता है। वह चिन्मय स्वय निजात्मा का

ही निर्मल स्वरूप होता है। उसे जिनेश्वर कहो या किसी भी नाम से कहो—कोई फर्क नही पडता, पर उसके तुल्य अनन्त-अनन्य ज्योतिर्मय स्वरूप का विकास आवश्यक है। ससीम से असीम या अपरिसीम की यात्रा का वह परम अपेक्षणीय बिन्दु है। वह स्वरूप सूर्य सम भासता है और पुरुषाकार है। अखण्ड आत्मसत्ता मे पहुँचने का अन्य कोई मार्ग न ऐसा सरल है न सीधा है। यह विज्ञान सब प्रपचो को हेय करता चलता है। किन्ही भी अन्य विश्वासो या चमत्कारो को यह स्वीकार ही नही करता।

यह ससार व इसके सब तत्त्व परिणामनशील हैं। अत: कोई भी बिन्दु स्थिर दिखने पर भी वस्तुत स्थिर नही है। बुद्धि, द्रव्य प्राण, द्रव्य चित्त सब अस्थिर है—और बन्धन मय लोक जीवन मे व्यवहार के आधार भी ये ही है। एक मात्र निर्मल आत्मा ही अपने आप मे बावजूद नश्वर पर्याय अभिव्यक्तियो के अचल अटल को देख पाने के लिए उसका रस अस्वादित करने को योग का शासन है, मार्ग है। द्रव्य कर्मादि पुद्गलो के व रागद्वेष के प्रकम्पनो से परे जो चिदानन्दघन स्वरूप की अनुभूति है वही परम प्राप्तव्य है।

योग मार्ग या मग्ग सर्वकाल तथा सर्वत्र एक सत्य रूप ही है। आन्तरो सत्यो को उद्घाटित करने वाले तत्व तथा मार्ग का अन्य नाम हो भी क्या सकता है? यह तो आत्मा को आत्मा के परम स्वरूप मे युक्त करने से योग नाम से सार्थक है, तथा यह अयोग (अयोगी-जिनेश्वर) की स्थिति मे ले जाने के कारण आयोग-योग भी कहा गया है। इसे किसी शब्द मात्र मे सक्षिप्न किया भी कैसे जा सकता है? सत्य सत्य है, वह अखण्ड और अबाध है। उसे वेदात, बौद्ध, पातजल, मुस्लिम या ईसाई सत्य मात्र कहना तो एक अश, खण्ड को ही कहना या देखना है। यह किसी एक नय या दृष्टि आदि से बधा नही है क्योकि वह उतना मात्र नही है। वह विराट् है, अनन्त है।

उस सत्य की दृढ अवधारणा के लिए एक नाम (शब्द) तथा एक निष्ठा भी लेकर चलते है और ससीम से अपरिसीम मे ही पहुँचने का प्रयत्न भी करते है, अन्य उपाय भी क्या है? यह शब्द तो ससार ही है, पर वह सत्य शब्द-परे है, शब्द से शब्दातीत होकर ही उसका साक्षात्कार होता है। शब्द की व्यवहार-भूमि निश्चय परम के लिए सोपान है। परम की प्राप्ति पर कुछ करना शेप नही रहता। यह योग विज्ञान परम के लिए अभ्यास रूप से दर्शन, चिन्तन तथा स्थिरता रूप से सीढी रूप है। यह अखण्ड और एक रूप है। किसी लेबिल से उसे सीमाबद्ध करना अयुक्त ही है। इस योग विज्ञान का मूल स्वर आत्म-विशुद्धि है। यह द्रव्य तथा भाव से परम विशुद्धि रूप है। वीतरागता इसका राज पथ है। यह सर्वत सर्वज्ञ शासन है, सर्वज्ञो का यह पथ है। स्वय सत्य खोजे—यही उनकी प्रेरणा है। सत्य खोजना, सत्य मात्र ही देखना तथा सत्य मात्र ही जानना और सत्य मात्र ही रहना,—यही पूर्ण योग धर्म का सार है।

आत्म विशुद्धि यही अध्यात्म का केन्द्रीय विपय है। यह विज्ञान अत: मानव व्यक्ति को आत्मकेन्द्रित करता है। मानव सामाजिक प्राणी है—समाज मे वह जन्मता है और समाज मे ही शिक्षित

तथा दीक्षित होता है व जीवन व्यापन के साधन पाता है। उसमे जीवन की सार्थकता, अनुशासन, तप, त्याग आदि समाज के माध्यम से ही पनपते है। वैसे समाज भी व्यक्ति का ही विस्तार है। व्यक्तियो से ही समाज बनता है। यह सत्य है कि जो व्यक्ति आत्म केन्द्र का परिचय पा लेता है, वही आत्मा के जीवन की निर्मलता मे स्नात हो जाता है और वही समाज मे फिर निर्मलता के मूल्यो को, नैतिकता के मूल्यो को स्थापित भी कर सकता है। आत्म ज्ञान बिना व्यक्ति मे सत्ता, धन आदि का मद बढ जाता है और वह अपना और समाज की सेवा कर सकने के बजाय अपकार ही अधिक करता है। आत्म ज्ञान की अत सामाजिक उपादेयता बहुत है। धर्म सस्थापन का आधार यही ज्ञान मानव को परमार्थ के लिए सकल्पवान बनाता है। सर्वज्ञ पुरुषो ने प्रकट किया कि आत्मा के मौलिक निर्मल स्वरूपो के आलेख पहले तो लेश्या-वर्णो मे, तदनतर अलेश्य वर्णो मे प्रकट होते हैं—जो आनन्द मग्न कर देते है। अर्हत् पुरुषो के संकल्प आज भी वर्ण और अवर्ण रूपो मे साधको को बिम्बित हुए अनुभव मे आते है और इनकी अनुभूतियाँ ही जीवन की सबसे बडी सम्पदा के रूप मे होती है। योग चर्या से ही मानव मानसिक, शारीरिक व्याधियो, चिन्ताओ तथा तनावो से मुक्त होकर चेतना के निर्मलतर स्वभाव मे आरोहण कर लेता है। इसकी सन्तर्चर्या मे उन प्रशात रागद्वेष-मोह-कषाय विवर्जित प्रकपनो का आकर्षण होता है जो वीतराग निर्ग्रन्थ सर्वज्ञ पुरुषो तथा तीर्थङ्करो की अध्यात्म साधना के निःश्वास रूप अद्यावधि अन्तरिक्षो मे विद्यमान है। व्यक्ति और समाज दोनो को ही योग-मार्ग कल्याणकारी है। यह व्यक्ति और समाज की टकराहट को दूर करके दोनो मे समता के भाव देता है।

योग का मूल शासन भगवान हिरण्यगर्भ ऋषभ नाथ के प्रवचनो से नि सृत है। अन्य सब योग इसी प्राचीन मूल योग शासन के अनुशासन हैं। वर्तमान मे सूत्रबद्ध प्राचीन योगग्रन्थ पातजल योग-प्रदीप या योगदर्शन ही उपलब्ध है। उसकी स्पष्ट प्ररूपणा है वह मात्र अनुशासन है और मूलयोग शासन भगवान हिरण्यगर्भ का है। पातजल योगदर्शन मे तत्त्व अवधारणा साख्यदर्शन की है। वह अत प्रकृति को परिणामी और आत्मा को अपरिणामी मानता है। मूलयोग शासन मे चेतन व अचेतन दोनो ही तत्व परिणामी–अपरिणामी है—सामान्य विशेषात्मक है। पातजल ईश्वर प्रकल्पना एक सृष्टि बाह्य ईश्वर की है परन्तु योग शासन मे आत्मा ही ईश्वर है और अर्हत् परिणत आत्माएँ क्लेश कर्म विपाक से अस्पृष्ट ईश्वर आत्माएँ है। आत्माओ की अनन्त सख्या तथा दो तत्त्व मय सृष्टि होना दोनो ही योगो मे स्वीकृत है।

वेदान्त तो आत्मा को मात्र अपरिणामी कूटस्थ मानता है—यद्यपि तैत्तरीयोपनिषद् मे आत्मा के मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय रूप से परिणामित्व की स्पष्ट स्वीकृति है। वेदान्त आत्मा को ब्रह्म-ईश्वर की ज्ञप्ति मात्र मानता है और उसकी प्ररूपणा है कि ज्ञान स्पदना मात्र ब्रह्म-ईश्वर मे है। शेष आत्माये उस स्पदना का ही मात्र अनुभव करती है। अत इस प्ररूपणा मे जीव का न स्वतन्त्र अस्तित्व है, न स्वतन्त्र ज्ञान है। सृष्टि रचना भी उस ब्रह्म-ईश्वर की स्फुरणा मात्र है, अत. वह सब माया रूप है, मात्र कल्पना है, वास्तविक नही है। ऐसे जगत् ब्रह्म का एक विवर्त है। योग शासन सृष्टि व इसके पदार्थों को वास्तविक और मूलत. अनादि निधन मानता है। मात्र पर्याय के ही रूप

बदलते हैं। यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है। आत्माओ को योग शासन मे निरीह व परतन्त्र नहीं माना है। वे द्रव्य रूप से स्वय परमात्मा हैं और अपने निर्मल स्वरूप विकास की प्रतीक्षा मे ही है।

योग शासन मे कर्मावरण न केवल भावरूप है—वह द्रव्य प्रत्यय रूप भी है, और उस द्रव्य कर्मावरण की स्थिति नेत्र मे स्थित पटल की तरह है, जो मात्र ज्ञान करने से ही नही, शल्य क्रिया द्वारा हटाया जाता है। वेदान्त विचार व मनन से, बौद्धिक रूप से ही अज्ञान की निवृत्ति मानता है, मगर योग शासन योग अभ्यास व तपस् द्वारा समस्त अस्तित्व मे से आवरण की निवृत्ति को कहता है। पर, तन्त्र जीव प्रकल्पना मे कर्मयोगी होने की प्रेरणा ही समाप्त हो जाती है, मुक्ति तथा योग अभ्यास आदि निरर्थक हो जाते हैं। वेदान्त मे एक ब्रह्म की अवधारणा लेकर चलते है और उनका यह एक सख्या वाचक है। एक आत्मा की अवधारणा को योग शासन भी देता है। पर यहाँ एक का अर्थ है—निर्मल, विशुद्ध, अविभक्त। एक ब्रह्म कल्पना मे ब्रह्म और ब्रह्माड —यानी चेतन जीव और अचेतन ब्रह्माड की भिन्नता समाप्त हो जाती है। वे "हरिरेव जगत् जगदेव हरिः" कहते है तो यह तो अस्तित्व-सत् धरातल की ही बात है। वस्तुत आत्मा कभी अचेतन नही होता। वह चिदानन्द घन ही है। वेदान्त आत्मा को चैतन्य मात्र कहता है—वह चिद् वस्तु है पर वह आनन्द वस्तु नही है। ऐसा न मानने मे चैतन्य से भिन्न आनन्द वस्तु एक और वस्तु होने से दो वस्तु प्ररूपणा हो जाती है। पर औपनिषदिक श्रुतियो मे तो आत्मा को सच्चिदानन्द माना है—और योग शासन भी ऐसा ही मानता है।

योग शासन मे पुरुषार्थ का स्वर प्रमुख है, पर अन्य योगो मे ईश्वर सत्ता का कृपा-प्रसाद प्रमुख है। वह ईश्वर आत्म सत्ता से व विश्व से बाह्य सत्ता रूप प्ररूपित किया गया है। कृपा प्रसाद मे दासता का भाव है। योग शासन मे आत्मनिष्ठा, आत्मज्ञान और आत्म रमण ही पुरुषार्थ के स्वरूप है। वीतराग शान्त प्रशमरस तथा भाव ही साधन है और साध्य है। यहाँ आराधना मे ओम्, अर्हं अर्हत, णमोकार-पचपरमेष्ठी पदो का, जो गुणपरक हैं, आत्म परक है, ग्रहण है, तो हिन्दू आराधना मे प्रमुखतः व्यक्ति निष्ठ सज्ञाये—यथा राम, सीताराम, गोविन्द, कृष्ण, राधाकृष्ण, सीता, राधा आदि प्रमुख रूप से ग्राह्य हुई है। वेदान्त मे ओम् निराकार ईश्वर वाचक है। योग शासन मे वह परमेष्ठी वाचक है। योग शासन मे जिनेश्वर सम आत्मा आराध्य है, साधक जिनेश्वर परम गुरु की ही स्पर्धा व सपृहा करता है, पर वेदान्त निषेध करता है—'नाद्वैत गुरुणा सह।" योग शासन मे तो जिनेश्वर स्वरूप से अद्वैत होने की हो कामना की जाती है। वही साधना का काम्य है।

पातजल योग मे योग की परिभाषा—चित्तवृत्ति निरोध है—पर योग शासन मे मन वचन काया तीनो का निरोध उपदिष्ट है। निरोध को ही सवर कहा है। योग दर्शन बुद्धि तत्व को जड मानता है और ज्ञान को बुद्धि का कार्य माना है। अत कैवल्य प्राप्ति मे बुद्धि तत्त्व का भी लय होकर ज्ञान का उपादान न रहने से आत्मा न सर्वज्ञ होता है न अनन्त गुण सागर, बल्कि मात्र अस्ति रूप रहता है, मात्र Vital ही रहता है। योग शासन मे तो ज्ञान स्वय आत्मा का विशिष्ट अन्वय गुण है, आत्मा और ज्ञान की अभेदता है, मात्र एकता भी नही। अत सर्वज्ञ कैवल्य स्वरूप अत्यन्त अलौकिक है।

योग शासन पूर्व कल्पित या आरोपित किसी सिद्धान्त या निष्ठा से प्रेरित नही है। अर्हत् पुरुषो ने आत्मा मे ही झाँक कर, जानकर और रमण करके—इस विज्ञान के तत्त्व तथा सत्त्वो एव पद्धतियो को व्यवस्थित किया। यह विज्ञान अत अनुभव पूत है, और अनुभूत सत्यो से नि सृत है। यह दर्शनोन्मुख होकर प्ररूपित हुआ है। ज्ञान दर्शन से प्रमाणिक हुआ है। दर्शन का मूल अर्थ अन्तर-निरीक्षण रहा है, आत्मावलोकन रहा है। अत ज्ञान का भी अर्थ यहाँ श्रुतानुश्रुत ज्ञान नही है, वह ज्ञान ही है, जो स्व आत्म-दर्शन पर प्रसृत होता है। अत यह किसी ग्रन्थ या पंथ को प्रमाणिक नही करता। यह मात्र अन्तर्ज्ञान को ही प्रमाणिक करता है जो स्व व पर ज्ञान की चरम ज्योति शिखरो की अपनी पुरुषार्थ यात्रा से, दर्शन यात्रा से यात्रित होने पर निष्ठित होता है।

इस योग शासन के लक्ष्य, स्वरूप, उपलब्धि, उपलब्धियो की विधियो तथा अनुभव की विलक्षणताओ से सब ही उल्लसित हो सकते है—यदि इसकी शिक्षाओ का अनुपालन करे। आधुनिक विज्ञान प्रसार से उन्मुक्त हुए बौद्धिक स्वतन्त्र वातावरण मे तथा युग चेतना की माग और प्यास के सदर्भो मे यह आवश्यक ही है कि इस ज्ञान की शिक्षाओ को आगमीय व शास्त्रीय बस्तो के बधन से बाहर लाकर पठनीय साहित्य के रूप मे, प्रायोगिक अभ्यासो के रूप मे, एक नई शैलीमे, शरीर विज्ञान प्राणी विज्ञान, मनोविज्ञान आदि आदि विज्ञानो के सदर्भो सहित परिभाषित तथा व्याख्यात करके प्रकाशित करें ताकि इस विद्या का जीवन्त अलौकिक स्वरूप सर्व समाज के समक्ष प्रकट हो। उन आदर्श 'गुरुणा गुरु' अर्हत् तीर्थङ्कर पुरुषो के उच्च लक्ष्य और प्रकाश मय सकल्पो तथा बिम्बो को रूपायित करने की स्थितियाँ भी इसी पर निर्भर है। वैदिक और बौद्ध योग पुस्तको की विश्व बाजार मे बहुत लोक प्रियता इसीलिए है कि उन्होने अपने विपुल प्रकाशन से लोगो की ज्ञान पिपासा बुझाने का प्रयास किया है। इस पिपासा शान्ति मे इस योग शासन का प्रत्यक्ष योगदान अभी तक नगण्य ही रहा है। यथार्थ योग विज्ञान का प्रचार-प्रसार तो दूर—हमारे यहाँ तो इस दिशा मे कोई पहल ही नही हुई। एक दु'खद सम्पूर्ण रिक्तता ही हमारे यहा रही है, हालाकि यह योगशासन आदि–योग विद्या है। सब योग तदनन्तर इससे ही नि सृत भी हुए है।

इस सारे मानसिक चिन्तन मे तथा इस विज्ञान की अलौकिकता से उल्लसित तथा अभिभूत मेरे चित्त के एक अन्तर्क्षण ने मुझे इस दिशा मे प्रवृत्त किया और मैने अन्तर्लक्षित किया कि इस अर्हत् हिरण्यगर्भीय विज्ञान का स्वरूप-चित्र योग, ध्यान और स्वरूप मे निर्मित है। अल्प-श्रुत और विद्वज्जनो का परिहास धाम मैं अपने किंचित् अभ्यास, अनुभव तथा अध्ययन सम्बल के सहारे अन्तर्गुरु प्रसाद तथा सकल्प से प्रेरित होकर अपने उपयोग शुद्धि का भी लाभ जानकर लिखने का साहस जुटा पाया और जैसा कि कहा जाता है, छोटा आरम्भ भी कभी वडा आयोजन वन जाता है वैसा ही मेरे साथ भी हुआ है। मेरे राज्य सेवा से विश्रान्ति काल के अवकाश मे सतत् उद्योग कर मैं (१) योगानुशीलन (२) ध्यानानुचिन्तन और (३) स्वरूपानुचिन्तन—इन तीन वृहद्काय-कलेवर ग्रन्थो मे अपने चिन्तन, अध्ययन तथा सकल्प को समेट पाया हू।

इन तीन ग्रन्थो मे प्रस्तुत योगानुशीलन दो भागो मे विभक्त है और यह साढे छ सौ पृष्ठो मे है। अन्य दो ग्रन्थ भी इतने ही आकार के लगभग है। ये सब ६–७ वर्ष पूर्व ही सामान्यत प्रणीत हो चुके थे और प्रकाशन की प्रतीक्षा मे थे। अनुभव यह रहा कि प्रकाशन व्यवस्था तो रचना से भी दुष्कर है और हमारे यहा नये लेखको की प्रतिभा को यह कुण्ठित और हताश कर देने को पर्याप्त है। ग्रन्थ-प्रकाशको मे स्थिति-पालकता और कूपमण्डूकता के मानस बहुत हैं। नये परवेश तथा नई चिन्तना के साहित्य सृजन का प्रकाशको मे अर्थबिन्दु पर विशेष दृष्टि रहने से स्वागत ही नही होता और साहित्य सृजक पाठको तक पहुँच ही नही पाता। मैं अभिनन्दन करता हूँ दिगम्वर जैन अतिशय क्षेत्र कमेटी श्री महावीर जी का कि उन्होने मेरी कृति प्रकाशित कर देने का निर्णय लिया।

योगानुशीलन मे योग के विषय, योग के उत्स आदि पर पाठको को बहुत महत्वपूर्ण सामग्री मिलेगी और बहुत कुछ नया भी जानने का मिलेगा जो एक नवीन कथ्य और कथ्य शिल्प के साथ है। ध्यानानुचिन्तन मे ध्यान, और उसके भेद-प्रभेद और पद्धतियो पर विशेष अध्ययन है। स्वरूपानचिन्तन मे योग के ही उन अगो पर विशेष अध्ययन है—जैसे समाधि, उपासना आदि, जो योगानुशीलन मे ग्रन्थ विम्तार भय से या तो न दिये जा सके या सक्षिप्त रूप मे ही इगित किये जा सके है। उपासना व समाधि विषय पर स्वरूपानिचिन्तन मे जो विवेचन है वे योगानुशीलन मे अनुपलब्ध हैं। ये तीनो ग्रन्थ वैसे अपने आप मे सर्वांगपूर्ण है—और साथ ही परस्पर सम्बद्ध और पूरक हैं और साधक तथा पाठक इन्हे एक दूसरे के वाद अवश्य ही पढना चाहेगे। बहुत-बहुत दुर्लभ योग विवेचनाएँ तथा अभ्यासो के रहस्य इनमे खुलते पायेगे साधकजन। ये साधना अभ्यासो के लिए तो साधको को स्वर्ग ही हैं। लेखन वहुत कुछ सगति, चिन्तन, तुलना और सग्रहपरक है और बहुत विनय पूर्वक यह कहने मे भी सकोच नही कि मौलिक भी है। ये ग्रन्थ मेरे श्रद्धेय पिता श्री लाधूलाल जी बाढदार की पावन स्मृति मे योग ग्रन्य माला के रूप मे मैंने प्रणीत किये है। मैं आशा करता हू कि योगानुशीलन के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थ पुष्प भी शीघ्र ही प्रकाशित होकर पाठको के हाथो मे पहुँचेगे।

योगानुशीलन के विषय का बहुत- सक्षिप्त विषय कलेवर एक विहगम दृष्टि से ही नीचे दिया जा रहा है, पर यह तो अस्थि मात्र ही अवलोकन है और मेरी अनुनय है कि पाठक अध्यायो के अन्तर मे ही मनोयोग पूर्वक अवगाहन करके लाभ उठाएँ। ये सव रचनायें मीनियेचर पेंटिग सी नही है—कैनवास पेटिंग सी है, सागर को गागर मे भरने के प्रयास रूप हें। पर फिर भी मेरा सद्-अभिप्राय तथा प्रयास रहा है कि इन तीन ग्रन्थ चोखटो मे प्राचीन योग पुरुष— अन्तरग योग विज्ञान के दिव्य चित्र पाठको के अन्तर्हृदय मे, अन्तर्मानस मे उभर सकें, उल्लसित हो सके। अलोचन-समालोचन से पूर्व पाठक उस उभरने वाले चित्र परिचय को दृढता से धारण करें तो मुझे तथा स्वय उन्हे भी सन्तोष होगा। मैं अपनी अल्पज्ञता के लिए क्षमा-प्रार्थी हूँ क्योकि "को न विमुह्यते शास्त्र समुद्रे।"

मै आशा करता हूँ कि किसी काल विन्दु पर मेरे इस समस्त प्रयास का वर्तमान कालिक परिस्थिति, पृष्ठ भूमि, चेतना आदि के वृहत्तर सन्दर्भो मे तथा अपेक्षाओ के आलोक मे, इनकी विशिष्ठ

सार्थकता मे तथा सद्-अभिप्राय की सदृष्टि मे समुचित मूल्याकन होगा। अवश्य ही इनका आरम्भण, अभिमन्त्रण के प्रयास की तरह, कि जो नवोन्मेष दृष्टि-वातायन को उन्मुक्तकर है, लोक मानस को प्रिय लगेगा और यह यथोचित सत्कार पुरस्कार पायेगा। मुझे तो इस रचना काल मे जो उपयोग शुद्धि प्राप्त हुई तथा स्वान्त सुख का आस्वादन हुआ, वह मुझे पर्याप्त ही तृप्त कर रहा है। भावना है सब ही इसके आध्यात्मिक रस से कृतार्थता अनुभव करे। कही-कही इस प्रयास मे पुनरुक्ति प्रतीत हो वह आध्यात्मिक लेखन का दूषण नही भूषण ही है। विषय के भाव और लक्ष्य की बुद्धि द्वारा पकड तथा स्मृति दोनो ही इससे गहरी अकित होने मे मदद ही मिलती है।

एक संक्षिप्त विषय परिचय

प्रस्तुत योगानुशीलन दो भागो मे ग्रन्थित है। पहले मे छ अध्याय तथा दूसरे मे सात अध्याय है।

पाठक पायेंगे कि प्रत्येक अध्याय के आरम्भ मे एक सविस्तार विषय अनुक्रमणिका है। यह ग्रन्थ की विशिष्टता है।

प्रथम भाग—

अध्याय पहला—विषय प्रवेश है अमृत स्वरूप और अमृत घट की चर्चा से। इसमे योग की परिभाषाए, योग के स्वरूप और लक्षणो की चर्चा है। योग के विस्तार और आयाम, योगियो के भेद, योग साधना मे अन्तराय आदि के भी विवेचन है। योग विद्या का एक सिंहावलोकन ही इसमे हो गया है। योग परिभाषा की जैन अनुयोगो के साथ अर्थ सगति अवश्य ही पाठको को मौलिक और नवीन लगेगी। ये अध्याय अनेक आचार्यगणो की विविध विवेचना-वर्णन से परिपूर्ण है।

अध्याय दूसरा–इसमे षट्द्रव्य सत्ता का, सप्त तत्वो का अनन्त सत्ता परिप्रेक्ष्य मे विवेचन है। यह तत्वज्ञान वस्तु स्वरूप के ज्ञान तथा समीचीन ध्यान के लिए आधार देता है। चेतन-अचेतन के स्वरूप का सम्यक् अवधारण आवश्यक है, उस प्रज्ञा-भेद के लिए जिससे आत्म तत्व के ज्ञानतह मे पहुँचना सम्भव होता है। पुद्गल के स्वरूप द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद व्ययध्रौव्य, षड्गुणी हानि- वृद्धि, अनन्त गुण मय आत्मा पर्याय उनमे अनन्त गुण स्रोतस्वनियाँ, आत्मा का चमत्कारिक अस्तित्व आदि के आगमिक सार यहा दिये गये है।

अध्याय तीसरा–इसमे आत्म तत्व पर विशेष विवेचना है। आत्म द्रव्य के लक्षण, स्वरूप और अवधारणा आचार्य श्री कुन्दकुन्द और आचार्य श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्ताचार्य की गाथाओ की तुलना-सहित दिया है। दर्शन ज्ञान, उपयोग के लक्षण व भेद-प्रभेद, ज्ञानाराधना के अष्टाग सविकल्प-निर्विकल्प, सम्प्रज्ञात, असम्प्रज्ञात, निश्चय-व्यवहार, देव-गुरु-शास्त्र की प्ररूपणाएं, जीव संगठन, जीवो की उपलब्धि-स्थान व सचरण, मार्गणाए, जैन मनोविज्ञान मे कषाय-वर्णन, मनोदशाए, अकषाय दशा, कर्मविपाक और अध्यवसाय, अष्टकर्मावरण की व्यवस्थाए, चार अनुयोग द्वार, निमित्त-उपादान, सज्ञाएँ,

आत्मा की स्वतन्त्र दृष्टि, नयदृष्टियाँ, वस्तु के नयातीत निर्विकल्प स्वरूप आदि के सार वर्णन दिये गए है जिनमे जैन तत्व ज्ञान की कथन-शैली रही है। इनमे ही अध्यात्म तत्त्वज्ञान की स्पष्टता की जाती रही है।

अध्याय चौथा—इसमे लब्धियो के भेद व स्वरूप दिये है। इनमे उन अन्तर्शोधक भाव-मोडो का वर्णन है जो जैन योग की विशिष्ट चिन्तना मे गुणस्थान के रूप मे वर्णित हुए हैं। ये साधक के जीवन मे उत्क्रान्ति के मार्ग-चिन्ह है। इनमे साधक सिद्धावस्था तक यात्रा करता है। अध्यवसायो के परिष्कार रूप प्रवाह परिणति मे गुणस्थान आरोहण होता हैं। ये उपयोगी है साधना-प्रगति को स्वत जानते तथा नापते रहने के लिए तथा इनका मनन धर्मध्यान के रूप मे चित्तस्थैर्य के लिए भी उपयोगी है। अध्यवसाय परिष्कार की यह चर्चा जैन विद्या की मौलिक चिन्तना है और जैनेतर स्थलो मे अनुपलब्ध है। कर्मावरण के द्रव्य प्रत्यय व भाव-प्रत्यय रूप मे वन्ध की अवस्थाए व प्रकार आदि के विवेचनो मे जैन कर्म-व्यवस्था के विशिष्ट स्वरूप है और ये भी जैन अध्यात्म चिन्तन की विशिष्ट देन है। आत्मा, आत्मा की आस्था, मोक्ष स्थिति और सिद्धात्मा के वर्णन से भी यह अध्याय सर्वधित है।

मोक्ष का स्वरूप क्या है? क्या यह मात्र देह छूटना जितना ही है? यह है आत्मा के दर्शन तथा ज्ञान गुण का निराबाध विकास, उनकी स्थिरता, कर्मश्लेष की साथ ही निवृत्ति। पर्याय मे शुद्धि का विकास आत्म चारित्र का विकास है, वही आत्मा की शुद्ध अभिव्यक्ति की चरमता मे ले जाता है। इसमे व्यवहार न गौण न निश्चय प्रधान-दोनो का सम सन्तुलन ही साधना यात्रा है। व्यवहार शुद्ध होता है स्वरूप निर्णय से, मिथ्या दृष्टि की निवृत्ति से, आत्म निष्ठा की जागृति से। जिस अनुपात मे उपयोग व्यवहार मे निर्मल होता है उसी अनुपात मे क्रम-मुक्ति भी होती जाती है। उपयोग की निर्मलता प्रथम प्रशस्त निमित्ताश्रय से फिर निमित्तोतीर्ण होकर होती है और अनुत्तर दशा की प्राप्ति होकर प्रमुक्ति होती है। अन्तर्भावो के शोधन क्रम मे भावोतीर्ण भावातीत की प्रशसा है।

पांचवाँ अध्याय–यह अध्याय अनेक चर्चा प्रकारो से महत्त्वपूर्ण है। जीव और अजीव के शाश्वत जैन ज्ञान की व्याख्या हैं इसमे आधुनिक विज्ञान के आलोक सन्दर्भो के साथ। शरीर शास्त्र, मानस शास्त्र, मनोविज्ञान, जीव विज्ञान, प्राणी विज्ञान तथा पदार्थ विज्ञान के आलोको मे अर्हत प्ररूपणाओ के सत्य निरावृत किये हैं। अर्हतो के सत्य ज्ञान अपने आप पर अपनी ही सच्चाई पर आधारित है। पर वे आधुनिक विज्ञान के आलोको मे भी खरे है।

मानव के भय मृत्यु-भय, मारणान्तिक समय के अनुभव, वैज्ञानिको के इस सम्बन्ध मे शोध व निष्कर्ष, मृत्युपरान्त जीवन, पच देह, तैजस व कार्माण तत्व, जीव और अजीव की समान्तर क्रिया व भाव, चेतन अचेतन का परस्पर सश्लेषण, मन की सरचना, मन से अमृत प्रवाह, भाव इन्द्रिय और मनोलब्धि, अन्त स्त्राविक ग्रन्थि सस्थान और उनके रस निर्झरण, तैजस देही प्राणकुण्डलिनी, प्राण-स्फोट, शक्ति-स्फोट, शक्तिपात का रहस्य, तैजस देह का उसके निरूपयोग लक्षण के कारण ध्यान मे आश्रय-उपादेयता, त्रियोग सवर रूप ध्यान के तीन मौलिक प्रकार, आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार मे कई

सस्करणो मे विलुप्त तीन गाथाओ की चर्चा, आदि आदि अनेक महत्वपूर्ण प्रमेयो की चर्चा इसमे है। सामायिक की और ब्रह्माण्ड की समरसताए, आत्मा की अमर और निर्मल विराट्ता की एक विन्दु पर व्याख्या, जैन साधना मे दो परस्पर पूरक विधाए, सप्तकोश, जीव की सात मजिलो की यात्रा, पदार्थवाद पर चेतनवाद की विजय दुन्दुभि आदि रूचिकर वर्णन से यह भरपूर है। अध्यात्म के चिन्तन व आत्म सिद्धियो के समक्ष विज्ञान तो बौना है और अभी अधूरा ही है।

छठा अध्याय—इस भाग का अन्तिम अध्याय है और उत्कृष्ट ही विचार सामग्री से पूर्ण है। जाग्रतादि भाव अवस्थाए, भावावेश, भावोन्मेष, आस्था से भावातीत मे आरोहण, भावध्येय, ध्येयभाव, चारित्र पुरुष की निर्मल उद्भावना, अहिंसक क्रान्त पुरुष की अपेक्षा, सर्वत्र समदर्शन, ज्ञान, भाव, जाग्रत भाव की श्रेष्ठता, रागादि रहित भावान्तरो की अपेक्षा, परमात्मा प्रकाश की भाव व भावातीत पर अनुपम गाथाये है। निराकार का सकार मे पर्यवसान-अमूर्तिक आत्मा के प्रत्येक्ष दर्शन, पुरुषाकार साक्षात्कार के रहस्य आदि मनोरम विवेचन इसमे पठनीय और मननीय ही है।

द्वितीय भाग—

प्रथम प्रकरण—इसमे पढिए अतीन्द्रिय आत्म सुख, आत्मरति, शुक्ल ध्यान तथा निर्विकल्प महासमाधि, ध्यान जप के अन्तर्रहस्य, एकाग्रता और धारणा के प्रयास। सम्भोग से समाधि रूप मिथ्या प्रस्थापना का निराकरण, ब्रह्म विहार के नाम पर लोगो की ठगी का पर्दा फास, सप्त सर्वज्ञ मण्डल, अरहन्तो के अन्तरीक्ष मण्डल, औदयिक आदि पंच भाव, कार्य व कारण परमात्मा, कार्य परमात्मा की उपलब्धि, भगवान, ईश्वर आदि की परिभाषाए और लक्षण इन सब के विवरणो से यह अध्याय साधना पक्ष के लिए बहुत स्पृहणीय है।

द्वितीय प्रकरण—इसमे उन महत्त्वपूर्ण योग मीमासाओ की चर्चा है जो आचार्य कल्प प० टोडरमल जी के मोक्ष मार्ग प्रकाशक मे आई है। साथ ही प० वनारसीदास जी की परमार्थ वचनिका की चर्चा है। प० टोडरमल जी व प० वनारसीदास जी न केवल विद्वान थे वे अध्यात्म के मर्मज्ञ भी थे। रहस्यपूर्ण चिट्ठी जो प० टोडरमल जी की है अतिप्रसिद्ध ही है। मोक्ष मार्ग प्रकाश मे स्वरोदय,, प्राणायाम अनहदनाद, अजपा जाप, आदि के निषेध है—इनके मूल प्रयोजन भूमिका भेद, वीतरागता की प्रमुखता के सन्दर्भ आदि यहा स्पष्ट किये गये है। योग, ज्ञान, मोक्ष, अनुभव, परिणाम मग्नता, ध्यान के उत्तरोतर प्रत्यय, सामान्य विशेष, केवल ज्ञान विशेष पर्याय, व्यक्ति दशा का उदघाटन मोक्ष मार्ग एक, आदि आदि साधनोपयोगी इनके विचारो का सार ही यहा प्रस्तुत किया गया है। साथ ही आजके सन्दर्भ मे समयोपयोगी विचार भी जो तप, व्रत महोत्सव-प्रदर्शन तथा अन्तरग साधना ध्यान की विशेषता ही रखने सम्बन्धी है दिये गए हैं। ये व्यक्ति और समाज की उत्थान की दृष्टि से मूल्यवान है।

तृतीय प्रकरण—यह अध्याय इस सारे योगानुशीलन मे साधना दृष्टि से अति ही महत्त्वपूर्ण है। यहा योग अध्ययन का सारसर्वस्व ही अभ्यास दृष्टि से उपस्थित कर दिया गया है। साधना-लक्षण, रूचि, तत्व, भेद पद्धति, साधना क्षेत्र का विस्तार, सराग व वीतराग साधना भेद, आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा

उपदिष्ट सोह साधना, हस, सोह और परमहस, कायोत्सर्ग, कायप्रेक्षा, प्राण प्रेक्षा, चित्त प्रेक्षा, चैतन्य चक्र प्रेक्षा और सर्वोपरि स्वात्म परमेष्ठि प्रेक्षा, नाद, चन्द्रलेखा, कला, चित्त की अतीन्द्रिय दर्शन शक्ति सामायिक-दीप, अन्तर्यात्रा प्रकाश की धाराए, आभामण्डल, चित्त व चिद् कला अन्तर्शोधन ध्यान की पाच अवस्थाए, ध्यान की सप्त भूमिकाए, क्षणोत्तीर्ण अवस्था की विधि, चतुर्भेदक ध्यान और ध्यान की सप्त भूमिकाओ की सगति आदि, उन विषयो की चर्चा यहा है जो उच्च साधना सोपानो के लिए आवश्यक और लाभकारी है ।

आज के मानव परलोक या स्वर्ग या नरक के प्रलोभन या भय से प्रभावित नही होते । पर मनोविज्ञान वेत्ता व मानस-शास्त्री आज के इन मानवो को पूर्ण शिथलीकरण कराते हैं, अनेक मानस व्याधियो और तनावो से मुक्ति दिलाते है । यह कायोत्सर्ग की ही एक प्रकिया है । अपनी मनो व्यथाओ को अपने आप से या किसी व्यक्ति को कह डालने की विधि को आज प्रसिद्ध किया जाता है । पर वह भी तो आत्म निरिक्षण या आत्म विवेचन जिसे प्रेक्षा कहने है, का ही तो एक रूप है । वैज्ञानिको ने शोध कर पाया है कि सवेदन शील केन्द्रो पर एलेक्ट्रोड का विल्ली पर प्रयोग करने पर विल्ली मे अद्भुत स्वभाव परिवर्तन होता है । वह इतनी अहिंसक हो जाती है कि चूहे उस पर कूदते रहे पर वह उन्हे कुछ भी क्षति नही पहुँचाती । अन्त स्रावी ग्रन्थियो मे रस परिवर्तन चक्र प्रेक्षा मे सम्भव है । सवेदन शील चक्रो तथा केन्द्रो के ध्यान स्वभाव परिवर्तन कर देते है । इस प्रकार कषाय मुक्ति को विज्ञान के शोध प्रमाणित कर रहे हैं । दूर दर्शक शक्ति जिसे दिव्य नेत्र कहते है की पुष्टि विज्ञान ने की है । २६ नवम्वर १९३४ को "रायल यूनिवर्सिटी ऑफ रोम" मे मनुष्य के दूर दर्शन शक्ति का प्रदर्शन किया गया । स्नायन्विक मनोविज्ञान के प्राध्यापक डा० गिसेप कालिगीरस ने एक व्यक्ति के शरीर के कतिपय स्थानो को दवाया और उसने दीवार की ओर मोजूद लोगो और चीजो के वारे मे सही-सही जानकारी दे दी ।

वस्तुत अध्यात्म तो विज्ञान से वहुत वडा है । इसके अभ्यासो से मानव की पराशक्तियो का पुन्ज खुल जा सकता है । चैतन्य ऊर्जाओ के विकास की दिशा मानव के लेने पर क्या सम्भव नही है ?

योग वस्तुत चेतना को निर्मल करने की विद्या है, कला है, पद्धति है, विज्ञान हैं । मानव निर्मल हो उसकी दृष्टि निर्मल (सम्यक्) हो, रहनी स्वच्छ हो, उसकी अन्त सुप्त भावनाए जागे और विकसित हो यही योग का मार्ग-'मग्ग' है । पर विडम्वना है कि इसे भी एक सम्प्रदाय, मत और मजहब का नाम दे दिया गया है । यह मानव के अन्त स्वभाव से जुडा है और स्वभाव का ही अन्य नाम धर्म है ।

इसी अध्याय मे भाव शुद्धियो, अनुप्रेक्षाओ आदि का भी अकन है जो मानव मानस के सद् सरचना व साम्यभाव के अविर्भाव मे सहकारी हैं ' पचशील भावनाए, सोलह कारण भावना, दश धर्म भावनाए सवर व निर्जरा व शुद्ध भाव व नय की अपेक्षा, अहिसा और करुणा और प्रेक्षा ध्यान की निष्पत्तिया आदि की जानकारी तत्वोदय भावोदय करती है, ज्ञान क्षितिज को आलोकित करती है ।

अष्ट पाहुड के मगलाचरण मे ही पद आया है – 'दर्शन मार्ग' इस दर्शन को निष्ठा व श्रद्धा तक ही तक सीमित न समझे । यह तो अन्तर अवलोकन की विद्या तक विस्तार पाता है और मात्र दर्शन रूप मे केवल दर्शन व केवल ज्ञान को सकेतित करता है ।

केवल दृष्टा कब परिणत हो ? द्रव्य कर्म, भाव कर्म और नो कर्म के सूक्ष्म प्रकम्पनो एव भाव लहरियो की प्रेक्षा से उनके क्षेत्र से परे मात्र चैतन्य अनुभूति मे स्थिर होकर वह दर्शन है। मन के द्वारा सूक्ष्म मन, सूक्ष्म मन के द्वारा चेतना, सूक्ष्म चेतना द्वारा आत्मा को देखा जाए फिर आत्मा के द्वारा आत्मा देखो यही दर्शन-मार्ग का विकास क्रम है।

योग का मार्ग मन वचन काया के सवर व ध्यान द्वारा साधक को आत्मा के ही सम्मुख कर देता है। प्रेक्षाध्यान अत अर्हंत तीर्थंकरो की मौलिक ही विद्या है। अनुभव प्रकाश (पृष्ठ १३) पर स्पष्ट कियागया हैं—

"ज्ञान जानने मात्र, दर्शन देखने मात्र, सत्ता अस्ति मात्र, वीर्य वस्तु निष्पन्न सामर्थ्य मात्र, केवल ऐसा प्रतीत्य मात्र, रुचिभाव की, आस्तिक्यता श्रद्धान चाहिए। तिस तै उपजी आनन्द कन्द मे केलि करि सुखी हो.... स्वरूप मे केलि स्वरूप मे परिणति रमावणी तिस तै सुख समूह भया है और इस तै ऊँचा उपाय नाही। भव्यन को शिवराह सोहली (सरल सहज) यह भगवन्त ने बताई है"।

आचार्य शुभचन्द्रादि ने भी इसी को उत्कृष्ट ध्यान तन्त्र बताया है आज के युग की सम्बोधि के सन्दर्भ मे योग मग्ग के सत्व व अस्तित्व को परिभाषित करते हुए इस विद्या का प्रभेद सहित अकन साधको को लाभकारी है। पदार्थ प्रतिबद्धता को तोडकर चैतन्य प्रति बद्धता के दर्शन विधा की आज विश्व को कितनी अपेक्षा है!

चतुर्थ प्रकरण—यह एक विस्तृत विवेचना मय प्रकरण है। योग के प्रवक्ता भ० हिरण्य गर्भ ऋषभदेव या वृषभनाथ है वेदो के अनेक सूक्त, नासदीय सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त, पुरुष सूक्त आदि के अर्थ नव्य दृष्टि से जो प्रचलित व रूढीगत नही है —अर्थ प्रस्तुत करके तथा अनेक पुराणादि के उद्धरण देकर प्रस्थापना प्रस्तुत हुई है कि सर्व धर्मो तथा योग के ज्ञान के मूल स्रोत एक ही है। वह स्रोत भ० हिरण्य-गर्भ ऋषभ देव एक मात्र ही है। सर्व धर्म सम भाव व समन्वय की वे आज भी दृढ कडी है। वेद, उपनिषद्, गीता, पुराणो के आलोक इस एक ही निष्कर्ष को आलोकित करते है। गिरि गुहा और पर्वत मालाओ मे ध्यान रत, तपोरत अर्हत् सर्वज्ञ पुरुषो का प्रवाहित योग मार्ग और उनके दर्शन व ज्ञान मय निर्मल आत्मा के दर्शन एव चरित्र गठन ही आज भी आग्रह योग्य है। भारतीय ज्ञान और सस्कृति की जडे कितनी ही सुदूर प्रागैतिहासिक काल के गर्भ मे से आई है। जीवन के प्रति आस्थाए, जीवन के मूल्य, पद्धतिया उन अर्हत् पुरुषो ने कितने पूर्व, वेदो से भी पूर्व स्थिर कर दी थी। वे निग्रन्थ थे। ग्रन्थ निर्माण ब्राह्मणो ने किये। वेदो मे अत. उनकी स्तुतिया है उनके ज्ञान के सकेत है। उनके योग मार्ग, ध्यान केवल ज्ञान, अग शास्त्र आदि के वेदो मे उल्लेख है। जो उनके योग शासन को वेद पूर्व बताने को पर्याप्त हैं। वेद मे उनके उल्लेखो का अर्थ यह नही है कि ये सब वेद से नि सृत है यह कहना वैसा ही होगा जैसे मेरी इस पुस्तक मे इस्लाम व ईसाई धर्म का, जो आज मेरे इस काल मे मेरे पूर्व से ही प्रवाहित आ रहे है, मैं उल्लेख करू और मेरे बाद आने वाले यह तर्क करे कि इस्लाम व ईसाई धर्म मेरी इस पुस्तक मे निकले है। समकालीन या पूर्व कालीन स्थितियो का वाङ्मय मे परिचय आता ही है। यह स्वभाविक है।

पंचम प्रकरण–बोधि, सिद्धि और मुक्ति के इस योग मग्ग के अणुत्तर मार्ग के स्वरूप व उत्स का इसमे स्पष्टीकरण है। भगवज्जिनसेनाचार्य द्वारा वर्णित भगवान ऋषभदेव हिरण्यगर्भ द्वारा योग के प्रवचन प्रसग का तत्वोपदेश का जो श्री गौतम गणधर प्रभु के श्री मुख व परम्परा से आया है वर्णन यहा दिया गया है। योग के महत्त्वपूर्ण षडगो की परिभाषाए यहा दी गई है। भगवान ऋषभदेव हिरण्यगर्भ का जैन सूत्रानुसार सक्षिप्त जीवन वृत और परम्परा का वर्णन किया है।

वस्तु व्यवस्था की ज्ञान रश्मिया, ध्यान प्रकाश के चरण तथा "ध्यानाध्यन" ग्रन्थ के ध्यान तत्वो के सारश दिये हैं। ये ही धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान प्ररूपणाओ के रूप है। सयम और तप के दश भेदो के भी वर्णन दिये हैं।

छठा प्रकरण–इसमे योग सम्बन्धी बहुत सी उपयोगी जानकारिया है। आ० हरिभद्र की कृतियो का व योग सदृष्टियो का परिचय दिया है। अष्टविध अमृत कुम्भ व अष्ट विध विष कुम्भ क्या है ? इन्हे भी समझिए। इनका मुक्ति होने मे क्या अनुक्रम है ? 'योग मार्ग' के अष्टाग योग के स्वरूप, परिभाषाए, त्रियोग मय भगवान वृषभदेव की साधना-वर्णन, चतुर्भेदात्मक ध्यान के प्रत्ययो की चतुर्गति के के साथ सगति, धर्मध्यान आदि यहा विवेचित है। योग विज्ञान और उपनिषद् ज्ञान की साम्यता और विलक्षणता, ध्यान प्रक्रिया जो सर्वज्ञ प्रणाली की है, वर्तमान क्षण का केवल किरणो वाले स्वरूप मे सतत् निवेदन आदि के महत्त्वपूर्ण विषय है जो विवेचन किये गए हैं।

सातवां प्रकरण–इसमे अर्हत् हिरण्य-गर्भ भगवान ऋषभदेव के योग धर्म शासन के अनेक अन्तरग विशिष्ट बोधो और प्रेरणाओ का विवेचन है। पाच भावो सहित आत्मा का देखना, सर्व धर्म मय अनेकान्त, केवल स्वय प्रमाण अवलोकन (मात्र देखना), समीचीन आत्म धर्म, शुद्ध शील का सूत्र, धर्म और विज्ञान का समन्वय, अमृत मय केवल किरणो की वर्षा और धाराए, सर्वोदय धर्म तीर्थ, जैनो के परम तत्व 'सिद्धपद' की भावना तथा गतिशील आचरण-चरण रूप सम्यक् चारित्र की भावना तथा भगवान हिरण्यगर्भ के ज्ञान मय अप्राकृत पुरुषाकार ध्यान द्वारा अमर जीवन आदि का वेदो मे सग्रह आदि के साथ तथा अन्य अनेक प्रेरक विवेचन पूर्वक योगानुशीलन का उपसहार है।

परिशिष्ट १ मे भ० ऋषभदेव की वन्दना है। जो अन्त्य मगल वाचन के रूप मे है। परिशिष्ट २ मे अन्तिम तीर्थंकर भ० वर्धमान महावीर के बाद मे जो दिगम्बर जैन योगीश्वर आचार्य परम्परा का प्रवाह रहा है उनमे प्रमुख आचार्यो के नामो की सूचि दी गई हैं। परिशिष्ट ३ मे योग शासन के अध्यात्म तत्वो की सख्या आदि के सम्बन्ध से यन्त्र लेखन की विधियो की सूचना दी गई है। चतुर्विशति तीर्थंकरो, सप्तशत विंशति जिनेश्वर प्रभुओ, त्रेसठ शलाका पुरुषो के नाम आदि को दिया गया है। ये प्रथमानुयोग के विषय है। इस ग्रन्थ मे गुण स्थान वर्णन से करणानुयोग, आत्मादि के स्वरूप वर्णन से द्रव्यानुयोग, साधना व चारित्र अभ्यास आदि के वर्णन से चरणानुयोग और त्रेषठ शलाका पुरुषो व सात सो वीस जिनेश्वरो के सकेतो से प्रथमानुयोग देकर यहाँ चारो अनुयोग द्वारो की भावना हमने पूर्ण की

है । णमोकार मन्त्र से निष्पन्न तत्व सख्याओ के विस्तार से यह योग धर्म ही साख्य कहा जाये और भ० हिरण्यगर्भ ऋषभदेव ही यथार्थ प्रचीन ज्ञान योग (साख्य) के प्रवर्तक है—ऐसी मान्यता व विचार प्रस्तुत किया है । अर्थात् भ० हिरण्यगर्भ ऋषभदेव ही योग के प्रवक्ता तथा साख्य के कपिल है, उनसे पूर्व कोई पूर्ण पुरुष नही हुआ—यह प्रस्थापना इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के चौथे पाचवे प्रकरण के विपय विचार विस्तार मे है और यह पाठको को मननीय है ।

चतुर्विंशति तीर्थंकरो की कल्याणक तिथियो मे से कई तिथियो के सम्बन्ध मे उत्तर पुराण, हरिवश पुराण, तिलोयण्णत्ति पदम-पुराण, त्रिलोकसार आदि-पुराण आदि आदि मे मत भिन्नता है, मेरे लिए यह बडा मुश्किल था कि मै इस सम्बन्ध मे निर्णय करू की कौन तिथि सत्य है । मैने अतः आधार लिया है परम पूज्य आचार्य सूर्य सागर जी महाराज द्वारा सग्रहित "सद्बोध मार्तण्ड" ग्रन्थ का, जो श्रीयुत प० मुन्नालाल जी काव्य तीर्थ ईन्दौर से सम्पादित तथा १९४२ वर्णी लक्ष्मीचन्द जैन सूर्यसागर सघ द्वारा प्रकाशित है । यह स्पष्टीकरण इस लिए देना अपेक्षित समझता हू कि इस विपय मे किसी को कोइ गलत फहमी न हो । मैंने यह उचित नही समझा कि कोई तिथि तथ्य एक पुराण यह का हो या किसी अन्य का किसी एक ही पुराण से लेने पर भी यह कहा जा सकता था कि मैंने इस पुराण से तो लिया, अन्य से क्यो नही । अत मैने पुराणोत्तर उक्त सग्रह ग्रन्थ का ही सहारा लेना उचित समझा है । इस मे पृ २७२ २७३ के मध्य एक चार्ट "श्री परम पूज्य १००८ तीर्थंकर देव की ससार व्यवस्था का सामान्यतया दिग्दर्शन" दिया हुआ है । पूज्य आचार्य श्री सूर्य सागरजी महाराज तपस्वी ही नही, विद्वान भी थे, उन्होने सग्रह मे जो भी लिखा वह मेरी दृष्टि मे तो छानबीन करके ही लिखा होगा और मैने अत उसे आदर पूर्वक स्वीकार किया है । नारद के विषय मे भी उक्त ग्रन्थ पृ. २८२ पर लिखा गया है कि ये भी कालातर मे नियम से मोक्ष जाते है, पर हरिवश पुराण मे नारद का मोक्ष जाना भी बताया जाता है । दृष्टि-भेद पुराणो मे पाये जाते है । सुसेना या सुषेण या सुप्रतिष्ठित ये भेद मौलिक भेद नही है । आचार्य परम्परा जो दी गई है—उसका स्रोत मैंने परिशिष्ट मे ही उल्लखित कर दिया है और वह मान्य सामग्री जानकर ही दी गई है । पाठकगण भूल सुधार कर पढे—यही विनय है । प्रेस की जहाँ भी त्रुटिया रही है, वे क्षम्य हैं । यह रचना सग्रह परक है कौर सग्रह-ग्रन्थ मे लेखक तथा लेखन की परिसीमाए रहती ही है ।

योग साधको को स्मरणीय है कि केवल निज आत्मा ही परम प्रभु है परम गुरु है, ज्ञानधन, स्वय भू और आनन्द रूप हैं । मानवता के परिपूर्ण विकास के बिना इस प्रभु की दिशा मे प्रगति नही होती । सद्व्यवहार, सद्चारित्र मे ही एक मात्र उनके पथ की दिशा है । हम वीतरागता के गीत गाये, चर्चाए करे, उस प्रभु को वीतराग कहे, पर हम ससार के पदार्थों मे आसक्ति पूर्वक रत रहे, प्रतिबद्ध रहे परस्पर के शोपण मार्ग मे चले, हिंसा और अहिंसा—करुणा के सूक्ष्म भावो का विवेक न रक्खे, व्यवहार उद्धत और अविवेक पुर्ण हो, समाज मे असन्तुलन या अव्यवस्था करने वाले हो, तो यह तो वीतराग का मार्ग नही है । तीर्थंकर भगवन्तो से उपदिष्ट और आचरित तत्व, ज्ञान तथा साधनाए परम शान्ति और प्रकाश के दिव्य स्तम्भ है । वे मार्ग दर्शक पाथेय बनने चाहिए । वे प्रभु अमृत से लबालब

भरे महासागर ही परिणत हुए। क्यो न हम अपने घटो को वैसे ही अमृत रस से आपूर्ण भरते ? इस अलौकिक स्वीय आत्मिक परमानन्द का अपनी अक्षय सत्ता का, अपने निर्मल अस्तित्व बोध का आनन्द ले। इस परमानन्द का भावनापूर्ण आस्था से आस्वादन करें। निश्चय ही सर्वत्र तीर्थंकर योगीन्द्रो के ज्ञान प्रभा–मण्डल मे चेतना के उर्ध्वारोहण करते ही निज आनन्द पारावार का आस्वादन होता है और ज्ञान–भास्कर का अरुणोदय होता है।

अब इस कथ्य को समाप्त करता हू श्री राजेन्द्र अवस्थी सम्पादक कादम्बिनी के आह्वान के साथ—

"आइए हम आह्वान करे अनन्त प्रकाशित शक्ति सूर्य का कि वह हमे ऊर्जा दे और उसे अक्षय बनाये रखें। महार्थी सूर्य की छाया चन्द्रमा हमे शान्ति दे और शक्ति भी कि हम स्वय दीपक बनें ताकि दूसरे हाथ उठे हमारा आह्वान करने के लिए।"

वास्तव मे हमे आत्मा–सूर्य की ऊर्जाओ की शक्तियो की तथा मन चन्द्रमा की शान्ति की बहुत बहुत जरूरत है। अतः आइये अन्तर्दीपो को जलाए और प्रज्वलित रखें योग मार्ग की मशाल से।

आभार ज्ञापन

हमारी विशिष्ट सस्कृति मे गुरु के अनुदान की महिमा का दर्शन किया जाता है। रचनायें उनके स्मरण से आरम्भ की जाती हैं और समाप्ति पर भी उनका ही स्तवन किया जाता है। पर वस्तुत गुरु वर्णनातीत तत्त्व है। उनके अनुग्रह तथा उपकार व स्वरूप वर्णन के लिये अखिल शब्द लोक ही दरिद्र लगते हैं। उनके सम्बन्ध मे निष्ठा व धारणा हृदय की परम शुचि, परम अमूल्य निधियां है। उन्हे हृदय से बाहर लाकर कौन सा हृदय उन्हे आलोचना का विषय बनाना चाहेगा ? वे हृदय की अन्तरतम गुहा मे ही पोषणीय हैं। उनके उपकार की यथार्थ परिचय चेष्टा मेरे निकट अक्षम्य धृष्टता नही हो तो और क्या हो ? अत उनके लिए आभार प्रकट करना न सम्भव है, न शक्य हैं।

ज्योतिपुन्ज ब्रह्मलीन गुरुदेव के स्मरण के अनन्तर मै आभार प्रकट करता हू चार विशेष पुरुषो का—(१) स्व० मास्टर मोतीलालजी सघी—जिन्होने मुझे बडे स्नेह के साथ "ज्ञानार्णव" योग के महाग्रन्थ को देकर पारायण की सद्प्रेरणा दी और योग रुचि का बीज वपन मेरे हृदय मे हुआ। (२) मेरे श्रद्धेय पिता स्व० लाधूलालजो बाढदार जिनसे मुझे ध्यान की रुचि और प्रेरणा मिली। (३) मेरे श्रद्धेय नाना साहब स्व० रामसुखजी काला जिन्होने बचपन मे मुझे पावन सम्मेद शिखरजी की यात्रा कराई और वहाँ मुझे आचार्य शिरीमणी श्री शान्तिसागरजी व उनके सघ का प्रभावक दर्शन लाभ मिला तथा (४) मेरे श्रद्धेय श्वसुर स्व० श्री कस्तूरचन्दजी लुहाडिया इमारत वाले जिन्होने न केवल दक्षिण भारत के तीर्थ क्षेत्रो की यात्रा कराई साथ ही उन्होने मुझे जिनालय मे जिनेश्वर प्रभु की पूजा विधि मे सर्वप्रथम शिक्षित तथा दीक्षित किया। मैंने तब समझा कि खड भाव से अनन्त अखड परम आत्मा सत्ता के प्रकाश की उपलब्धि का पथ क्या है ? वस्तुत जिस हृदय मे सकल अश (खड) की भक्ति भाव का भी उदय न हुआ हो, वह अखड सर्वाश परम चिद्भाव की भी आराधना कैसे कर सकता है ?

मै आभारी हू आचार्य श्री विमल सागरजी महाराज का जिनके सम्मेदशिखरजी मे अहेतुकी अशीष ने मेरे मानस मे घूमते स्वप्न को कृति रूप मे साकार करने मे अवलम्बन दिया ।

मै आभारी हू ऐलाचार्य श्री विद्यानन्दजी महाराज का जिन्होने जयपुर प्रवास मे इस लेखन की पाण्डुलिपि का अवलोकन कर साशीर्वाद अनुग्रह किया ।

मै आभारी हू दिवगत काहनजी स्वामी का जिन्होने धौलपुर मे मेरे यहाँ राज्य सेवा निवास स्थान पर ससग ठहरने और प्रवचन करने का अनुग्रह कर कृतार्थ किया ।

मै आभारी हू आचार्य श्री तुलसीगणी तथा युवाचार्य मुनि नथमलजी का जिन्होने मुझे लाडनू मे आमन्त्रित करके मेरी तीनो ग्रन्थ पाडुलिपियो का अवलोकन किया और मेरी कृतियो की सराहना की । उन पाडुलिपियो को अवलोकन हेतु करीब २–३ माह रक्खा । तदनन्तर मेरे स्वतन्त्र प्रेक्षा ध्यान की सराहना मे मुझे पुलिस अकादमी जयपुर मे लगाये दस दिवसीय योग प्रशिक्षण शिविर मे आमन्त्रित कर भाग लेने का सुअवसर भी दिया ।

मैं आभारी हू अपनी सहधर्मिणी उमारानी, सुपुत्र अशोककुमार तथा सुपौत्र चि शैलेन्द्रकुमार, आलोककुमार एव सुपौत्री अर्चना कुमारी का जिनके साहचार्य मे मुझे इस लेखन मे सुगमता तथा वार्धक्य जीवन मे खुशी मिली है ।

मैं आभारी हू प्रो० प्रवीणचन्द्रजी तथा मेरे बडे भाई समान गाधीवादी श्री जवाहरलालजी जैन का, इन मित्रो से मुझे बराबर सत् प्रोत्साहन मिला है ।

मैं आभारी हू दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी के सदस्यो का जिन्होने मेरी योग कृतियो के प्रकाशन का निर्णय लिया है । आशा है अन्य कृतियो के प्रकाशन की भी व्यवस्था शीघ्र होगी और वे पाठको के हाथो मे पहु चेगी ।

इत्यलम् ।

विनीत

कैलाशचन्द्र बाढदार

१६–१०–८२.

२, उमा निवास,
अजमेर रोड़,
जयपुर–१

अनुक्रमणिका

योगानुशीलन प्रथम भाग

योगानुशीलन–द्वितीय भाग

योगानुशीलन

प्रथम भाग

आदर्श (गाथा) वाक्य

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ।।

—श्री प्रवचन सार

चारित्र ही वास्तव मे धर्म है । जो धर्म है वह साम्य है, ऐसा (शास्त्रो मे) कहा है । साम्य मोह क्षोभ रहित आत्मा का परिणाम है ।

मंगल-वाचन

योगीश्वरान् जिनान् सर्वान् निर्धूतकल्मषान् ।

योगस्त्रिभिरह वन्दे योग-स्कन्ध प्रतिष्ठितान् ।। —(योगीन्द्र पूज्यपादाचार्य)

प्रणाम करता हूँ उन समस्त योगीश्वर अरहन्त जिनेश्वर-प्रभुओ को मन वचन और काया के त्रय योग पूर्वक, जिन्होने योग साधना से निज आत्मा पर से सर्व कर्म-कालुष्य को नष्ट किया और जो योग के स्कन्ध (सार-सर्वस्व) रूप निर्मल रूप मे प्रतिष्ठित हुए।

विविक्तमव्यय सिद्ध स्व-स्वभावोपलब्धये ।
स्व-स्वभाव-मय बुद्ध ध्रुव स्तौमि विकल्मषम् ।। —(आ० अमितगति योगीराज)

मैं निज स्वभाव की सप्राप्ति के अर्थ उन सिद्ध-प्रभु का स्तवन करता हूँ जो पवित्र और निर्मल है, कर्म व कषायादि मल से रहित है, ध्रुव है, बुद्ध है, अविनाशी नित्य और स्व-स्वभाव-मय है।

परम पर ज्योति कोटि चन्द्रादित्य किरण सुज्ञान प्रकाशा ।
सुरर मुकटमणिरजित चरणाब्ज शरणागु प्रथम जिनेशा ।। —(रत्नाकर वर्णी)

हे प्रथम जिनेश ! पर परम-ज्योति कोटि-कोटि चन्द्र और सूर्य किरणो से जो देदीप्यमान है, वह सुज्ञान (केवल-ज्ञान) प्रकाश है, उन आपके सुचरण सरोजो की शरण ग्रहण करता हूँ—वे सुरगणो की मुकट मणियो द्वारा (सुरगणो के आपके चरणो मे वदना के समय झुकने से) रजित हुए है।

श्री हिरण्यगर्भ परम पुरुप प्रथम जिनेश ।
नृप नाभि के सुत द्युतिमान् प्रभु ऋपभ नाथ ।
योग-धर्म के शास्ता वर धर्म-चक्रेश,
आदि—शिव आदि—ब्रह्म कैलास के परमार्थ ।।

आदित्य—वर्ण ज्योति-पुज तम से अतीत,
पुर सृष्टि लिपि धर्म दे, किया जन उपकार ।
अग्रज सर्वज्ञ ऋषिगणो के ध्येय पुनीत,
महामानव केवलि स्वयम्भू समय सार ।।

विश्व पूज्य है सदा आपके चरण कमल,
हे चिर पर्याय—प्रवाह—पार, चिर महान् ।
योग—अनुशीलन मे मति रहे अमल,
प्रोज्ज्वल रहे वर योग का चारित्र—भान ।।

(१)

विविक्तात्मा-परिज्ञान योगात्संजायते यत ।
स योगो योगिभिर्गीऽतो योग-निर्धूत पातकै ॥

—योगसार प्राभृत ।

ज्ञान-दर्शन-चारित्र रूपं रत्नत्रयात्मक. ।
योगो मुक्ति प्राप्तेरुपाय परिकीर्तित ॥

—योग प्रदीप ।

(२)

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता,
नान्यः पुरातन ॥

—याज्ञवल्क्य-स्मृति एव महाभारत ।

(३)

प्राचीनतम हैं क्षत्रिय श्रमणो की ये दो परम्पराए इस देश मे—

योग विद्या मे रति
तथा
रण मे वीर गति

द्वाविमौ पुरुष-व्याघ्र सूर्यं मडल भेदिनौ ।
परिवाड् योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हत ॥

—महाभारत

हे पुरुष सिंह !

सूर्य-मडल का वेधकर मुक्ति प्राप्ति ये दो ही करते है—

एक तो वे जो योगाभ्यास रत मुनिजन हैं, दूसरे वे जो रण मे शत्रु से सम्मुख सघर्ष करते करते वीर गति प्राप्त करते हैं ।

१. स्वरूपामृत प्रदायिनी योग विद्या (योग विमर्श)

- विद्याओ मे श्रेष्ठ अमृत दायिनी विद्या
- अमृत अमर परिणामी रस
- अमृत घट वे जिनने अमृत प्रकाश ज्ञानानन्द रस पाया
- मानव की दुःख दुविधा
- पर ज्ञेय मे सुखाभास
- एक तृण और चकमक, कस्तूरी मृग, और मृग तृष्णा, एक अबोध शिशु जो निज घर भूला,
- भेडो मे सिंह शावक
- स्व बोध जागृति और पर पदार्थ त्याग निवृति
- मानव तेरी परिभाषा क्या
- चैत्य पुंज – चैत्य वृक्ष
- तीन प्रकार के घट—फूटा घट, स्वर्ण घट, और चिन्तामणि घट
- मन से उत्कट
- क्या हेय क्या उपादेय . दिशा बोध
- योग क्या है ? परिभाषाए
- योग का विषय
- योग का स्वरूप
- योग ऐश्वर्य
- योग के हेतु
- योग के अन्तराय
- योग मे स्वरूप लीनता

- चित्त अनाकुलता ध्यान
- ध्येय जीव की कर्म सम्बन्ध मे विमुक्ति
- बहिरन्तर वचनालाप का निरोध
- आत्मा का आत्मा मे चिन्तवन
- आत्म ज्योतिर्दर्शन
- रत्नत्रयात्मक मोक्षोपाय
- जीवन की सद् स्वीकारता मे औदात्य
- सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का रहस्य
- जीवन की मौलिक तीन प्रवाह धाराए
- स्व मे एकाग्रता ' स्व समयसारता
- स्थिरता, समग्रता और समदर्शिता
- अन्तरगता की विशेषता
- देह देवालय
- योगी कौन ? योगी का स्वरूप
- ग्रन्थि-विमोचन और निर्ग्रन्थता
- प्रारब्ध योगी निष्पन्न योगी
- आधुनिकता के सन्दर्भ मे यह योग
- अमर जीवन और उसका मान
- चेतना की सतत उज्ज्वलता और उर्ध्वीकरण
- अन्तर आलोक से योग का प्रमाण
- अभ्यास की अपेक्षा
- रुचि और दर्शन की महत्ता आस्था के दीप जलाओ
- योग शास्ता कौन
- अनुभव, स्वरूप प्राप्ति और आदर्श

अथ ।

चंदे हि णिम्मलयरा, आइच्चेहि अहिय पहासयरा ।
सायरमिव गंभीरा, सिद्धा सिद्धि मम दिसन्तु ।।[1]

सिद्ध परमात्मा सुधा वर्षी सुधाकरो की स्निग्ध ज्योत्स्ना ज्योति से भी अधिक प्रभा से भासित है, वे आदित्यो से भी अधिक प्रखर प्रकाश से प्रोज्ज्वलित हैं, वे महासागरो से भी अधिक गहन गंभीर है। उनसे हमे (अमृत स्वरूप) सिद्धि की प्रेरणा प्राप्त हो।

विद्याओं में श्रेष्ठ अमृत दायिनी विद्या

सर्वज्ञ अर्हत्पुरुषो की वाणी है कि सर्व विद्याओ मे अमृत दायिनी विद्या की ही श्रेष्ठता है।

आत्म-ज्ञानं परोधर्मः सर्वेषा धर्मचारिणां ।
प्रधानं सर्वविद्याना, प्राप्यते अमृतं ततः ।।[2]

आत्म ज्ञान उत्कृष्ठ धर्म है। सव धर्मी जनो के लिए उससे परे कोई धर्म नही है। समस्त विद्याओ मे श्रेष्ठ स्थानीय आत्मज्ञान है,—क्योकि उससे अमृत की प्राप्ति होती है।

यह अमृत क्या है, जिसकी प्राप्ति यहाँ कही गई है। अवश्य यह अलौकिक ही वस्तु होनी चाहिए। आत्म-ज्ञान विद्या को उत्कृष्ट क्यो कहा गया है ? वह कैसा रस है जिसे यह देती है ?

अमृत अमरपरिणामी रस

अमृत की प्रकल्पना मानव को अति प्राचीन काल से चली आ रही है। कहा जाता है कि वह एक अलौकिक नित्य परमानन्द स्रावी रस है। आख्यायिका है कि विश्व को दिव्य और अदिव्य शक्तियो ने मिलकर जीवन के महासागर मे मथन किया तो प्रथम तो हलाहल कूट विष की प्राप्ति हुई। तदनन्तर अमृत कलश लिए श्री का आविर्भाव हुआ। उस अमृत-कलश के अमृत का पान करके देवगण अमर हो गए।

अमृत अमर-परिणामी रस है। वह रस मथन-प्रक्रिया से ही उद्भूत होता है। जीवन मे स्वय मे यह रस वर्तमान है—अत ही वह वहाँ प्रकट होता है। पर प्रकट होने के लिए मथन चाहिए।

"नाभि-प्रदेशे कु डलाकार सस्थितममृत"—नाभि प्रदेश मे कुण्डलाकार अमृत की अवस्थिति है। क्या है वह जो अमृत होकर भी कुण्डलाकार है, ऋज्वाकार नही है, विषम है, सम नही है। योगीजन नाभि प्रदेश के मणिपुर-कमल मे उपयोग को एकाग्र करके सूर्य-चन्द्र के मध्य स्वर्णिम अरुणोदय की प्रभा को विकीर्ण करके प्रकाशमय प्राण-सूर्य का साक्षात्कार करते है। सामान्य जन उसका साक्षात्कार नही कर पाते क्योकि उनका प्राण कुण्डलाकार है, अपने कुण्डलोसे मुक्त होकर वही अमृत-किरणो का सचार करने लगता है।

विद्वान् लकाधिपति रावण की नाभि मे अमृत-घट था, यह कहा जाता है। पर वास्तव मे क्या प्रत्येक मानव प्राणि की नाभि मे अमृत प्राणों का घट विद्यमान नही है ? वह है। पर फिर भी विडम्बना देखिए, मानव मृत्यु के भँवर जाल मे बँधा ही है। क्या मानव अपने अमृत-कलश से परिचित है ? नही। वह उससे बेखबर है। विषयासक्त होने पर अमृत घटी रावण भी— स्वर्ण लका के ऐश्वर्य का स्वामित्व रख कर भी दुर्गति को प्राप्त हुआ। एक रावण ही नही जो कामासक्त, विषयासक्त रहा है, रावण के समान ही आज का भी मानव विषयासक्त है, स्वर्ण-सग्रह करके अपनी-अपनी छोटी-छोटी स्वर्ण लकाए निर्माण कर लेने मे जुटा है। उसकी अधिकाश प्रवृत्तियो का एकमात्र ध्रुव नक्षत्र स्वर्ण सचय हो रहा है।

आज तो मानव ने अपनी तथाकथित सुख-समृद्धि के लिए नाना ही भौतिक विद्याओ का प्रकाश किया है। पर देखा जाए तो मानव मे न सत्य विद्या की यथार्थता उतरी है और न अमृत का प्रकाश हुआ है। वह नाना व्याधियो तथा तनावो से, चिन्ताओ से ग्रस्त तथा त्रस्त है।

विद् धातु से व्युत्पन्न विद्या शब्द वेदन को, जानने को प्रकट करता है। विद् से ही विद्वान् शब्द बना है। प्रश्न होता है वेदन करने वाला, जानने वाला क्या तत्व है ? क्या मानव ने अपने को जाना है, अपना आप वेदन किया है ?

नाभि, सूण्डी (टूण्डी) एक अवयव मात्र है। वह तो देह का एक केन्द्र गत अवयव है, मध्यस्थ अग हे, जहाँ से सवेदन शील नाडी समूह सर्वदेह मे विस्तृत हुआ हे। इस स्थूल अग को अमृत का स्थान समझ लेना स्थूल बुद्धि है। यह तो स्थूल अर्थ का ही ग्रहण हुआ। यह नाभि प्रदेश ही देवलोक है, और अमृत देवलोक मे है —ऐसी भी धारणाए वस्तुत निर्मूल है। देवलोक मे भी देवगण विनाशशील है।

अमृत घट वे जिन्होने अमृत प्रकाश ज्ञानानन्द रस पाया

अमृत है बातो की बात, अमृत है सतो के पास। वस्तुत अमृत रस का पता तो सत जनो ने, अर्हत्पुरुषो और तीर्थंकरो ने, सिद्ध पुरुषो नेही पाया—जो अपने अन्तर मे अमृत प्राण प्रकाशो के ज्ञानानन्द रस को पाकर अमृत का आस्वादन करके अमृताप्लावित ही नही,—स्वय अमृत हो गए,अमृत—घट बन गए।

वस्तुत आत्म ज्ञान स्वय अलौकिक अमृतरस है। अत. ही आत्म विद्या समस्त लौकिक विद्याओ से उत्कृष्ट है और आत्मज्ञान सर्व धर्मों से उत्कृष्ट है।

मानव की दुख दुविधा

पर कितनी दुखद दुविधा मे है यह मानव पाणी ! यह खोज करता है चन्द्रमा, वृहस्पति, शनि आदि अनेक दूरस्थ नक्षत्रो की, तलाश करता है सागर तलो मे बैठकर नानाविधि पदार्थो की, पर अपनी खोज करके अमृत घट की खोज'' '। यह अपने से अनजान ही रह रहा है।

परज्ञेय से सुखाभास

विश्व अनन्त ज्ञेय रूप से पसरा है। इसका, इसकी ज्ञेयता का अन्त न होने से ही यह सब अनन्त है। अत उत्कृष्ट सर्वज्ञ पुरुपो ने इसे अनन्त जानकार तथा कह कर इसकी ज्ञेयता का अन्त लिया और स्वज्ञेय की तरफ अभिमुख हुए। मतव्य यह नहीं की विश्व का ज्ञान न लिया जाए, पर विचारणीय है कि परज्ञेय को जाने तो स्वज्ञेय से क्यो यह अनादिकाल से बेखबर चल रहा है ? पर-ज्ञेय का ज्ञान अपना तो ज्ञान नही है। इस चेष्टा से क्या उसे अब तक तृप्ति हुई, आनन्द और विश्राम का सुखद स्थल मिला ? मानव की समस्त चेष्टाओ मे भाव तो अपनी सुख प्राप्ति का ही होता है, पर उसकी इन सब बाह्यमुखी चेष्टाओ मे उसे न सुख मिला, न वस्तुत मिल ही सकता है पर—पदार्थ निष्ठ सुख सुखाभास है, मृग तृष्णा है। वह विनाशकारी है, पराश्रित है, शक्ति का निरन्तर व्यय करने वाला है।

एक तृण और चकमक

अनन्त ब्रह्माण्डो को धारण करने वाले विराट विश्व में एक तृण, जो वायु—प्रताडित होकर इधर से उधर अनादि काल से उडता रहा है, उसका क्या अस्तित्व, क्या उसकी शक्ति ! कल्पना करना ही हास्यास्पद लगता है। परन्तु नही। उस नन्हे से तृण को शक्ति का भान नही है, वही तृण ज्ञानीजन तथा चकमक के अग्निकण का निमित्त पाकर जब प्रज्वलित हो जाए तो क्या वह रूई के सैकडो पु जो को जला कर भस्म कर देने की शक्ति नही रखता ? तब कैसा कल्पनातीत स्वरूप प्रकट हो जाता है।

तृण मे अग्नि है, वह गुप्त है, अव्यक्त है, अतः ही वह व्यक्त होती हे, प्रकट होती है। परन्तु पकट होने के लिए पुरुप की सन्निकटता की आवश्यकता है। यह ही अर्हत्पुरुषो, तीर्थकरो व ऋपियो की शिक्षा है कि शुक्ल ध्यान तथा समाधिरूप चकमक के अग्निकण का स्पर्श तथा ज्ञानी पुरुपो के सग के निमित्त को पाकर जब मानव मे स्वय मे अन्तघर्षण तथा मनन होता है तो स्वय उसका ही अन्त स्वरूप अपूर्व रूप से प्रज्वलित और प्रकाशमान हो जाता है।

कस्तूरी मृग और मृगतृष्णा

कस्तूरी-मृग कस्तूरी की खोज मे वन-वन गिरि-गिरि भटकता है और आकुल-व्याकुल भाव

से भटकता ही रहता है। उसे स्वय यह खबर नही हे कि जिस वस्तु की खोज मे वह भटक रहा है, वह तो स्वय उसकी नाभि मे विद्यमान है। उसका भटकना निरर्थक प्रयास है। यह मानव प्राणी अनादि काल से उसी मृग के समान जीवन तत्व की तलाश मे इस ससार मे भटक रहा है, क्योकि उसे खबर नही है कि जीवन तो उसी के पास है, वह अपने मे ही प्राप्तव्य है, उसके लिए भटकने की आवश्यकता नही है।

मानव का अनादिकाल से भटकना भी 'मृग का जल के हेतु मरीचिका के पीछे भागने भटकने के समान ही है। पानी की तलाश मे भोला मृग वियावान जगलो मे दौडता ही रहता है। मरीचिका से भ्रान्त तथा वृथा भटकने से श्रान्त वह दम ही तोड देता है, पर जल नही मिलता, नही मिलता। सुखाभासो के पीछे भोला जीव उद्भ्रान्त हुआ इस ससार मे न तो सुख पाता हे, न शान्ति और न निराकुलता।

एक अबोध शिशु जो निज घर भूला

अपने घर से बाहर उतर कर भोला जीव एक अबोध शिशु के समान विश्व की विराटता के मध्य भटक गया है, वह घर वापस कैसे आये ? कौन है जो उसे वापिस निज धाम मे पहुचाये ? क्या वह स्वय अपने आप अपने घर पर पहुच जायेगा ? निजधाम की दिशा का निर्देश उसे मिलना चाहिये। उस करुणा पूरित व्यक्ति की करुणा की कल्पना कीजिये जो उसे वापिस निज घर की शीतल सुरक्षित शान्तिपूर्ण शरण मे पहुचा दे।

भेड़ों मे सिंह शावक

भेडो के समूह मे सिह शावक भटक गया। वह भी उन भेडो के समान जगल-जगल तृण चबाता भटकता रहा और वडा भी हो गया। परन्तु उसे यह कभी ज्ञान न हुआ कि वह भेडो से विलक्षण सिह है। सयोग से सिह से भेट हुई तो वह भी अन्य भेडो के समान ही भय कातर होकर भागने को तत्पर हुआ। तब उस अन्य सिंह को आश्चर्य हुआ और उसे उस पर दया उपजी। उसने उसे रोका और उसे प्रबोधित किया कि तुम भेड नही हो, क्यो भागते हो ? पर उसे अपने व्यक्तित्व की पहचान न होने से विश्वास ही नही आया। प्रतीति हो भी कैसे ? कोई भी अपने आपसे अपना चेहरा कैसे देखे ? और बिना देखे कैसे कोई जाने कि उसका स्वरूप क्या है ? वह अन्य सिंह उसे निर्मल तालाब के तट पर ले गया और उसे कहा—इस निर्मल जल मे तुम देखो, जो दिखता है वह ही तुम्हारा स्वरूप है। तब उसने जल मे अपने विम्ब को देखा और उस विम्ब को उस अन्य सिह की आकृति के ही समान देख कर उसे प्रतीति तथा ज्ञान हुआ कि मै भेडो के समान नही, मैं भी सिह ही हू।

स्वबोध जागृति और पर पदार्थ स्वांग निवृत्ति

शुद्ध निर्मल मन-दपर्ण मे अपने बिम्ब को जिन प्रभुओ के विम्ब के समान लक्षित करके ही अन्तर मे जब स्वबोध की जागृति होती है तब ही अनादि की पर पदार्थ के स्वाग की भ्राति का नाश

होता है और ज्ञान का वह अमृत आलोक होता है कि मै भी सर्वज्ञ अर्हत् जिन परमेष्ठी ही हू । स्वबोध की जागृति स्वस्वरूप की पहचान, प्रतीति तथा रमण-आनन्द—ये ही अमृत विज्ञान है ज्ञानी सर्वज्ञ अर्हत्परमेश्वरो का । अपनी पहचान न होने से—अपनेपन की न दिशा है, न विकास है । पर पदार्थ के स्वाग की निवृत्ति इस विज्ञान से ही सभव है । परपदार्थ मय इस अपार ससार की रगशाला पर यह जीव एक अभिनेता है, परन्तु पर-अभिनय मे यह स्व-व्यक्तित्व को ही भूल गया है । यही समझ रहा है कि जिस स्वाग मे हू, मै मात्र वही हू । इस व्यक्त ने विराट् अव्यक्त को ढक रखा है । बूद पर्याय—अभिव्यक्ति अपने विराट् केन्द्र-महासागर से भटक गई है । अपने व्यक्तित्व की पहचान निश्चय ही ससार दु ख ज्वालाओ से, अज्ञान के कारागारो से मुक्त करती है । यह विज्ञान और इसका अनुशीलन ही योग विद्या का अनुशीलन है ।

योगतो हि लभते विबधनं, योगतोऽपिकिल मुच्यते नर ।
योगवर्त्म विषम गुरोर्गिरा, बोध्यमेततखिल मुमुक्षुणां ।।[3]

योग से ही मानव निर्बन्ध होता है, योग से ही निश्चय मुक्ति होती है, परन्तु योग-धर्म वाली गुरु वाणी दुष्प्राप्य है—अत मुमुक्षु जनो द्वारा यह योग अखिल रूप से बोध्य है, अर्थात् इस योग को परिपूर्ण रूप से जानना ही चाहिये ।

मानव तेरी परिभाषा क्या ?

मानव तू क्या है ? क्या तू मात्र हाड-मांस और चाम का जितना पुतला ही है ? आस-पास की सब वस्तुओ से तेरी विलक्षणता क्या है ? अपनी विलक्षणता को जान लेना अपने आप मे लौटने का प्रथम चरण है । ज्ञान करने वाला, "मै" एक विशिष्ट प्राणी हू—ऐसा निर्णय करने पर मानव की अपने ही प्रति यात्रा का आरम्भ हो जाता है । अपने से प्रश्न करो और समाधान करो कि मै कौन हू, क्या हूं ।

मानव एक चैतन्य पुंज है, ज्ञान पुंज हे । मानव को इसी कारण चैत्य वृक्ष भी कहा गया है । इसे ऋषियो ने—"उर्ध्व मूलमध शाखामृषय पुरुष विदु" उर्ध्वमूल और अध शाखा वाला कहा है । (अनगारधर्मामृत) इसका मूल उर्ध्व भाग मस्तक,कण्ठ व जिह्वा है, हस्तादिक अवयव शाखाएँ है। जिह्वा आदि से किया गया आहार इसके अवयवो को पुष्ट करता है । जिह्वा व कण्ठ के रस से देह की पुष्टि होती है, वैसे ही जिह्वा व कण्ठ का रस, वाणी व वाक् के रस मन को भी पुष्ट करते है तथा इसी की उत्कृष्ट पुष्टि मे ही मनुष्यता पुष्ट होती है । तब उत्कृष्ट मन से मन के परे जाने पर उसी केन्द्र की भी उपलब्धि हो जाती हे जो स्वय आत्मा है । अनगार धर्मामृत का उक्त वचन इस प्रकार मात्र देह स्वरूप को ही—मस्तक जिह्वा व कण्ठ आदि को ही इगित करने को नहीं कहा गया है । यह तो यह स्पष्ट करता हे कि मानव का मूल विश्व के उर्ध्व मे ही है और इसकी जो शाखाए नीचे फैली

---

3. सद्बोध चन्द्रोदय–26

है, यह तो इसका अधो भाग हे, निकृष्ट भाग है। इसका उत्तम स्वरूप अन्यत्र है और वह अव्यक्त है। वह मूल की भाति अव्यक्त व अलक्ष है। इसका जो व्यक्त भाग लक्षित है यह इसका अध:पतन वाला भाग है। सासारिक व्यक्त वाह्यात्मा स्वरूप इस मानव का श्रेष्ठ स्वरूप नही है। इसके मूल मे जो अन्तरात्मा स्वरूप है वह ही श्रेष्ठ है तथा यह भी अर्हत्परमेश्वरो ने पाया कि उस अन्तरात्मा से भी परे, जो परम स्वरूप हे, वही श्रेष्ठोत्तम है। मानवात्मा को इस प्रकार ऋषि अर्हत्परमेश्वरो ने तीन स्वरूपो मे देखा है, यह ही त्रिविध आत्मा कहा जाता है। आत्मा एक अखण्ड स्वरूप है, मगर उसकी चेतना के ही तीन स्तर होने से वह त्रिविध आत्मा कहने मे आया। प्रत्येक वस्तु के उर्ध्व, मध्य और अध ऐसे ही तीन स्तर हो सकते है। इन्हें परम, अन्तर और वाह्य कहा गया है। ये ही तीन चिन्मयी, मननमयी और वासना सुखमयी कही जाती है।

तीन प्रकार के घट, फूटा घट, स्वर्ण घट और चिन्तामणि घट

वासना, सुख वाला आत्मा एक ऐसे घट से उपमित किया जाता हे जो फूट गया है और उसमे यथार्थ आनन्द और तत्त्वामृत नही भरा होता। मननमयी आत्मा अन्तर्मुख होती है और उसे ऐसे घट से उपमित किया जाता हे जो स्वर्ण से निर्मित है और स्वर्ण पात्र मे ही श्रद्धा-सिहनी का सुधामयी दुग्ध दुहा जाकर भरा जा सकता है। चिन्मयी आत्मा स्वय चिन्तामणि निर्मित घट है जिसमे अनन्त चतुष्टय—अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख-रूप अमृत लबालव भर जाता है और वे ही सिद्ध आत्मा है। वे स्वरूप परिणत आत्माए है। वे निज धाम को प्राप्त हुई है। चिन्तन बिना आत्म साक्षात्कार या आत्म ज्ञान नही हो सकता। वस्तुत जो स्वमनन कर सकते है और करते है उनका ही मानव होना सार्थक है।

मन से उत्कट

"धवला" मे वचन आया है—"मनसा उत्कट मानुषा"—जो मन से उत्कट होते है, वे मनुष्य कहलाते है। पच सग्रह (प्राकृत) मे मन से उत्कृष्ट को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है।

मण्णति जदो णिच्च मणेण णि उण जदो दुय जीवो।
मण उक्कडा य जम्हा ते माणुआ भणिता ॥[4]

जो मन नित्य ही हेय 'उपादेय, तत्त्व-अतत्त्व, धर्म-अधर्म का मनन करता है वह मन उत्कट है' उस उत्कट मन के धारक मनुष्य कहलाते है। मननात् मन, मनन करने से मन है—ऐसे मन की व्युत्पत्ति है।

मानव और पशु की भेद रेखा ही यहा कही गयी है। सस्कारित मन होकर, उत्कृष्ट मन से मानव होता है। वरना वह पशु स्तर पर ही है। मन को यदि शिक्षित नही किया गया, तो मानव का भाव-हाव, ज्ञान-मान सव पशु के ही समान रहता है। विवेक से ही मानव मानव नाम का अधिकारी होता है और इस विवेक से ही हेयोपादेय का विचार भी होता है।

हेय उपादेय दृष्टि : दिशाबोध

योग हेयोपादेय के दर्शन से आरम्भ होता है। हेयोपादेय का दर्शन मानव के लिए एक महान् सन्देश को लेकर प्रतिपादित हुआ है। शिव-अशिव, प्रेयस-श्रेयस, प्रशस्त-अप्रशस्त, शुभ-अशुभ, शुद्ध-अशुद्ध आदि नाना प्रकार से जो निरूपित होता है वही हेयोपादेय है।

जो आरोपित है, बाहर से आया है वह कभी सहज व सुखद नही हो सकता। जो सहज है, स्वभाव है, वही उपादेय है। जो सहज नही, स्वाभाविक नही,–वही विभाव है और हेय है। जो निर्मल है वह उपादेयहै, जो कर्म, दोष या विकार कालिमा से कलकित है वह हेय है। अनाकुल आनन्द उपादेय है, आकुल दु ख हेय है। भव दु ख हेय है, पाप-पुण्य भी हेय है। स्वतत्रता तथा स्वावलम्बन उपादेय है। परतन्त्रता परावलम्बन हेय है।

शिक्षित व निर्मल हुए मन का मनन-चिन्तन आत्मा की ओर चलने पर स्पष्ट होता है कि क्या हेय है, क्या उपादेय है और उपादेय ही क्यो इष्ट है। चिन्तन प्रकट करता है कि मानव देहमात्र नही है। यह प्रकट करता है कि मानव का अस्तित्व अन्य स्तरो पर उत्कृष्टतर है। उत्कृष्टता की जिस दिशा मे चिन्तन जाता है वहा उसकी दिशा स्व बोध की, परम तत्त्व की ही दिशा हो जाती है।

योग क्या है ? परिभाषाए

अध्यात्म विद्या का एक ही अर्थ है—आत्मा को निज तत्त्व मे लगा देना और इसी अर्थ मे योग अध्यात्मविद्या है।

जैनो ने योग शब्द का दो अर्थों मे प्रमुखतया प्रयोग किया है। आत्म-प्रदेशो का सकोच-विकोच योग है—यह एक लक्षण है तथा योग ध्यान समाधि है—यह अन्य लक्षण है। "जीव पदेसाणा परिफ्फन्दो सकोच विकोचब्भमरण सरूवओ" तथा "आत्मप्रदेशाना सकोच विकोचो योग" (धवला)। "योग समाधि सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थ" (सर्वार्थ सिद्धि) तथा' 'युजे समाधि वचनस्य योग समाधि ध्यानमित्यस्यर्थान्तरम्" (राजवार्तिक)

युज् धातु से घञ् प्रत्यय करने पर योग शब्द बनता है। युज् का अर्थ है जोडना। चेतन अचेतन दो द्रव्यो के सयोग प्राप्त जीव द्रव्य को अचेतन द्रव्य के पाश से स्वतत्र करके निज शुद्ध स्वरूप मे स्थिर करके भी यानी दो द्रव्यो का वियोग करने पर भी योग की विलक्षणता है कि यह योग ही नाम पाता है।

योग वियोग मात्र नहीं करता। यह निज पूर्ण शुद्ध स्वरूप मे ही जीव को एकाग्र तथा तल्लीन भी करता है। अत युज् एकाग्रता तथा जोडने अर्थ को भी करता है और वस्तुतः यही इसका मुख्य अर्थ है। भाव वाच्य मे साधित निज स्वरूप मे एकता तथा करण (साधन) वाच्य मे

है, साधित आत्मा के साथ एकाग्रता व एकाग्रता के लिए आवश्यक समस्त साधनप्रणाली। अत साधन की सुन्दर और स्वाभाविक प्रणाली योग शब्द के अन्तर्गत मानी जाती है।

इस योग परम्परा मे स्वय आत्मा ही परम स्वरूप है, परम आत्मा है और आत्मा का आत्मा मे ही एकाग्र होना योग है। भिन्न परमात्मा या ससार-रचयिता या नियामक ईश्वर का जैन निषेध करते है—अत किसी पर परमात्मा मे योग करना इस योग मे अभिष्ट नही है, वह होता भी नही है, न हो सकता है। अत इस परम्परा मे शुद्धात्मा का साक्षात्कार कराने वाली रुचि, ज्ञान और अभ्यास ही योग विज्ञान है। परमात्मा, ब्रह्म, पर-ब्रह्म, सच्चिदानन्द, अद्वैत आदि शब्दो के अर्थ जैन दृष्टि मे अपने विशिष्ट है और वेदान्तिक दृष्टि से भिन्न है।

योग की चरम परिणति आत्मा को उसकी अनादि की कर्म-कालिमा से शुद्ध करके उसकी ही यथार्थ निज निर्मल दशा मे नियुक्त कर देती है—जहा फिर आत्म-प्रदेशो का परिस्पदन सर्वदा के लिए निवृत्त हो जाता है। अत परिस्पदनात्मक योग से अयोग स्थिति मे, अयोगि जिन परमेश्वर की स्थिति मे ले जाने वाला योग ही कहा जाता है। परिस्पदनात्मक मन वचन काय के योगो का निरोध योग है। आ० श्री हेमचन्द्र ने अपने धातु पाठ गण मे "युजृपी योगे" योग का अर्थ जोडना तथा गण ४ मे "युजिच समाधौ"—कह कर समाधि अर्थ भी कहा है।

वहि और अन्तर जल्प को रोक कर चित्त निरोध करना—ऐसा भी योग का अर्थ किया जाता है।

विपरीत अभिनिवेश को परित्यक्त करके सम्यक् प्रकार से सर्वज्ञोक्त तत्व ज्ञान मे आत्मा को लगाना—उसका निजभाव योग है"—ऐसा आ० कु दकु द ने नियमसार (१३२) मे कहा है।

योग के महा-ऐश्वर्य के धारी भावी तीर्थंकर श्री समन्तभद्राचार्य ने योग को धर्म का पर्याय-वाची मानते हुए इस प्रकार योग धर्म का विवेचन प्रस्तुत किया है—

सद् दृष्टि ज्ञान वृत्तानि, धर्म धर्मेश्वरा विदु ।
यदीय प्रत्यनीकानि, भवन्ति भव पद्धति ॥[5]

अर्थात्—धर्मेश्वर तीर्थंकर प्रभुओ ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र—तीनो को धर्म स्वरूप कहा है और इनके विपरीत के दर्शन ज्ञान और चारित्र को अधर्म कहा है। अर्थात् आत्मा के गुण दर्शन ज्ञान और चारित्र तव ही है, जव ये सम्यक्त्व सहित हो। ये सम्यक् और शुद्ध न रहने पर अधर्म रूप है। आत्म स्वरूप का निश्चय, परिज्ञान तथा आत्मस्वरूप मे लीन होना—ये क्रमश तव ही मोक्ष पद्धति होते है जव इन तीनो का एकत्व व अखण्ड रूप आचरण हो और ये शुद्ध व यथार्थ हो, मिथ्यात्व रहित हो। इन तीनो के ही सेवन को अमृतचन्द्राचार्य भी मोक्ष मार्ग कहते है—

"एवं सम्यग्दर्शन बोध चरित्रत्रयात्मको नित्यम् ।
तस्यापि मोक्षमार्गोभवति निषेव्यो यथाशक्ति ।।[6]

अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चरित्र का नित्य त्रयात्मक स्वरूप मोक्ष मार्ग है और वही निरन्तर यथाशक्ति सेवनीय है ।

मोक्खेण जीयणा ओ जोगा ।[7]

अध्यात्म भावनाऽऽध्यान समता वृति सक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोतरम् ।।८।।[8]

आ० हरिभद्र ने उन सब साधनो को योग कहा है जिनसे कर्ममल नाश होकर आत्म निर्मलता को प्राप्त करके मुक्ति के साथ अपना सहयोग करता है । आध्यात्मिक भावना, समता का विकास करने वाला मनोविकारो का क्षय करने वाला, वृत्तियो का सक्षय या सक्षेप करने वाला तथा मोक्ष से सयोजित करने वाला योग उत्तरोत्तर श्रेष्ठ है । उपाध्याय श्री यशो विजय ने भी यहीकहा है—

"मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते ।[9]

योग एकाग्रता के अर्थ को प्राप्त होने से मन, वचन तथा काय के व्यष्टि रूप से तथा समष्टि रूप से एकाग्रता को भी योग कहा गया है । तीसरे तथा चौथे शुक्ल ध्यान मे मन का अस्तित्व नही रहता है, अत अयोग-केवलि को वहा ध्यान बनता नही है क्योकि ध्यान को मन की स्थिरता कहा जाता है, फिर भी अयोग केवलि को ध्यान का अर्थात् योग का अस्तित्व कहा गया है । ध्यान तथा योग यहा एकार्थवाची हो जाते है । अयोग-केवलि को कर्म निर्जरा है—अत ध्यान का अर्थ विद्यमान होने से भी उन्हे ध्यान सद्भाव है । साधारण तौर पर छद्मस्थ ससारी के मन की स्थिरता को ही ध्यान कहा जाता है । केवली के काय की स्थिरता को भी ध्यान कहा है । क्योकि जैसे मन से एक प्रकार का योग है, वैसे ही काय का भी एक योग है । तथा वचन की स्थिरता-मौन भी एक योग नाम पाता है तथा मन, वचन, काय तीनो की स्थिरता तथा सवर व इनके अभ्यास भी योग नाम से कहे जाते है । काय योग का उदाहरण हठ योग है, मन योग का उदाहरण राजयोग अमनस्क है तथा आत्मा का आत्मा मे ही योग, अध्यात्म योग है । योग का मन की स्थिरता के अर्थ मे प्राय प्रयोग हुआ है । परन्तु जोडना तथा मन की स्थिरता इन दो अर्थो के समन्वय करने पर यह लक्षण हो जाता है कि योग वह धर्म व्यापार है जो जगदाभिमुखी वृतियो को आत्मा के अभिमुख तथा स्थिर करके मोक्ष का उपाय हो ।

आ० अमितगति (द्वितीय) कहते है —

विविक्तात्म–परिज्ञान योगात्संजायते यतः ।
स योगो योगिभिर्गीतो योग निर्धूतपातकैः ।।[10]

जिस योग से, ध्यान से कर्म-कलक-विमुक्त आत्मा का परिज्ञान होता है—वह उन योगियो के द्वारा 'योग' कहा गया है, जिन्होने योगवल से पापो का, घातिया कर्मो का नाश किया है ।

जिस योग से, ध्यान वल से आत्मा को अपने स्वभाव स्थित असली रूप मे जाना जा सके उसे 'योग' कहते है, जो कि ध्यान का पर्यायवाचक है । इससे यह जाना जाता है कि योग शुद्धात्मा का परिचायक ही नही, किन्तु आत्मा के ऊपर व्याप्त और उसके स्वरूप को आच्छादन करने वाले कर्म-पटलो का उच्छेदक भी है ।

धुनातिक्षरणतो योगी कर्मावरणमात्मनि ।
मेघस्तोमर्मिवादित्ये पवमानो महावलः ।।[11]

आत्मा के ऊपर आये हुए कर्मो के आवरण को योगी उसी प्रकार क्षण भर मे धुन डालता है, जिस प्रकार तीव्र गति से चलने वाला महाबलवान पवन सूर्य पर आये हुए मेघ ममूह को क्षण भर मे भगा देता है ।

आ० श्री हेमचन्द्र कहते है—

चतुर्वर्ग अग्रणी मर्क्षो, योगस्तस्य च कारणम् ।
ज्ञान-श्रद्धान – चारित्ररूप, रत्नत्रय च स. ।।[12]

योग चार पुरुपार्थो मे श्रेष्ठ मुक्ति पुरुषार्थ का हेतु हे । वह योग ज्ञान श्रद्धान तथा चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक है । इस व्याख्या मे भी जो साधन मोक्ष का हेतुभूत हे, उसी को योग कहा है अथवा योग स्वय श्रद्धान ज्ञान तथा चारित्र रूप हे ।

तस्याजननिरेवास्तु नृपशोर्मोघ जन्मनः ।
अविद्धकर्णो योयोगइत्यक्षर-शलाकया ।।[13]

"यो–ग" इन दो अक्षर–सलाई से जिसके कान नही विंधे है या "योग" शब्द जिसके कानो मे नही पडा है, जिसने योग का स्वरूप नही सुना–समझा है, वह मनुष्य हुआ भी पशु के समान है । उसका जन्म व्यर्थ है । उसका जन्म न होना ही अच्छा है ।

योगी पूर्ण मनुष्य का ही पर्यायवाची हो जाता है । योग का स्वरूप मानवात्मा का चरम विकास हे । योग समस्त विपत्ति रूपी लताओ के वितान को काटने के लिए "परशु" के समान, निवृति (मुक्ति श्री) की प्राप्ति के लिए "कामरण" के समान हे । इसमे प्राप्तिया सिद्धियो की भी होती है । दृष्टव्य है योगशास्त्र (१/५–८) जहा आ० हेमचन्द्र ने योग की महिमा कही है ।

आ० श्री सोमदेव ने योग के स्वरूप को इस प्रकार कहा है—

आत्मदेशपरिस्पन्दो योगो योगविदा मतः ।
मनोवाक्कायस्त्रेधा पुण्यपापास्रवाश्रयः ॥[14]

योग के ज्ञाता पुरुष आत्मा के प्रदेशो के हलन-चलन को योग कहते है। वह योग मन, वचन, और काय के भेद मे तीन प्रकार का होता हे और उसी के निमित्त से पुण्यकर्म और पाप कर्म का आस्रव होता है। ज्ञान से उस निमित्त के परे जाने पर पुण्य पाप मे परे एक शुद्धात्म अवस्था होती हे।

श्री सोमदेव ने ध्यान के अर्थ मे भी योग को ग्रहण किया है।

ध्यानामृतान्नतृप्तस्य क्षान्तियोषिद्रतस्यच ।
अत्रैव रमते चित्त योगिनो योगवाधवे ॥[15]

यह शरीर योग का सहायक है, इसलिये जो योगी ध्यान रूपी अन्न जल से सन्तुष्ट रहते हैं और क्षमा रूपी स्त्री मे आसक्त होते है उनका मन इसी मे रमता हे, इससे बाहर नही जाता। अर्थात् योगीपुरुष अपने मन को ध्यान मे लीन रखते है और अपनी योग-काया को ध्यान रूपी अन्न-जल से सन्तुष्ट रखते हैं तथा वृत्तियो को क्षमाशील रखते है। ध्यान लीनता रूप योग के साधन के लिए आ० श्री सोमदेव ने इन्द्रिय सयम पर जोर दिया है—

रज्जुभि कृष्यमाण. स्माद्यथापारिप्लवो हयः ।
कृष्टरतथेन्द्रियैरात्मा ध्याने लीयते न क्षणम् ॥[16]

रास के खीचते घोडा चचल हो जाता हे वैसे ही इन्द्रियो के द्वारा आकृष्ट आत्मा क्षण भर भी ध्यान मे लीन नही हो सकता। अत ध्यानी पुरुष को इन्द्रियो को वश मे रखना चाहिये।

तत्त्वे पुमान्मनः पु सि मनस्यक्षकदम्बकम् ।
यस्य युक्तं स योगी स्यान्न परेच्छादुरीहित ॥[17]

जिसका आत्मा तत्व मे लीन है, मन आत्मा मे लीन हे और इन्द्रियाँ मन मे लीन हैं, उसे योगी कहते है। जो पर-वस्तुओ की कामना रूप दुष्ट सकल्पो से सयुक्त है—वह योगी नही हे। अर्थात् "स्व" वस्तु की कामना के सकल्प से जो वासित रहता हे वही योगी है। स्व—वस्तु से स्व स्वरूप अर्थ स्पष्ट ही है।

चित्ते ऽनन्त प्रभावे ऽस्मिन् प्रकृत्या रसवच्चले ।
तत्तेजसि स्थिरे सिद्धे न किं सिद्ध जगत्त्रये ॥[18]

चित्त अनन्त प्रभावशाली है किन्तु स्वभाव से ही पारे की तरह चचल है। जैसे आक के द्वारा पारा सिद्ध हो जाता है उसी तरह चित्त के आत्म ज्ञान मे स्थिर होने पर कौन सी ऐसी वस्तु है जो इसे प्राप्त न हो।

इसके आगे भी बडे मनोहर रूपक से वर्णन किया है—

निर्मनस्के मनोहसे पुंहसे सर्वतः स्थिरे।
बोध हसोऽखिलालोक्य सरो हसः प्रजायते ।।[19]

मन रूपी हस जब अपने मनस्क स्वरूप से वर्जित हो जावे तो वह आत्मा रूपी हस ही हो जाता है तथा उस आत्मा रूपी हस के स्थिर हो जाने पर वह आत्मा हस ही ज्ञान-हस हो जाता है—वह समस्त ज्ञेय रूपी सरोवर का हस होता है। यहा अमनस्क योग का सूत्र ही दे दिया है।

योग ऐश्वर्य

आ० श्री सोमदेव ने योग से प्राप्त ऐश्वर्य को हेय कहा है—

प्रभावैश्वर्य विज्ञान देवता सगमादयः।
योगोन्मेषाद्भवन्तोऽपि नामी तत्त्वविदा मुदे ।।[20]

भूमौ जन्मेति रत्नानां यथा सर्वत्र नोद्भव'।
तथात्मजमिति ध्यानं सर्वत्राङ्गिनि नोद्भवेत् ।।[21]

योग का उन्मेष होने पर प्रभाव, ऐश्वर्य, विशिष्ट ज्ञान तथा देव दर्शन आदि की प्राप्ति होती है, परन्तु तत्वज्ञानी इनसे हर्षित नही होते।

योगोन्मेष रूप ध्यान की दुर्लभता को आगे कहा है। भूमि से रत्नो की उत्पत्ति होने पर भी सब ही जगह रत्न पैदा नही होते, वैसे ही आत्मा से ध्यान उत्पन्न होने पर भी सभी प्राणियो मे ध्यान योग उत्पन्न नही होता।

योग हेतु

योग की सामग्री का वर्णन इस प्रकार किया गया है —

वैराग्य ज्ञान संपतिरसगः स्थिरचित्तता।
ऊर्मिस्मय सहत्वं च पच योगस्य हेतवः ।।[22]

---

19. उपासकाध्ययन–625
20 उपासकाध्ययन–628
21 उपासकाध्ययन–629
22 उपासकाध्ययन–634

वैराग्य, ज्ञान, सपदा, निष्परिग्रहता, चित्त की स्थिरता तथा भूख-प्यास, शोक-मोह, जन्म-मृत्यु तथा स्मय (मद) सहन करना, ये पाच बाते यौग की सामग्री (कारण) है।

तत्त्वानुशासन मे योग सामग्री इस प्रकार कही है—

संगत्यागः कषायाणां निग्रहो व्रत धारणम्।
मनोऽक्षाणी जयश्चेति सामग्री ध्यान–जन्मने ।।[23]

जन-सग का त्याग, कषायो (क्रोध, मान, माया तथा लोभ) का निग्रह, व्रतो (अनुशासन रूप व्रतो) का धारण, मन तथा इन्द्रियो का जय, ये ध्यान होने की सामग्री है।

प्रबोध सार मे इस प्रकार कहा है—

तप· स्वाध्याय ध्यान कर्मणि मनसो ऽविचलितत्वम्।
शारीर मानसागन्तुक परीषहोद्रेक विजयित्वम्।
निर्वेदोदय सम्पतिः स्वान्तस्थैर्यंरहः स्थितिः।
विविधोर्मि सहत्वं तु साधूना ध्यान हेतवः ।।[24]

अर्थात्—तप, स्वाध्याय तथा ध्यान कर्म मे मन को अडिग रखना, आये हुए शारीरिक तथा मानसिक कलेशपरिषहो के उद्रेको पर विजय रखना, निर्वेदोदय (उदासीन वृति) रूप सम्पत्ति अन्त करण की स्थिरता, एकान्त का वास विविध प्रकार की उर्मियो, क्षोभो (शोकमोहो जरामृत्यु क्षुत्पिपासा षडूर्मय) का सहन कर लेना, ये निश्चय ही योगियो के ध्यान के हेतु या योग की सम्पदा है।

योग के अन्तराय

योगान्तराय इस प्रकार वर्णित किये गये है—

आधि व्याधि विपर्यास प्रमादालस्यविभ्रमा·।
अलाभ. सगिता स्थैर्यमेते तस्यान्तरायका: ।।[25]

मानसिक पीडा, शारीरिक रोग, अतत्त्व को तत्त्व मानना, तत्त्व को समझने मे अनादर करना तत्त्व को प्राप्त करके भी उस पर आचरण न करना, तत्त्व और अतत्त्व को समान मानना, अज्ञानवश तत्त्व की प्राप्ति न करना, योग के हेतुओ व सामग्री मे मन न लगाना—ये सब योग के अन्तराय है।

---

23 तत्वानुशासन–75
24 प्रबोधसार–191
25. उपासकाध्ययन–635

स्वरूप लीनता

यः कण्टकैस्तुदत्यङ्गं यश्च लिम्पति चन्दनैः ।
रोषतोषाविषिक्तात्मा तयोरासीत लोष्ठवत् ॥[26]

योगी को किस प्रकार स्थिर तथा निस्पृह रहना चाहिये इसको इस प्रकार कहा है—वह चाहे काटो से छेदा जाय, चाहे चन्दन से चर्चित किया जाये, इन दोनो दशाओ मे ही वह क्रमश न रोष करे, न प्रसन्न हो, उसे तो प्रस्तर के समान असप्रक्त व समबुद्धि ही होना चाहिये ।

आ० श्री शुभचन्द्र योग मे स्वरूप लयता (आत्म तल्लीनता) को कहते है—

तच्छ्रुत तच्च विज्ञान तद्ध्यान तत्पर तप
अयमात्मा यदासाद्य स्व स्वरूपे लयं व्रजेत् ॥[27]

वह ही ध्यान है, तप है, विज्ञान है, वह तत् स्वरूप परम है, वह ही शास्त्र का श्रवण है—जिसको प्राप्त करके यह आत्मा अपने स्वरूप मे लवलीन हो ।

तद्ध्यानं तद्धि विज्ञानं तद्ध्येयं तत्वमेव वा ।
येनाविद्यातिक्रम्य मनस्तत्त्वे स्थिरी भवेत् ॥[28]

वही ध्यान है, वही विज्ञान है, वही ध्येयतत्व है—जिसके आश्रय से मन अविद्या (मिथ्यात्व—विपरीत धारणा रूप अज्ञान) को उलघन करके तत्व मे, चेतन ज्ञान रूप मे प्रतिष्ठित हो जावे, स्थिर हो जाये ।

अपास्य कल्पना जाल, चिदानन्द मये स्वयं ।
यः स्वरूपे लय प्राप्तं, सः स्याद्रत्नत्रयास्पदम् ॥[29]

अपनी कल्पनाओ के विस्तार को दूर करके, अपने चैतन्य और आनन्दमय स्वरूप मे जो लय को प्राप्त होता है, वह ही रत्नत्रय का पात्र होता है ।

चित्त अनाकुलता : ध्यान

अन्यत्र आचार्य श्री शुभचन्द्र ने ध्यान योग को इस प्रकार कहा है—

वदन्ति योगिनो ध्यानं चित्तमेवानाकुलम् ।[30]

---

26 उपासकाध्ययन–636
27 ज्ञाना०–1/9
28 ज्ञानार्णव
29 ज्ञानार्णव
30. 40/17

योगी का अनाकुल चित्त होना ध्यान है। चित्त का क्षोभ रहित स्थिर रहना योग का स्वरूप है, वह ही ध्यान है।

तद्ध्येयं तदनुष्ठेयं तद्विचिन्त्यं मनीषिभि ।
यज्जीव कर्म सम्बन्धा विश्लेषायैव जायते ।।[31]

बुद्धिमान पुरुषो द्वारा एक मात्र वह ही ध्येय है, अनुष्ठेय है तथा चिन्तनीय है जिससे जीव व कर्मो का सम्बन्ध दूर हो, अर्थात् जिस कार्य से कर्म मुक्ति की प्राप्ति हो।

स्वयमेव हि सिद्धयन्ति सिद्धय शान्तचेतसाम्।
अनेक फल संपूर्णा मुक्ति मार्गावलम्बिनाम ।।[32]

जो शान्त चित्त हैं, उन्हें स्वय सर्व सिद्धियां प्राप्त होती हैं, उन शान्त चित्त वालो को ही मुक्ति के मार्ग का अवलम्बन होता है तथा वह शान्त चेतस् दशा अनेक प्रकार के फलो से परिपूर्ण है।

बहिरन्तर वचनालाप का विरोध

एवं त्यक्त्वा बहिर्वाचां त्यजेदन्तरमशेषत ।
एष योग समासेन प्रदीप. परमात्मन. ।।[33]

अर्थात्—सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा बाहरी बातो को छोड कर पूर्णतया अन्तरग वाणी को भी छोड दे, यह अन्तरग तथा बहिरग वचनालाप का त्याग ही सक्षेपरीत्या योग है और यह ही परमात्मा के स्वरूप का प्रकाशक प्रदीप है। किसी भी विचार या संकल्प विकल्प का उदय बिना सूक्ष्म वाणी के स्पदन के नही हो सकता। अत. स्थूल व सूक्ष्म वाणी का निरोध योग है।

श्री प्रभाचन्द्र अपनी टीका में इस पर कहते हैं—

बहिर्वाचं पुत्रभार्याधन धान्य लक्षणान्वहि
र्थवाचक शब्दान् त्यक्त्वा अशेषतः साकल्येन
पश्चात् अन्तर्वाच, अहं प्रतिपावक प्रतिपाद्यः
सुखी, दुखी, चेतनोवेत्यादि लक्षणमन्तर्जल्प
त्यजेदशेषत एष बहिरन्तर्जल्प त्याग
लक्षण योग स्वरूपे चित्त निरोध लक्षणः

समाधिः। प्रदीपः स्वरूप – प्रकाशकः। कस्य। परमात्मनः।
कथं ? समासेन – संक्षेपेण झटिति, परमात्म स्वरूप प्रकाशक इत्यर्थः ।।

31, ज्ञानार्णव–40/11
32 ज्ञानार्णव–40/12
33 समाधि–तत्र–17

प्रकट है श्री प्रभाचन्द ने "योग" को "बहिरन्तर्जल्पत्याग" लक्षण कहा है तथा स्वलप में फिर चित्त-निरोध होना ही समाधि है—ऐसे समाधि का लक्षण भी कहा है। वह समाधि परमात्म स्वरूप की प्रकाशक है।

आत्मा का आत्मा मे चिन्तवन

"इष्टोपदेश" मे भी आ० श्री पूज्यापाद ने इस प्रकार कहा है—

संयम्य करण ग्राममेकाग्रत्वेन चेतस
आत्मनमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मानि स्थितः ।।[34]

आत्मा पाचो इन्द्रियों के समूह को भली प्रकार बाहरी विषयों से रोक कर चित्त की एकाग्रता से अपने आत्मा मे स्थिर होकर अपनी आत्मा द्वारा ही अपने आत्मा को ध्यान मे, चिन्तवन करे। अर्थात्—पाचो इन्द्रियो को रोक कर एकाग्र मन से आत्मा का चिन्तन ही ध्यान का स्वलप है, अध्यात्मयोग है।

आत्म-ज्योति दर्शन

श्री पूज्यपाद ने ही इष्टोपदेश मे इस प्रकार कहा है—

अविद्याभिदुर ज्योतिः परं ज्ञानमयं महत् ।
तत्प्रष्टय तदेष्टव्य तद् द्रष्टव्यं मुमुक्षुभिः ।।[35]

मिथ्यात्व -विभ्रम के उच्छेदक जो पर तथा विपुल महिमाशाली ज्ञानमय ज्योति आत्मा का प्रकाश है, मोक्षाकाक्षी जनो को उस ज्योति व प्रकाश के विषय मे पूछना चाहिये। उस आत्म ज्योति को ढूढने एव पाने के लिए प्रयत्न करना चाहिये और उस आत्म ज्योति का साक्षात्कार (दर्शन) करना चाहिये।

'ज्ञानार्णव' का अपरनाम योग-प्रदीप है—मगर यह अनुपम योग-ग्रन्थराज 'ज्ञानार्णव' के नाम से ही प्रसिद्ध है। एक अन्य (योग प्रदीप) भी है जो क्षुल्लक श्री सिद्धसागर से सपादित तथा श्रेयो मार्ग श्री महावीरजी से प्रकाशित है तथा किन्ही अज्ञातनामा दिगम्बर जैन सतपुरुष या आचार्य की सत्कृति है। आगे "योग प्रदीप" का उल्लेख इसी योग-प्रदीप के लिए है। यह योग-प्रदीप सन् ६५ मे कोल्हापुर से भी मराठी अनुवाद सहित प्रकाशित हुआ परन्तु उसमे पाठ अशुद्धिया है। इसमे कहा है—

रत्नत्रयात्मक मोक्षोपाय

ज्ञान दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक ।
योगो मुक्ति पद प्राप्तेरूपाय परिकीर्तित ।।[36]

---

34 इष्टोपदेश–22

35. इष्टोपदेश–49

36 योगप्रदीप–111

योग उसे कहा जाता है जो ज्ञान दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक है और मुक्ति पद का उपाय है।

वास्तव मे जीव की ससार-स्थिति सनिमित्तिक है, अत इससे मुक्ति भी सनिमित्तिक ही होती है, इसी कारण रत्नत्रय रूप साधन मोक्ष का निमित्त हे। साधन उपाय रूप है,और यह रत्नत्रय सकल (पूर्ण) और विकल (असपूर्ण) रूप मे वर्णित हुआ है। विकल चारित्र व्रतादिक रूप हे।

आ० श्री उमा स्वामी ने तत्त्वार्थ सूत्र मे सूत्रित किया है—

'सम्यग् दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्ष मार्ग ।'

इस परिभाषा सूत्र के विचार से योग विज्ञान तथा मोक्ष मार्ग एकार्थवाचक ही हो जाते है। ज्ञान दर्शन तथा चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक ही योग है और वह ही मुक्ति का उपाय है, मार्ग है। आ० श्री समन्त भद्र व हेमचन्द्र ने भी यही परिभाषा योग की दी है। ज्ञानीजीव के ससार के कारण भूत–आस्रव के नष्ट करने के लिए जो बाह्य व अभ्यन्तर क्रियाओ का निरोध आत्म-निष्ठा पूर्वक होता है, वह श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र की समष्टि पूर्वक योग है।

आत्मा स्वय ही सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप है। आत्मा का सम्पूर्ण स्वरूप मानने, जानने तथा आनन्द रूप रहने का है, यह ही कारण है कि इन तीन धाराओ मे ही जीवात्मा की समस्त जीवन प्रवृत्ति प्रवर्तित रहती है। इसका ही सम्यक् स्वरूप उसका व्यवहार स्वरूप है। उसका यह व्यवहार भी अखण्ड रूप से हे। वह इस व्यवहार मे खण्डित नही, प्रत्युत उसी का अन्वय स्वरूप ही इसमे प्रकाशित है, उसी का स्वत्व जैसा है वह प्रकाशित होता है।

जीवन की सद् स्वीकारता

सामान्यत जीवन का प्रकाशन निर्मल नहीं है। इसमें विकृतिया है—अत सम्यक्ता की अपेक्षा, सम्यक्ता के आनन्द की तलाश, सम्यक्ता का प्रयास तथा ज्ञान एव सम्यक्ता के आनन्द की चाह अनादि काल से मानव को आकर्षित करती रही है। अर्थात् मानव के ये मूलभूत प्रश्न जीवन से उसके निजी तत्व सेही जुडे हे और एक प्रकार से जीवन स्वय ही मूलभूत प्रश्न है। जीवन की सद् स्वीकारता मे ही जीवन का औदात्य प्रस्फुटित होता है। जीवन को नकारने से तो सब कुछ निष्फल ही हो जाता है।

सम्यक्त्व और मिथ्यात्व का रहस्य

जीवन को स्वीकार करने अर्थात् उसे एक सद् द्रव्य मानकर ही उसके अक्षय व अनन्त स्वरूप का प्राकट्य किया गया है। उसकी विलक्षणता के ज्ञान मे अनन्त का ज्ञान भी समाविष्ट होता देखा जाता हे। भारत मे बहुत प्राचीन काल मे जीवन की गहराईयो मे उतर कर उसके प्रत्येक पक्ष पर अति सूक्ष्म प्रज्ञाओ से विचार मनन किया गया है और पाया है कि जीवन सत् चित्त तथा आनन्द का ही एक अखण्ड प्रवाह है तथा समस्त मानवीय गुण व भाव शक्तियो का यह ही एक मात्र महास्रोत हे, अपने आप मे ज्ञान रूप हे, प्रकाशमय है, ज्योतिर्मय है, शक्तिमय हे, आनन्द रूप हे और महान है।

वह आप ही अपना मित्र है, तथा आप ही अपना शत्रु भी हो जाता है। जीवन धारा के प्रवाह की दिशा मे ही सम्यक्त्व तथा मिथ्यात्व का रहस्य है।

जीवन की मौलिक तीन प्रवाह धाराएं

जीवन की समस्त साधनाए जानने, मानने तथा करने मे ही वर्गीकृत होती है क्योकि सारा जीवन प्रवाह इन ही तीन स्वरूपो को लेकर प्रवाहित होता है। यह जीवन प्रवाह किससे गदला हो जाता है ? प्रत्येक वस्तु अपने आप मे जब निहित रहती है, पर–पदार्थ को अपने साथ शामिल नही करती, स्वय मे ही स्वतत्त्व मे ही रहती है तो वह पावन, निर्मल और शुद्ध रहती है। अत पर स्वरूप से निवृत्ति करके तथा स्व स्वरूप मे प्रवृत्ति करने पर अपने ही असीम स्वरूप का स्पर्श व आस्वाद रहता है, जो अपने आप मे अद्वय और अनूठा होता है। पर–पदार्थ की मिलावट ही पर समय होना है। पर–पदार्थ से निर्मल, स्व-स्वरूप रहना ही अत स्व-समय रूप स्वरूप की ही प्रशस्ति है, पवित्रता है।

स्व में एकाग्रता रूप स्व-समयसारता

आचार्य श्री कुदकुद स्वामी ने परम अध्यात्म ग्रन्थ 'समय-सार' मे आत्मा को समयसार कह कर बखान किया है, तथा 'पर समय' रूप जीव जो छद्मवेष धारण करके इस ससार नाट्य शाला मे नाना रूप का जो अभिनय किया करता है, को असुन्दर, अस्वाभाविक और विभाव भावी कहा है। उन्होने निज शुद्ध आत्म स्वरूप मे ही जीव को एकाग्रता करने की प्रेरणा की है, क्योकि वह ही एक मात्र नित्य, शाश्वत स्वरूप है। उस एकाग्रता मे ही योग का मार्ग है।

स्थिरता, समग्रता और समदर्शिता

जीवन मे जन्म-मरण क्या है ? जीव के एक स्थिर भाव की स्थिरता का ही अभाव है। स्थिर भाव का अभाव प्रत्येक जीवन–प्रवृत्ति मे असफलता का भी हेतु होता है। यह अस्थिरता क्या प्रकट करती है ? प्रकट होता है कि न ज्ञान है, न तन्मयता है, न अपनी शक्तियो का पूरा उपयोग है। अत स्थिरता ही योग का स्वरूप है।

अपने आप मे स्थिर रहना, स्थिर होना, अपने ही केन्द्रस्थ रहना यह ही योग का स्वरूप है। इसी कारण कहा गया है कि 'स्व' को ही मानो, स्व को ही जानो तथा स्व मे ही प्रवृत्ति करो, स्व को जाना तो सब ही चेतन प्राणियो को जाना, तो सब ही से जुडे, तो यह भी जीवन मात्र से जुडना हुआ, समग्रता की प्राप्ति हुई—समदर्शीपना हुआ। यह ही अपने आप का समाधान हुआ और परम से सतृप्ति रूप सुख, अक्षय सुख की उपलब्धि हुई। यह ही विद्या है, सपूर्ण योग का स्वरूप है।

अन्तरंगता की विशेषता

रत्नत्रयात्मक आत्मा को साक्षात्कार करने के उद्देश्य तथा विषय को लेकर योग का

विषय निश्चय ही असीम महासागर हो जाता है। ऐसे योग आत्म-ज्ञान का ही विशिष्ट स्वरूप तथा प्रक्रिया हो जाता है। यह प्रदर्शन व चमत्कार का निषेध करता, मानव सुख, मानवहित व कल्याण की ही वार्ता करता है। यहा बहिरग योग की नही, अन्तरग योग की प्रधानता है।

देहदेवालय

योग देह को मात्र अशुचि नही मानता, यह उसे देवालय, जिनालय मे परिणत करके जीवन को एक महान् पवित्र अवसर मे परिणत कर देने की शिक्षा को खोल कर रखता है। साधक देह के अन्तर स्तरो, सूक्ष्म तत्त्वो के पार, स्व की अलौकिक अनन्त सीमाओ को परिज्ञात करता अपने परम ब्रह्म स्व स्वरूप मे एकाग्र होता, प्रकाशित होता, और विहार करता स्वय परम–आत्मा परिणमित हो जाता है।

योगी कौन ? योगी का लक्षण

'ज्ञान-सार' मे योगी का स्वरूप इस प्रकार प्रकट किया है —

कदर्प दर्प दलनो दम्भ विहीनो विमुक्त व्यापार ।
उग्रतपो दीप्तगात्र योगीविज्ञेय परमार्थत ॥[34]

कन्दर्प (काम व कामवासना) और दर्प (अभिमान, अहकार) का जिसने दलन किया हे, दम्भ से जो रहित है, जो काया के व्यापार से रहित है, जिसका शरीर उग्र तप से दीप्त हो रहा है, उसी को परमार्थ से योगी जानना चाहिये।

ग्रन्थिविमोचन और निर्ग्रन्थ

योग से काया मे, मन मे, प्राणमे सबमे दीप्ति होती है, मगर इस योग मे तीन बडे विघ्न है—(1) कामोद्वेग (2) अहकार और (3) माया यानी कपट व दम्भ। ध्यान की एकाग्र क्रिया जब होने लगती है तो उससे मानव के सब स्तरो के आवरण टूटने लगते है। उनकी जड हुई शक्ति खुलने लगती है। शक्ति का यह जागरण ध्यान का फल हे। इस शक्ति जागरण को ध्यानी यदि सही समझ पाता है और जागृत काम शक्ति को निग्रह करके अपव्यय नही करता हे तब ही वह आगे उन्नति करता है। योगी से भूल कहा होती है ? सबसे नीचे का स्तर मानव मे काम स्तर है, यह बहुत स्थूल भी है और बहुत सूक्ष्म भी है। स्थूल दशा मे यह अब्रह्म यानी काम-सेवन अर्थात् विषय-लम्पटता के भावो को भी उग्र करता है, विपरीत लिग का आकर्षण तीव्र हो जाता हे, स्त्री का पुरुष को और पुरुष का स्त्री को यौन आकर्षण का भाव होता हे। इस स्थूलता से ध्यानी साधक जब विना बलात् (दमन) सहज रूप मे, ज्ञान भाव से उबर जाता हे तो वह काम–शक्ति ही उसके लिए ऐसी प्राणिक शक्ति बन जाती हे, जो उसे अन्य उच्च स्तरो के खोलने व प्रकाशित करने मे सहायक होती हे। सूक्ष्म अवस्था मे यह काम ही कामना, आशा, तृष्णा, आदि का स्वरूप हे तथा इन सबके मूल मे होता हे—मानव की अज्ञान दशा। यह अज्ञान ही अनादि का अधकार है जो जीवात्मा मे अन्तर्प्रकाश

---

34 ज्ञानसार–4

को आवृत्त रखता है। यह अज्ञान प्रकट रहता है—राग और मोह से। राग और मोह जीवन को सदा से विभ्रम मे रखते आए है। ये ही जीव की भूल व मूर्छा के कारण है। ये जीव मे सूक्ष्म रूप मे रहते है और आगे उच्च ध्यान अवस्थाओ मे पहुचने पर ही यह राग व मोह कटते है। इसके कटते ही साधक सिद्ध योगी हो जाता है। बलात् दमन परवसिटीज को, ग्रन्थियो को पैदा करता है। अतः लक्ष्य ग्रन्थि विमोचन हे, न कि ग्रन्थिया बनाना। तब ही निर्ग्रन्थ होते है।

यह निर्ग्रन्थ अवस्था काम कोध और मोह रूप सूक्ष्म विकारो पर ज्ञान द्वारा विजय प्राप्त करके ही सभव होती है। समस्त दु खो के हेतु काम से ही और काम के सूक्ष्म रूप राग और मोह से ही उत्पन्न होते है। योगीजन इसीलिये दो ग्रन्थियो का उल्लघन बडा दुर्लभ मानते है—'कचन और कामिनी' दुर्गम घाटी दोय'। कचन वस्तु या पदार्थ निष्ठ मूर्च्छना है। कामिनी पर-जीव-निष्ठ मूर्च्छना है। जिनेश्वर हो, चाहे बुद्ध हो, चाहे शिव हो, इन सबको काम विजेता माना गया है। काम-जय योगी की सुदृढ योग भूमि हे। राग व मोह का जय ही अह का, अहकार का, अभिमान का जय हे। राग का ही भाव द्वेष मे भी वर्तमान रहता है। द्वेष राग का ही दूसरा बाजू है। दभी मानव मे भी राग भाव की ही क्रीडा रहती हे, उसमे राग की प्रधानता है और साथ ही वह कायर भी होता है। अत वह माया से, छल से, कपट से, काम लेता हे। ऐसा करके वह अपने लक्ष्य पर नही पहुच सकता, न स्थिर ही रह सकता है।

प्रारब्ध योगी निष्पन्न योगी

'द्विविधा ध्यातारौ भवन्ति शुद्धात्मभावना प्रारम्भकाः पुरुषा.,
सूक्ष्म सविकल्पावस्थायां प्रारब्ध योगिनो भवन्ते निर्विकल्प शुद्धात्मावस्थाया पुनर्निष्पन्न योगिन इति'

दो प्रकार के योगी होते है—(1) प्रारब्ध योगी—ये शुद्धात्मभावना के प्रारम्भ मे और सूक्ष्म सविकल्प मे स्थिर है। (2) निष्पन्न योगी—ये निर्विकल्प अवस्था मे स्थिर रहते हैं।

इन दो अवस्थाओ से ध्यान योगी क्रमपूर्वक योग निष्णात होते है। ध्यान योग मे प्रवेश के लिए, आत्म-ध्यान के लिए आत्मा तत्व पर विचार, मनन तथा उसकी अवधारणा निश्चय ही आवश्यक है।

आधुनिकता के सन्दर्भ में यह योग

यह सही है कि आज मानव अति अशांत और तनावपूर्ण वातावरण मे ही नही जी रहा है, वल्कि निरन्तर उसकी अशान्ति का बोझ और तनाव बढते ही जा रहे है। इससे मानव को त्राण या विश्राम या शान्ति यदि कही है तो वह योग-विज्ञान के ही मार्ग मे है। योग धर्म ही एकान्त रूप से मानव का शरण हे—क्योकि यह मानव स्वय को उसके ही स्वरूप को उसके ही ज्ञान, शान्ति तथा आनन्द को देता है और उसे पर-सवेदना के स्तर पर नही, स्व-सवेदन पर ही प्रतिक्रिया रहित

सहज जीवन का रहस्य सिखाता है। यह उसकी चेतना के स्तर को ही बदल देता है। जागरूक और अप्रमत्त बनाता है।

विश्व की आज की परिस्थितिया योग के लिए अनुकूल भी है। योग की प्रक्रिया मत मतान्तरो के आग्रह दुराग्रहो से दूर है। अत धर्मनिरपेक्ष राज्य मे यह ही एक मात्र धर्म है। दार्शनिक ज्ञान से नही, मानव को आज यदि स्वय को टटोलना है, अपने को खोजना है तो योग ही एक मात्र मार्ग है। योग स्व तथा पर अनुशासन को (यम तथा नियमो के रूप मे) अर्थात् अणुव्रतो, तथा महाव्रतो के रूप मे तथा दश लक्षण धर्म की भावनाओ तथा अनुप्रेक्षाओ मे स्पष्ट ही दे रहा है। इतना मात्र भी ज्ञान मानव को मिल जाए तो यह उसको उसके स्व ज्ञान स्वरूप की सचेतना तथा रुचि देकर सच्चरित्र की दिशा देकर देश के चारित्र सकट को दूर करने के लिये परम प्रकाश को दे सकता है। यह मानव को स्वय आप अपने मे विश्वास करे, इस निष्ठा को जगा देता है। मानव की सबसे बडी विपत्ति है कि उसने अपने मे ही विश्वास खो दिया हे।

मानव की सद्वृत्तियो को ही आत्मा के निर्मल आलोक मे फिर से सस्थापित करके योग अपना अनुपम योगदान देने की सामर्थ्य रखता है—बशर्ते हम इसके दर्शन व प्रणालियो व प्रक्रियाओं को बोद्धिक चर्चा तक ही सीमित न करके अपने जीवन के अभ्यास मे भी ढाले। यह विचार और आचार के समन्वय और सतुलन को देकर समतामय जीवन की कु जी स्वय मानव को आप अपने मे प्राप्त करने के लिए प्रेरित करता हे।

यह मानव को स्वय उसके ही आत्म-प्रभु के सामने खडा करता है। इसका उद्घोष हे—मानव आप अपना ही गुरू है, शरण है, प्रभु हे। यह कुल जाति, वर्ण, देश या वेष की भेद करने वाली दीवारो को भी नही स्वीकार करता। अपने सत्य को अपने मे खोजो, स्वय खोजो, किसी के अनुसरण या कृपा की अपेक्षा नही हे। स्व पुरुषार्थ ही अपना शरण है।

मानव प्रभु तब ही है जब वह प्रभु रूप मे प्रतीति (निष्ठा) पूर्वक स्वीकार करे अपने आपको। तब ऐसी स्वीकृति ही योग की आधार धरा हे। यह ही आधार धरा फिर निरालम्ब अधरधरा हो जाती है। योग की माग है केवल स्व-श्रद्धा की ओर उसी मे स्व ज्ञान और स्व-रमण की। स्व ज्ञान से ही सम दृष्टि, सम भाव और विश्व बधुत्व आता है।

योग मानव को पशु व अज्ञान स्तर से उठाकर उसे महामानव एव दिव्य बना देता हे, प्रभु ही बना देता हे। यह ध्यान की सम्पदाओ को उद्घाटित कर तनाव मुक्त सहज जीवन, ज्ञान और श्रद्धा-मय जीवन को सिखा देता है। क्या यह कम महत्त्वपूर्ण है ? सद्चरित्र का निर्माण कर देना क्या आज के सन्दर्भ मे कम महत्वपूर्ण है ? आज के साइको-सेमिटिक व्याधियो का तो यही एक मात्र इलाज हे।

अमर जीवन और उसका मान

विश्व ब्रह्माड की तीन शक्तिया हे, जिनके अधीन सब पदार्थ है। ये है—सृष्टि, स्थिति और लय

(सहार)। जो जो रूप या दशा है वह कुछ काल तक रहती है, बाद मे क्षीण होकर नष्ट होने लगती है। सहार शक्ति निकाल लेने का अर्थ होगा कि एक ऐसी सृष्टि, जिसका नाश नही, जो बनी रह कर सदा बदलती रहेगी। अज्ञान के रहते तो उन्नति के लिए अज्ञान का नाश आवश्यक है। परन्तु ज्ञान मे अपने सत्य की दिव्य सृष्टि होने पर किसी भी प्रलय के बिना ही सम रूप से सतत् रूपातरित होते जाना ही नियम है। वस्तु मे दशाए उत्पन्न होती है, व्यय होती है, पर वस्तु स्वरूप से नित्य ही रहती है। वस्तु इस प्रकार नित्यानित्य का रूप है। नित्य भाव से ध्रौव्य और अनित्य भाव से (स्वरूप से) उत्पाद व्यय है। इस सत्य मे अमर जीवन का मान है।

चेतना की सतत उज्ज्वलता और उर्ध्वी करण

अज्ञान का नाश अवश्यम्भावी है। पशु स्तर से ऊपर उठे बिना, अज्ञान के नाश हुए बिना, मानव के वर्तमान व्यक्तित्व के रूपान्तरण हुए बिना, ज्ञान रूप यथार्थ और सच्चे व्यक्तित्व का प्रकाश नही होता। अत मानव को सर्व प्रथम अपनी अज्ञान दशा को पहचान करके ज्ञान दशा मे आने के लिए निर्णय करना ही पडेगा, उस निर्मल ज्ञान दशा के लिये जो उसका अन्तर और परमोच्च तत्व है। तब अज्ञान से मुख मोड कर उसे ज्ञान दशा के अभिमुख होकर उसे ही अपने आप को समर्पित करना होगा और उसी मे तन्मय रहने का अभ्यास करना होगा। वास्तव मे यह जो योग है, वह एक दिव्य तत्त्व है, दिव्य स्वरूप का तत्त्व है, दिव्यता के लिये तत्त्व है। यह अदिव्यता को तनिक भी स्वीकार नही करता बल्कि उसे नष्ट करता हुआ विशुद्धि का निर्माण करता ही उत्कर्ष करता जाता है। इसमे ऐसा सिद्धान्त नही है कि जो तत्त्व मानव का पतन करता है वह ही मानव को उठाने का भी माध्यम बन जाता है। यहा अखाद्य खाद्य नही है, असेव्य सेव्य नही है, अपेय पेय नही है, निद्य अनिद्य नही है। वह सिद्धान्त यहा अवस्तु और अयथार्थ है। यहा मार्ग एक सीधी रेखा है—जो मुड कर कभी वक्र होना नही जानता। अत ज्ञान की, चेतना की उर्ध्वमुखी दिशा को ही लेना होगा। अज्ञान दिशा के विमुख होना पडेगा। अज्ञान विषम दशा है, ज्ञान समदशा है। इस योग मे चेतना की सतत उज्ज्वलता तथा उर्ध्वी करण ही नियम है, मार्ग है।

जो दिशा पतनोन्मुखी है वह कभी उत्कर्षोन्मुखी हो ही नही सकती। दिशा जो उर्ध्वमुखी है वह उर्ध्वमुखी ही रहती है। यदि पतनोन्मुखी दिशा उर्ध्वमुखी बन जाए तो यह भी सभव है कि उर्ध्वमुखी दिशा कभी पतनोन्मुखी बन जाये, तब वस्तु-व्यवस्था क्या रहेगी, तब मानव की आस्था कहा ठहरेगी? यह सभव है कि मानव यहा जहा से चला वहा वापिस पहुच जाता है, क्योकि पृथ्वी गोल है। यह बात भी इस निष्कर्ष को देती है कि दिशा का मुख मानव को अपनी वर्तमान स्थिति से बदलने के लिए आवश्यक ही है। वरना बार-बार वही के वही ही रहोगे। जो अज्ञान को ज्ञान के नाम पर पोषण करते है, वे वास्तव मे अपने को व अन्यो को भ्रमित ही रखते है। अज्ञान के पार्थिव स्तर का नाश आवश्यक है, उसे छोडना ही होगा—त्रय गुणो का रूपातरण होना ही है। अनात्म-त्रय गुणो का रूपान्तरण इस प्रकार हो जाता है—

तीनो गुण शुद्ध और विमल होकर अपनी दिव्य सत्ता को प्राप्त होते है, सत्व गुण की हो जाती है ज्योति, अर्थात् विशुद्ध आत्मतेज, रज गुण हो जाता है तप अर्थात् शाति-मय प्रचण्ड दिव्य शक्ति, और तम गुण हो जाता है सम अर्थात् निर्द्वन्द्व समता-शान्ति ।

अन्तर आलोक : योग का प्रमाण

योग की प्रमाणिकता अन्तर आलोक मे प्रकट होती है । अन्तरात्मा, चैत्य पुरुष, सम्यग्दृष्टि तथा सम्यक्ज्ञानी पुरुष के अन्तर-तत्त्व की बडी प्रशसा है । योग स्व-अन्तरस्थ, हृदयस्थ ईश्वर के ज्ञान-उद्घाटन पर तथा इसमे ही एक मात्र शरण व समर्पित होने की प्रेरणा करता है । अन्तरात्मा परिणत होकर ही सम्यक्त्व व सम्यग्ज्ञान ग्रहण होने पर मानव परम-आत्मा की उपासना करने, ध्यान आराधना करने योग्य होता है और तब ही वह तद्रूप परम आत्मा भी परिणमित होता है ।

अभ्यास की अपेक्षा

जो योग मानव को प्रभु-परिणत करने के सक्षम है, क्या वह वर्तमान मे मानव को मानव नही बना सकता है ? अवश्य यह बना सकता है मगर उद्योग चाहिये । अभ्यास चाहिये । उस स्वरूप मे एकाग्रता की चेष्टा होनी चाहिये । थोडी भी इस दिशा मे मानव की चेष्टा महती फलवती हो सकती है ।

अभ्यास तथा साधना से क्या नही हो सकता ? मानव का श्रम, पुरुषार्थ क्या नही कर सकता है ? नित्य अभ्यास से बडे-बडे पहाड भी चूर्ण कर दिये जाते है, नदियो के प्रवाह परिवर्तन कर दिये जाते है, तब मानव अपने सतत चिन्तन तथा अभ्यास द्वारा स्व स्वभाव की दिशा को भी क्यो नही बदल सकता ? अर्थात् वह अवश्य बदल सकता है पर प्रथम तो उसे उस स्वभाव का परिचय, रुचि तथा आस्था चाहिये कि जो उसका स्वय का शुद्ध व मूल रूप है, निर्मल स्वरूप है । अपने निर्मल स्वरूप की आस्था की जागृति और प्रतिष्ठा होने पर ही मानव का अभ्यास, स्वभाव-एकाग्रता का अभ्यास उसे मानव ही नही अति मानव, साक्षात् कर्म—कलक रहित प्रभु ही परिणमित कर दे सकता हे । तब उस दिव्य रूप परिणत मानव को नित्य ही स्व-आत्मा के वैभवो के महान् महोत्सव प्राप्त होते है । पृथ्वी के उत्तम पुरुष ही क्या, भवन व अन्तरिक्ष वासी देव प्राणी भी उसके आगे परम शान्ति के लिये नत-शिर होते है और शरणापन्न होते है और भक्ति-भाव से अपने ही अन्तर को प मानन्द के भावो से आर्द्रित और विमल कर लेते है । परन्तु इस सब मे प्रश्न अपनी आत्मा की ही आस्था का है, वह सम्यक् भाव से जाग जानी चाहिये ।

रुचि और दर्शन की महत्ता, आस्था के दीप जलाओ

योगका उत्स वास्तव मे स्व-आत्मा का यथार्थ विकास तथा स्व अध्यात्म स्वरूप की ही अ तर रुचि तथा दर्शन मे है । योग तब ही मानव को उसके उज्ज्वलतम ज्योति स्वरूप व परमानन्द परम स्वरूप मे प्रतिष्ठित करने मे सफल होता है और यह सर्वदा इस ही प्रकार सफल हुआ है और

होगा। स्व आस्था ही मानव को निर्विकार एव उज्ज्वल बनाती है, कषाय व राग से रहित होने की प्रेरणा देती है। कषाय और राग से रहित होने मे ही आत्मा-पुरुष अपने सहज निर्मल ज्ञान-स्वभाव मे, अर्हद् रूप मे, परमेश्वरत्व मे जाग उठता है।

योग शास्ता कौन ?

इस आस्था की शिक्षा किससे प्राप्त हो सकती हे? सो स्पष्ट ही है कि यह आस्था उसी मानव पु गव से प्राप्त हो सकती है, जिसने स्वय मे उस आस्था को परिपूर्ण जागृत किया हो, प्रतिष्ठित किया हो, स्वय इस स्वरूप सिद्धि के मार्ग पर चला हो, ऐसा ही आप्त पुरुष कालातीत ऐतिहासिक योगेश्वर तथा धर्म सस्थापक पुरुष हो जाता है। ऐसा आदि पुरुष पूर्व मे, अति प्राचीन प्रागैतिहासिक काल मे इसी भारत मे भगवान हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ वृषभेश्वर हुए।

अनुभव, स्वरूप प्राप्ति और आदर्श

सिद्धि, साधना और साधक के एक निर्मल आत्मा-केन्द्र पर एकत्व हो जाने पर ही शुद्ध बुद्ध और सिद्ध स्वरूप की सिद्धि होती हे अर्थात् यही एक मात्र सिद्ध स्वरूप है। स्वरूप सिद्धी के लक्ष्य की स्थिरता के ही अर्थ सिद्धो की वदना भी की जाती हे और वही इस योग यात्रा का अनतर प्रकर्ष बिन्दु है। यानी वह स्वरूप प्राप्ति ही चरम बिन्दु है, स्व खोज का चरमोत्कर्ष है।

खोज का स्वरूप शब्दात्मक नही है, वह अनुभवात्मक है। गुरु का उपदेश शब्दात्मक हे; उस उपदेश से प्राप्त निष्ठा और ज्ञान को जब अनुभवात्मक बनायेंगे, तब ही वह निष्ठा तथा ज्ञान हमारी निष्ठा, हमारा ज्ञान होगा और यह अनुभव का मार्ग खुलेगा—अपने ही अर्न्तखोज करने से, आत्म ध्यान करने से। अत ध्यान स्व के खोज की ही एक विधि हे, मार्ग है, साधन है। यह ध्यान ही योग विज्ञान है। इस खोज व ध्यान से ही स्व स्वरूप की, स्व तत्व की सिद्धि या साक्षात्कार हे। ध्यान मे अनुभव रूप स्वाद तब ही आयेगा जब स्व तत्व मे तन्मय हो जाओगे। तब वहा न श्रद्धा होगी न ज्ञान, न चारित्र होगा। तब वहा होगा मेरा ही निर्मल 'हू', अह–स्वरूप, आत्मा-स्वरूप, परम शान्त व सुख रूप। एक अद्वैत दशा होगी वह। तब वह शान्त स्वरूप श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र का अभिन्न अखड आस्वाद रूप होगा। उस अवस्था मे साधक, साधना और सिद्धि एक केन्द्र पर एक होकर स्वय आत्मकेन्द्र मे आत्म-निर्विकल्प हो जाता है। वह अपूर्व और अद्वय अवस्था ही सिद्धि का निदर्शन हे, आत्म प्रभु का निदर्शन है, स्वरूप प्राप्ति का निदर्शन हे। इसमे युगपत् सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र अखण्ड विराजमान रहते हे। अत यह योग शासन रूप शान्ति, निर्मलता और सुख का मार्ग, मोक्ष का मार्ग, या धर्म मार्ग इन तीन विशिष्ट गुणो का त्रयात्मक स्वरूप है। आत्मा के परम (निर्मल) स्वरूप का अन्तरग अनुभव ही मे सारा रहस्य हे। इस मार्ग मे प्रथम जिनेश भ० हिरण्यगर्भ ऋषभ तीर्थंकर स्वरूप तथा सिद्ध परमात्मा स्वरूप ही हमारे आदर्श है अर्थात् सकल व निष्कल आत्म-स्वरूप ही क्रमश अर्चनीय हे। उनकी सी आत्मिक शान्ति तथा सुख ही हमारा लक्ष्य बिन्दु है। यह

लक्ष्य तद्वत् परिणमन या रूपान्तरण चाहता है। हम मे चिति शक्ति की तद्वत् अभिव्यक्ति हो। पर्याय के अभिप्राय तथा भावो मे पूरा-पूरा समग्र और अखड रूप से परिष्करण की यह लक्ष्य माँग करता है। जीवन दिशा मे क्रान्ति बिना यह सभव भी नही होता। इस दिशा की प्राप्ति होती है सहज पुरुषार्थ से, जो निज शुद्ध स्वभाव मे एकाग्र होने रूप है। इसी के उपायों का विवरण इस योग विज्ञान मे है। अपने स्वभाव की निर्मलता, आनन्द और ज्ञान और उसी मे रमणता रूप स्थिरता-ये ही क्रम और दिशा है इस योग विज्ञान की। इसमे ही कर्मावरणो तथा सस्कारो का क्षय होकर विशुद्ध स्वरूपामृत की प्राप्ति होती है।

अर्थ-संगति

योगः सन्नहनोपाय ध्यान संगति युक्तिषु—(अमरकोष)

(१) योग सन्नहन है, क्षत्रिय श्रमणो की भाषा मे जीवन सग्राम मे युद्ध रत होने के लिए योग कवच का धारण कर लेना सहन्न (सन्नद्ध) होना है जिससे कर्मशत्रुओ को जय किया जाए। कारणानुयोगी गोम्मट सार, पचप्रकृति आदि मे वही कर्मनिर्जरा के विज्ञान रूप मे कहा गया है।

(२) योग उपाय है मोक्ष-प्राप्ति का और इसे रत्नत्रयात्मक रूप मे कहा गया है।

(३) योग ध्यान है, ध्येय (इष्ट) दर्शन की प्रक्रिया है—जिसका चरणानुयोगी "ज्ञानार्णव" आदि मे अस्फुट व्याख्या है।

(४) योग सगति है वाह्यात्मा जीव अन्तरात्मा रूप मे विशुद्ध रूप विकसित होकर निज परम स्वरूप मे सगति करे, इस विवेचन से पूर्ण है जैन आगम।

इस विवेचन से पूर्ण है जैन आगम।

(५) योग युक्ति है। त्रिविध युक्ति दी गई है—

(१) जीव मात्र निर्मल चिदानन्द है, अत जीव मात्र मे आत्मवत समभावना, अहिसा, करुणा की चर्चा यथाख्यात चारित्र रूप उपदिष्ट हुई है। अहिसा जैन धर्म और योग का पर्यायवाची हो गया है।

(२) जीव ससार-रगशाला मे आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष के स्वाग भरता है ये अभिनेता के ओढे रूप है, निज रूप नही है, सयोगी द्रव्य से असपृक्त मुक्त ही है जीव, समयसार है। द्रव्यानुयोगी समयसारादि ग्र थो मे यही विशेष युक्ति है।

(३) दृष्टा-ज्ञायक की ज्ञानवृत्ति सदा ही विकार-विमुक्त व अस्पृष्ट है। ये ही "जल मे मे कमल वत्" चर्या है। ज्ञान वृत्ति कुशल वृत्ति है—इसे ही श्री कृष्ण (भावी तीर्थकर) न योग कर्मसु कौशलम्"—कहा है।

वस्तुत योग मे ये सब ही अर्थ सगति पूर्वक समाहित है। यह स्वरूपामृत से युक्त करता है। अर्थात् केवल (परम शुद्ध) आत्मा से जोडता है। वही तो योग अयोग की चरम परिणति रूप अयोगि जिन अवस्था है जो योगियो की आ राध्य, परम प्राप्तव्य है।

२. तत्वों पर विचार अनन्त सत्ता परिप्रेक्ष में

- सत् तत् और तत्त्वार्थ की मीमांसा
- द्वैतात्मक सत्ता—चेतन अचेतन सत्ताएँ
- चेतना लक्षण जीव
- अनन्त सत्ता षट् द्रव्यात्मक विराट् सत्ता-समष्टि
- पाच अचेतन द्रव्य
- पचास्तिकाय
- अनन्त सत्ता परिप्रेक्ष्य मे सम्यक्त्व
- चेतन जीव समष्टि ससारी और मुक्त आत्माए
- आत्मा चिदात्म पुरुष ज्ञान चेतना, कर्म-चेतना और कर्मफल चेतना।
- आत्मा की शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र अवस्थाए
- जैनो का परमाणुवाद (पुद्गल-वर्णन)
- मन एक आभ्यन्तर इन्द्रिय
- मनोयोग
- मुमुक्षु की पाच जिज्ञासाए
- त्रैकालिक प्रश्नो का समाधान
- जीव द्रव्य के गुण और पर्याय
- तत्त्व ज्ञान का प्रयोजन आत्म-प्रकाश
- सामान्य विशेष धर्म
- स्वभाव विभाव पर्याय
- षड्गुणी वृद्धि-हानि।
- द्रव्य, गुण, पर्याय की सिद्धि
- स्व सत्ता अवलम्बन से ज्ञान
- सत्ता के 'है' की महिमा
- वस्तु स्वातन्त्र्य
- अनन्त प्रदेश—प्रति प्रदेश अनन्त शक्ति
- अनन्त गुण—प्रतिगुण अनन्त शक्ति पर्याय
- आत्मा की स्व स्वावलम्बिता

यत्तत् और तत्त्वार्थ की मीमांसा

आधुनिकता के सदर्भ मे मद बुद्धि का क्या उपयोग ? वैसे ही अध्यात्मिकता के सदर्भ मे भी चिन्तन की योग्यता से रहित का कोई उपयोग नही। वस्तु स्वरूप के चिन्तन से ही अध्यात्म का आरम्भ होता है। विश्व मे यावन्-मात्र जो 'यत्' रूप अवस्थित हे उसके निर्मल तत्त्वस्वरूप का चिन्तन ही तत्त्वार्थ है जिसमे आत्म साधना के सूत्र मीमासक विवेक की प्राप्ति होती है। मानव की पशु से भेद रेखा चिन्तन, कल्पना शक्ति और विवेक से ही खिची है। योग साधना मे अत भली प्रकार तत्त्व विचार करना, वस्तु निर्णय करना ही पहली शर्त हे और वह अनिवार्य ही है।

जो सत्–सत्ता रूप है—वही वस्तु है। यह विश्व अनन्त वस्तुरूप अनन्त सत्तात्मक है। इस विश्व मे एक सत्ता नही—अनन्त सत्ता है। सत् वस्तु अनादि और अनन्त है।

द्वैतात्मक सत्ता विवेचन

श्रमण-योगियो ने आज के भौतिक विज्ञान से कही पहले वस्तु चिन्तन करके सपूर्ण विश्व सत्ता को चेतन और अचेतन ऐसे दो प्रमुख विभागो मे द्वैत रूप मे व्यवस्थित लक्षित किया हे। वस्तु इस विराट् विश्व मे अत या तो चेतन है या अचेतन—इन दो प्रमुख तत्त्वो से (द्रव्यो से) सारा विश्व ब्रह्माण्ड आपूर्ण व्याप्त है। अनन्त शक्तियो (गुणो) का एकमेक अखण्ड समुदाय ही द्रव्य, वस्तु या तत्त्व नाम पाता है। द्रव्य मे इस प्रकार गुण है और गुण के परिणमन रूप अवस्थाए है, जिन्हे पर्याय कहते है। इस प्रकार सत्-द्रव्यगुण-पर्याय युक्त हे। अचेतन द्रव्य अनन्त है—और चेतन पदार्थ भी अनन्तानन्त है।

चेतना लक्षण जीव

"चेतना लक्षणो जीव स्याद् 'जीवस्तदन्यक" (सर्वदर्शन सग्रह)—चेतना लक्षण जीव है और जीव के अतिरिक्त अन्य अब अचेतन है। उपयोगो जीव लक्षणम्—(तत्त्व सूत्र) मे कहा हे। जीव का जानने व देखने रूप उपयोग है—देखने जानने की शक्ति एव सुख दु ख की दशा को जानना—यही चेतन्य गुण हे।

अनतसत्ता

अनन्त सत्ता काल और पचास्तिकाय की ही समष्टि हे। अजीव द्रव्य को पाच उपभेदो मे वर्णित किया गया है। विज्ञान की दृष्टि से भी लोक रचना का यह विवेचन बहुत महत्वपूर्ण है। आत्म परक विज्ञान मे यद्यपि आत्मा पर प्रमुख रूप से चितन किया गया हे, पर अचेतन पदार्थ पर भी यह सूक्ष्म विवेचन मूल्यवान तथा महत्वपूर्ण है।

(१) पुद्गल—रूप, रस, गध, स्पर्श गुण वाले द्रव्य पुद्गल है—समस्तरूपी व मूर्त सत्ता पुद्गल है।

(२) धर्म—यह जीव और पुद्गल के गतिशील रहने मे निमित्त (Medium) तेजोवाही ईथर

(Ether) द्रव्य है। यह गति सहायक द्रव्य है। यह लोक प्रमाण अमूर्तिक एक द्रव्य है।

(३) अधर्म—यह जीव और पुद्गल की स्थिति मे क्षेत्र (field) स्थापकत्व का सूक्ष्म निमित्त (medium) है। यह स्थिति सहायक द्रव्य है। यह भी लोक प्रमाण अमूर्तिक एक द्रव्य है।

धर्म और अधर्म—ये तत्व-विवेचन के निगूढ शब्द है। वस्तु के स्वभाव रूप धर्म से ये भिन्न अर्थ रखते है। ये द्रव्य जैन तत्त्व विचार की सूक्ष्मता से मान्य हुए हे और वर्तमान विज्ञान से भी ये सम्मत हुए हे। जीव और पुद्गल को ही क्रियावान होने से धर्म व अधर्म द्रव्य की सहायता की अपेक्षा रहती हे-अन्य द्रव्यो को नही।

(४) काल—यह वर्तना लक्षण तत्त्व हे। वस्तु का पर्याय परिणमन वर्तना कहलाता है। वर्तना जिसमे होती हे वह काल (टाइम) हे। यह लोक के एक एक प्रदेश पर स्थित एव परमाणु मात्र असख्यात हे।

(५) आकाश—उपर्युक्त चार द्रव्यो व चेतना द्रव्य की स्थिति के लिए अवकाश देने वाला है। ये पाच अचेतन द्रव्य तथा चेतन द्रव्य मिलकर षट् द्रव्य कहलाते है। आकाश के जितने भाग मे जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और काल द्रव्य पाये जाते हैं वह लोक और लोकाकाश कहा जाता है, बाकी को अलोक व अलोकाकाश कहते है।

पंचास्तिकाय

काल द्रव्य को छोड कर पाचो द्रव्य (जीव समेत) प्रचय रूप होने व प्रदेश काय होने से—अर्थात् भावात्मक प्रदेश पदार्थ होने से पचास्तिकाय कहे जाते है। अणु-पुद्गल मे प्रचय-शक्ति होने से उसकी पचास्तिकाय मे गणना हे।

अनन्त सत्ता परिप्रेक्ष्य मे तत्त्व विवेचन

षट् द्रव्यात्मक यह विश्व यथार्थ और अनादि निधन है और षट् द्रव्य अनन्त है और अनादि है, इनका आदि कारण नही है। रूपात्मक इस विश्व मे नाम व रूप (पर्याय) बदलते है—पर षट् द्रव्य ध्रुव है और अनन्त है। षट्-द्रव्यो का समुदाय ही लोकालोक रूप विश्व समुच्चय कहा जाता है। विश्व समुच्चय का विराट् अनन्त आकार न केवल आश्चर्यजनक है, वह वस्तुत विस्मय कारक है। विशेष प्रकार से 'स्मय' हर्ष व आनन्द को उत्पन्न करने वाला ही इसका ज्ञान है। यह विस्मय जीव मे आश्चर्य भाव से इस तरह विलक्षण है कि आश्चर्य मे तो जीव बहिर्मुख होता है—मगर विस्मय मे जीव अन्तर्मुख होता हे और इसलिए विस्मय का भाव योग की एक प्रथम भूमि होती है। विस्मय होकर विशेष तर्कणा रूप वितर्क, विचार, व चिन्तन भूमि को आविर्भूत करता है। विस्मय का आह्लाद ही चित्त की ग्रन्थियो का विभेदक होता है और उसी मे दर्शन व ज्ञान का कभी उद्भव भी होता हे, और दर्शन ज्ञान उपयोग मय स्वय जीव चेतन पदार्थ हे—अर्थात् विस्मय, वितर्क, और ज्ञान

आत्म साक्षात्कार के ही तत्त्व है। जव जीव को अपने अस्तित्व का तथा अपने अनन्त ज्ञान का ज्ञान होता है तो परमानन्द का आविर्भाव होता है—वही समाधि जनक भी होता है। वस्तु व्यवस्था यानी कार्यकारण के बोध, ससार की दशा, उत्पाद, व्यय, नित्यता एव बोध, मोक्ष के कार्य कारण के वोध से यथार्थ सुख का मूल हेतु 'सम्यक्त्व' प्राप्त होता है। अनत सत्ता के परिप्रेक्ष्य मे तत्व का यही महत्त्वपूर्ण वरदान हे।

चेतन जीव-समष्टि संसारी ओर मुक्त आत्माएं —

चेतन जीव की दो श्रेणिया है। कहा हे—'ससारिणो मुक्ताश्च'(तत्त्वार्थ सूत्र २/१०)।ससारी जीव प्राणी रूप मे मूर्त (रूपी) अचेचन द्रव्य के माध्यम से देह युक्त व्यक्त होता है—यह दुःखी परतन्त्र तथा जन्ममरण वाला होता है। यह ससारी जीव शुद्ध रूप नही है। शुद्ध जीव अचेतन द्रव्य से असग होकर मात्र सुखी अवस्था मे लोकोत्तर स्थान मे उर्ध्वगमनशीलता से है और मुक्त है। ये मुक्त जीव इस जागतिक लोक मे फिर अनात्म पदार्थ के द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव रूप—परावर्तन के लिए नही लौटते। वर्तमान मे जितने मुक्त व सिद्ध (शुद्ध) जीव है वे भी भूतकाल मे देह युक्त रहे थे और वर्तमान मे जितने देह युक्त जीव हे—वे भी अनादि भूतकाल से देह युक्त चले आ रहे है। देह परम्परा अनादि है—पर सान्त हे क्योकि सयोगी है।

ससारी प्राणी या तो समनस्क है या अमनस्क है। मन वाले समनस्क और बिना मन वाले अमनस्क है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति काया वाले प्राणी स्थावर और एकेन्द्रिय है। शेष ससारी जीव द्वीन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक त्रस है।

विश्व मे समस्त द्रव्य ही अनादि और अनन्त है और जीव द्रव्य भी अनन्त और अनादि हे। अनादि हे अत वह अमर, अबध्य, अक्षय, अज, अव्यय और अनन्त (न अंत होने वाला) भी कहा जाता है। वह उपयोग शक्ति से अभिन्न हे—उपयोग और चेतन्य एकार्थक हे।

आत्मा चिदात्मा पुरुष

> **अस्ति पुरुषश्चिदात्मा विवर्जितः स्पर्शगधरसवर्णैः ।**
> **गुण पर्यय समवेतः समाहितः समुदयव्ययध्रौव्यैः ।।**[1]

पुरु रूप उत्तम चैतन्य गुण मे जो शेत स्वामी होकर प्रवृत्ति करने वाला यह चिदात्मा पुरुष हे—यानी चेतना लक्षण है। यह चेतना अनात्म द्रव्य के गुणो से रहित हे। चेतना पदार्थो को जव सामान्य निराकार रूप से प्रदर्शित करे तो उसे दर्शन चेतना, जव उन्हे विशेपता से साकार रूप दिखाए तो उसे ज्ञान चेतना कहते हे। परिणमन अपेक्षा चेतना—ज्ञान चेतना, वह हे जो शुद्ध ज्ञान स्वभाव रूप परिणमन करती है, कर्म चेतना वह हे जो रागादि कार्य रूप परिणमन करती हे और तीसरी कर्मफल चेतना वह है जो सुख दुःखादिरूप परिणमन करती हे। चेतना के अनेक व विविध रूप होते है, मगर जीव मे

---

1 पुरुषार्थ सिद्‌ध्युपाय-1

चेतना का कभी व कही भी अभाव नही होता। जीवात्मा अनादि स्कध रूप पुद्गल द्रव्य मे अहकार ममकार रूप प्रवृत्ति करता है अत स्पर्श रस, गध और वर्ण से विवर्जित विशेषण से चिदात्म पुरुष की विलक्षणता प्रकट की गई है। गुण पर्याय समवेत विशेषण से आत्मा कोगुण पर्यायमय द्रव्य कहा है।

गुण का लक्षण है वह शक्ति जो द्रव्य के साथ है, जो द्रव्यो मे सहभूत हो,सदा काल पाया जाए। ये गुण दो प्रकार के हे—

(1) साधारण—अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयात्वादिक गुण है—ये अन्य द्रव्यो मे भी पाये जाते हे। (2) असाधारण—ज्ञान दर्शनादिक असाधारण गुण हे—क्योकि आत्मा द्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यो मे नही है।

पर्याय का लक्षण क्रमवर्ती है—द्रव्यो मे जो अनुक्रम मे उत्पन्न होते। नरनारकादि या सिद्धाकृति रूप तो व्यजन पर्याय और रागादिक परिणमन रूप व षट् प्रकार की हानि वृद्धि रूप अर्थ पर्याय है। इन गुण पर्यायौ से आत्मा की तादात्मक एकता है—इस विशेषण से आत्मा का विशेष्य जाना जाता है। नवीन अर्थ पर्याय व व्यजन पर्याय की उत्पत्ति को उत्पाद, पूर्व पर्याय के नाश को व्यय और गुण की अपेक्षा और पर्याय की अपेक्षा आत्मा के शाश्वत पने को ध्रोव्यै कहते है—अत आत्मा को "समुदय व्यय ध्रोव्यै समाहित" कहा गया है।

आत्मा की शुद्ध, अशुद्ध और मिश्र अवस्थाएं

ससारी आत्मा अशुद्ध है, पर उसमे शुद्ध होने की योग्यता भी है। शुद्ध होने पर ही वह सिद्धात्मा होता है—मुक्त हो जाता है। शुद्ध होने की सभावना जिस जीव मे प्रकट होती है या रहती हे—वही भव्य जीवात्मा कहा जाता हे। आत्मा के शुद्ध स्वरूप की रुचि प्रकट होने से जिसे सम्यक्त्व कहते है—जीव मोक्षगामी होने की अर्हता प्राप्त करता हे और इस अर्हता को कार्य रूप मे परिणत किया जाता है योगाभ्यास रूप आत्म साधना से। भव्य ससारी जीव मे शुद्धता की सभावना हे—अर्थात् वर्तमान मे शुद्ध नही है। यथा बीज को अनुकूल परिस्थिति तथा सामग्री का लाभ मिलने पर वृक्ष रूप मे विकसित होने की सभावना होती है—वैसे ही ससारी जीव को भी सद् गुरू और सद् चारित्र रूप योगाभ्यास-दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप स्वरूप का आचरण आदि अनुकूल सामग्री तथा साधना पर अशुद्ध आत्मा को विशुद्ध सिद्ध आत्मा मे विकसित तथा परिणत होने की सभावना हे। इस सभावना को ही भव्य गुण कहा जाता है।

सर्व विवर्त्तोतीर्ण यदा स चेतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्य सम्यक्पुरुषार्थ सिद्धिमापन्न ॥[2]

जब अशुद्ध आत्मा सपूर्ण विभावो (राग मोहादि भावों) से पारगत होकर निष्कंप चैतन्य स्वरूप को प्राप्त होता है तब ही यह आत्मा कृत्यकृत्य हो जाता है।

आत्मा और अशुद्धता का स्वर्ण कीटिकावत् अनादि सम्बन्ध हैं—अत वह ज्ञान स्वभाव

---

2 पुरुषार्थ सि०—11

को विस्मरण कर उदयागत कर्मपर्यायों मे इष्टानिष्ट भाव से रागादिक रूप परिणमन करता है। ये परिणाम चेतन जीव के ही है तथा आत्मा के साथ इनके व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है अत. इनमेभोग्य-भोक्ता सम्बन्ध भी आत्मा मे घटित होता है। जब सर्व विभाव-भावो का क्षय होकर अक्षोभमय सागरवत् शुद्धात्म स्वरूप मे लवणवत् परिणाम लय, लीन हो जाते है—तब ध्याता और ध्येय का विकल्प नही रहता। तब मै शुद्धात्म स्वरूप का ध्यान करता हू ऐसा नही जानता, किन्तु आप ही तादात्म्य वृत्ति से शुद्धात्म स्वरूप होकर निष्कर्म परिणमन करता है—उस समय आत्मा कृत्यकृत्य होता है। वही पुरुष-आत्मा के कार्य की सिद्धि है।

शुद्ध और अशुद्ध इन दो जीव कोटियो के मध्य मिश्र जीव कोटि भी कही जाती है। जिन जीवों के सम्यक्त्वादि गुण कुछ निर्मल हुए हो और कुछ समल हो—ज्ञानादि गुणो की कुछ शक्तिया शुद्ध हुई हो—अवशेष सर्वअशुद्ध हो—और परिणति उनकी कुछ शुद्ध रूप परिणमन करती हो—वे मिश्र जीव कहे जाते है। अशुद्ध जीव अनादि से ही अशुद्ध है। मिश्र जीव सादि मिश्र है—वे अनादि से अशुद्ध थे पर कालान्तर मे अब अपेक्षतया ही अशुद्ध है। शुद्ध जीव अनादि से अशुद्ध थे और अब द्रव्य और गुण और पर्याय रूप मे—समग्र रूप से शुद्ध है और अब भविष्य मे कभी अशुद्ध न होगे। उनके अशुद्धि के निमित्त सर्वत, सर्वत्र, सर्वथा, सर्वकाल के लिए समाप्त हो गए।

जैनों का परमाणुवाद (पुद्गल वर्णन)

पुद्गल स्पर्शादि चार गुणो से सयुक्त अणु और स्कन्ध दो भेद वाला है। एकाकी अविभागी परमाणु, अणु और अनेक अणुओ का समूह स्कन्ध कहा जाता है। इन दो भेदो के अतिरिक्त छ भेद और भी कहे जाते है —

(1) स्थूल-स्थूल, जो काष्ठ, पाषाणादि के समान छेदे भेदे जा सके।

(2) स्थूल—जो जल दुग्धादि द्रव-पदार्थो के समान छिन्न भिन्न होने पर पुनः मिल सकें।

(3) स्थूल-सूक्ष्म—जो आतप चादनी अधकारादि परमाणुओ के समान दृष्टिगत होवें परन्तु पकडे न जा सके।

(4) सूक्ष्म स्थूल—जो शब्द गंधादि के परमाणुओ के समान दिखाई न दे परन्तु श्रवण नासिकादि अन्य इन्द्रियो से ग्रहण किये जा सकें।

(5) सूक्ष्म—जो कार्माण वर्गणादिक बहुत-परमाणुओं के स्कन्ध हो और

(6) सूक्ष्म-सूक्ष्म—अविभागी परमाणु

पुद्गल के चार गुणो के भी उपभेद हैं—

वर्ण या रूप गुण के पाच भेद—श्वेत, रक्त, पीत, नील और श्याम है।

रस गुण के तिक्त, कटु, अम्ल, मधुर और कषाय ये पाच भेद है।

गध गुण के (1) सुगन्ध और (2) दुर्गन्ध दो भेद है।

स्पर्श गुण के आठ भेद—(1) मृदु, (2) कठिन, (3) लघु, (हल्का), (4) गुरु, (भारी), (5) शीत, (6) उष्ण, (7) स्निग्ध और (8) रुक्ष है।

पुद्गल के गुणो की इस प्रकार बीस जातियां है—इनमे मृदु, कठिन, लघु और गुरु के अतिरिक्त सोलह जाति के गुण ही पुद्गल परमाणु मे होते है। एक साथ एक समय मे शीत या उष्ण स्निग्ध या रुक्ष, तथा वर्ण (रूप) मे से एक तथा रस मे से एक ही पुद्गल परमाणु मे गुणोपभेद प्रकट होते है। इन गुणो के उपभेदो (जतियो)मे परस्पर अदल-बदल भी होते रहते हैं। ये बीस जातिया वस्तुत गुण नही हे। एक धातु दूसरे धातु मे रूपातरण स्पर्श गुण के हल्के भारी गुणाशो के हीनाधिक रूप परिणमनो के निमित्त से होता है। लघुत्व गुरुत्व गुणाश मे हो जाता हे। रस के अम्ल गुणाश मधुर गुणाश रूप हो जाते है। गध के सुगन्ध गुणाश दुर्गन्ध गुणाश रूप हो जाते हैं—वर्ण मे लाल गुणाश श्याम गुणाश रूप हो जाते हैं—आदि आदि।

पुद्गल परमाणु एक प्रकार के शुद्ध व अनन्त सख्या मे हे—पुद्गल एक प्रदेशी घन चोकोर आत्यान्तिक सूक्ष्म होता है। पुद्गल स्कन्ध पुद्गल परमाणु की विकारी (अशुद्ध) दशा सख्यात और असख्यात प्रदेशी होती है—सूक्ष्म पुद्गल स्कध भी असख्यात प्रदेशी और आत्यान्तिक (कम से कम) स्थूल होता है। परमाणु अचिन्त्य शक्ति वाला होता है। परमाणु विस्फोट जिसे आज विज्ञान कहता है—वह सूक्ष्म पुद्गल स्कन्धो का ही स्फोट हे। परमाणु व सूक्ष्म पुद्गल स्कध इन्द्रिय–अगोचर हे—जो इन्द्रिय गोचर होता है वह परमाणु पुद्गल नही, स्थूल स्कन्ध पुद्गल होता है। पुद्गल स्कधो के–शब्द बध सूक्ष्मता, स्थूलता, सस्थान, भेद, तम, छाया, आतप (विद्युत्) और उद्योत (प्रकाश) रूप दस दशाए या पर्याय होते है। स्कध बनते है, बिगडते है, और फिर बनते रहते है। पुद्गल स्कध की बाईस प्रकार की वर्गणाए पाई जाती हैं—इसमे से आहार वर्गणा, भाषा वर्गणा, तैजस वर्गणा, मनोवर्गणा और कार्माण वर्गणा रूप स्कन्ध ही देह युक्त ससारी जीव मे पाई जाती हे। स्कन्ध टूटने से परमाणु होते हैं। मद गति परमाणु एक समय मे आकाश के एक प्रदेश को पार करता है, तीव्र गति वाला पूरे असख्यात प्रदेशी आकाश को एक समय मे पार कर सकता हे। पुद्गल परमाणुओ के परस्पर बधने मे स्पर्श गुण के दो अधिक स्निग्ध और रुक्ष गुणाश कारण है—वैसे ही देह बद्ध जीवो के साथ पुद्गल बध होने के कारण उन जीवो के रागी-द्वेषी (स्नेही रुक्ष) कषाय कारण हे और उनके होने से पुद्गल के स्पर्श गुण के दो अधिक स्निग्ध और रुक्ष गुणाश परस्पर देह के साथ बधते है। पदार्थ विद्युत रूप है—उनके गुण ऋणाश और धनाश आधिक्य ही आकर्षण के कारण है और इनका वजन व भार भी इसी पर निर्भर करता है। पुद्गल के विस्तारपूर्वक जानने से पुद्गल के ज्ञाता जीवात्मा की विशेषता और विलक्षणता की समझ स्पष्ट होती हे। जीव पुद्गल वर्ण रूप रस गध शब्दादि से भिन्न मात्र ज्ञायक ज्ञान आत्मा हे—यह निष्कर्ष होता हे। जैनो ने अणु को अविभागी मात्र माना है। विज्ञान ने अणु स्फोट कह कर प्रोटोन, न्यूट्रोन और एलेक्ट्रोन—तीन मूलभूत अणु पाये—इसके बाद तो अब मूल भूत अणुओ की सख्या बीस तक पहुच गई है और सभावना हे कि यह सख्या और भी बढ जाए। अत यह निष्कर्ष होता हे कि आज के वैज्ञानिको के लिए परमाणु अभी तक पहेली ही बना हुआ है।

आज के यन्त्र युग मे जब परमाणुवाद एक पहेली बना हुआ हे तो उस युग मे जब प्रयोग

शालाए और यान्त्रिक साधन नही थे तो परमाणु की सूक्ष्मता, पदार्थ के उत्पाद व्यय और ध्रौव्य, धर्म और परमाणु की अनन्त धर्मात्मकता आदि विषयो की असीम निश्चलता मे कैसे जाना—वही प्रश्न जिज्ञासाशील मानव की इन्द्रिय प्रत्यक्ष की छोटी तलैया से निकाल कर आत्म-प्रत्यक्ष के लहलहाते महासागर की ओर झाकने को उत्कण्ठित कर देते है ।" (डा मुनि नगराज)

मन एक अभ्यन्तर इन्द्रिय

पचेन्द्रिय व अनेक कोपी देह युक्त मानव प्राणी के मन रूप विशेप आभ्यतर इन्द्रिय होने से वह समनस्क कहा गया है ।

मन रूप आभ्यतर इन्द्रिय दो प्रकार का है (1) द्रव्य मन और (2) भाव मन । हृदय स्थान मे आठ पखुडी के कमल का आकार वाला अगोपाग नाम कर्म के उदय से मनोवर्गणा के स्कन्ध से उत्पन्न पुद्गल की विशेष रचना द्रव्य मन है । द्रव्य सग्रह टीका के अनुसार नाना विकल्प जाल को मन कहते है । रूपादिक होने से द्रव्य मन पुद्गल द्रव्य की पर्याय है—ऐसा 'सर्वार्थ सिद्धि' का वचन है । यह अत्यन्त सूक्ष्म और इन्द्रियागोचर है । भाव मन का 'सर्वार्थ सिद्धि' मे यह लक्षण है—'वीर्यान्तराय तथा इन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा की विशुद्धि को भाव-मन कहते है । भाव मन ज्ञान स्वरूप है, ज्ञान जीव का गुण होने से इसका आत्मा मे अन्तर्भाव होता है । लब्धि और उपयोग लक्षण वाला भाव-मन है । दोनो मन ही कदाचित् मूर्त और पुद्गल है । केवल आकारवान को नही बल्कि इन्द्रिय ग्राह्य पदार्थ को मूर्त या रूपी माना गया है । मन मे दृष्ट, श्रुत तथा अनुभूत पदार्थ नियमित है तथा सकल्प विकल्प करना मन का कार्य है । भाव–मन पुद्गलो के अवलम्बन से होता है—अत पौद्गलिक भी है ।

मनुष्य का व्यवहार मन का कार्य है । मै मनुष्य हू—शरीरादि की समस्त क्रियाओ को मै करता हू, सभी पुत्र धनादि के ग्रहण त्याग का मै स्वामी हू—आदि मानना मनुष्य के मन का व्यवहार है । सारे कार्यो का आरम्भ मन से होता है । मन की शक्ति से ही प्रसन्नता, शान्ति तथा एकाग्रता की प्राप्ति होती है । मन देह की आरोग्यता तथा अध्यात्म मे अमृत प्राप्ति का हेतु है ।

मनोयोग

मन की उत्पत्ति के लिए जो प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं—ऐसा 'धवला' में कहा है । समीचीन पदार्थ के विपय करने वाले मन को सत्य मन और उसके द्वारा जो मनोयोग हो उसे सत्य मनोयोग तथा इससे विपरीत को मृपा-मनोयोग कहते हैं । सत्य और मृषा हो उसे सत्य-मृपा मन कहते है, जो मन न सत्य हो और न मृपा हो उसे असत्यमृपा मन कहते है, इसके द्वारा मनोयोग को भी असत्यमृपा मनोयोग कहते है ।

हिसक विचार, ईर्ष्या, असूया आदि अशुद्ध मनोयोग है और अर्हन्त-भक्ति, तप—रुचि, श्रुत

विनयादि विचार शुभ मनोयोग है। घृणा और क्रोध से पेट मे, गुर्दे में तथा हृदय मे विकार हो जाते हैं। कामना, वासना, स्वार्थ भावना तथा ईर्ष्या से यकृत तथा प्लीहा खराब हो जाते हैं। अशुभ मनोयोग दुखद व पाप रूप है।

समनस्क मनुष्य गति उत्तम इसलिये कही गई है कि इसमें ही तप, महाव्रत, ध्यान तथा मोक्ष की प्राप्ति है। यह मनुष्य गति इसी कारण दुर्लभ है। इसी में आत्म साधन कार्य सभव होता है। यह हित साधन न हुआ तो अमूल्य रत्न खो देने के समान हानि है। यह तभी सभव है जब मानव के मनोयोग प्रशस्त और शुद्ध (निर्मल) हो। मन का प्रवाह पाप के लिए अथवा पुण्य के लिए हो सकता है और निर्मल प्रवाह तो अक्षय सुख रूप मुक्ति के लिए होता है। निर्मल का अर्थ है—जो राग-द्वेष, कषाय से रहित है।

इसीलिए कहा गया है धन्य है वह—जिसका शरीर तप रूप वेलि के ऊपर पुण्य रूप महा फल को उत्पन्न करके इस प्रकार नष्ट हो जाता है जिस प्रकार के कच्चे फल के अग्र भाग से फूल नष्ट हो जाता है तथा जिसकी आयु सन्यास रूप अग्नि मे दूध की रक्षा करने वाले जल के समान ध्यान रूपी समाधि की रक्षा करते हुए सूख जाता है।

पुरुषार्थ की दिशा जब ज्ञान व स्वभाव की तरफ होती है तब मानव अपनी निर्मल सर्वोच्चता की तरफ प्रयाण करने लगता है। पुरुष (आत्मा) और अर्थ (स्वभाव) की अभिन्नता मे परिपूर्ण चेतनत्व व साक्षित्व है, वह चित्त के सकल्प व विकल्प के अतीत व नित्य है तथा परम वीतराग है।

मुमुक्षु की पांच जिज्ञासाएं

मुमुक्षु जीव की पाच अनादि जिज्ञासाए होती है—

कोऽह ममास्रव कस्मात्, कथं बध , क्व निर्जरा।
का मुक्ति विमुक्तस्य स्वरूप च निगद्यते ॥

अर्थात्—(१) मैं कौन हू—मेरा क्या स्वरूप है (२) मुझे कर्मो का आस्रव किस कारण से है (३) कर्मो का बध किस प्रकार से होता है (४) निर्जरा कैसे होती है और (५) मुक्ति और विमुक्त पुरुप का स्वरूप क्या होता हे ?

इस पाच अनादि जिज्ञासाओ की गवेपणा ने सात तत्त्वो को जन्म दिया है। इन सात तत्त्वो मे चेतन जीव द्रव्य और अचेतन पुद्गल अजीव प्रमुख दो द्रव्य है और शेप पाच तत्त्व (आस्रव बध सवर, निर्जरा और मोक्ष) जीव और अजीव (पचभूत—पुद्गल वर्गणा) के परिणाम है। इनमे आस्रव और बध तो सयोगी तत्त्व है और सवर, निर्जरा, और मोक्ष वियोग तत्व है। तथा जीव और अजीव दोनो ही जीव के ज्ञेय तत्त्व है तथा जीव स्वय ज्ञायक तत्त्व है।

पूर्वोक्त पच तत्त्व जिज्ञासाए तीन मौलिक प्रश्नो मे ही समाविष्ट है (१) मैं कौन हू

(२) वर्तमान मे क्या हो रहा है और (3) भविष्य मे क्या हो सकता है ? मै कौन हू—प्रश्न मे ही यह भी जुडा है कि किस अतीत से वर्तमान मे आया हू ? ऐसे ये तीन प्रश्न त्रैकालिक प्रश्न है।

सयोग और वियोग तत्वो की जानकारी मे ही जीव का हेयोपादेय मय विवेक ज्ञान गर्भित है। जो सयोग से आया द्रव्य है वह हेय है तथा जो वियोग द्रव्य हे वह भी हेय हे ज्ञेय तत्व मे ज्ञायक तत्व मात्र ही उपादेय रह जाता है।

त्रैकालिक प्रश्नों का समाधान

त्रैकालिक प्रश्नो के समाधान इस प्रकार इस योग विज्ञान मे दिये जाते है —

[१] 'मै कौन हू' ? हे जीव! तू चैतन्य है, ज्ञान पिड है और अनादि काल से ऐसा ही है—अतीत मे भी यही था, अब भी है और यही तू भविष्य मे भी रहेगा।

[२] 'क्या हो रहा है' ? हे जीव! तू वर्तमान मे राग द्वेष मोह जन्य कर्म (क्रिया) का कर्ता बना विकारी हो रहा है और अनादि से मिथ्यात्व कर्म से बधा अपने स्वरूप से बेखबर है। अपने कर्म विपाक का भोक्ता होकर भव भ्रमण मे दुखी हो रहा है।

[३] 'क्या हो सकता है' ? हे जीव! तू पर-द्रव्य का राग द्वेष मोह कषाय छोड कर— अपने सयोगी विभाव विकार और कर्म विकार से मुक्त होकर अपने निर्मल चैतन्य स्वस्थ स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

उक्त सभावनाओं की दृष्टि करके ही योगीश्वर अर्हत् पुरुषो ने बार-बार उपदेश दिया हे कि यह जीव अपने विराट् ज्ञान चैतन्य स्वरूप की पहचान करे—प्रतीति करे और उसी मे स्थिर हो। इसी उपदेश मे श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र [स्थिरता] रूप समस्त योग विज्ञान के उपदेश का सार है, सक्षेप है। इसका ही विस्तार से योग विज्ञान के अध्ययन मे विवेचन होता है।

किसी कवि ने ठीक ही कहा है—

> वृक्ष बीज मे छुपा हुआ है, देखो अन्तर्मन से।
> नर मे नारायण सोया है, जागेगा चितन से।

तत्त्व-चिन्तन आत्म ज्ञान के द्वार को खोल देता है। जीव के कषाय रस को निर्मल अमृत रस मे रूपातरित करने के लिए आत्म चिन्तन ही रसायन हे।

यथा ही सूर्य मेघो से आच्छन्न हो जाता है, उसका प्रकाश मद या विलीन रहता है—वैसे ही कर्मावरण से व रूपी या मूर्ति के भाव पदार्थो के लेप (लेश्या) से आत्मा का प्रकाश (गुण-प्रकाश) मद व विलीन रहता है। जीव अपने अज्ञान भाव से बधता है, अतः वह अज्ञान का कर्ता और अज्ञान का ही भोक्ता भी है। स्वय बधा है और स्वय ही आत्म चिन्तन एव पुरुषार्थ से मुक्त भी हो जाता है। बन्धन

व मुक्ति स्वय जीव के ही अधिकार व अधीनता मे है—वह स्वय जिम्मेवार है और स्वशक्ति से स्वतत्र भी हे। अत वह आप अपना अपने लिए ईश्वर है। स्व स्वतन्त्रता का यह ज्ञान जीव की सहज शक्तियो को उन्मुक्त कर देता है। अर्थात् जीव की मुक्ति का रहस्य इस तत्त्व मे अन्तर्गभित है। जीव के साथ पुद्गल का सम्बध उसके अपने विभाव से है।

जीव द्रव्य के गुण और पर्याय

जीव अनन्त गुण-प्रतिच्छेदी हे और अनन्त गुण का धारक है। "गुण पर्ययवत् द्रव्यम्" कह कर आ० उमा स्वामी ने द्रव्य का स्वरूप कहा है। यह आत्म-द्रव्य भी गुण तया पर्यायो को लेकर है—पर्याय अपेक्षा अनित्य तथा गुण अपेक्षा अभिन्न अखण्ड स्वरूप हे, नित्य है। प्रदेश व प्रदेशो के सकोच विस्तार से जीव नित्यानित्य है। गुण और गुणो की पर्याय व स्वय द्रव्य और द्रव्य की पर्याय से यह नित्यानित्य है। सत् और उत्पाद—व्यय को लेकर यह नित्यानित्य हे। जीव न केवल विभु है, न अणु, न नित्य, न अनित्य,—वह अलग-अलग दृष्टियो मे ऐसा प्रतीत होता है और नय-निरपेक्ष तो वह है जैसा ही हे यथावस्थ स्व-स्वरूप मे अवस्थित हे और स्व सवेद्य है। गुण अपेक्षा वह एक नय या दृष्टि से भेद और अन्य किसी नय या दृष्टि से अभेद है—यानी जीव गुण से भी भिन्नाभिन्न ही है। जीव अनेक धर्म, गुण व स्वभाव या शक्तियो वाला होने से अनेकात स्वरूप है। विभिन्न नय व दृष्टियो से कही जाने वाली यह पद्धति स्याद्वाद या अनेकांत प्ररूपणा कही जाती है। अनेकात आत्मा का स्वरूप है और नय उसे साक्षात् करने की दृष्टिया। अनेकात पद्धति वस्तु को (आत्मा सहित सब ही वस्तुओ को उनके स्वरूप, गुण, द्रव्य, पर्याय सहित) यथावत् प्ररूपित, लक्षित तथा साक्षत् कराती है—कारण आत्मा स्वय अनन्त गुण राशि तथा अनेकात स्वरूप स्वय ज्योति है। शुद्ध दृष्टि मे जिसे द्रव्यार्थिक नय कहते है आत्मा मुक्त-ध्रुव, नित्य सातिशय घन-आनन्द-पिण्ड है।

तत्त्व ज्ञान का प्रयोजन आत्म प्रकाश

यहा तत्त्व ज्ञान का अर्थ केवल पदार्थो का विचार दृष्टि से देखना, इतना मात्र नही स्वीकार किया गया है। तत्त्व ज्ञान का वास्तविक अर्थ तो आत्मा के प्रकाश को प्रकाशित कर लेना है। तत्त्ववेत्ता तीर्थकर अर्हत्पुरुषो ने न केवल तत्त्वो को जाना और न केवल उन्हे प्रतिपादन करके ही मौन रहे, उन्होने साथ ही योग की ऐसी प्रक्रियाये भी प्रसारित की है जिनसे आत्म-बोध तथा आत्मप्रकाश के स्तर खुल जाते हैं और उस परिपूर्ण सत्य व शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति होती है, जिसे केवल ज्ञान या निज स्वरूप मे परमात्मस्वरूप का दर्शन व उपलब्धि कहा जाता है। अत उन्होने समयसार शुद्ध-आत्मा को जो द्रव्य-कर्म, भाव-कर्म, नो कर्म (देह) से रहित होने से निर्मल, 'एक' स्वरप, पवित्र है नमस्कार किया और रहस्य उद्घाटित किया कि यह शुद्ध सत्ता भाव-स्वरूप वस्तु अन्य सब अनात्म भावो का उच्छेद करके चिन्मय स्व स्वरूप भाव को उदित करती, अनुभव रूप क्रिया से प्रकाशित होती हे। आत्मा चेतन द्रव्य है, अत उसमे ज्ञायक गुण है, चेतन द्रव्य से दूसरे सब जड अनात्मा द्रव्य हे और उनमे ज्ञेय गुण है। वे ज्ञायक आत्मा द्रव्य से जाने जाते हे।

सर्वज्ञ, वीतरागी, शुद्ध आत्मा अपने चरम स्वरूप मे प्रतिष्ठित होने से परमेष्ठी हैं—उसे ही परमात्मा, परम ज्योति, परमेश्वर, पर-ब्रह्म, शिव, निरजन, निष्कलक, अक्षय, अनन्य, शुद्ध, बुद्ध

अविनाशी, अनुपम, अच्छेद्य, अभेद्य, परम पुरुष, निराबाध, सिद्ध, सत्यात्मा, चिदानन्द, जिन, आप्त, भगवान, प्रभु–आदि अनन्त नाम से कहा है, वे सब नाम दृष्टि भेद से ही है और इनमे वस्तु रूप मे कोई विरोध नही है । शुद्ध निर्मल ज्ञान स्थिति मे ही पारमैश्वर्य है ।

सामान्य विशेष धर्म

जो शक्ति या धर्म द्रव्य के आश्रय-समग्र प्रदेश मे व्यापक रहे और प्रत्येक समय ही साथ रहे वह गुण कहा जाता है । सामान्म और विशेप ऐसे दो भेद से गुण है । इनमे सामान्य गुण तो सभी जाति के द्रव्यो मे पाये जाते है—विशेप वे है जो एक ही जाति के द्रव्यो मे पाये जाते है ।

वस्तु मे अस्तित्व, वस्तुत्व, प्रमेयत्व, प्रदेशत्व, चेतनत्व, अचेतनत्व, मूर्तत्व, अमूर्तत्व आदि धर्म गुण है । गुणो की तीन काल मे समय-समय पर प्रकाशावस्था होती रहती है, ये पर्याय है और ये पर्याये अनन्त ही है । वस्तु मे एकत्व अनेकत्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, भेदत्व, अभेदत्व, शुद्ध, अशुद्ध आदि अनेक धर्म है । सामान्य धर्म तो वचन गोचर हे किन्तु अन्य विशेप अनन्त धर्म हे जो वाक् गोचर नही, ज्ञान गम्य है । आत्मा के अनन्त धर्मो मे चेतनत्व असाधारण धर्म है—यानी यह ऐसा धर्म है जो वस्तु का सामान्य धर्म नही है, आत्मा मे ही असाधारण रूप से है और अन्य अचेतन द्रव्यों मे नहीं है । चेतना गुण से ही आत्मा ज्ञाता दृष्टा है—बिना इन्द्रिय व मन आदि के आश्रय ज्ञान स्वरूप है । ज्ञाता दृष्टा शक्ति आत्मा का उपयोग स्व स्वरूप मे होता हे तो वह शुद्ध स्वरूप का ही भोग करता है, पर जब पर (अनात्म) पदार्थ की ओर लक्ष्य रख कर पर-भाव मे एकता को दृढ करता है तो वह भाव ही ससार का भाव या ससार का बीज हे । अत जीव का उपयोग 'स्व' के अभिमुख या पर के अभिमुख इन दिशाओ के अभिमुख होकर उधर ही एकत्व भाव करके तदनुसार ही शुद्ध या अशुद्ध दशाओ को भोगता रहता है—तीसरी इसकी कोई अवस्था नही होती । ससारी प्राणी की निम्न अवस्था अशुद्ध अवस्था ही हे ।

निगोद अवस्था से लेकर सिद्ध अवस्था तक जीव उपयोग लक्षण ही रहता हे—भेद इतना मात्र ही हे कि ससारी जीवो का उपयोग 'पर' की तरफ लग कर पर-भाव मे राग से एकाग्र है और सिद्ध आत्माओ का उपयोग शुद्ध वीतराग स्वभाव मे ढला है—वे स्वरूप–एकाग्र हे ।

स्वभाव व विभाव पर्याय

स्वभाव तथा विभाव पर्यायो द्वारा जीव एव पुद्गल दोनो द्रव्य परिणामी है । शेप चार द्रव्य विभाव व्यजन पर्याय के अभाव की मुख्यता से अपरिणामी हे । ये समान जातीय और असमान जातीय अनेक द्रव्यात्मक एकरूप द्रव्य पर्याय जीव व पुद्गल मे ही होती है तथा अशुद्ध ही होती हे । क्योंकि ये अनेक द्रव्य के परस्पर सश्लेप रूप सम्बन्ध से होती हे । धर्मादिक द्रव्यो की परस्पर सश्लेप सम्बन्ध से पर्याय घटित नही होती, इसीलिए परस्पर सम्बन्ध से अशुद्ध पर्याय भी उनमे घटित नही होती ।

धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल द्रव्यो के विभाव गुण पर्याय नही होते है। आकाश के घटाकाश महाकाश इत्यादि की जो कहावत है—वह उपचार मात्र है।

गुण एव पर्याय का सम्बन्ध

पर्याय क्रमवर्ती और गुण अक्रम तथा युगपत् हैं। गुण की सिद्धि पर्याय से ही होती है, अगुरुलघु गुण की सिद्धि पर्याय के बिना नही हो सकती। वैसे ही सब गुणो के विषय मे यह बात है। अगुरुलघु गुण का विकार षड्गुणी वृद्धि-हानि है, यदि षड्गुणी वृद्धि-हानि न हो तो अगुरुलघु गुण भी न होगा। पर्याय साधक है और गुण सिद्धि है।

ज्ञान का लक्षण 'जानपना' है और ज्ञान जानपने रूप परिणमन करता है। जानपने बिना ज्ञान का अभाव होता है और परिणमन के बिना जानपने का अभाव होता है। 'ज्ञान पना' गुण है और परिणमन पर्याय है। पर्याय के बिना गुण नही और गुण के बिना पर्याय नही हो सकती। गुण और पर्यायो का अविनाभावी सबध है। इन दोनो से द्रव्य सत्ता है इसी कारण सूत्र है—"गुण पर्ययवद् द्रव्यम्।"

षट्गुणी वृद्धि हानि

अगुरुलघु गुण का सूक्ष्म परिणमन ही यह है और वह परिणमन आगम गम्य है, वचन अगोचर है। ४७ शक्तियो मे भी इस गुण का वर्णन समयसार मे आया है।

दृष्टान्त रूप इसका यह कथन दिया गया है—जैसे सिद्ध परमेश्वर अपने शुद्ध सत्ता स्वरूप मे परिणमन करते है—ऐसा आचार्यो का कथन है। उनके अनन्त गुणो मे एक सत्तागुण भी आया जो अनन्त गुणो का अनन्तवाभाग हुआ। उस परिणमन की जो वृद्धि हो [१] अनन्त भाग वृद्धि कही गई। भगवान् मे असख्य गुण की विवक्षा से जब यह कहा जाता है भगवान् द्रव्यत्व गुण रूप परिणमन करते हैं तो द्रव्यत्व गुण असख्य गुणो मे से एक होने के कारण असख्यातवा भाग हुआ, उस परिणमन की जो वृद्धि सो [२] असख्यात भाग वृद्धि कही गई है। सिद्ध के जो आठ गुण कहे है उनमे से जब यह कहा जाता है कि सिद्ध सम्यक्त्व रूप परिणमन करते है तब [३] सख्यात भाग वृद्धि कही जाती है। सिद्ध आठो गुण रूप परिणमन करते है तब जो आठ गुण परिणमन की वृद्धि होती है उसे [४] असख्यात गुणी वृद्धि कहते है। सिद्ध असख्यात गुण रूप परिणमन करते है तब असख्यात परिणमन की जो वृद्धि होती है उसे [५] असख्य गुणी वृद्धि कहते है। सिद्ध सनन्त गुण रूप परिणमन करते है तब अनन्त गुण परिणमन की जो वृद्धि होती है उसे [६] अनन्त गुणी वृद्धि कहते है।

इस प्रकार छ प्रकार की वृद्धि के द्वारा हुये परिणाम वस्तु मे लीन हो जाते है—तब छः प्रकार की हानि हुई, और जब यह षट् स्थान पतित वृद्धि हानि हुई तभी अगुरुलघु गुण होता है। अगुरुलघु से वस्तु की सिद्धि होती है वरना वस्तु बिखर जायेगी। अगुरुलघु धर्म सब द्रव्यो मे है। आत्मा मे भी है, अतएव

ही आत्मा को सर्व द्रव्यों की ज्ञायकता संभावित होती है, ऐसा कहा जाता है। अगुरुलघु धर्म न हो तो द्रव्य बिखर जायेगा।

द्रव्य, गुण, पर्याय की सिद्धि

गुण की सिद्धि गुण पर्याय से, द्रव्य की सिद्धि द्रव्य पर्याय से और पर्याय की सिद्धि द्रव्य गुण से होती है। द्रव्य पर्याय की सिद्धि द्रव्य से होती है और गुण पर्याय की सिद्धि गुण से होती है। द्रव्य से पर्याय उत्पन्न होती है। द्रव्य न हो तो परिणाम (पर्याय) उत्पन्न न हो। द्रव्य परिणमन किये (पर्याये) बिना द्रव्य रूप कैसे हो सकता है ?

"द्रव्यत्वयोगाद्-द्रव्यम्"—गुण पर्यायों के द्रवित हुए बिना द्रव्य नही हो सकता। द्रवणा द्रव्य का गुण ही है। द्रवित होने से गुण पर्याय मे व्याप्त होकर पर्याय को प्रकट करता है। अत द्रव्य से पर्याय की सिद्धि होती है।

'द्रव्य सत् लक्षण'—सत् लक्षण वाला द्रव्य है। वह स्वत परिणमन करता है तथा गुण-पर्याय द्रव्य को द्रवित करते है, अत द्रव्य को द्रव्य नाम सार्थक है।

द्रव्य के आश्रय से गुण और पर्याय रहते है, लेकिन गुण के आश्रय से गुण नही रह सकते। अतः 'द्रव्याश्रय निर्गुणा गुणा' ऐसा सूत्र आया है। प्रत्येक गुण अपने-अपने स्वभाव को लिए रहता है, अन्य गुण भाव में नही मिलता—यथा दर्शन का गुण भाव ज्ञान से या ज्ञान का भाव दर्शन से नही मिलता। वैसे ही अनन्त गुण है, कोई भी गुण अन्य गुण से नही मिलता और गुण गुणी के बिना नही होता।

द्रव्य के विना ज्ञान आदि गुणों को ही वस्तु मानने लगे तो एक द्रव्य के अनन्त गुण ही अनन्त वस्तुये कहलाने लगेगी जो युक्ति सगत नही। सभी गुण की आधार जो आधारभूत वस्तु—वह ही द्रव्य कही जाती हे। वस्तु सामान्य और विशेप का ही एकान्त रूप है यानी द्रव्यत्व के द्वारा द्रव्य रूप हुई वह द्रव्य ही वस्तु है। 'द्रव्य द्रव्यात् गुण्यते ते गुणा' उच्यते'।

वस्तु मे गुण अनन्त है—जब जीव निज वस्तु के परिणाम का वेदन करता है तब वस्तु के अनन्त गुणो का भी वेदन होता है—इसलिए गुण और गुणी (वस्तु) दोनो का वेदना करता है, यानी स्व वस्तु अवलम्बन से निजात्मा का अनुभव होता है और उस अनुभव में अनन्त गुणो का और अनन्त गुणमय आत्म वस्तु का दोनो का ही अनुभव हे। यह अनुभव ही स्वानुभव है।

स्व सत्ता अवलम्बन से ज्ञान

शुद्धात्म वस्तु के लक्षण मे अत शुद्ध आत्मा का ही वेदन होना चाहिए। उसके अनन्त गुण पिड ही अभेद व निर्विकल्प वेदन होने चाहिए। ऐसा अनुभव स्व सत्ता अवलम्बन से होता है। क्योकि

स्व सत्ता मे सर्व अनन्त गुणो की भी सत्ता है, द्रव्य की भी सत्ता है और पर्यायो की भी सत्ता है। स्व सत्ता मे द्रव्य गुण (ध्रौव्य) और पर्याय (उत्पाद, व्यय) सबका विलास है और ज्ञान मे ही वह विलास प्रकट होता हैं।

सत्ता के 'है' की महिमा

सत्ता ही सब द्रव्य गुण और पर्याय का आधार है और वह अनन्त ही है। सत्ता के ही आधार से द्रव्य गुण पर्याय है। सत्ता का यह 'है' अस्ति भाव विलक्षण ही है। इसी 'है' मे अह-सोह आदि सब है। इसी मे अज्ञानी का विभाव परिणमन और ज्ञानी का स्वभाव परिणमन है। सत्ता के शुद्ध 'है' के लक्ष्य को रख कर पर्याय निर्विकार होता है। सत्ता, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तता और गुणपर्ययवत्ता—ये द्रव्य लक्षण के ही तीन प्रकार है। वस्तु और सत्ता (अस्तित्व) अभेद रूप है। गुण सह भूत और अविनाशी है, पर्याय क्रमवर्ती और विनाशीक है।

वस्तु स्वातंत्र्य

द्रव्य गुण पर्याय मे निज उपादान (योग्यता) शक्ति है। अत इस तत्त्व ज्ञान मे वस्तु-स्वातत्र्य का उद्घोप है। और यह इसकी बडी विलक्षणता भी है।

असंख्य प्रदेश और प्रति प्रदेश अनन्त शक्ति

सपूर्ण वस्तु सव प्रदेशो का एक अखड पिण्ड है। सपूर्ण आत्म वस्तु असख्य प्रदेशमय है और ज्ञान मय है। एक प्रदेश लोकालोक को जानता है और वही सब प्रदेश भी जानते है। पर सब प्रदेशो का एकत्व भाव वस्तु है और प्रत्येक प्रदेश का अस्तिस्त्व अपने अपने प्रदेश मे है। चेतना की अभिन्नता के कारण सब प्रदेश अभिन्न सत्ता रूप है।

गुणो का प्रदेश अभेद प्रकाश रूप है—उसमे भेद व अग कल्पना होने पर भी अभेद है। प्रदेशो मे सर्वज्ञ शक्ति व सर्वदर्शिक शक्ति है। वे अपने यथावत् स्वरूप रूप होते है—तत्त्व शक्ति लिये होते हैं परन्तु पर-प्रदेश रूप नही होते और जडता रहित है। अत चैतन्य शक्ति को धारण किये रहते हैं। ऐसे ही यह अनन्त अनन्त शक्ति को भी धारण किये रहते है। वस्तु मे प्रदेश-शक्ति अनत महिमा को ही धारण किये रहती हैं।

द्रव्य अपने स्वरूप से अन्य द्रव्य रूप होकर नही परिणमता, आप सरीखा ही रहता है। वह निमित्त सम्वन्ध मे ही अन्य पर्याय रूप होता है। द्रव्य अपेक्षा वस्तु स्थिर ही है। अत अस्थिर पर्याय से हर्ष विषाद क्यो ?

अनन्त गुण और प्रति गुण अनन्त शक्ति पर्याय

वस्तु मे अनन्त गुण हैं—और उनमे मे प्रत्येक ही गुण तीनो द्रव्य, गुण और पर्याय का

विलास करता है । प्रत्येक गुण मे अनन्त शक्ति पर्याय है । प्रत्येक पर्याय मे सब गुणो का वेदन है । उस वेदन मे अविनाशी सुख रस है । इस सुख रस के पान मे जागृत होकर जीव चिदानन्द अजर अमर होकर निवास करता है ।

आत्मा की रस स्रोतस्वनियां

आत्मा अनन्त और महासागर है जिसमें अनगिनत रस-स्रोतस्वनियाँ बराबर गिरती रहती है । ज्ञान आत्मा स्वय एक यथार्थ विमल हकीकत (Reality) है । जिसकी नित्यता (Eternity) अनन्तता (Infinity) और शुद्ध शुचिता (Purity) की गहनतम अनुभूति—अक्षय अबाध सुखानुभूति रूप परिणति मे ही इस शुद्ध जीवात्मा का ज्ञायक अन्तर्तत्त्व उल्लसित होता है ।

चितन की अबाध धारा मे जब जीवात्मा स्वय चितन रूप परिणत हो जाता है तब निश्चितता के महासागर मे आत्म तत्त्व अमित सुखानुभव रूप प्रकट होता है । चितन भेद रूप है तो निश्चितन अभेद रूप । इन ही मे सविचार और निर्विचार समाधि ज्ञान और सुख का अनुभव है । निरन्तर मनन तथा स्मृति से आत्म-ज्योति प्रोज्वलित रहती है वरना बहुत सभावना है कि स्व सत्य का, स्व व पर ज्ञान का प्रकाश ही बुझ जाए । चितन और निश्चितन का समन्वय साधक को सदा आलोक से स्थिरता का मार्ग प्रशस्त करता है ।

भेदाभेद रूप चिद्स्वभाव का अभ्यास होते-होते स्थिर नित्य अभेद स्वरूप के केन्द्रस्थ हो जाते है । वह ज्ञान आत्मा की उत्कृष्टतम तथा गहनतम विशुद्ध अवस्था है, चिन्मात्र अवस्था है, पूर्ण सर्वज्ञत्व है ।

३. (चेतन) आत्मा द्रव्य पर विचार विमर्ष

- आत्मा द्रव्य की विशिष्ट अवधारणा
- आत्मा द्रव्य के स्वरूप लक्षण
- उपयोग लक्षण
- दर्शन और ज्ञान
- पच भेदात्मक दर्शन और पच भेदात्मक ज्ञान
- प्रत्यक्ष प्रमाण और उसके भेद। परोक्ष प्रमाण व उसके भेद (स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, और आगम)।
- नय और उसके भेद
- युक्ति
- स्याद्वाद—सापेक्ष सत्य
- ज्ञान नेत्र—ज्योति प्रकाश
- ज्ञान के दोप-सशय विपर्यय और विमोह
- ज्ञानाराधना के अष्टाग
- पच प्रकार क्रिया भेद से पच ज्ञान (मति, श्रुति, अवधि, मन-पर्यय तथा केवल ज्ञान)
- प्रमाण ज्ञान के भेद, सविकल्प और निर्विकल्प, तथा सप्रज्ञात और असंप्रज्ञात
- निश्चय और व्यवहार

[२]

- देव गुरु शास्त्र की प्ररूपणाए
- जीव-सगठन (जीव समास)
- जीव सचरण के स्थान (मार्गणाए)
- मार्गणाओ के १४ भेद
- जैन मनोविज्ञान और कपाय विवेचन
- चार प्रकार की कपाओ की मनोदशा
- अकषाय शुद्ध दशा
- मनोभाव लेश्या ग्रन्थि रस, निर्भरण, कर्म विपाक और केवलि योग –
- अष्ट कर्म व्यवस्था
- चार अनुयोग द्वार
- उपादान निमित्त, निमित्त नैमित्तिक के तटबधो मे अध्यात्म सरिता।
- अपराध के चार हेतु—आहार, भय, परिग्रह, मैथुन
- स्वातन्त्र्य दृष्टि मे आत्मा
- नय दृष्टिया वस्तु नयातीत, निर्विकल्प

आत्मा द्रव्य की विशिष्ट अवधारणा

सब ही भारतीय दर्शन सिवाय चार्वाक दर्शन के आत्म तत्त्व को स्वीकार करते है। अत भारतीय चिन्तन अध्यात्मवादी और आत्म परक है। यहा के सब ही दर्शनो मे आत्मा के बध और मोक्ष पर विस्तार से विचार हुआ है। दर्शन मे एकात्मवादी या अनेकात्मवादी ऐसे भेद है तथा अन्य अन्य दृष्टियो मे अनेक अन्य भी भेद सभव है।

जैन दृष्टि अनेकात्मवादी, अनेकातवादी और स्वभाववादी है और दृष्टि ही योग पद्धति का आधार है। अत यहा चेतन आत्मा की विशिष्ट अवधारणा है। अचेतन और चेतन द्रव्य के मध्य चिन्तन ही भेद रेखा है और आत्मा ही चिन्तन (ज्ञान) द्रव्य है। आइये इस चिन्तन द्रव्य के विविध स्वरूप अगो को समझे।

आत्मा-द्रव्य, स्वरूप लक्षण

आ० श्री कुदकुद ने अष्टपाहुड मे जीव तत्त्व का छ विशेषणो मे विवेचन किया है तो आ० श्री नेमिचन्द्र सिद्धाताचार्य ने द्रव्यसग्रह मे सप्त लक्षणो से आत्मा का वर्णन किया है।

कत्ता भोई अमुत्तो सरीरमित्तो अणाइनिहणो य।
दंसणणाणुवओगा, जीवो णिदिट्ठोजिणवरेदेहि ॥[1]

जीवो उवओगमओ अमुत्ति कत्ता सदेह परिमाणो।
भोत्ता संसारत्थो सिद्धो सो विस्ससोड्ढगई ॥[2]

जीव—(१) कर्त्ता (२) भोक्ता (३) अमूर्त (४) शरीर प्रमाण (५) अनादिनिधन और (६) दर्शन ज्ञान उपयोगमयी है।

जीव—(१) उपयोग मय है (२) अमूर्तिक है (३) कर्ता है (४) भोक्ता है (५) देह प्रमाण है (६) ससार मे स्थित है अथवा सिद्ध है और (७) उर्ध्वगमनशील है।

इन लक्षणो मे प्रकट है कि आ० श्री कुदकुंद और नेमिचन्द्र की जीव की अवधारणा मे कोई मूलगत भेद नही है। आ० श्री कुदकुद ने जीव के अनादि स्वरूप को उल्लेखित किया है, वहा आ० श्रीनेमिचन्द्र ने जीव की दो अवस्थाये—ससारी और सिद्ध बताई है और जीव के उर्ध्वगमनशील गुण को प्रकट किया है—बाकी लक्षण दोनो ही मे समान है।

---

1 अष्ट. पा 5/148

2. द्रव्य सं० 2

(१) जीव कर्ता है—जीव निश्चय दृष्टि से अपनी अज्ञानावस्था मे अपने अशुद्ध भावों का स्वय कर्त्ता है। व्यवहार दृष्टि से वह ज्ञानावरणादि अष्ट पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है। शुद्ध दृष्टि से जीव अपने शुद्ध भावो का कर्त्ता है। कर्त्ता लक्षण से यहा साख्य मान्यता 'अकर्ता' का निषेध है।

(२) जीव भोक्ता है—जीव निश्चय दृष्टि से दर्शनमयी चेतना भाव का भोक्ता है। व्यवहार दृष्टि से पुद्गल कर्म विपाक—सुख–दु ख आदि का भोक्ता है। भोक्ता विशेषण से बौद्ध मान्यता 'क्षणिक' जिसमे कर्म करने वाला और कर्मफल भोगने वाला और हे का निषेध है।

वृहदारण्यकोपनिषद मे भी एक स्थल मे जीव को भोक्ता स्वीकार करते हुए कहा है—"यथाकारी यथाचारी तथा भवति, साधुकारी साधुर्भवति, पापकारी पापी भवति, पुण्यः पुण्येन कर्मणा भवति पाप पापेन। अथो खल्वाहः काम मय एवाय पुरुष इति स यथा कामो भवति तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति तत्कर्मकुरुते—तदभिसपद्यते—अर्थात् मनुष्य जैसा काम करता है और जैसा आचरण रखता है, वैसा ही फल पाकर वैसा बन जाता है—अच्छा काम करने वाला अच्छा बन जाता है, पाप करने वाला पापी। अत मनुष्य कामनाओ से बना है—जैसी जिसकी कामना होती है, वैसा वह निश्चय करता है। जैसा निश्चय करता है वैसा काम करता है और वैसे ही फल पाता है, फल भोक्ता है। उपनिषद् के इस कथन से भी आत्मा का कर्तृव्य और भोक्तृत्व का विषय शका रहित ठहरता है।

जीव के कर्त्ता और भोक्ता लक्षण मे आत्मा के पुरुषार्थ की प्रतिष्ठा है और नियतिवाद की निरर्थकता भी। इसी लक्षण मे जीवात्मा का सातत्य रूप से जीवित रहना भी परिलक्षित हे कि जिससे वह सदा जीवित रह कर कर्त्ता भोक्ता होता हे—सदा जीवित रहने से ही जीव नाम सार्थक भी है।

(३) जीव अमूर्त हे—निश्चय दृष्टि से तो स्पर्श रस गध वर्ण और शब्द पुद्गल के गुण पर्याय है और जीव इनसे रहित अमूर्तिक है। व्यवहार दृष्टि से जीव जब तक देहस्थ है, मूर्तिक है—तब तक ही वह मूर्तिक कहा जाता है। मीमासको की जीव को मूर्तिक और शरीर रहित मान्यता का यहा निषेध है।

(४) जीव देह प्रमाण है—निश्चय दृष्टि से जीव असख्यात प्रदेशी लोक प्रमाण है। परन्तु संकोच विस्तार मय अवगाहन गुण के कारण देह से कुछ कम प्रदेश मात्र प्रमाण के आकार से रहता है। व्यवहार दृष्टि से तो देह प्रमाण हे ही। देह प्रमाण कह कर जीव की नैयायिक, वैशेषिक, वेदाती आदि सर्वथा व्यापक मान्यता का यहाँ निषेध हे। असख्यात प्रदेशवाला हे तो भी अखड द्रव्य है। इसके प्रदेश सब अभिन्न है। तथा सम्पूर्ण अन्य द्रव्यो मे भिन्न है, तथापि उनके बीच मे स्थित है।

आत्मा देह प्रमाण है—ऐसी मान्यता उपनिषदो मे भी स्वीकृत हे। कौषीतकी उपनिषद मे कहा हे—जैसे छुरी अपने म्यान मे, अग्नि अपने कुण्ड मे व्याप्त हे, उसी तरह आत्मा शरीर मे नख से शिख तक व्याप्त है। तैत्तिरीयोपनिषद् मे आत्मा को अन्नमय, प्राणमय, मनोमय विज्ञानमय कोषो

मे स्थित माना है—यह जीवात्मा को देह परिमाण मानने पर ही घटता है। आत्मा लोकालोक प्रकाशक है, लोकालोक व्यापक नही है। वेदान्त आत्मा को लोकालोक व्यापक मानता है। आत्म प्रदेश परि-स्पदन रूप योग के समय आत्मा सकोच विकासशील होता है।

(५) जीव अनादिनिधन है—यद्यपि पर्याय (व्यवहार) दृष्टि से जीव जन्म मरण (उत्पाद व्यय) शील है, परन्तु द्रव्य दृष्टि से वह सदा नित्य, अविनाशी, अज और अव्यय है—अत अनादि निधन है। बौद्ध मान्यता "क्षरण-स्थायी' का यहा निषेध है। जीव स्वत सिद्ध है, न आदि है, न अत है। दर्शन ज्ञान सुख वीर्य रूप अनन्त धर्ममय है।

(६) जीव दर्शन ज्ञान उपयोगमय है—जीव देखने जानने रूप उपयोग स्वरूप चेतना रूप है। इस विशेषता मे साख्य मान्यता ज्ञान-रहित चेतना मात्र का तथा नैयायिक तथा वैशेषिक मान्यता—ज्ञान गुण और जीव गुणी के सर्वथा भेद की मान्यता तथा बौद्ध मान्यता विज्ञानाद्वैतवादी ज्ञान मात्र की तथा वेदान्ती मान्यता 'अनिर्वचनीयता (ज्ञान का कुछ निरूपण ही नही हो सकता) इन सब का यहा निषेध किया गया है।

जीव ज्ञान दर्शन उपयोग मय है पर अनादि पौद्गलिक कर्म सयोग से इसके ज्ञान दर्शन गुणो की पूर्णता प्रकट नही है। अत अल्प ज्ञान और अल्प दर्शन ही अनुभव मे आ रहा है। अज्ञान के निमित्त से इष्टानिष्टबुद्धि रूप राग, द्वेष, मोह से ज्ञान दर्शन मे कलुषता व सुख दु ख आदि अनुभव मे आते है। पर सर्वज्ञोक्त तत्त्व भावना से स्वस्वरूप निर्णय करके योगमार्गी होकर दर्शन और ज्ञान के सम्यक्त्व की प्राप्ती की जा सकती है।

जीव उर्ध्वगमन शील है—जीव ऊपर जाने के स्वभाव वाला है, यथा अग्नि की शिखा ऊपर को ही जाती है तथा जैसे कोई हल्की वस्तु तु बी आदि पानी मे अपने स्वभाव से ही आप ऊपर आ जाती है। गति मे सहायक द्रव्य धर्म द्रव्य है जो तीनलोक मे ही है, अत तीन लोक के शिखर तक शुद्ध सिद्ध जीवात्मा स्वत ही अपने उर्ध्वगमन गुण से गमन करके वहा विराजमान हो जाते हैं—क्योकि गति सहायक धर्म द्रव्य यहाँ से आगे नही है। यद्यपि उर्ध्वगमन गुण आत्मा का है पर सहकारी धर्म द्रव्य के वहा नही होने से अलोक मे नही जाते हैं, वहा तनु वातवलय मे अधर्म की सहायता से ठहर जाते है।

संसारी तथा मुक्त अवस्था—दो ही अवस्थाए जीव की है अर्थात् जीव या तो अशुद्ध है या शुद्ध है। शुद्ध मुक्त जीव के अतिरिक्त सब ही अशुद्ध जीव है। ये सब अनन्तानन्त है। वेदान्त भी एक प्रकार से जीवो की दो कोटि मानता है—एक जीव (ससारी) तथा दूसरा ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप। पर वेदान्त अनन्त सिद्धात्माओ को स्वीकार नही करता—वह एक ब्रह्म को ही मानता है और ससार के सब जीव एक ब्रह्म के ही अश है। वेदान्त मे ब्रह्म के अनन्त अश रूप जीव है—तो जैन आत्मा के गुण व पर्यायो से अनन्त भेद व प्रकार मानते हैं। जीवात्मा के स्वरूप मे अत विभिन्न दर्शनो मे अवधारणात्मक conceptual विभिन्नता है।पर वस्तुत वह अचेतन अनात्मा द्रव्यो से भिन्न देखने जानने

वाला तत्त्व है,ऐसा सर्व मान्य ही होता है—चाहे उसे किसी भी नाम से कहो । वह तत्त्व है अत अपना विशिष्ट स्वरूप भी रखता हे और अपने शुद्ध पूर्ण स्वरूप मे वह निर्मल सर्वद्रष्टा व सर्व ज्ञाता भी होगा ही । मुक्त आत्मा मे दर्शन ज्ञान वीर्य (शक्ति) और सुख अनन्त और अनावृत रहते है, ससारी मे ये कर्माच्छन्न और परिमित । आत्मा अनादिनिधन, अज, स्वाधीन प्रभु तत्त्व है, उसके उत्तर अन्य कोई तत्त्व नही है । यह ज्ञानघन सर्वज्ञ रूप ही है ।

उपयोग

"उपयुज्यते वस्तु परिच्छेद प्रति व्यापर्यते जीवोऽनेनेत्युपयोग ' जिसके द्वारा जीव वस्तु के परिच्छेद यानी बोध के प्रति व्यापार करे, प्रवृत्त हो उसे उपयोग कहते है । दर्शन और ज्ञान उपयोग के ही दो प्रकार है । उपयोग शुद्ध और अशुद्र दो प्रकार का भी होता है । अशुद्ध शुभ और अशुभ ऐसे फिर दो उपभेद पूर्वक होता है । आत्मपरक उपयोग शुद्र उययोग हे—आत्म विमुख उपयोग अशुद्ध हे । आर्त रौद्र भाव मय–कषायी रागी द्वेषी मोही उपयोग अशुद्ध है, दया करुणा शान्ति भक्ति आदि शुभ परिणामो मे लगा उपयोग शुभ है । निराकार अवस्था मे उपयोग दर्शन पदवाच्य और साकार अवस्था मे ज्ञान पद वाच्य है ।

दर्शन और ज्ञान

दर्शन—दर्शन का अर्थ है वस्तु का प्रतिभास–अनाकार देखना–बोध करना कि कुछ है—परन्तु वस्तु की कल्पना नही उघडती । यह सेन्सेशन (sensation) मात्र है ।

ज्ञान—ज्ञायते अनेन अस्माद्वा इति ज्ञान—जिसके द्वारा व जिससे जाना जा सके, वह ज्ञान है । जब वस्तु का बोध हो जाता है कि वह क्या है तो यही ज्ञान हे । भेद रहित निर्विकल्प सत्ता मात्र प्रतिभास दर्शन हे, तो भेद सहित सविकल्प सविशेप बोध ज्ञान है ।

घाती कर्म क्षय न हो जाए तबतक दर्शन और ज्ञान युगपत् उदित नही होते ।

चतुर्भेदात्मक दर्शन और पंचभेदात्मक ज्ञान

दर्शन के चार भेद—(१) चक्षु दर्शन (२) अचक्षु दर्शन (३) अवधि दर्शन और (४) केवल दर्शन है । ज्ञान के पॉच भेद (१) मति (२) श्रुत (३) अवधि (४) मन पर्यय और (५) केवल है । सम्यग् दृष्टि अपेक्षा-मतिश्रुति अवधि ज्ञान सम्यग्ज्ञान है, मिथ्या दृष्टि के ये ही कुमति कुश्रुत और कुअवधि है—अर्थात् मिथ्या दर्शन मे ये ज्ञान भी अज्ञान रूप परिणमते है । अज्ञान का अर्थ है वह ज्ञान जो मोह कषाय युक्त हो ।

'तत्प्रमाणे' (तत्त्वा सू) वचन से सम्यग्ज्ञान ही प्रमाण है और वह प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद वाला होता है । मति श्रुत कुमति कुश्रुत—ये परोक्ष ज्ञान है । अवधि कुअवधि मनः पर्यय और केवल

ज्ञान प्रत्यक्ष ज्ञान हैं। आख से वस्तु का प्रतिभास चक्षुदर्शन है, नेत्रातिरिक्त इन्द्रियों व मन से प्रतिभास जो मति ज्ञान से भी पूर्व हो अचक्षु दर्शन है। अवधि द्वारा (रूपी) पदार्थो की सत्ता मात्र प्रतिभास अवधि दर्शन है। केवलि को समस्त पदार्थ का सत्ता मात्र का भान केवल दर्शन है—पर उसे केवल दर्शन और केवल ज्ञान युगपत् ही होता है। ज्ञान आत्मा का अतरग धर्म है और ज्ञान का सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भी भाव पर निर्भर है। भाव की विकृति से जो ज्ञान होता है वही अज्ञान है।

प्रमाण

प्रत्यक्ष प्रमाण के दो भेद होते हैं—(१) पारमार्थिक प्रत्यक्ष—जो ज्ञान केवल आत्मा ही के अधीन रहकर, जितना अपना विषय है उतना स्पष्टता से जाने। (२) साव्यवहारिक प्रत्यक्ष—जो नेत्रादिक इन्द्रियो से वर्णादि को साक्षात् ग्रहण काल मे जाने।

पारमार्थिक प्रत्यक्ष के दो प्रकार है—(1) एक देश पारमार्थिक प्रत्यक्ष–अवधि, और मन पर्यय ज्ञान एक देश पारमार्थिक है। (२) सर्व देश प्रत्यक्ष केवल ज्ञान है।

सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष को व्यवहार दृष्टि से प्रत्यक्ष कहा गया है—वह परमार्थिक दृष्टि से परोक्ष है—क्योकि इससे सर्वथा स्पष्ट जानना ही नही होता।

परोक्ष

परोक्ष प्रमाण—मति ज्ञान और श्रुत ज्ञान से जो कुछ जाना जाता है, सब परोक्ष प्रमाण है। इसके मुख्य पाच भेद है—

(१) स्मृति, (२) प्रत्यभिज्ञान, (३) तर्क, (४) अनुमान, और (६) आगम।

(१) स्मृति—पूर्व मे जो पदार्थ जाना था उसका स्मरण मात्र स्मृति है।

(२) **प्रत्यभिज्ञान**—पूर्व वार्ता का स्मरण कर प्रत्यक्ष पदार्थ के निश्चय करने को कहते हैं। यथा, कोई पुरुष जगल मे कभी गाय सरीखे पशु को देख कर जाने कि गाय सरीखा प्राणी पहले सुना या वह यही है—इस ज्ञान मे 'वह' इतना मात्र ज्ञान-स्मृति है, 'यह' इतना मात्र ज्ञान–अनुभव है। और स्मृति और अनुभव मिश्रित 'वह यह है' इतना ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है।

(३) **तर्क**—व्याप्ति ज्ञान को तर्क कहते है। एक के बिना एक न होवे, उसे व्याप्ति कहते है। यथा अग्नि के बिना धुआं नही है, आत्मा के बिना चेतना नहीं है, इस व्याप्ति का जानना तर्क है।

(४) **अनुमान**—संकेतों (चिन्हो) से पदार्थ के निश्चय को अनुमान कहते हैं। यथा-पर्वत मे धुआ निकलते देखकर निश्चय करना कि पर्वत मे अग्नि है।

(५) **आगम**—आप्त वचनो के निमित्त से पदार्थ के निश्चय करने को आगम कहते है। यथा—शास्त्र से लोकादिक का जानना आगम ज्ञान है।

नय—प्रमाण के अश को नय कहते है। प्रमाण द्वारा ग्रहण किये हुए पदार्थ के एक धर्म को मुख्यता से जो अनुभव कराता हे नय है। प्रमाण सिद्धान्त है, नय कथन प्रणाली है, शैली है।

नय भेद—नय के दो भेद है—(१) द्रव्यार्थिक नय, जो द्रव्य की मुख्यता से पदार्थ का अनुभव करावे। (२) पर्यायार्थिक नय—जो द्रव्य की मुख्यता से नही, उसकी पर्याय की मुख्यता से पदार्थ का अनुभव करावे। शैली वस्तुत दो ही हो सकती है। या तो शैली होगी सूत्र (सूक्ष्म) रूप यानी निखालिस द्रव्य रूप, या होगी विचार या विशेप रूप, अपने पर्याय रूप, व्याख्या रूप।

युक्ति—नय और प्रमाण के सयोग को युक्ति कहते है। इसका यथार्थ ज्ञान मे बहुत काम पडता है।

द्रव्यार्थिक नय के भेद—तीन है—(१) नैगम—सकल्प मात्र से पदार्थ का ग्रहण हे। (२) सग्रह-सामान्य रूप से पदार्थ का ग्रहण है, यथा षट् द्रव्यो के समूह को 'द्रव्य' कहना। (३) व्यवहार—सामान्यरूप से कहे हुए विषय को विशेष करना—यथा द्रव्य के षट् भेद करना।

पर्यायार्थिक नय के भेद चार है—(१) ऋजुसूत्र-जिस नय से वर्तमान पर्याय का ग्रहण किया जावे—यथा देव को देव और मनुष्य को मनुष्य कहना। (२) शब्द-व्याकरणादि से शब्द की अशुद्धिया दूर करना (३) समभिरूढ—पदार्थ मे मुख्यता से एक अर्थ को आरूढ करना—यथा 'गच्छतीति गो' यानी गमन करे सो गाय परन्तु सोई या बैठी को भी गाय कहना यह समभिरूढ नय है। एवभूत नय—वर्तमान क्रिया जिस प्रकार से हो उसी प्रकार से कहने को एवभूत नय कहते हैं। यथा—जिस समय गमन करती हो तभी गाय कहना, सोती या बैठी अवस्था मे गाय न कहना।

इस प्रकार द्रव्यार्थिक के तीन और पर्यायार्थिक के चार—कुल सात नय है। स्याद्वाद जैन दार्शनिको के द्वारा सप्त भगी आदि के रूप मे तार्किक पद्धति से व्यवस्थित हुआ है। ये प्रत्येक वस्तु को स्व द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा अस्ति हे मानती "है" और पर द्रव्य-क्षेत्र काल भाव मे नास्ति (नही है) कहती है। ऐसे यह है और नही है—देश काल से सापेक्ष रूप कथन शैली हे। सापेक्ष वाद को आइस्टीन ने खूब सवारा हे। उन्होने कहा है—हम केवल आपेक्षिक सत्य ही जान सकते है—सपूर्ण सत्य तो सर्वज्ञ के द्वारा ही ज्ञात हे। वस्तु को जैन दार्शनिको ने अनेक धर्मात्मक माना हे—हम जब उसे कहने का उद्योग करते है तो एक धर्म को प्रमुख व अन्य अनेक धर्मों को गौण करके ही कहते है या कह सकते है। ऐसा हमारा सत्य का कथन आपेक्षित ही सभव है क्योकि अन्य धर्मों की अपेक्षा से वह अन्य प्रकार भी होता है।

स्याद्वाद सापेक्ष सत्य कथन

डा० राधाकृष्णन ने स्याद्वाद पर कहा कि स्याद्वाद निरपेक्ष या सपूर्ण सत्य की कल्पना किये

बिना तर्क के धरातल पर नही ठहर सकता। इस पर डा० मुनि नगराज ने इस प्रकार विचार प्रकट किया है —

स्याद्वाद स्वय ही अपने आप में इतना पुष्ट है कि डा० राधाकृष्णन का तर्क उसे हतप्रभ नही कर सकता। स्याद्वाद भी तो यह मान कर चलता है कि निरपेक्ष सत्य विश्व मे कुछ है ही नहीं तो हमारे मन मे उसका मोह क्यो उठता है। धर्म कीर्ति ने कहा है—यदि पदार्थों को स्वय यह अभीष्ट है तो हम उन्हे निरपेक्ष बताने वाले कौन होते है? सापेक्ष सत्य के विषय मे जो सदेहशीलता विचारको को लगती है—उसका एक कारण यह है कि सापेक्ष सत्य को पूर्ण सत्य व वास्तविक सत्य से परे सोच लिया जाता है किन्तु वस्तुत. सापेक्ष सत्य उनसे भिन्न नही है। हर एक व्यक्ति सरलता से समझ सकता है कि नारगी छोटी है या वडी।

ज्ञान नेत्र · ज्योति प्रकाश

आ० शुभचन्द्र ने तीन काल के गोचर अनन्त गुण पर्याय सयुक्त पदार्थ जिसमे सातिशय प्रतिभासित हो—उसे ज्ञान कहा है—यह ज्ञान सामान्य से पूर्ण ज्ञान का स्वरूप है। कहा गया है कि यही ज्ञान योगीश्वरो का नेत्र है और सत्यार्थ है। केवल ज्ञान मे समस्त लोकालोक प्रकाशमान होते है—इसे योगीश्वरो का ज्योति प्रकाश कहा गया गया है।

स्फुरत्युच्चैस्तज्ज्योतिर्योगिनां मतम्।[3]

पदार्थ के स्वरूप को यथार्थ जानना—अर्थात् पदार्थ जिन अनेक स्वभावो से सयुक्त हे उनको भलीभाति जानना सम्यक् ज्ञान है और ऐसा ज्ञान आत्मा का निज स्वरूप है। यह ज्ञान सशय विपर्यय विमोह रूप तीन भावो से रहित होना चाहिए। तीन भाव पर-द्रव्य अपेक्षा दोष रूप है, वरना ज्ञान मे दोष नही होता

ज्ञान के दोष सशय विपर्यय और विमोह

(१) सशय—विरुद्ध द्विविधा रूप ज्ञान को सशय कहते हैं, यथा रात्रि मे किसी को देखकर सशय करे कि यह वस्तु मनुष्य है या प्रेत।

(२) विपर्यय—अन्यथा इकतरफी ज्ञान विपर्यय होना है, यथा मनुष्य मे प्रेत की प्रतीति।

(३) विमोह—'कुछ है' इतना ही जानना विमोह ज्ञान है। यथा गमन करते समय तृण का स्पर्श।

ज्ञान का कार्य मात्र जानना है, कमवेश जानना यह दोष प्रतिपक्षी-ज्ञानावरणीय कर्मोदय के निमित्त से है।

ज्ञाना० 7/10

ज्ञान आराधना के आठ अग

(१) शब्दाचार—शब्द शास्त्र (व्याकरण) के अनुसार अक्षर पद वाक्य का पठन पाठन यत्न पूर्वक शुद्ध करना। व्यजनाचार, श्रुताचार, अक्षराचार, ग्रन्थाचार आदि सब एकार्थवाची है।

(२) अर्थाचार—यथार्थ शुद्ध अर्थ का अवधारण करना।

(३) उभयाचार—अर्थ और शब्द दोनो से शुद्ध पठन पाठन करना।

(४) कालाचार—जो सर्गकाल [मध्यान्ह से दो घडी पहले और सूर्योदय से दो घडी पीछे], अपरान्हिक काल [मध्यान के दो घडी पश्चात् और रात्रि से दो घडी पहले] प्रदीप काल [रात्रि के दो घडी उपरात और मध्यान्ह रात्रि से दो घडी पहले] विरात्रिकाल (मध्य रात्रि से दो घडी पश्चात् और सूर्योदय से दो घडी प्रथम] इन चार उत्तम काल विभागो मे पठन पाठनादि स्वाध्याय करना कालाचार है। चारो सध्याओ की आदि व अन्तिम दो-दो घडियो मे दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्र धनुप' सूर्य चन्द्र-ग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पादो मे सिद्धान्त ग्रन्थ के पठन का निषेध है। आराधना, धर्म कथा आदि के ग्रन्थ पढे जा सकते हैं।

(५) विनयाचार—शुद्ध जल से हस्तपादादि प्रक्षालन कर शुद्ध स्थान मे पर्यकासन (पद्मासन) से बैठ कर विनय नमस्कार पूर्वक शास्त्र अध्ययन करना है।

(६) उपधानाचार—उपधान सहित, अर्थात् विस्मृत न होने सहित अध्ययन को कहते है।

(७) बहुमानाचार—ज्ञान, पुस्तक और शिक्षक का पूर्ण आदर करने को कहते है।

(८) अनिन्हवाचार—जिस गुरु, जिस शास्त्र से ज्ञान उत्पन्न हो उसको न छुपाना है। इन आठ अगो सहित ज्ञान का आराधन करना कहा गया है।

वस्तुत आत्म ज्ञान तो जीवात्मा के स्वय ही आत्म-किरणो का प्रस्फुटन है—तब उसे सारा जगत ही अपनी किरणो से प्रस्फुटित हुआ भासता है। क्रिया–भेदनिमित्त से ज्ञान के मति, श्रुत, मन पर्यय, अवधि आदि भेद करके कहते है।

पांच प्रकार क्रिया भेद से ज्ञान विवेचन

मतिज्ञान—पाचो इन्द्रियो तथा मन से जो कुछ जाना जाता है इसे ही शास्त्रीय भाषा मे इस तरह कहा जाता है। पराश्रय की बुद्धि छोड कर दर्शन उपयोग पूर्वक स्व सम्मुखता से प्रकट होने वाले निज आत्मा के ज्ञान को मतिज्ञान कहते है। स्व बुद्धि से जो ज्ञान प्राप्त होता है जिसे अग्रेजी मे मेण्टल नोलेज कहते है वह मति ज्ञान है। इस ज्ञान मे इन्द्रिय और मन निमित्त है। बुद्धि [मति] के चार प्रकार कहे गये है—१. औत्पत्तिकी २ वैनयिकी, ३. कार्मिकी और ४ पारिणामिकी। जन्मान्तरीय सस्कारो के क्षयोपशम की तीव्रता से वस्तु के मर्म को ग्रहण करे व योग्य

उपाय करे–वह औत्पत्तिकी है। जो बुद्धि उस शास्त्र के विमर्श से प्रकट हो वह वैनयिकी, जो स्व अभ्यास से हो कार्मिकी, जो अनुभव से प्रकट हो परिणामिकी मति है

श्रुत ज्ञान—मति ज्ञान से वस्तु को जानकर उसी जानी हुई बात के सम्बन्ध मे अन्य बात का जानना, यानी अन्य पदार्थ को जानने वाला श्रुत ज्ञान है। जैसे त्वचा इन्द्रिय द्वारा शीतल पवन स्पर्श से शीतलता का ज्ञान मति ज्ञान है—परन्तु यह जानना कि यह शीतल पवन लाभकारी या हानिकारक है श्रुतज्ञान है। आत्मा की शुद्ध अनुभूति रूप श्रुतज्ञान को भाव श्रुत कहते है—अर्थात् आगम से प्राप्त भाव श्रुत ज्ञान है। श्रुत ज्ञान के शास्त्र मे १४ भेद विस्तार से कहे गये है।

मति तथा श्रुत—ये दोनो ज्ञान तारतम्यता से प्रत्येक जीव मे रहते है। लब्धि अपर्याप्तक निगोद जीव को भी एक अक्षर का अनन्तवा भाग सूक्ष्म श्रुत-ज्ञान होता है। जीव मे इनका अभाव नही होता ? मति ज्ञान के चार भेद या क्रम है—[१] अवग्रह [२] ईहा [३] अवाय और [४] धारणा। जानने योग्य पदार्थ को ग्रहण करना अवग्रह है। यह क्या है—ऐसा विचार ईहा है। यह अमुक वस्तु है — ऐसा निर्णय अवाय है और उसका अवधारण करना, स्मरण रखना धारणा है।

अवधि ज्ञान—इन्द्रियो के आश्रय बिना, स्व शक्ति से रूपी (पौद्गलिक) पदार्थ को जानना अवधि ज्ञान है। द्रव्य क्षेत्र काल और भाव की मर्यादा सहित रूपी पदार्थ का स्पष्ट ज्ञान अवधि ज्ञान है। यह देव नारकी और तीर्थंकर प्रभु को जन्म दिन से ही रहता है। जो जन्म से हो वही भव प्रत्यय तथा जो तप व गुण के कारण ज्ञान हो—वह गुण प्रत्यय अवधि ज्ञान कहा जाता है। अवधि ज्ञान के अनुगामी, अननुगामी, वर्धमान, हीयमान, प्रतिपाती, और अप्रतिमाती—ऐसे ६ भेद कहे गये है।

मन. पर्यय ज्ञान—द्रव्य क्षेत्रकाल और भाव की मर्यादा लिये हुए दूसरे व्यक्ति के मन मे स्थित रूपीविषय को जानना मन पर्यय ज्ञान है। किसी मनुष्य ने जो कुछ मन मे चिन्तवन किया, कर रहा है वा आगामी को चिन्तवन करेगा उसका ज्ञान मन पर्यय ज्ञान है। छठे से १२ वे गुणस्थान के मुनि व योगी को यह ज्ञान हो सकता है। अवधि ज्ञान और मन पर्यय ज्ञान मे वस्तुत. मन की सहायता ली जाती है। क्षायोपशम ज्ञान तक अर्थात् १२ वे गुण स्थान तक अज्ञान भाव रहता ही है। अतः मन की सहायता नियम से ली ही जाती है।

केवल ज्ञान

केवल ज्ञान त्रिकालवर्ती सर्व पदार्थो का तथा उनके अपेक्षित अनन्त धर्मात्मक सर्व गुण पर्यायो का प्रत्येक समय यथा-स्थिति परिपूर्ण स्पष्ट एव एक साथ ज्ञान केवल-ज्ञान (Pure Spiritual Wisdom) है। केवल ज्ञानी प्रभू सर्वज्ञ (Eternally Wise) होता है। इसे अनेकात्मक प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान रहता है। उसका ज्ञान यथावस्थ होता है—तथा पर्याय जैसे जैसे वस्तु मे परिणमती है उसे वैसे वैसे ही जानते है। वस्तु की पर्याय निजी योग्यता से परिणमती है— न कि केवल ज्ञानी के ज्ञान के कारण। वे वस्तु मात्र के मौलिक अन्तर्ज्ञान-उत्पाद व व्यय सहित ध्रौव्यत्व के विवेक से सम्पन्न

है—न कि केवल वस्तु के सतही व बाह्य स्वरूप मात्र की जानकारी रखने वाले विवेक से, अवधि मनःपर्यय और केवल ये तीनों ज्ञान बिना इन्द्रियाश्रय ही साक्षात् रूप से आत्म शक्ति से होते है । अत प्रत्यक्ष कहे जाते है । मति ज्ञान व श्रुत ज्ञान दोनो इन्द्रियो के द्वारा होने से परोक्ष कहलाते है—यहा अक्ष का अर्थ आत्मा है । परोक्ष ज्ञान आत्मा से नही, आत्मा से परे इन्द्रियो के निमित्त से है । मति ज्ञान को साव्यवहारिक प्रत्यक्ष भी कहते है—क्योकि यह इन्द्रिय व्यवहार से प्रत्यक्ष है—यहा अक्ष का अर्थ इन्द्रिय लिया गया है । केवल ज्ञान सामूहिक रूप से एक ही समय मे त्रिकाल तथा निकट व दूरस्थ विपयो का ग्रहण करता है ।

आत्मा का वह ज्ञान जो स्वय आत्मा के ही आश्रय होता है –स्व-सबध रूप से होता है—जो फिर न न्यून होता, न अधिक, परिपूर्ण स्थिर यथावस्थ ज्ञान होता है । वह ज्ञान ही प्रमाण, यानी प्रत्यक्ष प्रमाण ज्ञान होता हे । केवल ज्ञान सकल प्रत्यक्ष होता है—इसके उदय होने पर प्राणी सिद्ध अरिहंत केवली हो जाता हे । अवधि तथा मन पर्यय एक देश प्रत्यक्ष ज्ञान है । द्रव्य क्षेत्र काल भाव की सीमा (अवधि) लिये ज्ञान जो पुद्गल द्रव्य अथवा ससारी जीव का, रूपी वस्तुओ का ज्ञान हे अवधि-ज्ञान है । जीवो का यह अवधि ज्ञान आत्मा के एक देश से जानता है । परन्तु तीर्थकर, देव तथा नारकी को स्वांग अवधि ज्ञान होता है । मति व श्रुत ज्ञान इन्द्रिय मन तथा स्थूल प्रकाश और उपदेशादिक निमित्तो के आश्रय होते है । केवल ज्ञान निरवधि ज्ञान है, असीम और अमर्याद होता है । मन पर्यय ज्ञान चिन्तित और अचिन्तित दोनो प्रकार के मनोगत अर्थ (पर्याय या विषय) मे विद्यमान ज्ञान को विषय करता है । यह भी इन्द्रियो से अनुत्पन्न होने से अवधि ज्ञान के समान ही एक देश प्रत्यक्ष प्रमाण है ।

सविकल्प और निर्विकल्प संप्रज्ञात और असप्रज्ञात

प्रमाण ज्ञान के दो भेद और किये जाते हे । वे (१) सविकल्प तथा (२) निर्विकल्प है । जो विचार या इच्छा सहित ज्ञान है वह सविकल्प कहा जाता है । यह प्रज्ञा सहित होने से सम्प्रज्ञात भी कहा जा सकता है । यह ज्ञान ही चार प्रकार का है—मति श्रुत अवधि तथा मन पर्यय यह । चारो प्रकार सविकल्प या सम्प्रज्ञात ज्ञान के अन्तर्गत हे ।

मन रहित अथवा विचार या इच्छा-प्रयत्न रहित निर्विकल्प ज्ञान मे प्रज्ञा चेष्टा भी मौन रहती है—वह ज्ञान निर्विकल्प व असम्प्रज्ञात कहा जाता हे । केवल ज्ञान इस अर्थ मे निर्विकल्प ज्ञान है, निर्विचार निरीच्छुक अबाध ज्ञान है ।

लौकिक ज्ञान की सीमा सविकल्प ज्ञान है । केवल ज्ञान लोकोत्तर तथा सकल वस्तु ज्ञान है । वह सर्वांश ज्ञान है, निर्विकल्प, अमर्याद व अखण्ड ज्ञान है । विकल्प तथा विचार की सत्ता, निर्विचार तथा निर्विकल्प ज्ञान भूमि तक न पहुंचने तक बराबर रहती है । अत ही जब तक निर्विचार तथा निर्विकल्प भूमि में आरोहण न हो आत्म वस्तु का निरन्तर चिन्तन तथा मनन उपदिष्ट है । केवल ज्ञान निर्विकल्प है, वह परमावधि ज्ञान के पश्चात् उत्पन्न होता है । यह भी है कि केवल ज्ञान आत्मा के उपयोग की सहज अवस्था है ।

निश्चय और व्यवहार

द्रव्य और गुण का नाम स्थूल रूप से निश्चय है और द्रव्य और गुण की अवस्था (पर्याय) का नाम व्यवहार है। अन्य द्रव्य से अनपेक्ष स्वाभाविक अवस्था को जब द्रव्य अथवा गुण धारण करे तो वह शुद्ध व्यवहार और जब पर-द्रव्य की पर्याय के अधीन होकर अवस्था धारण हो तो उसे अशुद्ध व्यवहार कहते है।

देव शास्त्र गुरू की प्ररूपणाएं

इस अध्यात्म योगविज्ञान रूप धर्म मे तीन मौलिक अवधारणाएँ है। ये तीन प्रकर्ष तत्त्व है। ये देव, गुरू और शास्त्र रूप से प्ररूपित है। इन तीन तत्त्वो के ज्ञान तथा अवलम्बन या आराधना इस अध्यात्म विज्ञान मे हे। सच्चे देव, सच्चे गुरू और सच्चे शास्त्र के सिद्धान्त बिना जीव का कभी निरतार नही हो सकता। इनके ही यथार्थ ज्ञान न होने से जीव इस ससार मे नाना अध विश्वास, नाना मूढताओ और अज्ञान मे फसा रहता है और चारो पुरुषार्थ से वचित रहता हे।

देव

सच्चे देव को ही आप्त कहा जाता है। आप्त का स्वरूप आ० श्री समन्तभद्र ने इस प्रकार कहा है—

> आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना।
> भवितव्यं नियोगेन नान्यथाह्याप्तता भवेत् ।।[4]

धर्म के मूल कथाकार भगवान आप्त देव हे। उनके तीन गुण—निर्दोषपणा, सर्वज्ञपणा, तथा परम हितोपदेशपणा है। इनके क्षुधातृपादिक अठारह दोष नष्ट हो गये है। वे परमेष्ठी, पर ज्योति, विरागी, विमल, कृती, सर्वज्ञ, अनादिमध्यान्त, सार्व हे। ये अरिहत आप्त अपनी ख्याति, लाभ, पूजादिक के प्रयोजन बिना तथा राग और पक्षपात भाव के बिना उपदेश देने वाले है—वे वैसे ही अपेक्षा रहित है जैसे मृदग। मृदग किंचित् भी अपेक्षा किये बिना ही वादक के हाथ के स्पर्श मात्र से ही नाना शब्द करता हे—वैसे ही इन देव पुरुषो की वाणी सहज ही भव्य जीवो के सान्निकर्ष मे ध्वनित होती है। ये देव स्वरूप शुद्ध आत्म-वस्तु रूप परिणत है। इनके ज्ञान से साधक को निज आत्मा के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान होता हे। इनकी आराधना आत्म गुणो की आराधना हे। जिसको देव का द्रव्य, गुण, पर्याय स्वरूप का ज्ञान नही होता उसे स्वय आत्मा का भी ज्ञान घटित नही होता और उसे मोक्ष भी नही हो सकता।

---

4. रत्न करण्ड श्रा०–5

आ० कुंदकुंद कहते है—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्त गुणत्त पज्जयतेहि ।

सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लय ।।[5]

सर्वज्ञ वीतराग देव का जानना और आराधन मोह का नाश कर देता है और आत्म स्वरूप की ही प्राप्ति करने वाला है ।

गुरू—

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः ।

ज्ञान ध्यान तपो रक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ।।[6]

सद्गुरू तपस्वी है—वह पचेन्द्रियो के विषयो की इच्छा से निवृत्त रहता है । वह षट् काय जीवों के घात करने वाले आरम्भ से रहित और अन्तरग व बहिरग सर्व प्रकार परिग्रह-ममता मूर्छा वासना से रहित रहता है । और वह ज्ञान, ध्यान, और तप मे सदा लगा रहता है । इन चार विशेषणो सहित जो होता है वही सच्चा गुरू है । आ० कल्प प० टोडरमलजी ने कहा है कि गुरु का स्वरूप निर्ग्रन्थ है और जो निग्रन्थ है वही वन्दनीय है ।

शास्त्र

आप्तोपज्ञमनुल्लंध्यमदृष्टेष्ट विरोधकम् ।

तत्वोपदेश कृत्सार्वं शास्त्र कापथघट्टनम् ।।[7]

सच्चे शास्त्र के छ विशेषण बताये है—(१) वह सर्वज्ञ वीतराग की आज्ञा (उपदेश) के अनुसार है (२) वादी प्रतिवादी द्वारा उल्लघन न किया जा सके (३) दृष्ट और इष्ट का उसमे विरोध न हो (४) वस्तु स्वरूप तत्त्व का उपदेश हो (५) सर्व जनो के हित रूप हो तथा (६) मिथ्या मार्ग का निराकरण करने वाला हो । यह शास्त्र न तो परस्पर विरोधी बाते कहता, न एकान्त कथन करता है और इसकी शैली-स्याद्वाद और अनेकात से मुद्राकित होती है । देव शास्त्र और गुरु के श्रद्धान मे स्पष्ट किया गया है कि पाखड, भेष, मिथ्याधर्म आराधनीय नही है । अत साधक जनो को यहा परीक्षा-प्रधानी तथा विवेकी बनने की प्रेरणा दी गई है और किसी भी ऐसे देव गुरु और शास्त्र की मान्यता

---

5 प्रवचन सार० गा०–8०

6 रत्न० क०श्रा०–10

7 वही–9

का निषेध किया है जो रागी 'द्वेषी' कषायी, मोही, हिंसक, व हिंसा के प्ररूपक हो और जो आत्म निष्ठ (आत्म-परक) श्रद्धा ज्ञान और स्थिरता को दूषित करता हो। सत्यार्थ स्वरूप के अर्थी जनो को सत्यार्थ देव गुरु और शास्त्र ही अवलम्बनीय है। आ० हेमचन्द्र ने कहा है कि यदि सरागी देव हो जाए, अब्रह्मचारी गुरु हो जाएं, दयाहीन धर्म हो जाए तब हाय ! इस जगत् की क्या दुर्दशा होगी।

जीव के संगठन अर्थात् जीव समास

जिन धर्म विशेषों के द्वारा नाना जीव और इनकी नाना प्रकार की जातियां अथवा जीव संगठन जाने जाते है उन धर्म विशेषों को जीव समास कहते है। जीव समास के संक्षेप से चोदह भेद है। तथा विस्तार से इनके तीस, इक्कतीस, बत्तीस, छत्तीस, अडतीस, अडतालीस, चोवन और सत्तावन भेद है। इन सब भेदो का वर्णन पच सग्रह के प्रथम प्रकरण मे है।

सूक्ष्म एकेन्द्रिय, बादर एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रीय असज्ञीपचेन्द्रिय और सज्ञीपचेन्द्रिय—ये सातो पर्याप्तक और अपर्याप्तक रूप होते है। इस प्रकार जीव समास के १४ भेद कहे गये है।

प्राणो के कारणभूत शक्ति की प्राप्ति को पर्याप्ति कहते है। पर्याप्तिया छ: प्रकार की होती है—(१) आहार पर्याप्ति (२) शरीर पर्याप्ति (३) इन्द्रिय पर्याप्ति (४) श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति, (५) भाषापर्याप्ति और (६) मन पर्याप्ति।

एकेन्द्रिय जीवो के प्रारम्भ की चार, विकलेन्द्रिय जीवो के प्रारम्भ की पाच और सज्ञी पचेन्द्रिय जीवो के छ पर्याप्तिया होती है। कहा गया है कि जिस प्रकार गृह, घट, वस्त्रादिक अचेतन द्रव्य पूर्ण और अपूर्ण दोनो प्रकार के होते है—उसी प्रकार जीव भी पूर्ण और अपूर्ण दोनो प्रकार के होते है। पूर्ण जीवो को पर्याप्त और अपूर्ण जीवो को अपर्याप्त जाना जाता है। यहा पूर्ण शब्द सिद्ध शुद्ध जीवात्मा के लिये नही है।

पर्याप्तियो के कार्य रूप इन्द्रियादि के उत्पन्न होने को प्राण कहते है। प्राणों के दस भेद है—(१) स्पर्शेन्द्रिय (२) रसनेन्द्रिय (३) घ्राणेन्द्रिय (४) चक्षुरिन्द्रिय (५) कर्णेन्द्रिय (६) मनोबल (७) वचन बल (८) काय बल (९) आयु और (१०) श्वासोच्छ्वास।

पौद्गलिक द्रव्येन्द्रियों का व्यापार बाह्य प्राण क्रिया है। बाह्य प्राण के निमित्त भूत ज्ञानावरण और अन्तराय कर्म के क्षयोपशमादि से बधे चेतन व्यापार को आभ्यन्तर प्राण कहते है। इन दोनो ही प्रकार के प्राणो के सद्भाव मे जीव मे जीवितपने का और वियोग मे मरण हो जाने का व्यवहार होता है। इसलिए इन्हे प्राण कहते है। ये प्राण पूर्वोक्त पर्याप्तियो के कार्य रूप है और पर्याप्ति कारण रूप है—क्योकि गृहीत पुद्गलस्कध विशेषो को इन्द्रिय वचन आदि रूप परिणमाने की शक्ति की पूर्णता को पर्याप्ति और वचन व्यापार आदि की कारण-भूत शक्ति को तथा वचन आदि को प्राण कहते है।

काय बल इन्द्रिया और आयु—ये प्राण सभी पर्याप्त और अपर्याप्त जीवो के होते है। श्वसोच्छ्वास पर्याप्त स्थावर और त्रस जीवो के होता है। वचन बल पर्याप्त त्रस जीवो के तथा मनोबल सज्ञी पर्याप्त जीवो के होता है। पर्याप्त सज्ञीपचेन्द्रियो के दश प्राण होते है। शेष पर्याप्त जीवो के एक-एक प्राण कम होता जाता है।

पूर्वोक्त प्राण-प्ररूपणा श्वासवायु रूप प्राणो के भेद—(१) प्राण (२) अपान (३) समान (४) उदान (५) व्यान (६) कृक्कल (७) धनजय (८) नाग (९) कूर्म (१०) देवदत्त से भिन्न है। प्राण तत्त्व इन प्राण भेदो से भी भिन्न है। यह देह मे विद्युत्मय तेजस् तत्त्व है जो उक्त दस प्राणो मे भी अन्तर्हित हैं—जिसे न्यूट्रानिक कहा जा सकता है और जिसके सहारे जीवात्मा के भाव-प्राण भी टिके व व्यक्त होते है। पर वह प्ररूपणा अन्य दृष्टि से है। इन्द्रियादिक दश प्राणो को पौद्गलिक रचना होने से द्रव्य-प्राण कहते है तथा जीव के सम्यग्दर्शन ज्ञान आदि गुणो को भाव-प्राण व निश्चय प्राण कहा गया है।

जीव संचरण के स्थान अर्थात् मार्गणाए

जिन अवस्था विशेपो मे जीवो का अन्वेषण किया जाता है उन्हे मार्गणा कहते हैं। इन अवस्था विशेषो मे ही ससारी जीवो का सचरण रहता हे। अर्हत्पुरुषो ने जीव तत्त्व को अपेक्षाकृत विकसित वनस्पति मे ही नही देखा—उन्होने मिट्टी, पानी मे भी जीवन देखा है। इन जीवो का श्वसन, आहार, भय, सवेदन आदि प्रवृत्तियो पर जितना सूक्ष्म विश्लेषण किया हे वह अपने आप मे बहुत महत्वपूर्ण हे।

एकेन्द्रिय जीवो मे भाषा और मन के अतिरिक्त चार पर्याप्तिये होती है। दो इन्द्रिय, ते इन्द्रिय चौइन्द्रिय और असज्ञी पचेन्द्रिय मे भाषा और होकर पाच पर्याप्तिया होती है। संज्ञी पचेन्द्रिय में मन मिलकर छःओ पर्याप्तिया होनी है।

मार्गणाओं के चोदह भेद

(१) गति, (२) इन्द्रिय, (३) काय, (४) योग, (५) वेद, (६) कषाय, (७) दर्शन (८) ज्ञान (९) सयम, (१०) लेश्या, (११) भव्यत्व, (१२) सम्यक्त्व (१३) सज्ञा, (१४) आहार मार्गणाए है।

१, गति – चार है—(१) नरक, (२) तिर्यञ्च, (३) मनुष्य, और (४) देव

२ इन्द्रिय – पाच है—(१) स्पर्श, (२) रसना, (३) घ्राण, (४) चक्षु और (५) श्रोत्र

३ काय=छ है—(१) पृथ्वी काय (२) जल काय (३) अग्नि काय (४) वायु काय (५) वनस्पति काय, (६) त्रस काय।

४. योग – का अर्थ है व्यापार या प्रवृत्ति, आत्म प्रदेशो का स्पदन उनका व्यापार या प्रवृत्ति है। सयोग मिलने से आत्म प्रदेश स्पदित होते है, वरना सिद्धो के समान स्थिर रहते है। योग

के तीन भेद मन के नाना प्रकार के व्यापार मनोयोग, वाणी या वचन के व्यापार वचन योग, और काया के व्यापार काय योग है। कर्म बध मे इन योगो का महत्वपूर्ण भाग होता है। इनके भेद इस प्रकार है। योग बल का प्रमाण अनन्त होने से योग स्थानक असख्य प्रकार के सभव है। इनके अनुसार ही जीवात्मा कर्म-वर्गणाओ को ग्रहण करता हे। मन वचन काया से युक्त जीव के भीतर पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से जो कर्मो को खीचने मे कारण शक्ति है उसको योग कहते है। क्रिया रहित निर्विचार और चैतन्य ज्योति रूप मे निस्पद आत्मप्रदेश अयोग रूप होते है।

१. मनोयोग के चार भेद—सत्य, असत्य, उभय, और अनुभय हे। इन योगो का निमित्त पाकर जीव के प्रदेशो मे कर्म प्रत्यय एक क्षेत्रावगाह करते है।

२ वचन योग के चार भेद—सत्य, असत्य, उभय और अनुभय है।

३, काययोग के सात भेद—औदारिक, औदारिक मिश्र (मनुष्य और तिर्यन्च के) वैक्रियक, वैक्रियक मिश्र (देव नारकियो के) आहारक तथा छठे गुणस्थान तक के आहारक मिश्र तथा केवल समुद्घात मे एक ऐसे योग मार्गणा के १५ भेद है। योगो के तीव्र परिणमन से अधिक कर्म वर्गणाए तथा मद परिणमन से कम कर्म वर्गणाए आती है। वर्गणाओ की गणनाओ को ही प्रदेश बध कहते है। योग प्रकृति तथा प्रदेश वध के कारण है तथा कषाय स्थिति तथा अनुभाग के कारण हे।

५ वेद — पुरुष, स्त्री, नपुंसक ऐसे वेद के भेदो के तीन प्रकार है।

६ कषाय — चार (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया और (४) लोभ है। इनमे से हर कपाय के (१) अननानुबधी (२) अप्रत्याख्यानावरणीय (३) प्रत्याख्यानावरणीय और (४) संज्वलन—ऐसे चार भेद है। नो कषाय—(१) हास्य, (२) रति, (३) अरति, (४) शोक, (५) भय, (६) जुगुप्सा (ग्लानि) (७) पुरुष वेद यानी स्त्री से भोगेच्छा, (८) स्त्री वेद-पुरुष से भोगेच्छा, (९) नपुंसक वेद–पुरुष और स्त्री दोनो से भोग की इच्छा। नो का अर्थ यहा न्यून का हे। ये चार कषायो से कम है पर उनको जन्म देने वाले है। वेद का अर्थ काम सज्ञा है।

कषाय (जैन मनोविज्ञान) = कषायों के विवेचन में जैन मनोविज्ञान का रहस्य

प्रत्येक कषाय चार-चार भेद को प्राप्त होता है। (१) अनन्तानुबन्धी—जो सम्यक्त्व को न होने दे (२) अप्रत्याख्यानावरणीय—जो एक देश-चरित्र रूप ग्रहस्थी श्रावक का धर्म भी न होने दे (३) प्रत्याख्यानावरणीय–जो एक देश चारित्र तो होने दे मगर सकल चारित्र मुनि धर्म न होने दे (४) सज्वलन–सकल चारित्र तो होने दे मगर यथाख्यात चारित्र न होने दे। चार कषाय के चार भेद से १६ भेद तथा नो कषाय मिलकर पच्चीस भेद कहे जाते है। तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र और मद भेद से कषायो के चार चार भेद किये गये है।

यथा वट वृक्ष आदि का कसैला रस स्वच्छ वस्तु को भी काला कर देता है—वैसे ही कसैले रस के समान ये कषाय आत्मा की निर्मलता को मलीन कर देते है। क्रोध का विपरीत क्षमा, माया का विपरीत आर्जव, मान का विपरीत मार्दव तथा लोभ का विपरीत भाव सतोष है।

क्रोध कषाय

(१) क्रोध जो पत्थर की लकीर के समान बहुत समय बीतने पर बना रहे—प्राणी को नरक का हेतु होता है।

(२) पृथ्वी की लकीर जैसे बहुत समय बाद मिट जाती है—इस समान क्रोध प्राणी को पशु गति मे ले जाता है।

(३) धूली की लकीर के समान जो कुछ समय बाद बीतने वाला होता है मनुष्य गति मे ले जाता है।

(४) पानी की लकीर के समान तुरन्त मिटने वाला क्रोध देव गति मे ले जाता हे।

(५) क्रोध को क्षमा से मिटा कर साम्यभाव करने से आत्मा का स्वभाव निर्मल होता हे। क्रोध दियासलाई के समान स्वय प्राणी को ही जलाती है,—दूसरे जिस पर क्रोध किया गया हो चाहे जलाये या न जलाये।

मान कषाय

(१) जो मान पत्थर के स्तभ के समान,—जो कभी नमता नही नरक गति मे ले जाने वाला होता है।

(२) हड्डी के समान जो बहुत काल बीतने पर नमने योग्य होता है—वैसा मान कषाय प्राणी को पशु गति मे ले जाता है।

(३) गीली लकडी के समान मान जो थोडे काल मे नमता है, शात होता है—मनुष्य गति मे ले जाता है

(४) जो मान वेत के समान जल्दी ही नम जाये, देव गति का कारण होता हे। मान मानव के विवेक नेत्र को ढक देता है। विनय-गुण के चिन्तन से मान को जय किया जा सकता है।

माया कषाय

(१) जो बांस की जड के समान—जिसके बहुत शाखा प्रशाखाये होती है—अनेक छल छिद्र वाला नरक गति का निमित्त होता है।

(२) बकरी के सीग सा टेढापन लिये माया मय व्यवहार पशु गति मे ले जाता है ।

(३) बेल सा टेढापन लिये माया मनुष्य गति मे ले जाता है ।

(४) जो चामर ढोने के समय जैसा टेढ़ापन जो तुरन्त ही सीधा हो जाता है देव गति का निमित्त होता हे ।

लोभ कषाय

(१) किरमिच के रग (2) नील के रग (3) कीचड के रग (4) हल्दी के रंग का जो लोभ कषाय हो, क्रमश चार गति का कारण होता हे । लोभ को अपरिगह या सतोष के चिन्तन से जय करना चाहिये ।

चार प्रकार के कषायो की मनोदशा

(१) फल के लिए पूरे वृक्ष को समूल काट लेना—अनतानुबधी कषाय को उदाहृत करता हे । फल के लिए पूरे डालो को काट दे, वह प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का स्वरूप है । जो कोई गुच्छो को तोड कर फलो को ले वह अप्रत्याख्यानावरणीय कषायी मनोदशा हे तथा जो फलो को बीन कर खाना चाहे वह सज्वलन कषाय हे । इस प्रकार इन पुरुषो मे भाव उत्तरोत्तर विशुद्ध है । ऐसे ही लेश्याओ के भाव भी उत्तरोत्तर शुद्ध है ।

अकषाय शुद्ध दशा

जिनको अपने आपको, पर को, उभय को बाधा देने और असयम के आचरण मे निमित्त भूत क्रोधादिक कषाय नही हे तथा जो बाह्य और आभ्यन्तर मल से रहित है ऐसे लोगो के लिए यह अकषाय और शुद्ध मनोदशा हे । अकषायमय शुद्धयोगो मे एक मात्र सातावेदनीय के योग्य कर्म वर्गणाओ का ग्रहण होता हे । आयु कर्म को छोड कर पाप व पुण्य कर्मो की स्थिति तीव्र कषाय से अधिक व मद कषाय से कम पडती है ।

क्रोध कषाय से मनुष्य के सारे सयम आदि व्यर्थ हो जाते है । मन मे जलने वाले व मद मे भरे अहकारी मे कभी न कोई सद्गुण रहते, न सद्गुण प्रकट होते । मायाचारी के हृदय मे किसी बात का प्रकाश न ठहरता, न प्रकट होता । लोभ सब पापो का जनक है । लोभी की सचय-वृत्ति मे अशान्ति तथा तृष्णा आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं । सब कषाय मानव की द्वेष मनोवृत्ति से उत्पन्न होते है । जहां राग है वहां उसी के बाजू मे द्वेष भी रहता है । दोनो का एक ही मूल है, और वह मोह का भाव है । यह मोह ही आत्मा के स्वरूप को विमोहित रखता है, उसे आवृत्त रखता है । विमोह से ही मूर्च्छा का जन्म होता है । मूर्च्छा परिग्रह है । मोह से ही परवस्तु मे राग होना है तथा मोह ही सब कषाय भावो का हेतु है । हिंसा का भाव भी इसी मोह-मूर्च्छना से उत्पन्न होता है ।

जितनी सख्या मे एव जितने भी प्रकार की वस्तुये या ससारी जीव है उनसे भी अनतानत गुणी पुद्गल वर्गणाए (Molecules) ससार मे है। ये प्रमुखत तेईस प्रकार की वर्गीकृत है। इन वर्गणाओ मे ही कर्मवर्गणा है तथा शब्द-वर्गणा भी है। कर्म-वर्गणाए ससार मे सदा ही प्रवाहित हो रही है और प्रत्येक वस्तु मे प्रवेश करती है और निकलती रहती है। अत मानव शरीर मे भी ये सदा ही प्रवाहमय है। इन कर्मवर्गणाओ के प्रवाह मे से प्राणी मात्र ही कर्म-वर्गणाओ को ग्रहण करते है। शरीर मे उत्पाद एव व्यय का सदा प्रवाह चलता रहता है। भावो के अनुसार तथा निमित्त से कर्म-वर्गणाये विशेष रूप परिणमन होती है। प्राणी के भावानुसार सूक्ष्म आकाश मे से वर्गणाये आकर्षित होती है और कर्म-सस्थान मे भावो की स्निग्धरूक्षणता के अनुसार स्वत बधती है।

आयुर्वेद जगत् के महान् ऋषि चरक ने भी यह माना है कि जब मानव मे क्रोध, मोह, लोभ और अह (मान) कषाय होते है तब वायु, जल, पृथ्वी, अग्नि और आकाश मे वर्तमान सब ही तत्त्व स्पदित तथा विकृत हो जाते है। और इस विकृत अवस्था की स्थिति मे जो भी इनका उपयोग करता है वह भी उन विकृतियो को ग्रहण कर लेता है।

मानव मनोवर्गणा मे बडी मौलिक शक्तिया है और उनसे ही कर्म-वर्गणाए खिच कर आती है व बधती है। मनो-भावो की विकृतिया देह मे ग्रन्थियो को क्षुब्ध करके रसायनिक विक्रियाये तथा विषो को भी उत्पन्न कर देती है।

मानव के भाव और रग

अत मानव के भाव अमूर्त (abstract) मात्र नही है। जब मानव मे राग, मोह या कषाय के विभाव होते है तो वे विकृतियो के ही रूप मे उदित होते है और उद्विग्न और उद्वेलित करने वाले चक्र बनाते है। तालाब मे जैसे पत्थर डालने पर एक वृत्त पत्थर के गिरने के स्थल के केन्द्र से निकलकर पूरे ही तालाब तक फैलता चला जाता है,—वैसे ही भावो का चक्र मानव मे व विश्व मे अपने आघात वृत्त को फैलाता जाता पराकाष्ठा पर जाकर समाप्त होता है। मूर्त रूप होने से मानसिक भाव वर्णमय, (रगमय), चित्रमय होते है। इससे ही भाव-लेश्या का प्रादुर्भाव होता है—इनका ही निमित्त लेकर कर्म प्रत्ययद्रव्यलेश्या रूप से जीव के साथ बधते है।

अर्हन्त या केवली पुरुषो के सहज परम अकषाय, अहिसा तथा प्रशात व लेश्या रहित शुद्ध भाव है उनसे विश्व का समग्र वातावरण निर्मल भाव स्पदनाओ से भर कर निर्मल हो जाता है। तब प्रशम रस, प्रेमभाव, सहानुभूति, दया, करुणा का ही अमृत रस सर्वत्र फैलता रहता है। यदि ऐसे भावो का प्रवाह विश्व प्राणियो को प्राप्त न हो तो सारे प्राणियो का जीवन रस कटुता से ही भरा रह जाए। अर्हत् तीर्थ कर पुरुषो की निर्मल ज्ञान भाव की स्पदना त्रिकाल ही विश्व मे प्रवाहित रहती है और जब ऐसे भावो के प्रति मानव अभिमुखता करता है तो ये उसे प्राप्त भी होते है। अत मुख्य बात ऐसे भावो की, उनके गुण-स्वभाव या स्वभाव गुणो के प्रति-रुचि, तथा अभिमुखता करके उन गुणो को

अपने मे अवधारण करने की है। मनोभाव देहस्तर पर मानव अतःस्रावी ग्रन्थि सस्थान को प्रभावित करते है, अशुभ, शुभ या शुद्ध आशय के अनुसार ये ग्रन्थियो के कटु आदि रसो के निर्माण के हेतु होते है और इनको निमित्त करके कर्मो का उदय या वध होता है।

आज के युग मे क्रोध, मान, माया, लोभ और हिसा का ही लोगो मे बाहुल्य होता जा रहा है, और विकृत मनोवर्गणाओ का प्रवाह फैलता जा रहा है, फलत विश्व के जनो का भाव-वातावरण दूषित होता जा रहा है जो वायु प्रदूषण के समान ही मानव के लिए भयकर बात है। मानव मे तथा प्रकृति मे दोनो मे ही विषमताये बढ रही है जो प्रलय और विघटन को जन्म देने वाली है। यह स्मरणीय है कि जीव अपने शुभ तथा शुद्ध भावो से विश्व मे उपकार तथा निकृष्ट अशुभ भावो से अपकार का विस्तार करता है तथा स्व तथा पर का परम शुद्ध उपकार तो प्रशात व मोह रहित ज्ञायक ध्यान भावो से ही होता है। शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक तनावो से भी मुक्ति ध्यान से सम्भव होती है।

योगी केवलि पुरुषो की कृपामयी करुणा-पूर्ण अमृतमयी वीतरागी भाव वर्षा की मानव को कितनी आवश्यता है! वह अमृत मयी वर्षा लौकिक तथा परमार्थिक रसायन रूप मे होती है। वह अकपाय तथा अहिंसामय वृत्तियो का जीवन सार है। वह अनन्त समता का, सर्व समता का अमृत निर्झर है। इन योगी पुरुषो का अत अनन्त ही उपकार है कि इनसे जीवो को अपने स्वरूप की अमृतमयी दृष्टि की प्राप्ति की प्रेरणा मिलती है। सब ही कषाय उद्विग्न-कर, चलल-कर, क्षुब्ध कर एव दु ख कर है—ये विकृतिया है। इनसे अपने को सुरक्षित करके ही हम स्व पर का कल्याण कर सकते है। जीवो का यही परस्पर उपग्रह है। वस्तुतः आत्मा आप ही अपना कल्याण है, कल्याण-कर है।

अष्ट कर्म व्यवस्था

कर्म प्रत्ययो का ग्रहण मन वचन काय के परिस्पदन द्वारा होता है परन्तु कर्म प्रत्ययो का बन्ध अशुद्धोपयोग रूप भावो के निमित्त से होता है। अशुद्धोपयोग भाव पदार्थो मे इष्टानिष्ट रति द्वेष मोह से विकृत भावरूप होता है। कर्म-प्रत्यय शरीर की ग्रन्थियो के इस विपाक को आश्रय करके अपना फल देते है। देह ग्रन्थिया ही कर्म विपाक के लिए निमित्त बनती है और सुख दु ख के भावो, कषाय, मोह के भी निमित्त बनती है।

कर्म की मूल प्रकृति आठ है—इन्हे ही अष्ट कर्म कहा गया है। आत्मा के सब गुणो मे ज्ञान प्रमुख है अत ज्ञान को रोध करने वाला कर्म ज्ञानावरणीय प्रथम है। ज्ञान के बाद दर्शन का स्थान है—अत दूसरे नम्बर पर दर्शनावरणीय कर्म है। ये दोनो कर्म अपना फल दिखाते समय सुख दु ख वेदनीय विपाक के हेतु है अत तीसरे स्थान पर वेदनीय कर्म है। इसके उदय होने पर कपायादि जीव को होते है इसलिए चौथे मोहनीय कर्म है जिससे पीडित जीव नाना प्रकार के आरम्भ समारम्भ

करता है और नरकादि की आयुष्य को बाध लेता है—अत मोहनीय कर्म के वाद आयुष्य कर्म है। देह बिना आयुष्य नही भोगा जाता—अत. फिर नाम कर्म का नम्बर है। नाम कर्म के उदय होने पर उच्च नीच गोत्र का उदय–अवश्य होता है अत नाम कर्म के वाद गोत्र कर्म प्राप्त होता है। गोत्र कर्म के उदय पर अनुक्रम से दान, लाभ आदि का उदय तथा नाश होता हे—इसलिए गोत्र कर्म के वाद अन्तराय कर्म का क्रम रखा गया है। योगो मे कपायो के उदय से सातवे गुण स्थान तक आठो कर्मो के योग्य, नवमे तक आयु कर्म के सिवाय सात कर्मों के योग्य व दसवे मे मोह को छोड कर मात्र छ कर्मो के योग्य वर्गणाओ का ग्रहण होता है। कपायोदय न हो तो मात्र सातावेदनीय कर्मवर्गणा का ग्रहण होता हे। आयु कर्म के योग्य कर्मवर्गणाओ का ग्रहण त्रिभाग आयु मे ही सम्भव है। कपायो मे जो शक्ति है उसी से कर्मो की स्थिति व अनुभाग पडते है।

ज्ञानावरणीय कर्म का जितना क्षयोपशम होगा उतना ही आत्मा को ज्ञान होगा। छ कारणो से इस कर्म का उपार्जन होता है—(१) ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान-साधनो से शत्रुता के विरोध भाव (२) ज्ञानदाता गुरु का नाम छिपाना (3) ज्ञान ज्ञानी व ज्ञान साधनो का नाश करना (४) ज्ञान ज्ञानी व ज्ञान साधनो से द्वेष करना (५) ज्ञान ज्ञानी और ज्ञान साधनो की अशातना करना (६) ज्ञान, ज्ञानी व ज्ञान साधनो मे जो रत हो—उनमे अतराय डालना।

जिन छ कारणो से जीव ज्ञानावरणीय कर्म को वाधता है उन्ही छ कारणो से दर्शनावरणीय कर्म वाधता है—अन्तर इतना ही है यह दर्शन व दर्शक के विरोध, द्वेप, वा अशातना वा अतराय से वाधता है।

वेदनीय—साता तथा असाता प्रकार का है। आधि उपाधि और व्याधि से घिरे जीव को जो दु.ख होता है वह असाता वेदनीय कर्म है। निरोग देह, अनुकूल धन कुटुम्ब व सयोगो के रूप जो सुख का अनुभव होता हे वह साता वेदनीय कर्म बध का फल है।

गुरु-भक्ति, क्षमा, करुणा, व्रत-पालन, सयम-योग पालन, कपाय विजय, दात तथा धर्म मे दृढता—इनसे सातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है। इनसे विपरीत असातावेदनीय कर्म का उपार्जन होता है।

जिस कर्म के कारण जीव मोह ग्रस्त होकर ससार मे लिप्त होता है—उसे मोहनीय कर्म कहते है। मदिरापान के समान यह कर्म मनुष्य के विवेक को हर लेता है। अज्ञान मे ही मोह का (वेहोशी का) जोर रहता है अतः स्व ज्ञान के लिए सदा सजगता से तत्पर रहना चाहिए। मोह कर्म के दो भेद है, दर्शन मोहनीय—जो मान्यता विश्वास और श्रद्धा को विकृत करे,—तथा चारित्र-मोहनीय जो चारित्र को—वर्तन को, आचरण को विकृत करे। दर्शन मोहनीय से मिथ्यात्व आता है और सम्यक्त्व का रोध होता है अतः यह चारित्र मोहनीय से भी भयकर हे। उन्मार्ग यानी सन्मार्ग व मोक्ष मार्ग से विपरीत का उपदेश दर्शनमोहनीय का बध करता हे।

जिस कर्म के कारण आत्मा को एक शरीर में अमुक समय तक रहना पडे वह आयु कर्म है। देव, मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक आयु उत्तरोत्तर अधिक दु खदायी है। मद कषाय से देव मनुष्य व तिर्यञ्च आयु की स्थिति अधिक तथा तीव्र कपाय से कम पडती है। नरकायु की स्थिति मद कषाय से कम, तथा तीव्र कपाय से अधिक पडती है।

नाम कर्म जीव को शुभ-अशुभ देहादि धारण कराता है। यह अच्छा बुरा रूप, रग, अवयव, यश-अपयश सौभाग्य-दुर्भाग्य का निर्माता है। गोत्र कर्म से जीव को उच्चता-नीचता प्राप्त होती है और वह उच्च व नीच गोत्र भेद से है। स्व-निदा, पर-प्रशसा, अपने सद्गुणो का उत्थापन पर के असदगुणो का उद्भावन, दिव्य नम्रता, मद रहित पठन पाठन की प्रवृत्ति से उच्च गोत्र बधता है। इनसे विपरीत नीच गोत्र बधता है।

जिस कर्म के कारण आत्मा की लब्धि (शक्ति) मे अन्तराय पडे-वह अन्तराय कर्म है—(१) दानान्तराय (२) लाभातराय (३) भोगान्तराय (४) उपभोगान्तराय और (५) वीर्यान्तराय पाच प्रकार के अन्तराय कर्म है। आठ कर्मो मे पहले चार घातिया तथा अन्त के चार अघातिया कहे जाते है—घातिया नाम इसलिए हे कि वे आत्मा के मूलगुणो—ज्ञान, दर्शन, सम्यक्त्व, चारित्र और वीर्य का घात करते है। आत्मा की लडाई घाती कर्मो से ही है—ये नष्ट हो जाए तो केवल ज्ञान व केवल दर्शन प्रकट हो जाए और फिर शेप कर्म भी अन्त मे नष्ट हो जाए। जीव पुरुपार्थ करे और शुद्ध अध्यवसाय का बल वढाए तो पूर्व वधे पाप पुण्य कर्मो का कालक्षय तथा नये कर्मो का सवर होता है। वेदान्त का आवरण घातिया कर्म के समान है और विक्षेप अघातिया कर्म के समान है। वेदान्त आवरण और विक्षेप रूप अविद्या का कथन करता है।

(८) सयम—यम नियम का सम्यक् प्रकार से पालन ही सयम है। सयम चारित्र पाच प्रकार का हे—(१) सामायिक, (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहार-विशुद्धि (४) सूक्ष्म सापराय और (५) यथाख्यात। यह सयम ही चारित्र है। सयम इन पॉच भेदो के साथ असयम और देश-सयम (सयमासयम) मिल कर सात भेद सयम मार्गणा के होते है।

(१) सामायिक—का स्वरूप सूक्ष्म मे राग द्वेप का त्याग तथा क्षमा व समता भाव के अवलम्वन पूर्वक कपाय मुक्ति तथा आत्म ध्यान का अभ्यास हे। यह चारित्र का मूलभूत तथा प्राथमिक और अत्यत महत्वपूर्ण अग हे।

(२) छेदोपस्थापना—छेद कहते हे—त्रुटिया व दोप को, सामायिक चारित्र ग्रहण के बाद किसी प्रमाद से सकल्प विकल्प आदि विकार हो जाने से अनर्थक पाप रूप (सावद्य) व्यापार से हुए दोप या त्रुटि के छेद को पूरा करके फिर से सभल कर, प्रायश्चितादि करके दोप विमुक्ति करके अपने को आत्मा मे स्थिर करना छेदोपस्थापना है।

(३) परिहार–विशुद्धि—सामायिक क्रिया तथा चारित्र की अधिक—अधिक विशुद्धि को

करना, सावद्य योग तथा संकल्प विकल्प का त्याग होते जाना, आत्मिक निर्मलता का बढते जाना ही विशुद्धि है। विशिष्ट प्रकार से प्राणी घात का परिहार करते हुए दोषो का परिहार होता जाता है और विशुद्धि उत्पन्न होती है उसे परिहार विशुद्धि चारित्र कहते है।

(४) सूक्ष्म सापराय—सापराय लोभ कषाय है। आत्म परिणामो की निर्मलता बढते-बढते जब सूक्ष्म (नाम मात्र का) कषाय ही बाकी रह जाये वह दशा सूक्ष्म सापराय कही जाती है।

(५) यथाख्यान—यह चारित्र विशुद्धि का परम भाव है। इनमे जैसा निष्कम्प तथा शुद्ध एव कषाय रहित आत्मा का भाव स्वरूप इस सर्वज्ञ आम्नाय मे जैसा कहा गया है वैसा ही हो जाना यथाख्यात है। यथा का अर्थ है—जैसा अर्थात् वस्तु का जैसा शुद्ध स्वरूप है उसी का ख्यात होना प्रसिद्ध हो जाना, प्रकट हो जाना यथाख्यात है। यह यथाख्यात ही साध्य का स्वरूप है।

सयम का धारण कतई न हो तो वह असयम है। कुछ सयम तथा कुछ असयम हो ऐसी मिश्र अवस्था यानी एक देश सयम को सयमा-सयम कहा जाता है। गृहस्थ श्रावक इस सयमासयम की स्थिति मे होता है। श्रावक को आवश्यक है कि सावद्य (पाप) क्रिया से उपरति के लिए सामायिक अर्थात् आत्म ध्यान का अभ्यास करे। श्रावक इस प्रकार योग-विज्ञान का उपासक है, आरम्भी योगी है। अतः उसे सचेलक त्यागी या क्षुल्लक मुनि भी कहा जाता है। वह ही जिनमार्ग का मार्गी अर्थात् जैन भी कहलाने का अर्हता रखता है। जन्म मे कोई जैन या श्रावक नही होता। श्रावक की नैष्ठिक व व्रती—इस प्रकार दो श्रेणी है। नैष्ठिक – मात्र योग-मार्ग की निष्ठा यानी तात्विक निष्ठा रखने मे, मिथ्यात्व भाव की निवृत्ति से तथा परोक्ष सम्यक्त्व के कारण से भी जैन हुआ जाता है। व्रती श्रावक के (११) सोपान है—जिन्हे प्रतिमाये कहते है। सयम धारण की योग्यता की क्रमश वृद्धि के लिए उत्तरोत्तर (११) प्रतिमाये है। इसमे गृहस्थ की जीवन-प्रवृत्ति मे से निवृत्ति का योग होता है कि वह आत्म-स्वरूप के उद्घाटन के मार्ग पर क्रमिक रूप से अग्रसर होता चला जाए।

(८) दर्शन—चक्षु-अचक्षु-अवधि तथा केवल के स्वरूपो का ऊपर वर्णन आ चुका है।

(९) ज्ञान—के आठ भेदो का कथन ऊपर हो चुका है।

(१०) लेश्या— ये छ प्रकार की है—कृष्ण, कापोत, नील, पीत, पद्म, और शुक्ल वर्ण (रग) रूप है। कषाय सहित योग (आत्म प्रदेशो का परिस्पदन) होने—अर्थात् कषाय सहित मन, वचन, व काया की प्रवृत्ति होने से लेश्या का आत्मा पर वर्ण, रग निर्माण होता है।

लेश्या एक प्रकार का प्रलेप है—पेण्ट (Paint) है, अनुरजन है जो परिणामो के अनुसार उत्पन्न हो जाता है, जो आत्म प्रदेशो पर रागात्मक भावो के वर्ण के अनुसार चढता है। लेश्या से ही कर्मबध है। भावो और मनोवर्गणाओ को हम ऊपर बता आये है। लेश्या दो प्रकार की है शुभ और अशुभ। ये शुभ हो या अशुभ हो लेश्या मात्र ही आवरण करने वाली है। आत्मा स्वरूप निर्मलता मे लेश्या मुक्त, अवर्ण या शुद्ध होता है। लेश्या अशुभ व शुभ होने से पाप पुण्य रूप कही जाती है। जिस प्रकार कोई पुरुष

किसी पेड के फलों को जडमूल से उखाड कर, कोई स्कन्ध से काट कर, कोई गुच्छो को तोडकर, कोई फलो को चुन कर तथा कोई गिरे हुये फलो को बीन कर खाना चाहे—तो उसके भाव जैसे क्रमश उत्तरोत्तर विशुद्ध है उसी प्रकार कृष्णादि लेश्याओ के भाव भी क्रमश. उत्तरोत्तर विशुद्ध होते है। इस निरुपण से यह प्रकट होता है कि कषायो मे जैसे अनन्तानुबधी, अप्रत्याख्यानावरणीय, प्रत्याख्यानावरणीय और सज्वलन की जैसे क्रमश उत्तरोत्तर शुद्धि है, वैसे ही इन कृष्णादि लेश्याओ मे भी शद्धि का वृद्धि क्रम रहता है। सकषाय और लेश्या युक्त तथा अकषाय और लेश्यानिर्मुक्त दशाओ का भिन्न-भिन्न दो दृष्टिकोण से ये दो वर्णन है।

लेश्या विज्ञान से मानव को आत्मविशुद्धि का, अध्यवसाय विशुद्धि का ऐसा ज्ञान हस्तगत होता है कि जिससे यह बधन मुक्त हो सकता है तथा स्व व पर का कल्याण कर सकता है।

बौद्ध आगमो मे अभिजातियों के वर्णन लेश्या वर्णन के समान ही है और तुलनीय है। डा० मुनि नगराज का निष्कर्ष है कि उनका यह वर्णन जैनो से प्रभावित है।

(११) भव्यत्व—जो सम्यग्दर्शनादि भाव रूप से मोक्ष जाने की योग्यता वाले हैं, वे भव्य है। जिन्हे ऐसी योग्यता नही वे अभव्य है।

(१२) सम्यक्त्व—यथार्थ तत्त्वार्थ-श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते है। स्थूल रूप से कहा जा सकता है कि स्व वस्तु व पर वस्तु रूप आत्मा व अनात्मा की पहचान होकर आत्मा का सही श्रद्धान होना सम्यक्त्व है। श्रद्धान स्व आत्मा की रुचि व निष्ठा है। ये अपने यथार्थ स्वरूप के अस्तित्व भाव की प्रतीति है। अपने स्वरूप का ईमान या ईमान रहना ही सम्यक्त्व की पहचान है।

सम्यक्त्व से विपरीत मिथ्यात्व है—इससे यह विपरीत मान्यता होती है कि मै अन्य जीव को या अन्य जीव मुझे सुखी दुखी कर सकते है। मिथ्यात्व मे स्वरूप की विपरीत धारणा होती है।

सम्यक्त्व के छ भेद कहे है—वे (१) औपशमिक (२) क्षयोपशमिक (वेदक) (३) क्षायिक, (४) मिथ्या दृष्टि (५) सासादन और (६) मिश्र है। ऐसे प्रथम तीन भेद पक्ष तथा बाद के तीन भेद विपक्ष-सम्यक्त्व मार्गणा के ६ प्रकार है।

(१३) सज्ञी—सज्ञी तथा असज्ञी भेद से सज्ञी मार्गणा दो प्रकार है। सज्ञा (Sentience) कही जा सकती है।

(१४) आहार—तीन शरीर (औदारिक, वैक्रियक और आहारक) और ६ पर्याप्ति के योग से आहार वर्गणाओ के ग्रहण करने का नाम आहार है। आहारक और अनाहारक के भेद से आहार मार्गणा भी दो प्रकार है। मरने के बाद जीव विग्रह गति मे एक से तीन समय तक अनाहारक रहता है। केवल समुद्घात मे अनाहारक रहता है और सिद्ध भगवान अनाहारक है। अन्य अवस्थाओ मे जीव आहारक होता है। मूल शरीर को छोडकर कार्माण और तैजस् देह सहित आत्मा के प्रदेशो का शरीर से बाहर

निकलना समुद्घात है। कभी-कभी योगी के जीवात्मा को स्व-शरीर से बाहर प्राणोत्क्षेपन व प्राणो का उद्‌गमन होकर गगन विहार होता है। सात कर्मो की स्थिति अधिक और आयु की कम रहने पर उनमे समता के अर्थकेवली के आत्म प्रदेशो मे सकोच विस्तार होते है। इसमे आत्मप्रदेश लोक व्यापी होकर वापिस देह मे आकर शरीर प्रमाण हो जाते है। ससारस्थ जीवो की कुल पर्याय—अर्थात् कुल जीव समास इन चोदह मार्गणाओ के साथ व अन्तर्गत है। शुद्ध जाव पौद्‌गलिक पर्यायो से रहित मात्र शुद्ध पर्यायो वाला होता है। शुद्ध जीव के मात्र शुद्ध ज्ञान पर्याय अनन्त गुणो को लिये होती रहती हे।

चार अनुयोग द्वार

जैन शास्त्रो मे श्रुत ज्ञान विषय की वर्णन शैली चार विशिष्ट अनुयोगो मे विभाजित है—ये चार अनुयोग (१) प्रथमानुयोग (२) चरणानुयोग (३) करणानुयोग और (४) द्रव्यानुयोग है। जैन शास्त्रो का सार यह है कि वीतरागता होकर आत्म-ज्ञान हो जाए। वीतरागना और आत्मज्ञान का साहचर्य है।

(१) प्रथमानुयोग मे सरल कथाओ से पुण्य पाप के फलाफल का वर्णन है जिसमे सावद्य (पाप) क्रिया से उपरत होकर जीव अपनी परिणति को प्रशस्त यानी पुण्य रूप बनाये—यह जीवो को हिताहित मार्ग का ज्ञान कराकर कल्याण मार्ग मे प्रवृत्ति के लिए उत्साहित करता है। यही इस अनुयोग का मुख्य कार्य है।

(२) चरणानुयोग—इस अनुयोग मे सयम और त्याग की विशेपता से वर्णन है क्योकि जीवात्माओ के रागादि परिणाम वाह्य पदार्थो के अवलम्वन से होते है। वस्तु वध नही करती, पर जीवो के वस्तु अवलम्बन से ही अध्यवसाय होते है और अध्यवसाय से कर्म वध पडता है। अत रागादि भावो को छुडाने के लिए इस अनुयोग मे सब पदार्थ के त्याग का मुख्यता से उपदेश है। इस अनुयोग मे इतनी सूक्ष्मता से कहा गया है कि एक सूत मात्र परिग्रह रखने से भी गृहस्थावस्था हो जाती है। इस अनुयोग मे निग्रन्थ मुनि उत्तम है अर्जिका, ऐलक, क्षुल्लक तथा व्रती श्रावक मध्यम है और अव्रती—जो चौथे गुणस्थान वर्ती यानी सम्यग्दृष्टि है जघन्य है।

इस अनुयोग मे सत्य देव शास्त्र गुरु के श्रद्धान से सम्यग्दृष्टि होता हे। इसमे मात्र निग्रन्थ मुनि ही वदनीय हुए है तथा वीतराग सर्वज्ञ अर्हन्त परमेश्वर तीर्थ कर आप्त व देव हे— तथा अनेकात व स्याद्वाद चिन्ह से मुद्रित व एकान्त का कथन न करने वाला व परस्पर विरुद्ध वाते जिसमे न हो, वीतरागता का निरुपण जिसमे हो यानी सर्वज्ञोक्त वाणी का उसका आशय हो—वही शास्त्र हे। चरणा नुयोग मे भक्ति व उपासना की विशेपता है जो स्वरूपाचरण के लक्ष्य लिए हो।

(३) करणानुयोग—यह प्रधानतया सयोग सम्बन्ध को स्वीकार करके कर्म प्रकृति तथा तीन लोक की रचना का ज्ञान कराता है, कर्म प्रकृति को छोडकर आत्म-परिणाम को शुद्ध रखने का उपदेश देता है क्योकि कर्म प्रकृति पर पदार्थ है। कर्म प्रकृति जिस अध्यवसाय (परिणाम) से वधती है उस परिणाम को नही करना यही कर्म प्रकृति का त्याग है। कर्म जड है अत वह जीव को दु ख नही दे

सकता—आत्मा अपने ही रागादि नैमित्तिक परिणामो से दु.खी होता है। इन भावो और कर्म प्रकृतियो का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यथार्थ वस्तु स्वभाव मे कर्म जीव को दु ख नही देता, उसका दु ख देना जो कहा जाता है वह तो उपचार मात्र है। कर्म ग्रन्थो की अपेक्षा से मिथ्यात्व गुणस्थान से जीवात्मा सीधा चतुर्थ पचम और सप्तम गुणस्थानक परिणाम प्राप्त कर सकता है—यह कथन करणानुयोग से है पर चरणानुयोग मे निर्ग्रन्थ अवस्था न हो तब तक छठा गुण स्थान नही हो सकता। इस अनुयोग मे क्रिया की नही—परिणामो की विशेषता है।

४ **द्रव्यानुयोग**—सयोग को गौण करके जीवात्मा के शुद्ध द्रव्य की प्रधानता मे इसमे उपदेश है। इसमे आत्म निष्ठ दृष्टि है। आत्मा स्वय आप ही सुखी व दु खी होता है—अन्य कोई भी सुखी या दु खी नही करता। आत्मा स्वय आप ही अपना मित्र है और आप ही अपना शत्रु होता है। इस अनुयोग मे सवर व निर्जरा भी गौण है।

गुणो की दो ही अवस्था मानी है। चाहे शुद्ध परिणमन करे या अशुद्ध। एक वक्त मे एक ही अवस्था होती है। ज्ञान परिणमन शुद्ध भाव है—अज्ञान परिणमन अशुद्ध। जब तक चारित्र गुण मे विकारी परिणमन है आत्मा तब तक ससारी व रागी ही होता है—शुद्ध परिणमन पर ही आत्मा वीतराग शुद्ध व मुक्त होता है।

निर्जरा के भेद यहा नही है, वे करणानुयोग के भेद है। गुण स्थान मार्गणा आदि भी द्रव्यानुयोग मे नही है। इस अनुयोग मे आत्मा सदा शुद्ध मुक्त है—न बध है और न मोक्ष। अत उसका कोई मोक्ष नही है। सब मोक्षोपाय अभ्यास साधनादि चरणानुयोग के विषय है। परिणाम विशुद्धि रूप उपाय करणानुयोग के विषय है।

द्रव्यानुयोग मे पर-पदार्थ के त्याग का उपदेश नही है—यह तो दु.ख के कारण मिथ्यात्व रागादि परिणामो को छोडने का उपदेश देता है। पर पदार्थ को साधक बाधक समझना मिथ्यात्व है। साधक बाधक समझना अन्य अनुयोगो का कार्य है। अज्ञान का अर्थ है मोह सहित ज्ञानोपयोग और यही बध का कारण है। अर्थात् मोह और कषाय ही विकार और अशुद्धता के कारण है।

छद्मस्थ जीव का उपयोग पाच इन्द्रियो के अधीन है। जिस इन्द्रिय द्वारा जीवात्मा ज्ञान प्राप्त करता है वह उस समय उस इन्द्रिय-ज्ञानोपयोग रूप होता है। तब उस समय शेष सब इन्द्रियो का ज्ञान लब्धि रूप होता है। क्लोरोफार्म सु घाने पर इन्द्रिया काम नही कर सकती—तब आत्मा का इन्द्रिय-उपयोग-ज्ञान कार्य नही करता और उस समय पराधीन ज्ञान होने मे उस जीव का ज्ञान लब्धि रूप ज्ञान है। लब्धि को ही क्षयोपशम कहते है। क्षयोपशम-लब्धि होने पर भी बाह्य निमित्तो के मिले बिना पदार्थोपयोग ज्ञान नही हो सकता।

छद्मस्थ अवस्था मे आत्मा का पराधीन रहना होता है—उसे पाच इन्द्रिय और मन की सहायता पडती है। अत ज्ञान व दर्शन गुणो मे ही लब्धि और उपयोग रूप भेद पडता है—बाकी अनन्त गुणो मे उपयोग रूप भेद नही होता—क्योकि उनमे मन और इन्द्रियो की सहायता की आवश्यकता नही पडती। छद्मस्थ का ज्ञान आवश्यक नही हे कि प्रत्येक समय उपयोग रूप हो, परन्तु श्रद्धादि गुण प्रत्येक समय परिणमन शील है। वस्तुत केवल ज्ञान के अतिरिक्त सब ज्ञान पराधीन अर्थात् सापेक्ष ज्ञान है। अवधि और मन पर्यय को अल्प विषय सापेक्ष होने से अतीन्द्रिय देश प्रत्यक्ष कहा गया है, इनमे अन्य इन्द्रियो के अवलम्बन की अपेक्षा नही होती। छद्मस्थ जीव के ज्ञान मे आवरण है और इन्द्रियो की सहायता रहती है।

जीव को पर की अपेक्षा का भाव रखना ही मिथ्यात्व भाव है। दर्शन ज्ञान और चारित्र का यथार्थ निरुपण और रुचि होना एक बात है और इस रूप यथार्थ परिणति हो जाना और बात हे। आत्मा से भिन्न सब नोकर्म है—और नो कर्म को अच्छा बुरा मानना मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व कर्म के उदय होने पर जीव मिथ्यात्व रूप ही परिणमन करता हे—चाहे उस वक्त वह समवशरण मे भगवान की दिव्य ध्वनि सुन रहा हो।

यह धारणा असत्य है कि आत्मा तीन काल मे उपयोग के अतिरिक्त कुछ भी नही करता। ससार-अवस्था मे तो जीव अपने योग और उपयोग दोनो का ही कर्त्ता हे—उसे मन वचन काय के हीनाधिक यानी विषम स्पदन—विक्षोभ आदि होते ही है। योग मे जो क्रिया आत्मा की होती हे वह सकम्प क्रिया है और यह आत्मा मे ही होती है—यह क्रिया पर द्रव्य की क्रिया नही है इसे पर द्रव्य की क्रिया मानना मिथ्यात्व ही है। आत्मा की इस क्रिया का निरोध करना ही सवर है।

वस्तुत' जीव योग और उपयोग दोनो का ही स्वय कर्त्ता हे। आत्मा ससार अवस्था मे योग और उपयोग के अतिरिक्त कुछ नही कर सकता—यही श्रद्धेय बात है। मोक्ष अवस्था मे जीव के मात्र उपयोग ही रहता है—योग की तब अविद्यमानता मे उसके प्रदेश अकम्प रहते है और उपयोग युगपत् रहता है—ज्ञान दर्शन एक साथ रहते है।

उपादान नमित्ति और निमित्त नैमित्तिक के तट बधो के मध्य अध्यात्म सरिता

प्रत्येक द्रव्य अपने स्व भाव मे स्थित है—उसका मूल कर्तव्य उसी का हे किसी दूसरे पदार्थ का नही है क्योकि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ मे व्याप्त नही हो सकता—वह दूसरे पदार्थ मे परिणमन करने लगे तो पदार्थ का स्व स्वभाव ही नष्ट हो जाए। अत परिणमन मे कर्तृत्व उपादानपरक है तथा अन्य पदार्थ की तो सहायक सहकार मात्र उपस्थिति होती है। अब प्रश्न है कि क्या उपस्थिति मात्र से निमित्त कर्त्ता हो सकता है। वस्तु व्याख्या मे निमित्त को गौण और उपादान को मुख्यता से बतलाया जाता है

परन्तु उपादान की कर्तृत्व की मुख्यता की बात से मानव की अधम पर्याय यानी

भ्रष्ट आचरण की जिम्मेदारी की दृष्टि ओझल हो जाती है। वस्तुत चारित्र सकट के इस काल मे देश को पर्याय दृष्टि की भी द्रव्य दृष्टि के ही समान प्रमुखता की जरूरत हो गई है।

कर्तृत्व निमित्त मे भी होता है यह भी समझने की जरूरत है। बिना निमित्त उपादान से तो ऐसे जो कर्तृत्व होता है वह सदा समान-समान ही होता है। जगत् मे जितने विशेप या विषय परिवर्तन होते हे सबका कर्तृत्व निमित्त मे है उपादान मे नही। द्रव्य कर्म रूप निमित्त के बिना जो भी उपादान मे परिवर्तन होते है वे शुद्ध एक सरीखे होते है—उनमे विविधता नही आती। अशुद्धि, नानात्व का कारण निमित्त ही है।

आत्मा जब शुद्ध मुक्त हो जाता है तब उसमे जो ज्ञप्ति-परिवर्तन होते है सब समान-समान होते है, उनमे विषमता नही होती—क्योकि तब मुक्त जीव को कोई कर्मरूप निमित्त भी नहीं होते। ससारी जीव मे जो परिवर्तन होते है, उनमे विविधता या विषमता रहती है। क्योकि यहा पौद्गलिक कार्माण शरीर निमित्त हे—यदि कार्मण देह का निमित्त न रहे तो मन वचन काय का भी निमित्त न होगा। तब योग (परिस्पदन, विक्षोभ, सकम्पता) का भी अभाव होगा और इन निमित्तो के न रहने से परिणमन मुक्त जीवो के समान ही सम-सम ही होगा।

यह ठीक है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ रूप परिणमन नही करता, चेतन अचेतन रूप परिणमन नही करता—मिट्टी का परिणमन अचेतन मिट्टी रूप मे ही होता है। मिट्टी घट रूप बनती है—न कि कुम्हार। कुम्हार के हाथ से चाक घूमता है, मिट्टी पर आघात लगता हे जिससे वह इधर-उधर गति करती है और उस गति से घट बनता है। निमित्त का काम यही हे कि वह वस्तु से अलग रह कर—उसके निकट जाकर या दूर रहकर यथायोग्य गति प्रदान करे। गति के लिये वह आघात न करे तो न तो गति हो और न कार्य ही हो। इस प्रकार कार्य-कारण समझने के लिए जिस अन्वय व्यतिरेक व्याप्ति की जरूरत है वह निमित्त मे और कार्य मे पूर्ण है और इसीमे निमित्त मे कर्तृत्व सिद्ध होता है।

यदि निमित्त मे कर्तृत्व न हो तो ससार के प्राणियो मे विषमता भी न होगी। यहा विषमता इसीलिए हे कि किसी ने पहले पुण्य किया—किसी ने पाप किया। पुण्य तब ही कहलाता है जब कोई ससार को सुखी करता हे और पाप तभी कहलाता हे जब कोई ससार को दु खी करता हे। अगर निमित्त मे कर्तृत्व न होता तो ससार मे पुण्यात्मा और पापी भी न होते और सब प्राणियो मे विषमता भी न होती।

मानव मे जो अच्छी बुरी भावनाए होती हे वे भी निमित्त कारण के द्वारा होती हे—चाहे वे निमित्त (कारण) कर्म पुद्गल हो चाहे सासारिक अन्य घटनाए।

मिट्टी का जब घडा बनता है तो उसका कर्तृत्व मिट्टी मे ही नहीं कुम्हार मे भी है। घडे का छोटा बडा आकार बनाना, कच्चा पक्का बनाना, या अच्छा बुरा बनाना कुम्हार के हाथ मे हे—मिट्टी के हाथ मे नही हे।

किसी के घर मे डाकू आकर परिवार के सदस्य को गोली मार दे तो क्या आप यह कहेंगे कि डाकू तो निमित्त मात्र थे, उनकी तो उपस्थिति मात्र थी—हत्या की जिम्मेदारी, हत्या का कर्तृत्व डाकुओका नही था ? क्या उस वक्त यह कहा जायगा कि मरने वाले का ही उपादान कर्तव्य ऐसा ही था और हत्या मे हत्यारे डाकुओ का कोई कर्तृत्व नही था। आप वस्तुत यह भी नही कह सकते कि वह तो क्रमबद्ध पर्याय ही थी, होने ही वाली थी और होने वाली को बदला भी कैसे जा सकता था ? अत जिसे बदला नही जा सकता था तो उसकी जिम्मेदारी डाकुओ पर है क्या ? ऐसे मे तो डाकू नियति के ही मात्र औजार रह जाते है। इसमे उनका कर्तृत्व क्या ? ऐसे तर्को मे तर्काभास व शब्द छल ही ज्यादा है।

होने वाले का अर्थ तो हे जो भविष्य मे हो। भविष्य भी तब के निमित्तो पर ही निर्भर होगा। भविष्य आज का अग नही है। अत जो घटित होता है वह निमित्त के कर्तव्य के अनुसार ही घटित होता हे। भविष्य ही वर्तमान बनता हे और वर्तमान होने मे निमित्त ही कर्त्ता होता है। वर्तमान होने पर ही यह कहा जाता है कि ऐसा होने वाला था, अर्थात् निमित्त से ही कर्तृत्व इसी प्रकार कार्य रूप होने वाला होता हे। कार्य उपादान मे होता हे, पर कार्य की रूप रेखा—अच्छा बुरा आदि सब निमित्त रूप कर्त्ता पर ही आश्रित है। निमित्त को मात्र उदासीन कर्ता मानने से जगत् मे काम नही चलता।

जीवात्मा का आस्रव, व बध व निर्जरा मोक्ष सब न केवल स्वय आत्मा पर ही निर्भर है, इनमे निमित्तादि के कर्तृत्व का भी योग रहता हे। निमित्त और उपादान दोनो ही कार्य होने मे आवश्यक रहते है। इससे किसी को गौण या प्रधान (मुख्य) करके एकातिक रूप से नही चला जा सकता। शुद्ध जीव मे ही निमित्तो का न अवलम्बन रहता, न कर्तव्य रहता। निरालम्बन और निष्क्रियता लक्ष्य हे, साध्य है। शुद्धता की परिणति न होने तक आलम्बन और सक्रियता निमित्तो को, निमित्तो के कर्तृव्य को स्वीकार करने के अलावा ससारी जीवात्मा को कोई त्राण नही है। निमित्त का कतृव्य न मानने पर षट् द्रव्यो का कोई प्रयोजन नही रह जाता—जीव अजीव ज्ञेय तत्त्व, बध और आस्रव हेय तत्त्व और सवर निर्जरा और मोक्ष उपादेय तत्त्व मे न केवल स्वय जीवात्मा का ही कर्तव्य होता है उसमे निमित्त का भी कर्तव्य है और इसीलिये निमित्तो का अवलम्बन भी स्वीकृत हुआ है।

परमार्थ की प्राप्ति की प्रक्रिया के मध्य तो निमित्त का कर्तृत्व आत्मा की उपादान कर्तृत्व शक्ति के साथ स्वीकार करना ही होता है, और जब परमार्थ की प्राप्ति हो जाती हे तब निमित्त आवश्यक भी नही रहता, तब आत्मा की मात्र उपादान शक्ति ही रह जाती है और उपादान का ही कर्तृत्व होता रहता है।

योगाभ्यास मे इस प्रकार निमित्त और उपादान का समन्वय है, एकान्त पक्ष नही हे। श्रद्धा पक्ष मे उपादान का कर्तव्य होता है—चारित्र पक्ष मे निमित्त के कर्तृत्व की प्रधानता करके ही चलते है और यही कारण है कि आत्मा का पुरुषार्थ एक साथ श्रद्धा गुण की तरह फलित नही हो जाता। क्रम

२ ही कर्तृत्व की अधिकता रहती है और निमित्त की इस बाधा को क्रमश ही हटाया जा सकता है। आलम्बन से निरालम्बन क्रमश ही हुआ जाता है। आरम्भ मे निरालम्बन होता ही नही क्योकि आरम्भ मे जीव शुद्ध है ही नही,—अशुद्ध होने का अर्थ ही यह है कि इसमे कर्म विपाक के कारण सुख दु ख का अनुभव है और कर्म विपाक के ही कारण वह विकारी रूप से—अज्ञान रूप से परिणमन भी कर रहा है।

सयोग का ज्ञान करणानुयोग मे होता है, द्रव्यानुयोग सयोग सवध स्वीकार नही करता। द्रव्यानुयोग तो मात्र परिणाम और परिणामी सम्बन्ध (कर्ता-कर्म) सम्बन्ध स्वीकार करके कथन करता है। निमित्त और नैमित्तिक सम्बन्ध करणानुयोग बताता है। एक अपेक्षा से निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध साबित होता है। इसी का खडन द्रव्यानुयोग से, कर्ता कर्म सम्बन्ध से कोई करता है तो ऐसे खडन करने वाले को वस्तुत अनुयोगद्वारो से शास्त्र की कथन शैली का ज्ञान नही है—क्योकि अलग-अलग अपेक्षा से अलग-अलय कथन है। द्रव्यानुयोग उपादान का अर्थात् कर्ता-कर्म, परिणाम-परिणामी सम्बन्ध का ही प्रतिपादन करता है, जबकि करणानुयोग निमित्त अर्थात् निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध का ही प्रतिपादन करता है। अतः कौन अनुयोग किस प्रकार कथन करता है द्रव्य-चितक को इसका भले प्रकार ज्ञान होना चाहिए। एकागिक ज्ञान प्रमाण ज्ञान नही होता।

सामान्य और विशेष का ज्ञान करना ही प्रमाण ज्ञान है। द्रव्य दृष्टि मात्र सत्—सामान्य ज्ञायक को ही ग्रहण करती है, अखड द्रव्य को ही लेती है। कोई द्रव्य दृष्टि से कहे कि आत्मा ज्ञायक स्वभावी है और प्रति समय वीतराग दशा की ओर जा रहा है तो यह यथार्थ द्रव्य दृष्टि का ज्ञान नही है। आत्मा प्रति समय वीतराम दशा को जा रहा है यह पर्याय दृष्टि का कथन है—यह पर्याय दृष्टि का ही ज्ञान कराती है। इस प्रकार नय की—द्रव्य व पर्याय दृष्टिया कथन की ही अलग अलग शैली है। वस्तुत. द्रव्य तो जैसा है वैसा ही है। निमित्त से कथन करना पर्याय या व्यवहार से कथन करना है। ऐसे ये कथन शैलिया है। द्रव्य है तो व्यवहार है, पर्याय है—और पर्याय है तो द्रव्य है। पर्याय न कहो तो मोक्ष मार्ग मे शुद्धि का प्रकरण ही नही रहता।

वाणी पुद्गल की अवस्था है, जीव उसका उपादान कर्ता नही है। इस अपेक्षा से इतना मात्र ही कहा जाये तो दो इन्द्रिय से पचेन्द्रिय जीव तक की सब की वाणी सहज खिरती माननी होगी। वाणी रूप पुद्गल तो जड की अवस्था है—उसको तो ज्ञान नही तब सत्य, हित, मित वचन बोलना, सत्य महाव्रत अगीकार करना, भाषा समिति का पालन करना, वचन गुप्ति धारण करना ये उपदेश किसके लिये है? जड तो अधा है—उसे उपदेश देने से क्या लाभ? अब यदि कोई छद्मस्थ जीव कहे कि जो वाणी आने वाली है वही आयेगी तो यह तो मात्र छल व दभ है। बोलना तो इच्छा पूर्वक ही होता है पर कहना कि जो वाणी आयेगी वही आयेगी—यह तो मात्र मायाचारी है।

छद्मस्थ जीवो की वाणी नियम से स्वाधीन अवस्था मे बुद्धि पूर्वक खिरती है—इच्छा बिना वाणी खिरती है तो वह किसी पराधीन व विवश दशा मे ही खिरती है—यदि वाणी के साथ मे आत्मा

का कोई सम्बन्ध नही है तो पुरुष की प्रमाणता से वचन की प्रमाणता क्यो कही ? वाणी के और आत्मा के योग-उपयोग कर्ता-कर्मपणे का अभाव हे तो भी निमित्त नैमित्तिक भाव से दोनो ही का कार्य देखा जाता है। इसलिये छद्मस्थ की वाणी सहज नही बुद्धि पूर्वक खिरती है।

इसी प्रकार वचन और काया की भी चेष्टा जीवात्मा के बुद्धि पूर्वक होती है—सहज अनिच्छुक पणे नही होती। मन वचन काय की क्रिया बुद्धि पूर्वक होने से ही इनकी क्रिया का सवर उपदिष्ट हे और सभव भी है। मन की परिणति के ही कारण स्वय मन व वचन व काया की चेष्टा या सकम्पता या विक्षोभ हलन चलन बध का कारण है। केवलि भगवत् को मन की परिणति नही रहती—अत वचन व काया का बिहार बध का कारण नही है।

आत्मा का कर्म के साथ मात्र एक क्षेत्रावगाही सम्बन्ध ही नही है—क्योकि एक क्षेत्रावगाही तो सब द्रव्य ही रहते है—जिस आकाश क्षेत्र मे आत्मा है वही धर्म अधर्म आदि सब द्रव्य तथा अनन्त पुद्गल वर्गणा और अनत जीव भी रहते है। अत कर्म के साथ जो सयोग सम्बन्ध हे, उसे उभय बध कहा गया हे। "स्पर्श के साथ पुद्गल का बध है, रागादि के साथ जीव बध हे, और पुद्गल जीव का अन्योन्य अवगाह उभय बध कहा जाता है।' प्रवचन सार ज्ञेयाधिकार—(गा०—177)

जीव के अशुद्ध होने मे कर्म का सयोग कारण है और इस सयोग के कारण का अभाव हो जाने पर जीव शुद्ध होता है और फिर कभी अशुद्ध होता नही। शुद्ध अवस्था होने के बाद जीव क्रियावान् नही होता। ससारी आत्मा नियम से क्रियावान् ही रहता हे—ऐसा नही कि कभी-कभी क्रियावान् हो, वह तो अपनी अशुद्ध अवस्था मे क्रियावान् ही रहता है। जीव भी कर्म के सयोग से हलन चलन रूप होता हुआ नवीन कम, नोकर्म रूप पुद्गल से मिलता हे और कभी पुराने कर्म नोकर्म से बिछुडता है—इस कारण उत्पाद व्यय ध्रौव्य सहित क्रिया वाला है। (प्रव० ज्ञेयाधिकार गाथा ३७ की टीका मे अमृत-चन्द्राचार्य)

आत्मा की शुद्ध और अशुद्ध दो ही अवस्था होने से एक काल मे एक ही अवस्था होती हे और जब तक आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध हे तब तक क्रियावती शक्ति नियम से अशुद्ध ही परिणमन करती है। ससार अवस्था का परिणमन कभी पूर्ण शुद्ध कभी पूर्ण अशुद्ध होता हे—यह मान्यता गलत है। आत्मा का रागादिक परिणाम यानी भाव कर्म के साथ निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध हे। आत्मा के रागादिक परिणामो का निमित्त (कारण) पाकर कार्माणवर्गणा ज्ञानावरणादि अष्ट कर्म रूप परिणमन को प्राप्त होती है। नोकर्म के साथ मे आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध नही हे—परन्तु निमित्त उपादान सम्बन्ध है। अर्थात् निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कर्म के उदय मे ही होता है और निमित्त उपादान सम्बन्ध कर्म की बुद्धि पूर्वक उदीरणा मे होता हे। निमित्त उपादान सम्बन्ध मे उपादान उपादान ही रहता हे, निमित्त निमित्त ही रहता है।

निमित्त नैमित्तिक मे दोनो उपादान भी है और दोनो निमित्त भी है। यानी दोनो निमित्त भी है और नैमित्तिक भी है। जीव की ओर से कथन मे वही उपादान है और अन्य निमित्त। जिस पदार्थ की ओर से कथन हो वही नैमित्तिक पदार्थ और अन्य निमित्त पदार्थ है। इस लिए इसमे एक पदार्थ अन्य पदार्थ का निमित्त है। कर्म का उदय आत्मा के रागादिक के लिए निमित्त है और आत्मा का रागादिक परिणाम कर्म के उदयमे नैमित्तिक है और वही परिणाम कर्म की नवीन बध अवस्था का निमित्त है। ऐसी अवस्था निमित्त उपादान सम्बन्ध मे नही होती।

आत्मा और कर्म के उदय को छोड कर ससार के अन्य सब पदार्थ-अनन्त जीव, अनन्त पुद्गल वर्गणा धर्म आदि द्रव्य, देव, गुरु, शास्त्र सब नोकर्म है। नोकर्म दो प्रकार के है। बद्ध नोकर्म तो शरीरादि है और बाकी के पदार्थ अबद्ध नोकर्म है। बद्ध नोकर्म की क्रियावती शक्ति के साथ आत्मा का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है—अबद्ध नोकर्म के साथ निमित्त उपादान सम्बन्ध है।

निमित्त प्रेरक और उदासीन दो प्रकार के हो सकते है। निमित्त को जब कर्ता कहा जाता है तो उसका अर्थ यह नही कि वह अन्य पदार्थ मे प्रवेश करके उसके स्वचतुष्टय मे जाकर कुछ करता हो। वस्तु निमित्त और उपादान दोनो मे ही अपनी-अपनी योग्यता से सहज सामान्य अवस्था एक समान होती है। जब ऐसी अवस्था होती है तब वहा मौजूद निमित्त प्रेरक निमित्त कहा जाता है ऐसे निमित्त की मौजूदगी नियम से ही उपादान की कमजोरी को दिखाती है। प्रेरक निमित्त के विवेचन मे तीन दृष्टात इस प्रकार दिये जाते है।

(१) जब कर्म का उदय हो तब आत्मा के गुण विकास नही कर सकते। यह विकसित न कर सकना स्वय जीव के अपने गुणो की हीन योग्यता के ही कारण है। यानी जितना ही आत्मा के गुणो मे विकार आया होगा, उतना ही द्रव्य कर्म नियम से निमित्त रूप से होगा—यथा जितनी डिग्री बुखार देह मे हो, उतनी ही डिग्री थर्मामीटर से आयेगा।

(२) ज्ञानावरणीय कर्म के अशो मे जितने भेद पटल या भेद पटलो के अश क्षयोपशम हो जाते है उतना ही ज्ञान प्रकट रूप मे आता है।

(३) जितने अंश मे रागादिक भाव होते है उतने ही अश मे कार्माण वर्गणा नियम से कर्म रूप परिणमन कर जाएगी। यद्यपि आत्मा का कोई अश न कर्म मे चला जाता, न कर्म का कोई अश आत्मा मे चला जाता तो भी आत्मा का रागादिक परिणाम कार्माण वर्गणा के लिए कर्म होने मे प्रेरक निमित्त है। यथा स्फटिक मणि आप शुद्ध है पर वह दूसरे लाल पीले द्रव्य के सन्निकर्ष होने के निमित्त से लाल पीले रग रूप परिणमती है। इसी प्रकार ज्ञानी आप शुद्ध है—वह स्वय रागादि भाव से नही परिणमता है पर अन्य जड कर्मो मे रागादिकत्व से रागादि रूप हो जाता है। यह ही विभाव द्रव्य कर्म का निमित्त है। कर्म के उदय का नाम ही प्रेरक निमित्त है। यह प्रेरक निमित्त रूप कर्म प्रति समय उदय मे होता रहता है। जो कर्म सत्ता मे पडा है वह प्रेरक निमित्त नही है, परन्तु कर्म का उदय ही प्रेरक

निमित्त है। अत जब तक आत्मा अनात्म कर्मप्रत्ययो के निमित्त से बनती और बिगडती है तब तक ही वह आत्मा अज्ञानी मिथ्या दृष्टि असयत है। जब आत्मा अनन्त कार्माण विपाक (फल) को छोड देता है, उधर से दृष्टि हटा लेता है उस समय बध से रहित हुआ ज्ञाता दृष्टा सयमी होता है—(समयसार—सर्व विशुद्ध अधिकार गा० ३१४–३१५)

आ० श्री पूज्यपाद ने इष्टोपदेश श्लो० ३५ मे कहा हे कि आत्मा और कर्म के उदय के अतिरिक्त अन्य सब पदार्थ—नोकर्म धर्मास्तिकायवत् उदासीन निमित्त है। यानी ससार मे कोई भी नोकर्म पदार्थ आत्मा के लिये न इष्ट है न अनिष्ट हे, परन्तु मोहादिक के वश होकर आत्मा स्वय उससे रुचि करके बुद्धि पूर्वक इष्टानिष्ट कल्पना करता है। ऐसी रुचि या श्रद्धा ही मिथ्यात्व है और यही आत्मा का अपराध है। नोकर्म जबरदस्ती नही करता कि आत्मा उसे देख कर इष्टानिष्ट कल्पना करे। पर होता यह हे कि जीव एक तरफ तो यह मान्यता करे कि परद्रव्य मेरा कदाचित् भी नही हे पर फिर भी वह उसे भोगता हे, जो अपना नही उसे भोगता हे। अत ही यह जीव पर द्रव्य के अनधिकार भोग से तथा भोगने की इच्छा करके ही भोग सकने से बुद्धि पूर्वक अपराधी है और यही ससार का बधक है। जीवात्मा से यह अपराध छठे गुणस्थान तक होते है—यानी ऐसे समस्त अध्य-वसाय या परिणाम छठे गुणस्थान तक होते है। ऐसे परिणाम की निवृत्ति होने पर आगे गुण स्थान श्रेणी मे आरोहण होता है। ऐसे यह स्पष्ट किया गया है कि कोई भी नोकर्म बध के कारण नही हे परन्तु आत्मा ही अपने परिणाम बिगाड कर अपने अपराध द्वारा बध का स्वय हेतु या कारण होता है।

अपराध के चार हेतु

आत्मा बुद्धि पूर्वक ऐसा अपराध चार हेतुओ से करता है। ये चार हेतु चार सज्ञाए (१) आहार (२) भय (३) परिग्रह (४) मैथुन है। इन सज्ञाओ से सम्पूर्ण पाप रूप अपराध हो जाता है। इन सब मे जीवात्मा की स्वय की इच्छा परिणमती हे और ऐसी इच्छा करने मे वह अपने स्वभाव से जो मात्र देखना व जानना है अर्थात् ज्ञाता दृष्ठा मात्र हे, उससे च्युत हो जाता हे। नाना प्रकार के भयो के सम्मुख जीव स्वय रक्षा या रक्षक का या अशरण आदि के बुद्धि पूर्वक ही भाव अपने मे उत्पन्न करता है और ज्ञायक स्वभाव से भ्रष्ट होता है। ऐसे ही दस प्रकार के परिग्रहो को देखकर उनमे इष्टानिष्ट कल्पना करता हे और वासना उत्पन्न करता हे, राग द्वेष करता हे—रति अरति भय जुगुप्सा हास्य शोकादि रूप स्वय परिणमन करके नोकर्म को निमित्त बना लेता हे। यद्यपि कोई नोकर्म इस प्रकार रति अरति हास्य जुगुप्सा आदि रूप नही है—पर वह नोकर्म को ऐसा मान लेता है और ऐसे अज्ञान से नोकर्म को निमित्त बना लेता है। जब तक जीवात्मा ऐसा निमित्त बनाता रहेगा, तब तक उसे ससार का अभाव नही हो सकता। ऐसे ही मैथुन सज्ञा मे स्त्री व पुरुषो मे, पुरुष और स्त्री के रूप देखकर दोनो को परस्पर रमण का भाव होता है। यह भी जीव का बुद्धि पूर्वक अपराध है। वह सुन्दर असुन्दर का विकल्प करके नोकर्म को कर्म बन्ध का निमित्त बनाता हे। तीव्र मोह के ही उदय

से ये चार संज्ञाये होती हे और तीव्र कषाए के उदय से ही जीवात्मा पर भोग प्रवृत्ति से कृष्ण नील कापोत लेश्याओ का आलेप हो जाता है ।

आ० कु दकु द ने कहा—

सण्णाओ य तिलेस्सा इन्दियवसदा य अट्टरूद्दाणि ।

णाण च दुप्पउत्तं मोहो पावप्पदा होंति ।।

चार सज्ञा, तीन लेश्या, इन्द्रियो के आधीन होना, आर्त व रौद्र ध्यान, सत् क्रिया के अतिरिक्त असत्क्रिया मे ज्ञान लगाना दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म के समस्त भाव—ये सब पाप रूप आस्रव के कारण है ।

प्रवचन सार मे ज्ञानाधिकार (गा० ८१–८२) मे कहा है—जिस आत्मा ने मोह को दूर कर दिया वह यथार्थ स्वरूप प्राप्त करता है तथा जिसने राग-द्वेष रूप प्रमाद भाव त्याग दिया वह जीवात्मा निर्मल निज स्वरूप को प्राप्त करता है । इसी प्रक्रिया से जिन्होने कर्मो के अश नष्ट किये है ऐसे सब भगवत तीर्थ कर भी इसी प्रकार उपदेश करके मोक्ष को प्राप्त हुए है ।

निश्चय और व्यवहार के तट बधो के मध्य जैन आचार्यो ने अध्यात्म सरिता की पावन निर्मल ज्ञानाम्बुराशि को प्रवाहित किया है ।

स्वातन्त्र्य दृष्टि मे आत्मा

जीव स्वातन्त्र्य दृष्टि मे स्व सहायी हे, पराधीन नही है । जब तक जीव निमित्त का आश्रयी है, इसी ससार मे ही भ्रमण शील रहता है । निमित्त जब उठ जाता है तो व्यवहार व ससार भी समाप्त हो जाता हे । तव जीवात्मा भिन्न ही हो जाता है । इस योग विज्ञान का यही उपदेश हे कि निमित्त को जान तो लो परन्तु कुछ स्थितियो मे लाभकारी मान कर भी उनमे रुके न रहो । निमित्त का साथ एक विवशता है—अत उससे छूटना ही होगा । उसको लाभकारी मानते ही रहोगे तब तक निमित्त कभी छूटेगा नही, निमित्त से अलग होना होगा नही । निमित्त (व्यवहार) का ज्ञान तो अवश्य होना चाहिये, वह ज्ञेय मात्र ही रहे—उसमे इष्टानिष्ट बुद्धि न हो, स्वय निमित्त रूप नही होना चाहिए । जब जीव किसी अन्य द्रव्य का निमित्त बनना चाहे तो स्वाश्रयी दृष्टि की हानि ही है । जल का प्रवाह जहाज के चलने मे निमित्त है, पर वह जहाज के अन्तर (अन्दर) वेहद मे चला जाए तो जहाज डूब जाता है ।

जीव की दृष्टि दो ही रूप हो सकती है । जब स्व मे दृष्टि हो व स्व का आश्रय हो तो

(पंचास्तिकाय—140)

सम्यक् दृष्टि है, परन्तु जब "पर" के ऊपर दृष्टि हो और स्वेच्छा से "पर" का आश्रयी बने तो वह सम्यक्-दृष्टि से विपरीत ही है। प्रथम दृष्टि पुरुषार्थी बनाती है, तो दूसरी विकल्प का कर्त्ता एव पराधीन। ज्ञानी को विकल्प होता है मगर वह उस विकल्प को जान लेता है, वह उसका कर्त्ता नही बनता। उसमे एकत्व नही करता। ऐसे ही ज्ञानी का निमित्त रहे तो रहे, मगर वह निमित्त का (निमित्त मे अह-बुद्धि करके) कर्त्ता नही बनेगा। यदि ज्ञानी विकल्पो एव निमित्तो मे अह बुद्धि करके उनका कर्त्ता बने एकत्व करे तो उमे परस्वरूपपणा होगा, विकारपणा होगा। ज्ञानी को भी योग और उपयोग रहता ही है—और निमित्त भी रहते हैं—पर वह इनमे अपना एकत्व न करके तटस्थ, दृष्टा व ज्ञायक भाव ही रखने की चेष्टा मे रहता है। ऐसे आत्मा को दृष्टा भाव के अभ्यास मे पर द्रव्य के निराश्रय, स्व द्रव्य का आश्रय हो कर स्व द्रव्य के ज्ञान की प्राप्ति, निर्मल स्वरूप की प्राप्ति होती है।

द्रव्य का चिन्तन और योग विज्ञान की प्रक्रियाए रूप व्यवहार, अनादि पर-द्रव्याश्रयी जीव की क्रमश' अशुभ निमित्तो वा भाव कर्मो के कर्तापन—अह-पने को अत विकारी पने को छुडा कर स्वाश्रयी स्व वस्तु के शुद्ध अनुभवन मे ले जाता है।

व्यवहार को आ० श्री अमृतचन्द्र ने कलश गाथा ५ मे ज्ञानी का भी हस्तावलम्ब कहा है। हस्तावलम्ब का अर्थ है जैसे कोई नीचे पडा हो तो हाथ पकड कर ऊपर लेते है। गुण-गुणी रूप भेद कथन ज्ञान उपजने का अग है और इससे पुद्गल अचेतन द्रव्य से अपनी अभिन्न पने की प्रतीति उपजती है। इसलिये जब तक अनुभव नही होता है तब तक गुण गुणी भेद रूप कथन ज्ञान का अग है अज्ञानी जीव के लिये, जो द्रव्य-गुण-पर्याय स्वरूप जानने का अभिलाषी है और भेद रूप कथन का जिज्ञासु है। परन्तु ज्ञानी तो शुद्ध जीव वस्तु को अन्तर-विलोकन करके प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं—अत वे तो द्रव्यकर्म-भाव-कर्म और नोकर्म से विरहित उत्कृष्ट अखड वस्तु के ज्ञान अनुभव को प्राप्त रहते हैं। उन्हे व्यवहार सहज ही छूटा रहता है।

उभय नय विरोध ध्वसिनि स्यात् पदांके, जिन वचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा.।
सपदि समयसारं ते पर ज्योतिरुच्चै—रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव ॥

जो शुद्ध जीव वस्तु की प्रत्यक्ष अवलोकन करने वाले आसन्न भव्य अतिशय उच्च परम ज्योति-ज्ञानज्योति रूप अनादि सिद्ध व अनय पक्ष से अखडित शुद्ध स्वरूप को ही अनुभव करते है, वे भगवान जिनेश्वर के दिव्य प्रवचन रूप वाणी मे ही—जो दोनो नयो द्रव्यार्थिक नय और व्यवहार नय को, द्रव्यानुयोग और करणानुयोग व चरणानुयोग द्वारो के परस्पर विरोध को विध्वस करने

(कलश० गा०—5)

वाली है, रमण करते हैं। ये स्याद्वाद और अनेकांत रूप से निर्भेद वस्तु मात्र, अनन्त गुण व धर्मों के एक अखण्ड शब्द वस्तु स्वरूप मे जो सब प्रकार के नय—विकल्पो का समाहार करके निर्विकल्प रूप होकर मोह का अन्त करते हुए रमण करते हे।

आ० अमृतचन्द्र ने कलश गाथा १२४ मे खुलासा किया है कि शुद्ध स्वरूप के अनुभव काल में जीव काष्ठ के समान जड नही होता, वह तव सामान्यतया विकल्पी जीव के समान विकल्पी भी नहीं होता, भाव श्रुत ज्ञान के द्वारा कुछ निर्विकल्प वस्तु मात्र को अवलम्बता है, अवश्य अवलम्बता हे। ज्ञान ज्ञेय को जानता है और जानना विकार का कारण नही है। विभाव परिणति से ही विकार है और अपनी शुद्ध परिणति से निर्विकार हे। ज्ञान धारा स्वभाव धारा है—वह मोक्ष धारा रूप ही है। ज्ञान आत्मा अनन्त अपार क्षितिज है, जिसमे अनन्त ज्ञान सूर्यप्रकाश निरन्तर उदित रहता हे।

नय दृष्टियां: वस्तु नयातीत व निर्विकल्प

सस्कृत व्याकरण मे नय, नीति आदि शब्द एक ही मूल धातु से नि सृत है और उसका अर्थ है ले जाना। दृष्टि करना नेत्र इन्द्रिय का कार्य हे—वह दृष्टि जिधर जाती हे उपयोग को अपने साथ ले जाती है और हमे पदार्थ का दर्शन होता हे। एक एक दृष्टि एक एक नय है। पदार्थ को हम अनेक दृष्टियो से—अर्थात् अनेक नयो से देख सकते है। पदार्थ का वर्णन भी इसी प्रकार अनेक दृष्टियो या नयो से होता है—इस अर्थ मे नय नाम शैली का है।

जैन आचार्यो ने कथन-शैली को विकसित करके सप्त भगी न्याय की रचना की है और कथनशैली को स्यादवाद कहा गया है। सत्य का दर्शन अनेक नयो व दृष्टियो से होता हे तथा उसका कथन भी अनेक नयो व दृष्टियो से किया जा सकता है—क्योकि वस्तु का स्वरूप अनेक धर्मात्मक हे। "वत्थु सहावो धम्मो"—ऐसा जैन तीर्थकरो का समीचीन सनातन धर्म का उद्घोष हे। अत धर्म का व्याख्यान वा आत्मावस्तु का भी व्याख्यान नय भेद से किया जाता रहा है।

ये नय भेद द्रव्य, गुण, पर्याय रूप भी है तथा निमित्त उपादान, व्यवहार निश्चय रूप भी। तीन मुख्य नय है—"व्यवहार, अशुद्ध निश्चय, तथा शुद्ध निश्चय। मात्र पर्याय का ग्रहण व्यवहार नय है। व्यवहाराभास नय वाले को मिथ्या दृष्टि कहा गया है—इसी प्रकार मात्र द्रव्य का कथन, निश्चय का ही कथन भी मिथ्या दृष्टि है—क्योकि यह भी एकान्त दृष्टि है जो मिथ्या दृष्टि है। आत्मा या वस्तु द्रव्य तथा पर्याय का एकत्व स्वरूप हे—ऐसा निरुपण ही शुद्ध निश्चय दृष्टि है।

व्यवहार (अभिव्यक्ति-पर्याय) तथा निश्चय (नित्य-अपरिणाम) वस्तु मे अभिन्न है—अलग-अलग नही, कथन मे ही अलग-अलग कहे जाते है। अत' इनमे किसी एक को प्रधान या गौण मान लेना यथार्थ दृष्टि नही है। ये दोनो युगल अभिन्न है—परस्पर विवाहित है—इनमे प्रथम कौन या प्रधान कौन कैसे कहा जा सकता हे। वर वधु विवाहित होते हैं तो क्या यह कहा जा सकता हे कि इनमे से पहले कौन विवाह को प्राप्त हुआ हे ? निश्चय व व्यवहार अथवा निमित्त नैमित्तिक या

उपादान में कौन प्रमुख है, यह विचार करना भी समीचीन नही है। नय भेद दोनो ही है—और नय भेद इस लिए है कि इन नयो द्वारा अर्हंतपरमेश्वर व तीर्थंकर भगवन्तो ने मानव को उसके स्वरूप को पहचानने तथा प्राप्त करने की दृष्टिया प्रस्तुत की है।

नय भेदो मे—व्यवहार को स्टील का चम्मच, अशुद्ध निश्चय नय को चादी का चम्मच तथा शुद्ध नय को स्वर्ण का चम्मच कहा जा सकता है पर जब इन चम्मचो से खीर का भोजन किया जाए तो क्या खीर के आस्वादन मे भिन्नता होती है ? जब मानव साधन अभ्यास द्वारा शुद्ध निर्मल आत्म रस को प्राप्त करता है तो नय रूप चम्मच सब मुख से बाहर ही रह जाते है। उस निर्विकल्प आनन्दानुभूति के साथ चम्मच रूप नय रहते ही नही है। निर्विकल्प का अर्थ ही यह होता है कि उसमे किसी निमित्त के आश्रय की बात तो दूर, निमित्त की सकल्पना तक नही होती। जैन साधना का अत मूल स्वर निराश्रित स्व पुरुषार्थ का है तथा लक्ष्य परम विशुद्ध वीतराग स्व आत्म-प्रभुका परम प्रकाश।

४. अन्तर्शोधन के विशुद्धि मार्ग में भावों के मोड़—गुण संक्रांतियाँ

- उपाय और उसके पर्याय । उपाय मे सम्यक् दर्शन की प्रमुखता ।
- कारण और करण ।
- उपशम सम्यक्त्व ।
- लब्धियां : पांच भेद ।
- अन्त करण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण के विवेचन
- अन्तर्शोधन के १४ मोड । (गुण स्थान या गुण-सक्रान्तिया)
- १—मिथ्या दृष्टि　२—सासादन　३—सम्यक् मिथ्यात्व
  ४—अविरत सम्यक्त्व　५—देश-विरत सम्यक्त्व　६—प्रमत्त विरत सम्यक्त्व
  ७—अप्रमत्त विरत　८—अपूर्वकरण　९—अनिवृत्ति करण
  १०—सूक्ष्म सापराय　११—उपशात मोह (कषाय)　१२—क्षीण मोह (कषाय)
  १३—सयोगि केवलि　१४—अयोगि केवलि ।
- कर्म बन्ध की अवस्थाए—
  (१) बध　(२) सत्व　(३) उत्कर्षण
  (४) अपकर्षण　(५) सक्रमण　(६) उदय
  (७) उदीरणा　(८) उपशम　(९) निधत्ति
  (१०) निकाचना ।
- निकाचित और अनिकाचित कर्मबन्ध ।
- कर्म बध के प्रकार—प्रकृति-बध, प्रदेश-बध, स्थिति-बध और अनुभाग-बध ।
- सिद्ध आत्मा . मोक्ष स्थिति ।
- त्रयात्मक आत्मा और सम्यक् आस्था का महत्व ।

उपाय और उसके पर्याय उपाय में दर्शन की प्रमुखता

उपाय, साधन हेतु, कारण, एव मार्ग–ये सब एकार्थक है। मोक्ष का मार्ग जीव को अनादि काल से दुर्लभ रहा हे, वरना प्रत्येक जीव ही शुद्धात्मा परिणत होकर सिद्ध हो गया होता। जैन-दर्शन सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की एकता को मोक्षोपाय कहता हे। उपायो के विषय मे नाना प्रकार के विसवादो से ही नाना सम्प्रदायो का भी उद्भव हुआ हे। जैन दृष्टि से मोक्षोपाय मे सम्यक्-दर्शन की प्राथमिकता है।

कारण और करण

कारण और कार्य का क्या परस्पर सम्बन्ध हे ? क्या मोक्ष का उपाय काल लब्धि आने पर या भवितव्यतानुसार या मोहादिक के उपशमादिक होने पर या पुरुषार्थ पर बनता है ? ऐसा प्रश्न उठा कर आचार्यकल्प श्री टोडरमल जी ने समाधान किया हे कि "एक कार्य होने मे अनेक कारण मिलते हैं–सो मोक्ष का उपाय बनता है वहाँ तो पूर्वोक्त तीनो ही कारण मिलते है, और नही बनता वहाँ तीनो ही कारण नही मिलते। पूर्वोक्त तीन कारण कहे उनमे काल लब्धि या होनहार तो कोई वस्तु नही हे। जिस काल मे कार्य बनता हे—वही काल लब्धि और जो कार्य हुआ वही होनहार, तथा जो कर्म के उपशमादिक है वे पुद्गल की शक्ति है–उनका आत्मा कर्ताहर्ता नही है। पुरुषार्थ से उद्यम करते है, सो आत्मा का कार्य हे। इसलिए आत्मा को पुरुषार्थ से उद्यम करने का उपदेश देते हैं।"

यहाँ कारण और करण–इन दो सज्ञाओ का भी भेद विचारणीय है। जिसके होने पर कार्य हो जाए–अथवा नही भी होवे–किन्तु जिसके विना नही होवे–यानी कार्य मे कारण रहे ही–उसे कारण कहते हे, तथा जिसके होने पर नियम से कार्य हो ही हो–वही कारण न कहा जाकर करण कहा जाता हे–अर्थात् करण कारण का विशिष्ट स्वरूप हे। यह करण ही साधकतम कारण हे।

वस्तुत कारण हेय या उपेक्षणीय नही है, न वह सर्वथा अकिचत् कर या नगण्य ही है—क्योकि कारणो के विना करण-लब्धि असम्भव कही गई है।

उपशम सम्यक्त्व

"सर्वार्थसिद्धि" मे उपशम सम्यक्त्व या प्रथमोपशम के कारणो का समाधान करते हुए कहा है, चारित्र मोहनीय के दो भेद है–कषाय वेदनीय और नोकषाय वेदनीय। इनमे से कषाय वेदनीय के अनन्तानुबधी क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार भेद और दर्शन मोहनीय के सम्यक्त्व, मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्व तीन भेद–इन सात के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व होता हे। आ० पूज्यपाद ने भी कहा है—"काल-लब्ध्यादि निमित्त्वात्"–काल लब्धि आदि के निमित्त से इनका उपशम होता है।

काल लब्धि

काल लब्धि को "सर्वार्थ सिद्धि" मे पृ० १०७ पर इस प्रकार कहा है—"कर्म युक्त कोई भी भव्य आत्मा अर्ध पुद्गल परावर्तन नाम के काल के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के ग्रहण करने के योग्य होता है। उनमे अधिक काल के शेष रहने पर नही होता—यह एक काल लब्धि है। दूसरी काल लब्धियो का सम्बन्ध कर्म-स्थिति से है। उत्कृष्ट स्थिति वाले कर्मो के शेष रहने पर, या जघन्य स्थिति वाले कर्मो के शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व का लाभ नही होता।' · एक काल लब्धि भव की अपेक्षा होती है जो भव्य है, सज्ञी है, पर्याप्तक है और सर्व विशुद्ध है—वह प्रथम सम्यकत्व को उत्पन्न करता है।"

काल लब्धि के बिना सम्यक्त्व नही होता—ऐसा कह कर भी लब्धियाँ पाँच प्रकार की कही गई है और ये पाँच लब्धियाँ आवश्यक है ही—ऐसा कहा गया है। जब मात्र काल लब्धि कही जाती है तो पाँचो प्रकार की लब्धियाँ उसमे अन्तर्हित समझी जाती है।

लब्धियाँ : पाँच भेद

पाँच लब्धियाँ—(१) क्षयोपशम (२) विशुद्ध (३) देशना (४) प्रायोग्य और (५) करण है।

एक काल लब्धि प्ररूपित है और उसमे ये पाँच लब्धिया कैसे सम्भव है ? इसका समाधान धवला पु० ६ पृ० २०५ मे इस प्रकार दिया है—

"प्रति समय अनन्त गुणहीन अनुभाग की उदीरणा का, अनन्त गुणित क्रम द्वारा वर्धमान विशुद्धि का, और आचार्य के उपदेश की प्राप्ति का, उसी एक काल लब्धि मे होना सम्भव है। अर्थात् उक्त चारो (क्षयोपशम, विशुद्धि, देशना और प्रायोग्य) लब्धियो की प्राप्ति काल लब्धि के आधीन है। अत वे चारो लब्धियाँ काल लब्धि मे अन्तर्निहित हो जाती है।"

पाँच लब्धियो का वर्णन सिद्धान्त चक्रवर्ती आ० नेमिचन्द्र प्रणीत "लब्धिसार" मे तथा "धवला" टीका के प्रणेता आ० श्री वीरसेन द्वारा तथा प टोडरमल जी के मोक्ष मार्ग प्रकाश के सप्तम अधिकार मे भी हुआ है।

जाति स्मरण, वेदनानुभव, धर्म श्रवण, जिन बिम्बदर्शन, जिन महिमादर्शन और देवर्द्धि निरीक्षण भी पाँचो लब्धियो मे अन्तर्गभित है।

(१) क्षयोपशम लब्धि=जिसके होने पर तत्त्व विचार हो सके, ऐसा ज्ञानावरणादि कर्मो का क्षयोपशम हो—यानी उदय काल को प्राप्त सर्वघाती स्पर्द्धको के निषेको के उदय का अभाव रूप क्षय हो जाए तथा अनागत काल मे उदय आने योग्य उन्ही का सत्ता रूप उपशम हो तो—इस प्रकार ऐसी देश घाती स्पर्द्धको के उदय सहित कर्मो की अवस्था क्षयोपशम है और इसकी प्राप्ति क्षयोपशम

लब्धि है। जिस काल मे समय-समय अनन्त गुणा घटता हुआ अशुभ ज्ञानावरणादि कर्म समूह उदय को प्राप्त होता है उस काल मे क्षयोपशम लब्धि होती है।

(२) विशुद्ध लब्धि — पहली लब्धि से अशुभ कर्म का अनुभाग घटकर सक्लेश की हानि और उसके विपक्षी विशुद्धि की प्राप्ति की वृद्धि होती है। सो प्रथम लब्धि से उत्पन्न साता आदि शुभ कर्मो के बन्ध का निमित्त भूत और असाता आदि कर्मो के बन्ध का विरोधी जो जीव का परिणाम है—उसकी प्राप्ति ही यह लब्धि है। इस भाव मे ससार दु ख ज्वाला सतप्त व भयभीत जीव कल्याण मार्ग व तत्त्व विचार का भाव करता है। ऐसा भाव होना ही विशुद्धि लब्धि है। मद कपाय से विशुद्धि लब्धि होती है।

(३) देशना लब्धि — उक्त भाव के होने पर जीव कल्याण मार्ग मे परिणत आचार्य आदि की उपलब्धि और उपदिष्ट अर्थ के ग्रहण, धारण और विचारणा शक्ति के समागम के लिये खोज करता है और सद्गुरू की शरण जाता है और सर्वज्ञोक्त या उपदिष्ट छ द्रव्य और नव पदार्थ रूप तत्वोपदेश को धारण करना है। वह सद्गुरू की धर्मतत्त्व वाणी सुनकर अपने स्वरूप का विचार करता होता है और उस विचार से, स्वरूपमहिमा के भाव से भाव विह्वल, आनन्द मग्न और विस्मय भाव मय होकर अपने इस पुरुपार्थ-जागृति से मूल मोह व राग की ग्रन्थि को किंचित् शिथिल कर देता है—यही देशना लब्धि की प्राप्ति है।

देशना लब्धि मे सद्गुरु के प्रज्वलित ज्ञान के ही कण मानों जीव के अन्तर मे उतर जाने से जीव की प्रमाद-जडित प्राण शक्ति प्रज्वलित हो जाती है, प्रकाश और स्फूर्ति को प्राप्त होती है। देशना लब्धि ही वस्तुत शक्तिपात हे। यह उपदेश के निमित्त बिना भी, पूर्व भव सस्कार से भव-प्रत्यय रूप भी हो सकती है, तथा नरकादि गति मे यह पूर्व सस्कार से होती ही है। छ द्रव्य और सात तत्त्वो रूप सर्वज्ञ शासन का उपदेश इस लब्धि मे प्राप्त होता है। श्री सद्गुरु का यह उपदेश जीव की भव-ज्वालाओ तथा जिज्ञासा को अमृत के समान शान्ति को देता है और उसे उपदिष्ट स्वआत्म स्वरूप मे एकाग्रता करने का भाव होता है। उस काल मे वस्तु का परोक्ष ज्ञान हो जाता है और वह अब स्व आत्म वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान की भावना करता हे और तदनुकूल पुरुषार्थ करने का सकल्प करता है। देशनालब्धि जिनवाणी की गाढ रूचि रूप होती है। गाढ रुचि ही ग्रन्थि भेद करके तदनन्तर शक्तिपात रूप होती है।

(४) प्रायोग्य लब्धि — जीव जब स्व तत्त्व का परोक्ष ज्ञान प्राप्त करके अपने स्वभाव मय सहज धर्म की प्राप्ति के लिए परिणाम (भावों) को करता हे—अपने सकल्प और निर्णय को लेकर पुरुपार्थ सम्मुख होता है—ऐसे इन भावो मे उस जीव की कर्म-सत्ता स्थिति क्षय होकर अन्त कोडा-कोडी सागर प्रमाण ही रह जाती है। अब जो भी नवीन बन्ध पडेगा उसे ऐसे विशुद्ध भावो के कारण इतनी ही प्रमाण सत्ता पड सकेगी। नवीन कर्म का बन्ध उन विशेष परिणामो की शुद्धि होने से सख्यात भव मात्र बन्ध करता है। अब कितनी ही पापी प्रकृतियो का बन्ध कट जाता है तथा कम स्थिति और कम अनुभाग वाले ही नवीन कर्मबन्ध पड़ते है।

"तथा कर्मो की पूर्ण सत्ता अन्त कोडा कोडी प्रमाण करके उसके सख्यातवे भाग मात्र हो, वह भी उस लब्धि काल से लगा कर क्रमश घटती जाए और कितनी ही पाप प्रकृतियो का वन्ध क्रमश. मिटता जाए-इत्यादि अवस्थाओ का होना प्रायोग्य लब्धि है"—(प टोडरमल जी)। यह प्रायोग्य लब्धि परिणामो की विशुद्धता रूप हाती है।

उक्त चार लब्धिया तो भव्य और अभव्य दोनो ही आत्माओ को प्राप्त हो सकती है। भव्यत्व और अभव्यत्व आत्मा के गुण नही है—ये तो श्रद्धा गुण की परिणति के विशिष्ट परिणमन है। जैसे मूग या चने का दाना सीझकर अच्छी तरह पकने वाला होता है-तो उसमे स्पर्श गुण की विशिष्ट प्रकार की स्नेहिल अवस्था होती है, ऐसी ही भव्य जीव मे श्रद्धा गुण की विशेष अवस्था होती है और वह आत्मा सीझकर मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। अभव्य जीव मे श्रद्धा गुण का वैसा परिणमन नही पाया जाता। यह वैसा ही सयोग है जैसे कोरडू मूग या चने की अवस्था मे है, जिसे कितना ही सिझाया जाये कभी पकता नही। अभव्य जीव मे दर्शन ज्ञान आदि सब गुण अन्य सब जीवो के ही समान है और गुण अपेक्षा वह सिद्ध परमात्मा समान ही है पर श्रद्धा गुण की विशेप परिणति वैसी रहने से कभी कर्म निवृत्त होकर मुक्त जीव नही हो सकता।

एव पवयणसार पंचत्थिय संगह वियाणित्ता।
जो मुयदि राग दोसो सो गाहदि दुक्खपरिमोक्खं॥ (पंचास्ति०-१०३)

यह आ० कुदकुद ने भव्य के लिए कहा है—जो भव्य पचास्तिकाय को सक्षेप (सर्वज्ञ की द्वादशागीय वाणी का रहस्य) को भली प्रकार जानकर पर-पदार्थो मे इष्टानिष्ट, प्रीति-द्वेष को करना छोड देता है—यही पुरुप ससार के दु.खो से मुक्ति को प्राप्त करता है।

चार लब्धियाँ प्राप्त होने के वाद भी मोक्ष की योग्यता कराने वाला सम्यक्त्व जीव को प्राप्त हो ही जाए यह आवश्यक नही होता। सम्यक्त्व अब हो तो हो, और न हो तो न हो ऐसा लब्धिसार गाथा ३ मे कहा गया है। तो प्रकट होता है कि तत्त्व विचार महत्त्वपूर्ण होता है तब भी तत्त्व विचारक को सम्यक्त्व प्रकट होने का नियम नही है-क्योंकि तत्त्व विचारक को अन्यथा विचार होने या अन्य विचार मे लग जाने के कारण तत्त्व निर्धारित नही भी हो सकता है और तव प्रतीति भी नही हो सकती। ऐसे उसे तब सम्यक्त्व रूप तत्त्व की अन्तः रूचि कैसे हो या कैसे रहे? विचार मथन तथा विचार एकाग्रता पर जब उसे यह प्रतीति हो कि यह तत्व ऐसा ही है-तब यही प्रतीति अनादि मिथ्यात्व को हटाकर सम्यक्त्व करती है। यह तत्त्व इसी प्रकार है ऐसी प्रतीति रहित जीवादि तत्त्वो का स्वरूप भासित न हो, और जैसे पर्याय मे अह-बुद्धि है वैसे केवल आत्मा मे अह बुद्धि न आये, स्व हिताहित रूप भावो को न पहचाने तब तक सम्यक्त्व की सन्मुखता नही होती—यह तो मिथ्यादृष्टि ही है। तत्त्व के विषय मे जो निष्ठ होगा वही जीव अल्प काल मे सम्यक्त्व को प्राप्त करेगा चाहे इसी भव मे हो या अन्य भव-पर्याय मे हो। अभ्यास के बल से मिथ्यात्व कर्म का अनुभाग हीन हो जाता है और जब

मिथ्यात्व कर्म का उदय न हो वहीं तब सम्यक्त्व हो जाता है। सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) निसर्गज हो या अधिगमज हो वह दोनो ही प्रकार हो सकता है–पर नियम है कि विना तत्त्व विचार यह सम्यक्त्व होता नही है। तत्त्व विचार होने पर ही सम्यक्त्व का अधिकारी जीव हो पाता है।

(५) करण लब्धि — प्रायोग्य लब्धि वाले का उद्यम तो तत्व विचार करनो तक है। पर पाँचवी करण लब्धि होने पर सम्यक्त्व अवश्यमेव हो ही हो—ऐसा नियम है। उक्त चार लब्धि के बाद और अन्तर्मुहूर्त पश्चात् जिसे सम्यक्त्व होना है—उसी को करण लब्धि होती है। यह करण लब्धि अनन्त गुण परिणामो की विशुद्धि को समय-समय बढाने वाली होती है। इसका काल अन्तर्मुहूर्त है।

इसका उद्यम इस प्रकार होता है—वह तत्व विचार मे अपने उपयोग को ऐसी तन्मयता से लगाए कि तद्रूप उपयोग होते ही करण लब्धि हो जाए। इसी से समय-समय पर परिणाम निर्मल होते जाते है। जब तत्व विचार निर्मल रूप चलता है—यानी सविचार धर्म-ध्यान मे तत्वोपदेश रूप ध्यानी मग्न हो जाता है तो अन्तर मे प्रकाश होकर अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्ति होती है जिससे शीघ्र श्रद्धान प्रकट हो जाता है।

भावो-परिणामो का निर्मलतारतम्य प्रवाह तो सर्वज्ञ ही को दृष्ट है और उनका निरूपण करणानुयोग मे है और इन्ह ही परिणामो के मोड, आत्म शोधक जीवन के मोड ही चोदह गुण-श्रेणी या गुण सक्रान्ति के रूप मे वर्णित किये गये है।

करण नाम परिणाम का है। इसके तीन भेद है—(१) अध करण (२) अपूर्वकरण और (३) अनिवृत्ति करण। ये परिणामो की विशुद्धिकरण मे मोड रूप है। इन चोदह गुणस्थानो तथा तीन करणोकी करणलब्धि का वर्णन कर्म-ग्रन्थो मे विशदता से हुआ है।

अध प्रवृत्ति —जहाँ पहले और पिछले समयो मे परिणाम समान हो—उस भाव अवस्था को अध प्रवृत्ति करण परिणाम कहते है—यह लब्धि सार गाथा ३५ मे स्पष्ट किया गया है।

उक्त तीन करणो के विवेचन से पूर्व सक्षेप मे यहाँ पच लब्धियो को इस प्रकार समझे—

(१) जीव मे तत्व विचार की योग्यता की प्राप्ति का होना क्षयोपशम लब्धि है।

(२) जीव मे तत्व विचार योग्यता के अनन्तर तत्व विचार को करने का भाव हो जाना से भाव की प्राप्ति होना विशुद्धि-लब्धि है।

(३) तत्त्व विचार करने के भावोदय के अनन्तर गुरु सन्निकटता से तत्व की प्राप्ति हो जाना देशना लब्धि है। इसमे शक्तिपात होकर पुरुषार्थ जागता है, शक्ति जागती है।

(४) जीव जब गुरु से प्राप्त तत्त्व का विचार, मनन, मथन करके सम्यग्दर्शन के निकट होता है, यही प्रायोग्य लब्धि है।

(५) तथा जब जीव प्राप्त तत्त्व का विचार-मनन करता २ तत्त्व रूप (तद्रूप) परिणत होता है—तो यही करण लब्धि है। अभिधान चिंतामणि मे बुद्धि के गुण वताये हे—

सुश्रुषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
उहोपोहार्थ विज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धी गुणा ॥

अर्थात् सुनने की इच्छा, सुनना, सुनकर ग्रहण करना, फिर उसे हृदय मे धारण करना, तर्क-वितर्क रूप विचार के वाद निश्चय से उस तत्त्व को अन्त मे उसे विशेष ज्ञान "विज्ञान" की तरह प्राप्त होना बुद्धि के गुण हैं। इन बुद्धि के गुणो के विकास मे पच लब्धियो का ही मार्ग प्रशस्त होता है। मोक्ष मार्ग प्रकाशक मे तीन करणो का विवेचन हुआ है।

तीन करणो का विवेचन :—

(१) अध प्रवृत्ति करण—जैसे किसी जीव के परिणाम उस करण के पहले समय मे अल्प विशुद्धता सहित हुए, पश्चात् समय-समय अनन्त गुणी विशुद्धता से चढते गये तथा उसमे द्वितीय, तृतीय आदि समयो मे जैसे परिणाम हो वैसे किन्ही अन्य जीवो के प्रथम समय मे ही हो और उनके परिणाम समय-समय अनन्त गुणी विशुद्धता से बढते हो—इस प्रकार अध प्रवृति करण जानना।

(२) अपूर्व करण—पहले और पिछले समयो मे परिणाम समान न हो, अपूर्व हो—वह अपूर्वकरण है। जैसे कि उस करण के परिणाम जैसे पहले समय मे हो, वैसे किसी भी जीव के द्वितीयादिसमयो मे नही होते हैं, बढते ही होते है। जिन जीवो के करण का पहला समय ही हो उन अनेक जीवो के परिणाम परस्पर समान भी होते है। इसी प्रकार जिन्हे करण प्रारम्भ किये द्वितीयादि समय हुए हो उनके उस समय वालो के परिणाम तो परस्पर समान या असमान होते है, परन्तु ऊपर के समय वालो के परिणाम उस समय सर्वथा समान नही होते—अपूर्व ही होते है।

(३) अनिवृत्ति करण—जैसे उस करण के पहले समय मे सव जीवो के परिणाम परस्पर समान ही होते है उसी प्रकार द्वितीयादि समयो मे परस्पर समानता होती हे, तथा प्रथमादि समय वालो मे द्वितीयादि समय वालो के अनन्त गुणी विशुद्धता सहित होते है। इस प्रकार अनिवृत्ति करण होता है।

ध्यान काल में पहले अन्तर्मुहूर्त काल पर्यन्त अध. करण ही होता है। इस काल मे अध करण मे चार विशेपताएँ घटती है—

(१) समय-समय अनन्त विशुद्ध का होना।

(२) एक-एक अन्तर्मुहूर्त से नवीन कर्म वध की स्थिति के घटने रूप "बंधापसरण" का होना।

(३) समय-समय प्रशस्त प्रवृतियो के अनुभाग का बढना।

(४) अप्रशस्त प्रवृतियो के अनुभाग बध का समय-समय अनन्तवे भाग घट कर हीन होना।

इन चार विशेपताओ के बाद अपूर्व करण होता है और उसका काल अध करण के काल के सख्यातवे भाग होता है। इस अपूर्व करण मे ये विशेषताएँ और घटती है—

(१) स्थिति काड धात—एक एक अन्तर्मुहूर्त कर्म की जो भूतपूर्व स्थिति थी उसे घटा देता है।

(२) अनुभाग काड घात—तथा उस परिणाम (अध करण) के काल मे पूर्व कर्म का जो अनुभाग छोटा हुआ उसे भी घटा देता है।

(३) तथा गुण–श्रेणी काल मे क्रम से असख्यात गुणा प्रमाण लिए कर्मो को निर्जरित होने योग्य कर देता है। इसे गुण श्रेणी निर्जरा कहा जाता है।

अपूर्वकरण के बाद अनिवृत्ति करण का क्रम है। इसका काल अपूर्व करण के काल का सख्यातवा भाग मात्र होता है।

अनिवृत्ति करण मे अन्तर करण और उपशम करण होते है। अनिवृत्ति करण मे उपरोक्त विशेषताओ सहित कितने ही काल जाने के बाद जीव अन्तर करण करता है। "जय धवला" मे इसे ऐसे कहा है—

"विवक्षित कर्मो की अध स्तन और उपरिम स्थितियो को छोड कर मध्यवर्ती अन्तर्मुहूर्त स्थितियो के निषेको का परिणाम विशेष के द्वारा अभाव करने को अन्तर करण कहते है।"

उपशम करण :—अन्तर करण होने के बाद जीव उपशम करण करता हे। इसमे अन्तर-करण द्वारा अभाव रूप किये हुए निपेको को ऊपर वाले मिथ्यात्व-निपेको को भी उदय मे आने योग्य बनाता है। अनिवृत्ति करण के अन्त समय के अनन्तर जिन निपेको का अभाव किया था उनका काल जब आये तबतक निषेको के बिना उदय किसका आये ? बस यहा ही मिथ्यात्व का उदय न होने से प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति हो जाती है। उपशम श्रेणी से चढे हुए अनिवृत्तिकरण मे एव अन्तर-करण के बीच के काल मे जीव अपने विशुद्धि परिणाम से मिथ्यात्व के तीन पुज करता है—(१) शुद्ध पुजसम्यक्त्व नाशक शक्ति का अभाव (२) मिश्र पुज और (३) अशुद्ध पुज। जब जीव के मिश्र (अर्ध विशुद्धि) पुज सामने आता है तो जीव की निर्णायक शक्ति नही रहती, वह मूढ सी रहती है। यह पुज अन्तर्मुहुर्त रहता है फिर या तो शुद्ध पुज या अशुद्ध पुज का उदय होता है।

इस प्रथम औपशमिक सम्यक्त्व के समय मिथ्यात्व कर्म प्रकृति के तीन टुकडे हो जाते है—(१) मिथ्यात्व (२) मिश्र मोहनीय और (३) सम्यक्त्व मोहनीय। अनादि मिथ्यात्व मे सम्यक्त्व मोहनीय

और मिश्र मोहनीय की सत्ता नही होती। अत ही एक मिथ्यात्व का ही उपशम करके उपशम सम्यक दृष्टि होता है।

जब कोई जीव सम्यक्त्व पाकर फिर भ्रष्ट हो जाता है तो कुछ काल बाद मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति की उद्वेलना मिथ्यात्व प्रकृति रूप हो जाने पर उसकी दशा अनादि मिथ्या दृष्टि की ही हो जाती है। अन्तर करण और उपशम करण अलग लब्धिया नही है, अनिवृत्ति करण के ही अग है।

जो फिर सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाता है वह सादि मिथ्यादृष्टि होता है। उसके भी पुन सम्यक्त्व प्राप्ति मे उक्त पाचो लब्धिया होती हैं।

श्रद्धान के न होने मे मूल कारण मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व का मूल कारण मोह है, जो दर्शन मोहनीय और चारित्र मोहनीय कर्म रूप होता है। दर्शन मोहनीय कर्म रूप मिथ्यात्व तो सम्यक्त्व (सम्यक् श्रद्धान) के उदय से कट जाता है और सम्यक्त्व-उदय से ही आध्यात्मिक जीवन का आधार तथा आरम्भ जीव को होता है—इसे इससे पूर्व नही। मिथ्यात्व के उदय काल मे तो–चाहे विचारादि कारण मिले या न मिले, आप ही सम्यक् श्रद्धान का अभाव रहता है। मिथ्यात्व का उदय जब न हो, तब अन्य कारण मिले या न मिले स्वयमेव ही सम्यक्-श्रद्धान हो जाता है। समय समय सबधी अन्तरग परिणामो की सूक्ष्मता को जानना छद्मस्थ ससारी पुरुप को नही हो पाता, अत अपनी मिथ्या या सम्यक् श्रद्धान अवस्था मे सूक्ष्म निर्मलता के तारतम्य का निश्चय किस प्रकार हो—इस अपेक्षा से गुण-श्रेणियो की सक्रान्ति रूप भावो के, गुणो के स्थानो का वर्णन करुणा पूर्ण आचार्य भगवन्तो ने जीवो के हितार्थ किया है।

अन्तर्शोधक जीवन के मोड (चौदह गुण स्थान या गुण संक्रान्तियां)—ये मोड जीव के अध्यवसायो के मोड है—भावो की विशुद्धिरूप है।

मोह और योग-स्पदनो के निमित्त से होने वाले परिणामो के तारतम्य रूप क्रम विकसित भूमिकाओ को गुण स्थान कहते है। ये परिणाम विशुद्धिमार्ग मे अन्तर्शोधक अध्यात्म जीवन या योग मार्ग के चौदह महत्वपूर्ण मोड है। अन्तर्शोधन मे जीव ध्यानावलम्बन द्वारा आत्म लक्ष मे रहकर निरतर अपने परिणामो को ज्ञान सम उज्ज्वलता मे मोडता है।

ये मोड (१) मिथ्यात्व (२) सासादन (३) सम्यग्-मिथ्यात्व (४) अविरत सम्यक्त्व (५) देश विरत सम्यक्त्व (६) प्रमत्त विरत गुणस्थान (७) अप्रमत्त विरत (८) अपूर्व करण (९) अनिवृत्ति करण (१०) सूक्ष्म सापराय (११) उपशान्त मोह (१२) क्षीण मोह (१३) सयोग केवलि और (१४) अयोग केवलि है।

गुण स्थानो का वर्णन समल मिथ्यात्व दशा के वर्णन से ही आरम्भ होकर निर्मलतम दशा के उद्घाटन के वर्णन तक आता है। यद्यपि मिथ्यात्व गुण श्रेणी नही है–तथापि अनादि से जीव मोह भ्रष्ट

होकर मिथ्यात्व कर्म से ही लिपटा रह कर अशुभ परिणामो मे ही बधा रहता है—अत मिथ्यात्व विवेचन से ही चौदह गुण स्थानो का विवेचन आरभ किया हे।

दर्शन मोहनीयादि कर्मो के उदय उपशम क्षय क्षयोपशम आदि अवस्थाओ के होने पर उत्पन्न होने वाले जिन भावो से जीव लक्षित किये जाते है उन्हे सर्व दर्शियो ने गुण स्थान कहा है। ये गुणस्थान "मोहयोग भवा" है, मोह और योग के तारतम्य से होते हे।

मिथ्या दृष्टि—श्रद्धान का न होना या विपरीत होना, स्थूल वहिर्मुखी जागतिक दृष्टि जो तात्त्विक दृष्टि को नही होने देती। मोहनीय कर्म के उदय होने पर भी जीव का श्रद्धा गुण सर्वथा नष्ट नही होता—वह अशुद्ध ओर आशिक यथार्थ ही रहता है। आत्मिक गुणो का अल्पतम आविर्भाव अवस्था का नाम मिथ्या दृष्टि हैं जिसमे जीव को न अन्तर्मुखी दृष्टि होती न सर्वज्ञ कथन की रुचि या प्रतीति होती– न वह रागादि को अधर्म समझता और न स्व पर का विवेक होता। यह अपनी देह—पर्याय को ही स्व मानता है। इसे दर्शन-ज्ञान स्वभाव, आत्मा के स्वभाव का जो अल्पतम प्रकाश रहता है—उमसे ही किंचित् जानना देखना है। इसके कर्मोपाधि मे हुए कपायादि (क्रोधादिक भाव) के भाव पाये जाते है, और इन्द्रियो तथा इन्द्रिय विपयो मे प्रीति रहती है। इसे उपदेश मिलने पर भी श्रद्धा दुर्लभ रहती है। तथा विना उपदेश ही अधर्म व पाप मार्ग मे प्रवृत्ति रहती है। यह मिथ्या दर्शन ससार मे भव भ्रमण का प्रमुख कारण है।

मिथ्या दृष्टियो की तीन कोटिया होती है—(१) वे जो अनादि से मोह-जजाल मे फसे हैं (२) वे जो अन्य के उपदेश से स्वच्छन्दी और मिथ्यामार्ग पर आरूढ है और (३) वे जो सशय ग्रस्त है—यानी जो यह सही है या कि यह नही है—ऐसे सशय पाश मे ही बधे रहते है। मिथ्यात्व कर्म को अनुभव करने वाले जीव को धर्म नही रुचता जैसे ज्वर युक्त मनुष्य को मधुर (मीठा) रस नहीं रुचता। परोपदेश से होने वाला मिथ्यादर्शन मनुष्य जाति मे ही सम्भव है। इसके पाच विभाग है—(१) एकान्त (२) विपरीत (३) सशय (४) वैनयिक और (५) अज्ञान है।

मिथ्या दृष्टि पाच लब्धियो पूर्वक उत्कर्प करके एक दम चौथे गुण स्थान—सम्यक्त्व गुण स्थान को प्राप्त कर लेता हे।

(२) सासादन—कोई जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर सासादन होता है और वह जघन्य एक समय उत्कृष्ट छ आवलि प्रमाण काल रहता है। इसमे अनन्तानुवधी का उदय तो रहता, है, पर मिथ्यात्व का उदय नही होता। यह श्रेणी सम्यक्त्व से सासादना पूर्वक यानी विराधना (च्युति) होने पर वीच के परिणाम की हे। यह ऊचे चढते हुए जीव को नहीं, नीचे गिरते हुए जीव को आती है। इसके परिणाम की दशा सूक्ष्म होने से वचन गम्य नही है और यह अति सूक्ष्म काल मात्र होती हे।

जीव को प्रथम वार सम्यक्त्व की स्पर्शना से औपशमिक सम्यक्त्व होता हे। राग द्वेप की अति निविड ग्रन्थि को शिथिल व भेद कर सम्यक्त्व के निकट हुआ जाता हे। जीव के दुष्प्रवृत्ति से

मद्वृत्ति की ओर ढलना ही यथा प्रवृत्ति करण या अधः प्रवृत्ति करण है। और रागद्वेष की ग्रन्थि भेद की क्रिया करना ही वस्तुतः अपूर्व करण है। रागद्वेप की ग्रन्थि भेद की क्रिया से सम्यक्त्व के सन्मुख होना अनिवृत्ति करण है। इसमे अन्तरकरण की क्रिया करने पर मिथ्यात्व का उदय समाप्त होकर उपशम सम्यक्त्व होता है जो अन्तर्मुहूर्त काल तक ही स्थिर रहता है। इस काल को उपशान्ताद्धा या अन्तरकरण काल कहते है। इस काल के बाद यदि जीव अशान्त होकर, अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय होकर मिथ्यात्वी रुचि और प्रवृत्ति की ओर झुकता है तब वह सासादन गुण श्रेणी पर आकर ठहरता है।

जो उपशम सम्यक्त्व से च्युत होकर भी मिथ्यात्व को प्राप्त नही हुआ—यानी जिसकी दृष्टि न सम्यक्त्व, और न मिथ्यात्व रूप है और न उभय रूप ही है—वह सासादन गुण श्रेणी मे है।

उपशम सम्यक्त्व समस्त भव-भ्रमण मे जीव को श्रेणी मे अधिक से अधिक चार बार सम्भव होता है—क्षयोपशमिक सम्यक्त्व असख्यात बार हो सकता है और क्षायिक सम्यक्त्व एक बार ही होता है। क्षायिक सम्यक्त्व सज्ञी व मानव जीव श्रेणी मे ही किसी किसी को होता है। यह सम्यक्त्व एक बार होने के बाद जाता नही। जिसे एक बार भी सम्यक्त्व का स्पर्श हो जाता है, उसका ससार अर्ध पुद्गल परावर्तन काल से अधिक नही रहता।

नदी धौत पाषाण न्याय से अध्यवसाय के बल चिति (ज्ञान) शक्ति का जागरण होकर कर्मावरणो मे कुछ मदता (हीनता) होकर फिर कभी जब उत्कृष्ट आत्म-परिणाम की दशा प्राप्त होती है कि जिसमे मोहनीय कर्म के द्वारा पुन. न बध सके और वह जीव शुद्ध वीतराग परमात्मा की आराधना के योग्य हो—ऐसा सिद्धि दायक आत्म-परिणाम 'अपनुर्बन्धक' कहा जाता है।

सादि मिथ्या दृष्टि के थोडे काल मिथ्यात्व का उदय हो जाए व तत्त्वो का अश्रद्धान व्यक्त न हो, तब थोडे विचार या बिना विचार ही पुन सम्यक्त्व हो जाता है और यदि बहुत काल तक मिथ्यात्व का उदय रहे तो अनादि मिथ्या दृष्टि की सी दशा हो जाती है। वह नव गृहीत मिथ्यात्व को भी ग्रहण करता है और निगोदादि मे ही चला जाता है।

(३) सम्यग्मिथ्या (मिश्र) गुणस्थान—कोई-कोई जीव सम्यक्त्व से भ्रष्ट होकर मिश्रगुणस्थान को प्राप्त होते है। यहा मिश्र मोहनीय का उदय रहता है। इसका काल मध्यम अन्तर्मुहूर्त मात्र है। यानी इसका भी काल बहुत अल्प है और परिणाम भी सूक्ष्म होने से केवल ज्ञानी के गम्य है। इस दशा मे तत्त्वो का यानी तत्त्व को तत्त्व तथा अतत्त्व को भी तत्त्व समझ श्रद्धान व अश्रद्धान एक ही काल मे रहता है अत मिश्र दशा है—ऐसे दही और गुड के मिश्रण के स्वाद की विलक्षण जात्यन्तर दशा होती है। कई लोग जिन देव और अन्य देव सर्व ही वदन करने योग्य है—ऐसा कहते है—यह मिश्र गुणस्थानक मिश्र श्रद्धान नही है—यह तो विपरीत है—इनमे विनय मिथ्यात्व तो प्रगट ही है। मिश्र गुण स्थान मे विवेक शक्ति का पूर्ण विकास नही होता। यह जीव जल्दी ही मिथ्या दृष्टि मे चला जाता है अथवा परिस्थिति के अनुसार सम्यक्त्व मे भी आ जाता है।

मिथ्या दर्शन के वर्णन का प्रयोजन यह है कि जीव इमको पहचान कर अपने दोष दूर करके सम्यक्-श्रद्धानी हो। इसका यह अर्थ नही कि औरो के ही ऐसे दोष देख-वेख कर कपाय भाव करना। वस्तुत अपना भला बुरा तो अपने परिणामो से है। इस लिए अपने परिणाम सुधारने का उपाय करना योग्य है, मिथ्यात्व छोडकर सम्यग्दृष्टि होना योग्य है क्योकि ससार का मूल मिथ्यात्व हे। एक मिथ्यात्व और उसके साथ अनन्तानुवधी का अभाव होकर इकतालीस कर्म-प्रकृतियो का तो वध मिट ही जाता है, स्थिति अन्त कोडा कोडी सागर की रह जाती हे—अनुभाग थोडा रह जाता है और शीघ्र मोक्षपद प्राप्त होता है। मिथ्यात्व का सद्भाव रहने पर अन्य अनेक उपाय करने पर भी मोक्ष मार्ग नही मिलता। मिथ्यात्वी के (१) अविरति (२) कपाय (३) योग (४) प्रमाद और (५) मिथ्यात्व—ये पाँचो ही वध के हेतु विद्यमान रहते हैं।

अनन्तानुवधी और अप्रत्याख्यानावरणीय कपायो के उदयरूप सद्भाव मे सभी प्रकार की अविरति पाई जाता है। यह भी है कि आगे-आगे के वध हेतु होने पर पूर्व-पूर्व के वध हेतु होते भो हैं और नही भी होते जैसे प्रथम, द्वितीय और तृतीय गुण स्थान से सम्वन्ध रखने वाली अविरति है तो मिथ्यात्व होता हैं अन्यथा नही होता। जिसको अनन्तानुवन्धी और अप्रत्याख्यानावरणीय कषायो का उदय न होकर प्रत्याख्यानावरणीय का उदय है उसे त्रस-विपयक अविरति का अभाव हो जाता है। अविरति वह है जिसमे इन्द्रिय विषयो मे तथा छ काय जीवो की हिसा से निवृत्ति नही होती।

वास्तव मे तो सामादन व मिश्र दृष्टि मिथ्यात्व के ही अवान्तर भेद है।

(४) अविरत-सम्यक्त्व (असयत सम्यग्दृष्टि)—इस गुण स्थान मे आते ही जीव की महिमा हो जाती है क्योकि इसे जिनोक्त आज्ञा तथा तत्त्वो का श्रद्धान पाया जाता है।

इसमे आत्म परिणाम मे आत्म स्वरूप की पहचान होती रहती हे। दृष्टि आत्म परक तथा अन्तर्मुखी होती है। स्व तथा पर का ज्ञाता यह अन्तरात्मा-परिणत होता है। अत पर-द्रव्य मे ममत्व व मोह भी नही रहता। विपय भोग भी इच्छापूर्वक या इच्छावश नही भोगता। इस दशा मे विषय प्रवृत्ति होती है, मगर वह चारित्र मोह के उदय वश होती है—भोगना चाह कर विपय नही भोगता—कर्मोदयवश भोगता हे। इसके न कर्म चिन्तना रहती न कर्मफल चिन्तना। चारित्र मोह के कारण यह त्रस स्थावर जीव हिसा तथा विषयो से विरत न होने से अविरत सम्यग्दृष्टि कहा जाता है। वह जैनो का कर्म-योगी है। गुण सक्रान्ति आरोहण प्रक्रिया सम्पूर्णत सम्यक् दर्शन पर ही आधारित है। साधक अवस्था अत सम्यक् दृष्टि, सम्यक् ज्ञान और सम्यक्चारित्र के क्रम विकास की अवस्था हे। जिसमे बोधि रूप रत्नत्रय क्रमश अन्त मे केवल ज्ञान और अभेदरत्नत्रय को प्राप्त करता हे।

आचार्य पद्मनन्दी इसके लिए इस प्रकार कहते है—

तत्प्रति प्रीतिचित्तेन, येन वार्तापि हिश्रुता।
निश्चित स भवेद भव्यो, भावी निर्वाण भाजनम्॥

अर्थात्—जिस जीवात्मा ने अपने चैतन्य स्वरूप की बात भी श्रद्धापूर्वक (शाँत चित्त से) सुन ली, निश्चय ही वह भव्यात्मा आने वाले समय मे निर्वाण प्राप्त कर लेगा। यहा तक के चारो गुण स्थान चारो गतियो के जीवो के होते है।

अनादि मिथ्या दृष्टि के मात्र एक मिथ्यात्व प्रकृति की सत्ता होती है—अतः उपशम सम्यक्त्व के काल मे मिथ्यात्व के परमाणु मिश्र मोहनीय और सम्यक्त्व मोहनीय रूप परिणमते हैं। उपशम सम्यक् दर्शन मे प्रतिपक्षी कर्म की सत्ता रहती है इसलिए अन्तर्मुहूर्त काल के बाद उपशम सम्यक् दर्शन नही रहता—और तब यदि सम्यक्त्व मोहनीय का उदय आए तो क्षयोपशम सम्यक्त्व अवस्था हो जाती है और मिश्र मोहनीय का उदय आए तो मिश्र रूप एव मिथ्यात्व प्रकृति का उदय आए तो मिथ्यात्व रूप जीवात्मा हो जाता है। क्षयोपशम सम्यक्त्व काल मे सूक्ष्म मल सहित श्रद्धान रहता है। सम्यक्त्व मोहनीय की प्रवृत्ति देशघाती होती हे अत सम्पूर्ण सम्यक् दर्शन का घात नही होता—किंचित् मलिनता ही हो जाती है। जब मिथ्यात्व की प्रकृत्ति वर्तमान काल मे उदय मे आए बिना ही निर्जरित हो जाए तो इसे क्षय कहते है तथा उस प्रकृति का आगामी काल मे उदय आने योग्य निषेक की सत्ता रहती है तो उसे उपशम कहते है तथा सम्यक्त्व मोहनीय का उदय होना ही क्षयोपशम है। जब मिथ्यात्व कर्म प्रकृति के सर्व निषेको का नाश हो जाता है—यानी तीनो प्रकार की मिथ्यात्व कर्म प्रकृत्ति के सर्व निषेको का नाश होता है तब निर्मल क्षायिक सम्यक् दर्शन की प्राप्ति होती है।

क्षायिक सम्यक् दर्शन मे प्रतिपक्षी कर्म का अभाव है अत वह परम निर्मल है—यह प्राप्ति के काल से लेकर अनन्त काल तक यानी मुक्त अवस्था मे भी निर्मल ही रहता हे। क्षायिक सम्यक्त्वी को ही भगवान जिनेश्वर का लघुनन्दन कहा जाता है। यह क्षायिक सम्यक्त्वी निज पर के स्वरूप का ज्ञाता रहकर अपने ही ज्ञायक भाव मे एकाग्रता का अभ्यासी होता है। उस अभ्यास के प्रकाश मे अनन्त चतुष्टय प्रकट हुए बिना नही रहता है। यह अर्थ और काम की आसक्ति से निवृत्त हो कर वीतराग होने की भावना तथा आराधना करता है और शुद्ध सयम मार्ग की चाहना व भावना करता है—निर्मल परिणतियो के प्रवाह के साथ निरन्तर स्वरूप एकाग्रता के अभ्यास मे आगे बढता जाता है। जब सम्यग्दर्शन का लाभ होता है तब स्वानुभव करने की लब्धि प्राप्त हो जाती है, ज्ञान वैराग्य की लब्धि हो जाती है, सवेग अनुकपा आस्तिक्य भाव पैदा हो जाता है।

दूसरे गुणस्थान मे अनन्तानुवधी के उदय से होने वाली अविरति पाई जाती हैं—इसमे मिथ्यात्व के अभाव से १६ कर्मप्रकृत्तियो का सवर होता है। तीसरे गुणस्थान अनन्तानुबन्धी का अभाव होने से—तत्सम्बन्धी होने वाले २५ कर्मप्रकृतियो का भी अभाव हो जाता है।

इस चौथे गुण स्थान मे अप्रत्याख्यानावरणीय के उदय से प्राप्त होने वाली अविरति पाई जाती है।

(५) देश विरत (देश संयम) गुणस्थान साधक—सम्यक्व सहित एक देश चारित्र का पालन करता है। जिन भगवान् मे ही मति (श्रद्धा) रखता है। ये स्थावर हिंसा से विरत न होकर

भी त्रस जीवो की हिंसा से विरत होता है। इन्द्रिय विषयो से एव स्थावर जीवो के घात से विरक्त नही है। प्रति समय विरता विरत रहता है। इस गुण-श्रेणी मे अप्रत्याख्यानावरणीय के उदय से होने वाली अविरति का अभाव हो जाता है। अत' उसे अप्रत्याख्यानावरणीय व अविरति के निमित्त से होने वाले १० कर्मो का आस्रव भी सवरित हो जाता है। इसके प्रत्याख्यानावरण और सज्वलन शेष हैं—दूर नही हुये है—अतः यह सयतासयत माना जाता है। यह गुण स्थान देव और नारकियो के नही होता—मनुष्य और तिर्यग्गति जीव इस गुण-स्थान के धारक हो सकते हैं। विशेषताए ये कही गई हैं कि चौथे गुणस्थान मे मनुष्यायु देवायु और तीर्थकर प्रकृति का आस्रव होना सम्भव है। इस पाचवे गुण-स्थान मे प्रत्याख्यानावरणीय के उदय से प्राप्त होने वाली अविरति पाई जाती है। इसी गुण स्थान के नाम देश विरत, उपासक किंचित् त्यागी व श्रावक आदि कहे जाते है। श्रावक के १२ व्रत और ११ प्रतिमारूप ११ सोपान भी कहे गये है। इस गुणस्थान मे आत्मिक शक्ति का थोडा विकास होने से ही आशिक सम्यक्-चारित्र यानी आत्मस्थिरता का पालन होता हैं। यह आशिक या स्थूल चारित्र ही अणुव्रत कहलाते हैं। यह व्यवहार चारित्र भेद से है। स्थूल सकल्पी हिंसा, असत्य, अस्तेय, परिग्रह तथा अब्रह्म का मोटे तौर पर त्याग रूप अणुव्रतो का व्यवहार चलता है।

इस गुण-श्रेणी मे यह व्यवहार चारित्र भी हेय रूप से (विकल्प रूप से) ही चलता है। उपादेय तो अपना आत्म स्वरूप ही माना जाता है। यहा आत्म स्वरूप की स्थिरता अल्पकाल रहती है। अत व्युत्थान काल मे व्यवहार चारित्र का विकल्प चलता हैं। यानी परिणाम शुद्ध से नीचे उतर कर शुभ विकल्पो पर ठहरता है। पाप व पुण्य के उदयाधीन, आप ही बिना इच्छा रहता है। ऐसे इस गुण-श्रेणी मे निश्चयनय गर्भित व्यवहार चारित्र रहता है पापो से सर्वथा अलग रहते हुए भी गृही को अनुमोदन के कारण रहते भी है ही। पर यहा पर आत्मा पर लक्ष्य व दिशा रहती है और समय क्षेत्र की मर्यादा आचरण मे बाधने रूप मे आरम्भ हो जाती है।

इस गुणस्थान मे जीव को सम्यक्त्व रूप विवेक प्राप्त होता है पर चारित्र मोहनीय के प्रबल प्रभाव से वह विवेक क्रिया मे परिणत नही होता। सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) होकर फिर श्रावक के बारह व्रत अगीकार होते है। श्रृणोति जिन वचनमिति श्रावक, गुरु से जिन प्रवचन सुनने पर श्रावक नाम सार्थक होता है। इस गुण स्थान के आर्त व रौद्र ध्यान मद होते है। श्रावक के षट् कर्म, ग्यारह प्रतिमाए, १२ व्रतो के पालन रूप मध्यम प्रकार का धर्म ध्यान होता है। यहा तक की साधना का लक्ष्य है श्रेष्ठ श्रावक के जीवन की रचना तथा आगे के सयत जीवन को दृढ आधार देना।

(६) प्रमत्तसंयत या सर्वविरत—इसमे पच महाव्रत सत्य अहिसा अचौर्य अपरिग्रह तथा ब्रह्मचर्य का सकल देश पालन आरम्भ होता हैं। वह सर्व सम्यक् चारित्र का आरम्भ है। यहा श्रावक अनागार श्रमण या मुनि कहलाता है। वह स्थूल भावो से भी आगे के सूक्ष्म भावो की ओर गतिमान रहने लगता है। पर फिर भी सर्वथा विशुद्ध चारित्र की पालना व्यक्त और अव्यक्त प्रमाद होने के कारण-नही हो पाती। होश बाहर बाहर व ऊपर ऊपर ही रहता है। चार विकथा, चार कषाय, पाच इन्द्रियाँ, एक निद्रा और एक प्रणय रूप पन्द्रह प्रकार के प्रमाद के ही कारण यह अवस्था प्रमत्त सयत

कही जाती है। सयत का अर्थ है जिसने सयम के अर्थ पंच महाव्रतो को अगीकार किया है। दोषो से व प्रमाद या असावधानी से यह आत्मोपयोग मे अनुद्यत रहता है। यह साधक नीचे भी आ पड सकता है—वरना भावोत्कर्षो की परिस्थिति के अनुसार अपने को ऊपर सातवें गुणस्थान मे चढा ले जा सकता है। इसमे परिणामो की निर्मलता की तारतम्यता कारण होती हैं। इस गुणस्थान मे ही साधक के एक हाथ प्रमाण स्फटिक—प्रभामय सूक्ष्म आहारक शरीर बाहर निकलता है। इस गुणस्थान मे प्रत्याख्यानावरणीय कषाय का अभाव होने से उसके निमित मे होने वाले कर्मो का सवर हो जाता हैं और आगे भी आस्रव नही होता। सयत आत्मा व्रतो की रक्षा के लिए पांच समिति और तीन गुप्ति रूप अष्ठ प्रवचन मातृका का पालन करते है। ससार दु खो से भीत प्राणियो का सयम धर्म दीक्षा (प्रव्रज्या) ही दु खो से मुक्त होने मे कारणभूत होती है। इस भूमिका मे मद रागादि के रूप मे प्रमाद रहता है, प्रमाद की छाया पूर्व से रहे सस्कारो के कारण अचेतन मन मे रहती हैं।

(७) **अप्रमत्त संयत**— प्रमत्त सयत गुण स्थान मे रहे व्यक्त अव्यक्त सब प्रकार के प्रमाद का अभाव होकर गुणश्रेणी का आरोहण अप्रमत्त विरत कहा जाता हे। यहाँ पाच महाव्रतो, मूल गुणो, और शील रूप उत्तर गुणो का पालन प्रमाद रहित होकर होता हे। यह स्व—पर के ज्ञान से युक्त है। इसमे साधक की आत्म साधना, सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र साधना एक रस परिणामी बन जाती है। यह कषायो का अनुपशमक या अक्षपक होते हुए भी ध्यान मे निरन्तर लीन रहता है, प्रमाद दोप के परिहार से आत्मसाधना मे अब सलग्नता होने लगती है। ऐसा यति जीवन सर्वस्व त्याग मे ही सम्भव होता है। वह दश प्रकार के धर्म, आठ प्रकार की शुद्धि और तेरह प्रकार के चारित्र मे उद्यम शील होता है। छ गुण स्थानो को उल्लघन कर अप्रमत्त गुणस्थानी आयु कर्म के उत्कृष्ट प्रदेश वध को करता है।

बाह्य तथा अन्तर—इन दोनो परिग्रहो का त्याग हुए बिना विरत (यति) साधना सम्भव नही होती। यति अनत चतुष्टय आत्मा की अखड साधना मे अपने को समर्पित किये रहते है। यह उनकी सर्व सलग्नता शुद्ध देव, शुद्ध गुरु तथा शुद्ध धर्म मय निज आत्मास्वरूप के रमण मे रहती है या रहनी चाहिये। देशविरत का स्थूल त्याग तथा सर्वविरत का सूक्ष्म त्याग यानी सर्व रूप से त्याग त्रय शल्यो से रहित त्याग होकर व्रतो का पालन होता है। गृहस्थ जन, राजा, व क्षत्रिय तो व्रतो का एक देश लेकर ही पालन कर सकते हैं। तथा अणुव्रती को आरम्भी हिंसा का त्याग होता है, मगर उन्हे युद्धादि के निमित्त विरोधी हिसा का त्याग नही होता। सर्व विरत (प्रमत्त सयत) बाह्य तथा अन्तरंग दोनो प्रकार से विभाव भावो को निवृत्त करके निर्ग्रन्थ हो जाता है। वह पाणी पात्र शुद्ध भोजन ग्रहण करने वाला, सर्व आरभ क्रियाओ का त्यागी, एकात सेवी, आत्मध्यान तत्पर, शास्त्र तथा स्वाध्याय एव धर्मोपदेश मे निरत रहने वाला होता है। ऐसा साधु मुनि होकर भी आत्म—स्वरूप मे जो सावधानी—अप्रमाद होना चाहिये, नही हो पाती—उसे भी आहार लेना, गमनागमन करना, आदि रूप से प्रमाद या असावधानी रहती है, अत. ही वह प्रमत्त सयत कहा जाता है। छठे व सातवें

गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त मात्र है। ध्यान मे परम विशुद्धि पर यही ऊपर के गुण स्थान मे चढ सकता है।

जब इसे प्रमाद नही रहना, परिपूर्ण सावधानता रहती है तो यह अप्रमत्त विरत होता है। इसके भी दो भेद होते है—(१) स्वस्थान अप्रमत्त और (२) सातिशय अप्रमत्त।

(१) स्वस्थान अप्रमत दशा वाला जीव छठे से सातवें मे और सातवें से छठे गुण स्थान मे इस प्रकार चढने उतरने रूप झूला झूलता रहता है।

(२) सातिशय अप्रमत्त दशा वाला यहा से ध्यानस्थ होकर ऊपर-ऊपर ही चढता है। उसके ऊपर चढने के दो प्रकार होते हे। उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी। मोहनीय कर्म के उपशम या क्षय के लिए यह अध प्रवृत्तकरण का आरम्भ करता है। अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण रूप परिणाम आठवे व नवे गुणस्थान मे होते है।

(१) उपशम श्रेणी—चढने वाला जीव चारित्र मोह का उपशम करके क्रमश ८, ९ और १० गुण श्रेणियो को पार करता हुआ, ११वी गुणश्रेणी उपशातमोह पर पहुच जाता है। परन्तु फिर उसका ऊपर चढना रूक जाता हे। उसका मार्ग दवे हुए चारित्रमोह के कारण अवरूद्ध होता है और प्राकुतिक नियम से उसे वापिस लौटना पडता है। क्योकि जो कषाये विद्यमान और शात थी, उदय मे आ जाती है। जीव की निर्मलता के परिपाक के लिए यह आवश्यक ही है। ऐसा मल पाक साधक के ही हित के लिए होता है, वरना उनका मार्ग आगे कभी खुल नही सकता है।

(२) क्षपक श्रेणी—इस श्रेणी मे साधक आत्म निरीक्षण के द्वारा अपने समस्त कषायो को उप शात नही, ज्ञान भाव से क्षीण करके, नाश (क्षय) करके ८, ९, १० वे गुण स्थान मे चढकर नियम से एकदम १२ वे गुणस्थान "क्षीणमोह" मे जा चढता है और फिर वहा से वापिस नही लौटता। वह १३वे गुणस्थान की तरफ ही परिणामशुद्धि के साथ आगे बढता जाता है। श्रेणी चढते समय परिणामो की तीन अवस्थाये होती है। (१) अध प्रवृत्त (२) अपूर्व और (२) अनिवृत्त।

गुण श्रेणी आरोहण मे जीव के क्रमिक विकास की बात नही है—अर्थात् यह (Evolutionary) विकास क्रम नही है। यहा परिणामो की निर्मलता का ही वर्णन है। परिणाम आत्मा के चढते उतरते है। अत यहा विकासवाद के क्रमिक विकास जैसा कुछ नही है। पर्याय का उत्पाद ही क्रमिक चलता है और सिद्धो की पर्याय ही सर्व निर्मलता को लेकर उत्पन्न होती रहती है। इस के प्रवाह मे ही स्व आत्म लक्ष्य से निर्मलता का प्रवाह होता रहता है। यह निर्मलता भावो या परिणामो के स्वरूपो की होती है। तथा इस निर्मलता का स्वरूप वीतरागता, नि सगता, निर्लेपिता रूप होता जाता है और इसी कारण आत्मा के स्वरूपज्ञायकता मे भी अधिकाधिक स्थिरता होती जाती है। कषाय तथा ममता का क्षय होता जाता है। इनके क्षय होने का क्रम यह है कि कषायो मे भी पहले क्रोध का ही क्षय होना आरम्भ होता है और लोभ सब के अन्त मे कही जाकर निर्बीज होता है तथा ऐसे ही

इनमे पहले अनन्तानुबधी तथा अन्त मे सज्वलन के नष्ट होने का क्रम रहता हे। स्व आत्मा के लक्ष्य से अपने परिणामो के स्वरूपो के निरिक्षण, परीक्षण तथा परिष्कार मे साधक को सदा जागृत ही रहना चाहिए।

अध प्रवृत्ति मे जीव के परिणामो की विशुद्धि न्यूनाधिक होती है—जीव के आगे के परिणाम पीछे के परिणाम सदृश हो जाते है— यह अध प्रवृत्ति है। ऐसे ही पीछे से चढने वाले जीवो के परिणाम आगे के जीवो के परिणामो के सदृश हो सकते है और भिन्न समयवर्ती जीवा मे सदृश हो सकते है। अध' प्रवृत्ति करण का अर्थ है नीचे के परिणाम काल की अपेक्षा आगे के परिणामो के समान भी होते है। जहा पहले नही प्राप्त हुए ऐसे विशुद्धि वाले परिणाम अपूर्व या अपूर्व करण कहे जाते है। इस अपूर्वकरण मे अपूर्व—अपूर्व परिणाम प्राप्त होते रहते है। जहा एक समय वालो के एकसे परिणाम होते है उसे अनिवृत्ति करण कहते है।

अप्रमत्त सयम मे प्रमाद का अभाव होकर ६ कर्मो का सवर होता है—वे असातावेदनीय अरति, शोक, अस्थिर, अशुभ और अयश कीर्ति है और अगले किसी गुण स्थान मे इनका फिर आस्रव नही होता है। देवायु का आस्रव इस गुणस्थान तक सम्भव है। यानी इस स्थान तक धर्म—ध्यान सम्भव होता है।ध्यान मे निर्मलता की सातिशयता ही परिणामो मे सातिशयता का हेतु होती है। छठे और सातवे गुण स्थान के सयत जीव धर्म ध्यान का विशेष आश्रय लेते है अत वैसी ही विशेष आत्मशुद्धि कर सकते है। धर्म ध्यान को अत सविस्तार व भेद सहित जान लेना अति अति आवश्यक है।

(8) अपूर्वकरण संयम गुण स्थान—इसे निवृत्ति गुण स्थान भी कहते है। इसमे साधक सातवे से ऊपर अपनी विशुद्धता मे अपूर्व रूप से उन्नति करता है। अध्यवसाय अधिक होते है। इस गुणस्थान मे जीवात्मा की पाच वस्तुओ की भूमिका तैयार हो जाती है। आत्मा सम्यक्त्व प्राप्त करते समय राग द्वेष की ग्रन्थि का भेदन करता है, उसे भी अपूर्व करण कहते है—पर यह अपूर्वकरण गुण स्थान उससे भिन्न है। विभिन्न क्षणवर्ती जिन जीवो के परिणाम अपूर्व है और एक समयवती जीवो के परिणाम सदृश भी हो और विसदृश भी हो—उन्हे अपूर्वकरण कहा गया है। इसमे परिणाम केवल मोहनीय कर्म के उपशमन और क्षपणा करने के लिए उद्यत होते है—किसी कर्म का उपशमन या क्षपण नही होती पर उनकी भूमिका तैयारी होती है। यह भूमिका निम्न पाच बातो की होती है। साधक मे यहा न चेतन मन मे, ऊपर ऊपर और न अचेतन मन मे भीतर ही प्रमाद रहता है, अत साधना पूरी हो जाने से अपूर्व अपूर्व अनुभव होने लगते हैं।

(१) मोहकर्म की स्थिति का घात।

(२) रस घात।

(३-४) गुण श्रेणी स्थापन व सक्रमण।

(५) अपूर्व स्थिति वध।

इन पाच वस्तुओ को जीव ने पहले कभी नही किया इसलिये इन्हे अपूर्वकरण कहा जाता है। यह गुणस्थान और इससे आगे बारहवे गुणस्थान तक सब गुणस्थान ध्यानावस्था मे ही होते हे और इनका काल अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है।

पिछली दो वस्तुओ का अर्थ है कि बंधे हुए कर्म जो उदय मे आने वाले तथा रस देने वाले हैं—उन्हे अपवर्तनकरण के द्वारा नियत समय से पूर्व हटा देना और उनके स्थितिकाल को घटा देना तथा तीव्र विपाक रस को मद कर देना।

गुणश्रेणी स्थापना का अर्थ है कि जिन कर्मो के दलो की स्थिति को घटा कर स्थिति घात किया है, उनको प्रथम के अन्तर्मुहूर्त मे स्थापित करना।

गुण श्रेणी के सक्रमण का अर्थ है कि जिन शुभ कर्म प्रकृतियो का वध अभी हो रहा है—उसमे पहले बाधी हुई अशुभ प्रकृति को शुभ मे मिला देना और ऐसे अशुभ को भी शुभ मे सक्रमित कर लेना।

अपूर्वस्थिति वध का अर्थ है कि जीवात्मा साधक पहले की अपेक्षा अत्यन्त अधः स्थिति के कर्मो को ही वधने दे।

ये पाच विधान नीचे के गुण स्थानो मे भी काम करते हैं—परन्तु इस गुणस्थान मे आकर इनकी भूमिका की तैयारी अपूर्व होती है। यही इनकी प्रवृत्ति बहुत तेजी से होती है। साधक उपशमन से बढेगा या क्षीण कपाय मार्ग से बढेगा यह इस गुणस्थान मे निर्णय हो जाता है। सक्रमण क्रिया मे मूलकर्मो का बदलाव नही होता। आयुकर्म की प्रकृति नही बदलती। इसके स्थिति अनुभाग मे ही भले ही फेर बदल हो जाये। दर्शन मोहनीय का चारित्रमोहनीय मे फेर बदल नही होता। दोनो की अलग 2 अवस्था है।

कर्म की विभिन्न अवस्थाए एवं स्वरूप—

कर्म की विविध अवस्थाए दस हैं—

(1) बध, (2) सत्व, (3) उत्कर्षण, (4) अपकर्षण, (5) सक्रमण, (6) उदय, (7) उदीरणा, (8) उपशम, (9) निधत्ति, और (10) निकाचना।

(१) **वंध**—यह कर्मवर्गणाओ का आत्मप्रदेशो मे परस्पर एक क्षेत्रावगाह बधना हे। इसमे कर्म वर्गणा का ग्रहण तो मन वचन काय की क्रिया (योग) द्वारा होता है। बध वस्तुत अशुद्धोपयोग रूप भावो, इष्ट या अनिष्ट राग द्वेष के निमित्त से होता है। बध भाव-बध और द्रव्य बध दो प्रकार से होता है। बध के चारे भेद है—(1) प्रकृति, (2) स्थिति, (3) अनुभाग और (4) प्रदेश। कर्म का स्वभाव उसकी प्रकृति हे—यथा ज्ञानावरण कर्म की प्रकृति ज्ञान को आवृत्त करना है। स्थिति

कालमर्यादा को कहते है। जघन्य व उत्कृष्ट रूप होने के अलग-अलग नियम है। अनुभाग फलदान की योग्यताशक्ति है। प्रत्येक कर्म मे रस अनुभव न्यूनाधिक रहता है। प्रति समय बधने वाले कर्म परमाणुओ की परिगणना प्रदेश बध मे की जाती है। एक क्षेत्रावगाही सश्लेषण सबध होना भी प्रदेश बध है। जीवात्मा अपने निकटस्थ कर्म-स्कधो को योग द्वारा अपनी ओर खीचता है और अपने प्रदेशो मे ओतप्रोत कर लेता है। नये कर्म–परमाणुओ मे चिकनाहट होती है, अत वे जीवात्मा के पुराने कर्मो से चिपट कर बध जाते है। योग वीर्यान्तिराय कर्म के क्षयोपशम से कर्मो को ग्रहण करता है।

(२) **सत्व**—आत्मा के साथ कर्म बधने के बाद तत्काल काम न करके जब तक वही सत्ता मे वर्तमान रहता है उसे सत्व कहते हैं। वह कब से काम करने लगेगा, वह भी नियमित होता है। जब तक काम नही करता उसे आबाधा काल कहते हैं। उदीरणा को छोडकर साधारण नियम से ही सत्व का कार्य होता है। आबाधाकाल के बाद प्रति समय–एक-एक निषेक काम करता है और विवक्षित कर्म के पूरे होने तक वह चालू रहता है। आयु कर्म की आबाधा का क्रम जुदा कहा जाता है। शेष क्रम समान है।

(३) **उत्कर्षण**—कर्म की स्थिति और अनुभाग बढाने की क्रिया उत्कर्षण क्रिया है—यह क्रिया कर्म बध के समय उस समय सम्भव होती है जब विवक्षित कर्म का पुन बध हो रहा हो—तब उसमे बधे हुए कर्म का नवीन कर्म बध के समय स्थिति व अनुभाग बढ सकता है। यह साधारण नियम है। अपवाद भी इसके अनेक हे।

(४) **अपकर्षण**—स्थिति और अनुभाग के घटाने को अपकर्षण कहते है। कुछ अपवादो को छोडकर किसी भी कर्म की स्थिति और अनुभाग कम किया जा सकता हे। शुभ परिणामो से अशुभ कर्मो की स्थिति और अनुभाग कम हो जाता है। तथा अशुभ परिणामो से शुभ कर्मो की स्थिति व अनुभाग कम हो जाते है।

(५) **संक्रमण**—एक कर्मप्रकृति के परिणामो का सजातीय दूसरी प्रकृति हो जाना सक्रमण हे, यथा असाता के परमाणुओ का साता रूप हो जाना। पर मूल कर्मो का परस्पर सक्रमण नही होता—यथा ज्ञानावरणी कर्म दर्शनावरणी नही हो सकता। आयु कर्म के अवान्तर भेदो का परस्पर सक्रमण नही होता, न दर्शनमोहनीय का चरित्रमोहनीय से और न चारित्र-मोहनीय का दर्शनमोहनीय से ही सक्रमण होता हे। एक-एक कर्म के भेदो मे ही सक्रमण होता है। आयु कर्म का अपने भेदो मे भी सक्रमण नही होता। ज्ञानावरणी कर्म के पाच भेदो मे सक्रमण हो जायेगा, परन्तु मोहनीय के दो भेद दर्शन मोहनीय व चारित्र मोहनीय मे आपस मे सक्रमण नही होता।

(६) **उदय**—प्रत्येक कर्म का फल-काल निश्चित रहता हे। इसके प्राप्त होने पर कर्म के फल देने रूप अवस्था की उदय सज्ञा है। फल देने के बाद उस कर्म की निर्जरा हो जाती हे। जितने जाति के कर्म बधे रहते हे वे सब एक साथ अपना काम नही करते जैसे—साता वेदनीय के समय असाता

वेदनीय काम नही करता—तब असाता भी प्रति समय साता रूप ही परिणमन करता रहता है और फल भी साता रूप ही होता है । आबाधा काल के बाद कर्म की स्थिति जितनी समय होती है उतने ही विभाग कर्म परमाणुओ के होकर एक भाग को निषेक कहते है। एक-एक निषेक एक-एक समय मे आता रहता है और फल देकर नष्ट होता रहता है । सक्रमण रूप क्रिया उदय काल के एक समय पहले ही हो लेती है ।

(७) **उदीरणा**—जो निषेक अभी तक उदय मे आने योग्य नही है, उनको पहले ही उदय मे लाकर उदय मे आने वाले निषेक मे मिला देना उदीरणा है। अर्थात् कर्म को जल्दी उदय मे लाकर खिरा देना है । उदीरणा उन्ही कर्मो की होती है, जिनका उदय है। अनुदय प्राप्त कर्मो की उदीरणा नही होती, तथा किसी को साता का उदय है तो अपकर्षण साता और असाता दोनो का ही होता है–मगर उदीरणा साता की ही होती है । यदि उदय बदल जाये तो उदीरणा भी बदल जाती है ।

(८) **उपशम**—कर्मो की वह अवस्था जिसमे वह निषेक जो अभी उदय मे आने योग्य नही हुए है तथा जिनकी उदीरणा नही हो सकती हे, वे उपशात कहलाते हैं । उपशात अवस्था को प्राप्त कर्म का उत्कर्षण अपकर्षण और सक्रमण हो सकता है, मगर उदीरणा नही हो सकती ।

(९) **निधत्ति**—कर्म की वह अवस्था जो उदीरणा और सक्रमण के अयोग्य होती है—निधत्ति कहलाती है । निधत्तिअवस्था को प्राप्त कर्म का उत्कर्षण तथा अपकर्षण हो सकता है, किन्तु उसकी उदीरणा नही हो सकती, न सक्रमण होता है ।

(१०) **निकाचना**—कर्म के वे निषेक जो अभी उदय मे आने वाले या सक्रमण होने वाले या उत्कर्षण अपकर्षण होने वाले नही है, परन्तु उनकी उदीरणा हो सकती है, निकाचित कहलाते है । कर्म की यह अवस्था निकाचना कहलाती है ।

कर्म की एक प्रकृति दूसरी प्रकृति मे बदल सकती है । इसे सयोजना भी कहते है ।

स्पष्ट होता है कि जिन आकाश–प्रदेशो मे आत्म-प्रदेशो का अवगाहन रहता है इन्ही आकाश प्रदेशो मे कर्म पुद्गल स्कन्ध भी रहते हैं इन्हे ही जीव गहण कर सकता है। जो कर्म प्रत्यय ऐसे आकाश प्रदेशो मे हैं जिनमे आत्मा ने अवगाहन नही किया, उनका जीवात्मा के कर्म रूप मे ग्रहण या परिणमन भी नही होता, जीव उन्हे ही ग्रहण करता है जो वहा स्थित व स्थिर हो ।

कर्म बंध निकाचित और अनिकाचित—

जीव का कर्म वध दो प्रकार से होता है–निकाचित और अनिकाचित । कर्म बध के समय कषाय का तीव्र परिणाम तथा तीव्र लेश्या हो तो निकाचित कर्म बध और मद परिणाम व मद लेश्या

हो तो अनिकाचित कर्मवध होता है। अनिकाचित कर्मवध हो और बादमे जीव के परिणाम (भाव) बदल जाए तव तप ध्यान आदि से पहले के वधे अनिकाचित कर्मों की निर्जरा भी हो जाती है।

अनिकाचित कर्म बध तीन प्रकार का होता है स्पृष्ट, बद्ध और निधत्त। जो कर्म बध अति शिथिल हो वह स्पृष्ट शिथिल हो वह बद्ध और कुछ गाढा हो वह निधत्त कहा जाता है। जो कर्म बध सामान्य पश्चाताप आदि से टूट जाये वह स्पृष्ट, जो विशेष आलोचना आदि से टूटे वह बद्ध और जिसे तोडने मे विशेप अभ्यासादि करना पडे वह निधत्त कर्म जानना चाहिये। जिस कर्म वध का बिना फल भोगे छुटकारा न हो वह निकाचित कर्म बध होता है। अशुभ कर्म का निकाचित वध हो तो जीव को बहुत ही प्रकार की यातना सहन करनी पडती है जो कर्म हसते-हसते बाँध लिए उनसे रोते-रोते ही कभी छुटकारा होता है। अत निकाचित कर्म वध से वचना चाहिए। तीव्र अध्यवसाय (परिणाम) से निकाचित कर्म बध होता है। अनिकाचित कर्म वध मे शुभ परिणामो द्वारा परिवर्तन हो सकता है पर निकाचित मे वध के वाद कोई परिवर्तन नही होता—अत तीव्र अध्यवसायो के प्रति सावचेत रहने को ज्ञानी पुरुषो की शिक्षा हैं। मोह तथा राग एव कषायो को अशुभ तथा शुभ भावा-आकाशो मे विचरण ही भव-ससार मे विचरण का हेतु है, क्योकि इन अशुभ व शुभ भाव-आकाशो मे ही आत्म प्रदेशो के साथ अनात्म कर्म—पुद्गल सघात तथा परमाणुओ का अवगाहन है अत उनमे अस्तित्व तथा बध सम्भव होता है। जव आत्मा शुद्ध निस्पृह निर्लिप्त वीतराग भाव गगनो मे विहार करता है—जो मात्र शुद्ध ज्ञायक व ज्ञान गगन है तव वहा कर्मास्रव तथा कर्मबध सम्भव ही नही होते वहा तब असख्यात गुणी कर्म निर्जरा ही घटित होती है और सम्पूर्ण कर्मनिर्जरा के उपरात मात्र शुद्ध तथा अबध (कर्मश्लेप रहित) दशा ही सर्वदा के लिए रहती है। वध का फिर कोई हेतु भी शेष नही रहता—तब भव भ्रमण सदा के लिए समाप्त ही हो जाता है।

जैन शास्त्रो ने पौद्गलिक कर्मवर्गणाओ, मनोवर्गणाओ और मन के सयम-नियन्त्रण आदि का सूक्ष्म अध्ययन करके इस अध्ययन का, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति और अनुभाग अर्थ वाले निपेक समूहो के आगमन, सचय, विलयन, परिवर्तन, निर्गमन उदय सम्बन्धी चित्रण गणितीय जानकारी मे किया है। जैन कर्म व्यवस्था वस्तुत मौलिक हे, आज के मनोविज्ञान की गवेषणाओ से भी समर्थित हे। यह कर्म व्यवस्था वैदिक उपज नही, जैन दर्शन की ही देन है, क्योकि वैदिक साहित्य मे आत्मा और मोक्ष की कल्पना भी नही थी—ये भी जैन चितन से उपनिषद् काल मे स्वीकृत हुई है।

अपूर्वकरण गुण-स्थान के समय जीव पाच वस्तुओ का विधान करता है। यह ऊपर कहा गया है। जव परिणाम (भावो) की अपूर्वता होती है तो ऐसी आत्म शुद्धि की प्राप्ति होती हे। कि वहा रहा सहा मोहवल क्षीण या उपशमन किया जा सकता हे और इसका उद्यम भी होता है। इसमे भावो की अर्थात् अध्यवसायो की विषयो की ओर से पलटने की क्रिया विद्यमान रहती है। अत. इसे निवृत्ति गुण-स्थान भी कहते है। इसमे परिणामो की विशुद्धि अपूर्व-अपूर्व ही रहती हे। अत. अपूर्वकरण नाम भी है। भिन्न समयवर्ती जीवो के परिणामो की अपेक्षा विसदृश्यता रहती है। लेकिन एक समय वर्ती जीव

मे सदृश्यता तथा विसदृश्यता दोनो ही सम्भव होती है। छठे और सातवे गुण स्थान मे धर्म ध्यान सुसिद्ध होने के बाद इस गुण स्थान से शुक्ल ध्यान की भूमिका का आरम्भ होता है। शुक्ल ध्यान का सम्बन्ध आगे के गुण स्थानो के साथ भी है।

देवायु का आस्रव सातवे गुण स्थान तक सम्भव होता है—आगे नही इसलिए आठवे गुणस्थान मे उसका सवर होता है।

निद्रा और प्रचला का आस्रव आठवे गुण स्थान के कुछ भाग तक सम्भव है—आगे उसका संवर हो जाता है। हास्य, रति, भय, जुगुप्सा,—इनका आठवे गुण स्थान के अन्तिम भाग तक आस्रव होता है। अत इनका सवर आगे के गुण स्थान मे होता है।

देवगति, पचेन्द्रिय जाति, वैक्रियक शरीर, आहारक शरीर, तैजस शरीर, कार्माण शरीर, समुचतुर्स्र सस्थान, वैक्रियक आगोपाग, आहारक आगोपाग, वर्ण, गध, रस, स्पर्श, देवगत्यानुपूर्वी, अगुरूलघु, अपघात, परघात, उच्छवास, प्रशस्त विहायोगति, बादर, पर्याप्त, प्रत्येक शरीर, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, निर्माण और तीर्थंकर इनका आठवे गुण स्थान के कुछ और आगे के भागो तक आस्रव सम्भव है और आगे इनका सवर हो जाता है।

६ अनिवृतिकरण संयत (बादर सांपराय) गुणस्थान

यह गुण स्थान आठवे से भी अधिक उन्नतिशील होता है। अध्यवसायो की भिन्नता नही होती अत अनिवृत्ति कहा गया है। यहा एक स्थानवर्ती जीवो के प्रति समय एक समय एक ही परिणाम होते है। भिन्न समयवर्ती जीवो के परिणामो मे सर्वथा विपमता होती है। बादर का अर्थ है स्थूल, तथा सापराय का अर्थ है कषाय। इस श्रेणी मे दृष्ट, श्रुत और मुक्त की विषयाभिमुखता नही होती, भाव पुन विषयो के तरफ नही लोटते। बादर (स्थूल) कषायो के शमन या क्षपण मे आत्मा के तत्पर रहने से इसे अनिवृत्ति बादर सापराय कहते है। इस गुणस्थान के अन्तर्मुहूर्त प्रमित काल मे से विवक्षित किसी एक समय मे अवस्थित जीव सस्थान (शरीर का आकार) आदि की अपेक्षा जिस प्रकार निवृत्ति या भेद को प्राप्त होते है, उस प्रकार परिणामो की अपेक्षा परस्पर निवृत्ति को प्राप्त नही होते है अर्थात् वे सब समान होते है। आठवे गुणस्थान मे तो अध्यवसाय विविध प्रकार के रह सकते है। परन्तु इसमे जीवात्मा सम समयवर्ती होता है, इसके अध्यवसाय एक से ही होते है उनमे भेद या विषमता नही होती। भिन्न समयवर्ती जीवो के परिणामो मे सर्वथा विपमता होती है पूर्व के गुणस्थानो से आगे–आगे के गुण स्थानो मे विशुद्ध परिणामो की वृद्धि होती जाती है। इस विशुद्धि के बढने के कारण अध्यवसायो की विविधताये, भिन्नताये कम होती जाती है। इस गुण स्थान के प्राप्त करने वाले या तो उपशम श्रेणी के होते है, या क्षपक (क्षय करने वाली) श्रेणी के होते है। इस गुण स्थान के जीव अपने निर्मल ध्यान रूप अग्नि की शिखाओ से मोह रूप शत्रु का क्षय करते हैं या उपशम करते हैं। परिणामो की विशुद्धि समान रूप से बढ़ती जाती है। भिन्न समयवर्ती जीवो मे

विसदृश्यता तथा एक समयवर्ती जीवो मे सदृश्यता ही पायी जाती है। समकाल पर आये हुए सब जीवो के परिणाम परस्पर समान होते है। इस तरह हर समय अनुक्रम से अनत गुण विशुद्ध अध्यवसाय समान ही होते है। इसमे नवे गुणस्थान मे होने वाले परिणामों से आयु कर्म को छोडकर शेष सात कर्मों की गुण श्रेणी निर्जरा, गुण-सक्रमण, स्थिति-खडन और अनुभाग खडन होता है और मोहनीय कर्म के वादरकृष्टि, सूक्ष्म दृष्टि आदि अनेक कार्य होते है। यहा मोह रूपी महा चट्टान के छोटे-छोटे टुकडे कर दिये जाते है। समता का बोध उत्पन्न होता है और इस समता से विशेष विशुद्धता आती हैं। यहा अभेद आरम्भ होता है, व्यक्तिगत भेद समाप्त होकर सभी साधक समान हो जाते हे।

इस नोवे गुण स्थान तक यथा सम्भव पुरुषवेद, सज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ का आस्रव रहता है—इसलिये इससे आगे इनका सवर हो जाता है। यहा एक सज्वलन लोभ ही शेष रहता है। मोहनीय कर्म के उत्कृष्ट प्रदेश बध को यह नवमा गुणस्थान अनिवृत्तिकरणधारी करता हे।

१०. सूक्ष्म सांपराय संयत गुणस्थान—

इसमे परिणामो की प्रकृष्ट विशुद्धि होती है। मोहकर्म का अवशिष्ट कषाय उपशम या क्षय को प्राप्त होता है। केवल एक लोभ कषाय सूक्ष्म रूप से वाकी रह जाती है, अत ही इसका नाम सूक्ष्म सापराय है। इस गुण स्थान मे उपशम तथा क्षायिक दोनो श्रेणी वाले आते है। इसमें चारित्रमोह कर्म के लोभ कषाय के अलावा अन्य कषायो का उदय ही नही होता। जिस प्रकार धुलने के वाद भी कसुमली रग वाले वस्त्र मे भीतर से सूक्ष्म रक्त-लालिमा की छाया सी रहती ही है वैसे ही सूक्ष्म राग सहित जीव को सूक्ष्म कषाय (सापराय) का पूर्व सस्कारो का अवचेतन मन मे रहना जानना चाहिए। दसवे गुण स्थान तक पाच ज्ञानावरण, शेष चार दर्शनावरण, यश कीर्ति, उच्च गोत्र और पाच अन्तराय इन १६ प्रकृतियो का आस्रव होता है—अत आगे के गुण स्थानो मे इनका सवर होना कहा जाता है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, नाम, गोत्र व अन्तराय—इन छ कर्मो को उत्कृष्ट बध यह दसवे गुणस्थानवर्ती आत्मा करता हे। यहां उत्कृष्ट योग होता है।

साधक विशेष चारित्रवल से प्रमाद-अप्रमाद के सघर्ष मे विजयी होकर अप्रमत्त होता है। फिर अपूर्वकरण मे अपूर्वता से मोह–बल को नष्ट करता है। फिर स्थूल कषाय नष्ट होते है व अन्त मे सूक्ष्म कषाय। अप्रमत्त के योग से अनन्तानुवधी क्रोध, मान, माया, लोभ, तथा मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमहोनीय, सम्यक्त्व मोहनीय सातो कर्म प्रकृतिया को क्षय करके चारित्र मोहनीय की शेष इक्कीस प्रकृतियो को जिनमे आत्मा का अनन्त चारित्र ढका हे, क्षय करने की तैयारी के समय वह अपूर्वकरण गुणस्थान का स्वामी हुआ। फिर आठवे मे मोहनीय कर्म की २१ प्रकृतियो को वह निर्वल करता हे। इनमे से २० का तो नवे मे नाश ही कर देता है, और इक्कीसवी का अधिकाश भाग भी यहा नवे मे नष्ट कर देता है। वाकी बचे २१ वी प्रकृति के भाग को इस १०वी गुण श्रेणी मे नष्ट कर देता हे। इस गुणस्थान की भी स्थिति अन्तर्मुहूर्त की है।

११ उपशांत मोह या उपशात कषाय गुणस्थान

इसे वीतराग छद्मस्थ गुण स्थान भी कहते है। कतक फल सहित जल या शरद काल मे सरोवर का जल जैसे निर्मल होता है उसी प्रकार जिसका सपूर्ण मोहकर्म सर्वथा उपशात हो गया है ऐसा इस गुण स्थान वर्ती जीव निर्मल परिणाम वाला होता है। इस श्रेणी मे जीव की उत्कृष्ट स्थिति एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। जब साधक कषायो को नष्ट न करके मात्र शात करके आगे बढता है और मोह व विषय वासना क्षय न होकर उपशात व दबी सी ही रह जाती है, यानी सत्ता मे कषाय विद्यमान रहती है, तब उसका उदय हो जाता है और साधक जीवात्मा अपने परिणाम व गुण श्रेणी से नीचे पतित हो जाता है। उपशम से होने वाली आत्म-परिणाम-विशुद्धि कुछ काल तक ही रहती है, अनन्तर परिणामो मे कषाय व मोह का उदय होकर अशुद्धि का होना अवश्यभावी हो जाता है तब साधक नीचे श्रेणी मे गिरता है। यहा मे गिरने वाला छठे, सातवें, पाचवें चौथे या पहले गुणस्थान तक मे पहुच जाता है।

१२ क्षीण-मोह या क्षीण-कषाय गुणस्थान

यहा कषाये व मोह बिल्कुल क्षीण व नाश हो जाते है। जिसका चित्त स्फटिक के समान या विमल भाजन मे रक्खे हुए सलिल के समान स्वच्छ हो गया है—ऐसे निर्ग्रन्थ साधु को क्षीण कषाय सयत कहा गया है। जिस प्रकार निर्मली, फिटकडी आदि से स्वच्छ किया हुआ जल शुद्ध स्वच्छ स्फटिक मणि के भाजन मे नितरा लेने पर सर्वथा निर्मल व शुद्ध होता है उसी प्रकार इस गुण-स्थान मे जीव निर्मल स्वच्छ शुद्ध परिणाम वाला होता हैं। यहा चारित्र यथाख्यात होता है, पर अभी केवल ज्ञान की प्राप्ति नही होती है। उपयोग मे आनद, स्थिरता और विशुद्धता बहुत बढ जाती हे। इस गुण स्थान तक ही आतमा साधक एव अन्तरात्मा रहता हे। अब वह उर्ध्व चढाई को ही करेगा—वापिस नीचे पतन का कोई हेतु नही रहता। यहा तक धर्म-मेघ समाधि हो जाती है—अर्थात् आतमा के विशुद्ध भावो के धर्म रूप मेघ वर्षा लूम झडियो की तरह निरन्तर बरसते है। यहा प्रज्ञा प्रखरतर हो जाती है। बाहर की तरफ प्रज्ञा न होने से यह असप्रज्ञात समाधि कहा जाता है। तब प्रज्ञा का मुख स्व आतमा के ही स्वभाव मे ही सलीन रहता है। इस गुणस्थान की स्थिति अन्त मुहूर्त है। इसके अन्त समय मे शेष तीन घाती कर्मो का नाश होता है। चरम शरीरी के तीन आयु की सत्ता का स्वत अभाव है।

क्षपक श्रेणी का क्रम (सक्षेप मे)—

(१) चौथे गुण-श्रेणी से सातवे गुण श्रेणी (अप्रमत्त विरत) तक अनन्तानुबन्धी चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) तथा दर्शनत्रिक् (मिथ्यात्व, मिश्र और समयक्त्व मोहनीय) इन ७ प्रकृतियों का क्षय होता है।

(२) आठवे मे किसी प्रकृति का क्षय नही होता है।

(३) नोवे गुण स्थान मे ३६ प्रकृतियो का क्षय होता है, तेरह नाम कर्म की क्षय होती है, चार प्रत्याख्यानावरणी और चार अप्रत्याख्यानावरणी का क्षय तथा नपु सक, स्त्रीवेद, व पुरुष वेद व सज्वलनक्रोधमान माया का भी क्षय होता है। स्त्यानगृद्धि त्रिक् दर्शनावरण की तीन क्षय होती है।

(४) दसवे मे सज्वलन लोभ का शेष भी क्षय हो जाता है।

ऐसे बारहवे "क्षीण मोह" गुणस्थान मे सम्पूर्ण कषाय व मोह का नाश होकर वीतरागता का उदय होता है। यहा ससार के प्रमुख कारण "मोह" का नाश हो जाता है।

छठे गुण स्थान तक वन्द्य वन्दक या पूज्य पूजक भाव रहता है, सातवे अप्रमत्त गुण स्थान मे आत्म भाव का परिचय तथा अनुभव ऐसा हो जाता है कि प्रमत्त भाव होता नही। और मैं वन्दक या वन्द्य ऐसा भाव नही रहता। मैं वन्दना करने वाला और वह परमेष्ठी मेरा वन्द्य ऐसा भाव केवल प्रमत्त गुण स्थान पर्यन्त ही रहता है। असाता की उदीरणा की व्युच्छति भी छठे गुण स्थान मे है। सातवे मे क्षुधादि वेदना का अभाव है। जिस समय ध्याता योगी श्रेणी चढता है तो सातिशय अप्रमत्त गुणस्थान मे अध करण के प्रारम्भ मे ४ बाते अवश्य ही होती है। (१) प्रति समय अनन्त गुणी विशुद्धि (२) स्थिति वध का घटना (अपसरण) (३) सातावेदनीयादि पुण्य प्रकृतियो मे अनन्त गुणकार रूप रस का वर्धित होना और (४) असाता आदि अशुभ प्रकृतियो का रस अनन्त गुण घट कर दो स्थान रूप रह जाना।

इसके बाद अपूर्वकरण मे चार बाते अवश्य होती है। (१) निर्जरा, (२) गुण श्रेणी सक्रमण (३) स्थिति खण्डन (४) अनुभाग खण्डन, इनका ऊपर वर्णन हो चुका है। इनके प्रभाव से असाता आदि अप्रशस्त कर्म प्रकृति का रस असख्यातवार अनन्तवा भाग तक घट जाता है तब मद शक्ति हुए असाता वेदनीय कर्म मे परीषह उपजाने की सामर्थ्य नही रहती, तथा नवीन असाता कर्म का वध होता नही, अत सप्तम गुणस्थान से आगे एक साता वेदनीय का ही बध रहता है और असाता का बन्ध होता नही। इस स्थान पर अति मद उद्यम वाला असाता कर्म अपना कार्य करने मे वैसे ही समर्थ नही होता, जैसे मद उदयरूप सज्वलन कषाय अप्रमत्तादि गुणस्थानो मे प्रमाद नही उपजा सकता तथा जैसे अति तीव्र वेदनीय के उदय मे उपजी मैथुन सज्ञा मद वेद का उदय रूप गुण स्थान मे नही होती। तथा निद्रा प्रचला का उदय तो बारहवे गुण-स्थान तक द्विचरम समय पर्यन्त है परन्तु उदीरणा के बिना निद्रा नही कर सकती है। जागृत अवस्था के बिना आत्मानुभव रूप ध्यान नही बन सकता है। वैसे ही असाता की उदीरणा बिना असाता कर्म क्षुधातृषादिक को भी नही उपजा सकती है। अप्रमत्त साधु तो इच्छा मात्र भी नही कर सकता है। अप्रमत्त साधु इच्छा मात्र भी करेगा तो प्रमत्त हो जाता है।

जीव को स्व सुख का आधार स्वय ही है। पर जब तक जीव सुख के आधार को अपने से भिन्न पर-पदार्थ को या व्यक्ति को जान कर योग (मन वचन काय की चेष्टा) और कषायो (मनोगत

औधादि भावो) को करता रहता है, तो इन ही की परिकलनाओ मे अपने लिए अनन्त भवो की शृ खलाओ को उत्पन्न करता रहता है। ये ही निष्कर्म कर्म सिद्धात का रहस्य हे। जीव की प्रशस्ति योग और कषायो की मदता और क्षय (शून्यता) मे है, उनकी तीव्रता मे हर्गिज नही।

सक्लेश सूक्ष्म मनो वर्गणा की उदय उपशम और क्षय-तीन प्रकार की दशा है। इनमे से उदय रूप मे चित्त के विमोहित होने से और योग प्रदेश-स्पदन रूप क्षेत्रो के भवर मे फस जाने से कर्मावरण चिरकाल तक अपनी लीला दिखाता रहता है। मनो वर्गणाए मद रागद्वेप रूप उपशमित होने पर ही ज्ञान की ओर जिज्ञासा पर अपेक्षतया विशुद्धि की द्वार तक आती हे—इनमे आस्रवादि साता रूप चिरकाल तक के लिए होना सभव होता है।

जब न योग व न कषाय ही जीव मे रहते, तो अवन्ध निर्मल व कर्मकालिमा रहित मनो-वर्गणाओ से परे जीव अपने ही आत्म लोक का सुख भोगता है। कर्म और जीव का सम्वन्ध उन परमाणुओ के प्रकृति, प्रदेश, अनुभाग, और स्थिति के सम्वन्ध है, जो जीव ने स्वय आप ही बोये, कमाये, सग्रह किए और वेदे हैं। ज्ञानी इसी रहस्य को जान कर इनको वेदता नही, वह न कर्म चेतना मे होता, न कर्म फल चेतना मे—वह तो अपने को ज्ञान चेतना मे जागृत रखता है। अत वह नये प्रकार का दल दल उत्पन्न नही करता जिसमे वह स्वय फसे। ऐमे जो भी कर्म पुद्गल वर्गणाओ की गणित को जान लेता हे वह अपने चैतन्यता के ज्ञान के ही आधार पर टिकने का प्रयास करता है। ज्ञान मे न इच्छा हे, न राग हे, न द्वेप है—न मोह है, न कपाय है। ज्ञानी अत अप्रमत्त हो जाता है, मोह के मद से रहित अप्रमत्त हो जाता है, यानी अपने आप मे पूर्ण जागृत हो जाता हे। द्रव्य कर्म और भाव कर्म की तरफ दृष्टि भी नही डालना,—न उनके विपाक से हुए सुख दु ख साता असाता पर टिकता, वह तो ज्ञान से इतर किसी भी द्वार पर टिकना ही नही चाहता। कर्म विपाक के उदय का अनुभव जीव के उद्धार को सम्भव नही होने देता। उपशम और क्षय के हेतु वे भाव हैं जो पच-लब्धि रूप कह गए है। ज्ञानी का ज्ञायक भाव ही क्षायिक भाव है। ज्ञानी अपनी अप्रमत्त दशा मे अनुद्विग्न, इच्छा रहित निरूच्छुक पणे रह कर—द्दष्टा व ज्ञाता बन कर विचरण करता है। क्षीण मोह व क्षीण कषाय गुणस्थान का जीव वीतरागी कहलाता हे। वीतरागी के सुख की कोई उपमा नही है।

१३. सयोगी केवली (सदेहमुक्त) गुणस्थान

ज्ञानावरण दर्शनावरण मोहनीय तथा अन्तराय कर्म का नाश होने से ज्ञान की परिपूर्णता तथा निर्मलता होती है। यहाँ साधक दशा समाप्त हो जाती हे। केवल ज्ञान दिवाकर की किरणो के समूह से जिनका अज्ञानान्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है, जिन्होने ९ केवल लब्धियो के उद्गम से "परमात्मा" सज्ञा प्राप्त की है और जो परसहाय से रहित केवल ज्ञान—दर्शन के सहित है, ऐसे योग युक्त, केवली भगवान को सयोगी जिन कहा गया हे। इन्हे राग द्वेष अब नही होता—उनके इस कारण नवीन कर्म बध भी नही होता। जिस प्रकार सूखी भित्ती पर आकर लगी हुई बालुका तत्क्षण

झड जाती हे इसी प्रकार योग के सद्भाव से आया हुआ कर्म भी कपाय के न होने से तत्क्षण झड जाता है। इस दशा मे केवली-प्रभु की वाणी खिरती है, धर्मोपदेश होता हे। मन, वचन काय रूप त्रियोग का सवर तो चोदहवे गुण स्थान मे होता है। यहा योग प्रवृत्ति होने से ही सयोगी कहा जाता है। ये सर्वज्ञ परमात्मा परम गुरु साधको के आराध्य, ध्येय और उपास्य है। रूपस्थ ध्यान मे ये ही ध्येय होते है।

ससार बध के हेतु मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग कहे गये है—इनका गुण श्रेणी आरोहण मे सवर हो जाता है। मिथ्यात्व मे तो आस्रव के सब ही निमित्त होते है। सासादन मे मिथ्यात्व का अभाव होता है। अविरति का अभाव छठे गुण स्थान मे होना है। प्रमाद का अभाव सातवे गुण स्थान से होता है। कषाय का अभाव ग्यारहवे गुण स्थान से होता है। योग का चोदहवे गुण स्थान मे अभाव होता है। आस्रव का निरोध ही सवर है। तेरहवे गुणस्थान तक योग का सद्भाव रहता है।

गुण श्रेणी आरोहण मे कर्म प्रकृतियो का बध, अबन्ध, तथा सत्त्व-व्युच्छित्तिया "पच-सग्रह" आदि कर्म ग्रन्थो मे बडी विवेचनाए अक सद्दष्टियो सहित दी गई है। ये जैन सतो तथा आचार्यो की सूक्ष्म तथा अतिवेधक मनीषा दृष्टि को इगित करती है। जीव-समास, मार्गणास्थान, तीनो योग तथा गुणश्रेणियो मे कर्मप्रकृति की सत्ताए किस प्रकार बन्धती है, किस किस प्रकार अबध रहती है, और किस-किस प्रकार वह कितनी कितनी व्युच्छित्तिया (निर्जरा) को प्राप्त होती है, इन सबका स्पष्टीकरण इन ग्रन्थो मे है।

तीसरे गुण स्थान, बारहवे गुणस्थान और तेरहवे गुणस्थान मे जीव का मरण नही होता, शेष ग्यारह गुणस्थानो मे होता है। पहला मिथ्यात्व, दूसरा सासादन और चौथा अविरति गुणस्थान मरण के समय जीवके साथ जाते है—शेप गुणस्थान मरते समय जीव के साथ नही जाते।

१३वे गुण स्थान के सामान्य केवली भव्य जीवो को उपदेश देते हुए गाव गाव विहार करते है, केवल ज्ञान प्राप्त करने वाले अर्हन्त तीर्थंकर तीर्थ स्थापना करके भव्य जीवो के ससार पार होने का एक महान साधन बना देते है।

वस्तुत जो गुणस्थानो का क्रम समझ कर उत्तरोत्तर ऊचे गुणस्थानो को प्राप्त करेगे, वे अनन्त सुख के धाम को प्राप्त करते है।

सम्यग्दर्शन (रूचिरूप) चौथे गुणस्थान से चारित्र की प्राप्ति बारहवे गुणस्थान के पहले समय मे, केवलज्ञान की प्राप्ति तेरहवे गुणस्थान के आदि मे होने पर भी यानी दर्शन ज्ञान की एकता होने पर भी आत्मा का मोक्ष नही हुआ। इसका समाधान यह है कि बारहवे गुण स्थान मे आत्मा के अनन्त गुणो मे से यहा चारित्र गुण की ही शुद्धता हुई है—और अन्य बहुत से गुणो का

विकारी परिणामन शेष रहने से मोक्ष दशा नही हुई—अत सम्यक् चारित्र का अर्थ मात्र एक चारित्र गुण को ही न समझे, वल्कि अव्यावाध, अवगाहना, अगुरुलघुत्व, सूक्ष्मत्व, आदि गुणो का शुद्ध परिणामन भी जानना चाहिये। ऐसे सम्यक् रूप दर्शन ज्ञान और चारित्र की एकता पर ही मोक्ष की प्राप्ति होती है।

१४ अयोगी—केवली या विदेह-मुक्ति

जो जीव शैल के समान स्थिर परिणाम वाले है या जिन्होने अठारह हजार शील भेदो के स्वामित्व रूप शीलेशत्व को प्राप्त किया है, जिनका आस्रव नि शेष होकर सर्वथा रुक गया है, जो कर्म रज से विमुख है और योग से रहित है ऐसे केवली भगवान को अयोगी केवली कहते है। वे लेश्या से रहित है।

विशुद्ध और परिपूर्ण ज्ञान-ज्योति के स्फुट विकास रूप केवल ज्ञान होने के पश्चात् योग की प्रवृत्ति ही बद हो कर अपने समस्त योग सुमेरू पर्वत की तरह निष्कम्प करके, विशुद्ध शुक्ल परिणाम ज्वाला रूप व्याप्त होकर अनन्त चतुष्टय के विकास सहित, देह से आत्म प्रदेशो का वियोग होकर, सहज उर्ध्वगमनशीलता से सिद्धालय मे पहुच कर स्थिर हो जाते है, तब यही विदेह या अशरीरी मुक्ति है। उनकी ससार स्थिति सदा काल के लिए समाप्त हो जाती है और वे अनन्त अव्याबाध शाश्वत् अलौकिक आत्म सुख कैवल्य को प्राप्त करते हैं। सयोग से अयोग-केवलि गुण स्थान का काल अ, इ, उ, ऋ, लृ पाच स्वर-वर्णो के उच्चारण काल जितना ही अल्पकाल होता है। इस गुण-स्थान मे आयु कर्म तथा अघाती कर्म अधिक हो तो वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्म की स्थितियो को समुद्घात द्वारा केवलि अयोगक्रिया से पूर्व ही सम कर लेते हैं।

महात्मा भगवानदीन ने इन १४ गुण स्थानो की सज्ञाओ के भावो को सरल नाम देकर इस प्रकार कहा है—

(१) जड मूर्ख (२) गिरने की हालत मे (३) ढिलमिल यकीन (४) आजादी की लगन वाले (५) कर्त्तव्य शील (६) आराम रूप आलस्य (७) निरालस (८) आत्म-दर्शी (९) समदर्शी (१०) आजादी के लालची (११) दवी हुई खुदी (१२) खुदी का खातमा (मोह नाश) (१३) जीवन्मुक्त (१४) सिद्ध—ये गुणस्थानातीत है, अलेश्य है।

सिद्ध (मोक्ष स्थित) आत्मा

णिक्कमा अट्ठगुणा किंचूणा चरम देहदो सिद्धा
लोयग्गठिदा णिच्चा उप्पादवएहिं संजुत्ता ॥१४॥[1]

आठ कर्मों से विवर्जित, आठ गुणो से विभूषित और अन्तिम शरीर से कुछ ऊन—वे सिद्ध है। उर्ध्व गमन स्वभाव से लोक के अग्र-भाग मे स्थित है, नित्य तथा उत्पाद व्यय सयुक्त, केवल

---

1. द्रव्य सग्रह–14

पर्यायों सहित हैं। अर्थात् वे अपरिणामी-परिणामी इस प्रकार सर्व विशुद्ध व परिपूर्ण आत्मा द्रव्य स्वरूप हैं। उनके आठ गुण, सम्यक्त्व, ज्ञान. दर्शन, वीर्य, सूक्ष्मत्व, अवगाहना, अगुरूलघु और अव्याबाध हैं। ये सब अनन्त रूप हैं। उनके अनन्त ही गुण हैं। परन्तु विशेष कर अष्ट गुणो की विशेषता से अष्ट गुण के धारक उन्हे कहा जाता है। उनकी केवल-पर्याय अनन्त गुणो का रस लिये समान-समान रूप से बिना हीनाधिकता, सदा प्रवाहित रहती है। ये सब अत्यन्त शातिमय, निरजन, नित्य हैं—कृतकृत्य है और लोक के अग्र भाग पर निवास करते हैं।

अयोग केवली के योग का निरोध क्रम—

(१) पहले तो स्थूल काययोग से स्थूल मनोयोग, व स्थूल वचन योग का निरोध करते है।

(२) इसके अनन्तर सूक्ष्म काय से स्थूल व सूक्ष्मकाय के योगो को रोक देते हैं। तथा उससे ही मनोयोग तथा वचन योग के भी सूक्ष्म रूपो का निरोध करते है।

(३) तत्पश्चात् सूक्ष्म क्रियानिवृत्ति शुक्ल-ध्यान मे प्रवृत्त होकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म काय योगो को भी निरुद्ध कर देते है।

(४) इस ध्यान के आश्रय आत्म प्रदेश शरीरावयवो मे आकर्षित होकर ऊपर देह के तीसरे हिस्से मात्र मे ही समाये रहते है। समस्त चेतना प्रदेश वही एकत्र हो जाते हैं। आत्म प्रदेश इससे उदर, हृदय, मुख, तथा ब्रह्मांड मे ही स्थिर हो जाते है कि जो देह के भीतर पोले भाग हैं।

(५) फिर समुच्छिन्न क्रिया यानी अप्रतिपाति शुक्ल-ध्यान धारण करते है। तथा शैलेशी-करण करके वेदनीय, नाम, गोत्र और आयु कर्म की यथास्थिति श्रेणी से निर्जरा करते हैं। इस आयु कर्म के छेदन होने से आत्मा ऋजु गति से उर्ध्व की ओर गमन करके सिद्धालय मे विराजती है। केवल-समुद्घात के बाद वे शरीर मे वापिस सर्व व्याप्त होते हैं। तथा पाच स्वर उच्चारण काल जितने अल्प काल मे फिर देह मे से देहाकार हुए घन प्रदेशो से ही मुक्ति का वरण कर लेते है। उनके पुरुषाकार प्रदेश देह से स्वत विमुक्त होकर उर्ध्वगामी हो जाते हैं। वे अशरीरी सिद्ध नित्य मुक्त आत्मा हैं।

सम्यक् आस्था का महत्त्व और त्रयात्मक आत्मा

गुण स्थानो के इस क्रम मे आत्मा की तीन अवस्थाए लक्षित होती हैं। (१) बहिरात्मा (२) अन्तरात्मा और (३) परमात्मा। गुणस्थान एक से तीन तक मे जीव बहिरात्मा होता है। गुण-स्थान चार से बारह तक यह अन्तरात्मा सम्यक् ज्ञानी रहता है। गुण स्थान १३ व १४ मे वह परमात्मा परिणत होता है।

यह वर्णन आत्मा का भेद पूर्वक या व्यवहार का है। वास्तव मे तो आत्मा सदा ही सर्वथा ही निश्चय दृष्टि से निर्मल तथा चिन्मय ही रहता है। विकार या कर्म कालिमा पर्याय मे होते हैं जो भाव रूप अज्ञान-दशा है तथा द्रव्य-रूप कर्म-बन्धन है। जीव का अपने निर्मल स्वरूप की तरफ पलटना तब ही सम्भव होता है जब उसे अपने स्व निर्मल स्वरूप की सम्यक् आस्था, निष्ठा तथा रुचि जागृत होती है। यह रुचि ही उसे सम्यग्दृष्टि या सम्यक्त्वी बनाती है। यह ही उसके अन्तरात्मा होने का प्रथम सूत्र बनती है। यह ही मूल भित्ति है—स्व साधना की। यह गुण स्थानो मे चौथी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका है। प्रथम तीन भूमिकाए तो अध्यात्म भूमिकाए नही है, मगर सम्यक्त्व से विपरीत या अपूर्ण दशाए है।

जीव की यथार्थ मे सम्यक् आत्म आस्था के बाद ही अन्तर यात्रा करते-करते १२ वें गुण स्थान मे जाकर यथार्थ विश्रान्ति की प्राप्ति होती है। दसवे गुण स्थान मे मोहनीय कर्म के मोहोदय तथा रागद्वेष कषायो की सूक्ष्मतम परिणतियो को नष्ट करके जीवात्मा भव-भ्रमण के बीज से मुक्त होता है। मोहनीय घाती कर्म के क्षय हुए विना बाकी के तीन घाती कर्मो से भी छुटकारा नही होता। आठ कर्मो को ही मूल प्रकृति कहते हैं। इनके अनेक उत्तर भेद भी कहे गये हैं। मोहनीय कर्म का नाश ही समस्त साधना का रहस्य है—मोहनीय कर्म के नष्ट करने के लिए ही शुद्ध चारित्र की साधना योगानुष्ठान की आवश्यकता है। ज्ञान और वीतरागता का अवरोधक यह मोहनीय कर्म ही है।

जब आत्म उपयोग को स्थूल रूप से ब्रह्मरन्ध्र मे तथा सूक्ष्म रूप से स्व ज्ञान स्वभाव मे—अपरिणामी नित्य तत्त्व मे एकाग्र तथा स्थिर कर देते हैं तो ध्यानाग्नि प्रज्वलित हो जाती है। अह ही सोऽहं से भी आगे विस्तृत होकर मात्र ज्ञायक व ज्ञान भुवन हो जाता है और मोह का लेश भी तब कुछ नही रहता। नित्य द्रव्य व गुण तथा पर्याय का एकत्व निर्मल स्वरूप ही परम सत्ता (Universal Reality) है। प्रत्येक आत्मा ऐसी ही परम (Universal) सत्ता है और अनन्त ही आत्माए है।

लोक मे अनन्तानन्त चेतन आत्माओ का एक सतत प्रवाह चला आ रहा है और अनन्त ही आत्माए निर्वाण पथ की पथिक बन कर अनन्त अक्षय आनन्द धाम सिद्धालय मे विराज गई—अनन्त आत्माए अभी प्रवाह मे है और वे अपनी स्वच्छन्द गति की प्राप्ति की चेष्टा मे है। ये जीवन के विभिन्न प्रगति-बिन्दु स्तरो पर अभी है। यह सत्य है कि ये अनादि निर्वाण पर कभी आकर अन्तिम लक्ष्य प्राप्ति के उन्मुख होगी और स्व लक्ष्य की और उन्मुख होकर ही वे निश्चित ही कालान्तर मे लक्ष्य वेध करके शुद्ध सिद्धावस्था की प्राप्ति करेगी। सम्यक्त्व और स्वरूपाचरण का मार्ग—उपासना, ध्यान, समाधि और ज्ञान का मार्ग इन्हे अवश्य पवित्र सिद्धावस्था मे ही ले जाएगा। जो स्वरूप उन्मुख हो जाते हैं, ज्ञान-ध्यान से अपने को निर्मल परिणमित करने लगते है, वे लौकिक और पारलौकिक दोनो जीवन ही कृतार्थ कर लेते हैं। वे स्व तथा पर रूप समग्र विश्व को दर्पण मे प्रतिफलित प्रतिबिम्ब के तुल्य अक्रम से, एक ही क्षण मे ज्ञान करने वाले केवलज्ञान को प्राप्त करके परमात्मपद को अधिष्ठित करते हैं।

स्व समय

जो आत्मा एक ही निर्मल भाव से निर्मल गुण-पर्यायो को प्राप्त होकर सदा निर्मल परिणमन करता है, वही सिद्धात्मा है—वही स्व समय है। समयते इति समय —एक निर्मल भाव से परिणमन करने वाला आत्मा अपने ही समय मे है, और वह समय ध्रुव समय है—नित्य समय है। उस समय मे भूत वर्तमान या भविष्यत् ऐसे काल खण्ड अभिन्न रहते है। वह समग्र अखण्ड (Eternal) स्वरूप है। अत: उसमे फिर स्व सवाद ही है—स्व रमणता ही है, पर-सवाद से उत्पन्न वधकथा कभी होती नही। इसलिये वह ही परम सौन्दर्य भी है। वह ही परम अनन्त सत्ता का सत्य है, परम कल्याण रूप है, और परम सौन्दर्य है। सत्य शिव और सुन्दर—गुण भी उसमे आप ही परिपूर्ण उल्लसित है। उन गुणो की अनन्त शोभा भी उसी से है तथा उसी स्व को प्राप्त करके है। वह वस्तुत इन सब से भी अधिक ही है, क्योकि वह अनुपम है, अपूर्व है। किस से उसकी उपमा की जाये ? शब्द सब इस विश्व के ही तत्त्व रह जाते है। वह विश्वोत्तीर्ण अनन्त (Eternal and Infinite) है। ऐसी अनन्त अनन्त आत्माए कर्म क्षय करके सिद्ध परिणमित होकर अपनी Eternal, Universal Reality मे Eternal Phenomenon सहित सम रूप परिणमन करती हुई विराजमान है। तथा अनन्त ही आत्माए अपने इस परम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मार्ग मे है, अथवा मार्ग मे आने के लिए प्रतीक्षारत है। निश्चय ही धन्य है वे जो स्व स्वरूप की निर्मलता को प्राप्त हो गये है। वे ही समग्र रूप से लोक की सब चैतन्य आत्माओ के लिये प्रकाशस्तम्भ है—अत वन्दनीय है—शत शत वन्दन है उन्हे। वे ससार से विरत होकर ससारातिवर्ती हैं, उन्हे उपकार वा अपकार वा कोई भाव नही है—पर फिर भी वे आदर्श रूप मे प्रेरणा स्तम्भ है—परम श्रद्धा के लिए आलोक-लोक हैं। •

५. सर्वज्ञ—अर्हन्तों के चिन्तन-निष्कर्ष विज्ञानों के आलोकों में

- जीव का मृत्यु-भय और अनादिकाल का प्रश्न
- अमृत जीवन का वरण
- मारणान्तिक अनुभवः विज्ञान के शोध
- कर्म सिद्धात और पुर्नजन्म (एडगर केसी द्वारा जीवन के पठन) अमर जीवन की आस्था और जिजीविषा
- जीवन चार आयामी
- त्रिविध देह वधन और विश्व सरचना के समान तत्त्व
- गतिशील चार तत्त्व
- अज्ञान और प्रमाद . बधन के प्रमुख हेतु
- प्रकम्पन और अप्रकम्पन तत्त्व वधन और सवर तत्त्व। काया का ध्यान, प्राण-ब्रह्म का ध्यान, वाचा ध्यान और मन के ध्यान
- देह तत्त्व
- देह पाच प्रकार की—औदारिक, वक्रियक, आहारक, तैजस और कार्माण
- मन एक अनीन्द्रिय दर्शन शक्ति
- अपरा ऋद्धि-सिद्धि का निषेध
- सूक्ष्म देहो की सख्या, स्थिति
- सोपभोग और निरुपभोग देह
- मूल तत्त्व अणु पुद्गल, न कि पंच भूत
- प्राण तत्त्व
- व्यक्त जीवन शक्ति—द्रव्य व भाव प्राण रूप।
- प्राण प्राण-वायु से भिन्न।
- तैजस देह

- कार्माण देह
- चेतन अचेतन का समानान्तरण व परिपूरक सम्बन्ध और सप्त व पच तत्त्व निरूपण
- चेतन अचेतन मे तीन प्रकार की शक्ति
- अणुओ मे स्वैर गति स्वयभू है
- जीवाणु विभावी अनादि काल से
- अणुओ मे शक्ति-तरगे
- प्राणाणु और कर्मवर्गणा
- तैजस और कार्माण देह : क्रमबद्ध प्रशात प्रदेशस्थिति रचना, पदार्थ शास्त्र और रसायन शास्त्र
- उदान प्राणवायु का पर्याय
- मन लब्धि और उपयोग (भावेन्द्रिय) और द्रव्येन्द्रिय
- देह यन्त्र का सचालक मस्तिष्कीय विद्युत प्राण
- भाव और क्रिया का परस्पर समानान्तरण अजीव तत्त्व का जीव प्रदेशो मे सश्लेषण
- प्राण क्या है ?
- ज्ञेय और ज्ञायक
- जीव सरचना और विज्ञान का आलोक
- जीव विकास की मजिले और सप्त तत्त्व-कोष
- मानव विकास की दो और मजिले
- प्राकृत (विभाव) धारा और अप्राकृत (प्रतिस्रोत गामी) स्वभाव धारा।
- सामायिक, और वैश्विक (ब्रह्माडीय) तथा आत्मिक सरचना
- मन की सरचना और अमृत प्रवाह का रहस्य
- भाव दशा और देह-ग्रन्थियो का रस निर्झरण के निमित्त से कर्म प्रत्यय के विपाक रस का निर्जरण
- चेतना का उर्ध्वीकरण (रूपातरण) और देह और मन के द्रव्य और भाव रसो की महत्ता
- देह की उपकारी उपयोगिता
- हाइपोथेलमस, तथा पेरा-सिम्पेथेटिक तथा सिम्पेथेटिक सिस्टम और ध्यान द्वारा अमृत-निर्झरण

- शरीर विज्ञान का आलोक, और तैजस प्राण कु डलिनी की अमृत रस स्रावी प्रकाश वर्षा
- देह यन्त्र का अद्‌भुत नाडी और ग्रन्थि सस्थान—उसके केन्द्र-अवयव और दिव्य कार्य
- प्राण स्फोट से प्राण गर्भीय आत्म तत्त्व का शोधन
- विज्ञान—ज्ञान की योग विज्ञान मे सगति और व्याख्या
- आत्मा की अमर एव निर्मल विराट्‌ता
- साधना की दो विधाए और उनकी परस्पर पूरकता
- अध्यवसाय निर्मलता से निर्मल ज्ञान स्वरूप और आनन्द
- ज्ञानी और अज्ञानी के स्वरूप और भूमिकाए
- अज्ञानी और ज्ञानी का लोह और स्वर्ण रूपक से चित्रण
- आ० कु दकु द की तीन महत्त्वपूर्ण गाथाए
- ध्यान-अभ्यास के क्रम चरण की अपेक्षा
- दृश्य मे रमण का भाव ससार का बन्धन
- ज्ञेय और ज्ञायक, ये दो चुनौतिया ज्ञान की
- सत्य की स्वय खोज करो और उसे प्राप्त करो
- योग की विशेषता यथावस्तु वस्तु निरूपण (वस्तु को मात्र देखना।)
- लय वद्ध क्षण की खोज
- अन्तंप्रकाश की अन्तर्यात्रा
- आत्म तत्त्व और तीन वाक्, काय, और चित्त सक्रिय तत्त्व
- विज्ञान के आलोक और अर्हतो के ज्ञान निष्कर्ष
- पच परावर्तन शील ससार
- पदार्थवाद का नही, चेतनावाद का विजय घोष

जीव का मृत्यु-भय और अनादि काल का प्रश्न

प्राणी जगत् मे दु ख के दो ही विशेष हेतु है एक तो अभाव का होना दूसरा भय का होना। प्राणी मात्र मे जीने की वासना जिसे जिजीविषा कहते हैं अनादि काल से ऐसी दृढ रही है कि इसके कारण ही वह अभावो की प्रतीति करता है और सरक्षण के लिए भयभीत रहता है। देह का अनादि काल से ऐसा सम्बन्ध चला आ रहा है कि प्राणी को देह के अतिरिक्त अपनी कोई अन्य अस्तित्व की कल्पना भी कठिन लगती है और इसलिए इस देह रूप के लिए अभावो की पूर्ति व इसके रक्षण मे ही निरन्तर पचता ही रहता है। देह ऐसा तत्त्व है कि वह "देहि मे, देहि मे" कहता हुआ कभी थकता नही। कितना भी इसे दो, सजाओ और परितुष्ट करो यह बनकर सदा बिगडता व बिछुडता और फिर प्राप्त होता रहता है। इसका तत्त्व ही ऐसा है कि प्राणी नव देह को जिस क्षण से प्राप्त करता है उसी क्षण से इसके साथ विघटन तत्त्व भी कार्यशील होता है। देह-तत्त्व और सासारिक-तत्त्व एक ही है, जैसा पिण्ड मे है वैसा ही ब्रह्माण्ड मे है। अत चाहे पिण्ड हो या ब्रह्माण्ड, इस विश्व मे उत्पाद और व्यय को लेकर एक सतत् प्रवाह ही चल रहा है। अनादि के अज्ञान के प्रवाह तथा अनात्म द्रव्य मय कर्म के प्रवाह मे पडा चेतन द्रव्य अनादि काल से भव-भ्रमण के दु'खो को—जागतिक जीवन व अभावो को, और भयो को भोगता ही चला आ रहा है। आत्म विमुखता रूप अपराध के ही कारण जीव को भय रूप दण्ड भोगते ही रहना होता हे। दु खो और भयो में मारणान्तिक दु ख व भय ही अत्यन्त तीव्र होता है—

> **इह लोक पर लोक भय मरन वेदना जात।**
> **अनरक्षा अगुप्ति भय अकस्मात् भय सात।**

इस प्रकार सात भयो से भयाकुलित प्राणी को मृत्यु-भय ही सबसे अधिक दु खकारी प्रतीत होता है। इस तीव्र मृत्यु भय से मुक्ति कैसे हो? यह प्रश्न मानव प्राणी के समक्ष अनादि काल से ही है।

अमृत जीवन का वरण

मृत्यु पर अर्हत पुरुषो ने अपने योग-कौशल से विजय पाई। जब प्राणी मरता है तो मात्र देह ही छूटती है, पर जीवात्मा तो तब भी अन्यत्र वर्तमान ही रहता है। अत देह छूटने रूप मृत्यु का भय अपने लिये निर्मूल है। जीवात्मा अमर है और मृत्यु तो मात्र देह परिवर्तन है। देह ही छूटती है और छूटे ही गी—क्योकि प्रत्येक उत्पन्न एव आगन्तुक (सयोगी) वस्तु व्ययशील है। देह से अपनी भिन्नता और विशिष्टता के परिज्ञान ने योगनिष्ठ अध्यात्म पुरुषो को देह छूटने के काल

(समयसार—नाटक)

मे कभी विचलित ही नही किया है। वे इसे एक साधारण घटना के समान ही लेकर—अपने ही तत्त्व मे समाये अमृत तत्त्व का अनुभव कर गये हैं। वे अनुभव कर गये है कि यह जीवात्मा तो उक्त सातो भयो से मुक्त निशक निर्भय अव्यय व आप अपना रक्षक एव शरण है। इस अनुभव मे ही मृत्यु पर विजय है। जिसे मृत्यु कहा जाता है वह तो मृत्यु पर एक नव जीवन के हेतु यात्रा हैं—और योगी मृत्युविजय के लिए समाधि मरण करते है, अक्षय अमृत जीवन का वरण करते हैं। मृत्यु तो जीवन से तुच्छ ही है। योग जीने व मरने की यथार्थ कला सिखाता है। "मौत है इक नाम बेमानी, जिसको मारा हयात ने मारा"।

मरणान्तिक अनुभव · विज्ञान के शोध

विज्ञान ने अब मृत्यु-विषय को भी अपना शोध का विषय बना लेने मे पहल की है और अब भौतिक शास्त्री, मनोवैज्ञानिक तथा अन्य शोध कर्त्ता सैंकडो ही ऐसे व्यक्तियों के जो किसी दुर्घटना अथवा रोग के कारण व परिणाम स्वरूप मरणासन्न हुए या हृदय-गति बद व श्वास गति बद होने पर क्लीनीकली मृत घोषित होने के बाद भी जीवित हो उठे, के अनुभवो को सग्रह कर रहे है और इनसे कुछ निश्चित परिणामो पर आ रहे है। अब इन वैज्ञानिको को मृत्यु के सम्बन्ध मे अपने पूर्व विचारो को भी बदलना पड रहा है।

डा० एलीजाबैथ कूब्लर रास शिकागो मे साइकिएट्रिस्ट (मनो वैज्ञानिक) है। उन्होने सैंकडो ही मृत्यु-सन्निकट व्यक्तियो के अनुभवो को एकत्रित किया है और वे अब मृत्यु विषय पर विश्व ख्याति प्राप्त आथेरिटी है। वे अब कहती है कि मृत्यु विषय पर कार्य आरम्भ करने से पूर्व मै मृत्यु के उपरात कोई जीवन होने पर कतई विश्वास नही रखती थी, परन्तु अब मेरा ऐसा विश्वास है और यह विश्वास सदेह के लेश मात्र से भी परे है।

भारतीय प्राचीन साहित्य मे मरणोत्तर जीवन के वर्णन स्वर्ग तथा नरक की स्थितियो मे किये गये है। वे बडे विशुद्ध और सशय रहित वर्णन है। जीवन की स्थितिया या तो अच्छी हो सकती है या बुरी ही--अथवा इनके ही आस पास या मिश्र। इन परिस्थितियो से परे वह स्थिति है जहा न अच्छाई है न बुराई है,—इन दोपो के सम्बन्ध से ही परे है। वह स्थिति ही अमर-स्थिति मानी गई है। अत अध्यात्म पुरुषो ने उद्घोषणा की कि पुण्य (स्वर्ग) और पाप (नरक) अर्थात् अच्छाई व बुराई दोनो से ही अतीत, मात्र स्व की अवस्था है—अपनी ही निर्विकल्प शुद्ध अवस्था है। इस शुद्ध अवस्था को उन्होने मुक्ति कहा है। इस प्रकार जीवन की तीन स्थितिया-स्वर्ग व नरक की तथा इस ससार की मरण शील जीवन की स्थितिया और मुक्त जीवन स्थिति है। सासारीक स्थितिया नित्य स्थितिया नही है, इनमे जन्म मरण का सिलसिला रहता है, अर्थात् ये अनित्य जीवन है। इस प्रकार जीवन के दो ही वर्ग हैं—एक अनित्य जीवन दूसरा नित्य जीवन। जैन विज्ञान ने इसीलिये कहा है—"ससारिणो मुक्ताच"—ससारी अनित्य जीवन है, और मुक्त नित्य जीवन है। ऐसे जीवात्माओ के दो वर्ग निश्चित किये गये हैं। ससारी अनित्य जीवन है। अत इसमे पूर्व जन्म की मान्यता अनिवार्य रूप से होती है और पूर्व जन्म सिद्धान्त की मान्यता की सत्यता सैंकडो ही बार इस ससार मे बहुत

से लोगो को अपने पूर्व जन्म की कहानियो की सत्यता के विश्वसनीय प्रमाण से सिद्ध भी होती रहती है। पूर्व जन्म वृत्त को अनावृत्त करके तीर्थंकर प्रभु लोगो मे जीवन के सातत्य मे आस्था की स्थापना करते रहे है—यह उनकी विशेष शैली रही है। अत अध्यात्म मे पूर्व-जन्म की महत्ता विशेष रही हे और पूर्व जन्म की स्वीकारता मे मरणोत्तर जीवन की स्वीकृति निहित ही है। पूर्व जन्म के अनावरण से मानव की अनित्य जीवन की वासना क्षीण होती है अर्थात् निरन्तर जन्म-मरण वाले ससार मे परि-भ्रमण के जीवन से आसक्ति समाप्त हो जाती है और नित्य अमर सिद्ध जीवन मे जी उठने की जिज्ञासा तीव्र हो जाती हे। जिनमे ऐसी इच्छा प्रकट न हो उनमे भी इससे मृत्यु-वेदना अवश्य कम हो जाती हे क्योकि वे यह भी जान लेते है कि मृत्यु तो मात्र परिवर्तन है और अगली यात्रा का शुभारम्भ है। हा, जो व्यक्ति तीव्र पापो व कषायो मे ही जी रहे होते है वे अगली यात्रा से अधिक भयभीत होते है, क्योकि उनके पास कोई अच्छाई की आशा-किरण नही होती और वे अन्धकार को ही प्रतीत करते है।

डा० रेमण्ड ए० मूडी ने अपनी पुस्तक "जीवन के बाद जीवन" (Life after Life) जिसका सार रीडर्स डाइजेस्ट अगस्त, ७७ मे भी छपा हे, मे सैकडो व्यक्तियो के अनुभव व अनेक घटनाओ का उल्लेख करके मेडीकल सोसायटी को रिपोर्ट दो है। डा० मूडी ने भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकारा है और यह कहना न होगा कि डा० मूडी को न अन्ध-विश्वास है, न मिथ्या प्रचार ही उनके अध्ययन का उद्देश्य है।

पेट का शल्य-चिकित्साधीन एक रोगी मर गया और वह २० मिनट तक उसी स्थिति मे रहा और इसके बाद उसमे फिर से जीवन लौट आया। पुन जीवित होने के बाद उसने बताया कि मृत्यु के समय उसे लगा जैसे सिर से भिनभिनाने की एक तेज ध्वनि हो रही है। एक अन्य स्त्री ने भी मृत्यु समय ऐसी ही ध्वनि होने का उल्लेख किया। एक और व्यक्ति ने मृत्यु अनुभव को इस तरह बताया कि उसे लगा कि वह अचानक ही किसी गहरी अन्धेरी खाई मे चला गया है और जैसे उस खाई मे एक मार्ग है और वह तेजी से उस पर चला जा रहा है। ऐसे अन्धकार का उल्लेख प्राय सभी मरने वालो ने किया हे। एक हृदय पीडित स्त्री का जो अस्पताल मे आई थी अनुभव इस तरह डा० मूडी ने लिखा हे—

"मुझे लगा जैसे मेरा श्वास रुक गया और हृदय की धडकन भी बन्द हो गई। मैने प्रतीत किया कि मैं अपनी देह से निकल गई और पलग की पाटी पर होती हुई फर्श पर और फिर धीरे-धीरे ऊपर उठकर छत की तरफ चली गई हू। वहाँ पहुच कर मैं काफी समय तक अपने शरीर को सीधा बिस्तर पर पडे व डाक्टरो के कार्य को देखती रही। मेरी देह के चारो ओर डाक्टर थे और वे उसे जीवित करने का प्रयत्न कर रहे थे तभी ही उन्होने एक मशीन से मेरी देह की छाती पर धक्के देने शुरू किये। उन झटको से मेरा देह ऊपर उछल रहा था और मैं देह की हड्डियो की चटक साफ सुन रही थी। इसके बाद मैंने शरीर मे कैसे प्रवेश किया इसका ज्ञान मुझे नही है।"

एक अन्य महिला ने जो बच्चा जन रही थी और बहुत रक्त निकल चुका था अपना अनुभव यो बताया—

"डाक्टर ने मेरे बचने की आशा छोड दी थी और इसकी सूचना मेरे सम्बन्धियो को दे दी थी। जब डाक्टर यह बता रहा था तब ही मुझे लगा जैसे मैं देह से बाहर निकल रही हू, देह से बाहर आकर मैने देखा कि कमरे की छत के पास मेरे से वे सभी सगे सम्बन्धी परिचित और मित्र मेरे स्वागत करने को उपस्थित है जो मुझसे पहले ससार छोडकर चले गये थे। मैंने अपनी दादी और और उस लडकी को पहचान लिया जो स्कूल मे मेरी सहेली थी। मै उन सब की उपस्थिति महसूस कर रही थी और वे सभी खुश थे। मुझे अनुभव हो रहा था जैसे वे मेरी रक्षा करने और मुझे स्वागत के साथ घर वापिस ले जाने आये है। सममुच ही वे बडे सुखद क्षण थे।"

डा० मूडी ने जिनका अध्ययन किया उनमे से अधिकाश ने यह बताया कि मृतक अवस्था मे उन्हे एक अलौकिक ज्योति के दर्शन हुए, उन्हे लगा जैसे यह ज्योति एक ज्योति ही नही, एक व्यक्तित्व है—ममता, स्नेह और स्वागत से भरा अनोखा व्यत्तित्व। एक व्यक्ति ने उन्हे बताया—

"मैने सुना डाक्टरो ने मुझे मृतक घोपित कर दिया। दूसरे ही क्षण मै एक प्रकार के अन्धकार मे उड रहा था। वह एक तरह की एक खाई थी और चारो ओर अन्धेरा ही अन्धेरा था। तब ही मुझे एक ज्योति दिखाई दी। इस ज्योति का आकार आरम्भ मे छोटा था किन्तु ज्यो ज्यों मै उसके समीप गया वह अलौकिक ज्योति महा प्रकाश रूप हो गई। यह ज्योति बडी सुन्दर व सुखद थी। पृथ्वी पर ऐसी ज्योति की कल्पना नही की जा सकती। किसी व्यक्ति का आकार उस ज्योति मे समाहित नही था, यह तो एक सम्पूर्श स्नेह और सम्पूर्ण सुख की ज्योति थी।"

डा० कूब्लर रास ने भी कहा है कि मृत्यु कालीन यह अनुभव हैल्यूसीनेशन (मानसिक भ्रान्ति) नही है। "जब एक महिला जो अस्पताल मे मृत करार दे दी गई वह पुन जीवित होकर आपको यह बता सकती है कि उसके मरने के बाद उसके कमरे मे कितने व्यक्ति आये, कितनो ने उस पर कार्य किया तो ऐसे में यह निरा हैल्यूसीनेशान कैसे कहा जा सकता है? उस स्त्री के मरने पर न श्वास जारी था, न हृदय या मस्तिष्क मे स्पदन ही शेप रहे थे।"

डा० मूडी ने अनुभवो को अलौकिक, अवर्णनीय व अमिट पाया। डा० मूडी ने लिखा है—

"What is perhaps the most incredible common element in the accounts I have studied & is certainly the element which has the most profound affect upon the individual, is the encounter with a very brilliant being It was a very definite personality. The love & warmth which emanates from this being to the dying person are utterly beyond words & he feels completely surrounded by it & taken in it, completely at ease & accepted in the presence of this being."

अर्थात् मेरे द्वारा इन अधीत अनुभव कथनो मे जो सब मे समान रूप से अधिकतम अकल्पनीय और अचरज भरा जो पाया गया और जो निश्चित ही व्यक्ति पर अधिकतम गहरा व दृढ प्रभाव छोडता हे वह यह है कि एक अति प्रकाश—देदीप्यमान जीवात्मा से साक्षात्कार होता है। एक भी व्यक्ति को इसमे किसी प्रकारका जरा भी धोका या सदेह नही कि वह एक प्रकाशमय जीवात्मा (Being of light) था। इतना मात्र ही नही, वे इसे एक साकार मूर्त (Personal) व्यक्ति भी कहते है। वह एक बहुत निश्चित रूप-स्थ (मूर्तीमत) व्यक्तित्व लिये था और इस प्राणी सत्ता से जो सुखद स्नेह, अनुराग व प्रेम के भाव व सम्पूर्ण ही सुख की आभा मरने वाले व्यक्ति के प्रति प्रवाहित व सवेदित होती है वह सब तो शब्दातीत ही है। मृत व्यक्ति उस ज्योतिर्मय प्राणी की समक्षता मे ऐसा उससे आवृत व उसमे समाविष्ट सा हो जाता है कि सर्वत. निश्चल शान्ति को प्राप्त होकर समर्पित और अभिन्न हो जाता है।"

डा० मूडी की कृति पर समीक्षा करते हुए डा० नोईस ने "दी ह्यूमेनिस्ट" मे प्रकट किया कि डा० मूडी के अनुभवो का दस्तावेज बहुत व्यापक तथा अनेक धार्मिक और सास्कृतिक निष्ठाओ की तथा मृत्यु सम्बन्धी दो धारणाओ की जो बचपन से अधेड अवस्था तक बरकरार रहती है कि मृत्यु तो एक किसी दूर स्थान की यात्रा मात्र है तथा मरने के बाद भी जीव रहता है यद्यति तब वह हमारे नजर व सम्पर्क से परे हे, परिपुष्टि करता है। डा० मूडी के ये लोग जो मृत्युपरात जीवित हुए है अब निश्चित तौर पर जान चुके है कि अगली दुनिया का क्या रूप है, क्योकि ये वहा हो आये है। उनके लिये उनका अनुभव प्रामाणिक और इस सम्बन्ध मे उनका निश्चय व निर्णय अमिट व अकाट्य है।

इन अनुभवो के समक्ष आज वैज्ञानिको के पास आत्मा को इन्कार कर देने जैसी कुछ नही है। वे अब भी आत्मा का अस्तित्व नही माने—पर अब इन्कार भी नही कर सकते। विज्ञान के पास आज ऐसे यथेष्ट औजार नही है जिनसे मृत्यु पर सीधे शोध हो सके। विज्ञान की प्रगति व इस दिशा मे नई रूचि के विकास से ऐसे यत्रो का चाहे विकास सम्भव हो या न हो पर यह तो है ही कि इन अनुभव अध्ययनो से बीमार या स्वस्थ्य व्यक्तियो को भी बहुत सीमा तक पर्याप्त शान्ति का सूत्र मिल सकेगा। इनका महत्व इसलिये भी माना जाने लगा हे कि यह हमे इस बात के लिए भी विचार करने को विवश करते है कि हम अपना जीवन अच्छा या बुरा (सदाचार से या दुराचार से) किस प्रकार के तरीके से बनाते हैं। अर्थात् अतिम परिणति मे यह निर्णय आता है कि प्राचीन अर्हत् व आप्त पुरुषो ने जो चारित्र गठन के नैतिक नियम बनाएँ और आध्यात्मिक पृष्ठ भूमि दी उसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय मानव के सुख के लिए नही है। यहाँ जो मृत्यु सम्बन्धी उद्धरण दिये है वे लारेन्स गाल्टेन के एक लेख से साभार लिये गये है।

कर्म सिद्धान्त और पुनर्जन्म (एडगर कैसी द्वारा जीवन के पठन) आस्था और जिजीविषा

कर्म के सिद्धान्त और पुनर्जन्म के बारे मे पश्चिम मे एडगर कैसी को लेकर बडी हलचल मची थी। सन् १८७७ मे एडगर कैसी अमेरीका के केन्टकी प्रान्त के होपकिन्स जिले मे जन्मा था। इसके

आश्चर्यजनक अनुभवो के बारे मे कई पुस्तके यथा डा० जीना सुरजीनारा की "मेनी मेनशन्स" प्रकाशित हुई है। कैसी तन्द्रा की अवस्था मे किसी व्यक्ति के पूर्व जन्म का इतिहास पूर्ण विवरण के साथ बताता था—वह यह भी कहता था कि उस अमुक व्यक्ति का नाम यह था और पूर्व जन्म मे उसके माता-पिता थे, आदि-आदि जो शत-प्रतिशत सही निकलते थे। कैसी ने सहस्त्रो ही लोगो के जीवन को पढ कर बताया कि मनुष्य की वर्तमान की हालत के लिए उसके पूर्व जन्म के कर्म जिम्मेदार है—जैसा बोग्रोगे वैसा पाग्रोगे। जीवन का एक उद्देश्य हे, यह एक सिलसिलेवार आत्माश्रित कडी है। मनुष्य अपनी इच्छा शक्ति से अपने भाग्य को बदल सकता है। मानव का जीवन कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्त से नियमित है। यह सिद्धान्त सर्व व्यापी स्व प्रेम की माग करता है—सभी समस्याओ का समाधान स्वय मानव के ही भीतर है। कैसी ने अनेक लोगो के जीवन को पढकर उनको बताया कि वे किस प्रकार अपने पूर्व जन्म के कुकृत्यो का परिणाम अब भोग रहे है। डा० गौरीशकर का कैसी पर लेख—"अनुभव एक अमेरीकी सिद्ध पुरुप का", गणतन्त्र विशेपाक—१९७७ साप्ताहिक हिन्दुस्तान मे देखिए।

पुनर्जन्म की सिद्धि वैज्ञानिको को आत्मा और आत्मा की मृत्यु के बाद भी विद्यमानता पर विचार करने को बाध्य करती हे। अमेरिका के विलसा क्लाउड चेम्बर मे जीव पर शोध करके पाया गया कि मृत्यु के बाद भी जीव का अस्तित्व विद्यमान रहता हे। वह मनोरजक प्रयोग वर्णित हुआ हे। जीव का प्राण तत्त्व ही जीवन के समस्त कार्य-कलाप को नियमित करता है। प्राण तत्त्व सूक्ष्म हे पर फिर भी उस सहित जीव पूर्ण रूप से निर्मल और शुद्ध नही है। वह प्राण तत्त्व जीव के भाव तत्त्व (ज्ञान भाव तत्व) सहित सूक्ष्म पौद्गालिक आधारो को लेकर ही प्रकट तथा व्यक्त होता हे, अत उसका चित्रण इलैक्ट्रोनिक फोटोग्राफी से सम्भव भी होता है। अमेरीका के प्रयोग मे भी यही हुआ है। अपनी अमर कथा की आस्था—जो आज अब पाश्चात्य जगत् मे प्रकट हो रही है वह पूर्व जगत् मे बहुत पहले ही प्राप्त हो चुकी थी। पूनर्जन्म की आस्था भी इसी से दृढ होती है तथा पुनर्जन्य की अनेक बार अनेक जगह स्मृतियो को प्रकट कर देने वाले मानव जन्म की घटनाएँ असत्य भी नही है। मानव जानता है कि जन्म हो तो मृत्यु भी निश्चित है—पर फिर भी उसको जीने की अदम्य लालसा और दृढ निश्चय रहता हे। वह वृद्धावस्था तथा मरण से सघर्ष करता है। यह जिजीविषा भी प्राणी मे उसके मौलिक अमृत स्वभाव व पद का सकेत भर करती रहती है।

जीवन चार आयामी

योगीजन अपने हृदय की धडकने बन्द कर देते है—बाह्य जीवन के चिन्ह समाप्त हो जाते है और उन्हे क्लीनिकल रूप से मृत घोपित करने के अलावा कोई चारा नही दिखता, पर वे फिर अपने को सचेष्ट और सजीवित कर देते है। यह चाहे थोडे काल के लिए ही हो, पर होते है आश्चर्य-जनक। वस्तुत मस्तिष्क मे स्थित प्राण ही मानव के जीव को समस्त देह मे व्याप्त कर रहने का आधार देते है—जब प्राण मस्तिष्क मे सिमट जाते है तो हृदय की धडकने बन्द हो जाती हे। मस्तिष्कीय कोशिकाएँ प्राण तन्त्र से सजीवित रहकर प्राणो को आधार देती हे। जब तक मस्तिष्क की कोशिकाएँ

तथा हृदय पिंड अक्षुण्ण रहते है—प्राणो को तथा रक्त को सचरित होने के आधार मिल जाते है और आघात से और दुर्घटना मे अकस्मात् बाहर निकल जाने वाले प्राण हृदय गति आदि बन्द हो जाने पर भी उपयुक्त उपचार जारी रहने पर कई अवसरो मे देह मे वापिस सचरित हो जाते है। अमेरिका मे प्राणो की मृत्यु पर जो छवि अकन किया गया उसका व्यौरा इस तरह कहा गया है—

"इस प्रयोग के अन्तर्गत एक ऐसा बडा सिलेण्डर लिया जाता है जिसकी भीतरी परते विशेष चमकदार होती है। फिर उसमे कुछ रासायनिक घोल डाले जाते है जिनके परिणामस्वरूप विशेष प्रकार की चमकदार और हल्की सी प्रकाशीय गैसे फैल जाती है। इस गैस की विवेचना है कि यदि कोई परमाणु या इलेक्ट्रान इसके भीतर प्रवेश करे तो उसका चित्र शक्तिशाली कैमरे से उतार लिया जाता है।

लम्बाई चौडाई मोटाई रूप तीन आयामी स्थूल पार्थिव जीवन के अतिरिक्त अन्य चौथा आयामी जीवात्मा का स्वरूप होता है। यह कार्ल जु ग जो विश्व प्रसिद्ध वैज्ञानिक हुए है, ने अपने एक निजी अनुभव के पश्चात् प्रकट किया हे और माना है। सन् १९४४ मे दिल के दौरे मे जब वे मृत्यु-सन्निकट दशा मे थे और उन्हे कैरोमीन के इन्जेक्शन और आक्सीजन दिये जा रहे थे उन्हे अनेक विचित्र अनुभव हुए। वे लिखते है—"मै नही कह सकता उस वक्त मै अचेतावस्था मे था या स्वप्ना-वस्था मे, पर मुझे स्पष्ट अनुभूति हो रही थी कि मै अतरिक्ष मे लटका हू और अपने से लगभग १००० मील नीचे स्थित येरुशलम नगर को देख रहा हू। फिर मुझे लगा कि मेरा सूक्ष्म शरीर एक पूजा-गृह के प्रकाश युक्त कक्ष मे प्रवेश करने लगा है। मुझे लग रहा था कि मै नि सीम इतिहास का एक खण्ड हू और अतरिक्ष मे कही भी विचरण की शक्ति रखता हू। तभी मुझे मेरे ऊपर मडराती एक छाया दिखाई दी जो वास्तव मे मेरे डाक्टर की थी। मुझे लगा मुझसे वह कह रही थी कि मुझे शीघ्र अपने भौतिक शरीर मे वापिस लौट आना है। जैसे ही मैने इस आदेश का पालन किया, मुझे पता लगा कि मै स्वतन्त्र नही हू और मेरा बन्दी जीवन पुन आरम्भ हो गया है। इस अलौकिक अनुभव के कारण जो अन्तर्दृष्टि मुझे प्राप्त हुई उसने मेरे सब सशयो का अन्त कर दिया और मैने जान लिया कि जीवन की समाप्ति पर क्या होता है। इसका तात्पर्य है कि अवश्य ही एक ऐसा चौथा आयाम है जो अनोखे रहस्यो से ओतप्रोत हे।"

कार्ल जु ग ने इस प्रकार जिस चौथे आयामी जीवन सत्ता को प्रकट किया और अनुभव किया, वह भी पूर्ण निर्मल शुद्ध स्वतन्त्र आत्म सत्ता नही थी—यह स्पष्ट ही है,—वरना पुन. परतन्त्र जीवन के आरम्भ का अवकाश ही कहाँ था। मगर यह भी आत्मा के सापेक्ष सद्-सत्ता का निदर्शन तो था ही—और इससे भी सशयो की ग्रन्थि का विमोचन सभव हो गया और आत्मा वस्तु की असदिग्ध दृढ आस्था प्रकट हुई कि पृथ्वी लोक के जीवन के बाद भी अमर जीवन विद्यमान ही रहता है और इस जीवात्मा का जीवन असीम अनन्त इतिहास है—अर्थात् यह कालातीत अक्षय तत्त्व हे। कार्ल जु ग को—(१) नि सीम इतिहास के एक खण्ड रूप स्व का बोध (२) अतरीक्ष मे उर्ध्वगमनशीलता का बोध (३) शून्य मे कही भी विचरण की स्वतन्त्र सामर्थ्य का बोध —ये आत्मा के सापेक्ष निर्मल गुणो

का ही अनुभव था। डाक्टर के विचारो की छाया, विचारो के उत्प्रक्षेपरण को तथा उसके आदेशो का पालन विचारो की शक्ति सामर्थ्य को भी प्रकट करते है। विचार तरगे अन्तरीक्ष को भी पार करके समस्त विश्व-मण्डल मे एक साथ फैल जाती हैं। सारे विश्व मे व्याप्त हैं सूक्ष्म शब्द वर्गरणाये, और विचार तरगे उन वर्गरणाओ पर वहन होती-होती सर्वत्र फैल जाती हैं। उक्त विवरण से यह भी स्पष्ट होता हे कि पर व्यक्ति या पर वस्तु के प्रति राग भाव (आकर्षण भाव) अपने मे सूक्ष्मतम रूप मे भी ह.ने पर, उसके अनुरोध से परतन्त्र जीवन आरम्भ हो जाता है।

त्रिविध देह-बन्धन के तत्त्व और विश्व संरचना के समान तत्त्व —

भौतिक वधनमय जीवन के तत्त्व और विश्व सरचना के तत्त्व एक ही है। जीवन का बधन त्रयात्मक देह रूप है। स्थूल देह, सूक्ष्म देह और कारण देह—ऐसे ये त्रयात्मक पाश हैं, देहे है। जैन परिभाषा मे स्थूल देह नो कर्म कही जा सकती है। सूक्ष्म देह द्रव्य कर्म-वर्गणा रूप है और कारण देह भाव-कर्म रूप है। इन्हे स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम देह भी कह देते हैं।

आधुनिक विज्ञान ने भी स्थूल देह के अतिरिक्त सूक्ष्म देह का कुछ परिचय पाया है और उन्होने न्यूट्रानो के सूक्ष्म कणो से इस सूक्ष्म देह का निर्मित होना पाया है। न्यूट्रोनो के कण अदृश्य व आवेश रहित और इतने हल्के पाये गये है कि इनमे मात्रा और भार शून्यवत् से ही हैं। ये कण सदा चचल है, प्रकाश की तीव्रगति से सदा चलते रहते है। इलैक्ट्रोनिक माइक्रोस्कोप ने इलेक्ट्रोन अणु मे कण और तरग अर्थात् नित्यपदार्थ और शक्ति या प्रकाश या विद्यु त् तरग की विद्यमानता को प्रकट किया है, यानी अपरिणामी और परिणामी दोनो तत्त्वो की एक साथ ही ध्रु वता को प्रकट किया है।

आश्चर्यजनक ही है कि प्राचीन अर्हत्पुरुपो ने "द्रव्य" जो आपूर्ण विश्व मे व्याप्त है, को कितने सार्थक रूप से द्रव्य शब्द से ही प्रकट किया है। द्रव्य अर्थात् जो द्रवता है और पूरता है अर्थात् द्रवित होकर भी सदा नित्य और अक्षय रहता हे—जो अनादि निधन है और किसी के द्वारा रचित नही है—वही द्रव्य है। अचेतन द्रव्य पुद्गल है उसका भी अर्थ है जो पूरता है, गलता है और फिर पूरता है—अर्थात जिसकी निरन्तर प्रजातियाँ है यानी प्रवाह रूप स्थिरता भी है। अणु-परमाणु रूप द्रव्यो से द्रव्यसघात या पिंड या स्कन्ध बनता है। वह पिंड कभी भेद द्वारा बिखर भी जाता है। अर्हत्पुरुपो का यह वर्णन आधुनिक विज्ञान से सम्मत होता है। अणु समुदायो के गर्भ मे स्वत या परत गति उत्पन्न होती है तब अणु गति-केन्द्र की ओर आकर्पित होते है और सकर्पण होकर केन्द्र सन्निकट अणु घनीभूत होकर सघात या स्कध बन जाते है। वह स्कध अन्य अणुओ को आकर्षित करता बढता ही जाता है और गर्भ केन्द्र पर दवाव की वृद्धि होती है—इसके साथ ही बढते दवाव से उत्ताप बढता जाता है और फिर वह स्कन्ध अग्नि वृद्धि के साथ प्रोज्वलित हो जाता है। अग्नि-उत्ताप से अणु स्कध फिर भेद को प्राप्त होता है, विस्फोटो के साथ प्रोटोन और इलेक्ट्रोन अणु उस उद्जन अणु सघात मे

से बिखरने लगते है। विस्फोटो की शृ खला आरम्भ होती है और एक प्रोटोन के साथ एक इलेक्ट्रोन की स्थिति का अन्त होकर फिर नये अणु-सघात का बनना आरम्भ होता है। प्रोटोन और इलेक्ट्रोन एकाकार हो जाते है और न्यूट्रोनो का तब निर्माण होने लगता है। ऊपर से प्रवाहित अणुओ के साथ इन न्यूट्रोनो का सघात होता है और इस सघात से द्वयणुओ की रचना होने लगती है। पुद्गलो के वर्णन मे पूर्व मे बतला आये है कि पुद्गल-स्कध वनते है और विगडते है और पुद्गल परमाणुओ के परस्पर बधने से स्पर्श गुण के दो अधिक स्निग्ध और रूक्ष गुणाश कारण होते है।

सृष्टि-रचना मे, पार्थिव स्थूल देह से लेकर, बडे से बडे सौर मण्डलो, नक्षत्र–मालाओ और ब्रह्माण्डो की रचना मे इन पुद्गल–अणु–परमाणुओ तथा उनके स्कधो की ही क्रियाशीलता, परिणमन-शीलता और स्पदनशीलता है। आकर्पण-विकर्पण (ग्रेवीटेशन) के सिद्धान्त के समान या उससे भी गहन तथा विस्तृत द्रव्य की स्पदनशीलता का सिद्धान्त है। प्रत्येक द्रव्य (पुद्गल) परिणामी है और स्पदनशील है। स्पदन के कारण ही द्रव्य मे ऊर्जा है और कहा जाता है द्रव्य ऊर्जा का सपिडन है। दो अधिक स्निग्ध और रूक्ष गुणाश ही सभवत द्वयणु है जिसे आधुनिक विज्ञान इन्यूटेरोन कहता है। यह दो अणुओ का एकीकरण हे। इलेक्ट्रोन प्रदिक्षणारत रहता है और प्रोटोन केन्द्रस्थ या नाभिस्थ रहता है जिसके साथ न्यूट्रोन सयुक्त होकर नया न्यूक्लोन बनाता है। न्यूट्रोन मे विद्यु दावेश शून्य होता हैं पर न्यूक्लोन मे विद्यु दावेश होना है। ऐसे द्वयणु मे विद्यु दावेश अणु-समान ही रहता है यद्यपि न्यूक्लोन अणु अपेक्षा भार वाला हो जाता हे। सृष्टि रचना मे अधिकतर अणुओं के न्यूक्लोनो मे प्रोटोनो की अपेक्षा न्यूट्रोनो की सख्या अधिक रहती हे। ये न्यूट्रोन ही दो प्रोटोनो के मध्य शून्य-विद्यु दावेश होने के कारण आधार रूप होते है। प्राचीन मुनिजन इस प्रकार अणु-परमाणुओ के विज्ञान और सृष्टि विज्ञान के रहस्य से परिचित ही रहे है। पुद्गल परमाणु की रचना, गुण, स्व भाव, गति, सश्लेपण, विश्लेपण आदि के बारे मे उन्होने विस्तार से चर्चा की है, वह अन्यत्र अलभ्य है।

गतिशील तत्त्व

मानव प्राणो मे चेतन आत्मा के साथ गतिशील चार तत्त्व,— देह, द्रव्य प्राण, द्रव्य मन और वाणी (शब्द–वर्गणा) हे। मानव जीवात्मा अपनी देह मे इन तत्वो सहित बधन मे है अर्थात् उसका बधन द्रव्य रूप से इन तत्वो का और भाव रूप से स्वय अपने ही अज्ञान मय, विमोही, कषायी राग द्वेषी भावो का बधन है। इन द्रव्य तत्वो मे चिरतन गतिशीलता से,—स्पदनशीलता के कारण यह जीवात्मा ससारी देहस्थ अवस्था मे कभी शाति को प्राप्त नही होता। मानव का व्यवहारी बधन-जीवन इन ही स्पदनशील चार तत्वो से सचालित रहता है। अर्हत्पुरुपो ने अत मानव जीवात्मा के शाति के पथ को इन तत्वो की मवर अवस्था मे यथार्थ ही खोज निकाला है। मानव व्यक्ति या वस्तु के प्रति राग-द्वेप अनुकूल-प्रतिकूल भावासक्त होकर अपने निर्मल ज्ञान मात्र भाव मण्डल मे भावोद्वेलित होना है तो उसके द्रव्य मन, द्रव्य प्राण, वाणी और देह मे भी हलचल होती है और वैश्विक कर्म-वर्गणाओ मे से कर्म-वर्गणाये तदनुकूल आकर्पित होकर बधती हे देह, प्राण, मन मे और

शब्द-वर्गणामय वाणी मे। ऐसे देह, द्रव्य प्राण, द्रव्य मन और वाणी मानव के बधन मे निमित्त रहते हैं। ये निमित्त बनते है इस कारण से कि मानव अज्ञानी है, मोही है, उसे निज तत्त्व की न पहचान है, न निज तत्त्व मे स्थिरता है।

अज्ञान और प्रमाद बधन के प्रमुख हेतु

बधन के अज्ञान और प्रमाद (अस्थिरता) अन्य कारणो मे प्रमुख हेतु है, अनात्म चार तत्वों के प्रकम्पनो को करने तथा ग्रहण करने मे और स्वय के विभाव—ये ही स्वय को विक्षुब्ध करने मे विशेष हेतु है। सचित कर्म-वर्गणाओ के उदय से—अर्थात् कर्म-विपाक पर उसके सुख दु ख रूप प्रकम्पनो से भी अज्ञानी जीव अपने को सुखी दु खी समझता है। निमित्तो को ग्रहण न कर—उनसे तटस्थ उदासीन या मध्यस्थ रहकर जब उन निमित्तो की स्पदनशीलता से जीव अपने को विवर्जित प्रतीत करे तब ही उसे उसकी अनात्म-विमुक्त शुद्ध स्वनिष्ठ अवस्था के आस्वादन का अवसर हो सकता हे। तव अपने ही निर्मल ज्ञान व आनन्द भावो मे परिणत रहते, स्व छन्द से स्पदित तथा पर छन्द से विवर्जित निराकुल स्व ज्ञानानन्द अवस्था आस्वादित हो सकती है। यह अवस्था पर से सवरित तथा स्व मे निष्ठ शुद्ध आत्म ध्यान अवस्था मे सभवती हे।

प्रकम्पन और अकम्पन तत्व : बधन और सवर तत्व काया का ध्यान, प्राण ब्रह्म का ध्यान, वाचा ध्यान और मन के ध्यान

पर पदार्थो के राग से अप्रकम्पित रहना सवर हे। अपने मे प्रकम्पनो को बद करना और बाहर के प्रकम्पनो को भी गहण न करके तटस्थ रहना, मात्र दर्शक ही रहना—यही सवर है। सवर से ही ध्यान का स्वरूप बनने लगता है। एक आसनस्थ निश्चल रहना, स्थूल देह प्राण और इन्द्रियो को स्पदनशील न होने देना, यह स्पदन रहित काया का सवर है, काया का ध्यान है। प्राणायाम द्वारा अथवा प्राणअपान की गति पर वृत्ति को स्थिर कर देने के फलस्वरूप प्राण-वायु की सम तथा फिर अस्पदनशील अवस्था मे लेजाना प्राण का सवर है—प्राण-ब्रह्म का ध्यान है। यह भी कायिक ध्यान का ही अन्य अपेक्षतया सूक्ष्म रूप है। वाणी का बाह्य-अन्तर मौन जिसमे सूक्ष्म शब्द वर्गणा का भी आकर्षण तथा विकर्षण न हो वाचा-सवर है, वाचा-ध्यान हे। मन जो सदा मैं और मेरे रूप सकल्प-विकल्पो से स्पदित रहता है—को प्रथम किसी एक ही प्रशस्त भाव मे आविष्ट करके तथा फिर उस सकल्प भाव का भी परित्याग करके स्थिर निश्चल करना मन का सवर है—मन का ध्यान है। ये सब ध्यान मन वचन काया रूप अचेतन द्रव्य के ही ध्यान हे। पर इन ध्यानो मे अभिप्राय अचेतन वस्तु नही है, अभिप्राय है अपनी ही शुद्ध निज आत्म वस्तु का साक्षात्कार। ध्यान मे अपने अन्त करण गृह के द्वार वन्द किये जाते है ताकि न भीतर से बाहर कुछ जाए, न बाहर से भीतर कोई आए। तब आप अपने आप मे अकेले केवल रूप ही रह सके।

जैन ऋषि-योगी जनो ने मन वचन काया के परिस्पदनो को योग कह कर, इन योगो से मुक्ति रूप अयोग-स्थिति को अध्यात्म की पूर्ण-स्थिति के हेतु बहुत आवश्यक और बहुत निकट माना है। योग का अर्थ जुडना है, जुडना शब्द कपाट जुडने के अर्थ मे, बन्द करने के अर्थ मे भी प्रयुक्त होता है और इस अर्थ मे सवर योग ही है। मन वचन काया के प्रकम्पनो को, परिस्पदनो को रोक देना, बन्द कर देना, सवरित कर देना अयोग रूप योग स्थिति है। साधक को अभ्यास काल मे जो मन वचन काया का सवर होता है वह पूर्ण व अखण्ड सवर नही होता,—सापेक्ष ही सवर होता है। पूर्ण निरोध —जो स्थूल सूक्ष्म सर्व प्रकार तथा सर्वथा रूप होता है वह देह से विदेह कर दे सकता है और इस जीवन की समाप्ति हो जाएगी। स्तभन की दशा जो कभी ध्यान मे आती है—वह स्थूल स्तभन ही हे, सूक्ष्म क्रिया तव भी अन्तर मे, मन मे, काया मे, और भाव मे रहती ही हे। आत्मा के प्रदेश इन उक्त चार तत्वो या तीन तत्वो के परिस्पदन से सापेक्ष मुक्त होते ही अचेतन से विमुक्त, भेद विज्ञान मय अवस्था का भान होता है। तब स्व वस्तु के परिचय व बोध से स्व आनन्द मे स्थिर तथा निश्चल होने लगते है। उस अवस्था मे जीव अपने को सब बाधाओ से निर्मुक्त, जागतिक वस्तुओ मे भिन्न, देश काल भाव भव के भावो से अपरिच्छिन्न प्रतीत करता हे, तब वर्ण, कुल, जाति, लिंग आदि के कोई भाव नही होते।

अर्हत्पुरुषो का कथन है कि सारा विश्व ही सतत् ही पुद्गल द्रव्य से तथा उसके प्रकम्पनो से आपूर्ण व्याप्त है—अत जीव सदा ही उनके सम्पर्क मे है,-वे तो निरन्तर व्याप्त ही है, तब उनसे छुटकारा किस रहस्य से हो तो कहा है कि प्रकम्पन यद्यपि निरन्तर बाहर-भीतर वर्तमान ही हे, पर यदि हम उन प्रकम्पनो को ग्रहण न करे—उनसे तटस्थ रहे—उनमे रूचि न ले, अपने अभिप्राय को न बिगाडे, सम व मध्यस्थ रहे—मात्र दर्शक रहे–तो उनके रहने पर भी हम तो अप्रभावित ही रहेगे। वस्तुत हम तो अपने ही भावो के अनुसार वैश्विक व अनात्म प्रकम्पनो को ग्रहण करके प्रभावित होते हैं। यदि हमारे भाव अशुभ (कलुषित, रागी-द्वेषी, कषायी) होगे तो पाप रूप असाता कर्म-वर्गणा ग्रहण कर हमारा जीवात्मा दु ख भोग के सम्मुख हो जाता है। शुभ भाव-प्रशस्त दया, करूणा, अहिसा, सत्य, भक्ति व अर्चना आदि रहे तो पुण्य रूप साता कर्म-वर्गणा ग्रहण कर हम लौकिक सुख के सम्मुख होते है। मगर इन पाप व पुण्य स्थितियो मे हम निराकुल भी कहाँ होते है—सदा उद्वेलित ही रहते हैं–आर्त व रौद्र न भी रहे तब भी पुण्य मे मद कषायी तो रहते ही है। पाप व पुण्य स्थितियो से भी अतीत होकर ही स्व मे प्रशात और आनन्द रूप विराजमान रहना होता हे। पाप व पुण्य दोनो ही लौकिक भव-स्थितियाँ है—यानी भौतिक तथा अति–भौतिक नरक व स्वर्ग की स्थितियाँ है और साता व असाता का मिश्र स्वरूप इस मध्य लोक पृथ्वी लोक के मनुष्य गति की स्थिति है। अत उपदेश दिया गया है कि अचेतन पदार्थो की मूर्च्छा को तोड फेंको—ये ही भव स्थिति मे बाध रखती है। रागादि भावो के सम्मुख ही न होवो। मानव वस्तु-उपयोग भले ही करे—पर उसका उपभोग न करे—उसमे राग न करे—आनन्दभाव न करे, आसक्ति न करे,—वासना न हो—उसके प्रकम्पनो से अछूता रहे,—रूचि न ले।

ध्यान मे अचेतन के प्रकम्पनो को अस्वीकार करते है और मात्र उसके दृष्टा ही रहने का अभ्यास होता है। उनके प्रति अकिंचन रहने तथा वीत मोह व वीतराग रहने का समय और स्थिरता ही बढाते रहते है। तब उनके क्षेत्रो का, भावो का अतिक्रमण होकर स्व शुद्ध भावो का,—ज्ञायक ज्ञान मय भाव का पता मिलता है। उनमे ही अपनी निश्चलता बढानी होती है। भाव प्राण तथा भाव मन को शुद्ध तथा स्थिर रखो। इस स्थिरता के परिज्ञान के अर्थ ही देहो का, मन का, प्राण का, शब्दादि का विज्ञान तथा रहस्य प्राप्त करना चाहिए। पर पदार्थ तथा पर पदार्थ के भोग के फल तथा इनके परिज्ञान मानव को अपने हित मे जानना आवश्यक ही है। प्रत्येक मानव पीढी वर्तमान मे जीना चाहती है, अतीत जीवी नही होना चाहती; वर्तमान की ही समस्याओ का साक्षात्कार तथा समाधान चाहती है। पर समाधान और साक्षात्कार कर सकने की यथार्थ योग्यता तथा सामर्थ्य उसके अपनी ही शक्ति-बोध व सौन्दय बोध से भी अन्तिम निष्पत्ति मे जुडा ही रहता है और यह बोध जैसा भी कच्चा-पक्का या हल्का या गहन होता है उसके अनुसार ही उस पीढी का अपना युग बोध होता है,—अपनी सस्कृति तथा सुकृति होती है। वह युग बोध अपनी आस्था व आस्था के इतिहास से नितान्त टूटा हुआ भी नही हुआ करता, उसकी जडे अव्यक्त रूप से गहरी भूमिगत ही रहती है। कृत्रिम रूप से इन जडो को उखाड फेकने मे तो वह समुदाय बिखर ही जाएगा और आत्महता हो जायगा। मानव जीवात्मा सदा के लिए अपने निज तत्त्व से टूटा रह ही नही सकता, बधनकारी विसदृश तत्त्व से सघर्ष कर उसे कभी न कभी निज तत्त्व के प्रति आना ही होता है। मानव जीवात्मा के अनन्त जीवन इतिहास मे युग परिवर्तन अनेक बार आए है—युग बोध कई बार बदले है—पर वह उसका आत्म-बोध जो अग्र परम पुरुष भ० हिरण्यगर्भ ऋषभ प्रभु ने योग-शासन मे प्रकट किया है,—सार्वकालिक तथा सार्वभौम होने से सदा अडिग और अचल है।

अचेतन चार तत्त्व या तीन तत्त्वो का सवर मानव के व्यवहारिक जीवन मे भी अपना सदर्भ रखता है—सवर से इन तत्वो की ऊर्जाएँ अपव्यय होने के स्थान मे सचय को प्राप्त होती है, और मानव अपने व्यवहार मे अधिक दक्ष तथा कुशल भी हो जाता है। बिखरा हुआ स्टीम किस काम के उपयोग का हो सकता है—मगर एक स्थान पर निरोधित तथा सचित होने पर वह बडे-बडे यान तथा इजिनो को चालू करने और कार्य करने मे सक्षम कर देता है। एकाग्र तथा योगस्थ होकर मानव बडे-बडे महत्वपूर्ण कार्य तथा शोध आदि कर सका है और करते रहने मे वही रहस्य भी रहेगा। क्रिया की पराकाष्ठा यानी सफलता स्व शक्ति को सयम से सुनियोजित करके लगाने पर ही सभव हुआ करती है। सदर्भ भी, कही भी क्यो न हो, मन वचन काया के निरोध किसी न किसी रूप मे क्रिया-शील न रहने पर सफलता हो ही नही सकती तथा जहाँ भी सफलता होती हे इन तत्वो की क्रियाशीलता होती ही है और वह निरोध व संवर रूप मे ही होती हे।

सूक्ष्म न्यूट्रान कणो से निर्मित सूक्ष्म देह मे भी मन बुद्धि प्रमुख तत्व है। मन Mind और Psyche दोनों का ही वाचक है और वह इन्द्रियो को सचालित करता है। इन्द्रिय विषय—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द को भोगने मे उसी की विभावी भूमिका है अर्थात् मन ही विभावी आत्मा है,

वहिरात्मा है और अन्तरात्मा भी है—पर वह शुद्ध परम स्वरूप आत्मा रूप नही है—उसका चिद् स्वरूप परिणमन हो जाना ही आत्म स्वरूप मे एकत्व है, अभिन्नता है। जीव का बधन तथा मोक्ष उसके भावानुसार ही स्वत निर्मित होता है। जीव की दशा आ० श्री कु दकु द ने ज्ञानी और अज्ञानी दो ही भेदो को स्वीकार करके वर्णित की हे। पूर्ण अज्ञानी पुरुष को योग-धर्म का साधन हो ही नही सकता तथा पूर्ण ज्ञानी को योग-धर्म साधन की आवश्यकता भी नही रहती। वस्तुत जो अभी अज्ञान और ज्ञान की मिश्र अवस्था मे है—यानी जिन्हे अनादि का अज्ञान तथा मोह गुरुपदेश या आगम के पठन-पाठन या श्रवण से कथंचित् शिथिल हुआ हे या पूर्व जन्म सस्कार से स्वत शिथिल हुआ है ऐसे बीच की अवस्था वालो के लिए ही यह योग शासन हे—उन्हे ही क्रमबद्ध गुण सक्राति तथा मार्गणा का मार्ग खोज से मिलता है। इस मार्ग मे आत्मा अनात्मा तत्त्वो तथा उनके रागादि से परिष्कृत होकर, विकसित होकर केवल ज्ञान तथा केवल सुख रूप प्रकाशमान होता हे।

आत्मा तत्त्व को अनात्मा तत्त्वो से पृथक् विभक्त करके अनुभूत करने को ही योग-भापा मे भेद विज्ञान कहा जाता हे। क्रम से मिथ्यात्व से सम्यक्त्व मे आना तथा फिर केवरा स्वरूप मे आना होता हे। चतुर्थ गुणस्थानक सम्यक् दृष्टि इस सीमा तक अचेतन कर्म वर्गणा से अवधक हे कि वह राग द्वेष के अभाव मे मात्र अनन्तानुबधी राग व तत्सबधी कपायादि का ही अवधक हे। वही जब देशव्रती सयम धारी हो तो कषाय के अभाव की बढती तारतम्यतानुसार ही उसकी अवधता भी बढती है अर्थात् वैसे-वैसे ही वह अचेतन प्रकम्पनो से अप्रभावित होता जाता है और पूर्ण वीत मोह, वीतकपाय व वीतराग होकर, स्पदन-रहित अयोग-अवस्था मे पूर्ण अवधक होता हे और तव पुन बधन मे पड़ने के निमित्तो का शेष अभाव भी हो जाता है, पूर्ण मुक्ति ही, स्व स्वतन्त्रता ही निष्पन्न हो जाती है। स्व तथा पर वस्तु मे सम्यक् दृष्टि रूप सम्यक्त्व के उपरात क्रम-मार्ग रूप सयम की, चारित्र की, आत्म-अभ्यास की अर्हत्पुरुषो ने बडी महिमा की है, तथा उस सयम मे भी सम्यक्त्व की महिमा है। सम्यक्त्व की यथार्थता (सम्यक् दृष्टि) ही केवल-दर्शन तथा केवल ज्ञान मे विकसित होती हे। तब जीवात्मा का उपयोग क्रम नही, युगपद् निराश्रय रहता हे, दर्शन और ज्ञान युगपद् रहते हे, अबाध रहते है। सम्यक्त्व की भूमिका मे ही साधकत्व विवर्धमान होकर सिद्धत्व की भूमिका आती हे। अन्तर-सम्यक् दृष्टि शब्दात्मक नही, अनुभवात्मक होती है, अनुभव ही रहस्य हे। अनुभव के अर्थ ही विस्तार से अचेतन तत्वो तथा रागात्मक विकारी भावो को जानना चाहिए और उनसे पृथक् अपने अविकारी निराकुल ज्ञायक आत्म तत्त्व की पहचान कर लेनी चाहिए।

प्राण, मन, इन्द्रिय तथा शब्द या वाणी जो आत्म द्रव्य से भिन्न है उनकी अतः आइए थोडी विस्तार से ही विवेचना कर ले।

देह-तत्त्व

शुभाशुभ नाम कर्म के उदय से देह निष्पन्न होती है। यह पच भौतिक तत्वो की या अणु-परमाणु रूप पुद्गल स्कंधो की रचना है। सूक्ष्म देह मे भी सूक्ष्म अणु-परमाणुओ का ही विलास है। परमाणु तीनो ही देहो मे आते है,—बधते हैं और जीर्ण होकर निकलते रहते हे। वैज्ञानिको ने पाया

है सूक्ष्म देह के निर्मापक न्यूट्रान अणु है। ये न्यूट्रान अणु इतने सूक्ष्म है कि ये किसी भी भौतिक वस्तु को, दीवार को पार कर अन्तरिक्ष मे चल सकते है। कोई भी भौतिक वस्तु इन्हे प्रतिघात नही कर सकती। इन्हे किसी भी दूरी और परिमाण मे प्रकट व पुनर्लय हो सकने मे कोई रुकावट नही होती। अत' सूक्ष्म शरीर की गति तथा सामर्थ्य भी विश्व मे अप्रतिहत और अबाध पाई जाती है और जब अचेतन सूक्ष्म प्रदेशी अणु-परमाणु रचित स्कध की भी ऐसी चमत्कारिक गति तथा शक्ति है तो स्वय शुद्ध चिद्-आत्मा की ज्ञान शक्ति की सामर्थ्य जो कल्पनातीत ही हो—तो इसमे आश्चर्य ही क्या ?

देह के पांच प्रकार

बध-फल के अनुभव के आधार-भूत शरीरो की सख्या—पाच बताई है। "औदारिक वैक्रियिका-हारक तैजस कार्माणानि शरीराणि" (तत्त्वार्थ सूत्र २/३६) मे (१) औदारिक (२) वैक्रियिक (३) आहारक (४) तैजस और (५) कार्माण—इस प्रकार पाच प्रकार के शरीरो की गणना की गई है। जो विशेष नाम कर्म के उदय से प्राप्त होकर "शीर्यन्ते" अर्थात् गलते है वे शरीर है—ऐसी शरीर के अर्थ की व्युत्पत्ति है। स्थूल और उदार शब्द पर्यायवाची हे—उदार से ही औदारिक शब्द बना है—अत औदारिक शरीर और स्थूल शरीर एकार्थक है।

औदारिक शरीर को हमारी इन्द्रिया भी जानती है—परन्तु आगे चार शरीरो को इन्द्रियां नही जानती। इन चार शरीरो के लिए "पर पर सूक्ष्म" ऐसा वर्णन तत्त्वार्थसूत्र मे आया है। इसका अर्थ है कि औदारिक शरीर से वैक्रियिक शरीर सूक्ष्म है, उससे (वैक्रियिक से) आहारक शरीर सूक्ष्म है तथा आहारक से तैजस शरीर सूक्ष्म है और तैजस से भी कार्माण शरीर और सूक्ष्म है। कार्माण शरीर अन्त्य शरीर है—वह अति सूक्ष्म कार्माण वर्गणाओ से निर्मित है।

ये शरीर सब अलग-अलग है, सूक्ष्म-सूक्ष्म अन्वय गुण सहित हैं। ये उत्तरोत्तर सूक्ष्म द्रव्य-मय हैं और उत्तरोत्तर असख्यात गुण प्रदेश वाले भी हे—प्रदेश अपेक्षा उत्तरोत्तर हीन नही है। ये अनात्म सूक्ष्म शरीर ही जब इस प्रकार अनन्त प्रदेशी तथा असख्यात गुण-प्रदेश मय है—तो इन सब को अव-गाहित कर विराजने और जानने वाला चिन्मय आत्मा तो अनन्त गुण प्रदेशी ही होना चाहिए और वस्तुत ऐसा ही है या कहिए प्रत्येक प्रदेश ज्ञान, दर्शन व सुख रूप ही है।

अर्हत् सूत्रकार ने आगे स्पष्ट किया है कि परवर्ती शरीरो मे तैजस शरीर प्रदेश अपेक्षा अनन्त गुणा है और कार्माण तैजस शरीर से भी अनन्त गुणा है। आगे "अप्रतिघाते" (२/४०) सूत्र द्वारा इन दो शरीरो को अप्रतिघात वाला कहा है। ऊपर हम बतला चुके हैं कि न्यूट्रान कणो से निर्मित सूक्ष्म देह की भी प्रकृति अप्रतिघात कही जाती है। जैन परिभाषित तैजस और कार्माण शरीरो मे यह गुण-घटित है। लौकिक किसी भी वस्तु मे प्रतिघात को प्राप्त न होने से इन तैजस तथा कार्माण देह का विच्छेद क्या किसी लौकिक या भौतिक वस्तु से संभव हो सकता है ?

आत्म साधना जिसमे इन शरीरो का विच्छेद होता है अत. अलौकिक ही है—वह कोई

लौकिक या भौतिक साधना रूप हो भी नही सकती। तैजस ज्ञान-आत्मा के द्वारा ही तैजस तत्वो मय तैजस शरीर का वेध होता है।

विचार सूक्ष्म शब्दात्मक है अत वह लोक का ही तत्व है। पर भाव-आत्मा तो चिद् भावात्मक शक्ति कार्माण वर्गणाओ से अनन्त गुण प्रदेशी तथा अन्वय गुण मे भी अनन्त गुणा होने से कार्माण देह को भी अतिक्रात करने मे सक्षम है। बाहर-भीतर के अनात्म प्रकम्पनो को रोकने के अनन्तर स्व स्वतन्त्रता तथा बधन-मुक्ति का अव्यर्थ उपाय भाव-आत्मा का ध्यान ही है। भावात्मक चिद् चितना (Sustained Thought of self, spirit) मे ही निमग्न और तन्मय होकर स्वय भावक व निश्चित (चितना स्पदन से रहित) ज्ञान मात्र ज्ञायक आत्म तत्त्व पर ही पहुचा जाता है और यही योग का परम रहस्य भी है। प्रतिघात का क्या अर्थ हे ? कहा गया है—

एक मूर्तिक पदार्थ का दूसरे मूर्तिक पदार्थ के द्वारा जो व्याघात होता है उसे प्रतिघात कहते है। वैसे वैक्रियिक और आहारक शरीर का भी प्रतिघात नही होता—परन्तु तैजस और कार्माण का तो लोक पर्यन्त सर्वत्र ही प्रतिघात नही होता। यह बात वैक्रियिक और आहारक शरीर मे नही है। तैजस और कार्माण शरीरो का आत्मा के साथ अनादि सम्बन्ध हे, अत वैज्ञानिक इन शरीरो को जीवात्मा के स्व शरीर कहते हैं। इन सहित जीवात्मा सशरीर है यानी ये दो शरीर तो सब ही ससारी जीवो के होते है। इस बात को तत्वार्थ सूत्रकार ने—"सर्वस्य" (२/४२) सूत्र से कहा है।

आधुनिक वैज्ञानिको ने जिस सूक्ष्म प्राण शरीर का छाया-अकन लिया है वह कौन सा सूक्ष्म शरीर है यह अभी स्पष्ट नही हुआ है। न्यूट्रानो के कणो से निर्मित कौन सा शरीर है ये अभी निश्चित नही कहा जा सकता। मगर एक बात निश्चित है कि तैजस शरीर तैजस कणो से—तैजस अणुओ से ही निर्मित है।

तैजस (न्यूट्रानिक) देह जैन ऋषियों को बहुत प्राचीन काल से ही विदित रहा हे और वह मूर्तिक व रूपी होने से फोटोग्राफिक भी हो सकता है। सूक्ष्म शरीर को जैन भी आधुनिक मनो वज्ञानिको के समान प्रतिघात रहित ही मानते है।

तैजस व कार्माण का तो वज्रपटलादिक मे भी व्याघात नही माना गया है। तैजस शरीर की इनकी व्याख्या ही यह है—जो दीप्ति का कारण है, या तेज से उत्पन्न होता है उसे तैजस कहते है (सर्वार्थ सिद्धि)।

वैक्रियिक शरीर अणिमा आदि आठ गुणों के ऐश्वर्य के सम्बन्ध से—अनेक, छोटा, बडा आदि नाना प्रकार की विक्रिया रूप से होना है अर्थात् यह योगैश्वय से उत्पन्न अष्ट सिद्धियो के प्रतिफल द्वारा विक्रिया रूप होता है।

आहारक शरीर प्रमत्त संयत योगी की इच्छा से—जो या तो सूक्ष्म पदार्थ का ज्ञान करने के लिये या असयम की निवृत्ति करने के लिये होता है। वैक्रियिक तथा आहारक शरीर का प्रकट होना

अत योगी की योग-सिद्धि की प्राप्ति पर अथवा देव नारकियो को जन्म जात सिद्धि पर निर्भर करता है और दोनो शरीर एक साथ नही हो सकते ।

आहारक शरीर तो एक पुतले के रूप मे निकलता है जो अनुग्राहक अथवा निग्राहक—कैसा भी हो सकताहै । आधुनिक मनो वैज्ञानिक जिस सूक्ष्म शरीर के दूर व परिणाम मे प्रकट व पुनर्लय होता मानते हैं, वह सम्भवत आहारक शरीर हो सकता है जो पुरुष की इच्छा पर मन सहित बाहर निकल कर (Project होकर) इच्छित स्थान व दूरी पर जाकर वहा का विवरण देखकर वापिस स्थूल शरीर मे लौट आता है और तब मन उसका पूरा विवरण भी सुना दे सकता है ।

रूसी वैज्ञानिक किरलियान द्वारा लिए गये रगीन चित्र वस्तुत लिंग शरीर के प्रभा मण्डल के नही पाये गए है, उन रगीन चित्रो का आधार प्रभा मण्डल नहीं—त्वचा की नमी है ।

मन एक अतीन्द्रिय दर्शन शक्ति

स्टेनफोर्ड मे इगो स्वान और पेट प्राइस नाम के व्यक्तियो के साथ उनके दूरस्थ दृश्य देखने की मानसिक शक्ति पर कई प्रकार के अनुसधान किये गये है, और अब अमेरीकी सुरक्षा व्यवस्था को चिन्ता है कि मानसिक शक्ति के उपयोग द्वारा मन भेदिया का काम कर सकता है तथा ऐसी मन शक्ति के उपयोग से परमाणु अस्त्रो को चालू करने वाला बटन भी दबा दिया जा सकता है । इगोस्वान और पेट प्राइस को रूस व चीन के कई स्थलो को देखने को कहा गया और इसके द्वारा दिये गये दूर स्थलो के वर्णनो की पुष्टि तदनन्तर उन दूर देशो मे तत्काल जासूसो द्वारा की गई । Para psychology (अति मनोविज्ञान) तथा Para Sensory Vision की वैज्ञानिक स्वीकृति मानसिक शक्ति की अलौकिक व असाधारण प्रकृति की ही मान्यता है, जो अब पाश्चात्य वैज्ञानिको मे स्थिर होती जा रही है ।

अब यह चिन्ता फैल रही है कि मन शक्ति के सामरिक उपयोग मे कही मनो वैज्ञानिक अथवा मानसिक महायुद्ध का सूत्र पात तो नही हो जायेगा ।

अपरा ऋद्धि सिद्धि का निषेध

प्राचीन अध्यात्म विद्या ने इन अपरा सिद्धियो व ऋद्धियो के प्रयोग का निषेध अत मानव जाति के उपकार व कल्याण और सुरक्षा की दृष्टि से तो किया ही, साथ ही इनके प्रयोग अध्यात्म मे आगे उन्नति मे भी बाधक माने । मन शक्ति के एकाग्र और निग्रह करने पर जो अति शक्ति का प्रवाह दृष्टिगोचर होता है उसे अध्यात्म साधक को पचाकर मात्र आत्म-साक्षात्कार की धुन रखनी चाहिये —यह बार-बार सूचित किया गया है । यह भी कहा गया है कि जो साधक इन कायिक ऋद्धियो को प्राप्त कर लौकिक प्रयोग करके दुरुपयोग करते है वे इनका ज्यादा दिन तक उपयोग भी नही कर सकते —ये ऋद्धि व सिद्धि कालान्तर मे या तो स्वत क्षीण हो जाती हैं, अथवा मानव हित मे रत अन्य उच्चतर आध्यात्मिक साधको द्वारा निष्क्रिय भी कर दी जाती हैं । ये शक्तियाँ आत्मिक-शक्ति नही हैं

आगन्तुक व सयोगी शक्ति है, द्रव्य (मूर्तिक) शक्ति है। अब यह विचारणीय ही है कि अचेतन लब्धियाँ ही इतनी बलशाली है—तो चेतन आत्मिक शक्तिया तो अवर्णनीय रूप से ही शक्ति वाली होनी ही चाहिये।

सूक्ष्म देहो की सख्या : स्थिति

सूक्ष्म शरीरो के सम्बन्ध मे कहा गया है कि एक साथ एक जीव के तैजस कार्माण को लेकर चार शरीर तक विकल्प से होते है—अर्थात् एक जीवात्मा के दो शरीर (तैजस व कार्माण) हो सकते है और किसी अन्य के औदारिक, तैजस और कार्माण, अथवा वैक्रियिक, तैजस और कार्माण, ये तीन शरीर अथवा अन्य किसी के औदारिक, आहारक, तैजस और कार्माण—ये चार शरीर हो सकते है। वैक्रियिक और आहारक दोनो ऋद्धियो की प्रवृत्ति तपोबल की ऋद्धि है—अतः दोनो की प्रवृत्ति एक साथ नही होती।

सोपभोग और निरुपभोग देह

औदारिक, वैक्रियिक और आहारक इन तीन शरीरो में इन्द्रियों की रचना रहती है अत इनके द्वारा अपने-अपने विषयो का ग्रहण होता हे, अतः ये तीनो शरीर ही सोपभोग है। तैजस शरीर यद्यपि सब ही ससारी जीवो के पाया तो जाता है मगर आत्म-प्रदेश परिस्पद मे यह शरीर कारण नही है, अत इन्द्रियो द्वारा विषयों के ग्रहण करने में इस शरीर को उपयोगी नही माना गया। इस शरीर के लिये यह प्रश्न भी नही होता कि यह शरीर निरुपभोग हे या सोपभोग, परन्तु अन्त्य शरीर यानी कार्माण शरीर तो निरुपभोग ही है। कार्माण काययोग केवलि को ही होता है तथा ऐसा योग प्रतर व लोक पूरण समुद्धात व विग्रह गति पर होता हे। केवल ज्ञान रहने से इन समुद्धातो मे बाह्य उपभोग का प्रश्न नही रहता—तथा विग्रह गति में भावेन्द्रियाँ तो होती है मगर द्रव्येन्द्रिया नही,—अत तब शब्दादि विषयो का ग्रहण नही होता। इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि आधुनिक मनो वैज्ञानिक जिस सूक्ष्म शरीर की चर्चा करते हे और जिस पर अनुसधान किये जा रहे है—तैजस व कार्माण नही हे तथा वे आहारक और विक्रियिक ही हो सकते हे।

ध्यान मे तैजस देह क्यों

आध्यात्म विद्या की यह मान्यता है कि आहा’क वैक्रियक देह ऋद्धि, तपोबल, व ध्यान-शक्तियो से प्रकट होते है। तैजस शरीर निरुपभोग होने से इस शरीर मे इन्द्रिय व्यापार नही होता—अत ध्यान काल मे जब साधक इन्द्रिय स्तर तथा मन स्तर से परे चला जाता है तो उसे ज्योति व प्रकाश का जो प्रथम आविर्भाव प्रकट होता हे वह तैजस शरीर की ही दीप्ति है।

आत्मा का तैजस शरीर के मध्य ध्यान करने पर ध्यान तल्लीनता में साधक इन्द्रिय व मन से परे (विषयानन्द से परे) चला जाता है और इस शरीर के मध्य अपने को ज्ञान मात्र व भगवान्

हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) सम प्रकाशमय देखकर साधक परम आह्लाद (आत्मानन्द) को प्राप्त हो जाता है और ऐसे आह्लाद की प्राप्ति,—क्षयोपशम विशेष की प्राप्ति होती है और लब्धि रूप होकर सम्यक्-दर्शन की हेतु हो जाती है। ऐसे तैजस देह के वेध से आत्म-परिचय होकर आत्मानन्द फिर क्रमश ब्रह्मानन्द तथा परमानन्द होकर अन्त्य शरीर की निवृत्ति ही एक मात्र बाकी रह जाती है।

कार्माण सस्थान के निर्माण के हेतु राग, द्वेष, मोह, कषाय, प्रमाद आदि से निवृत्त होकर परावैराग्य या वीतराग सर्वज्ञ सम अपना ध्यान जब साधक करता है, तो शुद्धोपयोग की स्थिरता से ऐसी पीत पद्म और शुक्ल ध्यानाग्नि एव ज्ञानाग्नि रूप आध्यात्मिक ऊर्जाए प्रकट होती हैं जो उस कर्म —सस्थान को भी शनै शनै शीर्ण कर देती है।

अत अर्हन्त परमेश्वर तीर्थंकरो की ही यह खोज है कि किस प्रकार ध्यान-प्रक्रिया से मानव अपने अनादि देह-बधन से—कार्माण पाश से भी मुक्ति को प्राप्त कर सकता है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक अभी सूक्ष्म शरीर व मन शक्ति के ही अनुसधान मे लगे है, मगर मन शक्ति के भी, जो अपने को "मैं" रूप मे विलक्षण व अद्भूत शक्ति रूप मे प्रकट करती है, पृष्ठ भाग मे जो निर्मल ज्ञान चेतना चिति शक्ति है उसकी खोज तो इनके लिए अभी बहुत दूर है।

मन शक्ति द्रव्य रूप से मस्तिष्क शक्ति है मगर भाव रूप से स्वय भावक व चेता चिति शक्ति व उपयोग मय आत्मा की ही शक्ति है। यह देह यत्र की सीमा मे कर्म-प्रत्ययो की सघनता की तारतम्यता के अनुसार ही अपना प्रकाश कर पाती है। परिपूर्ण निर्मल व शुद्ध सिद्ध आत्माओ मे इन पार्थिव शक्तियो, द्रव्येन्द्रियो या भावन्द्रियो की भी अपेक्षा नही होती। ध्यान के द्वारा ही शक्तियो का व आत्म तत्व का निर्मल प्रकाश होता है। चेतना के प्रति स्वय जीवात्मा का यह अपराध रहता है कि वह इसके प्रति उन्मुख नही रहता और इस अपराध के ही कारण वह क्षुब्ध व भय ग्रसित रहता है।

मूल तत्त्व पंच भूत नहीं, अणु पुद्गल

प्रकृति (अनात्म, अचेतन) लोक मे पुद्गल सूक्ष्मतम रूप से परमाणु रूप है। सूक्ष्मतम पर-माणु अति सूक्ष्म है। पृथ्वी, अप, तेज, वायु और आकाश (शब्द) ये पाँच भौतिक तत्व है पर ये मूल तत्व नही है। मूल तत्व अणु-पुद्गल है। तत्वो मे गध रस रूप स्पर्श और शब्द यथा क्रम एक से एक अधिक सूक्ष्म है। स्थूल व सूक्ष्म अनात्म जगत् अणु-परमाणु व इनके सघात से बना है। दृश्य जगत् सब अणु सघात है।

प्राण तत्त्व

प्राण तत्व चेतन तत्व का व्यक्त रूप है और यह भाव रूप प्राण है, प्राण वायु तत्व से भी अधिक

सूक्ष्म है, वह आकाश तत्व के समान निर्लेप असख्यात प्रदेशी है परन्तु देही होकर देह-प्रमाण रहता हे। अनन्त आत्माए व्यक्त सूक्ष्म प्राण रूपो मे, इस विश्व मे—विश्व के सघातो को एव विश्व के अणु-परमाणु को आपूर्ण अवगाहित व व्याप्त कर विद्यमान है।

प्राण रूप चेतन तत्व तीनो लोक मे व्याप्त है अर्थात् यह पृथ्वी पर है, अन्तरिक्ष मे है और द्यु लोक मे है। पर जो शुद्ध चैतन्य तत्व—सिद्धात्माये हैं वे इन तीनो लोक से परे सिद्धालय मे है।

द्यु लोक स्थित प्राणी (जीव) पृथ्वी पर सूर्य किरणो द्वारा उतरते है। अतरिक्ष स्थित प्राणी पृथ्वी पर पर्जन्य द्वारा उतरते हैं। अतरिक्ष लोक मे पर्जन्य और तैजस (रवि) तत्व के आश्रय वे वापिस भी जा सकते है। देव लोक मे क्रमोन्नत स्तर है। तैजस एव वायु तत्व की कमी व पार्थिव अश की उत्तरोत्तर बढती सघनता मे जीव क्रमश पृथ्वी व उसके तल व अतल प्रदेशो मे ही रह जाते हैं, जिन्हें निकृष्ट नरक व निगोद लोक कहा गया है जिनमे जीवात्मा का ज्ञान विशेष प्रच्छन्न होता जाता है।

व्यक्त जीवन शक्ति, द्रव्य व भाव प्राणकी समष्टि

चेतन पदार्थ की देही (व्यक्त) दशा मे जीवनी शक्ति प्राण रूप रहती हे जो द्रव्य व भाव रूप है। वास्तव मे प्राणी मे भावमयी तत्व ही अमृत हे, अमरण धर्मा हे। प्राणशक्ति मात्र वायु रूप नही हे,—गर्भाशय मे तो वायु मिलने का साधन नही भी होता फिर भी सातवे महीने मे गर्भस्थ प्राणी हिलने डुलने लगता हे जिससे सिद्ध होता है कि वायु न मिलने पर भी प्राण-तत्व पर ही जीवन आधारित रहता है। मृत शरीर मे वायु आता जाता हे पर फिर भी वह जी नही उठता। मूर्च्छित, जलमग्न, सु घाकर स्मृति खोया व समाधि मे मनुष्य मृत के तुल्य रहता है, श्वास-प्रश्वास भी नही होता, परन्तु प्राण तो मौजूद रहता है, अत उनमे श्वास-प्रश्वास की गति फिर चालू हो जाती है।

सिद्ध होता है कि प्राण, प्राण-वायु से एक स्वतन्त्र चेतन व तेजो मय तत्व है। इसका तेज भौतिक तेज मात्र नही, चेतन व ज्ञानमय तेज ही विशेष हे। प्राण-वायु और प्राण-परमाणु भिन्न-भिन्न है—प्राण परमाणु ही प्राण कोप का सघटक है। प्राण द्रव्य रूप से तेजोमय (Neutronic) हे और भाव रूप से ज्ञान मय—चैतन्य है।

तैजस देह

प्राण शरीर तेजोमय होता हे इसे ही तैजस देह कहा जाता हे और इसी तैजस देह मे कार्माण देह का वधन हे जो चैतन्य-ज्ञान मय तत्व को आवृत्त रखता है।

कार्माण देह

चैतन्य प्राण एक स्वयंभू शक्ति है और भाव रूप है। वह ससारस्थ अवस्था मे देह मे अत

द्रव्य-प्राण देह मे भी अवगाहित कर रहता है। देहो मे कार्माण देह मूल देह है। कार्माण देह कार्माण वर्गणा से निर्मित है उसका कारण है स्वय जीव का विभाव भाव, मोह भाव या राग भाव अथवा अज्ञान दशा। अज्ञान दशा मे किए गए शुभ-अशुभ भाव कर्म ही कर्मावरण का निर्माण करके कर्म-संस्थान रूप देह का निर्माण करते है। आत्मा तैजस प्राण तत्व मे कार्माण देह सहित बधा रहता है। निर्मल आत्मा का निज देह चिन्मय चैतन्य मात्र होता है।

चेतन अचेतन का समानांन्तर या परिपूरक सम्बन्ध और सप्त व पच तत्वो का निरुपण

चेतन व अचेतन तत्व का व्यक्त प्राण अवस्था मे समानान्तर या परिपूरक सम्बन्ध रहता हे। विभाव दशा मे आत्म प्रदेशो मे राग युक्त हलन चलन होता है तो देह-प्रदेशो मे भी अचेतन कर्माणुओ का आना जाना,—आना, बधना या छूटना होता रहता है। इस रहस्य ज्ञान को लेकर जैन सप्त तत्वो का कथन करते है—इसी मे आस्रव, बध, सवर, निर्जरा और मोक्ष रूप पाच तत्व है और स्वय जीव व अजीव मिलकर सप्त तत्व हाते है। जीव के अजीव से सम्बन्ध होने या मुक्त होने मे इन ही सप्त-तत्वो का क्रियाकलाप रहता है। वध वन्धने मे विभाव व अज्ञान (अविद्या) निमित्त है और उपादान स्वय भाव कर्मरूप अचेतन द्रव्य की ही शक्ति है जिससे कर्म द्रव्य अनादि के मलीन जीव के साथ सयोग पाकर वन्धता है।

चेतन अचेतन में तीन प्रकार की शक्ति

द्रव्य की तीन प्रकार की शक्तियो का प्राचीन ऋषियो ने पता पाया और द्रव्य को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित कहा। यह सार्वभौम लक्षण जीव व अजीव दोनो मे ही घटित पाया गया। दोनो ही चेतन व अचेतन तत्वो मे ही अपनी-अपनी स्व शक्ति है। एक मे चेतन शक्ति यानी ज्ञायक शक्ति है तो दूसरी मे अचेतन अर्थात् मात्र ज्ञेय होने की योग्यता। शक्ति मे आकर्षण (उत्पाद) विकर्षण (व्यय) होता है। चेतन तत्व मे ज्ञान पर्याय उत्पन्न होती है, व्यय होती है। फिर भी उस चेतन मे ज्ञान गुण नित्य. अर्थात् उत्पाद एव व्यय सहित वह स्थिर एव नित्य है।

अचेतन द्रव्य भी उत्पाद व्यय और ध्रौव्य युक्त है। भौतिक अणु पूरा एक सौर-मण्डल है, सूर्य-ग्रह मालावत् ही वह कहा जाता है। सौर-मण्डल मे जैसे मध्य मे स्थिर सूर्य है वैसे ही अणु मे धन विद्युत् केन्द्र प्रोटोन (Proton) है और उसके चारो तरफ ऋण-विद्युत्कण (Electron) अत्यन्त वेग के साथ वर्तुल गति से घूमा करते है। धन विद्युत् कण बाहर से तेजो शक्ति मय न्यूट्रोन को भीतर खीचता है और अन्दर से बाहर फैंकता है। जब वह शक्ति को बाहर फैंकता है उस समय ऋण विद्युत्-कण बाहर की कक्षा से भीतर कूद आते है और जब वह धन-विद्युतकण बाहर से शक्तिन्यूट्रान को भीतर खीचता है उस समय ऋण विद्युतकण अन्दर से बाहर उछल पड़ते हैं।

अणुओं में स्वैर गति स्वयंभू

पाया गया है कि ऋण विद्युत्कणो का जो आकर्षण व विकर्षण रूप बाहर से भीतर व भीतर से बाहर कक्षा मे भ्रमण रूप होता है वह किसी नियम के बद्ध नही है—वह क्रिया अबाध स्वैर वृत्ति रूप है। अत कोई ऋण विद्युत्कण कब किस समय किस गति से चलेगा इसका निर्णय नही किया जा सकता, यद्यपि ऋण विद्युत्-अणुओ के बडे समूह के सम्बन्ध मे कुछ नियम जाने भी गये हैं। अणुओ की यह मौलिक स्वैर गति स्वयभू है।

जीवाणु दशा अनादि से विभावी

जब अणुओ की ही गति को अदृष्ट पाया गया है तो चैतन्य प्राणी के विभाव या स्वभाव भाव तो अदृष्ट ही हैं और पुद्गल अणु और मन के आद्य कर्म का कारण अदृष्ट ही है—अत जीवाणु को अनादि काल से विभावी ही माना गया है। यथा खान से निकला धातु अन्य पदार्थ युक्त, मल युक्त ही देखा जाता है, वैसे ही जीवाणु भी द्रव्य-प्राण देह युक्त ही अनादि से देखा गया है। कोई आदिकाल मे निर्दिष्ट ऐसा बिन्दु नही है जहा इसके सम्बन्ध का आदि देखा जा सके।

अणुओं मे शक्ति तरगे

ऋणाणु व धनाणु दोनो मे से शक्ति की तरगे निकला करती है। ऋणाणु व धनाणु दोनो शक्ति-तरगो के केन्द्र है और शक्ति तरगो से ही इनके सम्बन्ध मे कुछ ज्ञान हो सका है पर इन ऋणाणु व धनाणुओ मे शक्ति का आविर्भाव कैसे व क्यो कर होता है—यह पता नही चला है, पर इन प्रोटोन, इलेक्ट्रान व न्यूट्रान की तरगो की जो भी जानकारी हुई है, इससे इतना ही पता चला है कि इनकी विश्लेषण गति मे शक्ति का विस्फोट होता है।

प्राणाणु और कर्म वर्गणा

जैसे ऋणाणु और धनाणु और न्यूट्रान—ये पुद्गल परमाणु के मूर्तरूप है, वैसे ही द्रव्य प्राण परमाणु भी ऋणाणु, धनाणु और न्यूट्रान रूप मे द्रव्य रूप होता है।

प्राण जीवात्मा भाव रूप है, परन्तु द्रव्य कर्मप्रत्ययो के साथ बन्ध कर ही व्यक्त होता है। द्रव्य प्राण एव जीवात्मा द्रव्य परमाणु से भी कही अधिक सूक्ष्म तत्व है और अधिक गति वाला, कार्य-क्षमता वाला है।

द्रव्य प्राण जो भावो के निमित्त से देह के साथ बन्धता है विद्युतात्मक है अत इनसे बने प्राण कोष भी जो तैजस देह बनाते है, प्रकाशात्मक होते है। इस तैजस देह के भीतर अन्य सूक्ष्मतम देह कर्म प्रत्यय देह है—उसे कार्माण वर्गणाये (Karmic Molecules) जो अति तैजस वायु (गैस) रूप हैं

बनाती है । जीव के साथ कार्माण वर्गणा से बन्धा पहला खोल अनादि से है । इन सूक्ष्मतम द्रव्यों के ही साथ फिर अन्य सूक्ष्मतम फिर स्थूल पच भौतिक तत्व बन्धते है । और सूक्ष्मतम देह पर सूक्ष्म देह का और सूक्ष्म देह पर स्थूल देह का खोल निर्माण हो जाता है । ऐसे देह बन्ध का मूल जीव का अज्ञान भाव है और द्रव्य रूप से मूल कारण कार्माण तत्व ही है ।

प्राण क्या है ?

भौतिक देह मे मानव के विद्युदाकर्षण (ह्यूमन मैग्नेटिज्म) को भी प्राण कहते है । तथा जीव का जो तैजस तत्व, मेटाबोलिक तत्व है,—उसे भी कई प्राण नाम से ही मानते है । कुछ अन्य जीवन रस (Protoplasm) व अव्यक्त जीवन रस (Ectoplasm) को प्राण मानते है पर विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये द्रव्य स्वय प्राण नही है, प्राण से उत्पन्न गुण परिणमन है । विद्युतात्मक प्राण के ही खोल मे चैतन्य जीव का भावप्राण है ।

भाव-प्राण जैसा कि स्पष्ट होता है चैतन्य शक्ति का ही एक परिणमन हे पर्याय हे और यह भाव शक्ति प्रत्येक प्राणि (जीवात्मा) मे स्वधीन व स्वयभू हे । ऐसी अनन्त चैतन्य आत्माए समस्त ब्रह्माण्ड मे आपूर्ण अनन्त रूप व्याप्त है और अव्यक्त है और द्रव्य प्राण शरीर मे यह व्यक्त होती है । परिपूर्ण निर्मल पुरुष अवस्था मे यह अशरीरी चिन्मय पूर्ण चिद् शक्ति ज्ञान मात्र होती है । तब फिर इस शुद्ध जीवात्मा का किसी काल मे देह मे बन्ध कर जन्म-मरण रूप आवागमन नही होता । आत्मा तब ब्रह्माण्ड से अतीत, सर्व ब्रह्माण्डो के शिखर, (Eternal) नित्य सिद्ध भूमि पर चला जाता है ।

भाव-प्राण शक्ति ही अज्ञान दशा के विभाव के कारण अनात्म द्रव्याणुओ से सयुक्त होती है । भावातीत होने या ज्ञान–भाव स्थिर होने पर उनसे वियुक्त होकर निर्मल हुए आत्मा को फिर वापिस अनात्म द्रव्य से बन्धने के कोई कारण भी विद्यमान नही रहते । प्रश्न अतः भाव मुक्ति का ही विशेष रहता है ।

तैजस और कार्माण देह : पदार्थ और रसायन विज्ञान शास्त्र : क्रमबद्ध प्रशांत प्रदेश का रहस्य

तैजस तत्व मय शरीर और कार्माण शरीर का आपस मे अनादि व सादि सम्बन्ध है–और ये जीव के साथ अनादि व सादि रूप से है । कार्य कारण भाव की अपेक्षा से अनादि सम्बन्ध है और विशेष की अपेक्षा से सादि सम्बन्ध है । जब तैजस तत्व का वेध हो जाता है तो प्राण आकाश तत्व मे वायु रूप होकर पहुचते है ।

प्राण जब सूक्ष्म वायु रूप होते हैं तो वे तैजस तत्व का वेध करके ही होते हैं और उसके पश्चात् ही निर्मल अन्तर आकाश मण्डल से सम्बन्ध होता है । वही सूक्ष्मतम कार्माण वर्गणाये है । ये

इतनी अधिक सूक्ष्म—अर्थात् सूक्ष्मतम होती है कि इनका वेध मूर्तिक किसी भी पदार्थ से सम्भव नही होता। अत इनका वेध जीवात्मा विचार व विचार के अनन्तर निज चिंतन शक्ति से ही करता है। यह वेधक या क्षायिक शक्ति परम प्रशात निर्मल (निमित्त विवर्जित) उपयोग रूप चैतन्य सत्ता से ही उत्पन्न होती है।

प्रशात अवस्था मे उत्तेजना या उद्दीपन (Excitation) शून्य हो जाता है तथा एक ज्ञान निर्विचार Catalyst (उत्प्रेरक) रूप मे कार्यशील रहता हे, जो आत्म प्रदेशो मे समता व क्रमबद्धता को प्रस्थापित करता है जिससे कर्म-प्रत्ययो का स्वत पृथक्करण होता है। Excitation और Catalyst के सिद्धान्त पदार्थ विज्ञान तथा कैमेस्ट्री के हे। उच्च तापमान से उत्तेजित होने पर धातु के इलेक्ट्रान अक्रम (Disordered) हो जाते है। वे उस उत्तेजना के कम या हटने पर वापिस तरतीब मे आ जाते है—यह थर्मोडनैमिक्स की बात हे। रसायन शास्त्र मे Catalyst रसायन का सिद्धान्त (Chemical principle) हे। मानव देह मे ये दोनो सिद्धात भी कार्यशील है—परिणामत आत्मा के अक्रम अव्यवस्थित प्रदेश देह की, मन की और वचन की शाति और निरोधक्रिया के निमित्त स्वत क्रमबद्ध और शात होने है। आत्मा के प्रदेशो का सम रूप होना—यही ध्यान का भी सिद्धान्त है और यही ध्यान से प्राप्त परिणाम भी। इससे यह भी निष्कर्ष सहज प्राप्त होता हे कि मन, वचन, काया के योग परिस्पदन के अभाव होने पर जीवात्मा की भाव पर्याय (अभिव्यक्ति) स्वत क्रमबद्ध समव्यवस्थित हो जाती है, Disordered नही रहती, विषमता नही रहती, अव्यवस्थित नही होती।

उदान वायु प्राण वायु का पर्याय

प्राण वायु का ही एक पर्याय उदान वायु है। यह उदान वायु एक शक्ति प्रवाह की तरह है जो स्नायुओ मे प्रवाहित होता हे और फेफडो व देह के उर्ध्व भागो,—कण्ठ से मस्तिष्क तक के भागो को क्रियाशील करता है। जब इस उदान वायु पर योगी नियन्त्रण व अधिकार प्राप्त कर लेता है तब वह योगी पुरुष घन भौतिक तत्वो से अत्यन्त हल्का हो जाता है। आकाश तत्व मे सयम करके तैजस तत्व व सूक्ष्म तन्मात्राओ का आकर्षण तथा सयोग करके सिद्ध योगी इच्छा मात्र से वस्तु निर्माण भी कर सकता है, और इच्छा मात्र से कही भी जा आ सकता है। योगी उदान वायु का विजय करके न जल मे डूब सकता, न काटे या धारदार कोई शस्त्र उसे बीध सकता न अग्नि उसे जला सकती हे—वह योगी इच्छा मात्र से स्थूल देह को छोडकर सूक्ष्म देहस्थ होकर अन्तरीक्षचारी हो सकता हे। त्वचा और श्रौत्र से भी आकाश तत्व का विशेष सम्बन्ध है।

आकाश (शून्य) तत्व मे ही अन्य भौतिक तत्वो को निर्माण का आधार मिलता है तथा वह देह की त्वचा के बनने मे प्रमुख कारण है और अन्य तत्व इस निर्माण मे विक्रिया रूप से सहायता करते है। आकाशीय तत्व ही मे कार्माण वर्गणाएँ है जो कार्माण देह बनाती है। तैजस तत्त्व की प्रमुखता से तैजस देह तथा फिर अन्य सूक्ष्म स्थूल देह भी पृथ्वी, जल, वायु आदि पच तत्वो

के एकत्व व सयोग से बनती है । आकाश मे ही जीवात्मा के शुभ अशुभ भाव-अध्यवसायो की स्पदनाए स्पदित होने के बाद भी बहुत काल तक विद्यमान रहती है और उनके निमित्त मे ही पौद्गलिक तत्त्वो का आस्रव व बध होकर सूक्ष्म स्थूल देहो का निर्माण स्वत उपादान शक्ति से होता है ।

मन : लब्धि और उपयोग (भावेन्द्रिय और द्रव्येन्द्रिय)

देह निर्माण मे मूल उपादान आकाशीय कार्माण वर्गणाए ही है । इस निर्माण मे कोशिका का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है और इस कोशिका मे जो सुव्यवस्थित कार्य करने की क्षमता है, ज्ञान है, वह स्वय जीवात्मा का ही क्षायोपशम ज्ञान है । ज्ञानावरण कर्म का विशेष क्षायोपशम प्राणी मे जब होता है तो वह ही लब्धि कहा जाता है । लब्धि और उपयोग ये भावेन्द्रिया है और इन सहित ही मन है । द्रव्येन्द्रियो के दो रूप होते है । लब्धि के ससर्ग से आत्मा द्रव्येन्द्रिय की रचना करने के लिये उद्यत होता है । उपयोग को भावेन्द्रिय इसलिये कहा जाता है कि कारण का धर्म कार्य मे देखा जाता है । इन्द्रिय का अर्थ है आत्मा रूप इन्द्र का लिंग या पहचान । इन्द्रिय शब्द का यह अर्थ उपयोग मे मुख्य होने से उपयोग को भी भावेन्द्रिय कह दिया गया । द्रव्येन्द्रिय निवृत्ति व उपकरण रूप कहा गया है—निवृत्ति का अर्थ है रचना । प्रति-नियत चक्षु आदि इन्द्रियो के आकार रूप से अवस्थित शुद्ध आत्म-प्रदेशो की रचना,—आभ्यतर रचना, और इन्द्रिय नाम वाले उन ही आत्म-प्रदेशो मे प्रतिनियत आकार रूप व नाम कर्म के उदय से विशेष अवस्था प्राप्त जो पुद्गल प्रचय, वह बाह्य रचना कही जाती है । इस प्रकार से जो आभ्यतर व बाह्य रचना (निवृति) का उपकार होता है उसे ही उपकरण कहा गया है । ये भी निवृति के समान आभ्यतर व बाह्य दो भेद से होता है । नेत्रेन्द्रिय मे कृष्ण व शुक्ल मण्डल आभ्यतर उपकरण है तो पलक व बरोनियाँ आदि बाह्य उपकरण है । ऐसा शेष सब ही इन्द्रियो मे है ।

आगम मे ससारी जीव के प्रदेश सामान्यत चलाचल बतलाये है । केवल मध्य के अष्ट प्रदेश आकु चन प्रसरण विस्तार व सकुचन से रहित कहे गये हैं—शेष प्रदेश सब सकोच विस्तार वाले चल हैं । ऐसी अवस्था मे नियम से आत्म 'प्रदेश ही सदा विवक्षित इन्द्रिय रूप बने रहते है—यह नही कहा जा सकता । किन्तु प्रदेश परिस्पद के अनुसार प्रति समय अन्य-अन्य प्रदेश आभ्यतर निवृति रूप होते रहते है । जिसके जितनी इन्द्रिया होती हैं उसके उतने इन्द्रिय अन्य-अन्य इन्द्रियो व उपकरणो का भी काम करती देखी गई हैं । देह यत्र मे कभी किसी भाग मे कोई स्नायु या केन्द्र विकृत हो जाते है और वे न सुधर सकते हैं, न नये बन सकते है तो आसपास के अन्य स्नायु या केन्द्र उन विकृत स्नायु व केन्द्रो का कार्य सभालने लगते हैं । यह सब जीवात्मा की ही जीवनी-शक्ति पर निर्भर करता है । इससे प्रकट होता है कि जीवाणु का केन्द्रक ज्ञान-शक्ति मय ही होता है, और उस शक्ति से ही मन शक्ति आदि का विभाव, व स्वभाव रूप परिणमन होता है अर्थात् इसी से सकल्प एव इच्छाए नि सृत होती है या मात्र ज्ञान रूप स्पदनाए ही नि सृत होती है ।

देह यंत्र का संचालन मस्तिष्क विद्यु त प्राण धारा से

देह तो मात्र एक यत्र हे, जीव को एक सीमा मे बद्ध रखने का एक कारागार है, पिंजरा है। शरीर की ठठरी को खडा करके विद्यु त् के झटको से शरीर के अवयवो को हिलते चलते व सिगरेट का धुवा निकालते प्रदर्शनियो मे आयुर्विज्ञान के वेत्ताओ द्वारा दिखाया गया है। अब यह प्रमाणित है कि मानव-देह यत्र का नियत्रण व सचालन करने वाले तत्त्व मस्तिष्कीय विद्यु त्-मय प्राण है। अत मस्तिष्क और प्राणो के सयम के उपरात ही इस देह-पिजरे का द्वार खोलने की ज्ञान-कला हस्तगत होती है, और देह-पिजरे का द्वार खुलकर ही उससे बाहर स्वतत्र व असीम रूप मे जीव बाहर आ या जा सकता है। ऐसा होने पर शरीर मे रहते हुए भी वे सब प्रतिबध शिथिल हो जाते है या टूट जाते है जो जीव को असाह् य-सा बद्ध किये हुए हैं। स्वैच्छिक विचरण मे ज्ञान-शक्ति ही आश्रय है। ज्ञान शक्ति से विचार की तरगे प्रवाहित होती है और विचार की अति सूक्ष्मता पर ही स्वैच्छिक गति से सूक्ष्म देहस्थ योगी का इच्छानुसार भ्रमण सभव होता है। ज्ञान-शक्ति जब केन्द्रस्थ हो जाती है तो विचार तरगे शून्यवत् सूक्ष्म हो जाती है—तब जो गति होती है वह स्वत शुद्ध (बिना सकल्प) उर्ध्वगति होती है और ऐसी उर्ध्वगति निष्णात जन "मुक्त" कहे जा सकते है। शुभाशुभ विचार तरगो की चलाचल विद्यमानता मे जीव का भौतिक व अति भौतिक विषयो से सम्बन्ध रहता ही है। वह अभी ससार मे ही भ्रमण कर रहा होता हे। योगी को अत. उपदेश होता हे कि हृदय और मूर्धा को सम-सूत्र करके निश्चल होकर अपने प्राण वायु को नाभि से उठाकर हृदय होकर शीश के मध्य और शीर्ष के ऊपर प्रेरित करके स्थिरता का अभ्यास करे।

भाव और क्रिया का परस्पर समानान्तरण : अजीव तत्त्व का जीव प्रदेशों मे संश्लेषण

सकल्प व विचारो का घनीभूत स्वरूप ही सूक्ष्म वस्तु के सूक्ष्म निर्माण का हेतु होता है और विचारो की विरल व शून्य अवस्था मे वह सयोगी वस्तु विलय या प्रलय भी होती हे। प्रकृति लोक मे जीव के अन्त भाव चित्रो के रूप मे—लेश्या के रूप मे निर्मित होते है। ये सब मानसिक रचना की बात है। कार्मारण सस्थान की भी रचना एक प्रकार अशुद्ध भावो के कारण ही है। उन भावो की रचना मे वर्णो (रगो) के अनुरूप ही द्रव्य-रचना होती है जो विभिन्न वर्ण-कृष्ण कापोत नील पीत पद्म आदि वर्णरूप से होती हे। इससे प्रकट होता है कि भाव व द्रव्य रूप से रचनाए अन्त क्रियात्मक व समानान्तर रूप है।

परस्पर समानान्तरण व पूरकता का यह सिद्धात जैन ऋषियो को असाधारण रूप मे ज्ञात था। उनके विषय (द्रव्य) और विषय के भावक की पूरकता के, स्वाधीन समानातरता के तथा उपादान और निमित्त के कारण कार्य के और साथ ही निमित्तो की उपस्थिति तथा जीव के रागादि स्नेह के कारण अजीव तत्त्व का जीव-प्रदेशो के साथ सश्लिष्ट हो जाने के सिद्धात के ज्ञान आश्चर्यजनक है।

आज के विज्ञान की विषयी निरपेक्षता ही मानव के लिये सकट का कारण बन रही हे। विषय के भावक के भाव मे जो बहिष्कार आज के विज्ञान ने कर रखा है इसी कारण इसमे आत्मा, नैतिक सत्य,

प्रेम, सौन्दर्य, कल्याण, हित व शिव आदि का स्थान नही है और इसी कारण प्राकृत विज्ञान के बढते चरणो मे मानव आज अनास्था को प्राप्त हो रहा है, चारित्र विहीन होता जा रहा है, सदाचार तथा प्राणि-कल्याण के लिये कोई आधार नही मिल रहा है।

ज्ञेय और ज्ञायक विश्व तथा प्रेक्षण और प्रेक्षकवत् निरीक्षण प्रणालियां

इस विश्व मे वस्तु-सत्ता एक नही दो या अनेक हैं। प्राकृत व अध्यात्म ऐसे दो विश्व मानने ही होगे। विज्ञान अत. ज्ञेय (दृश्य व अदृश्य जगत्) का एक पहलू ही है और सपूर्ण वस्तु-सत्ता तो ज्ञेय व ज्ञायक ऐसे दो पहलुओ को लेकर है। ज्ञेय मे निरीक्षण पर ईक्षण रूप प्रेक्षण प्रणाली है तो ज्ञायक की स्व निरीक्षण रूप प्रेक्षक प्रणाली है। पहली मे सब भौतिक प्रक्रियाओ का हम अनुसरण करते है तथा दूसरी मे हम प्रेक्षण करने वाले प्रेक्षक पर स्वय ही लौट जाते है। वहा प्रेक्षण प्रणाली अतत. अर्थहीन व समाप्त हो जाती है। प्रेक्षकवत् मात्र निरीक्षण प्रणाली को ही अपना कर प्रतिक्रिया रूप विचार तरगो को अनुत्पन्न रखते हुये, राग व द्वेष से उपरत होकर इस अति मानसिक शक्ति को तो पहचानते ही हैं–उस जीव के स्वय स्वरूप, "ज्ञान मात्र" व "स्व व पर प्रकाशक" स्वरूप पर भी, अनात्म द्रव्यो व अनात्म भावो से अतीत होकर पहुच सकते है।

यह प्राचीन अर्हत् तीर्थंकर ऋषियो ने जाना व प्रकट किया है। अब यह शुभ सकेत प्रकट हो रहा है कि विज्ञान ने मनोविज्ञान क्षेत्र मे प्रवेश करके यह मान लिया है कि अनात्म विज्ञान की रचना और रहस्यमयी मनोमय प्रवृत्तियो की रचना एक दूसरे की निकट उपस्थिति मे समानान्तर चलती हैं। इसी सदर्भ मे जैनो का लेश्या वर्णन व कर्म निर्माण के सिद्धात आश्चर्यजनक रूप से आधुनिक मनोविज्ञान के तत्त्वो से भी प्रकृष्टतर है। अनात्म तत्त्व का जीव के साथ आस्रव, बध तथा विलोम रूप मे सवर और निर्जरा का विशिष्ट विज्ञान जैनो की प्रज्ञा की विशिष्ट ही देन है। सूक्ष्मतम निगोद काय के जीवो की उनकी खोज व वर्णन को भी आज का विज्ञान सपुष्ट करता है। एक कोशिका देह रूप निगोद मे भी जीव की चैतन्यता, ज्ञान और जीवनी शक्ति अद्भूत ही हे। यह अवश्य है—वहा स्वाधीन कर्म शक्ति नही, मात्र भोग-देह की ही प्राप्ति रहती है—तथा आयुर्बल अत्यन्त हीन होता है पर फिर भी उनका देह अन्य-अन्य जीवोत्पत्ति के लिए एक निरतर शृखला चक्र निमित्त को लेकर होता है—जिससे उस निगोद काय मे भी जीवन के लिए अन्तर सघर्ष की तथा निरन्तर जीने की लालसा की अभिव्यक्ति है—जो बाद मे उच्चतर सुसगठित देहो की प्राप्ति होने पर भी वैसे ही लालसा जिजीविषा के रूप मे व्यक्त रहती हे। बद्ध जीव वह चाहे कैसी भी देह मे हो-देहाध्यास लेकर वैसा ही सदा जीता रहना चाहता है—क्योकि शुद्ध जीव तत्व के स्वरूप से-स्वाधीन जीवत्व से वह अपरिचित ही सदा रहा हे।

जीव सरचना और विज्ञान के आलोक

जीव प्राणी कितना भी छोटा, अल्प व सूक्ष्म आकार वाला हो इसमे जो चिद्अणु है वह कभी सपूर्ण आवृत्त या क्षीण नही होता—उसके ज्ञान का क्षयोपशम कुछ न कुछ विद्यमान रहता है। देह-निर्माण मे कोशिका गर्भस्थ चिद् अणु की आश्चर्यकारी अर्थमयी भूमिका इसी कारण हे। जीव के देह की पुनर्उत्पत्ति (जो पुनर्जन्म पर होती है) की प्रक्रिया का जन्म कोशकीय विखण्डन से होता है। कोशिका

(सेल) के एक इच मे एक हजार से अधिक कोशिकाए होती है और एक इच वर्ग मे ११ लाख ६० हजार चार सौ होती है। एक एक कोशिका पूरा एक विशाल कारखाना होता है। इन कोशिकाओ के ही सुनियोजित व्यवस्था से ही सारे अगो का निर्माण होता है। वह सुनियोजित व्यवस्था जीवाणु मे भी ज्ञान व चैतन्य गुण की विद्यमानता सूचित करती है। एक इच लाइन मे करीब ५०० कारखाने काम करते है, इस कारखाने का एक शासन-केन्द्र केन्द्रक है जहा से कारखाने मे होने वाली प्रत्येक गतिविधि का नियत्रण व नियमन होता हे। यही से आदेश कोशिका के प्रत्येक हिस्से को दिये जाते है। यह कहा जाता है कि प्रत्येक कोशिका विखडित होकर एक से दो, दो से चार इस क्रम मे स्वय अपनी उत्पत्ति करती हे और अग विशेष की प्रत्येक कोशिका अपनी ही सही प्रतिलिपि होती है—आकार प्रकार पदार्थ सब एकसा होता है—ऐसा समस्त जीव जगत् मे—वनस्पति आदि मे भी वही प्रक्रिया है। जैविक सरचना की यह प्रकिया बडी सूक्ष्म और अद्भूत है। इसे जैनो ने निगोद, नित्य-निगोद, सूक्ष्म वेक्ट्रिया (जीवाणुओ) के रूप मे बहुत प्राचीन काल मे ही जान लिया था।

मानव का जन्म एक अकेली कोशिका शुक्राणु से प्रारम्भ होता है और फिर अनात्म प्रकृति की स्वय निजी उत्पादन शक्ति उस शिशु के सब अगो का विकास आकार व वृद्धि आदि—वृद्धावस्था तक की सभी प्रक्रियाओ को कोशिकाओ के निमित्त से करती है। प्रकृति किन कठोर निर्माण मापको के हिसाब से इन सब अग विकास व वृद्धि के कार्य को सपादित करती है, उन्हे जैन ऋषियो ने नाम. आयु और गोत्र आदि कर्म सिद्धात मे विवेचित किया है। कोशिका न केवल जीवात्मा का देह धारण करने का साधन है—वह जीवन की चेतना का वाहक भी है।

वर्तमान मे जीव विज्ञान ने प्रकट किया है कि जीव चेतना की अनादिकाल की अपनी विकास यात्रा मे अपनी कोशिका मे अपने ज्ञान अभिलेखागार मे अग विशेष के निर्माण के सारे मानको के नक्शे उनके सकेत, चिह्न और भविष्य की आवश्यकताओ का ब्योरा (लेखा-जोखा) बडी सूक्ष्मता व साफ-2 सूक्ष्म सस्कारो के रूप मे रहता है। कोशिका के अभिलेखागार मे तमाम सूचनाओ, नक्शो व साँचो की सच्ची प्रतिलिपि विखण्डन से जन्मने वाली कोशिकाओ को प्राप्त हो जाती है। आनुवाशिक व वशानुगत सूचनाए इनमे ही होती है। न केवल अमूर्त गुण या दुर्गुण वल्कि नाक-नक्शा, रग बाल-सूरत और सीरत आदि के लक्षणो के आदेश भी कोशिकाओ को दिये जाते है। इससे प्रकट होता है कि इनका यह सब लेखा-जोखा वाले सूचनाओ का भडार कर्म सिद्धांत के नियमो से नियमित है। इन सब लक्षणो, सूचनाओ तथा सस्कारो के अनुसार प्रकृति से तत्त्व ग्रहण करके कोशिकाये स्वय अपने आकार प्रकार को बनाती या विगाडती (सृष्ट या सहार) करती रहती है। यह पाया गया है कि शारीरिक प्रक्रियाओ के वद हो जाने पर भी मस्तिष्क की कोशिकाए दस सैकेण्ड से पाच छ मिनट तक क्रियाशील रहती है। मृत्यु मस्तिष्क के नष्ट होने, निष्क्रिय होने-वहा की कोशिकाओ की क्रियाएं विगड जाने पर हो जाती है। कोशिकाओ को हृदय से आहार मिलता है—मगर हृदय के वद होने पर भी कोशिकाए कुछ काल तक नष्ट नही होती–और ऐसा होने से ही वद हुई हृदयक्रिया कभी-कभी फिर सक्रिय की जा सकती है।

अक्टूबर 77 मे यार्क शायर (इग्लैड) मे कैरोल विरिकिन्सन नामक १६ साल की लडकी को

अस्पताल मे लाया गया तब उसका सिर बुरी तरह से कुचला हुआ था परन्तु दिल काम कर रहा था—डाक्टरो ने उसे साँस लेने की मशीन के नीचे रखा मगर होश नही था उसको। तब डाक्टरो ने मशीन हटा ली और उसकी मृत्यु हो गई। डाक्टरो का कहना था कि मशीन लगाए रखने से कोई लाभ नही–क्योंकि उसकी मृत्यु तब ही हो गई जब उसका मस्तिष्क नष्ट हो गया था। मामला न्यायालय मे गया और रायल मैडीकल कालेजो की कान्फ्रेन्स ने इस बात की पुष्टि की कि मृत्यु तब ही होती है जब मस्तिष्क नष्ट हो जाता है और सिर्फ दिल के काम बद कर देने से मृत्यु नही होती।

योगी जब प्राणो को मस्तिष्क मे ले जाकर वहा स्थित कर लेते है तब हृदय-धडकने या तो मद हो जाती है या बद हो जाती है। ऐसे ही श्वास गति भी मद या बद हो जाती है। हृदय धडकन व श्वास गति बद होने पर जीवन के बाह्य चिन्ह नही देखे जाते, फिर भी वह समाधिस्थ योगी जीवित रहता है और समाधि से उत्थित होने पर हृदय गति व श्वास गति पुन पूर्ववत् चालू हो जाती है। समाधिस्थ योगी के प्राण सुषुम्ना मध्य होकर ही अथवा सामने से हृदय होकर सीधे कण्ठ मे होकर मस्तिष्क मे एकत्रित होते है। प्राणो का ऐसा वहा पहुचना ही समाधि का बाह्य रूप है। बाह्य स्थूल सृष्टि से तब वह योगी बेभान रहता है मगर देह को विशेष कष्ट होने पर—उस कष्ट को अपने अन्तः करण मे प्रतीत कर सकता है। हा सपूर्ण देह से प्राणों के पूरी तरह उत्क्रमण पर जीव विदेह हो जाता है और जीव वापिस देह मे न आए तो देह मृत ही हो जाता है। विदेह अवस्था मे भी जीव का अपने सकल्प भावना से देह के साथ सम्बन्ध सभव रहता है और इस भाव-सूत्र के रहने पर—इस पर आघात पडने पर देह का सम्बन्ध विदेह हुए प्राणो से टूट जाता है—तब देह मृत हो जाती है। कई मर्तबा ऐसा भी सभव है कि जीव समाधिस्थ होकर अनत आकाश मे चला जाये और काफी लम्बे समय तक न लौट पाये तो उसे मृत समझकर उसकी देह को जला दिया जाए। पर एक फर्क है योगी देह के साथ जब भाव सम्बन्ध भी न हो तो देह वस्तुत मर जाती है और सडने लगती है मगर यदि भाव सम्बन्ध रहता है—तो देह निष्क्रिय ही होती है—मरती नही—सडती नही। सुषुम्नान्तर्गत सचित (Condensed neutronic) द्रव्य प्राण-आहार लम्बे समय तक वर्तमान रहता है और उसी के कारण समाधिस्थ योगी की मस्तिष्क कोशिकाए सजीवित रहती है। समाधि काल मे मस्तिष्क कोशिकाए मरती नही सुप्त ही हो जाती है। सुषुम्ना मेरूदण्डान्तर्गत एक नाली मात्र ही नही—वह एक सूक्ष्म देह भी है और इसमे प्राण प्रकाश रूप मे परिणत रहता है और प्रकाश की चादर मे लिपटा जीवात्मा सूर्य-प्रकाश सा ही चमकता दिखता है और जीव द्रव्य-प्राण तत्त्व प्रकाश तैजस तत्त्व के आहार को वनस्पति आहार से, जल से, वायु से, सूर्य प्रकाश से पाता ही रहता है–मगर जब प्रकाश रूप तैजस देह तथा सूक्ष्म कारण (कार्माण) देह भी नही रहती है तब वह सृष्टि के किसी भी तत्त्व के निराश्रय स्वय आप अपने ज्ञान-आश्रय ज्ञान रूप ही सर्वगत ज्ञान रूप मे विद्यमान रहता है और भार मुक्त होने से विश्वोत्तीर्ण होकर विश्व शिखर सिद्धालय पर चला जाता है।

वस्तुत जीव अभौतिक चिन्मय है और देह चाहे कोई भी हो भौतिक जड तत्व है और देह व देह के कारणो से मुक्त जीव अन्तिम पुरुष देह के आकार मात्र होकर सिद्धालय के प्रति उर्ध्वगामी हो जाता है। अरस्तु ग्रीक तत्त्व-वेत्ता जो

सिकन्दर के साथ भारत मे आकर यहां के तत्व वेत्ताओ के सम्पर्क मे आया था का कहना है कि शरीर भौतिक पदार्थ है, आत्मा शरीर के आकार रूप मे है। देह और आत्मा मे वैसा ही सम्बन्ध है जैसा मोम व मोमबत्ती मे—मोम एक भौतिक पदार्थ है और मोमबत्ती उसका आकार क्षेत्र है। ऐसा ही जैनो का कथन है। ज्ञानार्णव मे कहा है—"ऐसी मूसिका जिससे मोम निकल गया हो—उसके उदर मे जैसा आकाश का आकार है—वैसा आकार निर्मल आत्मा का है। [ज्ञानार्णव ४०–२५]

जर्मनी के प्राणी शास्त्री आगुस्त बीजमान ने पृथ्वी पर जीव की अभिव्यक्ति या आविर्भाव एक कोशीय अमीबा से मानी है—जैनो ने एकेन्द्रिय कोश व प्राण तत्त्व से। और प्राण दस तक हो सकते है। यह अमीबा धरती का सरलतम एक कोशीय जीव है। इस अमीबा की वृद्धि कोशिका-विभाजन से होती है और विभाजन होकर भी निरन्तर इनकी वृद्धि होती रहती है और विभाजन से किसी की मृत्यु नही होती। बीजमान के अनुसार विकास के क्रम मे जब जीव मे रीढ की हड्डी एव मस्तिष्क बने तब उनकी नश्वरता के कारण मृत्यु का आविर्भाव हुआ। वे तब मरकर फिर नये देह को प्राप्त होने लगे। मृत्यु इस दृष्टि मे पुनर्जन्म का माध्यम हो गई। जीव का एक देह यत्र छूटता है, इसलिए उसे दूसरे देह यत्र की प्राप्ति होती है।

मस्तिष्क तथा रीढ की हड्डी का विकास जीव को मात्र मृत्यु का ही निमित्त रहा हो ऐसा नही। मनीषी पूर्ण पुरुष ने इसका उपयोग बार-बार जन्म लेने व मरने के दुश्चक्र को तोड देने के लिए भी जाना। रीढ की हड्डी के मध्य ही सुषुम्ना नाडी है और मस्तिष्क से ही जीव के प्राणो का सचालन है। इन दोनो के रहस्यो को जानकर अजीव तत्त्व को भेद कर पूर्ण पुरुष अर्हत् परमेश्वरो ने ससार के भव व मृत्यु के पार चले जाने की विद्या को पाया। उन्होने पाया कि तब जीव उस जीवन मे चला जाता है जिसमे बार-बार जन्म नही होना, न मृत्यु होती, न देह पिजरे की कैद, प्रत्युत पूर्ण ज्ञानानन्द रूप ही जीव रह जाता है। मस्तिष्क का व रीढ की हड्डी के मध्य तरल पदार्थ से मानव जीव के प्राणो का घनिष्ठ सम्बन्ध है। मस्तिष्क को यही तरल अमृत पदार्थ उत्कृष्टतम आहार के रूप मे सुषुम्ना नाडी होकर प्राप्त होता है और उसी से मस्तिष्क के उच्चतम व उत्कृष्टतम केन्द्र जीवित एव जागृत रहते है जिनसे मानव को देह पिंजरे के द्वार खोल लेने और निकल जाने के भेद या रहस्य भी खुल जाते हैं। तथा यह सुषुम्ना तभी खुलती है जब योगी राग-रहित ज्ञान मात्र भावातीत अपनी आत्मा के ध्यान का अभ्यास करता है। उस अवस्था मे अभ्यास परिणत निर्मलतम प्राण अथवा उच्चतम मस्तिष्कीय प्राण ही परमेश्वर होते है। योगी के तब प्राण ब्रह्माण्ड मे स्थिर होते है। ब्रह्माण्डीय आकाश-तत्व मे सयम होने पर पच-भौतिक द्रव्यो की सघनता से मुक्त होकर तथा ससार व देह के राग से मुक्त होने से ज्ञान मात्र होने की अपनी प्रतीति को पा लिया जाता है तब कर्म-भारहीनता मे जीवात्मा का उर्ध्वगमन-शीलता का स्वकीय गुण उन्मुक्त हो जाता है।

कोशिकाओ की कुण्डली-नुमा लडो मे समस्त चैतन्य जीव की अपनी सरचना सम्बन्धी सूचनाएँ सजोई हुई रहती है और कोशिका मे साइटोप्लाज्मा द्रव मे उत्पादन के लिए उत्तरदायी कार्मिको के

समुदाय विद्यमान् रहते है। अमरीकी विज्ञान लेखक जार्ज गैमो ने आनुवाशिकी सूचना व्यवस्था मे चार निर्माण समूह खण्डो की तुलना ताश के चार पत्ते—हुक्म, चिडी, ईट तथा पान के पत्तो से की है—चार पत्तो की चौकडी चार प्रकार के निर्माण खण्डो का प्रतीक होती है। प्रत्येक आनुवाशिकी मोल्यूकूलर को ताश के हजारो पत्तो का एक क्रम (सीक्वेन्स) कहा जा सकता है। इन क्रमो मे वह सूचना होती है जिससे गुलाव की कोशिका केवल गुलाव और आदमी की कोशिका केवल आदमी का निर्माण करती है। इन मोल्यूकूलर ताश की गड्डियो की विशेषता यह देखी गई कि इसमे चिडी के पत्तो की सख्या पान के पत्तो के बरावर है तो ईट के पत्तो की सख्या पान के पत्तो की सख्या के समान है—और फिर ये पत्ते जोडा (युगलिया) बनाते है। युगलियो की यह रचना भोग-भूमि के युगलियों की याद दिलाती है। इस रचना-स्तर पर ये जीव स्वाधीन नही है, वे तो एक यन्त्र के समान ही युगलियो की रचना करते है। इनकी देह ही इनकी भोग-भूमि है न कि स्वाधीन कर्म करने की कर्म-भूमि। ये युगलियो (जोडो) को बनाते हैं तो सिर्फ अपने ही वर्ण के युगलियो के साथ। यथा चिडी केवल हुक्म के साथ और ईंट केवल पान के साथ जोडा बनाता है। जब इनका विखण्डन होता है तो ये जोडे टूटते है और अपनी प्रतिकृति बनाकर प्रकृति मे लीन होते हैं पर फिर भी उस प्रतिकृति मे जीवन को शाश्वत बनाते जाते है। ये जोडे जोडो के रूप मे ही तमाम सूचनाओ के साथ विखण्डित होते है और अपनी प्रतिकृति तैयार कर देते है। युगलियो की रचना मे जैनो के भोग-भूमि के युगलियो के वर्णन की साम्यता तुलनीय ही है।

कोशिका एक प्रकार की रासायनिक फैक्ट्री है जिसमे चोवीस प्रकार के प्रोटीन का उत्पादन होता है और पाया गया है कि अलग-अलग प्रकार की कोशिकाएँ अलग-अलग प्रकार के प्रोटीनो का उत्पादन करती है। इन्ही मे निर्माण योजना के कार्यक्रम की भाषायी वर्णमाला सन्निहित है और इससे ही जीव की चैतन्य ज्ञान गुण की अभिन्नता ही लक्षित होती है। यह क्या कम ज्ञान की वात है कि जीव की सचित सूचनाएँ अनगिनत होती है। पाया गया है कि प्रत्येक जीव का स्वय अपना स्वैर नियम है—अत गुण अनन्त है और ये अक्रम रूप से व्याप्त रहते हैं। अत उसके समस्त नियमो की जानकारी असम्भव है। कव किस नियम से कौनसा जीवाणु अपने किस गुण मे किस प्रकार सक्रिय या प्रतिक्रिय होता है—उसके भौतिक जगत पर क्या घात-प्रतिघात तथा रिफ्लेक्स हो सकते है—यह ठीक निर्धारित नही किया जा सकता। जीव के अनन्त गुण और उन गुणो की अनन्त ही पर्याये तथा उनके निमित्त तथा पर्यायो की निजी शक्तिया तथा परिणाम भी अनन्त है और उनका विश्लेषण मोटे तौर पर ही साकेतिक रूप मे सम्भव है। यही कारण है कि जीव की अभिव्यक्ति अनन्त-अनन्त प्रकारो की हो सकती है। अत पूरे रहस्य कभी नही पाये जा सकते। पर यह जरूर पाया गया है कि जीवाणु कोशिका की जो रासायनिक भाषा है—वही मानव-कोशिका की है, जिससे प्रकट होता है कि मानव देह की कोशिकाएँ जीवाणु कोशिकाओ का ही रूप है। विज्ञान आज तो सश्लेपित जीव विकास की दिशा मे कार्यरत है और इसी दिशा मे श्री हरगोविन्द खुराना ने भी नाम पाया है। आज यह सम्भव पाया जा रहा है कि किसी कोशिका मे बाहर से एक डी० एन० ए० खण्ड को प्रविष्ट कराकर—वहा वर्तमान जीव से किसी नये प्रोटीन (जो बीस एमीनो एसिड की क्रमिक लड़ी से बनता है) को बनाकर कोशिका मे नया गुण पैदा

किया जा सकता है। वस्तुत ये सब खोज स्वय जीव-तत्त्व मे नो नही, पर जीव की पर्याय जो अजीव तत्त्व के सम्बन्ध निमित्त से है मे ही विशेष है। व्यक्त जीव के आकार व मानसिक सरचना पर भी प्रभाव सम्भव हो सकते है मगर स्वय जीव का जो ज्ञान मय आत्म तत्व है उसका इनमे सूत्र नही पाया जा सकता। क्योकि विभिन्न अनात्म तत्त्व से ज्ञान तत्त्व का रहस्य हस्तगत नही हो सकता। रासायनिक प्रक्रिया के जीवात्मा के अनात्म देह के कोष बनते हे और विगडते है मगर स्वय आत्मा तत्त्व का निर्माण सम्भव नही हो सकता, क्योकि अनात्म पदार्थ भिन्न जातीय चेतन को उत्पन्न नही कर सकता—हा उन-उन प्रयोगो मे द्रव्य निमित्तो के अनुसार अपनी योग्यतानुसार जीव वहा बाहर मे आकर बध सकते है, पर उनकी अन्तःक्रिया या समानान्तरण क्रिया का रहस्य अलक्ष ही है।

जीव विकास की मंजिले और सप्त तत्वकोष

जीव अपनी अशुद्ध अज्ञान अवस्था मे पुद्गल और अपने चेतन द्रव्य की अन्त क्रिया अवस्था मे सश्लेपित रहकर नाना प्रकार के दैहिक और मानसिक व्यवहार स्तरो पर अपना जीवन जीते रहते है। पर फिर भी जीव की परम निर्मल स्थिति जो पुद्गल व अनात्म द्रव्य व भावो से निरावरण और शुद्ध हो—सम्भव होनी समझ मे आती हे। इस स्थिति मे यह अनन्त अभेद्य तेजोपुज प्रकाश व ज्ञान पुज रूप है। इसे ही सर्वज्ञ अर्हत् पुरुषो और तीर्थंकरो ने अपनी निष्कलक निर्मल ज्ञान अवस्था मे जाना। यह आत्मा की उच्चतम उत्कृष्ट निर्मल अवस्था है। ऐसे ही जीव की एक निकृष्टतम अवस्था भी समझ मे आती है कि जिसमे जीव का आलोक ऐसा अल्पतम हो कि जडवत् प्रतीत होने लगे —जो यद्यपि जड तो नही हो जाता। इस अल्पतम जीव अवस्था को ही एक कोषीय निगोद-काय अवस्था कहा जाता हे। जीव इसमे व्यक्त तो है पर अपनी सम्पूर्ण सम्भावनाओ से करीब-करीब च्युत और भ्रष्ट है। यही जीव अपनी जीवत उत्क्रान्ति के लिए अनन्त काल से प्रतीक्षारत रहता है। यह जीव इस निगोद स्थली मे एक श्वास काल मे अठारह-अठारह वार जन्म व मरण लेता रहकर दु ख भोगता रहता हे। यह जीव इतनी छोटी देह मे रहता है कि एक अणु जितने स्थान मे तो असख्यात जीव व्याप्त व अवगाहित रहते हे। जिन सूक्ष्म अन्त क्रियाओ व व्यवहारो को लेकर जीव अणु-अचेतन द्रव्य को लेकर बनता व अभिव्यक्त होता है उसका प्रायोगिक लेखन कभी न सम्भव हुआ, न हो ही सकता है। सश्लेपित जीव विकास मे सलग्न विज्ञान वेत्ता भी यह नही कर सकते है।

निगोद से कभी जीव काल लब्धि पाकर काकतालीय न्याय के प्रमाण एक कोशीय देह से छूट कर बहु कोशीय एकेन्द्रिय जीवावस्था मे आता हे। यही से उसकी जीवन विकास की यात्रा (दौड) आरम्भ होती हे। एकेन्द्रिय से पचेन्द्रियो के विकास मे असख्य काल व्यातीत हो जाता है और पचेन्द्रियो का विकास ही जीवन की पाच लम्बी दौडे हे। अब जीव पहले असज्ञी और फिर सज्ञी मन वाला जीव के रूप मे व्यक्त होता है। प्रकृति ने अब जीव को ऐसा देह यत्र प्रदान कर दिया कि जो अनात्म विकास मे अनुत्तर व उत्कृष्टतम है। स्व-सचालित मन वचन और काय का यह (सेलफ रिपेयरिग तथा ओटोमेटिक) स्व-चलित यत्र है—जिससे उत्तर अब कोई देह नही हो सकती। अब तो इस देह यत्र से ही

उत्तीर्ण होने का प्रश्न रहता है। इसी यन्त्र मे रहस्य है कि वह इसमे से अपनी मुक्ति और चिद् विकास की यात्रा—अन्तिम चरण यात्रा को पूरा कर ले। मानव ऐसे देह यन्त्र को पाकर यदि अपना बन्धन मुक्त नही करता तो प्रकृति के पास पुनर्जन्म और पुनर्मरण के अतिरिक्त कोई विकल्प नही रह जाता और यह भी आवश्यक नही कि ऐसी उत्कृष्ट जीवन देह बार-बार मिले हों। अब तक जीव भिन्न-भिन्न जीवन स्तरो पर नाना योनियो मे ही भ्रमण करता रहा था—पर उसने खोज ही नही की और न कर ही सकता था कि वह देह से विशिष्ट मात्र ज्ञान पिंड चैतन्य द्रव्य है। जीव का देह तो मात्र वस्त्र रूप ही होता है—जो जीर्ण होता है, मृत होता है और फिर निर्मित हो जाता है। ये देह वस्त्र ही मानो उस जीव को यह कह रहे होते है कि मै तो पुन पुन आता हू पर तू तो सदा से वही है। ऐसे ये देह वस्त्र जीव के ज्ञान किरणो मय मूल स्वरूप को आवृत्त करके उसे निरन्तर देह से अतीत सब के जानने के लिये प्रेरित करते है कि तू मुझ मे क्यो एकत्व करता है, अपने मे ही देख—वही तेरी आत्मा है—और यह जो तू देख रहा है यह तो तुझ से भिन्न ही है।

मानव व उसकी देह रचना मे मोटे तौर पर तत्त्व (कोष) की जो तत्त्व विभाग के अनुसार हैं और पार्थिव जीवन मे गहरे गुथे है—तथा जिनमे साइकिक व परा-साइकिक स्तर भी है, सात स्थितियाँ कही जाती है। ये कोष सेल्स (Cells) नही है। ये Planes (स्तर) है। सेल्स (Cells) की बनावट तो स्थूल देह मे पूर्ण हो चुकी है। ये Planes बद्ध जीव चेतना के उत्तरोत्तर आधार स्तर हैं और स्वय आत्म-चेतना तो चरम उर्ज्जस्वल ज्ञान पिंड मात्र है—तथा ये विभिन्न स्तर planes ही उसके ससार मे सचरण की भूमिका को देते है।

स्वभाव धारा–निर्जरा धारा तथा आस्रव-बंध धारा–विभावधारा

१–स्थूल देह
२–द्रव्य प्राण
३–काम (इच्छा, मन, वासना)
४–अधम मनस् (राग-द्वेष, मोह)
५–उत्तम मनस् (निर्मल प्रेम, अनुरक्ति)
६–बुद्धि (भाव प्राण, विवेक, निर्णय-स्थिरता)
७–जीवात्मा (ज्ञानादि गुण पिंड)

१–बुद्धि सहित जीव का स्थूल देह के इन्द्रिय-स्तर की तरफ बहिर्मुखी होना विभाव धारा है।

२–स्थूल देह को तथा द्रव्य प्राण व काम (सूक्ष्म देह) को सवरित करके और अधम और उत्तम मनस् (राग, द्वेष, प्रिय-अप्रिय व भाव कर्म) से उपरत हो कर बुद्धि (विचार, चितन, मनन रूप अन्तर्जल्प) से सवरित होकर यानी काया, प्राण, मन और वाणी के सवर के बाद ही आत्मा के निकट अर्थात् स्व भाव धारा मे हुआ जाता है।

आत्मा को ही अग्रेजी मे स्प्रिट कहते है, और उसका स्वय का विश्व स्प्रिच्युअल विश्व है। इस विश्व मे आत्मा का निकटतम सम्बन्ध बुद्धि के साथ है। इसके अनन्तर नीचे उतर कर उत्तम मनस्

और फिर आगे यह जीवात्मा नीचे-नीचे स्तरो पर अनात्मा मे एकत्व करता मात्र अपने को देह समझता बहिर्मुखी व भौतिकवादी ही रह जाता है। मनस् क्षेत्र को मैन्टल क्षेत्र या लोक कहते है—तो काम या वासना प्रधान देह को एस्ट्रल लोक तथा ठोस स्थूल प्राण व देह स्थिति को फिजिकल अवस्था कहते है। प्राण को ईथीरियल वस्तु कहते है क्योकि यह ईथर के समान ही सूक्ष्म वायु रूप होता है। इस प्रकार की सृष्टि मे सात लोक को चार प्रकार के तत्त्व लोक मे विभाजित करके देखा जा सकता है—ये चार विभाग हुए– (१)स्प्रीच्वल (रूहानी या आध्यात्मिक) जिसमे स्वय जीव व बुद्धि है (२) मनस् (मानसिक) (३) एस्ट्रल-काम व वासना लोक, और (४) फीजिकल (भौतिक-प्राण देह और स्थूल देह)। विचार और भाव (Thought & Feelings) साइकोलाजी के विषयहै, फीजियोलाजी के नही है। वे मैटर कनसैप्ट नही है। अत मनस् और बुद्धि और कामनादि अनातम जड तत्त्व मात्र नही है, उससे भिन्न ही तत्त्व है। ये द्रव्य व भाव दो तत्त्व रूप है।

इस तत्त्व विभाग योजना से भी यह बात भी प्रकट होती है कि मानव जीवात्मा प्रकृति से रचित उत्तम देह को प्राप्त होकर भी स्वय अचेतन प्राकृत तत्त्वो से विलक्षण ही है तथा प्राकृत तत्त्वो मे राग, द्वेष के प्रभाव से जैसे-जैसे वह अपने को मुक्त करता है, वैसे-वैसे ही वह अपने शुद्ध स्वरूप के निकट होता जाता है। यहाँ प्रभाव शब्द को ही जानबूझ कर प्रयुक्त किया गया है क्योकि प्राकृत तत्त्व प्रत्यय का कम व ज्यादा होना इतना अर्थ नही रखता जितना जीव का स्वय उनसे राग, द्वेष रूप परिणमन कर प्रभावित होकर —अपने भाव से आप स्वय जडित होने रूप प्रभाव से सम्बन्ध रखता है। भाव बन्धन ही वस्तुत उसका बन्धन है—और इस भाव बन्धन के ही कारण तदनुरूप प्राकृत तत्त्वो का उसके साथ आना व बन्धना भी होता है। इन तत्त्वो के विचार मे ही सर्वज्ञ आम्नाय मे जीव व अजीव दो तत्त्वो के बाद अजीव का जीव के प्रति आस्रव, बन्ध, सवर, निर्जरा और मोक्ष तत्त्वो का विचार प्रस्तुत हुआ है जो वैज्ञानिक दृष्टि से तथा आध्यात्मिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। बधने की प्रक्रिया मे जो सिद्धान्त तथा प्रक्रिया है उसी से विलोम रुकने, छूटने और मुक्त हो जाने के सिद्धान्त तथा प्रक्रिया है। अतः सर्वज्ञ योग विज्ञान इस ही आधार पर जीव की मुक्ति की चर्चा करता है। इसी कारण वह प्रकृष्टतम तथा सरलतम विज्ञान भी है। जीव का स्वय का भाव ही जब राग, द्वेष से जडवत् होता है यानी पार्थिव लोक सम्बन्धी होता है तब वह आप स्वय को उस पार्थिव लोक के ही घेरे मे आ जाने के लिये विवश करता है। अत जीव के स्वय के भाव व ज्ञान ही वे तत्त्व है जो उसके बधन व मुक्ति के हेतु होते है। काया के सवर रूप तप, मन का सवर (निग्रह व निरीक्षण) रूप स्वाध्याय तथा प्रकाश मय ओंकार के मध्य पच परमेष्ठी रूप ईश्वर-स्मृति,—यही क्रिया योग है। इसके अनन्तर आत्म ध्यान यानी अध्यात्म योग का उदय होता है। क्रिया योग मे ही सयम का स्वरूप है।

निम्नतम कोटि का जीव एक कोषीय रूप मे प्रथम विकसित होता है। बहुत काल के अनन्तर वह दो कोषीय, फिर तीन कोषीय आदि रूप से अनेक कोषीय होता है, और इन्द्रियो का विकास होता है। पच इन्द्रियो का विकास और फिर मन रूप सूक्ष्म अति-इन्द्रिय तथा मस्तिष्क के विकास पर

प्रज्ञा प्राप्ति के पूर्ण होने पर सम्पूर्ण देह यन्त्र मे मानव रूप से जीव विकास पाता है। विकास की यह चढाई सीधी सपाट नही होती—अनेक बार मानव देह प्राप्त होकर भी कई बार नीचे मानवेतर देहो की गतियो मे भी भ्रमण होता रहता है। पर प्रज्ञा और मन के विकास पर ही इनके आश्रय जीवात्मा को अपने पूर्ण शुद्ध अलौकिक स्वरूप के प्रकाश करने का अवसर मिलता है—क्योकि अन्य योनि गतियो मे उसका चैतन्य तत्त्व प्राय जड रूप ही रहता है और उसे वापिस पूर्ण चैतन्य कर लेने का अवसर ही नही मिलता। पर मानव सम्पूर्ण विकास प्राप्त देह को प्राप्त करके भी ससार मे अनादि अज्ञान भव भ्रमण सस्कार से देहाध्यासी तथा वाह्यात्मा रहता है, मोह के वश मिथ्यात्वी रहता है। पर यह अवश्य है कि जीव के देह की विकास की पाँच मजिले—पचेन्द्रिय विकास के साथ पूरी हो जाती है। वस्तुत ये विकास जीवत्व का विकास नही—अनात्म देह यन्त्र का ही विकास है। उत्तम सम्पूर्ण देह यन्त्र रचना पुद्गल परमाणुओ (प्रकृति) की देन है—और निकृष्ट एक कोषीय देह यन्त्र भी प्रकृति की ही देन है। वस्तुत प्रकृति को रचनाकार कहना भी उपचार मे ही है—जीव अपने ही चैतन्य गुणो को अनात्म कर्मो से आवृत्त करता है और आप ही उनसे अपने को निरावृत्त भी करता है। अपने भाव एव परिणामो के अनुसार वह प्रकृति के कर्म-परमाणु को आकर्षण तथा विकर्षण करता प्रकृति के साथ रमता रहता है। अज्ञान के कारण ही अपनी उस निम्न स्वरूप—स्थिति मे जाता है, जहाँ वह कम चैतन्य रहता है। ज्ञान मे चैतन्य का रूप विकसित होकर देखना, जानना और जीना होता है और वह जडता के विविध सोपानो को पार करके अपनी चरम ज्ञान चैतन्य अवस्था मे आ पाता है।

मानव-विकास की दो और मजिलें

मानव रूप मे जीवात्मा के आने पर भी विकास का क्रम समाप्त नही होता, हाँ प्रकृति के देह रचना के कौशल की सम्पूर्णता हो जाती है। अब मानव को विकास की दो दौडे और पूरी करनी होनी है और वस्तुत ये ही उसके कम चेतन्य स्वरूप के पूर्ण चेतन स्वरूप को उघाडने वाली होती है। उसे अब वाह्यात्मा से अन्तरात्मा (अन्तर्मुख आत्मा) और अन्तर्मुखी से उर्ध्वमुखी (परम-आत्मा) बनने की यात्रा पूरी करनी होनी है। तब कही वह अनात्मा के साथ सकल्प रूप अन्त क्रिया तत्त्व आस्रव व बन्ध रूप समानान्तर क्रिया करने से उपरत होकर उससे मुक्त स्वाधीन शुद्ध स्व-क्रिया यानी परिणमन करने वाला होता है और इस तरह अपने स्वरूप के निर्मल प्रकाश की सात मजिलो दौडे (यात्राए) उसे पूरी होती है। जीव मे चिर कालीन भव यात्रा मे क्रमश विकास प्रक्रिया द्वारा उसकी प्रज्ञा मे उन सब पदार्थो की जो उससे बाहर है, अपने मे अकित करने की Symbolic Imagination की रचनात्मक अलौकिक शक्ति उन्नत हो पाती है। इस शक्ति के उन्नत होने पर भेद विज्ञान होने मे प्रकृति के वे सब आवरण जिनमे वह बन्धा हुआ सघर्षशील रहा है, टूटने लगते है, और उसे उन सब आत्माओ का भी परिचय व स्वरूप भान होता है जिनके मध्य रह कर वह उन्नति करता आ रहा है और वह अनात्म प्रकृति तथा अपने स्वरूप को भी जानने लगता है—ऐसा करते-करते प्रज्ञा विकास मे भेद-विज्ञान करके ब्रह्म विद्या या आत्म विद्या के रहस्य को भी खोजने लगता है। उसे फिर स्वभाव की तादात्म्यता से

पूर्ण ज्ञान होने लगता है जो समाधि विज्ञान मे ही उसे फिर सम्भव होता है। बुद्धि तत्त्व से भी कही लोकोत्तर स्वय जीवात्मा का वह ज्ञान है। वह इसलिए लोकोत्तर हे कि आत्मा स्वय ही पूर्ण ज्ञान पिंड है और उसका आप अपना अबाध निरालम्ब ज्ञान होता है। निरालम्ब ज्ञान न होने तक प्राकृत तत्त्व मय, द्रव्य मन और द्रव्य बुद्धि के भी आश्रय तथा निमित्त रहते ही है। पर इस ज्ञान पिड आत्मा की केवल ज्ञान किरणे तो प्रथम ध्यान तथा समाधि मे ही अवलोकित होती है—मात्र उन समाधि तथा ध्यान भूमियो मे जब जीवात्मा अनात्म-तत्त्वो को नीचे छोड क र स्वय आप अपने तत्त्व मे निमग्न हो जाता है। ये सब निरे आनन्द, परम आनन्द रूप ही होती है, स्व मुक्ति या स्वतन्त्रता स्वावलम्बी स्वाश्रय जीवन तत्त्व रूप से होती है। अपने अन्तर मे सुषुप्त व मोहित उस चैतन्य तत्त्व को ही जागृत, पूर्ण चैतन्य करना होता हे।

प्राकृत (विभाव) धारा और अप्राकृत (प्रति स्रोतगामी) स्वभाव धारा

सामान्यत: ससारी मानव के सब व्यवहार तथा व्यापारो के सचालन बुद्धि, विचार, तथा मन के भाव द्वारा होते है। इन्द्रिया तो मन के आधीन, मन बुद्धि के आधीन और बुद्धि-क्रिया चैतन्य पुरुष आत्मा के आधीन है। वैचारिक तथा भाव धाराए जब जगत् व जागतिक विषयो, व्यक्तियो के राग से मलीन होती है तो ये सब विभाव धारा रूप होता है—ये केन्द्र से परिधि की तरफ केन्द्र से जितनी दूर व जितने बडे दायरे विस्तार रूप होती है जीव आप अपने से उतना ही दूर होता, आप अपने से टूटता चला जाता है। मन और बुद्धि की धाराए जब परिधि से स्व केन्द्र की ओर बहती है तो वह स्वभाव धारा कही जाती है। स्व, नित्य स्वभाव के साथ समीकरण, करने से ही स्वाश्रित निरालम्ब स्वभाव धारा मिलती है, स्वतन्त्र गति मे ही आत्मवस्तु का शुद्ध तथा आनन्द रूप स्वरूप अनुभव मे आता है।

उपनिषद् का ब्रह्म-जीव "एकोऽह बहुस्याम्"—बहिर्मुखी विभाव धारा मे प्रवाहित होकर अपने लिये ससार जाल की रचना करता है—यह प्रवृत्ति धारा हे। अर्हत् शासन की धारा अन्तर्मुखी है। यहा बहुमुखी व बहिरात्मा नही रहता, न वह ऐसा होना चाहता, क्योकि उसे ससार-सृष्टि घटित नही करना है। उसे तो अपनी स्वतन्त्रता सहित अपने ही पूर्ण स्वरूप का निर्माण या विकास करना है, जहा वह राग व मोह से अनेक रूप विभक्त न होकर, पर-वस्तु आवरण से मुक्त, निर्मल व अद्वय और सुन्दर होता है।

अर्हत् योग विज्ञान की विशिष्टता स्वभाव धारा की है। यह प्रतिस्रोतगामी और विलोम गति के अनन्तर सहज रूप से ही आती है। इसमे तब पुरुषार्थ का ही आश्रय रहता है, और अपने मौलिक ज्ञान शक्ति (गुण) की प्रसिद्धि रहती है। तब इसमे अभ्यास व चित्त के अवलम्बन भी नही होते। इस भूमि मे आने से पूर्व तो अनादि की विकल्प आश्रयता की आदत जीव को रहती है। वह आदत व विकल्प आश्रयता न छूट जाये तब तक कुछ काल कतिपय विकल्पो का, अन्य सब विकल्पो के विसर्जन के अर्थ

ग्रहण रहता है। उनमे विकल्प निग्रह की क्षमता साधक मे होनी है। योगाभ्यासो मे ऐसी साधना तथा प्रयोगो की चर्चा है। कारण स्पष्ट है कि हीरे से ही हीरा काटा जाता है। स्वेच्छा से कुछ शुभ विकल्प और अभ्यास लेकर अनादि के असख्य विकल्प और कर्म-चेष्टा की अह मन्यता, अहकार भी काट दिये जाते है। यह जीव की विवशता है—उस जीव की जो अभी शुद्ध नही है, छद्मस्थ है, कर्म-बधन मे बधा है और ऐसे जीव मे विवशता रहती ही है और वह इस विवशता मे अपने पुरुषार्थ को जैसा चाहिए जागृत भी नही कर पाता। ज्ञानी जीव ज्ञान प्राप्त करके एक साथ कर्म-बन्धन तो नहीं तोड देता—कर्म-बन्धन का टूटना भी शनै-शनै होता है और शनै-शनै ही निर्मलता का प्रवाह प्रखर होता है। पर ज्ञान के होने पर ज्ञानी अपने देह बन्धन की विवशता को भी जानता है, उपाधि को उपाधि ही जानकर समाधि की ओर गति करने की चेष्टा करता है—कर्म-बन्धन मे होकर भी कर्मोदय को मात्र देखता व जानता ही है, सुख दुख नही करता। समाधि में अपनी समता और शाति के रहस्य को जान-कर—सब ओर से बुद्धि को विकल्पो से—राग व मोह से विमुक्त करके सम रखता है। सम बुद्धि होना ही फिर वस्तुत समाधि है। मुक्ति के लिए वस्तुत जीव को अपनी सम्पूर्ण शक्ति को विभाव मे विपरीत दिशा प्रतिस्रोत अभिमुखी करने मे ही दृढता से लगाना होता है और जब स्वभाव धारा मे जा पहुचे तो सब कुछ विश्राम हो जाता है, अनन्त यात्रा का अवसान तथा अनन्त शान्ति व आनन्द के राज्य मे प्रवेश हो जाता है। आत्मा ही आप अपने लिए शुद्ध दशा मे अत चिन्तामणि, अमृत कुम्भ, कामधेनु, नन्दन वन है और वह ही अज्ञान दशा मे अपने लिए वैतरणी और कूप शाल्मली है।

प्राकृत प्रवाह से अप्राकृत अमृत प्रवाह की ओर आने मे सम्पूर्ण चैतन्य शक्ति का उपयोग तथा विकास आवश्यक होता है। इसी मे प्रमत्त से अप्रमत्त, बुझे-बुझे प्रमादशील एव निष्क्रिय से रहने के स्थान मे जागरूक और बहुत कर्मण्य रहना होता है। ससार मे प्रवृत्ति ही कर्मण्यता मागती हो और मुक्ति के लिये मात्र निवृत्ति ही या निष्क्रियता ही आवश्यक हो—यह समझना एक भारी भ्राति है। साधक के चित्त का ऊर्ध्व-मुख हो जाना तथा उसके शुक्र विन्दुओ का ऊर्ध्व सचरित हो जाना अति आवश्यक है। ऊर्ध्व-मुखी भावो की स्थिरता भी ऊर्ध्व सचरणशील शुक्र विन्दुओ के बिना नही रह सकती वरना वह सघन ऊर्जा सहज ही नीचे की ओर प्रवाहित होती है, और उसे निर्मल सूक्ष्म व ऊर्ध्वमुख करने के लिये प्रयत्न करना होता है तप करना होता है। आन्तरिक सपदा भी विना श्रम रूप मूल्य चुकाए प्राप्त नही होती। शक्ति का सही ऊर्ध्वमुख उपयोग ही स्व सपदा को प्रकट करता है। स्व शक्ति स्रोत का उपयोग न कर मानव आतरिक रूप से दरिद्र का दरिद्र ही रह जाता है। उपयोग करने के लिए विवेक चाहिए और चाहिए स्फूर्ति। अज्ञान और प्रमाद—ये दो बडे शत्रु है। अत इस अर्हत् योग परम्परा मे कहा गया कि अपने को जानो तथा अप्रमत्त बनो। व्यावहारिक जीवन स्व घर के बाहर का आगन है और अध्यात्म जीवन स्व घर का भीतर का आगन और इन दोनो आगनो को देहरी पर स्थित दीपक की भाति ध्यान, ज्ञान तथा अप्रमाद से ही प्रकाशित रखना होता है।

सामायिक क्रिया और वैश्विक (ब्रह्माण्डीय) और आत्मा की समस्याएं

अर्हत् योग विज्ञान ने इसी हेतु आत्माराधन की विधा को सामायिक रूप मे सरल और सुबोध करके प्रस्तुत किया। "सामायिक" जैनो का निगूढ सज्ञा-शब्द है और इसी मे ध्यान और समाधि भी अन्तर्भूत कर दिए गए है। आत्म-प्रदेशो को सम स्थिर करने के अभ्यास के लिए सामायिक का विधान है। इसमे साधक प्राकृत विभावी प्रवाह से बाहर निकल कर स्वभावी ज्ञान प्रवाह मे अपने को स्थिर करता है। आत्मा की क्या सम अवस्था है और क्या विषम अवस्था है—इस पर बहुत चिन्तन किया गया है। सामान्य विशेषात्मक द्रव्य मे विशेष रूप प्रत्येक पर्याय प्रतिक्षण उत्पन्न होती है और व्यय होती है और इसके साथ ही सामान्य रूप मे आत्म द्रव्य सदा समान, स्थिर और ध्रुव रहता है। प्राकृत प्रवाह मे आत्मा द्रव्य परक्षेत्री होने से अशात, अव्यस्थित और सदा क्षुब्ध रहता है–और पर्यायो मे असतुलन रहता है और इसी कारण आत्म-प्रदेशो मे भी विषमता रहती है यानी सम अवस्था व समरसता नही होती। ब्रह्माण्डीय तत्वो की क्रिया तटस्थ रूप से स्वत समरस रहती है। प्रकृति की शक्तियो मे यथा सतुलन रूप व्यवस्था एक विराट् सत्य है, वैसे ही चैतन्य द्रव्य मे भी चैतन्य गुणो का सम विकास होकर सतुलित स्थिरता का एक बृहत्तर सत्य प्रतिष्ठित होता है। जीवात्मा के चरम जीवन विकास के सदर्भ मे यही बृहत्तर सत्य उन्मेषित होता है। ससारी प्राणी की सब क्रियाये अधिकतर प्रकृति की सीमा मे, पर क्षेत्र मे और पर काल प्रवाह मे निबद्ध रहती है। पर्यावरण, परिवेश, वातावरण और सब निमित्त (साज सामग्री) के साथ वह कभी निरपेक्ष सतुलन न रखते हुए आत्मनिष्ठ, आत्म सयत और आत्म स्थिर नही रहा। प्रकृति मे एक नियोजन बद्ध पूर्व स्थापित सतुलन है—समरसता है जिसे वैज्ञानिक आइन्स्टीन ने प्रीएस्टेब्लीश्ड हारमोनी कहा है। प्राकृत तत्वो मे एक सतुलित सह-अस्तित्व है। पर मानव प्राकृत सीमा (दिक्) की लम्बाई, चौडाई और ऊचाई रूप तथा काल की लम्बाई रूप प्रकृति के चार आयामो पर दखल देता हुआ ब्रह्माण्डीय तथा आत्मीय क्षेत्रो मे अव्यवस्था और असतुलन को उत्पन्न करता रहता है। पर, क्षेत्र, पर काल मे अतिक्रमण व दखल का प्रयास ही उसका अज्ञान है, अपराध है। इसी से उसे कषाय, राग, मोह और वासनाओ के विकार उत्पन्न होकर विषमता को जन्म देते रहे है। अत मानव मनीषी अर्हत्पुरुषो ने सत्य के इस प्रकार दर्शन किए कि अकषाय भाव से वीतराग स्व ज्ञान क्षेत्र मे ही रमण करते रहने मे ब्रह्माण्डीय और आत्मिक सतुलन का दर्शन सभव है, इसी मे स्व तथा पर सबकी स्वतन्त्रता है—समरसता और शुचिता है। आइन्स्टीन ने जहा फोर डाइमेन्शन्स मय ब्रह्माडीय समरसता का कथन किया—वही इस प्राचीन योग विज्ञान ने मन, वचन और काया के सवर के साथ आत्म स्थिरता के रूप मे चतु आयामिक आत्मिक समरसता का रहस्य हस्तगत किया। जहा इसने उत्पाद (सृजन) रूप से अ, ध्रौव्य रूप से उ और व्यय (सहार) रूप मे म को प्रतिनिधि करके आत्म द्रव्य के परम स्वरूप का वाचक ओ३म् स्थिर किया, वही उन्होने सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र स्व रूप के सतुलित और समरस विकास मे उसी आत्म द्रव्य की बोध की दिशा देखी। जब मन श्रद्धा सलिल से आर्द्र, बुद्धि ज्ञानलोक से प्रोज्ज्वलित और चित्त स्वय आत्मा की सत्ता-सम्पूर्णता मे समर्पित होकर सम और स्थिर हो जाए तो उस सम रस का निर्झर होता है जिसमे स्नात होकर जीव अर्हत्-स्वरूप मे

रूपान्तरित होता है। कामायनी मे मनु और इडा (मन और बुद्धि) की समरसता को श्री जयशंकर प्रसाद ने काव्य धरातल पर प्रकट किया—वस्तुत इसी समरसता का कलाकार सौंदर्य बोध मे, दर्शनकार उत्पाद व्यय सहित ध्रौव्य की अवधारणा मे, आगम शास्त्र सामान्य विशेषात्मक स्वरूप मे तथा अध्यात्म पुरुष सामायिकी समता मे प्रकट करने का प्रयास करते है। अध्यात्म क्षेत्र मे यही समरस ऋषियो का मधु है, सोम पान है और यही शारदीय पौर्णमासी की ज्योत्स्ना के रूप मे साधक हृदयो मे बरसता रहता है। इसी साम्य रस की प्राप्ति हेतु, स्वभावी प्रवाह मे निरन्तर मन अवस्थिति हेतु, जिसे आत्म-प्रदेशो की सम अवस्था कहते है, सामायिक का विधान है। मन्द तर्को मे वाद प्रतिवाद या पक्ष विपक्ष होना सम्भव है—मगर "सामायिक" मे जीवात्मा शान्त होकर समभाव मे स्थिर होकर आप अपने मे बैठता है, उसमे क्या कोई वाद प्रतिवाद या पक्ष विपक्ष कुछ हो सकता है? अत यही योगशासन को मन समाहार व सांख्य आदि ने निर्विरोध आश्रित किया है और इसी के कारण अर्हत् योग शासन विश्व-धर्म भी है। यह इसके सार्वभौम और वैज्ञानिक स्वरूप को प्रकट करती है।

मन की सरचना और अमृत प्रवाह का रहस्य

सामान्यत मन की दो दिशाए है। जब वह स्व सम्पूर्ण शक्ति के साथ समन्वित होता है तो वह समनस्क दिशा है। जब वह अपने को सम्पूर्ण शक्ति के साथ समन्वित न कर सकने पर अन्यमनस्क रहता है—तो वह दूसरी दिशा है। तीसरी भी दिशा है—जिसमे न समनस्कता होती, न अन्यमनस्कता प्रत्युत स्वय मनस्कारिता से परे साधक स्वय आप अपनी सम्पूर्ण शक्तियो सहित स्व आत्मिक शक्तियो की निराकारता मे ही मग्न रह जाता है। अन्यमनस्कता अज्ञानी की दशा है, समनस्कता विवेकी की दशा है—मनस्कारिता से विवर्जित अमनस्कता मे स्व मे सतुलित,—स्व मे ही समवस्थित ज्ञानी की दशा है। अमनस्कारता की जागृति मे मन के रहने या न रहने का प्रश्न ही नही रहता, मन तब क्षोभ-विक्षोभ से रहित होता है। अमनस्कारता की उपलब्धि मे भी मन स्वय ही सहयोग करता है। विवेकशील समनस्कता के अभ्यास मे ही मन की वशीकारता का सूत्र होता है। अन्यमनस्कता मे मन किसी भी क्रिया मे जुड ही नही पाता—वह तब किसी भी कार्य का सम्यक् रूप मे करने मे सफल नही होता। समनस्कता से अमनस्कता मे आकर मन की पूर्ण चैतन्य जागरूकता ही नही, मन की पूर्ण तन्मयता भी रहती है। जागरूक मन की दशा मे साधक जागे या सोये,—मन सदा जागता रहता है, उसका ज्ञान सदा उदित रहता है। साधक तब प्रमत्त या गाफिल नही होता, अचेतन नही होता, अविवेक पर पर्दा नही गिरता। यही है आत्म सतुलित सामायिकी अवस्था की भूमिका जिसमे सर्वत्र समरसता का रस झरता रहता है।

इस योग-विज्ञान मे आत्म-पुरुषार्थ की प्रसिद्धि है। स्व पुरुषार्थ स्वभाव धारा की ओर किया गया प्रयत्न ही पुरुषार्थ है, बाकी सब तो मोह, राग व कषाय की ही क्रियाये है, अर्थात् विभाव के प्रयत्न है—वह जागरूकता नही है। जागरूकता और पुरुषार्थ अतः साथ-साथ चलते है। अजागरूक व्यक्ति का प्रयत्न छेद वाली बाल्टी से ही पानी निकालते रहने के समान है, राग, मोह व आसक्ति के बन्धन रस

कर जागरूकता व सतुलन नही होता । अनन्त के सागर मे विहार करने के लिये जीवन नौका के केवल पाल तान लेना काफी नही —उसके तट के बन्धन भी जागरूक रहकर खोलने होगे । यदि वह वही बधी है तो सारी उम्र भी डाड चलाने पर वही है, वही रहती रहेगी—एक इन्च भी नौका आगे न सरकेगी । मन और बुद्धि सतुलित होने पर यानी हृदय और मस्तिष्क मे सतुलन सूत्रता होने पर ही योग का आरम्भ होता है और यह सम सूत्रता तब होती हे जब सुषुम्ना सूत्र से हृदय का अनाहत पद्म और मस्तिष्क का सहस्रार पद्म परस्पर ग्रथित हो जाते है ।

जागरूकता अपने आप नही होती । यह जागरूकता ज्ञान का ही दूसरा पक्ष है तथा ज्ञान की परिभाषा यह है,—ज्ञान वह है जो तन्मय होकर सम रूप परिणमन करे । अतः जागरूकता और तन्मयता—दोनो साथ ही सतुलित रूप मे चलने चाहिए,—और चलते है —तभी स्व विकास का पथ अन्तर मे खुलता है । जागरूकता से ही अप्रमत्त दशा भी आती हे । साधना मे तथा ससार व्यवहार मे भी मानव का सर्व सहायक मन ही रहता हे, वही जीव का या तो मित्र है या शत्रु । सतुलित मन ही मानव का मित्र है और उसे लेकर साधक साधना मे उतर पाता है । मन की ही अशुभ, शुभ और शुद्ध —तीन अवस्थाये दृष्टिगत होती है और मन की इन अवस्थाओ मे जीवात्मा बुरा, अच्छा और पवित्र (निर्मल) भी सज्ञित होता है । वर्तमान मे मेडीकल विज्ञान ने हिप्नोथिरेपी का आरम्भ करके मानव ब्रेन (मस्तिष्क) पर एक प्रकार से एक ऐसे वातायन को उन्मुक्त कर दिया है जिसमे से मानव के इस अद्भुत अग की सूक्ष्मताओ तथा पेचीदगियो पर वैज्ञानिक दृष्टि डाल सकेगे और नाना रोगो से मुक्ति का तथा मन की आदतो के परिवर्तन का मार्ग भी खुलेगा ।

भावदशा और ग्रन्थियो के रस निर्झरण और कर्म प्रत्ययो का विपाक रस

जब मानव व्यक्ति **हिप्नोसिस** समोहन के प्रभाव मे होता है तो उसके ब्रेन से कुछ ऐसे अपेक्षणीय एव जाति रसायनिक रसो (यथा ऐकीफालनिस Enkephalnis) का निर्झरण होता है जो मानव के गहरी जडो वाले मिजाजो–तबियतो (Attitudes) को भी वाछित परिवर्तनो मे ढालने मे निमित्त होता है । मानव की टेवो को यथा शराब की नशे की टेवो को सामान्यत औषधिया, आत्म-सूचनाओ, ग्रुप थैरेपी एव शुद्ध सकल्प द्वारा ठीक किया जाता रहा है—इस सब के साथ अब हिप्नोसिस को भी जोड लिया गया हे । तथा हिप्नोसिस के प्रभावो से अब जो परिणाम प्रकट होगे उन्हे वैज्ञानिक आशातीत होने की भविष्य-वाणी कर रहे है ।

हिप्नोसिस का ही एक तरीका **सैल्फ-हिप्नोसिस** (आत्म समोहन या आत्म-द्योतन) भी सम्भव है । मानव अपने स्वभाव मे आत्म-द्योतन या सैल्फ-हिप्नोसिस से परिवर्तन कर सकता है । योग मे जो भावना का तरीका है वह सैल्फ हिप्नोसिस ही तो है ।

भावना व चिन्तन के द्वारा मानव ब्रेन मे किस प्रकार के रसायनिक रूपातरण होते है और

उस रूपातरित रस के क्या तत्त्व है—इसमे तो अभी खोज नही हुई है मगर अब सम्भावनाये खोज की बहुत विस्तृत होती जा रही है। अध्यात्म मे देह की क्या भूमिका है? क्या मानव को मात्र एक शुद्ध आत्म-तत्त्व के रूप मे ही आरम्भ से ही देखा जाय? इन प्रश्नो पर विज्ञान ने चुनौतिया कर दी है। कहा जाता है कि देह और जीवात्मा किस तरह परस्पर सम्बद्ध है इस पर पुन मूल्याकन तथा पुनर्विचार करने की अपेक्षा है।

वास्तव मे विज्ञान को अभी Psyche और Spirit (आत्मा) के भेद परिचय को प्राप्त करना ही शेष है। आत्मा Psyche मात्र नही है, Psyche (चित्त या मन) द्रव्य रूप मे कार्य कर रहता है—यद्यपि भाव रूप से आत्मा से जुडा है। ऐसे मानव जीवात्मा चेतन द्रव्य होकर भी अचेतन के साथ द्रव्य चित्त और भाव मन (Mind and Psyche) के साथ होने से परस्पर निमित्त, नैमित्तिक रूप से प्रभावित व सम्बन्धित है। आप इसे चाहे रोगी जीव का भाव कहे, या अज्ञानी जीव का भाव, पर यह जीवात्मा अनादि से असदिग्ध रूप से ऐसा ही जुडा चला आ रहा है।

मानव के भाव (मन-स्पदना) देह-रसो (neuro-harmones) को प्रभावित करते है और देह-रस (neuro-harmones) neuro endocrine system से नि सृत होते है। मानव का मन, उसके भाव (Psyche) राग, विराग व आवेग आदिरूप प्रभावित होते हैं। स्पष्ट होता है कि चेतन व अचेतन दोनो तत्त्व देही मानव जीवात्मा मे समानान्तर क्रियाशीलता के सिद्धान्त से ही हिप्नोसिस व सैल्फ हिप्नोसिस का रहस्य समझा जा सकता है। ऐसा प्रतीत होता है कि चेतन व अचेतन के मध्य Psyche जिसे गलत तौर पर अवचेतन कहा जाता है बड़ा महत्त्वपूर्ण है। वह दोनो के मध्य बीच की कडी है और वह ध्यानादि व आत्म-द्योतन से क्रियाशील होता है,—वह मानसिक स्थितियो को बनाता व निर्मल करता है और मन के निर्मल होने पर ही अमनस्कारता मे योग व अध्यात्म के उच्च स्तर खुलते है।

छद्मस्थ प्राणी मे जागरूकता व ज्ञान का प्रकाश तथा मन की तन्मयता—ये सब स्वय मानसिक स्थितियो तथा सरचना और ग्रन्थि रसो के निर्झरण पर बहुत निर्भर करता है। मन के द्वारा भावित करते-करते ही तथा अन्तर मन पर आदेश प्रयोग करते-करते ही मानव ब्रेन मे रासायनिक सरचना मे रस परिणमन होकर मानव मन की प्रकृति व उसकी शख्सियत (स्वभाव, व्यक्तित्व) की बनावट मे भी रूपातरण होता है। इस सरचना को बाह्य निमित्त से बदल कर मानव मे नव व्यक्तित्व परिणति की सम्भावना होती है। उसी मे मन की निर्मलता (दोष व विकारो व विक्षोभो की निवृत्ति) तथा जागरूकता की, और मन की चैतन्यता की अभिव्यक्ति भी की जा सकती है।

वास्तव मे जो जो जिस समय जीव की जैसी भाव-अवस्था होती है, उस समय उस अवस्था के निमित्त रूप वैसे ही कर्म-प्रत्यय के रस का भी उदय रहता है। उस प्रकार जीव की मानसिक अवस्था और उस अवस्था के निमित्त रूप कर्म का उदय रहकर देह-परमाणुओ तथा देह-रसो का स्वत

परिवर्तन या परिणमन होने लगता है। ऐसे जीव की भाव-अवस्था व कर्म रूप अचेतन (पुद्गल द्रव्य) का निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है—इसे ही समानान्तर भाव सम्बन्ध कहते है। दोनो का क्षेत्र अलग-अलग व स्वाधीन है पर फिर भी इस मानव प्राणी मे दोनो की कार्यशीलता समानातर चलती है। इसे ही समझकर उस पुद्गल कर्म प्रत्यय से विभक्त व निर्मुक्त होने के हेतु अर्धचेतन, अवचेतन व चेतन चित्त रूप विभक्त आत्मा के लिये अखण्ड निर्मल ज्ञान सत्तात्मक चिदानन्द आत्म-प्रभु के ध्यानादि की योग प्रक्रियाएँ है—कि वह उस रूप अखण्ड व समरूप निज अनन्त सत्ता मे समवस्थित रह सके। अचेतन 'पर' के चिन्तन तथा रमण की अपेक्षा अपनी आत्मा मे ही सम रूप स्थिर होने का चितवन करना चाहिए। स्व आत्मा मे स्थिर होते ही 'पर' का चितवन तथा 'पर' का साथ आप ही मिट जाता है।

चेतना के उर्ध्वीकरण और देह व मन के द्रव्य रस तथा भाव रसों की महत्ता

मन की निर्मल जागरूकता, तन्मयता और समरसता ऐसी अवस्थाये है जो व्यवहार तथा परमार्थ दोनो मे ही समान रूप से उपयोगी व महत्त्वपूर्ण है। अर्थात् जागरूकता और तन्मयता रूप मन की क्रियाशीलता व व्यवहार से ही परमार्थ का भी आरम्भ होता है। मन की परिणति ही जीव की दशा है, शुद्ध रूप मे शुद्ध, शुभ या अशुभ रूप मे शुभ या अशुभ, और इन अवस्थाओ मे देह मे भी तदनुरूप ही रस-परिवर्तन व कर्माणु-प्रत्ययो का परिवर्तन होता जाता है।

कोई भी मन की क्रिया देह पर बिना प्रतिक्रिया उत्पन्न किये नही रहती, अत ही योगी जन मन की निरख-परख और मन के हरख की और साम्य रस की प्रधानता करते है। निरख-परख का अर्थ है आत्म परीक्षण, हरख का अर्थ है आत्मा की निर्मलता और सम रमता रूप निर्मलता से आनन्दानुभूति होती है। इस प्रकार व्यवहार मे परमार्थ का आरम्भ होता है, अर्थात् आरम्भ मे व्यवहार व परमार्थ मे भेद रेखा नही होती, और तब व्यवहार प्रशस्त रूप ही होता है।

अशुभ से निवृत्त शुभ की सीमा १२वे गुणस्थान तक चलती गई है और शुद्ध का पूर्ण उदय यानी परमार्थ का उदय तेरहवे गुणस्थान मे होता है। तब जीव छद्मस्थ भी नही रहता। जो आरम्भ मे ही परमार्थ मात्र को आगे करके चलना चाहते है, उनके लिए तो साधारणत किसी भी भूमिका या गुण-स्थान सक्रमण का प्रश्न ही नही होता।

योग का मार्ग उनके लिए है जो परमार्थ रूप से आत्मा के निर्मल स्वभाव की प्रतीति को ग्रहण करके क्रम-क्रम उन निर्मल स्वभाव रूप परमार्थ मे अपने को परिणत करते चलते है, और इसके लिए धारणा, ध्यान व समाधि के उपायो को ग्रहण करते है और इन उपायो से आत्मा मे ही तन्मय होने का निरन्तर उद्योग करते है।

बिना किसी भूमिका या मार्ग मे चले केवल परमार्थ स्वरूप की कल्पना करके बैठे रहना

अथवा मात्र चर्चा मे ही रस लेते रहना और अपनी आत्मा को निर्मल मानकर सतोष कर लेना, तन्मगता व आत्मैकाग्रता का कुछ भी उद्योग न करना छद्मस्थ जीव का अपने आप को ठगने जैसा ही है। मानसिक सवेदनाओ मे असग रहकर पर्याय मे रूपातरण करना होगा, चेतना का तब ही उर्ध्वीकरण भी होगा। यह जब तक न हो तो क्या परमार्थ और क्या ज्ञान चर्चा ? मात्र प्रकल्पना के ससार मे ही विचरण करना और इसे ही परमार्थ समझ लेना यह तो अलग ही बात है। जब तक आतरिक रूपातरण ग्रन्थियो के सम रस प्रवाह से नही हो जाता और चेतना का उर्ध्वीकरण नही होता तब तक सब निरी कल्पना है।

देह व मन को आरम्भ मे तो सम रस तथा सम सूत्र करना ही होता है। देह और मन जीवात्मा के साथ सम्बन्धित हीनही है, जीवात्मा तात्कालिक दशा मे अभी निर्मल व अस्पृष्ट ही है,–ऐसा मान कर चारित्र चरण मे निष्क्रिय बैठ रहने से इस योग मार्ग मे नही चला जा सकता।

देह की उपकारी उपयोगिता

मानव देह मे विकसित मन व मस्तिष्क का वडा उपकार है। विकसित मस्तिष्क की प्रज्ञा ही भेद-विज्ञान भी करती है। इसी कारणतो प्राणी इस पृथ्वी लोक मे विकासशील मस्तिष्क वाले मानव देह को पाकर मुक्ति को घटित करता हे वरना अन्य देहो मे या योनियो मे या लोको मे केवल ज्ञान क्यो नही घटित होता ? मानव प्राणी की वह मानसिक स्थिति, जिसमे वह मुक्ति की कामना या इच्छा करता है और अपनी इस इच्छा के अनुकूल उद्योग करता है, प्रयोग करता है वह सब मानव देह मे ही क्यो सम्भव होता है ? क्यो मानव प्राणी की मानसिक स्थितियो के अनुकूल व उसके ध्यानादि प्रयोगो के अनुकूल देह मे द्रव्य तथा चित्त मे भाव निर्जरा आदि तत्त्व क्रियाशील होते है ? देव लोक के ऋद्धिचारी प्राणी भी आखिर क्यो इस पृथ्वी पर उत्तम देह-सस्थान वाली मनुष्य योनि की कामना करते है ?

हाइपोथैलमस तथा पैरा सिम्पैथेटिक तथा सिम्पैथेटिक सिस्टम, और ध्यान द्वारा अमृत निर्झरण

मानव की देह-ग्रन्थियो तथा मस्तिष्क के रसायनिक रस-क्रिया निमित्त से मानव की मानसिक बनावट व प्रकृति पर प्रभाव पडता है—यह विज्ञान ने स्पष्ट कर दिया है। इन रसो की गुण-प्रकृति पर भी मानव का रागी, द्वेषी, कषायी आदि होना अथवा अरागी, अद्वेषी अकषायी होना भी निर्भर करता है, तथा रागादि व कषायादि भाव निर्मल आत्मा के न होने से जड भाव भी कहे जाते है। मानव मे राग, द्वेष व कषाय होने पर देह की ग्रन्थियो तथा मस्तिष्क रसो मे भी तदनुकूल अशुभ गुण परिणमन होता है। इसी प्रकार अरागी आदि भाव होने पर तदनुकूल ग्रन्थि रसो मे अमृत रस रूप रस-निर्माण होता है। जीव के भाव विकास या भाव हीनता मे देह का भी वडा योग है जब तक कि जीव स्व शक्ति भाव की स्वतन्त्रता का उन्मेष न कर ले। स्व शक्ति की सर्वोच्चता स्थापित हो जाने पर देह यन्त्र

फिर गौण हो जाता है, पर इससे पूर्व नही। बाहरी चिता, तनाव, उत्तेजना, भय आदि से सिम्पैथेटिक सिस्टम मे लडो या भागो (Fight or Flight) के आवेश रस होते है। वैज्ञानिक शोध से पाया गया है कि "ध्यान" से हाइपोथेलेमस क्रियाशील होते है, उससे पिट्यूटरी और एड्रीनिल प्रभावित होती है। इससे पैरा-सिम्पैथेटिक सिस्टम मे F O F.के विपरीत प्रतिक्रिया भाव होते है। जो नोवेल पुरस्कार विजेता डॉ० वाल्टर आर हैस के शब्दो मे ट्रोफोट्रोमिक व डॉ० हर्वटवेन्सन् के शब्दो मे रिलेक्शेशन रैस्पास (प्रतिक्रिया) ध्यान से मानव मन मे से रज, भय, चिन्ता, तनाव, आवेश आदि सब दूर होते है, उसकी आनन्द सवेदनशीलता बढती है। ध्यान के द्वारा इस प्रकार अमृत रस निर्झर होना सिद्ध हुआ है। विज्ञान ने जहाँ Endocrine glands ग्रन्थिया कही है—वही योग विज्ञान चैतन्य केन्द्र तथा चक्रो को बताता है और ध्यान से ये ग्रन्थिया एव चक्र सक्रिय होते है।

मन को निर्मल व क्षोभ-विक्षोभ रहित करके ही आत्म-द्रव्य के स्वरूप के निकट हुआ जाता है,—यह योगी जनो का सिद्ध अनुभव है। आज जो शुक्ल-ध्यान के हेतु शुद्धोपयोग की वर्तना नही पाई जाती, इसका कारण भी यह ही है कि मन के क्षेत्र से उर्ध्व होने का प्रयत्न नही किया जाता। मन को कैसे जागरूक रखते हुये भी चैतन्य आत्मा मे तन्मय कर सके,—यह रहस्य हस्तगत होना आवश्यक है। इस रहस्य का पता ध्यान व धारणा की प्रक्रियाओ मे है जिनसे देह व मन मे वाञ्छित रस निर्झरण व रूपातरण होते है और उनसे तत् प्रकार शोधन के साथ ही जीव भावशुद्धि को प्राप्त होता है और अशुद्ध उपयोग निर्मल होता है और आत्म-ध्यान की शुद्धोपयोग की स्थिति बनती है—यानी व्यवहार अभ्यास ही निश्चय का सोपान है।

अन्त स्रावी ग्रन्थियों की रस निर्भरण की उपादान शक्ति : भाव अन्तरिक्ष और स्वरूप ज्ञान

प्रतीत होता है कि मानव देह,—विशेष कर मानव मस्तिष्क जिन परमाणुओ से बनता है उनमे ऐसे रस निर्भरण की उपादान शक्ति है तथा मानव मन की भी भावो के उन विशेष व अलौकिक भाव अन्तरिक्षो मे जाने की शक्ति है जिनमे पहुंचने के बाद साधक अति-मानसिक क्षेत्र को पार कर अपने स्वरूप-ज्ञान मे संस्कारित हो जाता है।

विशेष परमाणु संरचना का उदाहरण तीर्थंकर देह

भगवान् वृषभेश्वर की स्तुति करते हुए स्तोत्रकार योगीश्वर मानतुंगाचार्य ने विशुद्ध परमाणु-सरचना से भगवान के देह-रचना होने की कल्पना की है—

यैः शान्त राग रूचिभि परमाणुभिस्त्वं, निर्मापितास्त्रिभुवनैकललाम भूत।
तावन्त एव खलु तेप्यणवः पृथिव्यां, यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति ।।[1]

—1 [आदिनाथ स्तोत्र 12]—

हे प्रभो ! आप जिन शान्त राग-रूचि वाले परमाणुओ से त्रिभुवन मे एक मात्र ललामभूत निर्मापित है, पृथ्वी मे वे अणु भी उतने ही मात्र है, और इसी कारण आपके अतिरिक्त अन्य किसी का ऐसा रूप ही लक्षित नही होता । अर्थात् पृथ्वी के समस्त शान्त राग रूचि वाले परमाणुओ मे ही प्रभु आपके देह स्वरूप का निर्माण हुआ है ।

अर्हत् तीर्थंकर प्रभु की (देह रूप) रचना मे इस प्रकार विशेष प्रकार की परमाणु-सरचना का सयोग होना योग-वाङ्मय मे स्वीकार हुआ है । सूक्ष्म निर्मल अनात्म परमाणुओ की निर्मल भाव-परमाणु के साथ स्थिति समानान्तर ही रहती है ।

पर वर्त्ती सूक्ष्म स्पंदन और ऊर्जाए :स्व में निष्ठता से स्पदनाओं तथा लेश्याओ से निर्मुक्ति

पुद्गल अणु-परमाणु रूप है । एक पुद्गल का परमाणु एक समय मे १४ राजू प्रमाण गमन कर सकता है और वह सदा ही स्पदनशील है । प्रकम्पन-स्पदन का सिद्धान्त गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्त से भी गहन और विस्तृत है और अद्भुत रूप से परावर्ती है । जीवात्मा और पुद्गल पदार्थ—दोनो ही परिणमन शील व स्पदनशील है । स्पदना होती रहना पुद्गल का स्वभाव है—इसी स्पदन के माध्यम से वस्तु की अभिव्यक्ति है—यानी इसी मे वस्तु की द्रवणशीलता हे, रूप-अभिव्यक्ति है । वस्तु मे रूपातरण (परिणमन) निराश्रय स्व योग्यता से रहे तो वह वस्तु शुद्ध और सुन्दर ही रहेगी, और पराश्रय और पर-निमित्त से परिणमन होने लगे तो वह वस्तु विकार को प्राप्त होगी । खगोलवेत्ता प्रो० प्रोक्टर ने भी स्वीकार किया है—"हमारे सौर मण्डल के दूरातिदूर ग्रह के छोटे से छोटे परमाणु का कोई सूक्ष्म से सूक्ष्म प्रकम्पन-स्पदन भी ऐसा नही जो इस पृथ्वी पर हमारे मानव जीवम के अन्तरग को प्रभावित न करता हो और उससे घनिष्ट सम्बन्ध न रखता हो । यद्यपि अनेक प्रकम्पन-स्पंदन हमारी सीमित प्रतीति से परे हैं जैसे इनफ्रारेड तथा अल्ट्रा वायलेट किरणो के तरग-प्रकम्पन हमारी नेत्र-दृष्टि की क्षेत्र-सीमा से परे होते है, फिर भी ऐसा कोई प्रमाण नही कि ये प्रकम्पन उतने ही शक्तिशाली नही जितने कि वे प्रकम्पन है जिन्हे हम अधिक आसानी से जाँच सकते है । वस्तुत· परावर्ती अति सूक्ष्म कर्म वर्गणाओ के स्पदन अति शक्तिशाली है । प्रकम्पनो का सम्बन्ध हमारी देह, मन, वाणी और प्राण सबसे है । मन से भी है, —अत हमारे विचार और सकल्प, विकल्प तथा चिंतन आदि से भी है । ये ऊर्मियो के रूप मे सदा हमारे ऊपर बरसते ही रहते है । हम सदा ही उनके प्रभाव क्षेत्र मे ही है । हम उन ही स्पदनो तथा ऊर्मियो से प्रभावित होते है और बन्ध को प्राप्त होते है जो हमारे स्वय के मन, वचन और प्राण के तत् तत् समय के भावो के स्पदनो के अनुरूप होते है ।

जीव अत ही अपने राग, द्वेष, मोह, कषाय—रूप भावो के अनुसार ब्रह्माण्ड मे वर्तमान कर्म वर्गणा—अणुओ के स्पदन तथा बन्धन को लेश्या रूप से प्राप्त करता रहता है । कर्मावरण का सिद्धान्त इन स्पदनो के आकर्षण विकर्षण रूप बन्ध और निर्जरा मे है । जीव राग द्वेषादि से रहित निर्मल भाव रूप यदि स्थिर रहे तो ब्रह्माण्ड के स्पदन होते रहने पर भी जीव उनके निमित्त से अप्रभावित ही रहता

है और लेश्या निर्मुक्त होता है। पर से निवृत्त और स्व मे निष्ठ रहने का सिद्धान्त अत इसी वस्तु-स्पदन विज्ञान मे नि सृत है और यह आश्चर्यजनक है कि ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त प्राचीन काल के ये अर्हत् पुरुष निर्मित कर सके। स्व तत्त्व मे जागरूकता और स्व तत्त्व मे ही तन्मयता का विज्ञान उन आध्यात्मिक विचक्षण पुरुषो के विवेचन की देन है। आत्मा को पर-पदार्थो के साथ भाव एकाग्रता करने से वन्धन है—तो उनसे निस्पृह हो जाने मे ही मुक्ति है। आत्म-तन्मयता तथा मन की जागरूकता अति अपेक्षणीय ही है।

मानव-मन के भावानुसार ही परमाणु रूप कर्म वर्गणाओ का देह मे प्रतिसमय आगमन (आकर्षण) व निगर्मन (विकर्षण) अर्थात् उत्पाद व व्यय होता रहता है और मन के भावानुसार ही उनका बन्ध व निर्जरा भी होती है। कर्म वर्गणा भावातीत दशा की पूर्ण अवस्थिति मे देह से पूर्ण निशेष हो जाती है तब आत्मा मे मात्र चिन्मय स्व प्रदेश ही रहते है। ये लेश्या रहित होते है। आत्मातिरिक्त भाव लेश्या युक्त होते हैं। अत प्रशस्त व अप्रशस्त मन के साथ लेश्या भी रहती है। अत ही मन के भावो के प्रति जागरूकता के यानी पर-पदार्थ से व पर भाव मे तटस्थता और स्व आत्मा मे तन्मयता के प्रति योगी जन सजग रहते है। वही स्व विवेक रूप आत्मा की जागृति है। मन, वचन और काया के स्पदन रूप योगो से विवर्जित होकर तथा राग-द्वेषादि मे रहित निर्मल स्थिर आत्मा प्रदेश रूप अयोग स्थिति ही यह योग विज्ञान है—यह वहुत स्पष्ट हो जाता है।

साधना के महत्त्वपूर्ण अंग

ग्रन्थि रस निर्झरण के सक्रिय हेतु चक्रध्यान तथा जागरूकता और तन्मयता ये तीन साधना के महत्त्वपूर्ण अग हैं। इनके माध्यम से ही मनुष्य विकास के पथ पर अग्रसर हुआ है। जब प्राचीन भारत मे स्व जागरूकता और तन्मयता का स्वर गू जता था तब आत्म समरसता और सतुलन से भारतीय जनो का विश्व के मान चित्र पर मूर्धन्य स्थान था। तन्मयता, तादात्म्य, तद-रूपता लक्ष्य की सिद्धि लक्ष्य के साथ धारा रूप तन्मय होने पर होती है। जागरूकता के साथ रहना जीव की सफलता का महत्त्वपूर्ण चरण है। भाव धारा मे स्व मे भाव रूप तथा गति मे स्वय गति रूप हो जाना ही पूर्ण सफलता देता है। जितने भी वडे काम हुए है वे सब तन्मयता की साधना के द्वारा हुए है और होगे। सफल खिलाडी वही होता है जो स्वय खेल वन जाता है, सफल विद्यार्थी वही होता है जो स्वय पढना बन जाता है। पढने व पढने वाले मे (कार्य और कर्त्ता मे) जब तक दूरी बनी रहती है तब तक सफलता के चरम शिखर को नही छुआ जा सकता। चक्रध्यान वर्णन "स्वरूपानुचितन" मे द्रष्टव्य है। चक्रो पर ध्यान से शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक तनावो, सवेदनाओ पर नियन्त्रण प्राप्त होता है, जिससे मानव व्यक्तित्व, चेतना और स्वभाव वदले जा सकते है। पर पदार्थो से सवेदित न होकर स्व आत्मा मे ही सवेदित रहना—यही आध्यात्म का सार है।

मानसिक तन्मयता एवं जागरूकता के लिए पर्याप्त शुद्ध शक्ति व संकल्प शक्ति चाहिए।

अध्यात्म मार्ग की तन्मयता तो अति मात्रा मे ओजस् शक्ति चाहती है। प्रत्येक क्रिया जो देह मे होती है सकल्प तथा शुक्र शक्ति के ही सचालन से होती है। योगाभ्यास मे समस्त देह के समस्त ही सप्त धातु सतप्त होते है, तब शुक्र बिन्दु ऊपर मस्तिष्क की तरफ आकर्षण को प्राप्त होकर उर्ध्व सचरणशील होता है। उर्ध्व सचरणशील होने पर ही साधक ब्रह्मचारी कहा जाता है। गृहस्थ मर्यादित व सयत जीवन के कारण एक निष्ठ ब्रह्मचारी होता है। अत' उसके बिन्दु रस का अपव्यय या दुरुपयोग नही होना और वह आत्म साधना मे साधारणत अग्रसर हो सकता है; पर फिर भी आगे गहन साधनाओ के लिए उसे ब्रह्मचर्य प्रतिमा को ग्रहण करना होता हे जो गृहस्थ की ग्यारह प्रतिमाओ मे हे। और उसके उपरात ही वीतरागी जीवन या योगानुष्ठान के लिए, सम्पूर्णत समर्पित जीवन के लिये वह योग्य होता है।

शक्ति स्फोट और शक्ति पात (देशना लब्धि) का रहस्य

मूलाधार की मूल "परा"—स्वरूप-अग्नि मे जब शुक्र-बिन्दुओ की अन्तर्मुखी आहुति साधना-अभ्यासो से पडने लगती है तब उस मूल-अग्नि मे उस सयोग से द्रव्य-प्राण स्थिति मे तथा उस निमित्त से भाव-प्राणो मे भारी स्फोट होता है। द्रव्य-परमाणु के स्फोट मे चार पर्यायो के परिणमन का दर्शन होता है, (१) स्फोट (Blast)(२,३) उष्णता व ऊर्जा (Heat & Energy), (४) विकिरण (Radiation)। मूलाधार के उस स्फोट मे भी ये ही चारो पर्याय घटित होते है। स्फोट के अनन्तर उष्ण—तेज व ज्योति प्रकाश रूप ऊर्जा ज्वाजल्यमान रूप मे सुषुम्ना-मेरुदण्ड मध्य स्नायु मण्डल मे दृष्ट होती है। इसी तैजस शक्ति के विकिरण मे रवि-किरणो का प्रकाश प्रकाशित होता है और इन तीन पर्यायो के उपरात जो अन्तिम चौथी पर्याय होती है वह है किरणो की वर्षा जिसे वैज्ञानिक भाषा मे फाल आउट कहा जाता है। यह शीतल श्वेत प्रकाश किरणो की अनुपम वर्षा सी अनुभव मे आती है, योगी उसमे तन्मय हो जाते है और चित्त के सकोच व विकार नष्ट हो जाते है और दिव्य उन्मेष की स्फुरणा होती हे, भावोन्मेष होते है, चेतना उर्ध्वमुखी हो जाती है। द्रव्य रूप से यह घटना प्राण द्रव्य व चित्त द्रव्यो तथा भाव मे है।

प्राणाणुओ मे स्फोट से जब भेद-क्रिया (विखण्डन क्रिया) होती है तो ऐसे अनुभव निर्जरा तत्त्व की क्रियाशीलता को लेकर होते है। पुद्गल को जैनो ने "स्पर्श रस गध वर्ण वन्त" (तत्त्वार्थ-सूत्र ५/२३) कहा है। फिर भेद के उपरात अवशिष्ट पुद्गल विकारो (परिणमनो) को "शब्द बन्ध सौक्ष्म्य स्थौल्य सस्थान भेदतम२ छायातापोद्योतवन्तश्च" (तत्त्वार्थ सूत्र ५/२४) कहा है। प्राण-द्रव्य मे जो चार परिणमन स्फोट होने पर दृष्टिगत होते है वे स्थूल स्कध भेद से आतप व उद्योतवन्त पर्याय परिणमन रूप वर्णित हुए है।

आज वैज्ञानिक जिस अणु का स्फोट होना कहते है, वास्तव मे वह अणु नही, अणु-सघात है। जैन सूत्रकार ने छाया आतप उद्योत को भी स्थूल सूक्ष्म स्कध रूप ही माना है। अणु की परिभाषा यह

है कि वह सूक्ष्मतम है अत भेद से परे है। वह एक प्रदेशी है, सूक्ष्मतम की परा अवस्था होने से कहा गया है कि वह ही आदि है, वह ही मध्य है और वही अन्त है।

अत्तादि अत्त मज्झं अत्तत णेव इंदिये गेज्झं।
ज दव्वं अविभागी त परमाणु विआणहि ॥

जिसका आदि, मध्य और अन्त एक है और जिसे इन्द्रिय गहण नही कर सकती ऐसा जो विभाग रहित द्रव्य है उसे परमाणु जानो।

पुद्गल अनन्त भेद वाला है, तो भी दो वर्गो मे उसे तत्त्वार्थ सूत्र ने बताया है। अणु जाति व स्कध जाति ये दो मोटे भेद (प्रकार) कहे गये है। स्कधो की उत्पत्ति अणुओ से होती है और अणु "भेदादणु" (तत्त्वा. सूत्र-३/२७) भेद से अणु उत्पन्न होता है और "स्निग्ध रूक्षत्वाद् बन्ध –" (तत्त्वा सूत्र. ५/३३)—स्निग्धत्व व रूक्षत्व से बन्ध होता है। स्निग्ध पुद्गल का चिकना गुण पर्याय स्निग्धत्व है और रूक्ष पुद्गल का रूक्ष गुण पर्याय रूक्षत्व है। मगर जिनका शक्त्यश निकृष्ट होता है ऐसे पुद्गलो का बध नही होता तथा तुल्य जाति वाले पुद्गलो का बन्ध नही होता। "द्वयाधिकादि गुणाना तु" (तत्त्वार्थ सूत्र ५/३६)—दो अधिक आदि शक्त्यश वालो को तो बन्ध होता है और "बधेऽधिको परिणामिकौ च" (तत्त्वा० सू० ५/३७) अधिक गुण वाला परिणमाने वाला होता है। बन्ध स्निग्ध परमाणु का स्निग्ध परमाणु के साथ, रूक्ष परमाणु का रूक्ष परमाणु के साथ और स्निग्ध परमाणु का रूक्ष परमाणु के साथ बन्ध होता है। और इस बन्ध की शर्त है कि दो अधिक शक्त्यश के साथ ही बन्ध होता है और वह दो अधिक शक्त्यंश ही परिणमन कराने वाला होता है। जैसे अधिक मीठे रस वाला गीला गुड उस पर पडी धूली को अपने गुण रूप से परिणमाने के कारण पारिणामिक होता है। अल्प शक्ति कीट को अधिक शक्ति वाला भृग पारिणामिक होता है। यह ही कारण है कि अधिक ओजस् शक्ति सम्पन्न गुरुजन अल्प शक्ति वाले शिष्य के लिये पारिणामिक होते है। शिष्य की ओजस् शक्ति को वे अपनी मैग्नेटिक शक्ति से अपने रूप परिणमन के लिये उत्प्रेरित कर देते है। यही रहस्य जैनो के—"परस्परोपग्रहो जीवाना" सूत्र मे कार्यशील है।

जीवो मे देशना मे जो लब्धि की प्राप्ति कही जाती है वह इसी प्रकार की होती है। यह एक क्रम है कि जीव का जीव से उपकार नही होता। जैनेतर आम्नाय वाले इस उपकार को शक्ति-पात कहते है। इसे जैन लब्धि (देशनालब्धि) कहते है। यह लब्धि भाव-प्राण मे होती है। शक्ति-पात द्रव्य-प्राण मे होता है। इसमे गुरु के द्रव्य-प्राण का उद्भाग मानव मैग्नेटिक धाराओ के रूप मे सकल्प-शक्ति के साथ निसृत होकर शिष्य के द्रव्य प्राण को चार्ज करके उसके लिए पारिणामिक हो जाता है। "परस्परोपग्रहो जीवाना" सूत्र इसी उपकार को सकेत करता है। कहा है—"ससारवर्तिनोऽन्योन्यमुपकार वितन्वते" (गो०प्राभृत–२/१६) ससार वर्ती जीव परस्पर एक दूसरे का उपकार करते है।

परिणाम स्वभावी होने के कारण अल्प शक्ति द्रव्य मे अधिक शक्ति वाले द्रव्य के निमित्त से उसके पारिणामिक होने से शक्ति स्फोट आदि परिणमन होते हैं। तत्त्वार्थ सूत्र मे द्रव्य-स्फोट (द्रव्य भेद) को इस प्रकार कहा गया है "भेद सघातेभ्य उत्पद्यन्ते" स्कधो की उत्पत्ति भेद सधात से, तथा न केवल भेद या केवल सघातसे यानी दोनो से होती है। यद्यपि अणु केवल भेद से ही उत्पन्न होते है। स्कधो की उत्पत्ति दो प्रकार की होती है,—वे चाक्षुप तथा अचाक्षुष होते है। जो इन्द्रिय-गोचर न हो वे अचाक्षुस हैं। चाक्षुस स्कध "भेद सघातेभ्य चाक्षुष."—भेद और सघात दोनो के मिलने से ही होते है। द्रव्य प्राण पच भौतिक तत्त्व मय होता है अत' वह सघात रूप है।

वाक् रूप अक्षर ईंधन के शुक्र विन्दु के साथ द्रव्य-प्राण-सघात मे आहूति के रूप से पडने से भेद व वेध होकर स्फोट घटित होता है और वह चाक्षुष स्कध रूप ही होता है। अत भेद और सघात से उत्पन्न हुआ पुद्गल स्कध पर्याय उस आणविक क्रिया मे तेज एव आतप व उद्योत (ज्योतिप्रकाश) रूप मे चाक्षुष रूप मे प्रकट होता है जो अन्तर्नेत्रो को लक्षित होता है। इससे प्रकट होता है कि यह सब पुद्गल स्कन्ध सधात मे होता हैं और ये सब पुद्गल स्कन्ध की ही पर्याय हैं, अभिव्यक्तियाँ है। प्राण व चित्त द्रव्यो मे निर्मलतर उत्पन्न होती पर्यायो के अन्त दर्शन योगी को आनन्दित कर देते है। इसमे दृष्टा भाव रखकर योगी अपने ही ज्ञान-गुण का प्रसार करता है। जैसे अपने ही वाक्-अक्षर ईंधन के सुमेल से ऐसा परिणाम घटित होता है, वैसे ही गुरु के प्रज्वलित मैग्नेटिक अश की प्राप्ति पर भी परिणमन घटित होता है। वे आतप उद्योत पर्याये जो घटित होती है, वैस्रसिक नही है, प्रायोगिक हैं अर्थात् चैतन्य पुरुष के प्रयोग के निमित्त से ही होती है। यानी ये चैतन्य शक्ति के ही विभिन्न आधारो से उत्पन्न पर्याय है। शक्ति चेतना से भिन्न नही है।

पुरुष के स्वय के प्रयोग योग-भाषा मे साधना, अभ्यास या ध्यान आदि कहलाते है, तथा सद् गुरु के सकल्प से स्फुरण स्फूर्ति की प्राप्ति होना शक्ति-पात या देशना लब्धि कहे जाते है। कुण्डलिनी के जागरण मे कुण्डलिनी की जो प्रकाश-सूत्र सी अभिव्यक्ति होती है वह या तो स्वय साधक के ही प्रयोग से अभिव्यक्त होती है, या गुरु के प्रयोग से। इन परिणमनो मे द्रव्य-प्राण व द्रव्य-चित्त का स्थौल्य (स्थूल पर्याय) ही सौक्ष्म्य (सूक्ष्म पर्याय) को ग्रहण करता है। स्व या पर चैतन्य चित के प्रयोग द्वारा उद्योत होने से ये चिति ही के दर्शन है और मात्र मार्गीय अनुभव है। ये चैतन्य जीवात्मा की उपस्थिति, प्रयोग व निमित्त से होने के कारण उनका आत्म-साधना मय योग मार्ग मे स्थान है। इनके दर्शन विकल्प से ही आत्म-दर्शन माने गये है। वास्तव मे द्रव्य-प्राण व द्रव्य-चित्त मे से ही द्रव्य-सघनता नष्ट होकर, **अर्थ-प्राण** (ज्योति-उद्योत आदि) व फिर भाव प्राण मे से रागादि विवर्जित होकर शुद्ध **भाव-प्राण**, व निर्मल चित्त, तथा तदनन्तर बोधि रूप चिति मात्र ही आत्म-विभक्त होकर आत्म दर्शन होता है। ऐसे आत्मा मे से अनात्म चित्ताश विभक्त होकर ही बोधि रूप भेद-विज्ञान घटित होता है। इस क्रिया कलाप मे जीवात्मा पर आवरण करने वाला आलेप रूप घन कर्मद्रव्य, अपेक्षतया विरल व पतला होता है और अन्तत समाप्त होता जाता है। इस ही प्रक्रिया से स्वय उसकी ज्ञान ज्योति विकसित व शुद्ध होती जाती है।

आत्मा शक्ति परमा शक्ति है। वह नित्य, सहज, शिववत् निर्मल ही स्थित है, पर मल व कर्मादि के कारण वह सवृत रहती है, दोष के परिपक्व होने पर और गुरु से सम्बोधित होने पर वह जब सुव्यक्त होती है तो यही देशना लब्धि या शक्ति का उद्बोधन या शक्ति-पात कहा जाता है।

शरीर विज्ञान का आलोक और तैजस प्राण कुण्डलिनी और उसकी अमृत स्रावी प्रकाश वर्षा

तैजस तन्तु रूप से कुण्डलिनी के दर्शन महत्व को जैनेतर आम्नाय मे विशेष कहा जाता है। इसमे तो कोई सदेह नही कि यह साधक के जीवन मे एक महत्त्वपूर्ण घटना होती है। इससे भावोन्मेष प्राप्त होता है। यह साधना यात्रा मे एक मील के पत्थर–चिन्ह के समान सकेत रूप है। पर योग का कार्य-कलाप इतना मात्र ही नही है,—यह तो यात्रा का आरम्भ-विन्दु ही है। इनका भी महत्त्व इसलिये है कि इससे भावो का दिव्य उन्मेष होता है। प्राणो की परिणति सूक्ष्म होने लगती है—चित्त की परिणतियो मे भी रूपातरण होता है। तैजस तत्त्व उद्दीप्त होकर जब साधक के पिण्ड देह मे ब्रह्माण्ड देह मे जा पहुचता है तो वह ही विराट् प्राण प्रखर स्वरूप,—सूर्य मण्डल सा वा आदित्य वर्ण सा उर्ध्वमुख होकर चमकने लगता है। नाभि के सूर्य का प्रकाश ही हृदय से आगे कण्ठ व भ्रू मध्य चमकने लगता है और उसका प्रकाश भ्रू मध्य पहुचकर सोम रूप मे—चन्द्र मण्डल के रूप मे चमकता है। इसे ही अमृत-प्रकाश से चमकने वाला या पीयूष वर्षी ज्योत्सना को विस्तीर्ण करने वाला चन्द्रमा कहा जाता है। सुधा मयी ज्योति जो अन्तर मे बरसती अनुभूत होती है, वह सब स्वय प्राण की ही पर्याय अभिव्यक्ति है। वह ही आदित्य रूप मे अभिव्यक्त है तो वह ही अमृत स्वरूप अमृतस्रावी है, अमृतस्रावी चन्द्रमा के रूप मे है, और यह ही उच्चतम ब्रह्माण्ड व पार ब्रह्माण्ड मण्डल मे मानव के शीर्षस्थ केन्द्रो मे पहुचकर केवल रवि चिति शक्ति रूप ही अनुभूत होती है।

देह यन्त्र का अद्भुत नाडी और ग्रन्थि सस्थान—उनके स्थान और उनके दिव्य कार्य

चन्द्रमण्डल से निकलने वाला वह अमृत वास्तव मे मस्तिष्क सौषम्न द्रव्य (Cerebro-Spinal fluid) है। यह सुषम्ना मेरु-दण्ड के मध्य सुरक्षित है। स्नायु जाल सुषुम्ना नाडी के द्वारा आनरव-शिख देह का मस्तिष्क से सम्बन्ध जोडती है। सुषुम्ना मे ही गुदा, उपस्थ, नाभि, वक्षस्, ग्रीवा—पाच प्रदेशो से सम्बन्धित पाच स्नायु चक्र है। भ्रू मध्य मे जहा वाम और दक्षिण भाग के स्नायु एक बिन्दु पर मिलते है—वहा आज्ञा नाम का चक्र है, तथा वहा से स्नायु दक्षिण से वाये की ओर व वाये से दक्षिण की ओर ऊपर ब्रह्माण्ड मे चले जाते है और वहा सहस्रार चक्र को बनाते है। नाभि की मास पेशियो का कद जो नीचे कुण्डलिनी को धारण किये रहता है—अध सहस्रार कहा जाता है। वह मास पेशी एक अगुल लम्बी व चार अगुल मोटी बताई जाती है। इसके ही मध्य केन्द्र मे प्राण शक्ति कुण्डलिनी के सुप्त हो जाने यानी जड व प्रमाद रूप अवस्थित होने का स्थान है। अर्थात् प्राण शक्ति को जागृत करने का यही विन्दु स्थान है।

समूचे प्राण समस्त नाडियो से खिचकर इस शक्ति बिन्दु स्थान मे एकत्र होते हैं, और नदन्तर यहा से ही सुषुम्ना मे प्रवेश कर उर्ध्व गमन शील होते है। अत यह अति महत्त्वपूर्ण है और चक्र ध्यान यही से प्रारम्भ कराया जाता है।

भ्रूमध्य से ऊपर कपाल-प्रदेश मे सुपुम्ना का उर्ध्व भाग चार प्रदेशो मे बट जाता है —

(१) सबसे नीचे का भ्रूमध्य वाला अधो भाग जो है, इसे मोड्यूला आवलेग्टा अग्रेजी भाषा मे कहा जाता है।

(२) इसके ऊपर पश्चात् मस्तिष्क सेरीबैलम या हाइण्डब्रेन है। इसे कपाल कद या मोटा मस्तिष्क कहते है। यह कपाल कद पाचो ज्ञानेन्द्रिय व स्वप्न नाडियो का केन्द्र व मनश्चक्र कहा जाता है।

(३) तीसरा ब्रह्मरन्ध्र है जिसे थर्ड वैन्ट्रीकल कहा जाता है। यह सहस्रार (सेरीब्रम) के मध्यवर्ती भाग है, और कपाल कद इससे भी जुडा है—सुपुम्ना का मध्यवर्ती विवर इन्हे आपस मे जोडता है।

(४) ब्रह्मरन्ध्र के नीचे कपाल कद के सामने एक कपाल-रन्ध्र है जो त्रिकोणाकृति है। यह चौथा भाग फोर्थ वैन्ट्रीकल कहा जाता हे यह पीछे से सामने की ओर विस्तीर्ण हे।

ब्रह्मरन्ध्र पर एक पुल (Siphon) सा है,—जिसे सुपुम्ना पथ से आने वाले स्नायु समूह स्पर्श करके फिर सारे मस्तिष्क (Cereberum) के विभिन्न केन्द्रो मे विस्तार पा जाते है। यह स्नायु प्रसार ही सहस्रार है—इसे ही सत मत वाले ओंधी कुइया कहते है। यह महाकमल सर्व दिव्य शक्तियो का—अपरा सिद्धियो का केन्द्र कहा जाता है।

ब्रह्मरन्ध्र के पिछले भाग पर सहस्रार से ही जुडती "पीनियल' ग्रन्थि है। इसे दिव्य दर्शन शक्ति सम्पन्न माना है। यह देह धड की सब ग्रन्थियो की नियन्त्रक होने से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह कठ से लेकर मस्तिष्क तक की ग्रन्थियाँ मानव के आचरण को प्रभावित तथा नियन्त्रित करती हैं। इन ग्रन्थियो के चक्रो का ध्यान इन ग्रन्थियो के रस के स्वभाव को बदल देते है। इस प्रकार मानव का स्वभाव, चेतना, व्यवहार भी बदल जाते है, स्वत रूपातरित हो जाते है।

सामने भ्रूमध्य से अन्य ग्रन्थि पिटीट्यूरी है जो ब्रेन के आधार (Base) मे है। ये दोनो ग्रन्थियाँ अलौकिक रस का निर्भरण करती हैं और दिव्य अति मानसिक शक्ति मय हैं। इन्हे ही योग-शक्ति देने वाली कहा जाता है। भ्रूमध्य तथा मस्तिष्क को केन्द्र बनाकर ध्यान करने से ये दोनो ग्रन्थिया सक्रिय हो जाती है और योगी को तेजस्वी बनाती है। कण्ठ मे थाइराइड ग्रन्थि अन्य महत्त्वपूर्ण ग्रन्थि है जिसके निष्क्रिय होने पर व्यक्ति निस्तेज पुरुषत्व हीन, निद्रालु, स्थूल, सुस्त व मूर्ख हो जाता है। वाक्-

शक्ति का वैखरी स्वरूप यहा ही होता है और वाक् यहा से ही उतर कर नीचे हृदय व नाभि होती हुई सूक्ष्म "परा"—स्वरूप मे मूलाधार मे आ जाती है। और वहा उसके साथ नीचे आया प्राण भी आणविक स्फोट से सूक्ष्म होता है। तब वह प्राण प्रज्ज्वलित होकर उर्ध्व गमन के लिए सुषुम्नापथ मे प्रेरित हो जाता है।

सुषुम्ना मे ७२ हजार नाडियो का जाल है। जिनमे प्रमुख वज्रा, चित्रा और ब्रह्म नाडी है। इस ब्रह्मनाडी को विरजा भी कहते है। सुषुम्ना का बाया भाग इडा—दाया भाग पिंगला—व मध्य भाग स्वय सुषुम्ना है। इडा व पिंगला जो "सिम्पैथैटिक कालम्स" कहलाती है,—के ही सम्बन्धित एक स्वतन्त्र नाडी और है। उस नाडी विभाग को "आटोनोमस-सिस्टम" कहते है। जैसे पाचो ज्ञानेन्द्रिया व उनके गोलको से सम्बन्ध रखने वाली नाडियो का निकास कपाल कद से है, वैसे ही इस स्वतन्त्र नाडी का भी वही से निकास है। यह नाडी ग्रीवा प्रदेश से उतर कर छाती उदर कटि भाग मे गुदा तक जाती है। इसे योग वाले कूर्म, कूहू, विश्वोदरी आदि नाम से व अग्रेजी मे इसे वैगस नर्व के नाम से कहते है। इस नाडी की दक्षिण शाखा विभाग मे वक्ष उदर व कटि भाग है। इसमे वक्ष मे प्राण-वायु, उदर मे समान वायु और नीचे कटि भाग मे अपान वायु के स्थान है। यह नाडी स्वतन्त्र इसलिये है कि इसका सम्बन्ध मन से नही है, यह मन के अधीन कार्य नही करती।

प्राण का सम्बन्ध सूर्य से है—यानी वह सूर्य के समान प्रभा वाला स्वय-प्रभ है, और मन का सम्बन्ध चन्द्र से है अत वह प्राण के प्रकाश से ही प्रकाशित रहने वाला है। और प्राण मे स्वय आत्मा ही भाव मय प्रकाशित रहता है। प्राण कभी सोता नही,—सदा जागृत रहता है। मन ही सोता व जागता है—यह मन भी चैतन्य की ही विशेष परिणति है।

वेगस नाडी का सम्बन्ध दक्षिण की पिंगला से है,—न कि वाम भाग की इडा से। सूर्य का सम्बन्ध पिंगला से व चन्द्रमा का इडा से सम्बन्ध रहता है। अत ही इन्हे सूर्य व चन्द्र नाडी भी कह देते है। पाच प्राणो मे प्राण वायु का सम्बन्ध वैगस नाडी से है—अत इसका कार्य मन के आधीन नही है।

प्राणायाम क्रिया मे पांचो प्राण वायु पर सयम व निग्रह होता है और प्राण-तत्व सतेज होता है और उस प्राण तत्व का प्रकाश चमकने लगता है—इसे ही कहा जाता है—"तत. क्षीयते प्रकाशावरण" अर्थात् प्राणायाम से प्रकाश पर पडा आवरण क्षीण होता है। जैन इसे ज्ञानावरण का क्षीण होना मानते है; परन्तु वे इसे द्रव्य प्राण से होना नही मानते, राग-द्वेष विवर्जित हुये भाव-प्राण की क्रिया से होना मानते है क्योकि वे द्रव्य की प्रधानता न कहकर भाव की ही प्रधानता से कहते है।

सरिन्ध्रगम्य ब्रह्माण्ड मे सहस्रार या जहा से सब नाडियो ने नीचे देह मे विस्तार पाया है—अनुपम प्रदेश है। उसका ही शीर्ष भाग सिद्धालय से सम्बन्धित है। ब्रह्मरन्ध्र को खोलकर शीर्ष स्थान को उत्क्रमण कर लेने पर सिद्धान्त तक प्राण गति हो जाती है तब विदेहस्थ (देहातीत) हुये प्राण ही सिद्ध

प्राण है। और वह सिद्धात्मा परिणत होकर सिद्धालय का सिद्धात्मा होता है। देहातीत होने पर ही सर्वगत, सर्वज्ञ और देह व ससार के राग से मुक्त, परम शुद्ध व सिद्ध होना सम्भव होता है।

सहस्रार अति-उच्च स्तरीय दिव्य केन्द्रो का स्थान है और वहा पर योगी जन अपने-अपने इष्ट व आराध्य का ध्यान करते हुए अपने उपयोग को शुद्ध एव स्थिर करते है। यहा पिण्ड-स्थानीय सब प्राण खिचकर एकत्रित व समष्टि रूप होते है और निमल तत्वातीत होकर ज्ञान–प्राण रूप परिणमित होते है। ब्रह्माण्ड के गगन मे प्राण पहुच कर ही वैश्विक ज्ञान ऊर्मियो व ज्ञान-प्रवाहो को प्राप्त करते-करते—मन पर्याय ज्ञान व अवधि ज्ञान की भी प्राप्ति होती है। तदनन्तर विश्वोत्तीर्ण होकर स्व ज्ञान केन्द्र का पता पाकर योग सिद्धि की परम अवस्था मे परिणत होते हैं। प्राण जब तक द्रव्य, अर्थ तथा प्रशस्त भाव रूपात्मा रहते हैं, वे इसी ससार मे ही भ्रमण करते है। प्रशस्त शुभोपयोग रूप भाव भी ससार-बधन का ही कारण है। मगर जब विश्वोत्तीर्ण भाव हो जाते है तो वीतरागता की चरम परिणति मे ध्याता जीवात्मा भावातीत एव सर्व गुण सम्पन्न केवल–ज्ञान रूप हो जाते है। वह कैवल्य ही योग प्राप्ति का कलश है।

प्राण स्फोट से प्राणगर्भीय आत्म तत्त्व का शोधन

जैसे स्फोट (Blast) द्वारा पृथ्वी के गर्भ तत्त्वो का अनुसधान होता है वैसे ही योग मे भी द्रव्य प्राण के स्फोट से ही प्राण गर्भीय आत्म तत्त्व का शोधन प्राप्त होता है। द्रव्य प्राण किस प्रकार प्रज्वलित होकर सुषुम्ना मे होकर सहस्रार मे पहुचता है और वहा के समस्त स्नायु जाल को प्रकाश प्रज्वलित करके उस प्रकाश के महापद्म को विकसित करता है तथा कैसे वहा महाप्रकाश का वह पुज एक ज्योतिष–मण्डल व ज्योति मय चदोवा के रूप मे चमकने लगता है—इस विधि को सूर्य ताप के उदाहरण से कहा जा सकता है।

सूर्य जो ताप देता है वह कार्बन नाइट्रोजन गैसेज का चक्र है, वैसे ही गैसेज का चक्र इस देह मे भी निर्माण होता है। जैसे—सूर्य मे हाइड्रोजन, कार्बन तथा नाइट्रोजन की सहायता से हीलियम गैसेज मे बदलती रहती है, वैसे ही देह-सस्थान मे नाभि केन्द्र के सूर्य स्थान मे प्राण व अपान वायुओ (गैसेज) का ऐक्य होकर समान वायु (गैस) मे बदल जाता है। ऊपर हृदय से नीचे कद-स्थान मे प्राण वायु उतर कर अपान से मिले अथवा नीचे कद स्थान से अपान-वायु ऊपर उठ कर नाभि मे आये हुए प्राण-वायु से मिले,—किसी भी विधि से हो, जब दोनो का ऐक्य होता है तो वायु समान वायु रूप मे परिणमित हो जाता है। इस परिणामन को विज्ञान की भाषा मे सलगन या द्रवण या फ्यूजन (Fusion) कहते हैं।

सूर्य मे फ्यूजन प्रक्रिया से हाइड्रोजन के हल्के केन्द्रक (न्यूक्लियस) हीलियम के भारी केन्द्रको मे बदल जाते है। ऐसा होने के समय भारी आणविक शक्ति का उद्भव होता है। और इसी शक्ति को सूर्य अपनी किरणो के माध्यम से विकिरण करता रहता है।

देह मे कद (स्वाधिष्ठान) के निकट सुषुम्णा के नीचे के भाग के विवर (Tunnel) मे न्यूट्रान रूप से द्रव्य-प्राण का स्फोट होता है । सुषुम्णा ही फिशन का माध्यम बनती है और प्राण न्यूट्रान के तब आणविक स्फोट से उत्पन्न ज्योति, प्रकाश तथा ऊर्जा सुषुम्णा नाली मे होकर ऊपर मस्तिष्क के गगन मे प्रकाशित होती है ।

साधक प्राण अपान, समान आदि वायु रूप गैसेज को अपने प्रयोग द्वारा उत्प्रेरित व परिणमित करता है । गैसेज को एकत्र करने के लिए भारी चुम्बकीय (आकर्षणीय) शक्ति वाले वातावरण का उद्भव साधक प्राणायाम अभ्यास द्वारा कर लेता है । उत्प्रेरित गैसेज कु भक के दबाव से तीनो बधो के बधन से विवश होकर सुषुम्णा होकर आगे ऊपर निकलने लगती है । इस गति को बनाती हुई निरन्तर स्फोट द्वारा ये पौद्गलिक-सूक्ष्म कर्म—आवरणो को ही तोडती अग्रसर होती है ।

इस प्रक्रिया मे प्राणायाम द्वारा प्राण पर पडा प्रकाशावरण विच्छिन्न होता है और प्रकाश का अनावरण ही ज्ञानावरण सस्थान को विच्छिन्न करता है और इन विच्छिन्न-क्रियाओ मे भी वह भेद व सघात रूप प्रक्रिया होती है जिन्हे तत्त्वार्थ सूत्रकार ने "भेदादणु" रूप से कहा है ।

भारी आणविक शक्ति पु ज ही अनन्त कोटि सूर्य प्रकाश सा अन्तर मे व ऊपर सहस्रार मे अनुभूत होता है । प्रकाश का उद्योत तो सब अतिकायिक विद्युत के परिणमन है, पर इनमे ही कायिक पौद्गलिक कर्म-सस्थान जो प्राण एव आत्म तत्त्व को आवृत किये हुए हैं,—क्रमश जर्जरित होकर जलते जाते है,—इसे ही द्रव्य निर्जरा कहा जाता है । इसके समानान्तर प्राणायाम मे साधक का मन, वचन, काय का जो सवर रहता है दृष्टा तथा ज्ञायक भाव रहता है, वही साधक का भाव सवर होता है, और इसी से भाव निर्जरा होती है ।

जैसे शक्ति उत्पन्न करने के लिए भारी मात्रा मे कार्बन व नाइट्रोजन होना आवश्यक होता है वैसे ही भारी मात्रा मे प्राण व अपान का एकीकरण आवश्यक होता है तब समान-वायु का उद्भव होता है । समान वायु होने पर ही प्राण सम होते है और साथ ही उर्ध्व मे चलित होने पर उदान से सम्बन्ध करके अति सूक्ष्म म प्रोज्वलित भी हो जाते है । तब श्वेत प्रकाश का आविर्भाव होने लगता है, अति कायिक विद्युत सहस्रार मे दमकने लगती है । यह अति कायिक-विद्युत फोटोन (Photon) की गति से भी अधिक गतिशील होती है और आत्मशोधन का कार्य इसके माध्यम से होता है । यही योगाग्नि नाम पाती है ।

प्राण मे उसके द्रव्य स्वरूप का ही सशोधन होता है और इस सशोधन मे सूक्ष्म प्राण के पर्याय-परिणमन दृष्टिगत होते है तथा सूक्ष्म व सम प्राण होने पर फिर साधक के चित्त व भाव प्राण-लोको मे भी परिष्कार होता है, उनका उन्नयन होकर उनके आयाम ही बदल जाते है । ससार के राग व भोग उस अति कायिक विद्युत् प्रकाशो की आनन्द-निधि मे अल्प व तुच्छ हो जाते है, इन्द्र पद के

अति-भौतिक भोग भी विष्ठा तुल्य लगने लगते है। प्राण-परिणमनो मे शब्द अर्थ भाव और ज्ञान के क्रम इस प्रकार लक्षित होते है—प्रथम शब्द से ज्योतिप्राण रूप अर्थ-प्राण, उससे भाव रूप चित्त-प्राण व अन्त मे ज्ञान (चिति) प्राण का या स्वय आत्मा तत्त्व का ही सम्पूर्ण विलास प्रकट हो जाता है जो इन्द्रियातीत निर्मलतम स्वयभू स्वाधीन ज्ञान-घन व चिदानन्द परम रूप होता है।

ब्रह्माण्डीय चैतन्य केन्द्रो के ज्ञान एव इन केन्द्रो मे सलग्न ध्यान अनुभूतिया तथा इन से भी फिर उत्क्रमण करके देहातीत व स्व केन्द्रस्थ आत्मा के साक्षात्कार की साधनाये एव इनसे प्राप्त ज्ञान ही विज्ञान है। क्रम क्रम से व फिर क्रमोत्तीर्ण होकर अपनी ही वस्तु के निर्मल स्वरूप मे आ बैठना यही परमस्वरूप का परम विज्ञान है। इनमे यथार्थ अमृत प्रवाह कही बाहर नही हे—अपने ही केन्द्र अन्तस्तत्व मे हे। परमानन्द रूप वह अमृत प्रवाह ही परम प्राप्तव्य है—शुभ-अशुभ से परे वह ज्ञान-दर्शनोपयोगी प्रवाह हे उस प्रवाह मे ही निश्चिन्त निश्चल विराजना है। जो इस अमृत -प्रवाह को नही प्राप्त कर पाता, वह शुष्क मरुथल की सी तथाकथित साधनाभूमियो मे भटक कर ही दम तोड देता है।

विज्ञान ज्ञान की योग विज्ञान में संगति और व्याख्या

वस्तुत मानव का मस्तिष्क एक अद्भुत ही यत्र रूप मे विकसित हुआ है। जीवात्मा इस यत्र द्वारा अपने चिन्तन विशिष्ट से स्वरूप को प्रकट कर सकने मे सफल होता है। और इसी मस्तिष्क केन्द्र मे प्रयोग द्वारा मानव मन चिंतन को मृत्यु केपार भी ले जाता है और वही उसकी मृत्यु पर विजय है। मृत्यु का क्लेश मानव को अनावश्यक ही है। जीव एक भावात्मक तत्त्व होने से कभी अभाव रूप हो ही नही सकता। स्वय का आरम्भ या अन्त तो मात्र एक कल्पना ही है। वह सदा से है और रहेगा—मात्र अब तक देह परिवर्तन ही तो होता रहा है। जीव वास्तव मे अपने अनादि के अज्ञान से ही दु खी है। मानव के मृत्यु-भयाक्रान्त भाव-भूमि मे योग विज्ञान अपने सुखद सम्वाद को ही लेकर प्रकट हुआ है। यह मानव को भय-मुक्त करके आश्वस्त करता है। भय वास्तव मे एक मानसिक दुर्बलता है और अभय ही जीव का गुण है। इस गुण का जागरण व विकास करके मानव केवल अभय ही नही होता है, वह अपनी स्व हस्ती की पहचान कर लेता है। अपने अज्ञान को जानकर उससे निवृत हो जाता है।

मृत्यु क्या हे यह मर कर ही जाना जा सकता है। मरने मे देह ही का वियोग होता है। देह मे राग व वासना है अत देह के वियोग के विचार मात्र से जीव दु खी होता है। योग जीवित दशा मे ही मरने की दशा को दिखा कर भी जीवित रखता है और इस प्रकार मौत को जानकर मौत का भय भी सर्वदा के लिये समाप्त हो जाता है। एक निश्चल आश्वस्त व निर्भीक ज्ञान भाव का ही उदय हो जाता है। इसलिए महर्षियो ने कहा है कि "ज्ञानादेव मुक्ति"। अज्ञात का भय होता है, जब अज्ञान ही ज्ञात हो जाता है तो उसका भय भी निर्मूल हो जाता है—

ज्ञानी निशंक निष्कलंक,
निज ज्ञान रूप निरखत नित ।।

मृत्यु भय मे प्राण भय है, और प्राण भय देह मे ममत्व को ही लेकर है। मगर जब प्राण स्थूलता को निवृत करके सूक्ष्म होकर ध्यान क्रिया के मध्य देह से बाहर निकलने लगता है, अर्थात् सूक्ष्म देह स्थूल देह से भिन्न होती है तो यह परिचय होता है कि जिस स्थूल देह को मै मानव इतना महत्त्व अभी तक देकर इसमे अनुरक्त रहता आया हूँ, यह तो मेरे से भिन्न ही है। मै इसके विना भी जीवित व चैतन्य हू तब इसकी निरर्थकता मे इन्द्रिय-विपय व काम आदि विकार भी कोई अर्थ नही रखते तथा देह-त्याग मे प्राण भय तो सर्वथा ही निर्मूल बात है। यह भी ज्ञान घटित होता है कि देह के साथ मरना समझना तो मात्र भ्रम ही है। जब योगी सूक्ष्म देह से भी अलग होकर अपने को विचार या ज्ञान मात्र ही स्थित करके जान लेता है तो सूक्ष्म देह की आसक्ति भी टूट जाती है। ऐसे योगी मरण से पहले अपनी देह का वियोग देखकर वे अपनी ज्ञान मात्र हस्ती को जान कर, देहातीत व अभय भाव को प्राप्त हो जाता है फिर जव यह देह आयु-कर्म की समाप्ति पर छूटती है तो योगी कर्म भार से हल्का हुआ व देह वासना से विमुक्त हुआ, ससार से उपरत हुआ अपने अक्षय ज्ञान धाम मे चला जाता है।

देह से देहातीत होने की इस प्रक्रिया मे योग के ही विभिन्न अग क्रियाशील होते है—प्राण-योग मे प्राणायाम मुद्रा आदि के साधन से प्राण सयम होकर प्राण सूक्ष्म व उर्ध्व गमनशील होने लगते है क्योकि जीव तत्व उर्ध्वगमनशील गुण वाला है। मत्र-योग मे मन ज्योर्तिमय होकर एकाग्र व एक-चित्त होता है और सहज रूप से प्राणो का स्थिरीकरण होने लगता हे, लय-योग मे चित्त सकल्प विकल्प रूप सूक्ष्म चपलता से विमुक्त होकर सवर को प्राप्त होता है और अपनी परिणतियो मे विशुद्धता को प्राप्त होने लगता है, राज-योग मे मन बुद्धि पर सर्वथा निग्रह व अधिकार प्राप्त होता है और वशीकार मन से अध्यात्म योग के ध्यान-योग का आरम्भ होता है। इस ध्यान-योग मे ही उपासना योग का भी सुमेल होकर ज्ञान का द्वार खुल जाता है। तव अमनस्क राजयोग सधता है और शुक्ल ध्यान की भूमिका होती है। उसमे यथाख्यात् चारित्र का अप्रमत्त रूप से निर्मल आत्मा के ही लक्षण से स्वरुपाचरण होता है और आत्मा ही आत्मा को जानने व रमण करने लगता है। वही आत्मा के स्वभाव मे स्थिरता होती है जिससे कर्म-प्रत्ययो (बन्धनो) का क्षय सर्वथा होकर आत्म-प्रदेश विशुद्ध रूप मे घन ज्ञान रूप हो जाते है। वहाँ फिर न कुछ लेने को (उपादेय) न छोडने को (हेय) कुछ शेप रहता, न अवकाश रहता। वीतरागता व सर्वज्ञता की प्रगाढ अवस्था मे ही आत्मा आत्मा मे मगन हो जाता है। इस आत्मा मे "शुद्ध बुद्ध अविरुद्ध सहज सुसिद्ध सिद्ध सम" रूप ज्ञान व परिणमन होता है।

मृत्यु समय अपेक्षतया शुद्ध आत्माओ को जो एक प्रकाशीय प्राणी का—एक उच्च स्तरीय जीवात्मा के साक्षात्कार का वोध व साक्षात्कार होना कहा जाता है उसे ही विभिन्न धर्म वाले विभिन्न नामो के कहते रहे है। जीवात्मा का उत्तम अश ही उत्क्षिप्त (Project) होकर आत्मा के निर्वल भावात्मक अश को अपनी अहेतुकी कृपा व करुणा से आश्वस्त व प्रकाश भारित कर देता है। वह अपना ही

उत्कृष्ट अन्त तत्व है इसे ही अध्यातम मार्गी गुरु स्वरूप मे पहचानते हैं—शैव उसे शिव स्वरूप मे, वैष्णव उसे विष्णु स्वरूप मे, शाक्त उसे मातृ स्वरूप मे तथा जैन उसे पचपरमेष्ठी रूप परम गुरु रूप मे पहचानते हैं। वही मेरी भावना मे इस प्रकार व्यक्त हुआ है।

जिसने राग द्वेष कामादिक जीते सब जग जान लिया।
सब जीवो को मोक्ष मार्ग का निस्पृह हो उपदेश दिया॥

बुद्धवीर, जिन, हरिहर, ब्रह्मा, या उसको स्वाधीन कहो।
भक्तिभाव से प्रेरित हो यह चित्त उसी में लीन रहो॥ (मेरी भावना–१)

जो शुद्धतम परिणत आत्माएँ हैं, वे इस देह से मुक्त होकर व इसी अन्त स्तत्व को परम स्वरूप से अभिन्न करके अद्वैत भाव मे परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। तब सिवाय आत्मा व आत्मा के ज्ञान के अन्य सब विसदृश व अपरम भाव समाप्त हो जाते हैं, अक्षय पद वही होता है।

जीव के साधारण स्वरूप व जीव के शुद्ध स्वरूप ने भिन्नता ज्ञान की व ज्ञान की शुद्धता की ही है और यह ज्ञान आवृत्त रहता है देह की वासना से ही। इसे ही अविद्या, अज्ञान, मिथ्या ज्ञान आदि कहा गया है। मेघ पटलो के समान कर्म-प्रत्यय जीव—सूर्य को आवृत्त कर देता है और उसकी ज्ञान-किरणें व्यक्त व प्रकाशमान नही हो पाती। देह का राग ही नाना प्रकार के सासारिक सम्बन्धो, आशाओ, वासनाओ, इच्छाओ व मोह के राज्य विस्तार को प्रकट करता रहता है और जीव इन्ही मे फँसा रहने से कभी अपने को उन्मुक्त व शुद्ध ज्ञान ज्योतिर्मय अनुभूत नही कर पाता। इन विभाव बन्धनो से ही कर्म-बन्धन भी बन्धते है और विद्यमान रहते हैं। जब पिण्ड देह से प्राण उर्ध्व होकर ब्रह्माण्डीय देहगत हो जाता है तब मोह व राग का स्थूल रूप कट जाता है मगर मोह, लोभादि अस्मिता के सज्वलन, सात्विक झीने भाव वर्तमान रहते हैं। ये भाव-प्राणो के ब्रह्मरन्ध्रगत होने पर व ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर ब्रह्माण्डातिवर्ती होने पर सर्वथा क्षीण होते हैं और वीतरागता का विज्ञान उदित हो जाता है। तब ही आत्मा अपना सिद्ध सम ध्यान कर पाता है। यहा ही अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग बनता है। अनन्त अनादि विश्व का सम्मोहन समाप्त होकर ही अभीक्ष्ण आत्म ज्ञानोपयोग की दिशा मिलती है—जो जीवात्मा को अक्षय सुखमय निज धाम, निज स्वरूप मे प्रतिष्ठित कर देती हे।

आत्मा को अमर एवं निर्मल विराट्ता

ज्ञान और चैतन्य पर्यायवाची ही है, मात्र जीवित रहना पूर्ण चैतन्य नही है, न ज्ञान रूप ही है। चैतन्य की अमर निर्मलता की पराकाष्ठा होना ही सच्चा आत्म स्वरूप है। चैतन्य की परिपूर्ण निर्मलता हो जाना विशेष अवस्था है और ये ही आत्म-साक्षात्कार है। साक्षात्कार शब्द किसी अन्य वस्तु के परिचय को कहते है—आत्मा अपने से ही अपरिचित है अत॰ उसको स्वय अपना परिचय होना ही साक्षात्कार रूप कहा गया हे। आप आप ही मे है, मगर स्व-परिचय की विशेष पर्याय उदित न होने

से, स्वय मे भाव रूप वास नही है, पर-क्षेत्र मे ही भाव रूप वास हो रहा है। पर क्षेत्र मे—एव परभाव मे इसका एकत्व ही मिथ्यात्व अवस्था है।

पास रह्यो दीख्यो नही, कौन दियो उपदेश।
प्यारे याही देह मे तू भलो रह्यो परदेश॥

नाना रूपो व अभिनयो (स्वागो) को धारण करता यह जीव परदेश की सी अवस्था मे ही है। स्व-धाम की विशेष अवस्था मे कभी यह आया ही नही। परन्तु पर-क्षेत्र मे यह पर-रूप हो भी कैसे सकता है ? पर पर है, अचेतन है, और जो स्व चेतन है उसका सर्वस्व चेतन मात्र है, ज्ञान मात्र है। अत "पर" और "स्व" के मध्य मे झोले ही खाता रहता है। दुविधा और सघर्ष को ही भोगता रहता है। इसीलिये जो कम जड है वे उनसे जो कम चैतन्य है शीघ्र शुद्धि को प्राप्त होते है। चैतन्यवृत्ति ही ध्यान का लक्षण है—और चैतन्यवृत्ति का रहना ही ज्ञान है। वस्तुत' जैन विज्ञान मे ध्यान और ज्ञान एकार्थक है।

कहा गया है—

जड और चैतन्य रूप द्विधात्मक—अनेकता को तोड कर मैने अपने एकत्व मात्र-चैतन्य रूप एकत्व (निर्मलता) को जब अपनाया, तब परिणाम यह हुआ कि मेरा मौलिक शुद्धरूप परम सहज स्वरूप मे हो गया, और मेरा अल्प "मै" ही अब वह (परम स्वरूप) हो गया। अब मेरी कम जड रूप या कम चैतन्य रूप मे पर्याय का और पूर्ण चैतन्य रूप मेरे परम-स्वरूप का गुण भेद-समाप्त हो गया। दूई का परदा उठ गया। शक्ति रूप परम स्वरूप और व्यक्ति रूप पर्याय—एक रूप हो गये, एक वर्ण हो गये, शुद्ध अद्वैत एक रूप हो गये।

वह और मै—वह जो त्रैकालिक परम स्वरूप और "मै" जो तात्कालिक पर्याय—ऐसे अन्त-र्बाह्य स्वरूप, नित्य व क्षणिक स्वरूप जब तक भिन्न-भिन्न वर्ण है तब तक ही विषमता है। पर जब दोनो एक ही नित्य व निर्मल वर्ण हो तो फिर समता (साम्य) ही है। व्यक्ति मे शक्ति का अनुभव नही है। इस अनुभव के हो जाने से ही कि "वह" मेरा निज परम स्वरूप और "मै" वर्तमान अभिव्यक्त रूप—एक (आत्मा) है—दो नही है तथा "मै" मे जब परम रूप ही निर्मलता है, तथा ही—गुण प्रकाश है तो दूई का परदा या भ्रम खत्म हो जाता है। वस्तुत द्रव्य-अपेक्षा, शक्ति रूप परम स्वरूप शुद्धतम ही है—उसमे पर रूप "गैर' तत्व शरीक नही है—बिना शिरकत गैर होने से मिलावट रहित है वह पवित्र-तम केवल और निर्मल है। शक्ति-प्रचार (व्यक्ति) अपेक्षा भी उस परम रूप हो जाना ही अद्वैत स्वरूप है।

यह सत्य है कि इस लोक मे दो ही विद्याए जानने योग्य हैं,—एक शब्द विद्या (ब्रह्म) और दूसरी निःशब्द, निरक्षरी परम-ब्रह्म। शब्द ब्रह्म ही परम-ब्रह्म को जानने का मार्ग है। दूई का परदा तब

उठता है जब शब्द के माध्यम से अह रूप चित्त-पर्याय निर्मल होकर चिद् मात्र रह जाती है इसे ही चित्त का लय होना, समर्पित होना अथवा सीमित विकारी अस्मिता पर्याय—विकारी पर्याय का अपने अनन्त चिद् स्वरूप मे ही अर्पित होना या तद्रूप होना कहा जाता है।

अह विकारी पर्याय "सोऽह" भाव परिणत होकर ही चिद्स्वभावी होता है। चित्त के दीन हीन तथा मकुलित, अल्प तथा त्रस्त भाव अक्षर स्वरूप के परिचय से ही पूर्णोंऽ,—शुद्धोह, सिद्धोह, भाव रूप होते है। अक्षर स्वरूप का वह परिचय अक्षर सकल जिन पुरुप का साक्षात्कार है। तब शुद्धोह सिद्धोह भाव को लेकर ज्ञान-पर्याय के तद् अनुरूप परिणत होने पर चित्त स्वय भी अक्षर स्वरूप से निरक्षर परम पद मे—निमग्न हो जाता है। तब वह चित्त न रह कर ज्ञान गुण स्वरूप मे—महा चिति स्वरूप परम स्वरूप निज आत्मा मे ही निमग्न हो जाता है। यह आत्म स्वरूप विश्व के तमाम तत्त्वो से उत्तीर्ण और विलक्षण है।

अक्षर जब तक है तब तक ही विश्व के तत्त्व हैं, अक्षर स्वय विश्व तत्त्व सहित हे और विश्व मे ही है। परन्तु अक्षर द्वारा ही शुद्ध पुरुपाकार निज स्वरूप का द्वैत रुप मे सकल जिन पुरुपाकार रुप मे अन्तर्दर्शन होता है, वही सम्यग्दर्शन है।

इसके अनन्तर ही कभी आत्म स्वभाव धारा का ग्रहण होकर निरक्षर परम आत्म निज स्व-रूप मे उल्लसित हो सकते हैं। सकल स्वरूप सगुण स्वरूप है, चित्त सापेक्ष है,— स्वय चित्त द्वारा अपना ही ध्येयानुसार दर्शन है और वह ध्येय सर्वज्ञ वीतरागी परम ज्ञायक जिन है और वही आत्मा का निर्मल सकल स्वरूप रूप है।

परम स्वरूप तो अव्यक्त निष्कल पुरुषाकार है। यही अक्षर वाक् के द्वारा अन्तरात्मा से आराधित होने से सूक्ष्म चिन्मय पुरुपाकार स्वरूप—सदेह सकल रूप मे अवलोकित हो जाता है। साधना की इस विशलेषणात्मक तन्मय सत्य–स्थिति को ही भेद-विज्ञान कहा जाता है। इस सूक्ष्म विवेचना को स्थिति-पालक जन शब्द के अर्थ (प्रकाश) को न पाकर उसके वाच्य के भाव अर्थात् ज्ञान को भी नही पाते।

शब्द भौतिक तत्व होने से उसमे पच भौतिक तत्त्व व उनके पाँच (मण्डल) शून्य अन्तरीक्ष भी उसमे गर्भित है— तथा मन और बुद्धि (ज्ञान गुण की पर्याय) को भी वह अपने साथ अन्तराकाशो मे ले जाकर उन मन बुद्धि को उनके विश्राम स्थल रूप राग शून्य अन्तराकाशो मे उत्तीर्ण कर देता हे। ऐसे सात शून्य अन्तरीक्षो या आकाश-मण्डलो का साक्षात्कार तथा फिर वेध ही अक्षर करा देता है।

वह अक्षर,—सातत्य विचार (Sustained Thought) रूप होता है,— इसे ही मन्त्र (मननात् मन्त्र) कहा गया है। सप्त आकाश मण्डलो के वेध पर ऐसा लगता है कि मानो सारा विराट् आसमान ही साधक मे आ कर समा गया हो। तब उस परम आसमान–अन्तरीक्ष मे निज सकल स्वरूप अर्हत्परमे-

श्वर का ही साक्षात्कार अतीन्द्रिय आनन्द और भव्यता को लिए प्रकट होता है। वह अन्तरीक्ष-स्थ प्रभु आप है, साधक स्वय ही है।

अब वह साधक नही, सिद्ध है। इस सिद्ध साधक के ज्ञान की विराट्ता की क्या कोई सीमा या मर्यादा है ? यह ही परम स्वरूप के आविर्भाव का द्वार भी होता है। ऐसे सप्त आकाशो के ऊपर अपने साकार पुरुषाकार स्वरूप दर्शन के अनन्तर ही साधक स्व निर्मल परम स्वरूप, जो सर्व अन्य तत्त्वो से निर्मल—यानी बिला शिरकत "ग़ैर" है अर्थात् कर्म-कालिमा व पर-द्रव्य व पर-भाव श्लेष से मुक्त तथा परम निर्मल है, सर्व ज्ञान गुण युक्त सर्वज्ञ परमेश्वर परिणत होकर सिद्ध शुद्ध हो जाता है।

मुझ मे समा जा इस तरह, तज प्राण का जो तौर है।
जिसमे न कोई कह सके, मै और हूँ, तू और है ॥

अन्तर–अक्षर पुरुष से जब दूई मिट जाती है, अभिन्न भाव हो जाता है—तो यही एकत्व है, अपनी अखण्ड स्वरूप प्राप्ति है, स्व चैतन्यता की निर्मलता एव भाव-परिष्करण है ।

साधना की दो विधाएं और उनकी परस्पर पूरकता

स्वरूप प्राप्ति का महान् आश्चर्यकारी विराट् दर्शन स्वरूप का मार्ग एक ही है–और वह सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप है। इस एक निर्मल मार्ग मे परस्पर पूरक दो विधाए चलती है । भगवान् आत्मा इस देह मे—भव्य देहो मे अवगाहित होकर भी—इनसे शून्य व अपने ही अन्तरीक्ष मे विराजमान नित्य व शाश्वत् निर्मल अनन्त और विराट् है । उसका निर्मल ज्ञान समस्त देह विश्व व लोक विश्व को भी अपनी अनतता से पूरित व व्याप्त कर लेने वाला है । वह प्रभु देह के अत विश्व के भी सात आसमानो से ऊपर होकर भी मस्तिष्क रूप ब्रह्माण्ड मे देह यत्र का सचालक होकर विराजमान है । इस प्रभु की रूचि और श्रद्धा तथा ज्ञान ही सर्वोत्कृष्ट तत्व है ।

इस प्रभु के निकट ही साधक को अपनी तात्कालिक पर्याय को लेकर उपस्थित होना है । अब या तो वह निर्मल आत्म प्रभु स्वय ही सातो आसमान लोको के वेध व भेद सहित करुणा पूर्वक स्वय पर्याय मे उतर आए—अथवा साधक पर्याय ही क्रम-क्रम उद्योग करके सात आसमानो का वेध करती-करती उसके निकट हो जाए और अपने को वही इस परम स्वरूप मे विलीन व समर्पण कर दे । दो क्रम-मार्ग है ।

वस्तुत मार्ग तो रत्नत्रय ही है । अवरोह व आरोह को मार्ग न कहकर साधन क्रम ही कहना अधिक युक्त है । अवरोह क्रम मे भी दो विधि हुई है—एक तो उपासना योग विधि—तथा दूसरी है—श्रद्धा गुण सहित मात्र आत्म-ज्ञानकी धारणा की स्थिरता । आरोह क्रम मे भी दो विधि है । ये दो प्रकार प्राण व मन को लेकर है । यानी प्राण के अथवा मनके प्रत्याहारऔर धारणा अभ्यास ऐसे दो प्रकार है । प्राण के प्रत्याहार व सयम होते है—प्राणायाम और मुद्रा आदि अभ्यासो से, तो मन के प्रत्याहार होते है—शब्द ब्रह्म—या पदस्थ ध्यान के अवलम्बन से । दोनो ही विधियो मे चक्रोन्मीलन भी हो जाते है।

शब्द ब्रह्म का साधन सरल और आसान है—वस्तुत. योगी साधक जल्दी सफलता के लिये प्राण और मन—यानी प्राणायाम और शब्द-ब्रह्म दोनो का ही समन्वय करके चलते है । प्राणायाम आदि के खाली साधन शून्य व जड समाधि की ओर ले जायेंगे और शब्द ब्रह्म के ज्योति की तरफ। अत प्राणायाम आदि के साथ ही, शब्द ब्रह्म के यानी मन्त्र व मूर्ति के साधन लेने चाहिए ।

उपासना के अवरोह क्रम मे सकल पुरुषाकार जिन स्वरूप की उपासना होती है । उस अन्त-

रीक्षस्थ निर्मल प्रभु को ही नीचे हृदय मे अवतीर्ण करके उपासना निष्पन्न की जाती है और उस उपासना मे ही फिर प्रत्यक्ष ज्ञानावस्थिति की जाती है। यह परम ब्रह्म का साधन है। इस उपासना मे फिर शब्द ब्रह्म का आश्रय नही होता—पर एक बात ध्यान मे रखनी चाहिए—कि यदि कोई साधक सीधे ही देवेश जिन पुरुषाकार स्वरूप को हृदय मे उल्लसित नही कर सकता तो उसे प्रथम कुछ काल तक प्राणायाम व शब्द-ब्रह्म का भी साधन कर लेना चाहिए।

आरोह क्रम हो या अवरोह क्रम हो—दोनो मे सातो आसमानो से ऊपर अन्तरिक्षस्थ आत्म-प्रभु जिनेश्वर अर्हन्त व तीर्थंकर हिरण्यगर्भ आदिश्वर को हृदय मे उल्लसित करना ही होता है। तब ही साधक स्व-तल्लीन व मगन होता है। वह देवेश अवतीर्ण हो या पर्याय उसके निकट आरोह कर उत्तीर्ण हो कैसे भी हो—स्व तात्कालिक ज्ञान पर्याय को परम स्वरूप के ही सम्पूर्ण श्रद्धा—गुण सहित समर्पित होना होता है। तब ही इस जीव पर्याय का द्विधापन मिटता है।

समयसार आदि ग्रन्थ उपर्युक्त विधियो मे से उपासना की दूसरी विधि को प्रधानता करते है। वे श्रद्धा गुण को लेकर निर्मल सिद्ध सम आत्मा मे एकाग्रता को उत्कृष्टता प्रदान करते है। आचार्य श्री पूज्यपाद ने व आ० श्री शुभचन्द्र ने अन्तर्मुख परिणत होकर अन्तरात्मा द्वारा परम-आत्मा की उपासना रूप प्रथम विधि को भी सम्मत किया है। अत वहा सकल पुरुषाकार स्वरूप उक्त प्रथम उपासना विधि मे सर्व प्रथम उपास्य है, तदनन्तर सिद्ध सम निष्कल पुरुषाकार आत्म स्वरूप। यद्यपि आ० कुदकुद ने भी पुरुषाकार स्वरूप ध्यान को विहित किया है। साधना दो क्रमो मे होने से सरल व सहज हो जाती है। आ० श्री कुदकुद व अमृतचन्द्र आदि इस क्रम-भेद को स्वीकार करके भी अक्रम पदातीत स्वरूप मे एकाग्रता को विशेष कहते है और आत्म-पुरुषार्थ रूप निश्चय परम ध्यान की प्रेरणा करते है।

वस्तुत साधक जनो की स्वय की सामर्थ्य एव चित्त-भूमिका पर ही यह निर्भर करता है कि वे किस क्रम व ध्यान को ग्रहण करे। यदि साधक जन पूर्व मे कभी योग अभ्यास (व्यवहार) साधनो से चित्त भूमिकाओ का सक्रमण कर निर्मल हो चुके हैं और अब निर्मल आत्म स्वरूप के ही अन्तरीक्ष मे निरालम्ब अनन्त-अनन्त ज्ञान प्रदेशो मे—बिना विश्राम किए विहार करने की सामर्थ्य रखते है तो निश्चय ही उनके लिये क्रमिक अभ्यास साधनो का कोई उपयोग नही है। पर सब ही व्यक्ति इस लोक मे ऐसे हो—यह सम्भव नही है। अत ही कृपालु अर्हत्पुरुषो द्वारा ज्ञान एव श्रद्धा की सीधी धारणा के अतिरिक्त भी उपासना व योग के अन्य-अन्य साधनो का भी विस्तार से वर्णन किया गया है।

आ० शुभचन्द्र ने ध्यान के सभेद वर्णन से पूर्व-अनन्य परम साधना को भी कहा—पर अन्त मे सभेद ध्यानो के ही वर्णन किये है—क्योकि अनन्य आत्म-साधना की योग्यता कम लोगो मे ही जागृत पाई जाती है। स्वर्ण को अग्नि आदि सस्कारो से शुद्ध करने के उपरात ही—शुद्ध देखा जाता है और तब ही वह शुद्ध रहता भी है। ऐसे ही ध्यानादि व्यवहार अभ्यासो से चित्त शुद्ध होकर परम स्वरूप का ज्ञान

होता है और उस ज्ञान के होने के उपरात फिर एक मात्र परम स्वरूप ही उपादेय रहता है। इसके पूर्व नही।

भगवान वृषभेश्वर के इस रत्नत्रय-मार्ग मे अत ध्यानादि व्यवहार रूप आरोह व जिन उपासना के अवरोह क्रम है, तथा निश्चय स्व-उपासना का आरोह-अवरोह क्रम भी हे। उपासना का क्षेत्र व्यवहार व निश्चय दोनो साधनो मे है, व्यवहार सभेद व क्रम-क्रमसाधना रुप है, निश्चय अभेद व अक्रम साधन है—अथवा स्वय ही साधन स्वरूप है। उपासना योग ऐसे अभेद निश्चय साधन मे भी स्वीकृत है। इस अभेद मे साधक पर्याय सकल पुरुपाकार स्वरूप के निकट नही होती—सीधे ही निष्कल सिद्ध सम निर्मल पुरुपाकार आत्मा के निकट होती है। ऐसे इन दो विधियो का तारतम्य समझ कर योग का अभ्यास साधक जनो को करणीय हे।

वस्तुत इन विधि-क्रमो का आपस मे कोई विरोध नही है। इन विधाओ मे लक्ष्य एक ही है। सब ही सम्यक्त्व व तत्व रूचि व आतम-रूचि को लेकर चलती है—यानी चलनी चाहिए। भेद तो मात्र अपने उपयोग के लग सकने का ही है। ससारी प्राणी का सामान्यत उपयोग भ्रष्ट एव अशुद्ध रहता है, उसे अशुभ से छुडाना होगा—बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता करनी होगी। अत सभेद मार्ग मे इसे प्रथम शुभ मे लगाकर शुद्ध की तरफ ले जाते है, तथा उपयोग निरालम्ब न रह सकने के कारण विविध अवलम्बनो द्वारा उसे स्थिर व निर्मल करना सिखा देते है। सभेद साधन विधि क्रम मे अन्तर-अभिव्यक्तिया क्रम से स्पष्ट होती जाती है और साधक को अपने आध्यात्मिक उत्कर्ष का निरीक्षण एव जाच रहती है।

मगर अभेद मे क्रमगत लक्ष्य कुछ होता नही, और क्रम अभिव्यक्तिया आती भी है, तो साधक को उन सब की कोई परवाह भी नही होती, उसे एक मात्र एक ही धुन अपने परम स्वरूप मे निमग्न रहने की होती है। हा यह स्मरणीय है कि इस अभेद साधना मे भी साधक को यह सावधानी रखनी होगी कि कही वह ज्ञान-स्मृति से च्युत होकर निश्चेष्ट मात्र न रह जाये—निधर्मात्मक (वेदाती) स्वरूप मे ही न चला जाए। इसी की निवृत्ति के हेतु ही पुरुषाकार आत्म स्वरूप की अवधारणा को भी ज्ञान अवधारणा के साथ लेकर चलना चाहिए—श्रद्धा गुण तब ही सक्रिय होकर परम स्वरूप मे ले जा सकेगा।

अत इन साधनाओ मे मद उपयोग व तीव्र उपयोग की ही भिन्नता हे। उपयोग मे सालम्ब व निरालम्ब रूप भिन्नता रहने से ही इन साधन-भेदो का वर्णन है। किसी भी क्रम से चलो—प्राप्तव्य निज निर्मल विराट् ज्ञान आत्मा ही हे।

यह वचन सत्य ही है कि प्रथम अरुणोदय होकर ही मध्यान्ह का प्रखर सूर्य उदित होता है। अत व्यवहार एव परिणमन का मार्ग भी सर्वज्ञ आम्नाय मे सुस्थिर व सुव्यवस्थित रूप से कहा गया है।

अपरिणामी तत्त्व उपादेय है—उस उपादेय तत्त्व की प्राप्ति व्यवहार को उत्तीर्ण करके निश्चय पर आने से होती है। व्यवहार के मार्ग की उत्तीर्ण आप कैसे करते है–यह आपकी ही योग्यता का प्रश्न है—जिसे आप स्वय हल नही कर सकते, उसे गुरुपदेश पर ही छोडना होगा।

यह दुर्भाग्य पूर्ण है कि वर्तमान मे निश्चय व व्यवहार को लेकर विग्रह का वातावरण बन रहा है या बनाया जा रहा है। यह सम्भवत इसी लिए है कि दोनो विधियो के ज्ञाता गुरु जन कम रह गये है और तत्व चर्चा में ही समस्त योग मार्गो की परिसमाप्ति कर दी है। तत्त्व चर्चा से बौद्धिक विकास सम्भव है पर आध्यात्मिक विकास (Spırıttal Enfoldment) एव तत् स्वरूप परिणमन तो आगे की ही बात है।

आत्म-एकाग्रता के लिये तत्व चर्चा के उपरात अन्य-अन्य साधन ग्राह्य होने चाहिए। वरना क्या आश्चर्य कि यह सर्वज्ञ मार्ग भी वेदात मार्ग की तरह वाचिक व शुष्क ज्ञानवादी मात्र रह जाएगा। अतः साधक जन इस समग्र योग मार्ग,—निर्वाण एव अक्षय आनन्द के पथ के ही पथिक बने। शक्ति आत्मा को व्यक्ति आत्मा मे क्रमश परिणमन होने देकर शुद्ध मात्र वस्तु की ही प्रसिद्धि को प्राप्त करे।

प्रवचन सार-गाथा २५४ की टीका मे श्री अमृतचन्द्र सूरि ने स्वय यह प्रकट किया है कि गृहस्थ प्रशस्त भूत चारित्र से ही परम सौख्य-मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

एसा पसत्थ भूदा समणाण, वा पुणो घरत्थाण।
चरिया परेत्ति भणिदा ता एव परं लहदि सोक्ख ॥—(प्रव० गा० २५४)

श्री अमृतचन्द्रसूरि स्पष्ट करते है–"गृहस्थो के तो सर्व विरति के भाव से शुद्धात्मप्रकाशन का अभाव होने मे कषाय के सद्भाव के कारण प्रवर्तमान होता हुआ भी मुख्य है,—क्योकि जैसे ईधन को स्फटिक के सम्पर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है (और इसलिए वह क्रमश जल उठता है) उसी प्रकार गृहस्थ को—वह शुभोपयोग उस अनुभव के क्रम से परम सौख्य-निर्वाण का कारण होता है।" (संस्कृत टीका का भावार्थ)

इससे यह स्पष्ट होता है कि गृहस्थ के अशुभ से (विशेप अशुद्ध परिणति से) छूटने के लिए प्रवर्तमान जो शुभोपयोग का पुरुषार्थ होता है,—वह भी यथार्थ मे तो शुद्ध का ही मन्द पुरुषार्थ है,—क्योकि शुद्धात्मद्रव्य के मन्द अवलम्बन से अशुभ बदल कर शुभ परिणति होती है और शुद्धात्म द्रव्य के उग्र आलम्बन से शुभ परिणति भी बदल कर शुद्ध परिणति हो जाती है। ऐसे अनुक्रम से तो व्यवहार व निश्चय का विवाद ही निरर्थक है। साधक को इस सम्बन्ध मे इतनी ही रुचि हो सकती है कि वह चर्या या चारित्र को मन्द या उग्र किस अनुक्रम से ग्रहण करे। आलम्बन का भी ग्रहण इस अभिप्राय व प्रयोजन से ही है कि साधक बच्चे के घुडले प्रयोग के समान—उस प्रयोग से स्थिरता रूप सामर्थ्य को प्राप्त

करके उस आलम्बन का भी परित्याग कर दे। जीवो का अभ्यास जब स्थिर होकर गहनतर व उन्नत्तर होता है तो शुभोपयोगी धर्म ध्यान शुद्धोपयोगी शुक्ल ध्यान मे उत्कर्ष कर जाता है।

अध्यावसाय निर्मलता से निर्मल ज्ञान स्वरूप और आनन्द

मानव की समस्त चेतना-प्रवृत्ति की इति अशुभ, शुभ और शुद्ध अध्यावसाय रूप रहती है। जब तक मानव अपने को पूर्ण ज्ञान स्वरूप परिणमन नही कर लेता उसके अध्यावसाय भी परिपूर्ण शुद्ध नही होते। अथवा विलोम रूप से यह भी है कि जब तक मानव अपने अध्यवसाय, अर्थात् अपने भाव-स्पदनाओ को परिपूर्ण शुद्ध, यानी राग द्वेष मोह कषाय हास्य रति प्रमाद से निर्मल नही कर लेता, उसका परिपूर्ण ज्ञान रूप परिणमन भी नही होता। जितनी जितनी अध्यवसायो मे निर्मलता होती जाती है यानी वीतरागता होती जाती है, उसका शुद्ध निर्मल ज्ञान स्वरूप भी उतना उतना ही प्रकट होता जाता है और आनन्द गुण भी उतना उतना ही झलकता है।

ज्ञानी और अज्ञानी के स्वरूप और भूमिकाएँ

मानव की देह अनात्म तत्वो से रचित है और यह उसके लिये बन्धन भी है। मगर यह भी महान् सत्य है कि देह मे रहते ही मानव को सब बन्धन से मुक्ति का भी रहस्य हस्तगत होता है। जागतिक ससार मे मानव जैसे भौतिक विज्ञान के रहस्यो को अपने बौद्धिक पुरुषार्थ से उपलब्ध करता है—वैसे ही अध्यात्म के भी रहस्य मानव को अपने ही ज्ञान पुरुषार्थ से प्राप्त हो सकते है। प्रकृति का विषय और छद्मस्थ जीव का "मैं" परस्पर उपकृत होते है और इस अर्थ मे परस्पर पूरक हैं। प्रकृति इस "मै" द्वारा प्रयोजन शील अर्थ तथा क्रिया शील सार्थकता पाती है—वरना इस "मै" तत्त्व के अभाव मे वह अर्थहीन है। "मै" के प्रति प्रकृति का उपकार है कि एक स्वचालित अनन्त कोषी पचेन्द्रिय समनस्क विकसित देह-वाहन तथा अनन्त विस्तीर्ण क्षेत्र तथा अवसर इसने इस "मैं" को दिये है—जिनके द्वारा "मै" अपने जड हुए चेतन ज्ञान को गतिशील करके विकसित करता है और इस प्रकार गतिशील ज्ञान मे ही कभी ऐसा भी विकास का क्षण प्राप्त होता है जब वह अपने ज्ञान और अत अपने स्वभाव को भी प्रत्यक्ष पहचान लेता है और दृश्य एव ज्ञेय प्रकृति से, उसके सम्मोहन से सक्रमण करके अपने ही विराट् ज्ञान-केन्द्र मे केन्द्रस्थ हो जाता है।

वस्तुत यह ससार और "मैं" अज्ञानी के लिए बन्धनकारी और ज्ञान-साधक,—निर्मोही साधक जीवात्मा के लिये सहायक और मित्र है। मगर निश्चयभासी लोग मानव की देह तथा ससार तत्त्वो को वेदांत ज्ञानियो की तरह असद्भूत कह कर जीव को यह उपदेश देने लगते है कि तू तो मात्र शुद्ध ही है—और तुझे सिवा ज्ञान के कुछ नही करना है। पर वे भूल जाते है कि अज्ञान अवस्था मे जीव का ज्ञान भी अज्ञान रूप ही परिणमता है और ज्ञान का पूर्ण स्वरूप तो जिनेश्वर रूप आत्मा ही है। जब तक जीव अज्ञान मे से निकल कर ज्ञान परिणत नही होता—उसे अपनी वास्तविक दशा-तात्का-

लिक दशा को जानकर इसे पूर्ण शुद्ध आत्मा जिनेश्वर आत्म-प्रभु के लक्ष से ध्यान साधना से बराबर निर्मल करते रहना ही होगा।

आ० श्री कुदकुद ने न केवल निश्चय स्वरूप की ही प्रभावना की है उन्होने समयसार मे निश्चय के साथ ही व्यवहार की भी उतनी ही सर्वोच्चता और महत्ता प्रकट की है। व्यवहार रूप अभ्यासो की अर्थात् योगानुष्ठान, योग साधना की इस महत्ता को उन्होने जिस प्रकार प्रकट किया है इसे ही हम आगे प्रकट कर रहे है। पर निश्चयाभासी जन उनके इस पक्ष को आच्छादित कर देते है। शुभोपयोगी ध्यान को भी वस्तुत न कर सकने वाले तथा मात्र वाचिक तत्त्व चर्चा करने वाले इस रहस्य को नही प्राप्त हो सकते है कि शुभोपयोगी धर्म ध्यान रूप व्यवहार ही गहनतम ध्यान अवस्था मे उत्कर्ष हो जाने पर स्वय ही निश्चल ध्यान रूप हो जाता है।

वस्तुत ध्यान अन्तर उपयोग की एक गति है,—जो आरम्भ मे एक अवलम्बन लेकर उसके आश्रय अन्तर मे स्तर भेद करती चली जाती है। वह प्रथम अशुभ और प्रशस्त के घनतम पौद्गलिक कार्माण स्तरो को ही भेदता हे और इसी क्रिया मे आत्मिक भावो को पूर्वापेक्षा निर्मलता भी करता जाता है। तत्त्व चर्चा और ध्यान रूपतत्त्व-चर्या मे भूमिका-भेद गहनतम है। तत्त्व चर्चा बौद्धिक व्यायाम मात्र ही साधारणतः तथा अधिकत होता है।

आ० श्री कुदकुद ने अक्रम अद्वय शुद्धतम आत्मा का कथन किया है और इसे ही एक मात्र आत्मा की श्रद्धा का विषय कहा है। तथा उन्होने इसे ही ज्ञान भी कहा और चारित्र भी कहा है—ये तो हुई उनकी कथन शैली। इस शैली मे उनका जोर आत्म निर्णय पर ही विशेप है—अर्थात् साधारण जन जो आत्म-निर्णय भी नही करते—अपनी आत्मा की प्रकृति से भी अपरिचित है और तत्काल मिथ्यादृष्टि है, उन्हे ही सर्व प्रथम उद्बोधितकरके सम्यग्दृष्टि बनने की प्रेरणा की हे। बुद्धि मे आत्मा की सही-सही जानकारी न होना ही इस ससारी छद्मस्थ जीव का जागृत अवस्था मे भी अज्ञानी रहना ही है। अन्य स्वप्न तथा सुषुप्ति आदि अवस्थाओ मे तो वह अज्ञानी रहे ही रहेगा। ऐसे अज्ञानी पुरुष का चित्र उन्होने समयसार मे दिया हे-—

अज्ञानी और ज्ञानी के लौह तथा स्वर्ण रूपक से चित्रण

अण्णाणी पुण रत्तो, सब दव्वेसु कम्म मज्झ गदो।
लिप्पदि कम्म रएण दु कदम मज्झे जहा लोह ।। समयसार २३० ।।

अज्ञानी पुन रक्तः सर्व द्रव्येण कर्म मध्यगत ।
लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दम मध्ये यथा लोह ।।

अज्ञानी पुरुष सब ही—चेतन तथा अचेतन पदार्थो मे अनुरक्त होकर कर्मावरण मे फसता है तथा कीचड मे जैसे लोहा मलीन हो जाता है वैसे ही वह कर्म कीचड से मलीन होता है।

इस गाथा से पूर्व आ० श्री कुंदकुंद ने ज्ञानी का चित्र भी दिया है—

णाणी रागप्प जहो सव्व दव्वेसु कम्ममज्भगदो
णो लिप्पदि कम्मरएण दु कद्दम मज्झे जहा कणयं ॥

ज्ञानी राग प्रहायः सर्व द्रव्येषु कर्म मध्यगत ।
नो लिप्यते कर्मरजसा तु कर्दम मध्ये यथा कनक ॥

सर्व पदार्थों में राग का प्रकृष्ट रूप से त्याग कर चुकने वाला ज्ञानी कर्म-मध्यगत रह कर भी, अर्थात् कर्मोदय मध्य रहता हुआ भी कर्म-कीचड़ से वैसे ही मलीन नही होता जैसे स्वर्ण कीचड़ में रह कर भी मलीन नही होता।

इन दो गाथाओं में आ० श्री कुंदकुंद ने ज्ञानी जीवात्मा को स्वर्ण तुल्य तथा अज्ञानी जीवात्मा को लोह तुल्य बताया है। स्वर्ण और लोह का धातु भेद संसार प्रसिद्ध है। जीव तेरहवें गुण स्थान से पूर्व छद्मस्थ रहता है और तेरहवें गुण स्थान में आकर ही वह ज्ञानी परिणमित होता है। तेरहवें गुण स्थान को प्राप्त जीव साधक नही सिद्ध हो जाता है तथा वह सयोग जिनेश्वर प्रभु होता है।

अर्थात् सयोगी जिनेश्वर प्रभु रूप परिणत जीवात्मा ही शुद्ध सौ टंच स्वर्ण है जो समस्त पर-द्रव्य राग से विवर्जित हो चुका है और परिपूर्ण शुद्धता को प्राप्त है। उस जीवात्मा को अब क्या करना है? इसने तो अपना सब प्राप्त कर लिया, यह अब आप्त काम है—निवृत्त काम है। इसने अपने आत्म कार्य को निष्पन्न कर लिया क्योंकि यह सोलह ताव भट्टी में से निकाल कर सर्व कर्म-कालिका से विमुक्त शुद्ध स्वर्ण तुल्य है। यह तो अपने शुद्ध ज्ञान में शुद्धात्म भावना तथा ध्यान में अर्थात् स्व स्वरूप में ही प्रतिष्ठित रहेगा तथा यदि वह धर्म देशना आदि धर्म कार्य भी करे तो वह राग-विवर्जित होने से पुन कर्म-लिप्त भी न होगा।

विचारणीय है कि जो पुरुष अभी मलीन लोह रूप है, धातु-भेद होकर स्वर्ण रूप रूपातरित नही हुआ है उसके लिए क्या करणीय है,—यह बहुत स्पष्ट हो जाता है। प्रकट ही है कि उस साधक को सम्यक्त्व की निचली दशा के अनन्तर अपने को स्वर्ण रूप रूपातरित करने वाली व्यवहार क्रियाओं, साधन-अभ्यासो को ग्रहण करने के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है। उसे शास्त्र सुनने या चर्चा के बाद मिथ्यात्व को छोडकर उच्च दशा में आना चाहिये। यदि वह शाश्वत् सुख की वाच्छा रखता है, तो उसे ध्यान तथा तपश्चरण के अग्नि-तावो में से निकलना ही होगा। तब ही उसकी लौह-आत्मा स्वर्ण आत्मा बन सकेगी। आ० कुंदकुंद ने इस बात को बहुत स्पष्ट कर दिया है।

आ० कुंदकुंद ने व्यवहार के योग साधनो को हेय नही कहा है। योग तत्त्व की अष्ट पाहुड में भी आ० कुंदकुंद ने बहुत चर्चा की है। योगाभ्यास आ० कुंदकुंद की दृष्टि में उच्च स्थान रखता है।

उन्होने निश्चय और व्यवहार मे सतुलन रखा है—मात्र निश्चय का कथन नही किया है। उन्होने उक्त २३०वी गाथा के बाद ही अन्य मुसलसिल गाथाओ मे लौह से स्वर्ण रूपातरित होने रूप व्यवहार क्रिया का उपदेश ही नही, स्पष्ट प्रेरणा व्यक्त की है।

आ० कुदकुद ने समयसार को तो अद्वैत तत्त्व की श्रद्धा का अग्र रखकर प्रणयन किया है—प्रवचनसार मे ज्ञान को अग्र रख कर, तो नियमसार मे चारित्र रूप व्यवहार को अग्र रख कर। पर फिर भी समयसार मे उन्होने व्यवहार पक्ष का स्पष्ट उल्लेख करना आवश्यक माना। सम्यक्त्वाचरण तो मात्र प्रतीति रूप ही है—मगर सयमाचरण तो योगाभ्यास रूप व्यवहार चारित्र ही है—यह व्यवहार चारित्र ही निश्चय के लिए सोपान है।

खेद है कि ऐसी गाथाये समयासार मे से कई प्रकाशित सस्करणो मे लुप्त है। इनमे २५ गाथाएँ लुप्त है। हमारे समक्ष Sacred Books of the Jainas Vol VIII Series मे J L. Jain Memorial Series Vol III. पर अग्रेजी टीका सहित समयसार ग्रन्थ है जिसमे गाथाए ४३७ है जब कि सोनगढ "समयसार" मे ४१५ सख्या मे गाथाएं दी है। ऐसा क्यो किया गया है ? कही इसमे मात्र एकात निश्चय को ही पोषण करना तथा व्यवहार-अभ्यास को गौण करना तो नही है ?

आ० कुदकुद को तो वस्तुतः मात्र निश्चय नही—व्यवहार और निश्चय दोनो ही सम रूप से मजूर रहे है। प० टोडरमल जी ने तो निश्चय और व्यवहार दोनो पर बराबर वजन दिया है। निश्चय स्वरूप प्रकट करने के लिए व्यवहार की भाषा तथा व्यवहार के अभ्यास दोनो ही अनिवार्य है।

लीजिए आ कुदकुद की इन तीन गाथाओ को—जो हमारे इस सन्दर्भ मे है और जिसमे व्यवहार अभ्यास से लौह रूप आत्मा को स्वर्ण रूप आत्मा मे रूपातरित करने की प्रक्रिया सहित वर्णन है। लौह से स्वर्ण मे परिणाम हेतु धातु भेद की क्रिया है। वैसे ही अध्यात्म के सारे आधार रूप भेद विज्ञान भी चित्त भेद तथा बुद्धि भेद की क्रिया व्यवहार से ही सम्भव होती है वरना अन्तश्चेतना पलटती ही नही है।

आ कुदकुंद की तीन उल्लेखनीय गाथाएं

णाय फणीए मूलं णाइणितोएण गब्भ णागेण।
णागं होइ सुवण्णं, धम्मतं भच्छवाएणा ॥ २३१ ॥

कम्मं हवेइ किट्टं रागादी कालिया अह विभाओ।
सम्मत णाण चरणं परमोसहमिदि वियाणाहि ॥ २३२ ॥

झाणं हवेह अग्गी तवयरणं भच्छा समक्खादो।
जीवो हवेइ लोह धमियव्वो परमजोई हि ॥ २३५ ॥

इनके संस्कृत रूपातर है—

नागफण्या मूलं नागिनी तोयेन गर्भं नागिन।
नागं भवति सुवर्णं धम्यमानं भस्त्रा वायुना ॥

कर्म भवति किट्टं रागादयः कालिमा अथ विभावा ।
सम्यक्त्व ज्ञान चरणं परमौषधमिति विजानीहि ॥

ध्यानं भवत्याग्नि तपश्चरणं भस्त्रा समाख्यातं।
जीवो भवति लोह धमितव्य परम योगिभि ॥

अर्थात्—नागफणि का मूल, नागिनी तोय, गेरू और नाग (शीशा) का मिश्रण भट्टी मे चढाकर धोकनी से हवा देने पर स्वर्ण मे वदल जाता हे। (२३१)

अष्ट कर्म के प्रत्यय ही किट्टी हे, रागादि अशुद्ध विभावी भाव ही कालिमा है, सम्यक्त्व (सम्यक्दर्शन) सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र को निर्मल कर देने वाली परमौपधि जानो ॥ (२३२)

ध्यान ही अग्नि है, तपश्चरण भस्त्रा (धोकनी) है, वह जीवात्मा (लोह) धातु है जिसे परमयोगियो द्वारा तपश्चरण की भस्त्रा को खूब धमित कर के ध्यान की अग्नि को खूब प्रज्वलित करना चाहिए ॥ (२३३)

आ० श्री कुदकुद ने इस प्रकार परम योगियो के द्वारा जो अभ्यास करणीय है—उसका वडा मनोहारी तथा हृदय स्पर्शी उपदेश तथा प्रेरणा दी है। यहाँ आ श्री की परम योगियो के प्रति कितनी बडी अनुकम्पा प्रकट हुई है—जो परम योग के उत्कृष्ट शिखर पर अवरोहण करना चाहते है, उनको उन्होने कैसी उत्तम उपमा द्वारा उपदेश दिया है कि ध्यान की अग्नि जलाओ—तो आत्मा रूप धातु स्वर्ण बन जायेगा। इस आत्मा को सम्यक्दर्शन ज्ञान और चारित्र रूप परमौषधि का सग मात्र पर्याप्त नही है—इन परमौषधियो के साथ ध्यान और तपश्चरण हो तव मात्र उस लौह धातु को स्वर्ण मे रूपातरित कर सकेगे। योगाभ्यास की इससे अधिक महिमा आ० श्री कुदकुद और क्या कर सकते है ? पर इन ही उत्कृष्ट गाथाओ को कुछ सस्करणो मे क्यो छेक दिया गया हे ?

शंख की श्वेतता

आ० श्री कुदकुद ने आगे शख की उपमा से ज्ञानी और अज्ञानी का भेद समझाया है। ज्ञानी अपने ज्ञान के कारण कभी रागता को प्राप्त नही हो सकता, वैसे ही जैसे शख अपनी श्वेतता मे कृष्णता को प्राप्त नही होता। पर ज्ञानी जब सम्यक् ज्ञान को परित्यक्त कर देता हैं और अज्ञान से परिणत होता है तो वह अज्ञानता मे ही चला जाता है—वैसे ही जैसे शख अपनी श्वेतता को परित्यक्त करके कृष्ण

वर्ण हो जाता है। इन गाथाओ मे आ० श्री कु दकु द ने यह स्पष्ट प्रतिपादन किया है कि आत्मा जो एक बार शुक्लता को प्राप्त हो जाता है उसका रागाधीन होना समाप्त हो जाता है—अत उसकी शुक्ल दशा सभी अवस्थाओ मे बरकरार रहती है। वह शुक्ल जीवात्मा भी यदि कभी अपनी शुक्ल दशा–ज्ञान स्वभाव को विस्मृत कर दे तो अज्ञान मे ही परिणत हो जाएगा।

निश्चयाभासी ज्ञानी ज्ञान-स्वभाव की बात तो करते है—मगर ज्ञान स्वभाव मे परिणत करने वाले उस योगाभ्यास के व्यवहार को नजर-अदाज कर देते है जो उपर्युक्त तीन गाथाओ मे सकेतित किया गया है। ज्ञान स्वभाव मे परिणत होने के बाद ही इस दशा का उदय होता है कि जो अप्रतिपाति है वहा से पुन वापिस लौटना नही होता—फिर चाहे किसी भी अवस्था मे रहे। ऐसे अप्रत्यावर्तनशील अच्युत ज्ञान स्वभाव का उदय, प्राप्ति तथा स्थिर अवस्था ध्यान और तपश्चरण की अपेक्षा करते है।

वेदात के माख्य से जैन सिद्धात का यही विशिष्ट भेद है। वे आत्मा को मात्र कूटस्थ मानते हैं अत वहा माया ही सब कुछ करती है—आत्मा कुछ नही करता—वह वैसा का वैसा रहता है, मगर जैन सिद्धान्त मे आत्मा ही सब कुछ करता है। अज्ञान व ज्ञान का भी वही कर्ता है। वह कारक रूप मे कारक है, कर्ता है, अत वह अपने ही ध्यानाभ्यास व तपश्चरण के उद्योग से अपनी कर्म-कालिमा को जला देता है। उनके यहा कर्मावरण रज प्रत्यय रूप माने ही नही गये है। जैनो मे तो कर्म रज-प्रत्ययो का बधन वास्तविक है। बन्धन को जानने मात्र से बन्धन से मुक्ति नही होती, बन्धन को तोडना पडेगा। साधन अभ्यास रूप व्यवहार क्रियाये करनी ही पडेगी, अज्ञानमयी व्यवहार से जीव बन्धन मे पडा है तो ज्ञान मयी व्यवहार से वह उन बन्धनो को तोड भी सकेगा। ध्यान और तपश्चरण ज्ञान-व्यवहार है—वे हेय और क्षुद्र नही है—ये मोक्षोपाय रूप मे उत्कृष्ट तत्त्व है।

लौह से स्वर्ण रूप आत्मा के रूपातरण या परिणति मे योग की सफल भूमिका है। निश्चयाभासी इसकी महिमा को नही जानते और इसको न जानकर इसकी महिमा से भी वे शून्य है—और शून्य ही रहेगे।

निश्चय व्यवहारात्मक अनेकात धर्म शक्ति को क्या एकान्त के स्वर कभी दबा सकेगे? साधक जनो को, यति और योगीजनो को इन एकान्तिक स्वरो की यथार्थता जानकरअपने ध्यान और तपश्चरण से ही अधिक निरत होना चाहिए ताकि अति त्वरा से अपनी लौह धातु मय आत्मा को शत प्रतिशत स्वर्ण मे रूपातरित किया जा सके। धातु परिवर्तन होना अति आवश्यक ही है।

तेरहवे गुण स्थान मे कर्म कालिमा को जला कर पहुँचना अति आवश्यक है—अपने इस ध्येय और लक्ष्य से च्युत हो व्यर्थ के विवाद और एकान्तिकचर्चाओ मे भटकना नही चाहिए। अज्ञानी जीव को समझना चाहिए कि वह ज्ञान की चर्चा तो अनादि काल से सुनता ही चला आ रहा है मगर फिर भी उसने अपने लौह धातु को स्वर्ण मे रूपातरित करने योग्य उद्योग को पूरा नही किया।

द्रव्यानुयोग का उपयोग श्रद्धा गुण को विकसित करता है मगर चरणानुयोग में आत्मा लौह धातु से स्वर्ण धातु में रूपांतरित होती है—स्वर्ण परिणत आत्मा को ही फिर निश्चय नय का एकमात्र आश्रय होता है—वही एकमात्र तब एक मार्ग है। ज्ञान को बुद्धि मे तथा श्रद्धा को हृदय मे ग्रहण करके सम्यक् चारित्र रूप योगानुष्ठान पर—आत्मानुशासन की क्रियाओं के आचरण पर आना ही होगा—अन्य कोई विकल्प नही है।

ध्यान अभ्यास के चरण की अपेक्षा

परम योगी आचार्य गण करुणा पूर्वक कहते हैं—अरे जीव बाहर के ज्ञान के मद मे फूला मत फिर—आधि व्याधि उपाधि के कर्मवशात् प्राप्त होने पर यह ज्ञान तुझे कभी शाति न दे सकेगा। समाधि जन्य प्रत्यक्ष ज्ञान ही तब तुझे एकमात्र समवस्थित रखकर शाति प्रदान करेगा। हे जीव! यह मानव देह तुझे इसीलिए प्राप्त हुई है, यह तेरी अनादि की आत्म-अभीप्सा को शात करने के लिए तेरे लिए प्रशस्त कर्म की बदौलत मिली है।

प्रकृति की यह सर्वोच्च देह रचना व्यर्थ नही है। इस देह का यही उपयोग है कि इसमे रह कर ध्यानाग्नि को प्रज्वलित करो, ज्ञानमय तपश्चरण करो। जगत् का राग लेश भी रहते तो सारे ससार के ग्रन्थो की जानकारी होने पर भी वह मनुष्य ज्ञान-परिणत नही हो सकता। दृश्य जगत् का राग समाधि रूप आत्म रमणता से ही टूटता है—इस समाधि का पूर्व रूप है धर्म-ध्यान, और धर्म ध्यान ही शुक्ल ध्यान मे परिणत होता है। ध्यान से ही जीव मे, चेतना मे, स्वभाव मे सद् रूपातरण होता है। ध्यान की निश्चय दशा मे सर्व प्रथम जिन भक्ति रूप सम्यक्त्व तत्त्व की प्रतीति को तो कम से कम धारण करना ही चाहिए, इसके अनन्तर उच्चतर भूमि मे आने के लिए ध्यानादि योगाभ्यास को ग्रहण करना चाहिये—जो द्रव्यानुयोग के नही, चरणानुयोग के विषय है। चरणानुयोग मे ही आकर द्रव्यानुयोग मे कथित आत्म स्वरूप का अनुष्ठान होता है। उसके स्तर है—स्व धर्म ध्यान फिर शुक्ल ध्यान।

दृश्य मे रमण का भाव है संसार बधन और पर्याय का ध्रुव स्वभाव मे समर्पण है मुक्ति

जब तक जीवात्मा का दृश्य मे रमण करने का—अपने आसपास मे लिप्त रहने का सकल्प है तो वह ससारस्थ ही रहेगा—प्रकृति उसे बन्ध ही प्रदान करेगी। प्रकृति ही इस ससारी जीवन यात्रा मे बन्धन और साधन दोनो ही जुटाती है और जुटाती रहेगी। साधन और बन्धन के बीच चुनाव स्वय मानव का ही है। केन्द्रस्थ ज्ञानी जीवात्मा दृश्य से—यानी 'पर" से निरपेक्ष रहकर अपने स्व का ही परिपूर्ण विकास करके सर्वज्ञ वीतराग अति मानव—महाप्रभु आत्म स्वरूप मे अपना उन्मेष कर सकेगा। वह सम्पूर्ण सत्ता, चेतन और अचेतन दो तत्त्वो को लेकर इसीलिये विद्यमान है। अचेतन तत्त्व रूप मे यह आणवी सरचना-अणु व अणुसघातमय जगत्, तथा चेतन रूप मे निगोद का सूक्ष्मतम प्राण-लोक

था जैविक सरचना तथा इससे आगे स्वय जीव की जीवन स्पृहा की अस्पृहाकी अशुभ व शुभ व शुद्ध वृत्तिया है। शुद्ध वृत्ति मे ज्ञान व उससे मोक्ष—यानी जीव का शुद्ध ज्ञान विकास है और इस निर्मल विकास को ही जैनो ने उत्पाद व्ययशील ध्रौव्य गुण की क्रियाशीलता परिलक्षित की है। उत्पाद व व्ययशील निर्मल पर्याय जब ध्रौव्य ज्ञान गुण आत्मा की दिशा मे समर्पित होती रहती है तो नित्य ध्रुव स्वभाव आत्मा की प्रमुख प्रतिष्ठा से ही नित्य शाश्वत् आनन्द रूप मुक्ति का द्वार खुलता है। ऐसा समर्पण ध्यानाभ्यास तथा तपश्चरण है।

ज्ञान जिज्ञासा और चिन्तन समन्वित प्रवृत्ति एवं निवृत्ति

जो जीव अज्ञान और भ्रम मे नही जीना चाहते—उन्हे जिज्ञासा के क्षेत्र मे आना ही होगा। ज्ञान-जिज्ञासा आसपास के वातावरण से ही आरम्भ होती है और तब ज्ञान का खुला आमन्त्रण प्रकट हो जाता है। जिज्ञासाओ की शृ खलाओ के समाधान करते हुए भी नई-नई जिज्ञासाये व उनके क्षेत्र खुलते चले जाते है। यह प्रक्रिया क्रम-विकास को समाप्त नही कर देती—प्रत्युतर इससे आत्म-श्रद्धा का मार्ग ही प्रशस्त होना चाहिए। ज्ञान आत्मा की खोज मे स्वलीनता रूप ध्यान अभ्यास ही एकमात्र मार्ग है। चिन्तन प्रवृत्ति और निवृत्ति,—यानी व्यवहार तथा निश्चय के समन्वय से सम्पूर्णता की ओर जाना चाहिए। वह सम्पूर्ण अखण्ड ज्ञान सत्ता ज्ञान लीनता मे अनन्त होकर भी अद्वय निर्मल एक है। इस अनन्त के ज्ञान मे भाव स्थिरता होकर ही मुक्ति का स्वरूप उद्घाटित होता है।

ज्ञान विज्ञान के खोज की अनन्त आस्था

आधुनिक महान वैज्ञानिक आईस्टीन के भी अन्तिम वाक्य ने इस सत्य का ही कथन किया है—"जितना ही हम गहरा अन्वेषण करते है उतना ही हम पाते है विज्ञान असीम है और और जानना है, मेरी आस्था है कि जब तक मानव जाति रहेगी ऐसा ही रहेगा।" अनन्त की यह आस्था मानव आत्मा के ज्ञान गुण के आश्रय ही एकमात्र आत्मलीनता मे ले जाती है। ज्ञान की ऐसी असीम प्रकृति है कि सब अनन्तानन्त को भी वह ही जानता है। और यह जानना आत्म लीनता मे ही प्राप्त होता है। अन आत्मलीनता की प्रक्रियाओ को जानो, उसका अभ्यास करो।

ज्ञेय और ज्ञायक —ये चुनौतियां ज्ञान को

विषय और विषयी—ज्ञेय और ज्ञायक—ये ही ज्ञान के लिये चुनौतियां है। इन चुनौतियो की स्वीकृति से ही अनन्त ज्ञान की खोज तथा प्रसिद्धि आरम्भ होती है, चाहे अध्यात्म ज्ञान हो या भौतिक विज्ञान। पूर्वाग्रह ही सबसे बडी बाधा है। यह भी भ्रात धारणा है कि मानव के ज्ञान की खोज-अनन्त अचेतन या अनन्तानन्त चेतन के ज्ञान की उपलब्धि समाप्त हो गई है। यह मानना पूर्वाग्रह ही है कि ज्ञान के विषय मे आगे मानव को और कुछ नही जानना जितना जानना है, जान लिया गया है।

ज्ञान और विज्ञान प्रायोगिक और समानान्तर

ज्ञान और विज्ञान—ये दोनो ही प्रायोगिक है—समानान्तर है। ज्ञान का यथार्थ विषय स्व चेतन "मैं" हूँ और विज्ञान का विषय अचेतन जगत्। चेतन व अचेतन दोनो ही समानान्तर विभिन्न विश्व हैं। दोनो विश्व तत्त्वो का अपने-अपने स्वरूप मे ही निज उपादान शक्ति से परिणमन या विपरिणमन होता है। समानान्तर इसलिए कहे जाते है कि इनका कभी एकत्व नही होता—चेतन चेतन ही रहता है, अचेतन अचेतन ही—जीव ब्रह्म ही रहता है और अचेतन जड ही रहता है। इतनी ही भिन्नता है कि अचेतन की उपस्थिति के निमित्त मे जब प्राणी अचेतन ज्ञेय पदार्थ की ओर रागात्मक होकर परिणमन करता है तो अचेतन तत्त्व को अपने निकट आकर्षित करके—उनमे बधकर अपनी स्वय की तेज प्रज्ञा को आच्छादित करके चेतन रूप से—कम चेतन हो जाता है। समानान्तर रेखाएँ कभी एक केन्द्र पर मिलती नही; न चेतन पूर्ण अचेतन होता और न अचेतन कभी चैतन्य होता। दो भिन्न तत्त्वो मे जब अराग दृष्टिमय ज्ञान वर्तमान रहता है तब चेतन द्रव्य अबन्ध दशा मे ही परिणमन करता है और अपनी मूल परिपूर्ण विमलता (Pristine Purity) से स्खलित न होकर अपनी निर्मलता मे स्थायी प्रतिष्ठित रहता है।

कर्म सिद्धान्त का निर्माण

चेतन किस प्रकार कम चेतन या कर्म-बन्ध को प्राप्त होता है इसी को गणितीय दृष्टि प्रदान करके जैनो ने कर्म सिद्धान्त का निर्माण षट्खडागम, गोम्मसार, लब्धिसार और क्षपणासार आदि कर्म-ग्रन्थो मे ऐसा भर दिया है जो आज के नवीन गणित के लिए भी अनुपम है। इन गणितीय सद्दृष्टियो को विशिष्ट सम्यग्ज्ञानचन्द्रिका तथा अर्थ-सद्दृष्टि रूप मे टीकाओ मे देने का श्रेय प० टोडरमल जी को है। उनकी प्रज्ञा भेद दृष्टि ने गणितीय दृष्टि के भी भेद को प्रकट किया है। आज का सूक्ष्म कम्प्यूटराइज्ड युगीय गणित पुद्गल के सूक्ष्म भावो औरपरिणामो का अनुरेखन करता है, मगर जैनो ने जीव के भावो और परिणामो की, प्रभावित पुद्गलो के सामूहिक परमाणुओ की सख्या, उनके सामूहिक गति-भाव, सामूहिक स्थिति—उनके सामूहिक शक्ति-अशो के समीकरण, समिकाए और असमिकाए वाले सम्बन्धो की सूक्ष्मतम जानकारी को उपलब्ध तथा परिकलित किया है।

इस कर्म सिद्धान्त का निष्कर्ष है कि जीव के तीव्र या मन्द सक्लेष सम्मुख परिणाम ही उसके साता (सुख) तथा असाता (दु ख) के निमित्त है। जीव जो अपने लिए अपने भावो के अनुसार जैसे भी तत्समय सम्बन्धी परमाणुओ को बोता, सचित करता या वेदता है उनकी ही प्रकृति, प्रदेश, अनुभाग, स्थिति बन्ध सम्बन्धी होती है। कर्म-सिद्धान्त को व उसकी पुद्गल वर्गणा को जिसने भी समझ लिया—वही ज्ञानी है। क्योकि वह उन रूप परमाणुओ मे अपने को फँसायेगा नही,—वह अपने आत्म-द्वार पर ही अचल रहेगा। जड और चेतन की ग्रन्थि कैसी भी हो—चेतन मानव को इतना ज्ञान अवश्य प्राप्त रहता है कि उसे क्या हेय है और क्या उपादेय है।

चित्-कला

विवेक-ज्ञान मात्र की ही चित्-कला का अश है । वह चित्कला यदि अल्प भी है तो वही चित्-कला परिपूर्ण सर्वज्ञ रूप मे भी प्रस्फुटित होती है । यह चित्कला ही मानव को ज्ञायक रहने का सदा ही आमन्त्रण करती रहती है । ज्ञायक जीव की खोज अपने ही ज्ञान तत्व के आश्रय आत्म लीनता मे असीम हो सकती है । अजीव यन्त्रो के सहारे ज्ञान परिसीम ही रहेगा ।

स्व की खोज में प्रत्यक्ष ज्ञान

जीव अपने ज्ञान को अपने तत्त्व के ध्यान मे अनन्त रूप जान पाता है । सारा अनन्त विश्व अनन्तानन्त ब्रह्माण्ड उसके ज्ञान के ज्ञेय है । ये सब अत' गम्य है । वे ज्ञान के किसी एक निभृत कोने मे ही समा जा सकते है । वस्तुत. प्रत्यक्ष ज्ञान की खोज स्व मे ही होती है और वही बाकी है । वह ज्ञान पर वस्तु के राग रहित, इच्छा से रहित,–वासनादि से रहित हे । रागादि ही भव के बीज है । इच्छा राग या मोह करने पर देह ही प्राप्त होगा । आत्म तृप्ति के बिना मुक्ति नही होती । भुक्ति करते-करते तो जीव बन्धन मे ही बन्धता जाता है ।

सत्य की स्वयं खोज करो और उसे प्राप्त करो--संयम से, अन्तर्यात्रा से

यथार्थ ज्ञान स्व सूचना है,—पर सूचना नही । अपना ज्ञान स्वय ही प्राप्त करना होता है, वह दिया नही जा सकता । वह सुनने मे नही आता क्योकि वह अन्तर्तत्त्व है । उसे स्व साधना से, श्रम से, शम से, सम से अत श्रमण पद से, सयम धारण से उद्घाटित करना होता है । शास्त्रादि सब मार्ग के लिए सकेत है, और मार्ग जितना ही ज्ञान नही हे, वह उससे भी आगे है । पर मार्ग स्वय ही चलना होता है, एक-एक चरण चलकर, आचरण को निर्मल क्रम मे बद्ध व सुनियोजित करके । अत' ही आदिपुरुष भगवान हिरण्यगर्भ ने अक्षर तथा निरक्षर (ध्यान-समाधि) का अन्तर-यात्रा का मार्ग खोजा और इस मार्ग को आत्म चिन्तन, आत्म श्रद्धा और आत्म-रमण मे व्यवस्थित किया—इसे ही तत्त्व चिन्तन व ध्यान—अथवा तपोयोग व मग्ग नाम दिया गया—अक्षर रूप श्रुत वचन प्रणव से ही निरक्षर परमपद की ओर बढने को कहा गया, साकारता से निराकारता—स्थूल से सूक्ष्म की ओर जाने को कहा गया है । सूक्ष्म ज्ञेय विश्व मे प्रवेश करके ज्ञायक विश्व मे प्रवेश के लिये कहा गया, अनुभूतियो मे प्रवेश करके अनुभूतियो से अतीत चले जाने के लिये कहा गया है, तब आप स्वय अकेला ज्ञानपु ज व केवल ज्ञान भास्कर ही आविर्भूत रह जाता है और स्वय के सब विभाव नष्ट होकर स्वभाव का ही उन्मेष हो जाता है । अन्योन्य के निमित्त से विवर्जित होकर चेतन व अचेतन दोनो ही निज नात्र निर्मल अवस्था को प्राप्त होते है ।

मात्र देखना या जानना

वस्तुत इस जगत् मे ललचाने, भय करने, उद्विग्न व व्यग्र होने जैसा कुछ नही है, मात्र देखना

या जानना ही है और स्वलक्षी जानने मे ही ज्ञान की समस्त विराट् अनन्त सत्ता दृष्टिगत होती है। इस मात्र देखने व जानने मे अपने को अन्तर्मुखी करो—ध्यानमय होकर अपने मे गहरे उतर जाओ। सहारा लेकर उतरो या विना सहारे, लेकिन गहरे अपने मे उतर जाओ—परम ज्योति को प्राप्त करो। सत्य की स्वय खोज करो और प्राप्त करो क्योकि तुम स्वय सत्य हो।

योग की विशेषता—यथावस्थ वस्तु निरूपण

भगवान् हिरण्यगर्भ का यह चेतन मार्ग होने से अनादि व सनातन है। चेतन आत्मा अनादि है अत उसका यह मार्ग भी अनादि है। यह मार्ग आत्मा का अकृत्रिम अनादि व स्वय सिद्ध है। भगवान् हिरण्यगर्भ ने भी इसे नही बनाया उन्होने तो इसकी गहन चिंतन के द्वारा खोज ही की और इसका उन्होने प्रवचन व कथन ही किया है। वे इसके युगादिप्रवक्ता है। "यथावस्थ" वस्तु निरूपण ही इसकी विशेषता है। इस निरूपण व ध्यान स्थिरता मे ही स्व वस्तु हस्तगत होती है। यह निरूपण अन्तर-निरीक्षण रूप है—प्रति क्रिया रहित मात्र देखने रूप है।

लय बद्ध क्षण की खोज

इस अनादि विश्व मे काल,—अनन्त काल का चक्र उत्सर्पणी व अवसर्पिणी रूप मे—ऊपर से नीचे व नीचेसे ऊपर चक्र रूप मे निरन्तर घूमता ही चला जा रहा है। इस पृथ्वी की—जो इस महान विश्व मे एक राई से भी लघुता वाली है, उम्र वैज्ञानिक नई खोजो से अरबो-खरबो वर्ष बताते है और कौन कह सकता है कि यह विश्व सख्यातीत अनन्तानन्त वर्ष से ऐसा ही न हो—जिन तत्त्वो से यह सृष्ट है, वे अनादि है मात्र नाम व रूप ही तो बदलते है। अनन्त युगो व युगातरो की सीमाओ को देख लेने वाले काल प्रवाह मे प्रत्येक मानव प्राणी इस पृथ्वी पर अपनी-अपनी **लय बद्ध क्षण** की ही खोज करता अपने अन्तर्संगीत के सम को ही प्राप्त करने की दिशा मे अजस्र गतिमान रहा है। भौतिकी व अति भौतिकी युगो के परिवर्तन व उलट फेरो मे भी वह इस ही ज्ञान विश्रान्त परम प्रशात क्षण की खोज मे सलग्न रहा है और वह इन युगो के उच्चतम व निम्नतम छोरो को भी देख चुका है और जब तक अपने नाद के सम को प्राप्त न कर लेगा देखता ही रहेगा और खोज की समाप्ति भी न होगी। इस सब मे प्राणी का वह अन्तर्पुरुष अपने उन्मेष की सभावना के लिये बडी धीरता से प्रतीक्षारत चला आ रहा है।

अन्तर्प्रकाश की यात्रा

भौतिकी और अति-भौतिकी स्थितियो रूप पृथ्वी लोक तथा स्वर्गो मे भी रहकर मानव को कभी तृप्ति नही मिली—न मिल सकती है ना मिल सकेगी, क्योकि अन्तर्ज्ञान मय स्वय ही एक मात्र परम तृप्ति कारक आनन्द तत्त्व है और उस ओर जब तक वह अपनी जीवन धुरी को न पलटेगा, उसे तृप्ति या प्राप्तव्य का सतोष व आनन्द हो भी कैसे सकता है ? इन भौतिक व अति-भौतिक छोरो मे पहुच कर भी अत उसे न विश्राम, न शाति, न आनन्द और न तृप्ति मिल सकती है। "पर" तत्त्व के

छन्दो की तान पर असीम तृप्ति का वह सम प्राप्त नही होता। अपनी ही छन्दता—स्वच्छदता के उन्मुक्त सगीत की प्राप्ति पर वह अक्षय अमृत मय सम कभी प्राप्त हो जाता है जिसे अर्हंतपुरुषो व तीर्थंकरो ने प्राप्त किया। इन परम पुरुषो ने अत वार-वार यह ही शिक्षा दी है कि अपनी ही ज्ञान-धुरी पर अचल व अटल रहो,—ज्ञायक ज्ञाता कारण—ब्रह्म की इस शिक्षा की ही मानव को चिरन्तन आवश्यकता है और रहेगी। इसी के स्वसवेदन की अपेक्षा है।

यह ज्ञान आत्म–वस्तुगत है—स्वयगत है। ज्ञेय तो विश्व का एक अग ही है, न कि ज्ञायक का कोई अश पर फिर भी वह ज्ञायक इसी विश्व मे रहकर ही ज्ञान के मार्ग को खोज पाता हे और ज्ञायकपने से स्वय ज्ञान रूप, परिपूर्ण ज्ञान रूप परिणमता है। जगत् के घेरो मे स्वय न वन्धकर—इसके मध्य भी अलिप्त रहकर अपने ही केन्द्रभूत अचल प्रदेशो पर स्थिर विराजमान हो जाए तव ही अनन्त प्रकाश की ओर वह बढता चला जा सकता है—हाँ अनन्त प्रकाश की ओर—क्योकि वह स्वयं वही है। अन्तर्प्रकाश की यात्रा से इस अनन्त प्रकाश की यात्रा प्रारम्भ होती है। अन्तर मे अन्तर्दृष्टि स्थापन पूर्वक अन्तर्यात्रा का आरम्भ करो।

यह यात्रा चाहे लम्बी एव दुर्गम ही हो। पर यह भगवान् हिरण्यगभ की परम्परा मे परम अर्हत् वीतराग पुरुपो व गुरुओ से सेवित तथा कथित अन्तर्प्रकाश के मार्ग के सधान से आरम्भ करने पर यह सहज भी हो जाती है। स्व पूर्णत्व ही परिपूर्ण स्वभाव है वह अखण्ड स्व स्वरूप सव ही तत्वो से परे तथा अतीत है। मार्ग चरण के अतिरिक्त वह कभी उद्घाटित भी नही होता। वह ही क्या कोई भी प्राप्तव्य हो, चाहे लौकिक हो या अलौकिक उसके लिए यही कहा जा सकता है कि देखो, समझो और चलो। इन्हे ही कहा गया—सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान तथा सम्यक्-चरित्र—वस्तुत इनके ही अखण्ड स्वरूप मे वह आलोक जो अप्राकृत तत्त्व मय है प्रकट होता है।

स्व वुद्धया यावद् गृहणीयात् कायवाक् चेतसां त्रयम्।
संसारस्तावदेतेषां भेदाभ्यासे तु निवृति.॥ (जैन धर्मामृत–१२)

वाक्, काय और चित्त को यह जीवात्मा जव तक अपनी आत्म वुद्धि से—यानी अपने आपे रूप अपने पन से स्वीकार करता है तव तक ही ससार की (भय-पूर्ण) स्थिति उसके लिए है—इन तीनो से अपनी भिन्नता के अभ्यास मे भेद-विज्ञान होने पर उसे अपनी निवृत्ति अर्थात् मुक्ति प्राप्त हो जाती है।

वाक् काय और चित्त रूप सक्रिय तत्त्व और आत्म तत्त्व

भौतिक दृश्य और अति-भौतिक अदृश्य-जगत् मे वाक् काय और चित्त तीन ही तत्त्वो का प्रधानतया क्रिया-कलाप है। आधुनिक मनो-वैज्ञानिक भी ऐसे ही तीन तत्त्व जीवाणु, शक्ति और विचार नाम से जानने लगे है। परन्तु जीवाणु मे निहित भाव और भाव-पिंड आत्मा का साक्षात्कार उन्हे हो

नही पाया है । विचार रूप चित्त, ऊर्जा शक्ति रूप वचन और परमाणु-सघात काया से विशिष्ट और अलौकिक जो अप्राकृत तत्त्व, चैतन्य और आनन्द के पिंड आत्मा पर अभी उन्हे आना शेष है । वचन तो मात्र अनात्म पुद्गल वर्गणा से निर्मित है । वचन तरगो से शक्ति समुद्भव भी होता है, पर शब्दो के सकर्षण तथा विकर्षण मे भाव वचन का भावक तथा देह यन्त्र का सचालक, तथा विचार-सतति का जनक विचारक, जो आत्मा तत्त्व हे वही विशिष्ट तत्त्व है, उसके ही ज्ञान रूप आत्म-प्रदेशो के हलन-चलन रूप क्रिया-कलाप से ही प्राणी-मानवात्मा का इजहार है, प्रगाट्य है । इसके अप्राकृत तत्वालोक को पहचाने विना, विश्लेपित किये विना शुद्ध तत्त्व की प्राप्ति सम्भव ही नही हे ।

विज्ञान के आलोक और अर्हन्तों के ज्ञान निष्कर्ष

कितना आश्चर्यजनक है कि उन प्राचीन मनीषी अर्हत् व तीर्थंकर सर्वज्ञ तत्त्व वेत्ताओ ने सहस्रो वर्ष पूर्व जिन विचारो, निष्कर्षों तथा चिंतन आधारो को प्रस्तुत किया, वे विज्ञान के बढते प्रकाश मे निरन्तर सत्य प्रमाणित होते जा रहे है । इन अध्यात्म पुरुषो ने विश्व के अनेक ब्रह्माण्ड, अनेक सूर्य मण्डल व नक्षत्र मण्डलो, अन्तरिक्षो—जीव, अजीव, पुद्गल अणु-परमाणु, धर्म-अधर्म तत्त्व, वनस्पति व एक कोषी निगोद जीव व सूक्ष्म वैक्ट्रियो (प्राणियो) के विश्लेषण तथा व्याख्याए विश्व को दी है वे आश्चर्यजनक रूप से विज्ञान सम्मत है । ऐसे विज्ञान सम्मत विचार फिर किसी भी अन्य धर्म या मार्ग ने नही दिये है कल तक जो इन विचारणाओ का परिहास करते थे—वे आज विज्ञान के प्रकाश मे पाते है कि उनकी स्वय की ही आखे चुधियाई हुई थी । शब्द को आकाश का गुण मानने व बताने वाले टेपरिकार्डर, रेडियो, टेलीफोन के समक्ष होने पर जैनो के ही इस सिद्धान्त को मानने को बाध्य हैं कि शब्द पुद्गल है, भापा पुद्गल है तथा ध्वनि पुद्गल है । सूक्ष्म परमाणु ही वायु मे तैर कर तरगो के रूप मे ब्रह्माण्ड मे एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र व अन्तिम सीमा तक विस्तृत होते है । विचार पुद्गल सापेक्ष है—विचार करते समय जिन पुद्गलो का उपयोग करते है—उन्हे जैनो ने मनोवर्गणा के पुद्गल कहा है और डा० मार्कोनी ने जैनो के निष्कर्षों को सत्य प्रमाणित कर दिया । विचारो की फोटो लेना अब सम्भव हो गया है । वनस्पति मे प्राण है, जीव है इसे डा० जगदीशचन्द्र वसु के प्रयोगो ने सिद्ध कर दिया । विश्व-उत्पत्ति का सिद्धान्त है कि यह विश्व अनादि है केवल रूप ही बदलता है तथा कोई बाह्य सृष्टि रचयिता नही है, यह सब अणु-परमाणु रचित तथा अनन्त चेतन तत्त्वो से व्याप्त है । अणु-परमाणु सर्व व्याप्त है, अनन्त है व्यक्त व अव्यक्त रूप है । डा डाल्टन ने ईस्वी सन् १८०८ मे जिस अणु परमाणु सिद्धान्तको प्रतिपादित किया वह जैन विचारणाओ की ही पुष्टि करता है । कर्म वाद के कर्मों का आस्रव, बन्ध, सवर तथा निर्जरा के तत्त्व आज टेपरिकार्डर व सूक्ष्म माइक्रोस्कोप के उदाहरण से समझे जाने लगे है । सूक्ष्म प्राणियो की सत्ता माइक्रोस्कोप के समक्ष सिद्ध हो गई है । सत्य को बहुमुखी बताने वाले अनेकात तथा सापेक्षवाद को कल तक तार्किक लोग सदेह पूर्वक अविश्वास करते थे । डा आइन्स्टीन के सापेक्षवाद के प्रतिपादन के वाद उसे उन्हे सत्य के रूप मे ग्रहण करने के अलावा कोई चारा नही दृष्टिगोचर होता । अहिंसा की खिल्ली उडाने वाले भी राष्ट्रपिता महात्मा गाधी के राजनीति मे अहिंसा

प्रयोग के बाद अहिंसा की शक्ति को मानने के लिये बाध्य हुये हे । इसी धर्म मार्ग का निष्परिग्रहता का सिद्धान्त अब नये परिवेशो मे समाजवाद व साम्यवाद के रूप मे उभरा है । वस्तुत अपरिग्रह तथा समाजवाद अन्योन्यवाची है—वह धार्मिक क्षेत्र मे है तो यह लौकिक क्षेत्र मे, पर मूल सकल्पना तो एक ही है । अहिसा आज जब विश्व की मानवता परमाणु सहार के भय से सत्रस्त है—एक शान्तिदायिनी माता के रूप मे दिखाई पडने लगी है । विश्व बघुत्व, विश्व शान्ति, विश्व राज्य आदि की कल्पनाये सब अहिंसा की ही भावनाओ के विस्तार है । जैनो का जिओ और जीने दो—सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक विज्ञान की सत्यता और पर्यावरण शुद्धता और इकोलाजिकल बैलेन्स मे देखे जा सकते है । वन्य मम्पदा का सरक्षण, वन्य पशु व जीवो का सरक्षण—इनकी महत्ता सब अहिसा के ही सिद्धान्तो पर आधारित है—और अहिंसा मानव जीवन की निर्विवाद सरक्षिका शक्ति है—ये माना जाने लगा है ।

जैसे-जैसे विज्ञान की प्रगति के चरण बढेगे—जैन विचारणाओ और सिद्धान्तो की अलौकिकता और वैज्ञानिकता निरन्तर प्रकट होती जायगी । भौतिक विज्ञान और अध्यात्म विज्ञान आश्चर्यजनक रूप मे दो विभिन्न क्षेत्रो के प्रयोग है—पर फिर भी उन प्राचीन अर्हत्पुरुषो ने उनकी परस्पर पूरकता, महत्ता और समानातरण की दृष्टि प्राप्त की थी । और इस ही सम्यक् अनेकात दृष्टि की इस विश्व को सदा ही आवश्यकता भी रहेगी । दो तत्त्वो की मान्यता तथा प्रयोग मे ही एक अभेद अद्वैत तत्त्व रूप ज्ञान दृष्टि का उन्मेष होकर मानव का निर्मलतम परिष्करण होता है । इस योग मार्ग के उक्त बिन्दु की तलाश मे आत्म आस्था व स्व–पर का भी विज्ञान ही सपोषक तत्त्व है ।

स्व रूप चेतन तथा पर रूप सकल अनातम अनन्त ब्रह्माण्ड व सूक्ष्म अव्यक्त परमाणु व धर्म-अधर्म व आकाश तत्त्व है । इसमे पर-स्वरूप को ही पाच प्रकार के ससार के रूप मे व्याख्यात किया गया है ।

पंच परावर्तनशील संसार—पांच प्रकार के ससार

द्रव्य ससार, क्षेत्र ससार, काल ससार, भव ससार और भाव संसार है । वस्तुत परिग्रह ही ससार कहा गया है और यह द्रव्य क्षेत्र काल भव व भाव रूप पाच प्रकार का हो जाता है । यह जीव मिथ्यात्व व कषाय से युक्त होकर कर्म पुद्गल को ग्रहण करता हे और छोडता है । तीन शरीरो के, षट् पर्याप्तियो के योग्य नोकर्म पुद्गल को जीव प्रतिसमय ग्रहण करता है और छोडता है । इस जीव ने अनन्त बार अगृहीत को तथा गृहीत कोग्रहण करके छोड दिया । समस्त लोकाकाश का ऐसा कोई भी प्रदेश नही जहा जीव अनेक बार जन्मा, जिया और मरा न हो । यहलोक जगत् श्रेणी रूप है तथा चोदह राजू की जगत् श्रेणी होती है—इनका घन ३४३ राजू होता है और ३४३ राजूओ मे सभी जीव अनेकबार जन्मे है और मरे है—ये ही क्षेत्र परावर्तन है । उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी से लेकर यह जीव जन्मता है और मरता है—यही काल परिवर्तन है । ससारी जीव नरक आदि गतियो से सब स्थितियो मे जन्म लेता है–यह भव परिवर्तन है । सैनी जीव जघन्य और उत्कृष्ट अनुभाग बन्ध के कारण अनेक प्रकार की कषायो से

तथा श्रेणी के असख्य भाव परिणाम योग्य परिणामो से ससार मे परिभ्रमण करता है, जिस भाव मे जन्म-मरण किया था उसी मे पुन जन्म लेता है । इसे भाव परिवर्तन कहते है ।

अर्हत् मनीषियो ने उद्घोषणा की है कि हे जीव ! यदि तू इन पाच प्रकार के परिवर्तन रूप ससार से मुक्त होकर स्व आत्मा मे ही स्थिर, निर्मल परमानन्द स्वरूप होना चाहता है तो अपने ही निज निर्मल तत्व में रह—तू इन सम्पूर्ण अचेतन पर-द्रव्यो व भावों से भिन्न व ज्ञायक ही है ।

पदार्थवाद का नही—चेतनावाद का विजय घोष

अर्हत् मनीषियो ने इस प्रकार पदार्थ वाद की नही—चैतन्य की, चेतनावाद की विजय तथा विलक्षणता का उद्घोष दिया है । वास्तव मे सच्चाई पदार्थ मात्र ही नही है, उसे देखने व जानने वाली चेतना ही कही अधिक महत्वपूर्ण रूप से सच्चाई है । विज्ञान ने प्रकट किया है कि परमाणुओ मे (वस्तु मे) भार है, पर यह भी सापेक्ष है, एकान्तिक नहीं है । इस पृथ्वी पर जितना वह भार है, उतना चन्द्र-लोक आदि लोकांतरो मे वह नही है—इसी प्रकार द्रव्य क्षेत्र और भाव मे परिवर्तन निश्चित ही है । इससे प्रकट है कि सच्चाई केवल पदार्थ ही नही है—ज्ञायक चेतना जो उन्हे देखती है जानती है वह भी महत्त्वपूर्ण है । अनेक धर्म मात्र वस्तु होने से वस्तु के अनन्त पहलू है—सत्य एकात नही अनेकात है । एक धर्म देखकर अन्य धर्म (वस्तु स्वभाव) अस्वीकार करने पर हमारा देखना असत्य हो जाता है, यद्यपि हमारा देखा हुआ सत्य होगा, पर वही सही सत्य है—ऐसा नही । चैतन्य की अनेकात दृष्टि मे ही सत्य का रहस्य है—अनन्त ज्ञान का रहस्य है—ये तो चेतनवाद की विजय ही है ।

६. भावोन्मेष ही भावोन्मेष । भावों के खेल और भावातीत ।

- सामान्य भाव अवस्थाए जागृत स्वप्न और सुषुप्ति । अज्ञानी और ज्ञानी का अवस्था–भेद
- चार चैतन्य भाव–अवस्थाए तुर्य, वैश्विक, भागवदीय और ब्राह्मी (सिद्ध)
- अज्ञान और ज्ञान के क्रमश अवलम्बन मे अज्ञानी और ज्ञानी का भाव–परिणमन भेद
- भाव–उत्क्रमण में ग्रंथि–अवरोध : बाहर से भाव–आघात तथा स्वभाव महिमा जागृति
- भावावेश के स्वरूप
- ज्ञान और अज्ञान के मध्य नाना ही भाव लोक
- भावग्रन्थियों में अवरोध और बाहर से भाव के बूस्टर रूप (Booster) में स्वरूप महिमा की अपेक्षा
- आस्था भाव की शून्य में निर्माण की शक्ति द्वारा प्रकाशित वीतराग भाव–किरणो द्वारा भावातीत मे आरोहण
- अध्यवसाय, अन्तरात्मा और मन
- आस्था और चिन्तन की प्रकाशमयी भूमि
- चिन्तन और भाव–भूमि
- शून्य मन
- आस्था और ज्ञान गुण का सतुलन
- भावावेशो का प्रवाह अपरिणामी की दिशा में
- एल. एस डी आदि औषधि प्रयोग और कृत्रिम भावोद्दीपन
- भावो का सस्कार . सस्कृति का सार
- आध्यात्मिक दृष्टि होने पर उत्प्रेरक ऊर्जाए
- आध्यात्मिक दृष्टि होने पर उत्प्रेरक उर्जाए
- भाव–सारणी और चार निक्षेप
- भाव–चिन्तन का धन रूप देव प्रतिमा
- अकेलीभावना चिदानन्द की चेरी

- शक्ति के आवेश
- जागृत कु डलिनी—उर्जस्वल सृजन शक्ति
- श्वास गति की समता और प्रकम्पनो की समलयता
- कु डलिनी दर्शन और भावोन्मेष—अविनाभावी
- शक्ति एक, नाम अनेक
- शक्ति के मध्य आत्म पुरुष का दर्शन
- शक्ति का स्वरूप और केवल ज्ञान सूर्य प्रभु हिरण्यगर्भ
- भाव ध्येय
- ध्येय-भाव
- चारित्र पुरुष की उद्भावना
- व्यक्ति और समष्टि का सतुलन
- वर्ण व्यवस्था का मूल भाव उसकी विकृति मे असमान समाज
- अहिंसक क्रान्त-द्रष्टा पुरुष की अपेक्षा
- व्यक्ति और समष्टि चेतना का रूपातरण और परिणाम विशुद्धि
- पूर्ण योग पुरुष और धर्म राज्य की स्थापना
- अभिव्यक्ति के पार शुद्ध सत्य अन्वेषण और परम की प्राप्ति
- महा करुणा : महा निष्क्रमण
- भावो का खेल और भावातीत
- सत्ता के अनेक स्तर
- समग्र के साथ समलयता और सर्वत्र आत्म-दर्शन
- साधक का ध्रुव नक्षत्र
- सर्वोदय
- आत्मज्ञान, भाव—स्फोट, जागृत अवस्था
- भाव अवस्थाए और आत्म प्रभु की निष्ठा—भाव की श्रेष्ठता
- ज्ञान भाव की साधना · जागृत अवस्था की श्रेष्ठता
- चित्ताकाश और चिदाकाश : निराकार का साकार मे पर्यवसान
- स्वभाव की निर्मलता अन्तदर्शन से भी महत्वपूर्ण
- अमूर्तिक आत्मा के साक्षात् दर्शन का सूत्र स्फटिक पुरुषकार स्वरूप

मानव की तीन सामान्य अवस्थाएं

सामान्यत मानव प्राणी दिन मे जागता देखा जाता है और रात्रि मे या तो निद्रा मे स्वप्न देखता है अथवा बेभान सोता ही रहता है । इस प्रकार जागृत् स्वप्न और सुषुप्ति तीन सामान्य अवस्थाए है । शुद्ध ज्ञानी प्राणी का जागने मे भी जागना रहता हे । वह अपने आप से कभी बेभान नही रहता । अशुद्ध अज्ञानी जीव का जागने मे भी जागना नही रहता । वह अपने स्वरूप से बेखबर रहता है । शुद्ध ज्ञानियो को निद्रा नही आती । उन्हे निद्रा की अपेक्षा ही समाप्त हो जाती है । अतः उन्हे न सुपुप्ति होती न स्वप्न होते । निद्रा देह व दिमाग की थकान मे आती है । जिस प्रकार मद के प्रभाव मे जीव गाफिल हो जाता है, वैसे ही निद्रा भी एक प्रकृष्ट मद अवस्था है । ज्ञानी निद्रा-जयी होते है और निद्रा जयी रहकर ही वे क्षण जयी व काल जयी होते है ।

चार चैतन्य भाव अवस्थाए

जागृत् स्वप्न सुषुप्ति इन तीन अवस्थाओ मे से भी आगे अवस्थाए है । अज्ञानी की अशुद्ध अवस्था और ज्ञानी की शुद्ध ज्ञान अवस्था के मध्य ही आगे क्रमश. चार अवस्थाए तुर्य, वैश्विक, भागवदीय (ईश्वरीय) तथा परम या सिद्ध या ब्राह्मी है । अज्ञानी की जागृत अवस्था निकृष्टतम हो सकती है तो ज्ञानी की जागृत अवस्था उत्कृष्टतम परम ब्राह्मी होना भी सभव है। यह अवस्थाए इस प्रकार मानव की चैतन्य भाव-स्थितियो को बताती है ।

अज्ञान और ज्ञान अवलम्बन से अज्ञानी और ज्ञानी को क्रमश भाव परिणमन में भेद

अज्ञान अवस्था मे भाव-स्थिति अज्ञान को ही लेकर तथा अज्ञान रूप मे परिणत होती है और शुद्ध ज्ञानी की ज्ञान को लेकर सदा ज्ञान रूप ही परिणति रहती है । ज्ञानी को अपने ज्ञान का ही अवलम्बन रहता है । इससे स्पस्ट होता है कि जीवो का ज्ञान-अवलम्वन या अज्ञान-अवलम्बन, इन दो अवलम्बनो या निमित्तो मे ही भावो का उत्क्रमण या सक्रमण चलता रहता है । अत ज्ञान का किस प्रकार अवलम्वन करे कि भाव-उत्क्रमण अज्ञान से छूट कर ज्ञान मे हो जाए, यह साधक के लिये अहम् सवाल है ।

वस्तुत अज्ञान का छूटना और ज्ञान का होना ससारी सामान्य जीव का सीधे सादे सदा से वर्तमान रहती भाव-अवस्था मे सभव ही नही होता । यदि वह सभव होता तो जीव कभी ही मुक्त हो जाता । अज्ञान मे जीव को ज्ञान का नही वाह्य निमित्तो का अवलम्वन है । इस निमित्त अवलम्बन का छूटना ही दुर्लभ है ।

भाव-ग्रन्थियो का अवरोधः बाहर से भाव-स्वरूप महिमा की अपेक्षा

वौद्धिक स्तर पर जीव यह जान भी ले कि वह ज्ञानात्मा है, उसे एक ज्ञान का ही अवलम्वन

होना चाहिए पर यह जानने पर भी उससे स्वतः बाह्य निमित्तो का अवलम्बन छूटता नही। इसका कारण है कि भावो की स्थितियो मे ऐसी ग्रन्थिया पडी हैं कि भावो का उच्चतर उत्क्रमण सभव नही होता, उच्चतम मे पहुँचना या स्थिर होने का तो अवकाश ही कहाँ।

ज्ञानी जीव ज्ञान दशा मे आकर निरालम्ब उच्चतर तथा फिर उच्चतम निर्मल भावो मे क्रमशः ट्रान्स्पोर्ट होते है। अत अज्ञानावस्था मे पडे जीव को उच्चतर भाव मे ट्रान्स्पोर्ट होने के लिये एक अति शक्तिमय भाव उत्क्षेपक-(बूस्टर) की अपेक्षा है। उसके विद्यमान अल्प तथा क्षुद्र तात्कालिक भाव को या तो उसे बाहर से ऐसा आधात लगे कि वह उस भाव से छूट कर ऊपर चला जाए या वह स्वय स्वरूप का ऐसा महिमा-भाव जागृत करे कि उसका विद्यमान भाव नीचे ही रह जाए और स्वय उच्चतर भाव भूमि मे चला जाऐ। बाहर से आघात पर भी उसे अपने चिन्तन द्वारा निज उपादान शक्ति से ही भावान्तर रूप परिणमन करके उच्चतर परिणिति मे जाना सभव हो पायेगा।

भावोद्रेक के स्वरूप

उच्चतर भावभूमि मे किसी भी बलिष्ठ बाह्य हेतु या निमित्त से अथवा कभी अहेतुकी स्व-प्रसाद (निर्मलता) से जो भावो मे उत्क्रान्ति होती है, उसे ही भावोद्रेक या भावावेश कहा जाता है। भावावेश अज्ञान के निम्न स्तर मे भी होते हैं, तब मानव अपनी विद्यमान अज्ञान दशा से भी नीचे अधिक गहन अज्ञान को प्राप्त हो जाता है। भावो की इन दशाओ मे ही अशुभ व शुभ या शुद्ध ऐसी तीन प्रकार की गुणवत्ता देखने मे आती है। अशुभ से शुभ या शुद्ध या शुभ से शुद्ध भावान्तर हो जाना ही निर्मल भावावेश हे।

अज्ञान के अधकार और ज्ञान के आलोक के मध्य नाना भाव लोक

आत्मा शुद्ध रूप मे ज्ञान-प्रकाश का ही पुज है। चेतना का उच्चतम लोक अत आलोक मय ही होता है। इसी तरह निम्नतम लोक अधकार-लोक होता है। इस आलोक और अधकार के मध्य नाना प्रकार के तारतम्य से नाना ही भाव लोको का सृजन रहना है। मानव को उच्च निर्मल भावावेश जैसे उच्चतम आलोक पर पहुँचाते है, वेसे ही निम्नतम भावावेश तमोलोक के अधयारो मे भी पहुँचा देते है। इन भावो मे ऐसी ही शक्ति है।

आस्था भाव से शून्य निर्माण की शक्ति द्वारा स्वभाव किरणो से भावातीत मे आरोहण

भाव साइकिक स्तर है। यह स्तर ऊपर मे परम से जुडने की क्षमता रखता है और नीचे अधकार लोक से भी जुडा है। यह भाव स्तर स्वय जीव की अखिल अस्तित्व सत्ता-शक्ति से ही जुडा है। इस सत्ता स्तर मे निष्ठा गुण को ही श्रद्धा, आस्था भाव आदि नाम से कहा गया है। इसकी ऐसी अबाध उर्जा शक्ति है कि यह अपने लिए ऊपर नीचे किसी भी स्तर की जीव दशा का निर्माण कर

सकती है। ऊपर का निर्माण तब ही होता है जब विद्यमान भाव दिव्य हो जाए-चित्त सस्थान मे सघनता की किचित् रिक्तता हो जाए। शून्य मे भाव वस्तु का निर्माण कर लेने की उर्जा शक्ति इस भाव-स्तर मे है और यह परवस्तु से शून्य होकर फिर भावातिरेकता मे भाव-भिन्न-उच्चतर आत्म स्तरो पर ले जाती है।

योगीजन भावो की ऐसी उर्जा शक्ति की पहचान करके स्वैच्छिक तौर पर इसकी शून्य निर्माण शक्ति को जागृत करके वीतराग शुक्ल भाव-किरणो की डोरी पकड कर शुद्ध निर्मलतम भावो पर आरोहण करते चले जाते है और अन्त मे परम ब्राह्मी-एक निर्मलतम परम भाव महा भाव भावातिभाव भावातीत पर स्थिर हो जाते है। तब फिर अधोगामी स्तर पर वापिस लौटना भी नही रहता।

ऊपरतम चले जाने के बाद जब लौटना नही होता तो फिर समसम समान अवस्थाए ही रहती चली जाती है। सम अवस्था प्रवाह मे स्थिर होजाना ही समवशरण स्थिति है। उस अवस्था प्राप्त प्राणी को प्राणो का उच्चावचय नही होता। तब वाणी अक्षर मय नही, अर्थमय खिरती है जिसे प्राणी मात्र दिव्यध्वनि रूप मे अनुभूत करता है। उस समवस्थिति प्राप्त महामानव के परम निर्मल प्रदेशो से ऐसा वीतराग प्रशम एव करुणा रस प्रवाहित होता है कि प्राणी मात्र, जलचर, थलचर और नभचर उस दिव्यध्वनि को सुनने के लिये दोडे चले आते है। वे वहा भव-भय की अनादि ज्वाला की तपन को शीतल होती अनुभूत करते है।

अध्यवसाय और मन

जैन योग विज्ञान मे भाव के पयार्यवाची शब्द परिणाम और अध्यवसाय है। तथा भाव का सम्बन्ध अतर मे आत्मा से तथा सतह पर मन से है। मानव जीव की पहचान उसके मन से ही की जाती है। मन चगा तो वह मानव भी चगा ही माना जाता है। चगे मन मे केवल निर्मलता ही नही, एक विशेष प्रभाव और शक्ति भी होती है। इसी लिए कहावत है—मन चगा तो कठोती मे गगा। निर्मल मन मे अद्भुत रचनात्मक विधेयक शक्ति हो जाती है।

यच्छुभ कर्म कर्तव्य तत्कुर्यात्मनसा सह ।
मनस्तुल्य फल यस्मात्, शून्ये शून्य भवेत्पुन ।। (योग प्रदीप–78)

कर्तव्य कर्म को सपूर्ण मन के साथ सपूर्ण भाव से करना चाहिए। क्योकि कार्य का परिणाम या फल मन के परिणाम यानी भाव के अनुरूप ही मिलता है। यदि मन मे शून्य भाव है तो फल भी शून्य ही रहेगा। मन का कोशल अत सपूर्ण भाव मे ही है।

आस्था और चिंतन की प्रकाशमयी भूमि

मन से न केवल भाव का सम्बन्ध ही है, मन मनन तथा चिन्तन करने वाला भी है। अर्थात् मन ऐसा इन्द्रिय अग है जिसका सपर्क हृदय मे है और मस्तिष्क से भी है । जब हृदय और मस्तिष्क दोनो का प्रभाव सम तथा सम्यक् रूप मे रहता है तो मानव का भाव अध-विश्वासो से प्रेरित हुआ नही रहता । तब आस्था-चिन्तन की प्रकाशमयी भूमि पर अचल हो जाती है ।

चिंतन और भाव सत्ता

चिन्तन तार तार विश्लेषित कर देने की अतिरेकता से सुरक्षित रह कर ही स्व निर्मल भाव सत्ता की उद्भावना से स्निग्ध सुरम्य भाव-तटो के मध्य प्रवाहित होने लगता है । हृदय और मस्तिष्क के आपस मे सम सम्पर्क को ही सात्त्विक नाडी का प्रवाह कहा जाता है—अर्थात् सात्त्विक हुआ मन ही वह स्थिति है जिसमे हृदय और मस्तिष्क का सही रिश्ता है और सम्यक् सम रिश्ता रहना ही योग के अनुष्ठान के लिए सही सयोग है। यौगिक भाषा मे इसे सुषुम्ना नाडी का प्रवाह होना कहा जाना है । यह नाडी हृदय चक्र का मस्तिष्क के चक्रो से सबध करती है ।

शून्य मन

उच्चतर योग अध्यवसायो की अनेकता, नानात्व का वर्जन करता है क्योकि जितने भाव उतने ही मन के स्वाग और प्रति स्वाग उतने ही नये क्षोभ तथा बधन होते है ।

अत इन अध्यवसायो से भी ऊपर उठकर मानव को अपनी सत्ता-उद्भावना से जुड कर मात्र ज्ञाता दृष्टा रह कर भावातीत होने के लिये कहा जाता है । उस अवस्था मे चिन्ता का अर्थात् चिन्तान्तर होते रहने का अभाव हो जाता है । चिन्तन चिन्तातुर नही होता, चिन्ताए समाप्त होकर एक चिन्तन, एक ज्ञान मात्र ही रह जाए, यही चिन्ता विवर्जित सकल्प विकल्प विवर्जित ज्ञान मयी अवस्था है । यही "शून्य मन" या भाव-कर्म विवर्जित निर्मल दशा है । शून्य हुए मन का यहाँ अर्थ मन का अभाव नही है । मन तो सात्त्विक व प्रकाशमय रहता ही है, उसमे तब किसी जागतिक भाव या पदार्थ के साथ एकत्व रूप राग की कोई कल्लोलिनी प्रवाहित नही होती । राग व मोह व कषाय के भार से विमुक्त हुये मन की स्थिति मे आत्म वस्तु अपने सहज उर्ध्वगमनशील गुण से स्वत ही उर्ध्वगामी हो जाता है ।

आस्था और ज्ञान गुण का सतुलन

आत्म वस्तु का आस्था भाव तथा ज्ञान गुण की क्रियाशीलता का स्वरूप कैसे बनता है इसका वर्णन आ० अमृतचन्द्र ने एक चित्रमय उपमा से अलकृत करके दिया है ।

एकेनाकर्षन्ती श्लथ्यन्ती वस्तु तत्त्वमितरेण ।

अन्तेन जयति जैनीनीति र्मन्थाननेत्रमिव गोपी ॥ (पुरुपार्थ सिद्ध० 227)

मथानी के नेता को विलोवने वाली ग्वालिनी की तरह जैनी नीति, जैन विज्ञान की प्रक्रिया वस्तु के स्वरूप को एक सम्यक् आस्था से अपनी ओर खीचती है और दूसरे सम्यक्-चिन्तन से ग्रहण करती है और अन्तिम सम्यक् सिद्धि रूप कार्य को उत्पन्न करके सब के ऊपर जयवती होती है ।

सम्यक् आस्था और सम्यक्-चिन्तन से मथित किये जाने पर आत्म वस्तु मे से उत्कृष्ट तत्त्व की उपलब्धि हो जाती है—जिस प्रकार कि गोपी को मथन क्रिया से मक्खन (नवनीत) की प्राप्ति होती है ।

भावावेश प्रवाह और अपरिणामी दिशा

जागृत से निद्रा मे जाने के काल, निद्रा से पूर्व एक तन्द्रा मय विस्मृति सी आती है । वह विस्मृति ही स्वप्न या सुपुप्ति मे जाने का सकेत है । इस सकेत को एक आवेग कहा जा सकता है । उच्चतर भूमियो मे जाने के लिए भी ऐसी ही आवेशो की शृ खलाए पार होती है । वस्तुत वस्तु कभी शून्य होती नही । क्योकि वह सद् वस्तु है, उसका अभाव नही होता । उसका रूपातरण ही होता है । विभाव (विकारी) परिणमन हो या स्वभाव (निर्मल) परिणमन निमित्त के अनुसार स्वत ही जीव को होता ही रहता है । पूर्व भाव का व्यय होता है, और नये भाव का उत्पाद उसका स्थान लेता है । इस प्रकृत नियम के तहत परिणमन भावो मे होता ही रहता है । इस क्रमिक परिणमन से अत जीव का भाव संस्थान सदा ही क्षुब्ध रहेगा । अतः इस प्रकृत धारा से जिसमे मोह की धारा ही है, उबर कर सहज शुद्ध धारा मे आने के लिए बहुत शक्तिशाली आवेशो की अपेक्षा रहती है । ऐसे आवेशो की अपेक्षा है जो असाधारण ही—असामान्य रूप से उसे उच्चतर भूमि मे उछाल दे ।

भाव अधोगामी या उर्ध्वगामी दो प्रकार के है । पर भाव आत्माभिमुखी होने पर स्वभाव धारा (ज्ञानधारा) मे आ जाते है । फिर विपरिणमन रूप अधोगामी भावो का चक्र समाप्त हो जाता है । विपरिणमन और स्वभाव परिणमन के मध्य शुभ भावो का क्षेत्र आता ही है । इस क्षेत्र मे ही परा-राशियाँ प्रकट होती हैं, चिदाभास होते है, अति दिव्य "रूप" स्वरूप के दर्शन आविर्भूत होते है, आगम शास्त्रों की रचना के स्फुरण एव सर्जन होते है, अति-भौतिक विषयो का दूर दर्शन, श्रवण, गध स्पर्श आदि के अनुभव होते हैं । ये सब भावावेग के प्रतिफल होते हैं जो भौतिक से अति भौतिक लोक मे उत्क्रमण के परिचायक हैं । वे भी पुद्गल के ही दर्शन है । इनसे भी रिक्त होकर शुद्ध ज्ञान दशा का परिचय होता है । वही असामान्य भावोत्क्रमण है । तुर्य अवस्था तो जागृत, स्वप्न, और सुषुप्ति से भिन्न चौथी भाव-अवस्था है । वस्तु-व्यवस्था का अन्तर्बाह्य व्यापार

रूप वैश्विक ज्ञान की धारा ब्रह्माण्डीय (कास्मिक) लोक से सपर्क कराकर स्व अनन्त विराट् सत्ता के भाव से भरित कर देती है। तब पूर्णोहता के भाव मे से भागवदीय भाव का आवेश होता है। अन्तरात्मा तब निर्मल होकर परम ब्राह्मी अवस्था का अभीप्सु हो जाता है। अखड भागवदीय भाव रूप महा भाव की सरचना होती है। तब केन्द्रस्थ भाव-प्रवाह की दिशा ही परम ध्रुव शाश्वत् अपरिणामी मे ले जाती है।

एल. एस डी. आदि औषधि प्रयोग और कृत्रिम भावोद्दीपन

आज जो मानव मादक और औषधीय प्रयोगो द्वारा एल. एस. डी, चरस, भाग, गाजा आदि से अपने भाव-प्रवाहो को निश्चेष्ट व सुप्त करके कृत्रिम रूप से अपने दमित तथा ग्रन्थित भावो की पूर्ति प्रयास मे अपने को कृतकृत्य मानता है, वह तो बडी ही अज्ञानमय विडम्बना मे पडा है। यह कृत्रिम भावोद्दाम भावो के सहज और निर्मल प्रवाह को अवरुद्ध करके आत्मोत्थान के बजाय आत्म-पतन का ही मार्ग अन्त मे प्रशस्त करता है क्योकि मस्तिष्क और हृदय के कोमल ज्ञान-ततु दुर्बल होकर फिर अमृत मय भाव रसो के उद्रेक करने मे अशक्त हो जाते है। कृत्रिम उपाय ससार-भ्रमण और तीव्र दु ख परिणाम को ही देने वाले है। कारण के अनुरूप ही कार्य फलित होने का नियम है। अन्तर-आकाश मे जैसे भी भावो का स्पदन होता है, वेसे ही चित्र विचित्र वर्ण-चित्रो (अभिव्यजनाओ) का दर्शन होता है, वैसे ही अशुभ कर्म-प्रत्यय जीव के कर्म-सस्थान मे सश्लेपित होते रहते है। भाव-सस्थान और कर्म-सस्थान का इस प्रकार समानान्तर कार्य रहता है।

संस्कृति का रूप, भावो का सस्कार

मानव की सारी सस्कृति उसकी ही सुकृति है। भावो का सस्कार ही सस्कृति है। इसमे ही सुकृतियो की, सभ्यता, विद्या, ज्ञान-विज्ञान-कला-कौशल सब की ही रचना होती है और आगे भी होगी। ये ही मानव जाति के भविष्य निर्मात्री रूप मे उपकारक है। इस अपेक्षा से सर्वज्ञ योग विज्ञान व श्रमण सस्कृति की उत्कृष्ठता उसकी करुणा, अहिंसा समता के अमृत वरदानो से तथा आत्म-परिष्कारो (भाव-परिष्कारो) रूप विज्ञान मे यानी विशुद्धिमार्ग की उत्कृष्टता से स्वय सिद्ध होती है। तभी इस सस्कृति की सर्वप्रियता मे भारत ने कभी स्वर्ण युगो, अध्यात्म उत्कर्ष, कला कोशल, साहित्य, सभ्यता रचना के समृद्धि के शिखर भी देखे थे।

आध्यात्मिक दृष्टि होने पर केटेलिस्टिक (उत्प्रेरक) भाव-उर्जाएं

भावो का वस्तुत अनन्त साम्राज्य है। भावो की ही भौतिक या अति भौतिक वा अशुद्ध या मिश्र ऊर्जाए द्रव्य-मन या भाव-मन मे देखी जाती है। सारी सृष्टि की सृजन अभिव्यक्तियो के पृष्ठ मे यही रहती है। उच्च भावोत्क्रमण मे जो शक्ति आवेश या आवेश शक्तियाँ दृष्टि गत कभी होती हैं वह अनुभव के स्वसवेद्य विषय है, वे आह्लाद रूप व इस्पीरेशन रूप मे होते है। आत्म-प्रभु निष्ठ आध्यात्मिक दृष्टि के लाभ होने पर ही ऐसे आवेश होते है। ये आवेश आवेगात्मक नही होते, पर

उनकी ऊर्जा मैटेरियलिस्टिक होती है । विराट् ज्ञान सत्ता की श्रद्धा-दृष्टि में अगाध श्रद्धा-उन्मेष होकर चैतन्य महा सत्ता का दृष्टांत मिलता है । सर्व गुण मयी अपनी बुनियादी चैतन्य प्रकृति की आस्था हीन सिर्फ बाह्य सत्ता बोध में ही परिचित ज्ञान पर्याय अनन्त महाप्रकृति के सम्मोहन का अन्तर्वेध नहीं कर सकती और न परा-अनुभूति मय ज्ञान को ही प्राप्त कर सकती है । मूल स्वभाव गत ज्ञान सम्पन्नता का बोध बाह्य सत्ता बोध में रची श्रद्धा और ज्ञान की पर्याय सामान्यतः कैसे प्राप्त कर सकती है ? अतः निज निर्मल भाव की भावना ही एक मात्र साधक जीव की उत्कृष्ट सहचरी होती है । यही ऐसी अमृतमयी प्रकाश की गंगोत्री है, जहाँ से निरन्तर रह रहकर झरता प्रकाश का आकाश-परिव्याप्त अमरत्व रूप का विस्तार करता स्व आत्मा से जुड़ा रहता है और अनासक्त परिपूर्ति का विराट भाव प्रदेश प्रदेश में व्याप्त हो जाता है ।

देव प्रतिमा पत्थर से बनी है, पर क्या वह शिला खण्ड मात्र है ? प्रतिमा में मानव का एक घन चिन्तन का स्वरूप दिव्य कल्पना के रूप साकार होता है । उस दिव्य कल्पना और चिन्तन के स्वरूप को जो साक्षात्कार कर सकते हैं, वे ही वस्तुतः प्रतिमा-दर्शन का लाभ भी ले सकते हैं तब उनके लिये वह शिला-खण्ड नहीं है, देव प्रतिमा है और उसमें इष्ट का दर्शन होता है । यह प्रभाव भाव का ही है ।

न देवो विद्यते काष्ठे न पाषाणे ।
भावे हि विद्यते देव, तस्माद् भावो हि कारणम् ॥

तथा--

भावेन लभते सर्वं भावेन देव-दर्शनम् ।
भावेन परम ज्ञानं, तस्माद् भावावलम्बनम् ॥

भावना चिदानन्द की चेरी

शक्ति के आवेश

श्रद्धा और ज्ञान के संगम-स्थल पर प्राणिक और चैत्तिक स्तरों के जड अनात्म बंधन टूटने लगते हैं और चिति-शक्ति जागृत होकर अन्तर में प्रकाश पद्मों तथा चक्रों का विकास करती उद्दाम उच्चतर भावोल्लासों और आवेशों को देती ऊर्ध्व संचरण करती है, तब पार-लौकिक दर्शन तथा परा-भौतिक अनुभूतियाँ तो होती ही है, जिनसे अकल्पनीय रूप से भावों के आयाम विस्तृत होते ही चले जाते है, जिनसे स्व स्वरूप की ऐसी परिपूर्ण ज्ञान परिणति भी होती है कि शुद्ध ध्येय भाव या भाव ध्येय का भी स्वरूप साकार हो जाता है। शक्ति का ऐसा आवेश ही अनुपम व अपूर्व होता है।

जागृत कुंडलिनी : ऊर्जस्वल सृजन शक्ति

"जागृत कुण्डलिनी का आवेश चिति-शक्ति के ही उद्बोधन का परिणाम होता है। कुण्डलिनी जागृत होने पर साधक की सृजन-शक्ति बहुत ऊर्ज्जस्वल हो जाती है। उसके उन्मेष में कवि अधिक सुन्दर काव्य रचता है। संगीतकार की संगीत रचनाएं कई गुनी अधिक तेजस्वी हो जाती हैं। तब हर व्यक्ति ही जो कार्य करता है, उसकी क्षमता और गुणवत्ता कई गुनी बढ जाती है। आवेश-उन्मेष की अतिभौतिकी का अनुभव कुण्डलिनी जागृत होने पर बहुत प्रत्यक्ष होता है।

"अपने निजी अनुभव से कहता हूँ कि मेरे वृहद् उपन्यास-"अनुत्तर योगी"-के सृजन में मेरी उन्मेपित कुण्डलिनी की अजस्त्र ऊर्जा-धारा ने अपना चमत्कार परा सीमा तक दिखाया है। आध्यात्मिक साक्षात्कार की जिन उच्च भूमिकाओं तक अभी मैं नही पहूँचा हूँ, उन्हे महावीर के ध्यानानुभव के सृजन में मैंने अपने अल्प, विजन (Vision) से सांगोपांग साक्षात्कृत और मूर्त किया है। सरस्वती के समन्दर उमडते हे। इस उन्मेप पर काबू पाना मुश्किल हो जाता हे। शक्तिपात ने मुझे प्रत्यक्ष अनुभव कराया कि दिव्य या परा-भौतिक उन्मेष क्या चीज होती है? वह उन्मेष होने पर सासों में निरतिशय सुख वहने लगता है, आसपास का सारा परिवेश और तमाम ठोस पदार्थ-जगत् बहुत मुलायम, तरल, सुनम्य (प्लास्टिक) संस्पर्श का अनुभव कराता हे।

श्वास गति की समता तथा प्रकम्पनों की समलयता में आत्मिक आवेशों का उन्मेष

"यह सारा खेल सांसों में होता है। सारा प्रयत्न सांसों की गति बदल कर देह के प्रकम्पनों (वायब्रेशन्स) को बदलने के लिये चल रहा है ताकि चीजों को देखने को दृष्टि ही बदल जाय। मनुष्य की सांस और उसके देहगत प्रकम्पनों को सम्वादी और लयबद्ध करने की कोई तद्गत वैज्ञानिक विद्या यदि उपलब्ध हो जाये, तो शायद मनुष्य का भाग्य ही बदल जाये, मानव सम्बन्धों में ही एक आमूल क्रान्ति हो जाये। मनुष्य का इतिहास तब सहज सपाट धारा न रखकर, एक साथ उर्ध्वगामी और गहन गामी महाप्रक्रिया हो जायेगा और यह सारा चमत्कार लयबद्ध संवादी सांस से उत्पन्न होने वाले आत्मिक आवेश—उन्मेष से घटित हो सकता हे।

"आने वाले दिनो मे ध्यान-योग मनुष्य के दैनन्दिन जीवन मे भोजन, वसन, शयन की तरह ही अनिवार्य हो जायेगा । अन्तरिक्ष युग का मनुष्य शायद ध्यानोन्मेष के बल अर्हत् महावीर की तरह ही, गुरुत्वाकर्षण के ऊपर उठ कर, अन्तरिक्ष चारी हो जाये तो कोई आश्चर्य नही ।"—(श्री वीरेन्द्र कुमार जैन के "आवेश के विविध रूप और सभावनाए"—से साभार) ।

श्री वीरेन्द्र कुमार ने भावोन्मेष, कुण्डलिनी शक्ति के सम्बन्ध मे सासो के खेल तथा स्थूल पदार्थ दर्शिनी दृष्टि को अति भौतिक दर्शिनी-दृष्टि मे परिणत करने तथा देह के प्रकम्पनो को लयबद्ध करने की वैज्ञानिक विद्या की अपेक्षा पर ध्यान आकृष्ट किया है । उन्होने विश्व के विभिन्न भागो मे मानव जाति के द्वारा भावोन्मेष या आवेश से उर्ध्वगामी रचनात्मक उत्कृष्टता की प्राप्ति के इतिहास को रेखाकित भी किया है और भविष्य की यह सभावना भी प्रकट की है कि मानव कभी भगवान महावीर की तरह अन्तरिक्ष-चारी हो जाये । उनकी इस आशा की स्थापना है मानव की ऐसी उपलब्धि पर कि वह भौतिक स्तर से अतिभौतिक स्तर पर अपने को ट्रान्सपोर्ट कर सके । ये दोनो स्तर भौतिक ही है, एक ठोस भौतिक है तो दूसरा सूक्ष्म भौतिक है । इस सूक्ष्म भौतिक को ही तन्मात्रिक या अति-भौतिक कहते है । ठोस स्तर को बेध कर उसके घेरे से अतिभौतिक स्तर पर पहुँचने से ही मानव को यह भ्राति हो जाती है कि मैने योग के प्राप्तव्य को पा लिया । वास्तव मे यह स्तर आत्मिक स्तर नही है ।

मानव का मन पचभौतिक तत्त्वो की ही क्रीडा मे हे । मगर यह भी सत्य है कि उसकी शक्ति व गति इस स्तर पर आश्चर्यजनक रूप से तीव्र और प्रखर भी होती हे । मन इस स्तर पर अति प्रौज्जवल होता हे और इसी कारण यह ठोस वस्तु के अन्तस् को देख भी पाता है । मन की ही सूक्ष्मता का यहाँ विलास है ।

मन और प्राण का साहचर्य होता है और मन की सूक्ष्मता के साथ ही प्राण भी सूक्ष्म व सक्षेप होते हे । सासो के जिस खेल को योगी जन प्राणायाम के द्वारा खेलकर प्राणो को सवादी व लय-बद्ध करते है, उससे मन भी सम्वादी व लयबद्ध हो जाता है । मन से प्राण को वा प्राण से मन को निगृहीत, सम्वादी व लयबद्ध किया जा सकता हे । दोनो ही विधिया है । मन व प्राण के इस प्रकार आपस मे सम्वादी लयबद्ध होने पर योगी इस योग्य होते है कि वे चेतना के ज्ञान-स्वरूप के भी सम्वादी व लयबद्ध हो सकें ।

ज्ञान-स्वरूप राग व कषाय से रहित परम वीतराग है । अतः जब मन राग व कषाय रहित होता है तो वह चेतना की स्वभाव धारा के ही निकट आ जाता है । तब चेतना की स्वभाव धारा स्वय ही उस मन व प्राण को अपने मे खैंच ले जाती है और मानव आत्मस्थ हो जाता है और उस अवस्था मे भौतिक व अतिभौतिक सब ही अनात्म लोको (स्तरो) का सक्रमण हो जाता है । तब वह न बाह्य का, न अन्तरिक्षो का बिहारी होगा, वह चिद्-गगन का ही विहारी हो जाता है । तब

मानव अति निर्मल ज्ञान मात्र ही अपने को अनुभूत करके परम अर्हत्परमेश्वर के समान केवल ज्ञान मय पुरुषाकार स्वरूप को प्राप्त होने लगता है।

श्वासो मे अनात्म-प्रत्ययो का सकर्षण है और उसी से श्वासों मे सघर्ष एवं विषमता है। अत जब श्वास स्वत ही विश्राम-आयाम को प्राप्त होकर सम हो जाते है अथवा रूद्ध हो जाते हैं तब उन अनात्म प्रत्ययो के घेरे से निकल कर मानव की चेतना स्वय ज्ञान मात्र विदेही आत्म दशा को ही पहचानने लगती है। श्वासो के लयबद्ध तथा ताल बद्ध होने के बाद ही उनकी स्वय अवस्था मे ही शक्ति लोक का प्रकाश होता है। उस प्रकाश मे ही चैतन्य आत्म द्रव्य तथा सब ही द्रव्य पहचान मे आते है।

कुण्डलिनी उत्थान और भावोन्मेष अविनाभावी

कुण्डलिनी के दर्शन से भावोन्मेप होता है। भावोन्मेप कुण्डलिनी का उत्थान व दर्शन कराता है। ऐसे यह परस्पर अविनाभावी है। कुण्डलिनी का यह दर्शन बडा मन-भावना और आह्लाद कारक होता है। यह एक ऐसी अभूतपूर्व घटना की तरह घटित होता है जो मानव के सपूर्ण व्यक्तित्व को अभिभूत कर देता है। और यदि मानव साधक चौकस रहे और इस शक्ति-उत्थान को आत्म-दर्शन या आत्म ध्यान की तरफ मोड दे तो उसे आशातीत सफलता भी मिलती है वरना व्यक्ति वापिस उसी तमोमय भाव, प्रमाद और जडता मे चला जाता है। ध्यान की प्रक्रियाओ के साधन से भी कुण्डलिनी ही प्रथम जागकर उत्थान करके साधक को मार्ग का प्रतिबोध देती है, आश्वस्त करती है और प्रतीति को दृढ करती है। ब्रह्म-प्राप्ति के मार्ग मे जागृत कुण्डलिनी एक महत्वपूर्ण और मूलगत उपलब्धि है।

शक्ति एक, नाम अनेक

कुण्डलिनी शक्ति को आप किसी नाम से भी कहते रहे तो इसका कोई फर्क नही पडता। जैसा कि स्पष्ट होता है इसे जैन ध्यानाग्नि तथा शिव श्री—शिवरमणी आदि कहते है। इसे उपनिषद् योगाग्नि कहते है। महर्षि पतजलि इसे प्रत्येक—चेतना कहते है, तात्रिक इसे नागिन कहते हैं—मात्रिक इसे देवी या शक्ति कहते हैं। वास्तव मे यह स्वय मानव के भाव-स्तर का तैजस उन्मेप है। यह भाव स्तर ही आत्म स्वरूप का बीज होने के कारण उसे आत्मा का मत्र, आत्मा का शिव स्वरूप कहा जाता है, और मत्र रूप बीजाक्षर से ही उसका सहज उद्घाटन भी होता है।

भावो के आयामो को आरोहण करके ही भावो के लोक से भावातीत आत्मा के लोक मे पदार्पण हो सकता है। तब यह ही न कुण्डलिनी कही जाती—न शक्ति कही जाती न नागिन कही जाती—तब यह स्वय ही चितिस्वरूप (आत्म) चेतना ही होती है और ज्ञानाग्नि नाम पाती है, आदित्य मण्डल नाम पाती है—और इस विशेष पर्याय के मध्य ही स्वय स्व अभिन्न आत्म-पुरुष

होता है, स्वज्ञान किरणों के मध्य स्वयं आत्म सूर्य ही है, शक्ति व शक्तिमान अभिन्न ही है, वही परम निर्मल पुरुष है—जो समस्त कर्म कालिमा व अनात्म प्रत्ययो से मुक्त व स्वरूप "रूप" से युक्त है ।

शक्ति के मध्य आत्मा पुरुष का दर्शन

शक्ति का का वेध करके अन्तर ध्रुव का अन्वेषण करने पर आत्म-पुरुष दृष्ट होता है। वह आत्म-पुरुप ही मौलिक सौन्दर्य है, मौलिक ज्ञानधन रूप है, मौलिक शिव तत्त्व हे । और यह शक्ति-पर्याय उसी तत्व की परिणति है। यह मानव का अपना चुनाव है कि वह स्वभाव परिणति रूप मे सदा लास्य करता रहे या विभाव परिणति रूप मे । विभाव तो अनादि से है ही, स्वभाव के लिए ही निर्णय तथा उद्योग करना होता है ।

हिरण्यमयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।

तत्वं पूषन्नपावृणु सत्य-धर्माय दृष्टये ।। (यजुर्वेद)

स्वर्ण की आभा रूप पात्र से उस सत्य-पुरुष का मुख ढका है । पूपन् (सर्वज्ञ देव) सत्य धर्म (निर्मल स्वभाव) की दृष्टि के लिये उस स्वर्ण मय पात्र को अनावृत कर दो। सम्यक् दृष्टि की प्राप्ति उस आत्म-पुरुष के दर्शन पर ही होती है। अतः उस स्वर्ण काति के मध्य स्वर्ण काति पात्र के कुछ अनावृत होने पर उस आत्म-पुरुष के दर्शन होते है । वह स्वर्णमय प्रकाश स्वय उस भ्राजमान देव पुरष का ही तेजोमय प्रसार है। उस प्रकाश को देखने के बाद उस सपूर्ण प्रकाशमान सत्स्वभाव वाले पुरुष दर्शन को प्रकट करना चाहिये। माया का स्वर्ण मय लुभावना घेरा तोडना ही होगा। स्वर्णमय प्रकाशमय मडल प्राणशक्ति कुण्डलिनी लोक है—इसका साक्षात्कार होकर, इसके केन्द्र मे इसके वेध पूर्वक आत्म पुरुष के दर्शन होते है ।

शक्ति का स्वरूप

शक्ति सूर्य सदृश प्रकाश मण्डल रूप है और उस के मध्य ही आत्म पुरुष के दर्शन होते हैं क्योकि स्वय वह केवल ज्ञान भास्कर है, सर्वज्ञ है। इस सत्य को उपनिषद् ने भी पहचाना और प्रकाश की अभिव्यक्ति के ही अर्थ गायत्री मन्त्र के रूप मे यह गाया—

"तत्सवितुर वरेण्यं
भर्गो देवस्य धीमहि
धियो यो नः प्रचोदयात् ।।

वह केवल ज्ञान-सूर्य पुरुष ही एक मात्र वरणीय है, आराध्य व उपास्य है—उसी भ्राजमान परम तेजस्वी ज्योतिष्मान का ही हम ध्यान करते है—वह ही हमारी धी (बुद्धि) को प्रेरित करे, प्रकाशित करे ।

श्वेताश्वत महर्पि ने अपने उपनिपद् मे इसी केवल ज्ञान सूर्य - अर्हत् हिरण्यगर्भ प्रभु से बार-बार यह प्रार्थना की है—

"स नो बुद्ध्या शुभया सयुनक्तु" (३/४,४/११,४/१२)

हमारी बुद्धि को प्रशस्तभावो से सम्यक् रूप से सयुक्त कर दो ।

भाव ध्येय

आत्मा के आनन्दोन्मेष मे ही चेतना-शक्ति की अभिव्यक्ति है और प्रत्येक प्राणी मे यह ही शक्ति अपना कमोवेश उन्मेप प्रकट करती है । जैन सर्वज्ञ पुरुषो ने इसी चैतन्य की क्रीडालीलाये, गिरी मालाओ मे, वनस्पति के सुमन-हास्यो मे, इठलाती सरिताओ से प्रसृत कलकल निनाद मे, सागरो के गर्जन घोपो मे, उत्ताल तरगो के ताडवो मे, हिमकण के नर्तनो मे, वसत के उपा-कालीन मद सुगध समीर—लहरियो मे, शस्य श्यामला की सुख हिलोरो मे, प्राणियो की आनन्द मस्ती व शोखी मे देखी है ।

विज्ञान को वनस्पति गिरी पहाडो मे स्थावर चेतन प्राणो की विद्यमानता के ज्ञान को प्राप्त करने मे २४०० वर्ष प्रतीक्षा करनी पडी है । और अभी न मालूम इस चिति शक्ति की मूल उद्भावना, अवधारणा के अर्थो व रूपो को समझने के लिए कितनी सदियो की प्रतीक्षा करनी पड सकती है ।

कवि हृदय तो कल–२ बहते झरनो मे, गिरी गुहा की नीरवता मे भी उसी चेतन शक्ति की भावभगिमा का दर्शन कर लेते है । क्योकि उनका हृदय भावोन्मेप के लिए खुला रहता है । उपनिपद् कारो ने अत. सर्वज्ञ को कवि ही कह कर वदना भी की है । जहाँ न पहुँचे रवि वहाँ पहुँचे कवि । कवि हृदय का भाव-लोक तरगायित होकर अदृष्ट व अव्यक्त को भी दृष्ट व व्यक्त होने के लिये मजबूर कर देता है ।

भावो की चद्रिका की निर्मल किरणो की रेशमी डोरियो पर आरोहण करके भावातीत पर पहुँचा गया है । भावो के प्रतीक से ही आगे भी उस तक पहुँचा जायेगा । हृदय ही वह स्थली है जहाँ निज आनन्द मूर्ति की आनन्द लहरियाँ अठखेलिया करती है और जहाँ उन्हे अनुभूत किया जा सकता है ।

अनुभूतियो के आवेश क्षणो मे ही सच्चिदानन्द पुरुप का साक्षात्कार भी पा लिया जाता है । आवेश के वे बहुमूल्य क्षण द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव की सीमाओ को, उनके तटो को छोडकर अनन्त प्रवाह रूप मे जब बह चलते है तब अनन्त को भी अन्तर मे आबद्ध ही पा लिया जाता है । आनन्द भावो की अनुभूति अत साक्षात्कार के लिये निश्चित सोपान है । अनुभूति पर्याय मे होती है । पर्याय स्वय अभिव्यक्ति है और उसमे ही शक्ति अभिव्यक्त है । परन्तु यह अभिव्यक्ति

या पर्याय स्वय साध्य नही है, साध्य का अश मात्र है । साध्य तो अखड आत्मा है और वह भावग्राही है । अत उसका ही चिदानन्द भाव भाव-ध्येय है ।

ध्येय भाव

आनन्द का स्रोत, ज्ञान का भवन स्वय आत्म-पुरुष ही एक मात्र साध्य है—और आप अपना साधन भी है । और जब त्रिपुटी का वेध हो जाता है, साधक, साध्य और साधन का भेद समाप्त हो जाता है, तीनो अभेद एक बिन्दु मे ही जैसे समाये हो, ऐसा होता है तब वह पुरुष केवल पुरुष ही है । तब वह न ध्येय है, न ध्याता, न ध्यान, वह आप ही आप है, शक्ति से शक्तिमान अभिन्न व शक्तिमान से शक्ति अभिन्न । तब सब सौन्दर्य, सब सत्य उस निर्विकल्प भावातीत मे ही समाये रह जाते है ।

आत्मा भाव द्रव्य है । उस द्रव्य की लहरे सदा ही उल्लसित रहती है । कोई क्षण भाव-रहित नही होता । यह अलग बात है कि उसका भावित होना विभाव रूप से हो या स्वभाव रूप से मगर स्वय उसका कभी अभाव नही होता है । अभाव होता है, मात्र आगन्तुक व सयोगी पर पदार्थ व पर भावो का ही और तभी उसका स्वभाव भी चमक उठता है । भाव का होना ही गुण है, शक्ति है और इसकी ही अभिव्यक्ति है । यह आत्मा वर्तमान मे जैसा भी गुण रूप से है अर्थात् जिधर व जैसा भी गुणो का प्रकाश है उसी रूप व उधर ही अभिव्यक्ति रहती है । अभिव्यक्ति प्रवाह है—जिधर भी मोडो मोड दो । अत ज्ञानी प्रकृत रूप से विभाव की तरफ बहने वाली अभिव्यक्ति को स्वभाव-ज्ञान की तरफ ही मोडते हैं ।

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो ।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणाम सब्भावो ॥—(प्रवचनसार—ज्ञान तत्व प्रज्ञापन—६)

जीवात्मा परिणाम स्वभावी होने से जब शुभ व अशुभ भाव रूप परिणमन करता है तब शुभ या अशुभ स्वय ही होता है और जब शुद्ध स्वरूप परिणमित होता है तब शुद्ध होता है ।

आत्मा स्फटिक की भाति परिणाम स्वभावी है । शुभ व अशुभ राग भावो के निमित्त से परिणमित होकर—शुभ व अशुभ होता है और अराग भाव से परिणमित होता है तो शुद्ध स्फटिक की भाति शुद्ध रहने लगता है । अत उत्कृष्ट परम निर्मल अर्हंत्-तीर्थंकर पुरुष सम निर्मल आत्मा ही ध्येय है और उसका भाव ही अर्चनीय है । शुद्ध ज्ञायक व ज्ञान भाव ही अत ध्येय भाव है ।

चारित्र पुरुष की उद्भावना

प्रत्येक आत्मा एक ज्ञान-दर्पण है । वह आइना अपनी ओर है तो अपने भाव को, और जब जगत की ओर हो तो जागतिक भावो को दिखाता है । आत्मा अपनी ज्ञानाकार ज्ञेय अवस्थाओ

को ही दिखाता है। जब अपने ज्ञान आइने मे पर आत्माओ को देखता है तब उदित हुए समान आत्म ज्ञान तथा भाव मे वह वस्तुत अपने को ही देखता हे । वहाँ स्व आत्मा तथा पर आत्माएँ समान ही है—ऐसा भाव अवतरित होता है।

वह सर्वात्म सम भाव मे तदाकर होने पर सीमित ग्रह से व स्वार्थ से उत्तीर्ण हो जाता है। वह जन-जन की आत्मा से प्रतिक्षण तदाकार हुआ व महाकरुणा व परम अहिंसा से भावित हुआ, जन-जन की ही पीडा से अनुकपित रहने लगता हे। ऐसा वह स्व सुख-दु ख से विमुक्त विराट् लोक-चेतना, समष्टि चेतना, लोकात्मा के मानस रूप मे ही स्पदित, जन-जन की पीडा-निवृत्ति का व्रती हो जाता है। जन-जन के भय की निवृत्ति के लिये भयविमुक्ति का सिंहनाद या मेघनाद निनादित करते हुए व्याप्त व शृ खलावद्ध पद, सत्ता धन व परिग्रह, सचय आदि के निहित स्वार्थों की सत्ताओ को एक बारगी ही तोड फेकता है और एक अदम्य वीतराग सर्वज्ञ अभय ज्ञान पुरुष चारित्र की उद्भावना लिए प्रकट हो जाता है। ऐसा पुरुष ही फिर समग्र ससार का यथार्थ परोपकारी सेवक तथा शिवत्व का सस्थापक होता है। सेवा क्रान्त दृष्टि मय आत्म ज्ञान से पूर्व कोई भी यथार्थ हित-साधक इस विश्व का नही हो सकता।

वह पुरुष एक काल खड के रूप मे जीवन को नही देखता। वह उसे एक निर्मल भावोद्रेक मय एक सतत् प्रवाह के ही रूप मे देखता है और वह तद्रूप एक ऐसे काल-पुरुष के रूप मे विकसित होता है कि मानो समस्त काल के स्वरूपो के अतीत, एक अनन्त समग्र जीवन की शुद्ध छवि को ही प्राप्त किया हो। वह समस्त प्राणी-लोक की ही चेतना के मर्म को रूपायित करता है। उसकी व्यक्ति-चेतना समष्टि के चेतना भावोन्मेष मे समग्र रहती है और वह ऐसा अनुकम्पित रहता है कि प्राणी मात्र की चेतना की साम्यता और एकता का भाव उसमे अनुभूति व भाव चेतना के तादात्म्य को लेकर एक विषय रूप मे अभिन्न हो जाता है। सर्वात्माओ के निखिल निर्मल स्वरूप से तदाकर, अपरिग्रही और अहिसक भाव से सहज भावित, निरुच्छुक, स्व प्रसाद से ही, अराग भाव से ही शुद्ध परिणमन हुआ, वह कोटि–२ जन का मुक्ति दूत एक युग पुरुष हो जाता हे। वह इतिहास के तात्कालिक बहाव की दिशा को भी पलट देता है।

जीवन क्या है ? निरतर चेतन रूप ही स्पदित रहना है। जीवन के अत. स्पदनशील होने से गति-लयता मे स्थितिपालकता को तोडते ही रहना होता है। क्रान्त-दृष्टा क्रातिकारी होकर ही जीवन मे उत्क्रान्ति लाता है और वह उत्क्रान्ति न केवल विचार विश्व मे ही प्रकट होती है, वह भाव व भावना स्तर पर विराट् भाव लोक मे भी आनी होती है। तब भाव की शक्ति ही वर्तमान स्थितियो मे स्फोट करके ऊर्जाओ का निर्माण करके, नवनिर्माण को सभव करती है। भाव ऊर्जा ही स्थिति-अवरोध की भजक तथा नव निर्माण की सृजक हुआ करती है।

श्री वीरेन्द्र कुमार जैन के शब्दो मे—

"ऐसे एकमेव यज्ञ पुरुष की इतिहास को प्रतीक्षा है, केवल एक पुरुष चाहिए, एक व्यक्ति चाहिए जो अपने अह और स्वार्थ से उत्तीर्ण होकर हिरण्यमय पात्र मे ढके हुए सत्य के मुख को वेहिचक वेनकाब कर दे, जो इतिहास के दुश्चक्र को अपनी एकाकी पहल के वेमालुम झटके से तोड दे ।"

"अब वाद और विचार कारगर न होगे । वह भी एक विराट् पाखड साबित हो चुका है । अव तो वह चाहिए जो सीधे कारवाई कर सके, जो लोकात्मा और लोक मानस से सहज ही तदाकार हो, वही अपनी विशुद्ध क्रिया (प्यो एक्शन) के एक ही आघात से क्षण मात्र मे गणतात्रिक मानस का जन-जन मे विस्फोट कर सकता है ।

"मै नही मानता कि क्राति या अनि क्राति विचार या योजना से सभव है, इसके लिये कोई गण-तात्रिक मानस हम क्रमश निर्माण नही कर सकते । जव भी वह आयेगा वह रूपान्तर एक व्यक्ति द्वारा आकस्मिक विस्फोट से आयेगा और वह व्यक्ति बलि पुरुष होगा, यज्ञ पुरुष होगा । भौतिक परमाणु-विस्फोट के बाद, वह आत्मिक परमाणु-विस्फोट अब हर पल प्रतीक्षित है ।" (प्रजातत्र कौन लाये—एक लेख)

श्री वीरेन्द्र कुमार जैन इस प्रकार एक पूर्ण योग पुरुष की असीम अपेक्षा को प्रतीत करते वास्तव में विश्व के प्राणियो की त्राण की पुकार से ही सवेदित है । उन्होने योग पुरुष के निर्माण की आधार भूमि को पहचाना है और वे "अनुत्तर महावीर" के अन्तर-चारित्र से तादात्म्य को भी कभी अवश्य प्राप्त होगे ।

प्राणी मात्र के दु ख-त्राण की पुकार युग-युग से एक तीर्थंकर, एक बुद्ध का आह्वान करती है क्योकि धर्म का वह चारित्र पुरुष साक्षात् सकल स्वरूप होता है—"ससार दुःखत सत्त्वान् योधरत्युत्तमे सुखे" । और ऐसा तीर्थंकर वा बुद्ध जन-जन की सहज अन्तर्पीडा से सवेदित व अनुकम्पित विराट् चेतना के भाव मे उद्गमित होकर व्यापक तौर पर समाज को प्रबुद्ध करके तथा अपना सहयोगी व अनुगामी करके धर्म-राज्य की स्थापना को सभव करता है । वह स्वभाव या शुद्ध चेतना का निर्मल भावोन्वेप, स्व-प्रसाद की ही प्रभावना-भावना को लेकर है । यह ही तीर्थंकर नाम कर्म है—यह ही फलित होकर निग्रह व अनुग्रह रूप से जिन विभूति के प्रसार को करता, प्राकृत प्रवाह को उलट कर अमृत प्रवाह को प्रवाहित करता है ।

तात्कालिक भाव परिणामन अर्थात् शुभ व अशुभ भाव परिणमन, राग भाव परिणमन की दिशा को उलट कर वह विश्व के मानस मे चेतना के सक्रिय सत् स्वरूप के सधान को दृढ करता है और उनके एक एक भाव, एक एक अभिव्यक्ति या एक-२ पर्याय जो जागतिक हानि लाभ व सकुचित तात्कालिक स्वार्थो से बधे ऊँचे नीचे व उदय अस्त होते है] को ऐसे नित्य अटल स्थल की ओर गतिमान करके उनको गत्यावरोध से मुक्त कर देता है कि वे लक्ष्य-स्थिर हो जाएँ और साध्य को सिद्ध कर ले ।

वे विश्वजनो को भी जहाँ से वो भाव व अभिव्यक्तियाँ आ रही होती है, उस उर्ध्वस्थल मे ले जाते है जहाँ अभिव्यक्ति व भावो से निर्लिप्त निष्पाप व ज्ञाता-मात्र रहकर वे निर्विकल्प होकर निर्विकार आसक्ति-रहित निर्मल भावगुंजन मात्र होते है। तब वे जन-जन अपने किसी भाव, राग, आसक्ति स्वार्थ से स्पदित न होकर वल्कि सारे ससार के, न केवल बहुजन हिताय, वल्कि सर्वजन हिताय, सर्वप्राणी हिताय निरासक्त व वीतराग होकर प्राणी-पीडा के मूल कारणो एव हेतुओ से जो चाहे आतरिक व व्यक्तिगत हो या संस्थागत या व्यवस्था-गत सामाजिक या राजनैतिक हो, सघर्ष रत हो जाते हैं और सदियो से व्यापी सगठित हिंसा पर सीधे व उत्कट प्रहार करते है।

वह पुरुष इस प्रकार काल प्रवाही क्षणिक, सीमित और क्षुद्र कोणो मय अन्त जीवन को ऊपर उठाकर विश्व जनो को उस अति उच्च भूमि पर ही ले जाता है जिसमे निर्मल स्वरूप जीवन की समग्र दृष्टि प्रतिष्ठित होती है। और लोक मानस उस दृष्टि से ऐसा भावोन्मेष को प्राप्त हो जाता है कि मानव मानस की जडता एक साथ ही जर्जरित हो जाती है, एक नव व प्रबुद्ध मानस का उस भाव रूपातरण मे जन्म होता है जो फिर नये इतिहास को निर्मित कर देने मे योग देता है।

युग पुरुष स्पष्टता से उसे जानता व देख पाता है कि ऐसे जनो को जो अध विश्वासो, जड सस्थाओ व निहित स्वार्थो मे जकडे है,—जो सत्ता प्राप्त वर्ग के व उनके इर्दगिर्द घूमने वाले लोगो की भेद पूर्ण स्वार्थ नीति के कार्य कलाप से दिशा भ्रमित हैं, जो विचार, युक्ति व तर्क से स्वय अपने मार्ग को जानकर भी उस मार्ग पर आरूढ होने से कतराते है, भयतीत है, जिन्हे दृढ विचार और अभय मार्ग की तरफ गतिमान करने के लिये ऐसी अडोल भावनात्मक शक्ति की नितात आवश्यकता है जो ऐसे लोगो को, मरणासन्न समाज (सोसायटी) को ही रूपान्तरित कर सके। युग पुरुष निश्चय ही ऐसे समाज को जो अपनी द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार सतत् परिष्करण की मॉग के प्रति स्तब्ध है, इस प्रकार जीवन की स्तब्धता (Rut) से ऊवार लेता है, जब कि बौद्धिक जन (Intellectuals) अपने तमाम तर्क व विचार के बावजूद उसे एक इच भी आगे बढाने मे नाकामयाब होते है।

जीवन एक सतत् निर्मल प्रवाह है। पर्याय के साधन गत और सस्था गत निरतर सुधार मे ही निर्मलता अक्षुण्ण रहती है। जहाँ मात्र विचार असफल हो जाते है, वहाँ विचार के बाद भावना, अध्यात्म की, रहस्यवाद की भावना ही समाज को उत्थान-पथ पर अग्रसर करती है और इसके उपरात विचार व तर्क (Rationalism) की पुन प्रतिष्ठा हुआ करती है।

यह तो मानना ही पडेगा कि जो भी जड दशा होती है वह तब ही बदलती है जब उस पर पर्याप्त शक्ति का दबाव पडता है फिर चाहे वह वाह्य परिवेश गत हो या अन्तर भावोत्थान रूप। वाह्य परिवेश गत दबाव स्थायी नही होता, वह एक काल स्थायी ही रहता है। स्वय आदमी जब तक न बदले, कुछ भी तो नही बदलता।

हम चाहे सस्थागत परिवर्तनो को ऊपर से थोप दे—पर जब तक उन सस्थाओ को चलाने वाले मानवो का मानस पूर्वाग्रहो से ही स्तब्ध हो, और उनकी मानसिक व सामाजिक स्थितियाँ (एटीट्यूड्स) पूर्ववत् ही रहे, तो इससे समाज को नही बदला जा सकता । अब तो इस देश मे आधुनिकता के नाम पर वेस्टर्नाईजेशन हो रहा है, वहाँ की सस्थाओ की नकल हो रही हे ।

यहाँ के मानवो की मानसिक स्थितियाँ अभी भी असमानता सोसायटी (Inequitable Society) के आग्रहो से ही जड है । भाई भतीजावाद, जातिवाद, संप्रदायवाद व विभिन्न सकुचित दलवाद अपने तमाम दुर्गुणो सहित यहा व्याप्त है । मानवतावाद का, समानता—बधुत्व की भावना का, मैरिट का सर्वोच्च सम्मान व आग्रह कहाँ है ? कानून व सस्थाओ को हमने समानता के अर्थ स्थापित तो कर दिया हे मगर फिर भी समानता यहा दुर्लभ ही हो रही है ।

मानव को स्वय क्रान्तिकारी बना कर ही समग्र क्रान्ति को प्रस्तुत किया जा सकता है । ऐसी क्रान्ति के लिये मानव की वर्तमान जड व सकीर्ण मनोवृत्तियो को बदलकर व मूलभूत अच्छाईयो को, उसके अनन्त गुणो व विश्वासो को बाहर लाना होगा ।

यह काम अहिसा व करुणा की स्थापना बिना नही हो सकता । अन्योन्य के लिये महान करुणा भाव, सहानुभूति व बधुत्व व सम्मान व समादर तथा सवेदन शीलता की आश्यकता है जो परस्पर के शोषण, अत्याचार, हिंसा व विध्वस को रोक सके ।

वास्तव मे सब उत्कृष्ट खेल इस विश्व मे भावो के ही खेल मे है । और भावो के उत्कृष्ट खेल को सिखा सकता है एक मात्र पूर्ण अहिसक योग पुरुष । उसके भावोत्थान के ही विराट यज्ञ मे असमान रुग्ण ममाज अपने रोग से मुक्त हो सकता है ।

व्यक्ति और समष्टि का संतुलन

व्यक्ति और समष्टि के उत्थान परस्पर निर्भर है और समग्र मानव जाति के उत्थान के लिये न व्यक्ति, न समष्टि ही गौण किये जा सकते है । इनके सतुलन की ही अपेक्षा है ।

वर्ण व्यवस्था का मूल उसकी वर्तमान में विकृति

भारत का प्राचीन इतिहास साक्षी है कि यहा पूर्व मे एक ही वर्ण क्षत्रिय वर्ण था । भगवान् ऋषभेश्वर के पुत्र चक्रवती सम्राट भरत ने प्राणी अनुकम्पा व दया-प्रधानी लोगो को समाज मे आदर्श रूप मे प्रस्तुत करने के लिये एक आयोजन किया था । तब कुछ लोक वनस्पति को कुचलते हुए उनके निकट पहुचे, और कुछ लोगो ने वनस्पति मे रही प्राण-सत्ता को कुचलते हुए उस मार्ग से आना मनाकर दिया था । तब उन्होने उन करुणा पूर्ण आत्म-दृष्टि सम्पन्न पुरूष वर्ग को ब्राह्मण सज्ञा दी और उस वर्ग को समाज के लिये ऐसा आदर्श रूप मे व्यवस्थित किया जो समाज मे तप, त्याग तथा कारुणिक भावनामत्क

दृढता (vigour)को चरित्रित कर सके। भारतीय समाज का गठन ऐसे ब्राह्मण वर्ग के उस मूलभूत आदर्श को लेकर आरम्भ हुआ था।

यह मानना कतई गलत और असगत है कि भारतीय समाज—क्रमोच्च (Hierarchical) वर्णों की व्यवस्था को लेकर जन्मी थी। ब्राह्मण वर्ग के वाद वणिक वर्ग भी आया तथा शूद्र वर्ग भी आया तो वे सव गुण व्यवस्था को ही लेकर आये, न कि समाज मे जन्मगत ऊच या नीच या छुआछुत के भाव को लेकर। ये समाजके चार भाव-स्तम्भ रूप मे थे, ऊर्ज्जस्विता (ब्राह्मण) सरक्षणता (क्षत्रिय) समृद्धि (वणिक), सेवा (शूद्र),—इन आदर्श चतुर्गुणो से भारतीय समाज मे समानता ही शोभित हुई थी।

श्रमण सस्कृति ने समाज की उसी मूलभूत समानता व आदर्श के सिद्धान्त को ही वार-वार उद्‌घोषणाये की। ब्राह्मण वर्ग की परिभाषा धम्मपद मे व महावीर की वाणियो मे गुण प्रधानता को ही इगित करती रही हैं। उन्होने जातिगत, वर्णगत, कुलगत, लिंगगत व जन्मगत आदि लौकिक व आरोपित भेदो व वधनो को नकारा है, और कभी छूआछूत को स्वीकार नही किया है। मगर कालातर मे सब व्यवस्था विकृत होती गई। निहित स्वार्थों का जन्म हो गया और लचीला गुणाश्रित वर्ण-भेद भी जन्मगत वन्धन हो गया। ब्राह्मण और क्षत्रियो मे अध्यात्म व लौकिक शक्तियो का सचय हो गया और अपने छोटे स्वार्थों की परिपुष्टि व फैलाव के लिए उसके अधर्ममय गठजोड मे जिसमे ब्राह्मण जन्म व जाति रूप मे श्रेष्ठता, पवित्रता व पूज्यता का अपना वखान करने लगे, और क्षत्रिय ईश्वरीय हक व अश होने की अहम् मान्यता से अपनी उच्चता चाहने लगे, तो सारी समाज व्यवस्था मे क्रमश शोपण का, हीनता और दुराचार का वीजारोपण हो गया। स्त्री समाज को भी अप्रतिष्ठित किया गया। इस सब बन्धनो तथा विभेदो को मनुस्मृति मे कालान्तर मे स्पष्टतया धर्म रूप मे उद्धोषित किया गया। ऐसे यह भारतीय समाज क्रमश हीन-उतार लिये व जन्मगत रक्तगत पवित्रता को मान्य करने वाली एक विकृत वर्ग-व्यवस्था मे विच्छिन्न हो गया। और ऐसे वह अपने गुण-स्वभाव की अप्रतिष्ठा के कारण टूटता व विच्छिन्न होता होता शतश जातियो मे बट कर तेज हीन, शौर्यहीन होकर निष्क्रिय ही हो गया है।

ब्राह्मण वर्ग को एक आदर्श रखा गया था—जो अन्य सबके लिये अनुकरणीय था। वह एक मूलभूत केटेलिस्ट था जो समाज को अपने ज्ञान गुणो से द्रव्य क्षेत्र काल भाव के अनुसार सक्रिय और परिष्कृत रखता हुआ सन्मार्ग आरूढ रखता, जो मानव को मानवता और आदमियत के आदर्श से जीवत रखता। श्रमण सस्कृति इसी भाव को जगाये रखने का अथक प्रयास पिछली सैकडो सदियो से करती आ रही है। आश्चर्य होता है इसके अनुगामियो मे भी वही जड जाति-व्यवस्था दुर्जन सगति की तरह घुस बैठी है।

सम्पूर्ण भारतीय जीवन अब असमान समाज-व्यवस्था के रोग से भयावह रूप से आक्रान्त है और अव तो इसके साथ राजनैतिक लाभ व सत्ता के लोभ तथा स्वार्थ और जुड गए है। यह रोग अव

विचार से या बौद्धिक-जनो के तर्कों से समाप्त नही होने वाला है । इसके लिये महान् भावोत्थान की अपेक्षा है जिसे पूर्ण योग पुरुष ही कर सकने मे समर्थ होता है ।

अहिंसक क्रांत दृष्टा पुरुष की अपेक्षा

ऐसे युग पुरुष की अपेक्षा है जो सारे समाज को एक ही बारगी मे अपने अहिसक आह्वान से उद्वेलित कर सके, उठा सके और चला सके । ऐसा एक अहिंसक पुरुष भारत मे श्री महात्मा गाधी के रूप मे हुआ भी, जो कोटि-कोटि जनो की पीडा से सवेदित था और उसने कोटि-२ जनो को भावोद्वेलित भी किया, उन्हे उठाया और उनकी सदियो की बेडियो को तोडकर स्वतन्त्रता के उषा काल मे जागने के लिए झकझोरा ? पर वह अपने मिशन के पूरा होने से पहले ही बलि हो गया । अहिंसक बलिदान क्या कभी निष्फल होता है ? महात्मा ईसा के ही समान उनका भी आदर्श इस देश के रूपातर के लिए कभी निश्चय ही सबल माध्यम होगा । अहिंसक क्रात दृष्टा को फिर आना होगा या लाना होगा । ऐसी आशा तब ही हो सकती है कि हम उसके अवतरण के योग्य भाव-भूमि को तैयार करते रहे ।

व्यक्ति और समष्टि चेतना का रूपांतरण : परिणाम विशुद्धि

व्यक्ति समाज का घटक है और व्यक्ति जब निष्पाप अभिव्यक्ति के रूप मे आमूल-चूल रूपातरित होता है तो ऐसे व्यक्ति के प्रभाव से ही समष्टि चेतना मे भी रूपातरण होता है । अत व्यक्ति का आतर सद्-रूपातरण ही समष्टि जीवन का, पूरी सोसायटी का त्राण हे ।

तीर्थंकर व बुद्ध स्व मुक्ति के सीमित दायरे से ऊपर ऊठकर—अपनी असीम अभिव्यक्ति की असाधारण क्षमता को लिये अपनी सतत् धर्म देशना तथा सतत् पद-विहार से कोटि-कोटि जनो के मानस को बन्धनो से, पाप-पक से, भय व अधकार से बाहर निकाल कर, अपने समीप लेकर, साथ लेकर, आश्वस्त व अभय करके धर्म राज्य की स्थापना को सभव करते हैं, कोटि-कोटि जनो की भाव-मुक्ति का द्वार खोल देते है ।

जड मानस स्थितिया, सामाजिक सकुचित परिस्थितिया आत्म लोक के पुरुषार्थ के सामने ही हारती है । मनोविकारमय अशुभ व शुभ वृत्तिया तब विमुक्त होकर शुद्ध होती है । अत: विशुद्धि का ही एक मात्र मार्ग सत्कार्य मार्ग है । इस विशुद्धि के ही मार्ग को शुद्ध कहते है, इसे ही तीर्थंकर प्रकट करते है । यह परिणाम-विशुद्धि, भाव-विशुद्धि से चारित्र-विशुद्धि और आत्म-विशुद्धि का ही मार्ग है ।

जागतिक भावो व बाह्य चिन्हो तथा वर्ण जाति कुल आदि के ठप्पो के पक्षपात् से विवर्जित अत'करण व अन्तरात्मा का दिव्य मानवीय गुणो से विभूषित एव शुद्ध होने के बाद ही परम स्थिति की प्राप्ति की सभावना हो सकती हे और तब ही धर्मराज्य की स्थापना भी । परम प्रभु की प्राप्ति का यही मार्ग है । उस परम स्थिति को ही अन्तर मे खोलना व अन्तर मे पाना है । ऐसे समष्टि मानव के

अवतरण और निर्माण के लिए जिसमे सब की समानता हो, स्वाधीनता हो, शोषण-विशुद्धि हो, करुण और अनुकम्पा हो, पवित्र भावोन्मेष की अपेक्षा है।

पवित्र भावोन्मेष मे ही सर्वहारा शक्ति का उन्मेष होता है। उसमे ही निर्माण शक्ति है, और उसी मे भावो के परा-स्वरूपो के स्तर की प्राप्ति होकर भावातीत हुआ जाता है, जो समान तेजो रूप मे प्रज्वलित होकर केवल विकारो को, बाधाओ को ही जलाती है। जब तक मानव अपनी अन्तरात्मा मे ऐसी योगाग्नि को प्रज्वलित करके शुद्ध भावनाओ को प्रदीप्त न कर लेगा, और शुद्ध भावनाओ से उज्ज्वल चारित्र रूप स्वय परिशुद्ध व निष्पाप न हो जायेगा, उसे बार-बार जीवन की अनन्त यात्राओ मे नारकीय उत्तप्त अग्नियो मे झुलसना ही पडेगा। व्यक्ति तथा समष्टि जीवन मे सर्वहारा शक्ति वाले भावोन्मेषो की जरूरत है।

पूर्ण योग पुरुष और धर्म राज्य की स्थापना

युग पुरुष काल–पृष्ठको विदीर्ण करके कालातीत जीवन पृष्ठ का निर्माण करता है और जगत् के उद्धार के लिये ही होता है। वह ही सर्व प्राणियो के लिये सन्मार्ग, सम्यक् निष्ठा, ज्ञान और अमर जीवन के सदेशो को देता है। पर विश्व को उसके सदेशो को धारण कर सकने की योग्यता प्रकट करनी होगी। उस स्वर्ण प्रभात के होने तक हमे अपने छोटे-छोटे दीप जलाए रखने होगे।

"मेरे 'अनुत्तर योगी'—के महावीर ने अढाई हजार वर्ष पूर्व वैशाली के सथागार मे भविष्य वाणी की थी—एक दिन योगी को राज्य-सत्ता के आसन पर आना पडेगा, नही तो पृथ्वी पर एक धर्म-राज्य की स्थापना त्रिकाल सम्भव नही।" (श्री वीरेन्द्र कुमार जैन)

वस्तुत पूर्ण योग–पुरुष आयेगा। राज्य सत्ता, पद, विषय व वैभव को भोगने के लिए नही, वह आयेगा लोगो के हृदय व मानस को ज्ञान–प्रज्वलित करता हुआ, धर्म-राज्य के आविर्भाव के मिशन को ही लेकर। वह योगी पुरुष पूर्ण अराग, निष्पाप शुद्ध भाव को लेकर–साकार चारित्र–पुरुष हो कर आयेगा। वह अपने उदाहरण से सदाचार तथा सन्मार्ग की शिक्षा से दीक्षित करेगा और अपने उदाहरण से सम्यक्-चारित्र की स्थापना करेगा, उपदेश (कथनी) और करणी के, ज्ञान और कर्म के भेद को समाप्त कर देगा। अन्तर्बाह्य की परिपूर्ण निर्मलता को ही आजका भी सदर्भ चाहता है और इस वर्तमान सन्दर्भ मे योग भी इसी एक मार्ग का दिशा-निर्देश करता है।

आदर्शो के उद्घोष चाहे वे किसी भी स्तर पर हो, राजनैतिक हो, सामाजिक हो, आर्थिक हो या आध्यात्मिक हो—जब तक उद्घोष मात्र ही रहते है, भाषण मात्र ही रहते हैं, तो निर्मल भावात्मक सम्बन्धो का आधार-स्रोत मानव–आत्मा मृत्यु की घडियो को ही गिनती रहती है। उन आदर्शो को मानवीय एकता समानता की अनुभूति व भाव चेतना का विषय बनाकर जिया जाना चाहिए, समग्र लोको की आत्माओ के प्रति व उनकी अन्तर्पीडा के प्रति व्यक्ति–आत्मा को सवेदित व समर्पित हो जाना

चाहिये । विराट् स्वप्नमय भावो के समर्पित होकर ही क्रात-दृष्टि तथा अथाह पुरुपार्थ के जन्म मे ही मानव सन्तान ने बार-बार नवजीवन को पाया है ।

निष्पाप परिपूर्णता, न कि अनाचार की प्रबलता एव निखिल के साथ तादात्म्य,—ये ही विनम्र आध्यात्मिक, वैयक्तिक तथा लोक शक्तियो को जन्म देते है । वह वैयक्तिक आन्तर-शक्ति मानव मे धर्म साम्राज्य को स्थापित करती प्रकट होती है । धर्म-राज्य प्रथम तो स्वय मानव मे ही स्थापित होता है । वस्तुत. जैसा कि महात्मा ईसा ने भी कहा—"स्वर्ग का राज्य तुम मे ही है ।" अन्तर मे धर्म के राज्य के विस्तार पाने पर फिर बाह्य मे शुद्ध बलिष्ठ लोक शक्ति का निर्माण सम्भव होता है जिससे ही धर्म राज्य की स्थितिया बनती है ।

शक्तिया युग विशेष की दशा के रूप नही, बल्कि प्रत्येक जीवन की जीवन्त सत्य-साधना हो जाती है । तब सत्य को बनाने व सत्य को पाने का अनुशासन आता है—वह सत्य वणिक्-वृत्ति नही, न सत्ता-प्राप्त वर्ग की धन व पद की लिप्सा; प्रत्युत उसका रूप होता है, सब कुछ त्याग कर भी समस्त विश्व के साथ अपनत्व और अनन्त शान्ति, अनन्त अहिसा की खोज तथा स्थापना जिसमे बहुव्यापी जडता, स्तब्धता, विषमता, प्रमाद, अहकार व अत्याचार की हिंसा व पाप के विरुद्ध अटल चट्टान के रूप मे प्रतिरोध ।

इस साधना मे पुरुप अचल विनम्र होकर ही, जय व पराजय के भाव से भी दूर, स्व जय से अभिन्न, रूप व शब्द की ममता से दूर, निर्मल निर्विकारी व व्यापी लोक शक्ति का प्रतीक होकर, समग्र के सम सामजस्य को स्थापित करता है ।

अन्तर्द्वन्द्वो अन्तर्विरोधो को समाप्त करके वह किसी एक दल के रूप मे नही, बल्कि दल के दल-दल को दलित करके सम्पूर्ण लोक-शक्ति को प्रतीयमान करके अपने उदाहरण से सब मे निष्पाप न्याय, समता व शाति तथा आनन्द को अवतरित करता है ।

अनाचार की प्रबलता रूप हिंसक शक्ति बहुव्यापी नही होती । वह तो कुछ क्षण व्यापी ही है । वह आँधी तथा तूफान की तरह कभी-कभी इस विश्व मे आती है । उसका जन्म किसी गजनी, गौरी, चगेज, तैमूर, हिटलर, कस या रावण के रूप मे होता है । पर नित्य शात वायु के प्रवाह की शक्ति है कि वह मन्द सुगन्ध शीतल प्रवाहित होती है । इसकी शक्ति आधी तूफान से अधिक है । आधी तूफान एक संकीर्ण स्थान को कुछ समय के लिये ही क्षुब्ध कर सकते है । परन्तु शात वायु का प्रवाह समस्त पृथ्वी को ही नित्य काल तक घेरे रहता है ।

समग्र शुद्ध के ज्ञान-सामजस्य को नष्ट करके हिंसा अपने को स्वतन्त्र रूप मे दिखलाती है परतु दर असल वह समग्र से छोटी ही है । यथार्थ नम्रता अर्थात् शाति बिना बाधा सब के साथ मिलकर सत्य रूप मे समस्त को प्राप्त करती है । वह किसी को दूर नही करती, विच्छिन्न नही करती, प्रत्युत अपने को

ही त्याग और सयम की कठोर शक्ति से अनुशासित करके करूणा रूप मे प्रतिष्ठित करती है। वह विध्वस नही, निर्माण करती है।

विनम्र शाति का आराधक विश्वबन्धुत्व का हामी व मानवतावाद का सदेशावाहक होता है। वह आत्म-जयी होकर विश्व हृदय का जयी, जगत्-जयी हो जाता है। क्योकि यह नियम है कि बुराई से अच्छाई का राज्य नही लाया जा सकता। अपने आप को जीत लेना समग्र विश्व को भी जीत लेने से बडा है।

अभिव्यक्तियो के पार शुद्ध सत्य का अन्वेषण

ससार सात है, रूप व शब्दमय है। इसमे स्थितिया प्रतिक्षण बदलती है। अभिव्यक्तियो के पार जो शुद्ध सत्य के अन्वेषक होगे, वे ही इस सात ससार के पार अनन्त को प्राप्त करेगे। जो अच्छाई के लिये भी बुराई को प्रोत्साहित करते है, वे द्विविधाओ के ही वैषम्य मे रहते है और सत्य सुखद जीवन की प्रतिष्ठा नही कर सकते।

महा करुणा महा निष्क्रमण

ससार का यह शरीर ऐन्द्रिय स्तर है, विषय और कषायमय है। इसकी आसक्ति तोडनी ही होती है। केवल इस स्तर को ही मानकर मानव का अन्तःकरण कैसे सतोष को प्राप्त हो सकता है? यह मानव है अमृत पुत्र। इसीलिये वह नित्य प्रशात प्रवाहित जीवन की पुकार करता रहता है। ससार के भोग-सुख की प्यास-विलास का क्षण समाप्त होते-होते जब आत्मा मे ऐसी वेदना जाग उठती है, कि जिसमे वह सारे ससार की प्राणी पीडा व दु ख को अपना कर अपनी महा करूणा मात्र के ढोने मे समर्थ हो जाता है तब कही *तीर्थंकर का महानिष्क्रमण* होता है।

ओह! उस तीर्थंकर के भीतर कितना बडा सत्य जागता है, कितनी बडी चेतना समुल्लसित होती है, कितनी बडी शक्ति का नया करुणा का सागर लहराता है! उस निष्क्रमण के काल मे एक मात्र एक पुकार, जागतिक सब पुकारो के ऊपर उसकी एक पुकार बराबर जागती रहती हैं, हे अनन्त! हे परम! तुम्हारे भीतर से सारे ससार के साथ मेरा जो नित्य सम्बन्ध है उस सम्बन्ध मे मुझे बाधो।

यह पुकार है अमृत की, जो मरना नही जानती और अमृत मे पहुँचा देती है। इस महा करूणा-मय सम्बन्ध मे बन्ध जाना ही देह व ससार के राग की समाप्ति रूप अरागमय शुद्ध वीतरागता है। उस वीतरागता मे ही वह आनन्द के भण्डार के दर्शन करता है, वह दु खी ससारी प्राणियो का दु ख से त्राता तथा साक्षात्मुक्ति दाता हो जाता है।

इस प्रबुद्ध आत्मा की जगत् को बार-बार ही यथार्थ प्रतीक्षा है। वो ही जगत् का यथार्थ

आराध्य है । उसके ही निर्मल व्यक्तित्व के प्रभाव मे समग्र जन मानस के सकुलित भावो की जडता एव जागतिक भावो एव भयो के लोक नष्ट होते है तथा मूल मानवीय समस्या जो दृष्टि कोण के सम्यक्त्व की रहती है, का समाधान प्राप्त होता है, तथा व्यक्ति-चेतना भी सकल्प-विकल्पो से परे नि सकल्प निर्मलता को प्राप्त होती है ।

भावों का खेल और भावातीत

युक्ति व विचार की भूमि प्रकर्ष है, पर उनसे भी आगे व प्रकर्षतर भूमि तो वह निर्विचार भाव-भूमि है जिसमे भावोदयो का परिशुद्ध लोक ही जाग पडता है, उसी मे हृदय को सीमित करने वाले बधन टूटते है, राग उसी मे टूटता है । और जागतिक राग के बधन टूटने से असीमित अभिव्यक्तियो का असाधारण व परम विराट् विश्व मे प्रवेश होता है । योग की सर्वगत चिन्तन-भूमि समग्रता की अलौकिकता मे निमग्न होकर निर्विकल्प भावो का स्पर्श कर लेती है तव चिन्तन अपनी काष्ठा पर सर्वचिन्ता विवर्जित प्रतिष्ठित रह जाता है। वह तब मै-तू-यह-वह-ऐसे विचार से परे विराट् आत्मा के लक्ष्य मे ही स्थिर होता है ।

जव तक चिन्तन मे विश्लेषण या जागतिक विषयो की स्मृति के जागरण चलते रहते है, तब तक चिन्ता रहित स्व-चिन्तन की उर्ध्वधरा समुपलब्ध नही होती । अपने समस्त अनात्म वातावरण व आसपास के प्राकृत परिवेश से सम्बन्धित समस्त रागमय विचार व कल्पनाओं को जब तक मन की मनन शक्ति वस्तु-व्यवस्था तथा वीतरागता के स्थिर भाव से पराभव करके अपने स्मरण व मनन से निर्वासित नही कर देती, तब तक मन के स्पदनो से पूर्व जो एक निर्मल मात्र भाव-अवस्था होती है उस दशा की अलौकिक भूमि के दर्शन भी नही होते । उस उत्कृष्ट भूमि को पाकर तो भाव मात्र, ज्ञेय मात्र व ज्ञान मात्र ही मन रह जाता है तब वह अनन्त के निश्चल तट पर ही पहूँच जाता है । वहाँ भावो के आयाम विस्तृत तथा रुपातरित हो जाते है और परम चेतना मे ही मानव जाग उठता है । परिपूर्ण वस्तु मात्र क्या है, इसका ही उसे बोध हो जाता है ।

सत्ता के अनेक स्तर

वस्तु इतनी मात्र नही है जो व्यक्त प्रकट दिखती है । सत्ता के स्तर और भी है, और वे कही अधिक विराट् व सूक्ष्म विस्तार वाले है । भौतिक, परा-भौतिक, मानसिक, भावात्मक व आत्मिक ऐसे कई कई सूक्ष्म से सूक्ष्मतर सत्ताओ की विद्यमानता है । व्यक्त रूप से दिखने वाला तो एक पक्ष या एक अश मात्र है । इस व्यक्त के पीछे जो अनन्त, पूर्ण व विराट् या विविध जो छिपा हे, उस अप्रकट, अव्यक्त, अदृश्य को न पाकर एकाग का दर्शन तो मात्र एकात दर्शन है ।

एकात दर्शन मे पूर्ण वस्तु का निरादर है । एकात दर्शन बहिर्दृष्टि, जड व असत् दृष्टि है । इस अन्याय पूर्ण मिथ्यादर्शन से जव मानव उवर जाता है, तव कही उसे परम तत्त्व की उद्भावना

प्राप्त होती है और तब उस उद्भावना के होते ही सर्वात्म-भाव आता है जिसमे परम व विराट् की ही निज वीणा समलय को व सम ताल को लेकर समग्र विश्व की आत्माओ से तादात्म्य भाव के सम सगीत से सुस्वरित बज उठती है ।

सर्वज्ञ प्राणियो मे चेतना का सम समान ज्ञान एक महान करुणा भाव को ही जन्म देता है । स्व करुणा मे ही पर-करुणा जाग उठती है और इसी तरह पर-करुणा भी स्व-करुणा की ओर ले जाती है—क्या कोई भेद रहता है ?

समग्र के साथ समलयता और सर्वत्र आत्मदर्शन

समग्र के साथ समलय व समताल अवस्था मे अपनी क्षुद्र अस्मिता को भूलकर—उसके विभाव से परित्यक्त होकर जब कोई जागने लगता है तो उसे जो भी व जहाँ भी दिखता है उसे उन सब मार्गणा-स्थानो मे—वहाँ वहाँ परम आत्मा के ही दर्शन होते हैं, उस परम चेतना के ही दर्शन होते है जो अपनी स्व चेतना के ही समान विराट् व परम है और विराट् होने के मार्ग मे हे, प्रतीक्षा मे है ।

उसे गिरीमालायें एक जड पर्वत न होकर, वन मालाए मात्र अचल स्थावर न होकर, व्यक्तिक्त मात्र एक पर-छन्दी व्यक्ति न होकर, एक परम सक्रिय आत्मा, निज शक्ति- केन्द्र को लिये, अपनी ही परम चेतना के समान रूप मे बोलने लगता है । इस प्रकार की मुखरता मे मानव मन जागतिक प्रकल्पनाओ से मुक्त ही हो जाता है और परम से ही सवेदित होता तदाकारता का अनुभव करता है, अपना ही निर्मलतम 'स्व' सुस्पष्ट दृष्टिगत रहने लगता है।

ऐसी दृष्टि मे, चिन्तन के, भावो के, और ज्ञान के आयाम बदल जाते है, स्व व पर के भेद-पूर्ण विषम परदे भी तब नही रहते और वह अपने ही सम्मुख आप ही रहता है, न दृष्टि तब किसी "पर" पर रहती, वह स्व के ही भाव मे डूबा रह जाता है, एक निर्मल चिति के ही विलास रूप तब वह आत्म-विलासी हुआ अर्हत्पुरुष ही हो जाता है जो भावो के परम प्रान्तो के भी पार भावातीत शुद्धस्वभाव का विलासी है ।

भाव भाव हि संजुक्त, भाव भावहि जोजि ।
देहि जि दिट्ठउ जिणवरहिं, परम पउ सोजि ।। (परमात्म-प्रकाश)

अर्थात्—समीचीन रूप से भावो ही भावो मे देखते, अन्वेषण करते करते जब भाव से भाव (आत्मा) को प्राप्त हो जाते हैं तो इस देह मे ही जिणवर—अर्हत्पुरुष को देख लिया जाता है और वह ही परम प्रभु है ।

भावो का ऐसा खेल है ।

भावो की जागृति मे ही भाव रूप होकर उस भाव-मय प्रभु, अन्तर्प्रभु की प्राप्ति होती है । भावक भाव से जिन-भाव रूप की, स्वभाव भाव की प्राप्ति होती है, भावो के तट टूट जाते है और भावातीत मे स्थिर हो जाते है, वही रमण करने करने लगते है । प्रश्न इतना है कि कोई उस परम सत्ता स्वरूप के प्रति जागृत तो हो, उससे भावित हो, उससे तादात्म्य करे और समर्पित हो जाये, तात्कालिक भाव त्रैकालिक भाव से जुडे और तद्रूप रूपातरित हो जाये ।

"भावना निज भावते ही भावते पावते निधि अपनी" । निज रूप से सब विश्व प्राणियो मे भावना होने से ही भावो के आयाम बदलते है, वरना पूर्ववत् सकीर्ण सकोच सा ही बना रहता है और भेद-भाव की रेखा मिटती नही और अत निज से भी अभेद की प्राप्ति नही होती । वह निज रूप परम विराट् तो भाव मे किसी सकोच को सहन नही करता ।

क्षुद्र अस्मिता को विराट् सत्ता में बदलने पर ही, निज व पर के भेद की समाप्ति होने पर ही भावो का सकोच निवृत्त होकर अभेद निर्मल भावो के पार, परम विशुद्धि मय परिणति मे, परिणति-परिधि के पार, स्व केन्द्र अपरिणामी नित्य शाश्वत् से भेट होती है । अत दृष्टि मे जब निर्मल अर्हत्पुरुष का भाव समा जाता है और वह ही सर्वत्र भासता है, बोलता है तब उस सद्भाव मे तद्रूप हो जाते है ।

साधक का ध्रुव नक्षत्र

केवल ज्ञानी अर्हत्पुरुष या तीर्थकर या प्रबुद्ध बुद्ध परम गुरु ही अत: साधक का ध्रुव नक्षत्र है । क्योकि वही वीतराग है, सर्वज्ञ है, सर्वोदयी धर्म-मार्ग का प्रणेता है । साधक के जीवन यंत्र की सूई उधर ही अभिमुख रहनी चाहिए फिर चाहे जीवन-सागर के तल पर किसी भी स्थान पर हो, वह चाहे राजा हो, रक हो, सेवक हो, साधु हो, राजनीतिज्ञ व राजनेता हो, लोक सेवक हो, कैसा भी हो वह आत्म भाव से, अराग भाव से, ज्ञान भाव से, समभाव से ही अनुकपित रहना चाहिये ।

उस आदर्श अर्हत्पुरुष तीर्थकर के स्वरूप को ही ध्येय रूप मे ग्रहण करना चाहिये । उसके ही महान् करूणा के भाव को ग्रहण करना चाहिये । उसकी ही महान् अहिसा के भाव को चरितार्थ करना चाहिए । यह ही तो शुद्धात्मा का ग्रहण है । इस शुद्धात्मा के भाव को समर्पित होकर जीवन व्यवस्थित करने वाले ध्येय के शुद्ध निर्मल भाव से भावित, प्रेरित तथा सचालित होना ही ध्याता व ध्येय की वस्तुत एकता है ।

वह भाव ध्येय वस्तुत निर्मल व्यक्ति-चेतना तथा निर्मल ही समष्टि चेतना का उत्प्रेरक है । अत. ही वह शिव भी है । भाव की गगा ऊपर से उतर कर नीचे नही बही तो सार्थकता ही क्या ?

स्वआत्मा को शुद्ध जितेन्द्रिय जिनेश्वर के सकल वीतरागी स्वरूप के अवलम्बन से जब अपने मे अपना शुद्ध भावोन्मेष कालान्तर मे भावातीत के ही तट पर जाकर रुकता है और वहाँ निजात्मा का ही प्रसाद प्रकट भी होता है, तब क्या पर क्या स्व ! भावातीत अभेद भावोल्लास तो मात्र निर्विकल्प अद्वैत ही हो जाता है।

सर्वोदय

सर्वोदय का भाव चैतन्यात्मक है, जीव के शुद्ध भाव-ध्येय से जुडा होता है। इसमे जीव के अनुजीवी भाव पौद्‌गलिक नही, ज्ञान मय होते है। करूणा और अहिंसा के आधार पर ही विश्व व्यापी क्रान्ति सभव होती है। सर्वोदय मे अल्प अह की तुष्टि नही रह सकती है, न पौद्‌गलिक दृष्टि ही रह सकती है। जीवो के भावोदय को ही प्रधानता देने पर सर्वोदय सभव हो सकता है।

सर्वोदय वस्तुत भाव-प्रधान है। पुद्‌गल और पुद्‌गल के परिणाम से जीव का सम्बन्ध विच्छेद करके ही, यानी जीव के परिणाम का पुद्‌गल परिणाम से सबध विच्छेद होने पर ही जीव के स्वय के शुद्ध नित्य निर्मल परिणामो (भावो) को प्राप्त किया जा सकता है।

कर्म वर्गणामय भव बधन के बध, व्यय, और आस्रवादि के परिचय और पहचान के हेतु आचार्य प्रभुओ ने कर्म-साहित्य की सरचना की, और उसे गणित विज्ञान के विस्तार से समझाया, पर प्रज्ञा भाव की दृष्टि को पैनी बनाने के हेतु ऐसे भावोदय-या भावावेश की भी साथ ही प्रधानता की है जो भेद विज्ञान से ओतप्रोत सुवासित होकर जीव और कर्म-प्रत्ययो को आपस मे जोडने वाले पौद्‌गलिक भावो को नि शेषकर दे।

नि शेष कर्म स्थिति को प्राप्त करने मे जीव को कितना समय लगे, यह तो उसके सचित कर्म पर—तथा उसकी होने वाले परिणाम 'विशुद्धि पर ही निर्भर होगा। निरतर भावात्मक उत्कर्ष एव विशुद्धि के अतिरिक्त अन्य मार्ग हो भी क्या सकता है ?

मद राग-द्वेष कषाय की स्थिति मे कदाचित् प्रज्ञान भाव, ज्ञायक भाव, क्षायिक भाव, करण परिणाम आदि सभव होते हैं। पर वस्तुत. मद भाव वैसा कार्यकारी नही होता जैसा मोह व कषाय को नि शेष कर देने वाला उग्र ज्ञायक भाव जिसमे शेष कषाय नि शेष हो जाए और स्व निर्मलता से अभिन्न तद्रूप अवस्थान प्राप्त हो जाए।

पर ज्ञान की दशा को विकसित करने वाला विशुद्धि का भाव समस्त अन्य भावो से अतीत, मात्र ज्ञायक भाव ही होता है। वह पुद्‌गल की लीलाओ से, राग व मोह के विलास से निष्प्रयोजन होता है। सकलेश परिणामो के नियत्रण की क्षमता का उदय ही ज्ञायक भाव की परख व कसौटी है।

ज्ञायक भाव चिदानन्द मय, ज्ञानानन्दानुभूति मय, विशुद्धि मय होता है और कालान्तर मे अनन्त अक्षय आनन्द धाम को प्राप्त कराता है। वही वीतराग और अबध दशा का निर्मापक व मुक्ति दाता है।

आत्मज्ञान, भाव-स्फोट और जागृत अवस्था

विज्ञान आज पुद्गल के स्फोट की विधियो को खोजता चला जा रहा है, परन्तु ज्ञान-भाव स्फोट जो जीवात्मा मे होते है उन्हे क्या पुद्गल यन्त्रो से मापा जा सकता है ? पुद्गल यन्त्रो पर आधारित—कम्प्यूटराइज्ड ज्ञान भी सीमित ही रहेगा, क्योकि योग और कषाय सम्बन्धी परमाणुओ के शक्ति-अश के अविभागी प्रतिच्छेदो की सख्या असख्यात है पर ज्ञान के अविभागी प्रतिच्छेदो की सख्या अनन्तान्त है। ज्ञान ही मोह का प्रतिकार है. कर्म का प्रतिकार है। वह आत्मा का विशिष्ट गुण है, वह तत्सम, तद्भावी और तद्रूप होता है।

जो मन वचन काय की चेष्टा से व मोह से परे, अधः प्रवृत्तकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्ति करण के निमित्त है—वे ज्ञायक भाव है और वही इन कारणो की भी उपलब्धि कराता है। अत· आत्म-ज्ञान मे एकाग्रता ही सयम, तप और ध्यान है। इसी मे भावोदय और फिर भावातीत निर्मल नित्य अपरिणामी ध्रुव केन्द्र की प्राप्ति भी है। इसी ज्ञायक भाव की प्रसिद्धि जागृत भाव मे करनी होगी। अतः जागृत दशा मे चैतन्य की वृद्धि करते रहना चाहिए। परम ब्राह्मी अवस्था जागृत अवस्था की ही विशिष्ट अवस्था है। जागृत अवस्था मे ही निर्मल ज्ञान मय आत्म ध्येय को दृढता से ग्रहण व धृत करना होगा।

भाव-अवस्थाएं और आत्म-प्रभु निष्ठा भाव की श्रेष्ठता

निर्मल आत्म-ध्येय के ही ग्रहण की बात सत कबीर ने भी की है। उन्होने भाव स्तरो का वर्णन करके उन क्रमिक भाव स्तरो को पीछे छोडकर स्वय सम्पूर्ण आत्म चेतना मे प्रभु रूप भावातीत आत्मा परमेश्वर मे ही उपयोग को निबद्ध करने की प्रेरणा की है जिसमे जैन ज्ञान की स्पष्ट गूंज है। उनका वर्णन इस तरह है—

> लपकि चलु सजनि ! संईया की ओर।
> छौडि नासूत, मलकूत जबरूत की ओर लाहूत हाहूत बाजी।
> और साहूत राहूत ह्यां डारि दै, कूदि आहूत जाहूत जाजी।
> जाय जाहूत मे खुद खाविंद जहं, वही मकान साकेत साजी।
> कहै कबीर ह्यां बहिश्त दाजख थकै, बदे किताब काहूत काजी।
> सत मटकी पटकी अटकी रहै, एक मतरी गई रचना की छोर॥

नासूत जागृत अवस्था है। जब जुबान से जाप यानी वैखरी जाप या सुमरन किया जाता है तो जागृत अवस्था जीव की रहती है।

मलकूत स्वप्नावस्था है, जब दिल (हृदय) पर भावना द्वारा (आघात) देकर या प्राणायाम (हब्स–दम) करके साधना की जाती है तो जीव को स्वप्न अवस्था प्राप्त होती है।

जब रूत सुषुप्ति अवस्था है, यह योग-निद्रा है। यह जागृत से विपरीत अवस्था है। जब तीसरे तिल भ्रू-मध्य मे दृष्टि स्थिर करके जाप किया जाता है तो यह सुषुप्ति अवस्था होती है।

लाहूत तुर्यावस्था है। यह वह अवस्था है जिसमे साधक स्वय सुमरन रूप हो जाता है और अन्तर्मुख रहस्य को तथा भेद को पाने वाला होता है।

पाँचवी हाहूत तुर्यातीत अवस्था है। यह आत्म-गुप्त अवस्था कही जाती है। अपने ध्येय-इष्ट मे गुप्त रहना, लीन रहना, सुमरन का जो ध्येय है, उस रूप हो जाना है। इसमे लय दर लय अवस्थाए होते हुए भी अविनाशी अवस्था होती है।

आगे की चार अवस्थाएँ साहूत, राहूत, आहूत और जाहूत को कही भी परिभाषित नही किया गया, क्योकि यह महज स्व सवेद्य अवस्थाएँ है। चरम अवस्था को जाहूत कह कर भी फिर सत कबीर ने यह कहा है जाहूत अवस्था मे पहुच कर स्वय नाथ–निरजन परम–आत्म प्रभु स्वय खाविंद है, और उसका निजी धाम साकेत है। मुक्ति धाम को सत कबीर ने यहा साकेत नाम से लक्षित कराया है।

निर्गुण राम, रमइया राम, आतम राम के धाम को कबीर ने साकेत नाम से ही ग्रहण किया है। उन्होने बहुत स्पष्ट उद्बोधन किया है कि नासूत, मलकूत आदि नव अवस्थाओ मे अपनी उपयोग रूपी सजनी को मत भटकाओ, ये तो क्रमिक मार्गीय अवस्थाए ही है। इन सब को छोडकर एक दम सुरत-सजनी को स्व स्वामी (सईयाँ) आतमप्रभु की ओर ही एकदम लपक कर ले चलो। मार्गीय अनुभवो मे अटको नही।

अक्रम मार्ग मे वे सारे साधन समाप्त हो जाते है जो स्वर्ग या नरक के है। सीधे मार्ग मे स्वर्ग नरक भी पीछे रह जाते है। यह उस सब के आगे है जो किताबो मे या मुल्ला काजी व धर्म पण्डो, पुजारियो द्वारा कहा जाता है। वस्तुत. सत्स्वरूप इन क्रमो के पट यानी आड मे अटका रह जाता है, वह प्राप्त नही होता। अत एक मत, एक निष्ठा, एक निर्णय की रचना करके अन्तिम छोर अक्षय परम धाम पर ही पहुच जाना चाहिए। आत्मा प्रभु की निष्ठा ही अन्तिम पद तक गई हे। अत हे सजनी! अपने स्वामी की ओर यथाशीघ्र लपकी चलो, दौड लगाओ।

ऐसे यहा भी अन्तिम परम पद की ही प्रेरणा है।

ज्ञान भाव की साधना : जागृत अवस्था की श्रेष्ठता

जागृत स्वप्न और सुषुप्ति रूप ही तीन अवस्थाओ का विशेष वर्णन होता है । इनमे यह स्पष्ट जान लेना होगा कि जागृत ही एक मात्र श्रेष्ठ अवस्था है और इस अवस्था को ही जप तप ध्यान से निरतर अभिसिंचित करते रहना चाहिये ।

सामान्य अज्ञानी मनुष्य को जागृत–अवस्था मे नेत्र बन्द करके देखने पर अन्धकार ही दिखाई पडता है । अन्धकार है वहाँ, अतः वही दिखाई पडता है । इससे यह भी सिद्ध होता है कि जीव द्रष्टा है—क्योकि उसे अन्धकार दिखाई देता है । अन्धकार को दूर किये बिना ही यदि हम अपनी स्थूल दशा को भूल जाए अथवा देहात्मक बोध दब जाए, उस दशा को स्वप्न कहा जाता है, तब स्वप्न दर्शन होता है ।

अन्धकार रहते यदि स्थूल देहात्म बोध रहता हो तो उसे जागृत अवस्था है । और अन्धकार रहते यदि स्थूल को भूल जाए और मन स्थिर हो जाए तब वह अवस्था सुषुप्ति है ।

स्वप्नावस्था मे मन चचल रहता है । तब उस मन को अन्तर मे वर्तमान अन्धकार का राज्य दिखता है,—यानी जगत् ही दिखता है, और अन्धकार स्वय नही दिखता । यह जगत् व्यापार जो दिखता है वासना का जगत्-व्यापार है । जागृत अवस्था मे वृत्ति अन्तर्मुख होने पर या तो अन्धकार दिखाई देता है, क्योकि बाह्य की स्मृति वर्तमान रहती है अथवा जगत् ही दिखाई देता है अन्धकार के भीतर आलोक के ऊपर । वृत्ति बहिर्मुख है तो जागृत व स्वप्न दोनो अवस्थाओ मे मन क्रियाशील रहता है ।

जागृत मे इन्द्रिया भी काम करती है, इससे द्रष्टा रहता है पर प्रत्यभिमर्श नही रहता । सुषुप्ति मे मन नही काम करता, इन्द्रिया भी नही, द्रष्टा काम करता है परन्तु इसके भी प्रत्यभिमर्श नही होता । द्रष्टा देख रहा है, वह यह नही समझ सकता है कि हम देख रहे है ।

जागृत अवस्था मे देखा जाता है कि हम देख रहे है या देख सकते है । स्वप्न मे भी सुषुप्ति की भाति प्रत्याभिमर्श होने का मार्ग नही है । इसीलिए जागृति श्रेष्ठ अवस्था है । यहा से ही प्राप्ति का प्ररूप (उपाय) मिलता है ।" (कविराज गोपीनाथ)

ज्ञान का बना रहना ही जागृत अवस्था है । इस अवस्था मे स्वप्न नही रहते । स्वप्न विकल्प हैं और स्व बोध का अभाव सुषुप्ति है । जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनो को पृथक् जानने से चौथी तुर्य का भी ज्ञान होता है । वह तुर्य जागने मे भी जानने रूप है ।

जब चक्षु बन्द करने पर अन्धकार भी उद्योत रूप हो जायेगा, उसी समय देहात्म बोध

चला जायेगा, स्थूल से पृथक् भाव होगा। पूर्व वर्णित प्रत्यभिमर्श जागृति मे जब बढ जाए—तब यह होता है। इसी का नाम है ज्ञान। इस समय द्रष्टा आलोक मे देखेगा और बोध करेगा कि वह देख रहा है। यही चाहिए और यही जीवन जागृति का साधन सूत्र है।

चित्ताकाश और चिदाकाश तथा निराकार का साकार में पर्यवसान

"चित्ताकाश मे देव दर्शन होता है, चिदाकाश मे गुरु दर्शन। देव-दर्शन होने के पहले चित्ताकाश निर्मल होकर आलोकित हो जाता है। चित्ताकाश से चिदाकाश मे जाने का जो मार्ग है—उसी का नाम ब्रह्मनाडी है। वास्तविक तथ्य यह है कि चिदाकाश मे आलोक आकर ही चित्ताकाश को अन्धकार-हीन करता है और उसके बाद उसे देव रूप मे दैदिप्यमान करता है। यह गुरु को छोड कर और कौन दिखायेगा ? वस्तुत गुरु ही गुण-क्षेत्र मे देव रूप मे आविर्भूत होते है। जो प्रवाह चिदाकाश से उतर कर आ रहा है, वही लौटकर चित्ताकाश मे स्थिति लेता है। अत देवता ही गुरु सन्निधान मे पहुचा देते है। इस प्रकार सगुण निर्गुण मे पर्यवस्थित होते है।" (वही)

वस्तुत द्रष्टा का उपयोग तथा भाव-शुद्धि जागृत दशा मे ही किये जा सकते है, तब भाव ही महाभाव होकर भावातीत होता है। भाव महाभाव मे तब परिणत होता है जब चित्ताकाश मे "रूप" का आविर्भाव होता है। वह रूप ही कालातरमे चैतन्य हो जाता है। ऐसे निराकार अलिंग ग्रहण आत्मा साकार रूप मे पर्यवसित होता है और वह प्रत्यक्ष आत्म-साक्षात्कार की परम भाव मय व ज्ञान-जीवन की एक महत्वपूर्ण कडी है। हाँ, एक कडी मात्र जो अत्यन्त महत्वपूर्ण ही है।

स्वभाव की निर्मलता अन्तर्दर्शन से भी महत्वपूर्ण

बाहर की आंखो का क्या ?
आंखे अन्तर की खोलो।
हर प्राणी मे छुपा जिनेश्वर,
पा दर्शन निर्मल हो लो॥

आ० सोमदेव ने स्पष्ट किया है कि भावना से सभी वस्तु चित्त मे स्पष्ट रूप से झलकने लगती है। मगर इतने मात्र से ही मुक्ति नही हो सकती। अत. चित्त मे जिनेश्वर का दर्शन पा लेना ही पर्याप्त नही है। उस दर्शन का प्रयोजन है कि अपने अन्तरात्मा को उस स्वरूप के समकक्ष निर्मल कर लेना। "पा दर्शन निर्मल हो लो।" यह महत्वपूर्ण है। स्वभाव की निर्मलता की ओर अग्रसर न हुए तो सब साधना निष्फल ही है।

जैमिनी ऋषि का कहना है कि स्वभाव से ही कलुषित चित्त की विशुद्धि नही हो सकती। इसका उत्तर देते हुए आ. सोमदेव ने कहा है, जिस वस्तु मे स्वभावान्तर हो सकता है, उसमे अपने कारणों

से मल का क्षय किया जा सकता है जैसा कि मणि और मोतियो मे देखा जाता है, अर्थात् मणि मोती वगैरह जन्म से ही मैल सहित पैदा होते है । किन्तु बाद को उनका मैल दूर करके उन्हे चमकदार बन लिया जाता है । इसी तरह अनादि से मलिन आत्मा से कर्म जन्य मलिनता को हटाकर उसे भी विशुद्ध किया जा सकता है ।

अमूर्तिक आत्मा के और साक्षात् दर्शन के सूत्र : स्फटिक पुरुषाकार स्वरूप

अमूर्तिक आत्मा के प्रत्यक्ष दर्शन-साक्षात्कार को आ० सोमदेव ने इस प्रकार प्रकट किया है—

व्योमच्छायानरोत्सगि यथामूर्तमपि स्वय ।
योगयोगात्तथात्माऽयं भवेत्प्रत्यक्षवीक्षणः ।। (उपासकाध्ययन—६६५)

जैसे आकाश स्वय अमूर्तिक है, फिर भी पुरुप की छाया के ससर्ग से शून्य आकाश मे भी पुरुष का दर्शन होता है, वैसे ही यद्यपि आत्मा अमूर्तिक है फिर भी ध्यान के सम्बन्ध से उसका प्रत्यक्ष दर्शन हो जाता है । जैसे अन्य मत की अपेक्षा से छाया पुरुष का सात्क्षात्कार होता है, उसी तरह योगाभ्यास से आत्मा का भी प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो ही सकता है ।

बार-बार अभ्यास से जैसे छाया पुरुप शुद्ध स्फटिक तुल्य पुरुष दिखाई देता है वैसे ही यह आत्मा भी भ्रू-मध्य बार-बार टकटकी लगाकर देखा जाता है तो ध्यान महात्म्य से स्व आत्मा का भी प्रत्यक्ष दर्शन-साक्षात्कार शुद्ध स्फटिक (निर्मल) पुरुपाकार रूप हो जाता है । यह प्रथम आभास रूप होता है—पर अभ्यास करने पर कालान्तर मे वज्रवत् स्थिर तथा दृढ हो जाता है । और ज्ञानात्म-भावना से निर्मल चिन्मय स्वरूप के निर्माण रूप तथा निज के ही पूर्ण साक्षात्कार रूप हो जाता हे । अशुद्ध विभाव से शुद्ध स्वभाव मे क्रमश पर्याय परिणमित होते हुए कर्म निर्जरा करते-करते आत्म स्वरूप की वह निर्मल अवस्थिति तथा स्थिति हो जाती हे जिसमे आत्मा स्वाधीन, अक्षय और अबाध सुख सम्पन्न रहती है और मुक्ति रूप है ।

ऋषभो नाभि सूनुर्यो भूयात्स भविकाय व ।
यज्ज्ञान सरसि विश्वं सरोजमिव भासते ।।—(आत्मानुशासन २७०)

श्री नाभिनृप के सुपुत्र भगवान् ऋषभनाथ जिनके ज्ञान—महासमुद्र मे यह विश्व कमलवत् भासता है, आपके लिये मुक्तिकर हो ।

इति योगानुशीलन—प्रथम भाग सम्पूर्ण ।।

योगानुशीलन
(द्वितीय-भाग)

अनुक्रमणिका

मगल वाचन

१ श्री स्वयभू भगवान (हिरण्यगर्भ) बंदना

२ जिनवाणी—शारदा बंदना

मंगल—वाचन

(१)

श्री स्वयभू भगवान् ऋषभदेव (हिरण्यगर्भ) वंदना

स्वयम्भुवा भूतहितेन भूतले समञ्जसज्ञानविभूतिचक्षुषा ।
विराजितं येन विधुन्वता तम क्षपाकरेणेव गुणोत्करैं करैं ।।

आदि जिनेश श्री हिरण्यगर्भ ऋषभेश्वर इस जगती तल पर अपने अभ्युदय के स्वय निर्माता स्वयभू थे। उन्होने प्राणि–मात्र का कल्याण किया। जिस तरह चन्द्रमा अपनी किरणो से रात्रि के अधकार को दूर करता है उसी तरह उन्होने अपने केवल ज्ञान के वैभव रूप प्रकाश से ज्योतिर्मय नेत्र के द्वारा जीवो के वाह्य और आभ्यतर अधकार को दूर किया।

प्रजापतिर्य' प्रथमजिजीविषू: शशास कृष्यादिषु कर्मसु प्रजा ।
प्रबुद्धतत्त्व: पुनरद्भूतोदयो ममत्वतो निर्विविदे विदाम्बर: ।।

उस प्रभु ने अपनी राज अवस्था मे जन नायक बनकर जीवन चर्या से अनभिज्ञ आजीविका की इच्छुक प्रजा को कृषि, मसि, असि (कृषि–विद्या, शास्त्र विद्या, शस्त्र विद्या) आदि विद्याओ की शिक्षा दी, प्रजा का नीति पूर्वक शासन किया। फिर प्रबुद्ध तत्व ज्ञानी बनकर उन्होने ममत्व को, मोह राग और द्वेप को छोड दिया और केवल ज्ञान रूप अद्भुत उदय (परमोदय) को प्राप्त किया।

विहाय य सागर–वारि–वाससं, वधूमिवेमां वसुधावधूं सतीम् ।
मुमुक्षुरिक्ष्वाकुकुलादिरात्मवान्, प्रभु. प्रवव्राज सहिष्णुरच्युत ।।

विरक्त होकर इक्ष्वाकुवश के अग्रज, महान सहनशील (परिषह–विजेता) अच्युत (अपने लक्ष्य मे अडिग) मुक्ति–श्री के कांक्षी उस प्रभु ने अपनी पतिव्रता भार्या के समान, महासागर तक विस्तृत पृथ्वी–स्त्री का (सपूर्ण राज्य विस्तार के वेभव का) परित्याग करके प्रकर्ष मुनि— दीक्षा ग्रहण की।

स्व दोषमूलं स्वसमाधितेजसा, निनाय यो निर्दयभस्मात्क्रियाम् ।
जगाद तत्त्वं जगतेऽर्थिनेऽञ्जसा, बभुव च ब्रह्मपदामृतेश्वर. ।।

अपनी समाधि (आत्म–ध्यान) के तेज से अपने दोषो के मूल मोहनीय आदि कर्म जाल को प्रभु ने भस्म कर दिया। आत्म हित के जिज्ञासु जगत् के लिए फिर समस्त तत्त्व का अपनी

दिव्य वाणी से प्रवचन किया । उसके बाद ब्रह्म पद के अमृत (अक्षय आनन्द) के धनी अमर परमेश्वर बने ।

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चित सतां, समग्र विद्यात्मवपुर्निरजनः ।

पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो, जिनोजितः क्षुल्लक वादि शासनः ।।

वह सर्वज्ञ सर्वदृष्टा श्रेष्ठ जनो द्वारा सपूज्य, सब विद्याओ के जनक (आदि गुरु), निरजन सब वादियो पर शासन करने वाले अन्तिम कुलकर नाभि–महाराजा के सुनन्दन भगवान् हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ मेरे चित्त को पवित्र और निर्मल करे ।

(आ० समन्त भद्र—स्वयभू–स्तोत्र)

जिनवाणी–शारदा वंदना
(२)
राग वागेश्वरी त्रिताल

वागीश्वरीं वन्दे देवीम् ।
जिनवर कण्ठस्थां बन्दिता सिद्धिदां, सदावरदां ब्राह्मीम् ।
ज्ञानकरां शारदां नित्यां, शुभा शुभदां ।
शुद्धां मतिदां, तां वीणा हस्तां वाणीम् ।।

१—अतीन्द्रिय सुखमय शुक्ल ध्यान तथा निर्विकल्प महा समाधियाँ, वर्ण तथा अवर्ण मय, लेश्या सहित तथा लेश्या मुक्त ध्यान, एवं अन्य महत्वपूर्ण, अभ्यास तथा परमात्मा के विकास की विधि

- आत्मा की सचाई उसकी निर्मल गुण-क्रिया मे तथा मान्यता मे
- आत्मा वस्तु का निषेध कौन और क्यो करते है
- आत्मा की धर्म की दिशा चिन्तन की दिशा
- चिन्तनीय तत्व का स्वरूप और उसका वीतरागी अतीन्द्रिय सुख
- अलौकिक सुख के सदर्भ मे आत्म-रति और सभोग रति
- अतीन्द्रिय सुख मय शून्य (रागादि विवर्जित) महासमाधि अर्थात् शुक्ल ध्यान
- निरालम्ब निर्विकल्प (राग-शून्य) भाव-क्षण की महत्ता
- अध्यात्म सुख रूप फल तप स्तर पर, न कि वासना राग व भोग मय मैथुन स्तर पर
- अमृत भोग ही अमृत भोग
- आत्म-रति स्व-ज्ञान मे ज्ञान मयी क्रीडा
- यथार्थ सुख आत्मलीन क्षण मे
- अक्षय सुख का रहस्य निर्विकल्प आत्म-उपयोग
- क्या संभोग से समाधि सम्भव ?
- उन्मुक्त वासना मय यौन सम्बधो मे मानव की बर्बादी
- ब्रह्म-विहार के नाम पर व्यभिचार का ताण्डव
- नयम पवित्र विवाह तथा ब्रह्मचर्य की महत्ता
- उर्ज्जस्वल प्राण शक्ति का रहस्य ब्रह्मचर्य, शिव-आत्मा और पार्वती-प्रज्ञा का विवाह
- निर्विकल्प महा समाधि के महत्त्व पूर्ण अभ्यास

मान्यता और निर्मल गुण क्रिया में आत्म तत्त्व जीवन की सचाई

भारतीय मनीषी जनो ने वस्तु स्वभाव का गहरा चिन्तन करके यह पाया है कि वस्तु की अभिव्यक्ति या परिणमन वस्तु का अनित्य पक्ष है और उसका एक पक्ष ऐसा भी है जो शाश्वत है--जो सव अभिव्यक्तियो, परिणमनो तथा उसके सर्व--गुणो का अजस्त्र आधार है, वही उसकी सब धाराओ का आधार है, स्रोत है । वही वस्तु का मूलगत अक्षय स्वभाव है जिसकी खोज मे ही उस वस्तु का निर्मल अव्यय धर्म हस्तगत होता हे । ये ही वह उत्कृष्ट तत्त्व है । अतः वह सदा आधुनिक है । आत्म वस्तु के निर्मल गुण, ज्ञान, ज्योति, समता, करुणा, सत्यता, शाति, तेजस्विता आदि की कथा भी अतः सदा ही आधुनिक मूल्य रखती है ।

आत्म वस्तु कपोल कल्पित नही है । यदि कल्पया भी कहे तो भारतीय मनीषियो की विन्दु (शून्य) की कल्पना के ही समान यह अलौकिक है । शून्य की कल्पना के आधार पर सारे गणित का विकास हुआ । और आज का यान्त्रीकरण तथा टैकनोलाजी भी उनकी ही परिगणना का कृतज्ञ है । न भूलिये कल्पना भी चिन्तन का, ज्ञान का ही एक स्वरूप है । चितन होना यह चेतना पदार्थ का ही गुण है । वह चेतना पदार्थ ही विश्व मे उत्कृष्ट और सर्वोपरि तत्त्व है । जिनको आत्मा शब्द से एलर्जी है वे कहते है कि शरीर के अलावा आत्मा तो मात्र कल्पना है, आत्मा को सबित करिए--- तो हम आत्मा को माने । पर ये लोग भूल जाते है कि कल्पना एक अद्भुत शक्ति है---अद्भुत प्रक्रिया है और इसने ही भौतिक जगत मे "शून्य" को जन्म दिया है और अध्यात्म जगत मे आत्मा की मान्यता को निष्ठा को आस्था को । यह कल्पना भी हमारी चेतना का अग है । तथा जैसे विद्युत शक्ति को रोजमर्रा हम अपने कमरो मे अपने हीटर या पखो को चलाने के काम मे लेते है, क्या वह किसी को दिखा कर साबित की जा सकती है ?

वैसे ही आत्मा भी अलक्ष यथार्थ वस्तु है । किसी भी अलक्ष वस्तु की जानकारी उसकी क्रिया से ही होती है । ज्ञान और सवेदन का होना आत्मातत्त्व की पहचान है । तो इसकी क्रिया को व इस क्रिया के कर्ता को क्या नकारा जा सकता है ? "द्रव्ये गुणक्रिये ।" द्रव्य वही है जिसमे गुण है और गुण की क्रिया हो । आत्मा मे यह लक्षण घटित होता है । जिस प्रकार विन्दु की मान्यता पर सारे भौतिक विज्ञान के सत्य घटित तथा प्रमाणित होते है, वैसे ही आत्मा की मान्यता मे ही अध्यात्म विज्ञान का सारा ज्ञान मय आत्मा भी घटित तथा सत्य प्रमाणित होता है । मान्यता मे ही जीवन की सारी सचाई का साक्षात् होता है ।

आत्मा का निषेध कौन करते है ?

वस्तुतः आत्म तत्व के धर्म मय सद्गुणो तथा शुद्ध परम स्वरूप के मनन से जो निष्कर्ष प्राप्त होते है उनको अपने जीवन मे न ढाल कर कुछ लोग मानव मन के दुर्बल पक्ष से सामाजिक

आर्थिक आदि स्थितियो मे उत्पन्न विसगतियो को धर्म के मत्थे मढते है और धर्म को अफीम की गोली कहते है, धर्म के दश लक्षणो को, तप, त्याग, और ध्यान को भी कोसने लगते है।

रहस्य यह है कि धर्म सभी प्रकार की मूढताओ का, दकियानूसी अध विश्वासो का, बिचोलियो का, अविवेक पूर्ण कार्यो का, तर्काभासो का पर्दाफाश करता है, विवेक और हेयोपादेय की जागृति के लिये प्रेरणा देता है। ज्ञान नेत्र को उन्मीलित करता है—सच्चारित्र पुरुष बनने के लिये जोर देता है, सत्ता, धन, पद को ज्ञान, त्याग और सेवा के सम्मुख गौण बताता है। अत ये लोग धर्म से भयभीत है क्योकि इन्होने धर्म के नाम पर ठेकेदारी, सत्ता व मठ चला रखे हैं और आम आदमी को आधुनिकता के नाम पर आत्मा का ही निषेध करने के लिये उकसाते रहते है और उन सब अयुक्तियो को दोहराते रहते हैं, जिन्हें मनीषीगणचार्वाक मत के बाद से बराबर अप्रतिष्ठित करते रहे हैं। ये ही लोग कहते है—धर्म कोई तत्त्व नही, ध्यान से कोई शाति नही मिलती, देह से अधिक कोई तत्त्व नही, ये सब कपोल कल्पना है भ्राति आदि। ऐसे तथा—कथित मानव हितैषियो का एक वर्ग सदा से रहता आया है—जो आम आदमी को भ्रमित रख कर सदा से शोषण करता आया है।

ज्ञान और सवेदनात्मक आत्म तत्त्व को नकार देने पर सिवाय जड पुद्गल अचेतन के कुछ नही रहता और फिर सब ज्ञान विज्ञान आदि क्या शेष रह जाते है? इस तत्त्व को आत्मा कहने की यदि इन्हे एलर्जी है तो वे इसे किसी भी नाम से कहे, नाम भेद से क्या वस्तु भेद हो जायगा?

ऐसे भ्रमित करने वाले जनो की तरफ से धर्म के नाम पर ठगी चलती है। उन्मुक्त यौन सबध, सभोग से समाधि, विषय-विहार ही ब्रह्म-विहार, इन्द्रिय सुख से परे अतीन्द्रिय सुख कोरी कल्पना आदि आदि बाते प्रचलित की जाती हैं। इनके विचार प्रचार और विरोध के स्वरो मे तर्क नही—तर्काभास है, युक्ति नही अयुक्ति है, विषय पोषण है, अनादि से मन मे बैठे पशु का पोषण है इनके निहित स्वार्थ है, पक्षपात है, दुकानदारी है।

ये लोग विश्व मे निर्विकारता, वीतरागता, अपरिग्रह, सत्य आदि सब आत्म-गुणो का ही मूलोच्छेद करना चाहते है। आत्मा शरीर के अतिरिक्त कुछ नही तो मात्र शरीर का, विषयो व इन्द्रियो का भोग ही रह जाता है। यह पशु स्तर नही है तो क्या है?

धर्म की दिशा क्या है?

चिन्तन की दिशा है, धर्म की दिशा विषय नही है। विषयोपरक्त होने से ही मानव में सर्व प्रकार के दुर्गुण और विकारो का जन्म होता है। भोग ही अनन्त रोग है। "भोगो न भुक्ता, वयमेव भुक्ता"—भोगी स्वय ही चुक जाता है। विज्ञान के नाम पर भी धर्म का निषेध किया जाता है, पर सच्चाई यह है कि विज्ञान ने विगत दशको मे जितना नर सहार किया है उतना तो पृथ्वी पर पहले कभी नही हुआ। बढता प्रदूषण भी विज्ञान की देन ही रहा है। पर धर्म तो मानव को शाति व सुख के प्रकम्पनो से व ज्ञान

चिंतन से एकमात्र सुखी ही करता है। सचाई यह है कि उत्कृष्ट चिन्तन तथा उससे प्राप्त उत्कृष्ट तत्त्व एक मात्र यह है कि जीवात्मा का चरम विकास बिन्दु स्वय आदमी ही है। इसी सचाई मे उसके प्रगतिशील विकास तथा समाज रचना का रहस्य है और इसी मे उसके ज्ञान और निर्मल निर्विकारता का भी रहस्य है जो उसी के स्वाधीन है। ऐसे लोकोत्तर आत्म तत्त्व की पहचान धर्म की देन है। धर्म की इस दिशा को जानना होगा, प्रकाशित करना होगा।

चिन्तनीय तत्व का स्वरूप और वीतराग अतीन्द्रिय सुख

विकारा निर्विकारत्वं यत्र गच्छन्ति चिन्तिते।
तत् तत्वं तत्वतश्चिन्त्यं चिन्तान्तर–निराशिभि ॥

जिसके चिन्तन करने पर विकार निर्विकार को प्राप्त होते है, वही तत्त्व वस्तुत. चिन्तनीय है पर यह चिन्तन किन को सम्भव है ? कहा गया है कि चिन्ता सतति का अभाव कर देने मे—यानी चित्त को स्थिर और एक-निष्ठ कर लेने मे जो समर्थ हो गये है, वे ही निर्विकारता को उद्भव करने वाले तत्त्व का चिन्तन कर सकते हैं, निर्विकारता ही मे वीतरागता तथा आत्मा का निर्मल परिष्करण प्रतिफलित होता है। आत्मा की स्वरूप निर्मलता मे ही अतीन्द्रिय वीतराग सुख है,—जो अन्तर सुख है, बाह्य विषयो का वह सुख नही है। उसके सुख के लिए पूर्णतः अपने अतरग मे ही स्थिर होना चाहिए। जहाँ वस्तु है, वही उसकी तलाश होनी चाहिए ! आत्म-निष्ठ धर्म की कसौटी तप सयम वीतरागता है। यही वीतराग सुख योगियो को ध्यान समाधि मे अनुभूत होता है और यही मुक्त आत्माओ मे भी रहता है।

"समस्त विकल्प जाल से रहित परम समाधि मे स्थित परम योगियो को वह अतीन्द्रिय सुख विशेषता से समाधि काल मे निर्विकल्प स्व सवेदन गम्य होता है और मुक्त आत्माओ का वह अतीन्द्रिय सुख अनुमान और आगम से जाना जाता है।"—(स. सा. आ.–४१५/५१०/७) निर्विकल्प का अर्थ है जो मोह व राग की कल्पना से रहित हो, परन्तु ज्ञान धारा से चैतन्य हो। ध्यान का अर्थ ही चैतन्य वृत्ति है। इस जैन योग मे जड या बेहोश हो जाने रूप समाधि की तथा ईश्वर-कल्पना की मान्यता नही है। इनका तो पूर्ण निषेध ही किया गया है। सुषुप्ति को यहा ध्यान नही माना है। वीतराग ज्ञान धारा को ध्यान माना गया है। और वही अतीन्द्रिय सुख रूप है। राग मोह तो दु ख रूप है—बन्धन मे डालने वाले है। सुषुप्ति अर्थात् अपने आप से बेहोशी, अपने आप मे मौजूद न होना, सजग न रहना, ध्यान का स्वरूप नही है। जब मनुष्य अपने आप मे सजग एवं मौजूद होता है तो वह न अज्ञान में होता, न किसी कषाय आदि मे होता, न काम या कामना के वशीभूत होता, वह तब निर्विकार ही रहता है, आत्म-सुख मे ही रहता है ;

तन्मोहस्यैव महात्म्यं विषयेभ्यो यत्सुखम्।
यत्पटोलमपि स्वादु श्लेष्मणस्तद्विजृम्भतम् ॥

योग सार प्रा. ६/३२)

यच्चक्रिणां सौख्यं यच्च स्वर्गे दिवौकसाम् ।
कलयापि न तत्तुल्यं सुखस्य परमात्मानाम् ।।[1]

इन्द्रिय-विषयो से जो सुख माना जाता है वह मोह कर्म का ही महात्म्य है । पटोल (कटु-वस्तु) भी जिसे मधुर मालुम होती है तो वह उसके श्लेष्मा (कफ) का माहात्म्य है । देवताओ तथा चक्रवर्ती राजाओ का ऐश्वर्य-सुख निर्मल उत्कृष्ट आत्माओ के आत्म-सुख की एक कला (बहुत छोटे अश) के बराबर भी नही है ।

अलौकिक सुख के सन्दर्भ में आत्म रति और संभोग रति

आत्म-सुख और भोग-सुख की तुलना करते हुये "भगवती–आराधना" मे आत्म-रति के अलौकिक सुख की श्रेष्ठता का वर्णन इस प्रकार किया गया हे ।

अप्पायत्ता अज्झप्परदी भोगरमणं परायत्त ।
भोगरदीए चइदो होदि ण अज्झप्परमणेण ।।[2]

भोगरदीए णासो णियदो विग्घा य होंति अदिबहुगा ।
अज्झप्परदीए सुभाविदाए णासो ण विग्घो वा ।।[3]

स्वात्मा मे रमने के लिये अन्य-द्रव्य की अपेक्षा नही रहती है, भोग रमण मे अन्य पदार्थ का आश्रय लेना पडता है । अत. इन दोनो रतियो मे साम्य नही है । भोगरति से विरत रहने पर ही अध्यात्मरति से भ्रष्ट नही होता । अध्यात्मरति का अलौकिक स्तर दैहिक भोग रति से कही अधिक श्रेष्ठ है । विषय भोगो मे लिप्त होने पर नियम से ही आत्मिक गुणो का ह्रास होता है, तथा उसमे अनेक उपद्रव तथा विघ्न भी है । परन्तु आत्मा का आत्मा मे विलास उत्कृष्ट अभ्यास है, और वह आत्मा को ऊँचा उठाता है और कोई विघ्न या उपद्रव भी नही होते । भोगरति नश्वर तथा दु खो से युक्त है पर आत्मरति अविनश्वर और निर्विघ्न है ।

वास्तव मे तो वीतराग तटस्थ भाव मे साम्यरस मय अतीन्द्रिय सुख का वेदन होता है । समाधि मे प्राप्त आत्म-सुख निजाधीन निराकुल निर्विकल्प अतीन्द्रिय सुख है जिसमे आत्मा अपने शुद्ध स्वभाव मे परिणमन करता हुआ स्वय सुख रूप रहता है । सभोग रति मे सुखाभास है, जो परतन्त्र, व्याकुलता से व्याप्त, परिसीमित, इन्द्रियाधीन है । जीव को प्रकृति ने जब देह बन्धन दिया तभी उस बन्धन को दृढ और सदा बने रहने रूप करने के लिये इन्द्रियो तथा इन्द्रिय-विषयो को भी जीव के समक्ष किए । अत इसी हेतु मिथुन ससार, और उसके परस्पर पूरक हारमोन्स व ग्रन्थि रस प्रवाह भी मानव देह मे नियत है जो लैंगिक आकर्षण तथा यौन भावो को व राग व मोह को उत्तेजित करते हुए

1 तत्त्वा अनु २४५–२४६
2 भगवती आराधना १२७७
3. भगवती आराधना १२७८

काम और सतान उत्पत्ति के हेतु है जिनसे व्युपरत होकर अथवा उनको नियन्त्रित करके सयम से ही मानव अपने स्वरूप की तरफ आ सकता है।

समाधि सुख की आधार-भूमि उस स्थिति से प्राप्त होती है—जिसे शुक्लध्यान कहा जाता है। स्व केन्द्र मे निश्चय ज्ञान भाव पूर्वक अडोल स्थिति हो तथा केन्द्र के बाहर पर्याय परिधि मे राग भाव न हो,—ऐसे अति गहन रूप से स्व-भाव बिन्दु मे मग्नता, रमणता तथा अवस्थिति उत्कृष्ट शुक्लध्यान की भूमि है। ऐसी केन्द्रस्थ अवस्था ही शून्य या बिन्दु स्वरूप है। ऐसी बिन्दु (स्वरूप) भावना मे अवस्थिति को अर्हत्परमेश्वरो ने शून्य-ध्यान रूप उत्कृष्ट योग की भूमि माना है। कारण कि राग से शून्य बिन्दु-भाव मे कभी विषमता अर्थात् घट बढ ऊँच-नीच नही होती, सदा साम्य रहता है।

अर्हत् शासन का अतीन्द्रिय सुख रूप व शून्य (रागादि विर्वजित) महासमाधि अर्थात् शुक्ल ध्यान

रागादिभि वियुक्तं गतमोहं तत्व परिणतं ज्ञानम्।
जिन शासने भणितं शून्य इदमिदृश मनुते ॥४१॥

इन्द्रिय विषयातीतं अमन्त्र तन्त्र अध्येय धारणकम्।
नभसदृशमपि न गगनं तत् शून्यं केवलं ज्ञानम् ॥४२॥

न।हं कस्यापि तनय., न कोऽपि मे आस्ते अहं व एकाकी।
इति शून्य ध्यानज्ञाने लभते योगी पर स्थानम् ॥४३॥

मन वचन काय मत्सर ममत्व तनु धन कलादिभि शून्योऽहं।
इति शून्यध्यानयुक्त न लिप्यते पुण्यपापेन ॥४४॥

शुद्धात्मा तनुमात्रः ज्ञानी चेतन गुणोऽहं एकोऽहम्।
इति ध्याने योगी प्राप्नोति परमात्मकं स्थानम् ॥४५॥

आभ्यन्तर च कृत्वा बहिरर्थ सुखानि कुरू शून्य तनुम्।
निश्चिन्तस्तथा हंसः पुरुष पुन केवली भवति ॥४७॥

अर्थात्—रागादि से मुक्त, मोह रहित, स्व-परिणत ज्ञान ही जिन—शासन मे "शून्य" कहा जाता है। इन्द्रिय विषयो से अतीत, मन्त्र, तन्त्र तथा धारणा आदि रूप ध्येयो से रहित, जो आकाश न होते हुये भी आकाशवत् निर्मल है, वह ज्ञान मात्र "शून्य" कहलाता है। मै किसी का नही, पुत्रादि कोई भी मेरे नही, मै अकेला हूँ, ऐसे शून्य ध्यान के ज्ञान मे योगी परम स्थान को प्राप्त करता है। मन वचन काय मत्सर ममत्व शरीर धन-धान्य आदि से मै शून्य हूँ—इस प्रकार के शून्य ध्यान से युक्त योगी पुण्य पाप से लिप्त नही होता। मै "शुद्धात्मा चिन्मय शरीर" मात्र हूँ, ज्ञानी हूँ, चेतन गुण स्वरूप हूँ, एक हूँ,

इस प्रकार के ध्यान से योगी परमात्मा स्थान को प्राप्त करना है। आभ्यन्तर को निश्चित करके तथा वाह्य पदार्थों सम्बन्धी सुखो व शरीर को शून्य करके पुरुप हस समान तदनन्तर निर्मल हुआ आत्मा केवली हो जाता है।

सब अवलम्बनों से मुक्त शून्य ध्यान आनन्द भरित आत्म ध्यान है

इन्द्रिय विपयो से अतीत "शून्य" ध्यान के स्वरूप का वर्णन "आचार-सार"—७७-८१ मे हुआ है :—

जायन्ते विरसारसा विघटते गोष्ठी कथा कौतुकं।
शीर्यन्ते विषयास्तथा विरमणात् प्रीति शरीरेऽपि च ॥

यत्र न ध्यानं ध्येयं ध्यातारो नैव चिन्तनं किमपि।
न च धारणा विकल्पस्त शून्य सुष्ठु भावये ॥

शून्य ध्यान प्रविष्ठो योगी स्व सद्भाव सम्पन्न।
परमानन्दास्थितो भूतावस्थ स्फुटं भवति ॥

तास्त्रिकमयोह्यात्मा अवशेषालम्बनैः परिमुक्त।
उक्त स तेज शून्यो ज्ञानिभिर्न सर्वथा शून्य ॥

यावद् विकल्प कश्चिदपि जायते योगिनो ध्यान युक्तस्य।
तावन्न शून्यं ध्यानं चिन्ता वा भावनाथवा ॥[1]

सब रस (विषय रस) विरस हो जाते है, कथा गोष्ठी व कौतुक विघट जाते हैं, इन्द्रियों के विषय मुरझा जाते है तथा शरीर मे प्रीति भी समाप्त हो जाती है। जहाँ न ध्यान है, न ध्येय है, न ध्याता है, न कुछ चिन्तवन है न धारणा का विकल्प है, ऐसे "शून्य" को भली प्रकार ध्याना चाहिये। शून्य ध्यान मे प्रविष्ट योगी स्व स्वभाव से सम्पन्न, परमानन्द स्थित तथा प्रगट भरितावस्था वत् होता है। ज्ञान दर्शन चारित्र इन तीनो मयी आत्मा निश्चय से अवशेष समस्त अवलम्बनो से मुक्त हो जाता है। इसीलिये वह "शून्य" कहलाता है, सर्वथा शून्य नही है। ध्यान युक्त योगी को जब तक कुछ भी विकल्प उत्पन्न होते रहते हैं, तब तक वह "शून्य" अर्थात् शुक्ल ध्यान नही, वह या तो चिन्ता है या भावना है।

स्व शरीर की क्रियाओ को कायोत्सर्ग क्रिया मे शून्य करके तथा ध्येय स्वरूप मे आविष्ट होकर तत्स्वरूप तत्सदृश हो जाना ही "शून्य" ध्यान है। कायोत्सर्ग क्रिया जैनो की निगूढ यौगिक सज्ञा है। यह मात्र खडे होकर णमोकार को नौ दफा पढना नही है। इसमे विशेष क्रिया अभ्यास से देह से

1. आचार सार ७७–८१

विदेह होते हैं। सारे ध्यान-अभ्यास इस कायोत्सर्ग मुद्रा मे ही किये जाते है और किये जाने चाहिए। यह सर्व ध्यानाभ्यासो के लिए द्वार स्वरूप है।

यदा ध्यान बलाद् ध्याता शून्यीकृत स्वविग्रहं।
ध्येय स्वरूपाविष्टत्वात्तादृक् सपद्यते स्वयं ॥[1]

"शून्य" ध्यान मे चिन्ता का अभाव रहता है परन्तु तब भी उसमे आत्मा के दर्शन व ज्ञान गुण का अभाव नही होता, उस की साम्य रूप से स्थिति रहती है और वह स्व सवेदन का ही स्वरूप है। कारण कि प्रत्येक वस्तु मे भाव तथा अभाव, अस्ति व नास्ति रूप धर्म होता है। अत. चिन्ता का अभाव नास्ति या असत् रूप नही होता। यह भी सत् रूप ही होता है।

चिन्ताऽभावो न जैनानां तुच्छो मिथ्या दृशां इव।
दृग्बोधसाम्यरूपस्य स्वस्य संवेदनं हि सः ॥[2]

चिन्ता का अभाव भी तुच्छ (असत्) नही होता। क्योकि तब भी स्व आत्मा का स्व मे अपने दर्शन ज्ञान स्वभाव का सवेदन होता रहता है। ऐसे चिन्ता के अभाव मे साम्य रूप से स्व अवस्थिति ही रहती है। वस्तुत शून्य का साधन अनेकता से एकता पर, विविध अनात्म (राग-मोह कषाय आदि के) भावो से एक ज्ञान भाव पर आने का ही साधन है।

अवलम्बन-विवर्जित "शून्य भाव" की महिमा

शून्य का भाव कालातीत (Ageless or Timeless) व अनत आकाश (endless Space) मे एक ऐसे अमूर्त्त निर्विकल्प स्व क्षण को ही अंकित करता है जो अपने आप मे अभूतपूर्व, अनुपम तथा स्थायी होता है। इस स्व समय के क्षण को ही पकड पाने के लिये, ज्ञानाविष्ट होने के लिये चित्त को परिष्कृत, निर्मल व अन्य पदार्थों व भावो से रिक्त, "शून्य" करने के प्रयोजन से ही साधनाये है। वह क्षण आत्म रति व आत्म क्रीडा का क्षण होता है—यानी स्वरूप से तदाकारता रूप रमण का ही है। आत्म स्वरूप ध्रुव समय है, अनन्त है। इस ध्रुव समय मे ही क्षण परम्पराओ के रूप मे पर्याय की अभिव्यक्ति है, क्षण ही ध्रुव समय मे समर्पित होते रहते है। पर्याय रूप जीव का आत्मा मे सलीन होना—या समर्पण होना तब ही है जब वह आत्मा मे ही सजग रहे।

जब अन्तर मे प्रपात रूप मे ही पर्याय के स्व लीन क्षणो का समर्पण व पतन होने लगता है, जिसमे क्षण परम्परा तो अविरल है, पर उन काल-खण्डो को अतिक्रमण करके नित्य सजग ज्ञान रूप

---

1. तत्वानु १३५ 2 तत्वानु १६०

अडोल शात अविस्थिति रहती है और स्व मे निमग्न योगी उनमे उन्मग्न नही होता, तब वही निर्विकल्प शुद्ध व मुक्त आनन्द अवस्था है।

आत्म-क्रीडा को उस कालजयी दशा की कई प्रकार से कहने व समझाने का प्रयत्न किया गया है। इसे ही अद्वैत कहते है। बौद्ध इसे शून्य एवम् बोधि-चित्त (Enlightenment) कहते है। जैन इसे सम्यक् दर्शन कहते हैं, जो कैवल्य मे विकसित होता है।

अध्यात्म-उत्कर्ष मैथुन स्तर पर नहीं, तप स्तर पर

सामान्य जन दैहिक-क्रीडा रूप मैथुन सज्ञा को ही मोह वशात् अनादि काल से जानता है, और उसी मे ही सुख मानता आ रहा है। परन्तु स्व-आत्मा की स्वभाव-क्रीडा को उसने न समझा और न अब तक भोगा ही है। आहार मैथुन भय और परिग्रह रूप चार सज्ञाए (Instinct) अज्ञानी को अनादि से है। अज्ञान जनित सज्ञा के स्थान पर ज्ञान व चैतन्य जन्य विवेक सहित स्वभाव क्रीडा मे आनन्द मग्न होना योगियो के ही वस्तुतः वश की बात है। देह की भूख एक प्राकृत भूख है, पर यह भी स्मरणीय है कि हर अति भूख तो एक बिमारी ही है। पर योगी जन तो देह स्तर से ऊपर स्तर पर जीना सीखते है। बौद्ध सतो ने देह के व देह-क्रीडा के इडीयम (Idiom) से सासारिक जनो को आत्म-क्रीडा के निर्विकल्प व शून्य क्षण-अवस्था को बताने का प्रयास किया। यह प्रयास परिचित से अपरिचित को समझाने का था, परन्तु सामान्य व्यक्ति परिचित के ही परिचय मे सीमित रह गया और अपरिचित परिचित न बन सका।

जैन सतो ने देहभाव से आत्म-भाव को समझाने का कभी प्रयत्न नही किया। वे देह व आत्मा को सदा ही विसदृश तत्त्व कहते रहे है। दोनो की दिशाये छत्तीस (३६) सख्या के अको के समान विपरित ही मानी है। अत उन्होने आत्म-क्रीडा के अलौकिक सुख को भोगरति के सुखाभास से कभी वर्णन नही किया, अलौकिक का वर्णन लौकिक प्रतीको से नही किया, लौकिक प्रतीको को सदा हेय या गौण ही कहा है। उन्होने यह स्पष्ट सकेत किया है कि देह क्रीडा व सभोग से हट जाने पर ही तथा आत्म रति की दिशा ग्रहण करने पर ही इस विश्व मे ऐसा कौन सा व क्या सुख नही है, जो आत्म-निष्ठ शुद्धात्मा को प्राप्त न हो जाए! सभोग से समाधि असभव है। असभव है कि वासना व देह की राग-ज्वाला सभोग से क्षय हो जाए। भोग मय जीवन मे अध्यात्म उत्कर्ष नही हो सकता, वह तो तपोमय जीवन का ही प्रतिफल होता है।

आत्मरति एवम् सम्भोगरति के सम्बन्ध मे जैन दृष्टि—बहुत स्पष्ट रूप से तप तपोमय तथा तटस्थ जीवन की ही उत्कृष्टता स्वीकार करती है। वह आत्मा की ज्ञान दिशा मे ही पुरुषार्थ रूप तप की प्रधानता करती है, न भोग या वासना तुष्टि या वासना दमन ही को यह प्रश्रय देती है। यह उस ज्ञान को देती है जिसमे वासनाएँ तरगित ही नही होती, एक मात्र सम प्रशात भाव ही विद्यमान रहता है, जो निर्लिप्त वीत मोह और सजग होता है।

अमृत का भोग ही भोग

जहाँ उपनिषद् मे "ब्रह्ममश्नुते" मे ब्रह्म के भोग का वर्णन है, वहाँ जैनो मे 'अमृतमश्नुते' अमृत का भोग वर्णित हुआ है। जैन रागादि भाव विवर्जित निर्मल आत्मा के ज्ञानास्वाद को अमृत का भोग कहते है।

अजमेक परं शान्त सर्वोपाधि विवर्जितम्।
आत्मानमात्मा ज्ञात्वा तिष्ठेद् आत्मनि यः स्थिर।

स एवामृतमार्गस्थः स एवामृतमश्नुते।
स एवाऽर्हत् जगन्नाथ. स एव प्रभूरीश्वरः।[1]

अर्थात्—जो अपने आत्मा को अज (अजन्मा), एक (निर्मल) या एक रूप, पर (उत्कृष्ट), शान्त, सर्वजागतिक प्रपचो, उपाधियो, क्लेश रागादिक से रहित जानकर अपने ही आत्मा मे स्थिर विराजमान रहता है, अत्मानुभव को निर्विकल्प होकर प्राप्त रहता है, वह ही अमृत के मार्ग मे स्थिर है, वही अमृत रस का पान व भोग करता है। वही त्रिलोक पति ईश्वर, प्रभु तथा अरिहत परमेष्ठी है

आत्मा का वीतरागी ज्ञान रस ही अमृत रस है। वीतरागी के लिए ही अमृत भोग है। अमृत भोग ही अमृत भोग है।

आत्मरति–स्व में ज्ञानमयी क्रीडा है

आ० श्री पद्म नदी ने स्व आामा मे अपने ही आत्मा के आश्रय से स्थिर निर्विकल्प विराजने रूप ज्ञानमयी क्रीडा को ही अज्ञानमयी अनात्म मैथुन-क्रीडा से भिन्न व विलक्षण कहा है।

आत्मा ज्ञानी परममल ज्ञानया सेव्यमान।
कायोऽज्ञानी वितरति पुनर्घोरमज्ञानमेव॥

सर्वमिदं जगति विदितं दीयते विद्यमानं।
कश्चित्यागी न हि ख कुसुमं क्वापि कस्यापि॥[2]

आत्मा ज्ञान स्वरूप है—इस आत्मा मे क्रीडा करने पर परम निर्मल ज्ञान को ही प्रदान करता है। परन्तु यह देह तो अचित् है, अत इसकी सेवा या इसमे रमण तो घोर अज्ञान को ही देता है। यह जगत् प्रसिद्ध है कि जिसके पास जो होता है, वही दिया जाता है, कोई भी दानी आकाश कुसुम को किसी को भी नही दे सकता है।

---

1. आ० श्री पद्मनंदी पंचविंशति का १८–१९
2. आ० अमितगति तत्व भा–४५

इन्द्रिय-संयम, सतति निग्रह, परिवार-नियोजन, आबादी-विस्फोट, आर्थिक-सम्पन्नता आदि से तो जुडा ही है—पर यहा आध्यात्मिक दृष्टि कोण से ही विचार की प्रधानता है।

यथार्थ सुख आत्मतल्लीन क्षरण है

कामिनी-रति (भोग) से हटकर आत्म-क्रीडा मे चित्त-स्थिरता की बात को इस तरह आ० अमितगति ने कहा है—

यद्वच्चित्तं करोषि स्मरशर निहत कामिनी सग सौख्यं।
तदवत्त्वं चेज्जिनेन्द्र प्रणिगदितमते मुक्तिमार्गे विद्ध्यान ॥

किं किं सौख्यं न यासि प्रगतनवजरामृत्युदु खप्रपचं।
संचिन्तैव विधिस्त्वं स्थिर परम धिया तत्र चित्त स्थिरत्वम् ॥[1]

जिस प्रकार तू कामदेव के वारण से विधा हुआ कामिनी-भोग सुख की प्राप्ति के लिए एकाग्र होकर—उस क्रिया के ही आकार का अपने चित्त को कर लेता है, तल्लीन चित्त को करता है—यदि तू उसी तरह (उसी एकाग्र व तल्लीन चित्त भाव को) भगवत् जिनेन्द्र के मुक्ति मार्ग शुक्लध्यान मे जोड दे, तो जन्म जरा मरण दु खो के प्रपच से रहित होकर क्या क्या न सुख को प्राप्त करे। अत इस विधि की सचिन्तना को ध्यान मे रखकर उत्कृष्ट बुद्धि के द्वारा—तू अपने निर्विकल्प चित्त स्थिरता रूप सौख्य भाव को ही प्राप्त हो।

अक्षय सुख का रहस्य निर्विकल्प आत्म उपयोग

यह मानव (पुरुष व स्त्री) काम के उद्वेग से पीडित होकर सैक्स (लैंगिक) सभोग रति मे अपने चित्त को तल्लीन व तदाकार करके उस रति क्रिया के मध्य सुखाभास के अनुभूत क्षरण को प्राप्त करता है वह भी निर्विकल्प होकर ही प्राप्त करता है (यद्यपि सुख का भास भी रति क्रिया मे नही, चित्त के तदाकार व तल्लीन होने के निर्विकल्प क्षरण से ही है) अत यह मानव निर्विकल्प क्षण के ही मर्म को समझ कर क्यो न यह ज्ञान प्राप्त करे कि यथार्थ सुख पराश्रित क्रिया में नही, अपने चित्त के आश्रय स्व चित्त के निर्विकल्प तदाकार भाव मे प्राप्त होता है। वह चित्त मे निर्विकल्पता के भाव के हेतु एकाग्रता व तल्लीनता मात्र को ही आत्म साधनो मे क्यो न जोडें ? तब निर्विकल्प चित्त के उपयोग मे उसे ऐसा कौनसा सुख है—जो प्राप्त न हो। उसे इससे तो अक्षय सुख का ही रहस्य खुल जाएगा।

क्या संभोग से समाधि सम्भव ?

वस्तुतः आनन्द आत्मा का गुरण है, और वह आत्मा से आत्मा को आत्मा मे मिलता है। कोई भी सुख हो, चाहे विषय रति का हो चाहे ब्रह्म रति का हो उसकी प्राप्ति होती

---

1 सुभाषित रत्न संदोह—४०६

है—पर-निमित्त से निर्विकल्प होते ही । इन्द्रिय सुख मे भी इन्द्रियों तथा मन के निर्विकल्प होते ही सुख के क्षण की पराकाष्ठा आती है । लैगिक रति में पाचो इन्द्रिया तथा मन सब के ही तल्लीन होने पर उपयोग से विश्राम तथा निर्विकल्प होने पर ही सुख की पराकाष्ठा हो जाती है । लैगिक रति मे यह विषय सुख इन्द्रिय निमित्त से है, पराश्रित है, अत. वास्तविक सुख नही है, क्षणिक सुखाभास है ।

निर्विकल्पता का क्षण आत्मा मे पर्याय के समर्पित होने से होता है तथा ऐसा होने से ही चित्त को सुख की प्रतीति भी होती है । अतीन्द्रिय सुख आत्मा मे स्वभाविक है और वह अतीन्द्रिय सुख तो आत्मा मे निरन्तर रह सकता है और निर्विकल्पता भी स्वाश्रय होती है। ऐसे अक्षय सुख के सामने विषयानन्द फीका, अल्प, तुच्छ और दुखकारी ही है । यह ही कारणहै कि इन्द्रिय सुखसे तृप्ति नही होती, वासना ही अधिक प्रज्वलित होती है, उसका और अधिक अभाव लगता है । उसके उपभोग की शक्ति भी सीमित है और वह निरन्तर निर्बल और क्षीण होती जाती है ।

कैसी विचित्र विडम्बना है कि दीर्घकाल मे सचित हो सकने वाली इस दैहक ओजस, शक्ति को तथा वीर्य-विन्दुओ को क्षणिक सुखाभास मे अपव्यय कर दिया जाता है । विषय-भोग और यौन-समागम (सभोग) से वह निर्विकल्प और तल्लीन क्षण तो निरपेक्ष ही है । वह तो मात्र एकनिष्ठ चित्त की एक अवस्था मात्र है जो मानव को सभोग के लिये नही, समाधि और आत्म साक्षात्कार के लिये है ।

निर्विकल्प चित्तावस्था की प्राप्ति को सभोग जैसी दुष्प्रवृत्ति से ही प्राप्त किया जाए—यह तो मानव का अज्ञान मात्र है । मैथुन सज्ञा तो पशु स्तर है—जब तक यह सज्ञा मानव मे है—वह पशु स्तर पर ही है । उसमे और मानव मे फिर क्या फर्क है ? दोनो इस स्तर पर तो ऐक ही है ।

यदि सभोग ज्ञानमयी समाधियो को देने लगा तो कभी पशु मानव से भी कही आगे ज्ञानी हो जायेगा क्योकि उसमे मैथुन-सज्ञा मानव से भी तीव्र और अधिक है । सभोग से समाधि के हिमाय-तियो को हम तो उन्हे सावचेत ही कर सकते है कि कही उन्हे इस सम्बन्ध मे पशु चैलेज न कर दे ।

निर्विकल्प चित्त के निर्माण का कही अधिक सुविधा जनक और अमोघ नुस्खा तो हमारे ऋषियो ने ही बता रखा है । हमे पाश्चात्य देशो की दुष्प्रवृत्ति या मध्यकाल के कूडा पथी भ्रष्ट अनाचार के प्रचार की आवश्यकता ही क्या है ? यौन सम्बन्ध यदि उन्मुक्त होने लगे और विवाह एक पवित्र सम्बन्ध न रहा, तो हम फिर अ ध पशु युग मे ही चले जाएगे । हम श्री सत्य-भक्त वर्धा वालो की "सभोग समाधि" प्रकरण "अवधूत की डायरी" मे पाठको को पढने की प्रेरणा करते है । सभोग की समाधि का कुचक्रमय अन्तर्रहस्य पाठको को इसे पढने से विदित होगा । कैसे तर्काभास तथा कैसी गलत विवेचना धर्म आगमो की इसके हामी करते है, किस प्रकार श्री कृष्ण योगेश्वर की अप्राकृत चिन्मय गोपी-लीला और राधा कृष्ण लीला की ओट मे अशोभनीय भ्रष्ट लीला मायाराम जैसे लोग फैला देते है, इससे

समझदार लोगो की आखें खुल जानी चाहिए। ब्रह्म विहार के नाम पर उन्मुक्त व्यभिचार के प्रचार के तर्काभासो के बाद उसी मायाराम के मुख से श्री सत्य-भक्त ने—सत्य के आलोक का प्रकाश किया है।

उन्मुक्त यौन सम्बन्ध प्रचार, वासना का प्रचार और इससे मानव की बर्बादी

"सभोग को समाधि मैंने कहा है, और वह लोगो को पसन्द आया—इसका कारण मेरा पाडित्य नही, मनुष्य मे उग्र और अनियन्त्रित कामातुरता वा वासना है। ऋषि महर्षि पैगम्बरो ने सैकडो वर्षों के अनुभव के बाद यह तय किया कि मनुष्य को यदि स्वस्थ रखना है, सन्तान का अगर ठीक निर्माण करना है, नारी को उसके साथ पाप न करने के लिए उसे सुरक्षा देना है, सुख-शान्ति के लिए घर नाम से यदि आश्रय-स्थल का निर्माण करना है तो विवाह की प्रथा और उसकी पवित्रता परम आवश्यक है। विवाह न हो तो मनुष्य अनियन्त्रित और दीर्घ कालीन सम्भोग से निर्बल ही न हो जाएगा किन्तु गरमी आदि नाना बिमारियो का घर वन जाएगा। यौन बिमारिया तो अधिक से अधिक पैदा होगी ही, किन्तु एक दूसरे के सपर्क से विस्तार भी पायेंगी।

कपडे सम्भोग के कार्य मे थोडी आड या बाधा वने हुये हैं, पर उन्मुक्तता मे यह आड या बाधा समाप्त हो जाएगी। हजारो वर्ष के अनुभव के बाद मनुष्य ने जो पशु जीवन से भिन्नता पैदा की है वह समाप्त हो जायेगी।

पशुओ मे मादा अपनी सन्तान का पालन कर लेती है क्योकि पशुओ मे सन्तान निर्माण का काम है ही कितना सा! पशु का बच्चा मनुष्य के बच्चे से सौ गुणा समर्थ होता है। मनुष्य का बच्चा एक वर्ष मे चलना फिरना भी नही सीख पाता है, जबकि पशु का बच्चा कुछ ही घटो मे व मिनटो मे चलने फिरने लगता है। मादा ने उसे कुछ दिन दूध पिला दिया और हो गया निर्माण।

परन्तु मनुष्य के बच्चे के निर्माण के लिये उसे सुशिक्षित सुसस्कारी बनाने के लिए १८-२० वर्ष तक साधना करनी पडती है। यह काम अकेली मादा नही कर सकती। उसके पास गृह, वस्त्र, कला-साधन, विद्या साधन आदि के असीम कार्य पडे हुये है। अकेली मादा यह सब काम नही कर सकती।

विवाह न होगा तो सन्तान तो होगी पर पशु से वहुत अधिक, आज की तरह, विकसित न होगी। सारा बोझ नारी पर आ जायेगा जिससे वह सन्तान को जिन्दा तो रख सकेगी पर मनुष्य को विकसित अवस्था तक न पहुचा पायेगी।

जिस दिन से समाज मे विवाह प्रथा समाप्त हो जायेगी उस दिन से नारी तबाह हो जायेगी। बलात्कार से बचने मे उसकी आधी शक्ति समाप्त हो जायेगी, सन्तान अनाथ हो जायेगी। विकास तो रुक ही जाएगा। सुख शाति सुरक्षा का स्थल घर तो बन ही न पाएगा। जिस कामुक स्वतन्त्रता के गीत प्रेम-प्रेम कह कर गाये जाते है, उसमे प्रेम का पता न होगा। प्रेम तो बलिदान चाहता है, सयम चाहता

है । सम्भोग-समाधि मे प्रेम का क्या काम ? उसमे मनुष्य नित कामुक व नारी के प्रति गैर-जिम्मेदार व विश्वास-घाती होता है । यह सब मनुष्यता की बर्बादी है ।"

तथा कथित ब्रह्म विहार का तांडव क्यो ?

ब्रह्म विहार के नाम से व्यभिचार का ताडव क्यो ? आगे स्पष्ट किया गया है—

"इसलिए कि मनुष्य के भीतर अभी तक पशु बैठा है । धर्म शास्त्रियो ने और कानून ने उस पर कुछ अ कुश लगा रखे है । फिर भी उसकी कोशिश तो हे कि किसी तरह ये अ कुश कम हो जाए और मनुष्य के भीतर बैठा हुआ पशु अपनी पशुता का ताडव कर सके । पशु "शिव" नही समझता, सिर्फ सुन्दर समझता है । वह स्वाद जानता है, उसका परिणाम नही । वह सभोग जानता है, उसका परिणाम नही । तो मनुष्य के भीतर बैठा हुआ पशु, जब कही उछल-कूद का मौका पाता है तो, वह उछल-कूद मचाता है । ऐसी अवस्था मे कोई आचार्य विद्वान कुयुक्तियो से जब मनुष्य के भीतर के विवेक को घायल कर देता है, जिसने उस पशु को रोक रखा था, तो पशु उद्द ड हो जाता है ऐसे लोग ब्रह्म-बिहार, सभोग-समाधि आदि के कार्य-क्रमो पर टूट पडते है । जब उन पर समाधि, मोक्ष, योग आदि की छाप लगा दी जाती है तब तो सयम और विवेक बिल्कुल मृत-प्राय हो जाते है । पशुता बिल्कुल निर्लज्ज हो जाती है । तब मनुष्य भान भूलकर अधिक से अधिक समय, अधिक से अधिक धन, अधिक से अधिक भक्ति उन पर लुटाने लगता है जो उसकी पशुता को जगाते है, शिव के विरुद्ध सुन्दर का स्वाद चखाते है । ऐसे ठग को वे भगवान तक कहने लगते है ।"

वस्तुत तथा-कथित भगवानो की ब्रह्म विहार व सभोग समाधि द्वारा निर्विकल्प समाधि प्राप्ति के प्रचार तथा उसके दुष्परिणामो से समाज और देश को सावधान रहना ही होगा । यौन-स्वच्छदता, अ ध विश्वास, जादू टोने, सोने-चादी दुगणे करने आदि सब ठगी धन्धे है और यौन स्वच्छन्दता तो अति भयकर बात है ।

संयम, पवित्र विवाह तथा ब्रह्मचर्य की अपेक्षा

वस्तुत यदि मानव को यथार्थ रूप से पराश्रय और दु खपूर्ण जीवन स्थितियो से छूटना ही है तो उसे सयम धारण करके विवेक द्वारा मैथुन सज्ञा से ऊपर उठाना ही होगा । बिना मैथुन सज्ञा से ऊपर उठे, यौन व विषयी जीवन से ऊपर उठे, वह ज्ञान आत्मा की अक्षय समाधि के अमृत भोग को प्राप्त नही कर सकता । यह तो सभोग से हटकर ही सम्भव है । सभोग से हटने के लिये ही यानी मानव मे जो पशु बैठा है उसे ही नियन्त्रित करने के लिए पवित्र विवाह प्रथा मे बध कर एव उसे सन्तुष्ट कर मानव को एक पवित्र और सयम का जीवन ग्रहण करने के अलावा और कोई मार्ग नही है । काम शक्ति मानव को मिली है तो, उसे विवाह के तटबन्धो मे रखकर सुचारु रूप से शात और स्वाभाविक व नियन्त्रित रूप से प्रवाहित करनी चाहिए, ताकि इस काम-शक्ति के उद्दाम वेग को नियन्त्रित करने के बाद काम पुरुपार्थ के अनन्तर मोक्ष पुरुषार्थ को भी प्राप्त किया जा सके ।

समाधि और सभोग का तो दूर का रिश्ता भी नही है। यह मात्र एक भुलावा है, धोखा है असम्भव कल्पना है। घी की आहूति से आग भडकती है, और वहुत भडकती जाती है। ये उसके विनाश का पथ है। काम शक्ति का दमन भी कई प्रकार की ग्रन्थियो और व्याधियो को पैदा कर देता है। अत स्वच्छन्द व उन्मुक्त सभोग नही, विवाह मे मर्यादित और विवेक पूर्ण ग्रहस्थ जीवन मे सयम और पवित्रता की प्रतिष्ठा ही रखने की परम आवश्यकता है। एक देश (विकल) ब्रह्मचर्य के लिए विवाह प्रथा और उसकी पवित्रता अत्यन्त आवश्यक है ही, यह पारिवारिक सुस्थिरता और पवित्रता तथा उच्चतर जीवन के लिये भी आवश्यक है।

उर्ज्जस्वल प्राण शक्ति का रहस्य और ब्रह्मचर्य तथा उसमे शिव-आत्मा और पार्वती-प्रज्ञा का विवाह

नाद विन्दु जाके घट जरै।
ताकी सेवा पार्वती करै।[1]

विभिन्न यौन ग्रन्थियो का स्राव अडकोषो से निकलता है, और शुक्र कीट पुरुष ग्रन्थियो के स्राव से मिलकर वीर्य रूप धारण करता है। जो व्यक्ति अपना वीर्य-विन्दु अपने ही देह मे जरा लेते हैं, उर्ध्व प्रवाहित कर लेते हैं, वाह्य मे नीचे नही वहने देते, उनको पार्वती-शक्ति की, स्वय मानव के मेरु-पर्वो मे व्याप्त व प्रवाहित रहने वाली दिव्य ओजमयी जीवनी शक्ति की प्राप्ति होनी है—उनके प्राण ओजमयी, तेजस्वी और उर्ध्व स्रोता हो जाते है। तव वीर्य विन्दु मस्तिष्क के सुमेरु शिखर मे पहुच कर अमृत-विन्दु वन जाते है, दिव्य ज्ञान के केन्द्रो को विकसित और परिपुष्ट करते हैं। सिहनी के दूध के लिए स्वर्ण कटोरा ही चाहिए, ज्ञान के निर्झर के लिए उर्ज्जस्वती प्राणमयी पार्वती-शक्ति की ही मानव को माग होती है।तव ही मानव स्वय शिव रूप परिणत होता है, शिव आतमा और प्रजा-पार्वती का, आत्मा और प्रज्ञा (ज्ञान) का तव अनुपम विवाह हो जाता है। यह प्रज्ञा जानना मात्र नही है यह प्रज्ञा प्रकृष्ट ज्ञान गुण है। प्रज्ञोपाय रहने पर विन्दु क्षुब्ध नही होता, वह विन्दु की उर्ध्वरेतस् अवस्था व अपेक्षित सिद्धावस्था है। वीर्य बिन्दु की अधोगति निरुद्ध होकर ही वह पिंगला नाडी द्वारा शोषित होकर वायवीय व आकाशीय रूप से उर्ध्व सचरण करता हे और वह शक्ति के योग से उर्ध्व भाग मे सचरित होता रहता है। वह तब सोम विन्दु रूप से सोमचक मे ऊपर से सोमधारा रूप मे स्रवित होता रहता है।

निर्विकल्प महा समाधि के महत्वपूर्ण अभ्यास

आ कुदकुद ने सूत्र और सुई के दृष्टात से ज्ञान के निमित्त जिन सूत्र, आगम शास्त्र का तो सकेत किया ही है—उन्होने ज्ञानोपयोग को ही वस्तुत सूत्र मे उपलक्षित करके सुई रुपी आत्मा की वार्ता कही है। और साथ ही निर्विकल्प समाधि की प्राप्ति का मर्म वडे सरल रूप मे समझा दिया है जो सभोग से कही विलक्षण, उत्तम और पवित्र है।

१ गु० गोरखनाथ

सुत्तम्मि जाणमाणो भवस्स भवणासणं च सो कुणदि।
सूई जहा प्रसुत्ता णासदि सुत्ते सहा णो वि ।।[1]

जो पुरुष सूत्र को जानने वाला है, प्रवीण है, वह ससार मे जन्म होने का नाश कर देता है--जैसे सूई सूत्र (डोरा) के विना हो तो नष्ट हो जाए, और डोरा सहित हो तो नष्ट नही होती। प्रसिद्ध ही है कि बिना डोरा सूई गुम व नष्ट हो जाती है अत उसे डोरे मे डालकर स्त्रिया रखती है। ऐसे ही जब आत्मा रूपी सूई को सूत्र रूपी ज्ञानोपयोग मे डालकर रखते है तब आत्मा भी स्वरूपभ्रष्ट नही होता।

पुरिसोवि जो ससुत्तो ण विणासइ सो गम्रो वि संसारे।
सच्चेयण पज्जख णासदि तं सो अदिस्समाणो वि ।।[2]

जैसे सूत्र सहित सूई नष्ट नही होती, वैसे ही जो पुरुष ससार मे गत हो रहा है, और अपना रूप जो अपने आप दृष्टिगोचर नही है, तो भी सूत्र सहित हो (सूत्र का ज्ञाता हो), तो उसके आत्मा सत्ता रूप चैतन्य चमत्कार मयी स्व सवेदन से प्रत्यक्ष अनुभव मे आती है। इसलिए वह जीवात्मा ससार मे गत होकर भी नष्ट नही होता, ससार का ही नाश करता है।

सूत्तत्थ जिणभणियं जीवाजीवादि बहुविहं अत्थं।
हेयाहेयं च तहा जो जाणइ सा हु सद्दिट्ठी ।।[3]

सूत्र का अर्थ जिन देव ने बहुत प्रकार कहा है, और उस सूत्र से हेय और उपादेय, त्यागने और ग्रहण करने योग्य को जानकर आत्मा को जो जानता है, देखता है वही प्रकट सम्यग्दृष्टि है।

ज सुत्त जिण उत्तं ववहारो तह य जाण परमत्थो।
तं जाणिऊण जोई लहइ सुह खवइ मलपुंजम् ।।[4]

भगवान जिनेश्वर द्वारा कथित सूत्र व्यवहार है--उसे परमार्थ जानो। उसे जानकर योगीश्वर सुख की प्राप्ति करते है और अपने समस्त कर्म-कालिमा का नाश कर देते है।

सूत्र और सूई के दृष्टात मे आ० कुदकुद ने अध्यात्म के सारे रहस्य को सकेत रूप से ही कह दिया है। वे कहते है कि सूत्र व्यवहार और परमार्थ रूप है जो कर्म क्षय करके अनन्त सुख को देने वाला है। इस परमार्थ को स्वय आत्मा रूपी सूई मे पिरोना है। साधना व अभ्यास व्यवहार का स्वरूप है। इस व्यवहार रूप सूत्र को आत्मा रूपी सूई मे पिरो दिया जाता है, तब स्वय पुरुष आत्मा

---

१ अष्ट पाहुड सूत्र पा० ३
२. वही ४
३. वही ५
४ वही ६

परमार्थ रूप हो जाता है, तब वह परमार्थ आत्मा नष्ट नही हो सकता। आत्मा का, ज्ञानापयोग का अभ्यास करने पर परमार्थ आत्मा का स्वरूप साक्षात्कार होता है।

सूई और सूत्र के व्यवहार पर ध्यान दीजिए। सूत्र को हाथ मे लेकर सुई को पिरोने का प्रयत्न करके देखिये—सूई के छिद्र मे सूत्र तब ही आप पिरो सकेंगे जब आप सुस्थिर हो, आप का हाथ निष्कप रहे, हाथ ही क्या आप स्वय पूर्ण निश्चल व एक निष्ठ हो जाए, आपका श्वास मद होकर क्षण भर के लिए रुक जाये, मन, वचन, काया के योग (परिस्पदन) का सवर हो जाये तब कही आप सूत्र को सूइ मे पिरो सकेंगे। क्या इस क्रिया मे आपको एक ठहराव, एक निर्विकल्पता का अनुभव नही हुआ? आपने अपना सारा उपयोग इस क्रिया मे समर्पित कर दिया, यही तो ज्ञानोपयोग है।

इसी ज्ञानोपयोग की शिक्षा यह सूत्र और सूई का दृष्टान्त दे रहा है। यह अभ्यास ही व्यवहार है और इसी मे परमार्थ भी है। अतः कहा जाता है सम्भोग से समाधि नही होती। सूत्र और सूई के दृष्टात से समाधि रूप परमार्थ को प्राप्त करो। जिनोक्त सूत्रो का अर्थ समझकर इस सूत्र-सूई पिरोने के रहस्य को जानो और अपने ज्ञानोपयोग को आत्मा मे जोडकर आत्मार्थ रूप समाधि को प्राप्त करो। सूत्र को सूई मे बार-बार पिरोकर जब आप देख लेंगे तो आप समझ जाएगे कि ध्यान और समाधि मे चित्त किस प्रकार निश्चल होता है और कैसे मन, वचन, काय के सवर की प्रक्रिया होती है और कैसे निर्विकल्प होना होता है। निर्विकल्पता के इस रहस्य-बोध को आप लेकर—चित्त को व देह को उसी प्रकार स्थिर और "शून्य", स्पन्दन (कम्पन) रहित करके, स्थिर आसनस्थ होकर अभ्यास करे। आप देखेंगे कि अनादि से पडी आदत के कारण चित्त आरभ मे तो शात होता ही नही है। परन्तु आप चित्त की परवाह किए बिना चित्त के भी दृष्टा रह कर, उससे तटस्थ व उदासीन रहे और बिना परिणाम की चिन्ता किये आत्म-स्थिर रहने का अभ्यास करते रहे। तब न देह हिले, न मन हिले और न आप कुछ बोलें ही, बाह्य या आन्तर किसी भी शब्द का लक्ष्य ही न करें।

शब्द-साधना अलग प्रक्रिया है। उसको यहां न जोडें। जब आप का चित्त इन्द्रिय गोलको से सिमटेगा और इन्द्रिय विषयो को भी छोडने लगेगा—तब चित्त स्वत शान्त और निर्विकल्प क्षण पर पहुँचेगा, वही आपको सहज स्व आत्मा का प्रकाश होता स्पष्ट अनुभूत होगा।

चित्त प्रतिक्षण नाना काम-कामनाओ के स्पदन से ऐसा व्यग्र रहता है कि उसका सर्वज्ञ समान स्वरूप प्रकट ही नही होने पाता। चित्त की व्यग्रता के साथ ही आत्मा के ज्ञान प्रदेशो मे भी हलचल रहती है, और इसी कारण आत्मा आत्मा को आत्मा मे निरूपण नही कर पाता।

स्व-स्वातत्र्य स्वरूप को प्रकट करने की यह एक अमोघ और अचूक तथा उत्कृष्ट विधि भ० हिरण्यगर्भ ऋषभदेव की परम्परा की है। इसमे चित्त का अवलम्बन नही चित्त का सवर है, और आत्मा का आत्मा को अवलम्बन है। इसमे ज्ञान स्वरूप का, ज्ञान गुण का विकास तथा प्रकाश होता है।

चिदात्मा आत्मा पुरुष की साक्षात्कार विधि को द्रव्य-संग्रह गाथा ५६ मे सिद्धान्त चक्रवर्ती नेमीचन्द्राचार्य ने भी इसी प्रकार विवेचित किया है। यही सर्वज्ञ आम्नाय का अध्यात्म योग है। इसका विशेष ध्यान स्वरूपानुचितन मे और करेगे।

यदि आरभ मे निश्चल और अडोल बैठना कठिन व असम्भव लगे, तो क्या करें ? वैकल्पिक समाधान है कि आप शब्द (मत्र) का आश्रय ले अथवा ध्यान-तत्वो का गहन एव परिपूर्ण अध्ययन मनन करे और अपने चित्त व मन को प्रशिक्षित करे। चित्त का चित्त को सहारा दीजिए। चित्त को एक निष्ठ, निर्मल और सबल बनाइये। एक निष्ठ और निर्मल चित्त का उदय करके आत्म-ध्यान पर आइये। चित्त सापेक्ष धर्म ध्यान तथा चित्त निरपेक्ष शुक्ल ध्यान आदि पर मनोयोग पूर्वक मनन चिन्तन करे और उनमे से किसी भी अभ्यास को ग्रहण करे। ध्यान आरभ मे होता ही नही, प्रत्याहार व धारणा की परिपक्वता के अनन्तर ही ध्यान-भूमि की प्राप्ति होती है, अत निरुत्साहित होने का कोई कारण भी नही है। उत्साह पूर्वक आरभिक कुछ अन्य साधनो को करके स्थिर मनोयोग को प्राप्त करे।

शब्द साधना, नाद साधना और परा की साधना

चचल मन सदा स्पदित रहकर साधक की ऊर्जा को निरन्तर अपव्यय करता रहता है। अत' योग विज्ञान मे (शब्द-साधना) का भी ग्रहण उपदिष्ट किया गया है। शब्द पद्गल वर्णना है। चित्त मे भी कर्म-प्रत्यय का आवरण पौद्गलिक है। शब्द की रगड से चित्त के पौद्गलिक प्रत्ययो मे अग्नि-प्रज्वलित होती है और वह सयोगी तत्वो की चित्त मे निर्जरा करती है।

वैसे शब्द तो मात्र वाचक है और उनमे स्थिर अर्थ और भाव वाच्य है। चित्त मे शब्द के प्रकाश भाव का जब उदय होता है तो शब्द वर्गणा मे से शब्द का आकर्पण होता है, वह पश्यती अवस्था है। यही शब्द हृदय मे आकर मध्यमा नाद अवस्था को प्राप्त होता है। कण्ठ मे आकर वह वैखरी रूप को प्राप्त होता है। वैखरी शब्द से मानव प्राणी के समस्त व्यवहार चलते है।

विचारो का, भावनाओ का आदान-प्रदान इसी वैखरी से सम्भव होता है। सारा साहित्य सृजन इसी का देन है। जब शब्द की वैखरी से परा की दिशा मे विलोम गति होती है तो अत्यन्त सूक्ष्म "परा" स्वरूप मे पहुच जाते है। शब्द ही भाव के रूप को प्रकाशित करते है। भाव प्रकाश से पूर्व शब्द पश्यन्ती भूमि मे प्रकाश रेखा से निर्मित भी अनुभूत होते है ध्यान अवस्था मे।

कण्ठ से जप करना वैखरी-शब्द साधना है। हृदय से ही मात्र शब्द की ध्वनि को जब सुना जाता है, तो वह मध्यमा नाद-साधना है। तथा नाभि मडल के सूर्य लोक मे शब्द को प्रकाश रेखा सा अनुभूत किया जाता है और ध्येय किया जाता है तब यह पश्यती शब्द-साधना है। जब शब्द का मात्र भाव ही ग्रहण होता है और भावावस्थित रहते है तो यह परा की साधना है। इस परा की साधना की ही उत्कृष्टता है। इसी की जैन योग मे प्रकर्षता की गई है। मगर यह भी स्मरणीय है कि परा तक न

पहुंचने पर जिह्वा, उपाशु (मानसिक), हार्दिक स्तरो मे से किसी भी स्तर पर साधना चलाई जा सकती है अथवा शब्द को प्रकाश से निर्मित रूप ध्यान किया जा सकता है।

अपनी योग्यतानुसार स्थूल से सूक्ष्म स्तर तक पहुचने के लिए इनमे से किसी भी स्तर से साधना चलाई जा सकती है।

पर ध्यान रहे-आपका चरम लक्ष्य आत्म साक्षात्कार है। शब्द साक्षात्कार से शब्द के साक्षात्कार करने वाले तत्त्व पर पहुचिए। प्रकाश से प्रकाशक, भाव से भाव के भावक पर आने का लक्ष्य रखिए। भाव बिना शब्द निर्जीव है, भाव से ही शब्द चैतन्य होता है। भाव चैतन्य का अंश है और वही शब्द मे निहित वाच्य है। शब्द—"अह" ह्री, "ॐ" राम "जिन" आदि कोई भी लीजिए, और शब्द के वाच्य स्वय आत्मा के भाव, मूल पर पहुँच जाइए। आप जान लीजिए कि राम राम या जल जल कहने से न राम मिलते, न प्यास बुझती। साधक को अपने सकल्प से अपनी ही शक्ति को जागृत करना होता है और शब्द माध्यम से स्व शक्ति की जागृति होती है। शब्द को बैखरी स्तर से सूक्ष्म परा स्तर तक ले जाइए और शक्ति का, भाव का, व ज्ञान का अनुभव कीजिए और उस शक्ति व ज्ञान से अभिन्न अद्वैत हो जाइए। शब्द ही विश्रान्त होता २ नि शब्द परा तक पहुचा देगा। वही आपको भगवत् जिनेश्वर की दिव्य-ध्वनि तथा ज्ञान-विज्ञान का भी अनुभव हो जाएगा।

शब्द नाद, ध्वनि और ध्वन्यन्त आकार मे क्रमश परिणत होता है। और वही परा स्तर से पृष्ठ भागो मे होकर ऊपर उठकर ब्रह्माण्ड के पार, मस्तिष्क के परा प्रान्तो में पहुँच कर नि शब्द निरक्षर रूप हो जाता है। चिदाकाश वही है और फिर वही शब्द-साधक को शब्द सकल्प का भाव मूर्तिमान होता है। और आत्मा जो अलक्ष्य है, अलिंग ग्रहण है, निराकार है वही साकार सकल रूप मे अर्हत्-जिणेश्वर रूप मे आविर्भूत होता है। यही आत्मा से आत्मा का दर्शन है। वही दर्शन घन ज्ञान रूप होकर आत्म के स्वरूप निर्माण मे स्थिरता करता है। स्वरूप निर्माण की विशद चर्चा स्वरूपानुचिन्तन मे, पदस्थ और रूपस्थ आदि ध्यानो का विशद निरूपण ध्यानानुचिन्तन मे करेगे। दर्शन निराकार रूप है, और ज्ञान साकार रूप है, बोध रूप है और ज्ञानावस्था मे आत्मा के चिन्मय अखण्ड प्रदेश नराकार ही रहते हैं और प्रत्येक प्रदेश सर्व बोधमय हो जाते है। वह नराकार पुरुषाकार स्वरूप इस प्रकार जिनेश्वर रूप मे स्व सवेद्य होता है।

निर्विकल्प ध्यान की जो विधि ऊपर दी है वह शुक्ल ध्यान मे ले जाने वाली है। शुक्ल ध्यान के लिए आप इस भ्रम मे न पडे कि इस काल मे यह ध्यान नही होता। कोई चिन्ता नही करे कि यह होता है या नही। होता नही तो भी आप इसकी भावना करे, चेष्टा करे और इसके लिए अपने सस्कारो को व सकल्पो को निर्मल और दृढ बनाए। ये संकल्प व सस्कार ही आपको कभी न कभी उस शुक्ल ध्यान पर भी ले जाएगे। यह एक बडी उत्तम शिक्षा है कि मानव को अपना लक्ष्य उत्कृष्ट और

उच्चतम दृष्टा व ज्ञायक आत्मस्वरूप ही रखना चाहिए। निर्विकल्पता के लिए यहा यह भी सकेत देना उचित है कि आत्मा स्वय आप अपना दृष्टा है, दर्शनोपयोगी है। अत अन्तर्दृष्टि द्वारा अशुभ व शुभ प्रवृत्ति व परिणाम (भाव) सकल्प विकल्पो विचारो को रोककर, मात्र-भ्रूमध्य अपने ज्ञायक शुद्ध स्वरूप को देखने का अभ्यास करे। जो भी विचार व दृश्य आये उन्हे मात्र देखे, प्रिय-अप्रिय भाव न करे।

सविकल्प धर्म ध्यान की एक उत्कृष्ट प्रक्रिया

सविकल्प धर्म ध्यान के लिए यहा सक्षेप मे इतना सकेत यथेष्ट है कि भगवान केवल ज्ञान भास्कर की भावनाकार मूर्ति बनाकर अपने हृदयासन पर विराजमान करके उनसे प्रकाश, ज्ञान, शाति और आनन्द किरणो से अपने अन्तर को सम्पूर्ण भरित और पूरित करते रहे और इन केवल किरणो को अपने अन्तर मे प्रपात रूप से पडते अनुभूत करे और स्वय इन सब के दृष्टा एव ज्ञायक मात्र होने का अभ्यास करे। यह उपासना-योग की विधि है। उपासना योग का विवरण स्वरूपानुचिन्तन मे करेगे। सविकल्प विधि भी अन्त मे निर्विकल्प अद्वय स्थिति पर ही ले जाती है—अत. यह भी अनन्य रूप से उत्कृष्ट है। प्रशस्त भावावस्था मे रसास्वादन की स्थिति है और उसकी पराकाष्ठा मे भावातीत अद्वय स्थिति स्वतः आती है। भावावस्था मे ही सजगता का, अपने आप मे पूर्ण मौजूदगी का, ज्ञान का विस्तार होता है।

राग विवर्जित निर्विकल्प "शून्य" महा समाधि या ध्यान की प्राप्ति के अर्थ योग की इन विधाओ को परमार्थ का सार समझकर ग्रहण करना उचित है। अभ्यास से ही सिद्धि की प्राप्ति सम्भव होती है।

स्वलीन निर्विकल्प क्षण में सम्यग् दर्शन

आ० कुदकुद ने सूत्र के परमार्थ-अर्थ से भ्रष्ट को मिथ्या दृष्टि कहा है। सूत्र का अर्थ मात्र आगम-सूत्र ही नही है, सूत्र और सूई के सूक्ष्म परमार्थ का अर्थ है—"शून्य" निर्विकल्प महा समाधि की प्राप्ति की चेष्टा। आ० कुदकुद है ने तो यहाँ तक कहा है कि पाणिपात्र दिगम्बर मुनि भी तब ही पूज्य हे, जब वह इस ध्यानात्मक-योग का मर्मज्ञ हो, अभ्यासी हो। जो गृहस्थ इस अध्यात्म योग को ग्रहण करेगे वे भी मुनि पद पर ही ध्यान काल तक आरूढ कहे जाते है और वे भी पूज्य और महिमान्वित होते है। इसी निर्विकल्प क्षण की प्राप्ति-काल मे आत्मा का परिचय पाणि-पात्र निर्ग्रन्थ निर्मल साकार सकल स्वरूप-दर्शन मे पाया जाता है। यह दर्शन ही सम्यग्दर्शन है और यही कालान्तर मे मात्र ज्ञान और केवल ज्ञान मे ले जाता है। इसमे चित्त वासनोपरक्त होकर नही ठहरता, वह शान्त व निर्विकल्प हो जाता है। इसमे कोई पर-निमित्त नही होता। यह परम निर्मल उद्वेग रहित वीतरागी शुक्ल अक्षय आनन्द प्राप्ति का, कर्मावरण के क्षरण का, मृत्यु के निवारण का और अमृत का वरण है। वास्तव मे राग द्वेष रहित निर्विकल्प दर्शन क्रिया से शक्ति और निर्मलता का, अत आत्मसाक्षात्कार का मार्ग स्पष्ट होता है।

उत्प्रेरक काम शक्ति को आध्यात्म दिशा मे मोडिये

काम की मूल और प्राकृत शक्ति वडी उत्प्रेरक शक्ति है, जो मानव को इसलिए प्राप्त हुई है कि वह इसे आध्यात्मिक दिशा मे, न कि विकृत प्राकृत दिशा मे जोडे और अपने आपको अति-मानव के रूप मे विकसित कर सके। यह शक्ति असामान्य अतीन्द्रिय ज्ञानानन्द के भाव रूप एक्साइटमेण्ट के द्वारा जबभी उत्थापित होती है इसकी विकास क्रिया अद्भुत हो जाती है। जागृत काम शक्ति को यदि मानव सयत न करे और जागतिक विषयो के सम्मुख हो जाए, तो यह मानव को अतिभोगी, लम्पट, क्रूर, विषयी, नर-पिशाच वना देती है। यदि इसके जागृत रजो-गुण को लेकर मानव अपने मानस को तामसिक जड-भाव को निवृत्त करके विकारो से निर्मल हो जाय और वासना से ध्रुवीकरण को प्राप्त हो जाय और अपने को सतोगुण से परिमार्जित कर ले तो यह ही प्रणय-प्राण शक्ति ऐसे दिव्य ऊर्जा और ओजस् को उदीप्त तथा सचित कर देती है कि वे उन दिव्य उर्ध्व साधनाओ के लिए अलौकिक उर्ध्ववाहक बूस्टर (Booster) वन जाते हैं कि जिनका समुच्चय ही स्वरूपाचरण व "परम-सम्यक्-चरित्र" कहा जाता है।

भगवान् श्री महावीर के जन्म पूर्व के समय मे लोगो मे भोग-लिप्सा की ऐसी अतिवृद्धि हो गई थी कि नारी को मात्र एक भोग्य वस्तु समझा जाता था। तव उन्हे समाज मे पुरुष के समकक्ष प्रतिष्ठा प्राप्त नही थी। इस भयावह स्थिति को जानकर भगवान् महावीर ने भगवान् पार्श्वनाथ के चतुर्यामी पथ मे सुधार योजना की, नारी का उत्थान किया, उन्हे बरावर प्रतिष्ठा का दर्जा दिया और इसी के हेतु चतुर्याम धर्म मे ब्रह्मचर्य धर्म को और शामिल कर—पच महाव्रत तथा अणुव्रतो को विकसित करके शील धर्म और ब्रह्मचर्य की प्रधानता की स्थापना की और सहज सयम मार्ग को प्रशस्त किया। उन्होने उच्चतर आध्यात्मिक जीवन के हेतु लोगो की काम-ऊर्जा को आत्मा की दिशा मे मोड देने की शिक्षा दी और साथ ही उन्होने स्व आत्मा के ही निर्मल पवित्र वीतराग भावो को प्रशस्त करने की शिक्षा दी। भय, प्रलोभन व रागादि के निमित्त प्रत्यक्ष होने पर भी अडिग व सहज निर्लेप तथा निवृत्त रहकर सहज वीतरागता रहे—ऐसी प्रज्ञा के ही जागरण तथा उद्योग को अन्तर मे दृढ व शुद्ध रखने की प्रेरणा की।

वास्तव मे तो प्राण-पुरुष ज्ञान-वासित तथा साधनाभ्यास से सस्कारित होने पर ही देह यौन एव लिंग के भावो से अतीत होता है। पतनकारी निम्नाभिमुखी भावो को उदित करने वाले अज्ञान और देहाध्यास का दृढ निग्रह ही उपकारी तथा कल्याणकारी हो सकता है। बिन्दु को क्षुब्ध करने वाली पाशविक यौन व मैथुनी क्रियाओ रूप सभोग-विकल्पो से विवर्जित होकर निर्विकल्प आनन्द क्षण स्वाश्रय स्व मे सभव ही है और यही पूर्ण निर्विकल्प स्वाश्रय आनन्द विकास को प्राप्त होते-होते चिन्मय स्वरूप के साथ अभिन्नता मे ही ले जाता है और तभी अतर्कित अतीन्द्रिय अमृत-सुख का जन्म हो जाता है। वही वीतराग-सुख होता है। तभी आचार्य जिनसेन भी भरी राज्यसभा मे आदिपुरुष भ० वृषेश्वर आदिनाथ की दिव्य एव विश्व विमोहिनी महा सौन्दर्यमयी मातृ-"महादेवी" माँ आद्या-शक्ति के

अंगों का शृंगार वर्णन परम प्रशात, वीतराग उल्लास सहित अकाम निर्मल भाव से कर सके और भरी राज्य-सभा उसे चित्र लिखित सी परम श्रद्धा भाव से श्रवण भी करती रह सकी और समाधिस्थ हो गई।

महाफला वीतराग मुद्रा

वीतराग ज्ञान मुद्रा अंकित होने पर आत्मा शरीर शारदीय निरभ्रगगन सदृश प्रशात प्रभा से जगमगाने लगता है। उसके ज्ञान-प्रदेश असग करुणा के महा भाव से सुवासित हो जाते है। उनकी निर्मल दृष्टि का प्रसाद अकथनीय रूप से अनुपम हो जाता है। वह तब किसी भी पर-पदार्थ, वस्तु या व्यक्ति के राग के बधन को स्वीकार नही करता। तब वह उन्मुक्त तथा परम सुखैक रूप ही हो जाता है। यह उन्मुक्ति व्यक्ति की आबजैक्टिव तथा सबजैक्टिव (द्रव्य का भाव) दोनो ही स्तरो पर उन्मुक्ति को लेकर होती है।

अमनस्क भाव-वृत्ति

तब यहाँ ही अपूर्व अमनस्क भाव का उदय होता है। उस अमनस्क वृत्ति मे कोई भी दृश्य साधक को उपद्रवित नही कर सकता, कोई भी पर-वस्तु, पर-व्यक्ति या पर भाव विचलित नही कर सकता, कोई भी प्रलोभन या भय इह लोक या परलोक का स्खलित नही कर सकता। पर वस्तु व दृश्यो से उपद्रव तब तक ही होता है, जब तक मन मनस्कार रहता है, चित्त चित्ताकार रहता है न कि चिदाकार। निर्विकल्प चित्त मे चित्त चित्त नही रहता। वह भी चिन्मय चिदाकार हो जाता है। मन का यह निर्मल भाव फिर किसी भी प्रतिष्ठित या अप्रतिष्ठित विकल्प मे नही जाता। तब तो निरन्तर साथ रहने वाली इस देह व उसके भावो से भी विमुक्ति होती है। और मन के रहने या न रहने का ही प्रश्न समाप्त हो जाता है। तब मन समस्त ही पदार्थों के साथ एकत्व-भाव रूप राग से विमुक्त होता है और जो राग-आसक्तियाँ उसे बाधे हुये थी, छिन्न हो जाती है।

अनन्त, पूर्ण, शून्य और सम्यक्

जब मन मात्र साक्षी ही रहे तो ज्ञायकता ही रहती हैं। वही निर्विकल्प, आत्म-आनन्द की मुद्रा है, वही महा मुद्रा भी है। इसमे मानस व चित्त पर पडे समस्त बधन छिन्न हो जाते है और एक उच्चतर प्रशात यथार्थता मे साधक जागा रहा करता है। वासना और आवरण दोनो ही इस साक्षी भाव मे परित्यक्त हो जाते हैं तथा इसकी उच्चतर ज्ञान-यथार्थता मे ऐसी स्व सुस्पष्टता होती है कि प्रज्ञा का स्वरूप भी दिव्यत्व लिए सम्यक्त्व मे परिपूरित हो जाता है और ऐसे भाव रस सुख रस की प्राप्तियाँ होती है कि जिनके आगे कुछ भी शेष रहा प्रतीत नही होता, न शेष ही कुछ रहता है, तब इसी मे अपनी अनन्तता की, पूर्णता की, अनुभूति की, इयत्ता की प्राप्ति हो जाती है।

वस्तुत राग "शून्यता" ही स्व पूर्णता मे पर्यवसित होती है। पूर्णांक और शून्याक एकार्थक हो जाते हैं। जो सदा समगुण, सम्पूर्ण विपम शून्य, सदा समान ही, एक रूप रहता है। यह निर्मल कैवल्य रूप ही होता है। वेदान्त इसे पूर्ण बताते हुए कहता है "पूर्णात्पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"। बौद्ध-तन्त्र इसे शून्य कहते हैं। जैन योग आगम इसे यथावस्थ या "सम्यक्" नाम से कहते है। जो चरम व परम है, वह ही एक मात्र सम्यक् है, निर्मल है, शुद्ध है, परिपूर्ण और केवल है, समरूप है, अच्छेद्य और अभेद्य है। अत दर्शन ज्ञान और चारित्र आत्म गुणो के व तत्त्वो के प्रत्येक के साथ चरम, परम रूप सम्यक् की विशेषता निर्दिष्ट की गई है जिसमे इनके एक अखंड रूप मे एकता हो जाने पर सर्व अर्हत्गुणो का उद्भव सभव हो जाता है।

चित्त और बुद्धि के क्षुद्र और सकीर्ण दायरो के बधन टूट जाते हैं, और ज्ञान गुण का प्रकाश अतीव अनन्त आकाश-प्रदेश मे विस्तृत होकर कल्पान्त काल की महाज्वाला रूप प्रोज्ज्वलित होकर उल्का खडो के समान छा जाते है तव उनकी अमित उद्दीप्त ज्योति ही अन्तर की समस्त "शून्यता" को आपूर्ण समाविष्ट करके, एक विराट अपूर्व भाव का ही जन्मोत्सव कर देती है। तब उन विराट् महा ज्वाला प्रकाशो के समीप और सर्वगत और अभिभूत कर देने वाले ज्ञान मे सयोगी व विजातीय कर्म प्रत्यय और पर भाव रागादि व सुख-दुखादि रूप समस्त भाव कर्म भस्मीभूत होने लगते हैं। योग का परिपूर्ण रहस्य तव ही सपूर्णत. हृदयगम व प्राप्त हो जाता है जब इस प्रकार अपनी यथार्थ अबाध योगिनी-शक्ति प्रोज्ज्वलित होकर एक असीम ज्ञानाकारता मे परिणत हो जाती है। वस्तुत. वस्तु या तत्व कभी शून्य होता ही नही, सयोगी पदार्थ ही विमुक्त होता है। आ० सोमदेव कहते हैं कि यदि कोई कहे कि मैं शून्य-तत्व को प्रमाणसे सिद्ध करता हू ऐसी प्रतीज्ञा मे तव शून्यवाद का स्वय विरोध हो जाता है।

वर्ण और अवर्ण मय, लेश्या युक्त और लेश्या मुक्त ध्यान

इस योग विज्ञान मे पच परमेष्ठियो के ध्यान पच वर्णों व पच-वर्ण मय ज्योति आकारो मे करने की-परम्परा है। जैन मदिरो मे, इन पच परमेष्ठियो के ध्यान-चित्रण भित्ति चित्रो के रूप मे सर्वत्र उपलब्ध हैं। जैनो के पाच परमेष्ठियो के ध्येयो के अनुसार ही बौद्धो मे भी पच ध्यानी बुद्धो के ध्यान प्रचलित है। उन्होने पच ध्यानी बुद्धो श्वेतनील-वस्त्रधारी वैरोचन, पीत वस्त्र-धारी रत्न-सभव, लोहित (रक्त) वस्त्र धारी अमिताभ, हरित वस्त्रधारी अमोघ-सिद्धि, और श्वेत वस्त्रधारी अक्षोभ्य के ध्यान लिये हैं। इन पच ध्यानी बुद्धो की मूर्तिया आज भी बुद्ध गया मे विद्यमान हैं और उन्हे वहाँ के पडे पच पाडव वताकर दिखाते हैं।

बुद्धो के अनुसार ये पच ध्यानी बुद्ध पच शक्तियो-लोचना, मामकी, पाण्डरवासिनी तारा तथा आर्य तारा उनके ही स्थान पर मोहरति, द्वेष रति, राग रति, तथा ईर्ष्या-रति भाव शक्तियो सहित पृथ्वी अप तेज वायु और आकाश पच धातुओं तथा रूप वेदना, सज्ञा सस्कार और विज्ञान रूप विश्व निर्मापक तत्व पच स्कधो को उपलक्षित (रिप्रजेण्ट) करते हैं। और इनके क्रमश मन्त्र व मडल सहित ध्यान द्वारा "शून्य" तत्व रूप बोधि चित्त यानी Entigtenment को उद्भव करते हैं।

जैनो में भी पच भौतिक तत्त्व मय पंच वर्णों (रंगो) की सघनता Density को क्रमशः विरत तथा विवर्जित करते हुए परमेष्ठी ध्यान मे वर्णमय ध्यान से अवर्णमयलेश्या विमुक्त निर्मल आत्म ध्यान पर पहुँचते है। पच वर्ण मण्डलो का पच ज्योति मण्डलो के मध्य इन पच परमेष्ठि (ज्ञानात्माओ) Wise Elders के ध्यान वस्तुत. क्रमश वर्णों से अवर्ण दिशा मे ही गतिमान होते है। ऐसे वर्ण (रग) व्यंजना तथा लेश्या से रहित तथा अनात्म कर्म-प्रत्ययो से परिशुद्ध, शक्ल ध्यान को ही प्रकट किया जाता है जिसमे परिपूर्ण केवल ज्ञान भास्कर-आत्मा प्रदीप्त और उद्भासित होता है।

जाज्वल्यमान अवर्ण शुभ्रा ज्योति मे त्रय देह-वस्त्रावरण से रहित चिन्मय स्फटिक सदृश्य परम प्रभायुक्त व श्री सम्पन्न अलौकिक विराट् स्वरूप का प्राकट्य अन्तर शून्य आकाश को सर्व अचिद् भावो तथा प्रत्ययों को निराकृत करता समग्र भाव से ही भर देता है। यही ज्ञानाकार परम अर्हत् पुरुषाकार आत्मा का अविकल्प स्वरूप है जो अनन्त शून्य या विराट् और निर्मल है और समग्र स्वभाव की सम्भावनाओ की सपूर्णता के प्रकाश सहित है, गुण भरित और चिन्मय है।

द्रव्य शून्य होता नही, सयोगी द्रव्य के ही शून्य होने पर वस्तु शुद्ध रूप में प्रकट हो जाती है। वस्तु अवस्था का तब ही शुद्ध रूपांतरण होता है। सद्वस्तु का कभी अभाव नहीं होता। आत्मा के ज्ञान भाव मे से आगन्तुक कर्म प्रत्यय रूप द्रव्य कर्म तथा भाव मे से संयोगी मोह तथा राग विकार मयी अह ही शून्य होता है और तव ही यथार्थ द्रव्य अपने मूल भाव की उत्कृष्टता लिये दैदीप्यमान हो जाता है।

वह शून्य लेश्या विवर्जित अवर्ण (वर्ण रहित) अर्थात् कर्मावरण से रहित आकाश वत् निर्मल होता है। निरावरण दशा को ही आकाश या अन्तरिक्ष कहा गया है। वह ही दशा वज्र सम अभेद्य होती है। बौद्ध इस शून्य मे प्रभा-स्वता Luminosty का प्रादुर्भाव बोधि सत्त्व के ध्यान से करते है तो जैन शून्य निरपेक्ष स्थिति मे प्रभा सम्पन्न सकल जिनेश्वर के ध्यान द्वारा करते हैं। बौद्ध जैनो के इस ध्यान मे मूलगत भेद भी है। बौद्ध पच ध्यानी बुद्ध और पच शक्तियों के मेल से पञ्च बौद्ध सत्वो वज्रपाणी, पद्म पाणी, रत्न पाणी, विश्व पाणी और चक्रपाणी या समन्त भद्र की उत्पत्ति मानते है। प्रत्येक ध्यानी बुद्ध के एक एक मन्त्र मानते है जो जिनजित आरोलिका वज्रधृक् रत्न धृक् और प्रज्ञाधृक् है। पच ध्यानी बुद्धो के मण्डल की रचना करते है। जैनों मे कोई ऐसा प्रपञ्च नही है। जैनो की साधना समधारात्मक है और बौद्धो की रचनात्मक है।

वर्ण और अवर्ण के विचार मे सहज ही मातृका व मन्त्रवर्णों पर ध्यान जाता है। पर यहा तो इतना मात्र कहना पर्याप्त होगा कि सगीत के सप्त स्वर-वर्ण, रगो के सप्त वर्ण, मातृका स्वर-वर्ण, प्रकृति-वर्ण तथा भावो के अप्रशस्त प्रशस्त तथा शुद्ध वर्ण ये सब परस्पर-बद्ध तथा मूल मे एक ही तत्व हैं। ऋषिमण्डल आदि जैन स्तोत्र तन्त्रो मे वर्ण और अवर्ण का वर्णन आया है। तथा इनमे सात सर्वज्ञ मण्डलो का सकेत दिया गया है। बौद्ध शक्ति अवतारणा से बुधत्व की प्राप्ति मानते है तो जैन

बीजाक्षरो से जिनत्व (अर्हत केवली) का दर्शन होना मानते है। दोनो मे ही रूप और भाव शक्ति तत्व स्वीकार हैं।

सप्त सर्वज्ञ मडल और भ० अरिहंत का अन्तरिक्ष मंडल

"एक वर्णं द्विवर्णं त्रिवर्णं तुर्यवर्णकम्।
पंचवर्णं महावर्णं सपरं च परात्परम्।

पच तत्व या पच धातु तत्वो के वर्णों के अथवा लेश्या वर्णों के अनन्तर अवर्ण रूप महा-वर्ण "पर" तथा "परात्पर" रूप से प्राप्त होता है। यह अवर्ण (रूपकता रहित) ही निर्मल अवस्था है, कर्मश्लेष विमुक्त लेश्या विमुक्त निर्मल अवस्था है। इसी प्रसग मे जैनी लेश्या वर्णन मे लेश्या सयुक्त तथा लेश्या विमुक्त रूप से कर्म सयुक्त व कर्म विमुक्त द्रव्य व भाव दशाओ की मलिनता व निर्मलता के वर्णों का ही वर्णन है।

जैसे जैसे जीव के भाव निर्मल होते जाते हैं वैसे वैसे लेश्या वर्ण भी कर्म प्रत्ययो की निर्मलता के साथ सूक्ष्म व निर्मल होते जाते है। ऋषि मण्डल मे इन वर्ण तथा अवर्णों मे सात व्योम मण्डलो का वर्णन हुआ है जो सप्त ऋषियो से अधिष्ठित हैं—यानी ये ही क्रमश उत्तरोत्तर लेश्या विशुद्धि क्रम मे सर्वज्ञता की प्राप्ति के सात मण्डल है।

ऋषि शब्द सर्वज्ञ का पर्यायवाची शब्द है। इन सात मण्डलो को अधिष्ठित करके परात्पर स्वरूप मे, परम व्योम मे ही अवस्थान लेकर भगवान आत्मा अ तरिक्ष मण्डल के पार यानी ऊपर स्व ज्योतिर्मण्डल मे साक्षात्कार को प्राप्त होते हैं। यह ऋषिमण्डल स्तोत्र मे सर्वज्ञोक्त शिक्षा है।

पच वर्णों के क्रमश लय मे पच वर्णीय पच महाभूत या पच धातुमय सूक्ष्म अनात्म प्रत्ययो के सघात रूप आकार मण्डलो की निर्मलता प्राप्त होती है और फिर विज्ञानमय "पर" तथा आनन्द रूप "परात्पर" का साक्षात्कार होकर प्रथम तो सम्यग्दर्शन फिर सम्यग्ज्ञान तथा फिर उसी तन्मय स्थिरता मे सम्यक्-चारित्र की रचनात्मक शुभ्र ज्योति के आगे एक ही अखण्ड ज्योतिर्मंडल अन्तरिक्षस्थ हुआ प्रतीत होता है।

अनात्म लोक के गगन के पार दर्शन ज्ञान चारित्र के परम निर्मल अखण्ड भाव रूप तीन चरण ऊपर अन्तरिक्ष मे अर्हन्त भगवान् आत्मा का जो विहार होना कहा गया है, वह यही है। भगवान तीर्थ कर का समवशरण अन्तरिक्ष मे ही गमन करता है। वे स्व अन्तरिक्ष की शून्य निर्मलता मे ही सम अवस्थित हुए रहते हैं। अनात्म द्रव्य के भार से मुक्त स्फटिक सी निर्मलता के प्रकाश के साथ ऐसा होना क्यो कर असम्भव हो, यह सम्भव ही होता है। जैन ऋषिमण्डल तन्त्र मे ह्रीं शक्ति बीज की प्रमुखता

१ (ऋषिमण्डल स्तोत्र)

है। इसी ह्नी बीजाक्षार को स्वर वर्णो सहित लेकर पच पमेरष्ठी असिआउसा तथा सम्यक्दर्शन ज्ञान चारित्र सहित इस तन्त्र के मत्र का निर्माण हुआ है।

भाव ध्येय की महीमा

आत्मा के अध्यवसाय एक से नही रहते, बदलते रहते है। ये शुभ और अशुभ निमित्तो से शुभ और अशुभ होते है। आत्मा सकल्प विकल्प रहित, यानी अध्यवसाय रहित अत. लेश्या निर्मुक्त होने से वीतराग रहता है। निगोद जीवो और वनस्पति जीवो मे भी अध्यवसाय होते है। जीव व जड मे अतर (भिन्नता) अध्यवसाय लेश्या युक्त तथा लेश्यानिर्मुक्त ध्यान से अध्यवसायो की क्रमश शुभ और शुद्ध परिणति होती है। इससे मानसिक सवेदनाओ, तनावो, क्षोभ-विक्षोभो से मुक्ति होती जाती है।

जीवात्मा परिणाम-स्वभावी होने से भावो के रहस्य ज्ञान की बडी महिमा है। भाव यदि निर्मलतम तथा लेश्या मुक्त है तो ध्याता-आत्मा भी तत्समता के कारण ज्ञान-तदा-कार हो जाता है।

निर्मलध्येय भाव के चिद्भाव अनुभव से सहज सुखामृत

यो यत्कर्मप्रभुर्देवस्तद् ध्यानाविष्ट मानस ।
ध्याता तदात्मको भूत्वा साधयत्यात्मवाञ्छितम् ।[1]

जो जिस कर्म का स्वामी दिव्य शक्ति रूप है अथवा जिस कर्म के करने मे समर्थ दिव्य शक्ति वाला है, उसके ध्यान से आविष्ट चित्त वाला ध्याता उस दिव्य शक्ति के तादात्म्य को प्राप्त होकर अपना वाञ्छित अर्थ सिद्ध कर लेता है।

ध्येय के भाव मे समाहित होने पर स्व आत्म शक्ति तद्रूप परिणत होकर भाव परिच्चित होती है। भाव ध्येय मे कीट-भृगी न्याय के अनुसार ही सिद्धि होती है। ध्याना रूढ-जीवात्मा का परिणमन ध्येय सदृश्य ही होता है। अर्हन्तादि परमेष्ठियो के ध्यान मे ध्येय रूप भावोत्कर्ष होकर आत्मा स्वय भाव-परमेष्ठी-भाव परि-व्याप्त होकर परिणमन करने लगता है तब वह साधक जीवात्माद्रव्य द्रव्य परमेष्ठी को प्राप्त नही होता। वह तो स्व मे ही तल्लीन रहता है। ध्येय के अनुसार तद्भावना ही होती है, तदाकारता, तद्भावना, समरसी भाव तथा फिर तदगुणकारता, इस प्रकार क्रमश परिणमन होता है। भावो मे असाधारण आकर्षण एव विकर्षण एव निर्माण की शक्ति होती है। निर्विकार परम चित् चमत्कार के अनुभव से सम्पन्न सहज आनन्द सुखामृत के आस्वाद रूप-यह भाव शब्द का अध्याहार किया गया है।[2]

---

१. (तत्वानुशासन–200) २ (द्रव्य सं. टीका)

जीवों के पाँच प्रकार के भाव

भाव-अपेक्षा पाँच प्रकार के भाव–भेद जीवो के होते हैं। ये भाव उदय से औदयिक, उपशम से औपशमिक, क्षय और उपशम से क्षायोपशमिक, क्षय से क्षायिक तथा परिणाम से पारिणामिक होते हैं। मिथ्यात्व तथा सम्यक्त्व भी वस्तुत भाव मूलक ही हैं।

> ओदइया बंधयरा उवसम-खय-मिस्सयाय मोक्खयरा।
> भावो दु पारिणामिओ करणोभय वज्जियो होदि ॥[1]

औदयिक भाव बध करने वाले हैं, औपशमिक क्षायिक और क्षायोपशमिक भाव मोक्ष के कारण हैं तथा परिणामिक भाव बध और मोक्ष दोनो के कारण से रहित हैं।

पारिणामिक भाव का लक्षण

प्रत्येक पदार्थ के निरुपाधिक तथा त्रिकाली स्वभाव को उसका पारिणामिक भाव कहा जाता है, भले ही अन्य पदार्थों के सयोग की उपाधि वश द्रव्य अशुद्ध प्रतिभासित होता है, पर इस अचलित स्वभाव से वह कभी च्युत नही होता। यदि पदार्थ का अस्खलित स्वभाव न हो, स्वभाव रूप ही परिणमन न करता हो तो जीव घट बन जायें और घट जीव बन जाए–ऐसी स्थिति हो जाए।

चेतन तथा अचेतन पदार्थों का पारिणामिक भाव

जो कर्म जनित औदयादिक भावो के अतीत है तथा मात्र ज्ञायक भाव ही जिसका विशेष आधार है वह जीव का, चेतन पदार्थ का पारिणामिक भाव है और अचेतन भाव शेष द्रव्यो का पारिणामिक भाव है।"[2]

पारिणामिक भाव ही भाव ध्येय है

"उन शुद्ध तथा अशुद्ध पारिणामिक भावो मे से जो शुद्ध पारिणामिक भाव है, वह ध्यान के समय, ध्येय यानी ध्यान करने योग्य होता है, ध्यान रूप नही होता। क्योंकि ध्यान पर्याय विनश्वर है और शुद्ध पारिणामिक द्रव्य रूप होने के कारण अविनाशी है।"–द्रव्य सग्रह टीका। यह पारिणामिक भाव ही अत भाव ध्येय है।

भाव तथा द्रव्य मोक्ष

रागादि भावो की निवृति ही भाव-मोक्ष है तथा शुद्ध रत्नत्रय की साधना से अष्ट कर्मों की आत्यन्तिकी निवृति द्रव्य-मोक्ष है।

---

१ (धवला ७/२, १/७, गा ३/९) २. (नयचक्र पृ ३३४)

भाव-मोक्ष, जीवन-मुक्ति, निर्विकल्प समाधि, केवल-ज्ञान की उत्पत्ति, अर्हन्तपद, स्वरूपावस्थान ये सब एकार्थ वाचक माने गये है।

परमात्मा के लक्षण और भेद

"कम्म-कलक विमुक्को परमप्पा भणए देवो"[1]—कर्म कलक से रहित आत्मा को परमात्मा कहते हैं।

"निज कारण परमात्मा भावनोत्पन्न कार्य परमात्मा स एव भगवान् अर्हत परमेश्वर।"[2]

निज कारण (ज्ञायक) परमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्य परमात्मा ही अर्हन्त् परमेश्वर है, अर्थात् परमात्मा के दो प्रकार है—(१) कारण परमात्मा और (२) कार्य परमात्मा।

कारण परमात्मा का लक्षण

"कारण परमात्मा के स्वरूप का यह कथन है। परमात्म तत्व जन्म जरा मरण रहित परम, आठ कर्म रहित शुद्ध ज्ञानादिक चार स्वभाव वाला, अक्षय, अविनाशी और अच्छेद्य है। तथा अव्याबाध, अतीन्द्रिय, अनुपम, पुण्य पाप रहित, पुनरागमन रहित, नित्य, अचल और निरालम्ब है"[3]

"सम्पूर्ण पाचो इन्द्रियो को विषयो मे प्रवृति से रोक कर स्थित हुये अन्त करण के द्वारा क्षण मात्र के लिये अनुभव करने वाले जीवो के जो चिदानन्द स्वरूप प्रतिभासित होता है, वही परमात्मा का स्वरूप है, जो परमात्मा हे, वही मैं हू—तथा जो स्वानुभवगम्य मै हू, वही परमात्मा है। इसलिये मैं ही मेरे द्वारा उपासना किया जाने योग्य है, दूसरा मेरा कोई उपास्य नही है।[4]

"जो व्यवहार नय से देह रूपी देवालय मे बसता है, पर निश्चय से देह से भिन्न है, आराध्य देव स्वरूप है, अनादि-अनन्त है, केवल ज्ञान स्वरूप है, निःसन्देह वह अचलित पारिणामिक भाव रूप परमात्मा ही है—"[5]

"औदयिक आदि चार भावान्तरो को अगोचर होने से जो (कारण परमात्मा) द्रव्यकर्म, भाव कर्म और नोकर्म रूप उपाधि से जनित विभाव एव गुण-पर्यायों रहित है, तथा अनादि अनन्त अमूर्त अतीन्द्रिय स्वभाव वाला शुद्ध सहज-परम-पारिणामिक ज्ञायक भाव जिसका स्वभाव है—ऐसा कारण परमात्मा ही-वास्तव मे यह "आत्मा" है।[6]

---

१. (मोक्ष पाहुड मूल ५)
२. (नियमसार ता० वृत्ति—७)
३ (नियमसार मा० १७७–७८)
४ (समाधिशतक ३०–३१)
५. (परमात्म प्रकाश मू० १/३३)
६. (नियमसार ता० वृ०—३६)

ज्ञायक भाव रूप स्वभाव से ही आत्मा निर्मल परमात्मा परिणत होता है। अत यह ज्ञायक स्वभाव ही कारण परमात्मा है। इस ज्ञायक स्वभाव मे ही अनन्त सभावनाओ मे—अपने समस्त प्रज्ञा और सम्बोधि की परिपूर्णताओ मे प्रमुदित विराट् कार्य-परमात्मा सन्निहित है। यह उस शुभ सन्देश का वाहक है कि जो चरम प्राप्तव्य है। यह वह बीज है जिससे आत्मा विराट् वृक्ष परमात्मा विकसित होता है।

कार्य परमात्मा सिद्ध व अर्हन्त परमेश्वर

कार्य परमात्मा (सिद्ध व अर्हन्त परमेश्वर) को इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

"जिसने अष्ट कर्मो का नाश करके और सब देहादि पर–द्रव्यो को छोड कर केवल ज्ञान मयी आत्मा पाया है उसको शुद्ध मन से परमात्मा जानो। जो केवल ज्ञान केवल दर्शन मयी है जिसका केवल सुख स्वभाव है, जो अनन्त वीर्य वाला है वही उत्कृष्ट रूप वाला सिद्ध परमात्मा है। इन लक्षणो सहित सबसे उत्कृष्ट नि शरीरी व निराकार देव जो परमात्मा सिद्ध है, जो तीन लोक का ध्येय है, वही इस लोक के शिखर पर विराजमान है।"[1]

वही जिन ज्ञायक स्वभाव से परिणत सिद्ध प्रभु कार्य परमात्मा है। यही अपनी पूरी अनन्त सम्भावनाओ का प्रस्फुटन है। ज्ञायक लहर ही विराट् ज्ञान सागर बन जाती है।

"आत्मन सहज वैराग्य प्रासाद शिखर शिखामणे. परद्रव्य पराङ्-मुखस्य पचेन्द्रिय-प्रसर वर्जित गात्र मात्र परिग्रहस्य परम जिन योगीश्वरस्य स्व द्रव्य निशितम तेरूपादेयो ह्यात्मा।"[2]

सकल विमल केवल ज्ञान, केवल दर्शन, परम वीतरागात्मक आनन्द इत्यादि अनेक वैभव से समृद्ध है, ऐसे जो परमात्मा अर्थात् त्रिकाल निरावारण नित्यानन्द-एक स्वरूप निज कारण परमात्मा की भावना से उत्पन्न कार्य परमात्मा, वही भगवान अर्हन्त परमेश्वर है।

सहज वैराग्य रूपी महल के शिखर का जो शिखामणि है, पर–द्रव्य से जो मूर्छा और प्रमाद से–राग और अहकार और मोह से उन्मुक्त व पराङ्मुख है, पाँच इन्द्रियो के विस्तार रहित देहमात्र जिसे परिग्रह है, वह परम जिन योगीश्वर स्वरूप स्व-द्रव्य मे गहन तीक्ष्ण बुद्धि वाला ऐसा स्व परम-आत्मा ही है और वही अपने आपके लिये उपादेय है।

कारण ज्ञायकता और कार्य परमात्मा की उपयोगिता

आत्मा के कारण ज्ञायक स्वभाव और कार्य परमात्म स्वभाव को जानकर आत्मा का ध्यान सम्भव होता है। उनमे से शुद्ध स्वरूप अर्थात् सिद्ध भगवान तो कार्य है अर्थात् वह स्वरूप है जो अन्तर्निहित है और प्रकट करना है, जो विराट् रूप है। कारण भूत जो ज्ञायक स्वभाव वह उसका साधन

---

१ (नियमसार, ता० वृ० ७।३८)

२. वही

है। वह अल्प सा लक्षित होने वाला जीव-ही वह लहर है जिसमे पूरा का पूरा परमात्मा विकसित होने की प्रतीक्षा मे है और ज्ञायक स्वभाव ही कर्मो का क्षय हो जाने पर शुद्ध अर्थात् कार्य-परमात्मा रूप हो जाता है। कारण परमात्मा मे कार्य परमात्मा है—इसकी पहचान कर लेने मे ही अपने को सिद्ध परमात्मा परिणत कर लेने का रहस्य हस्तगत कर लेना है। बीज "मैं" मे ही सम्पूर्ण वृक्ष परमात्मा समाया है। मानव जीवात्मा Microcosm है, उसमे सम्पूर्ण Macrocosm छुपा हुआ है। उस सन्निहित महान् तत्व को जानने के लिए ही गहन सम्यक् दृष्टि चाहिए—ऐसी दृष्टि जो अदृष्ट को दृष्ट मे पहचाने—वर्तमान मे ही भविष्य को पहचाने।

"आमार हियार मांझे, लुकिए छिले
देखते आमी पावनी तो नाय
देखते आमी पावनी··· [1]

तुम मेरे ही हृदय मे लुके छिपे हो, पर मैं तुम्हे नही पहचान सका—हाय नही पहचान सका।

अपने अन्तर मे लुके छिपे परम स्वरूप को निर्मल ज्ञायक मात्र भाव-ध्येय को भीतर मे बाहर प्रकट करो। ज्योतिपूर्ण आँखो को अन्तराकाश की ओर उठाकर उसे ही खोजो, देखो और प्रकट करो।

यह खोज वर्तमान की ज्ञान पर्याय को ही अन्तर-शोध मे सलग्न करके की जा सकती है। वर्तमान की ज्ञान पर्याय ही जागृत अवस्था की पर्याय है। यह स्वप्न या सुपुप्ति मय नही हो सकती। *यही पर्याय हमारे शुद्ध ज्ञान स्वरूप के निकट भी है। यही तुर्यावस्था की निर्मल ज्ञान दशा पर ले जाने* वाली है।

अत. ज्ञान पर्याय की सर्वथा निर्मल परिणति—जो राग मोह वासना कामना के विवर्जन व क्षय पूर्वक सम्भव होती है—की ही अपेक्षा भी है। अतः ही जागृत अवस्था मे भी और जागृति की प्रेरणा की जाती है—ऐसी जागृति की प्रेरणा जो स्वप्न व सुषुप्ति दशा मे भी विच्छिन्न न हो—ऐसी अविच्छिन्न व निरन्तर बने रहने वाली स्व जागृति ही तुर्यावस्था की परिणति है। ऐसी जागृति ही फिर आयुष्य सम्पूर्ति के काल मे भी साथ ही रहती है, तो यही आत्म सलीन निर्वाण अवस्था मे ले जाती है।

वस्तुत ऐसी स्व जागृति मे ही सब आत्म वैभव, आत्म गुणो का विलास रहता है—वही परमानन्द अक्षय अव्याबाध सुखावस्था है। यह जागृति ही पूर्ण चैतन्य स्वरूप है। इसमे ही अपना परम स्वरूप प्रकट हुआ रहता है—पूर्ण ज्ञायकत्व का रसानन्द सदा ही तब प्रवाहित रहता है। इसमे तब काल भेद-नही होता, यही काल जयी अनन्त (Eternity) का रूप है। काल का प्रवाह इसमे गौण हो जाता है और आत्मा ज्ञायक रूप-ज्ञानभुवन सा ही स्थिर व केन्द्रस्थ हो जाता है। ज्ञान तब तक न केवल स्व व पर ज्ञान (Subjective and objective knowledge and awareness) मात्र ही नही होता—वह परिपूर्ण ज्ञान व सुख (Wisdom & Happiness) रूप हो जाता है।

---

1 (श्री रवि ठाकुर)

इस समस्त विवेचन से यही निष्कर्ष होता है कि निर्मल ज्ञायक मात्र भाव ध्येय का ग्रहण अथवा निर्मल ध्येय भाव स्वरूप का ग्रहण योग है और उसका अनुगमन कर उसमे समाहित होकर ही आत्म साक्षात्कार सभव हो है। एक मात्र शुद्धात्म भाव स्वरूप ही ध्यान का ध्येय है। इसी ज्ञायक भाव मे ध्याता को, भाव-रत होकर ज्ञान मात्र भाव मे मग्नता करके ध्यान मय ज्ञान व ज्ञान मय ध्यान रूप हो जाना चाहिये। इसी मे शब्द से अतीत निरक्षर रूप आत्म-प्रभु की भक्ति एव साधना है।

यह आत्म प्रभु अनेक यानी अनन्त धर्मो, भावो, गुणो को एकाग्र धारण करने वाला एक सर्व ज्ञान को एकत्व तथा अखण्ड रूप से धारण करने वाला है, अत ही वह अनेकात रूप है। उसका कथन ही विभिन्न दृष्टियो व नयो से किया जाता है पर वह अखण्ड अद्वय स्व सवेद्य है, अर्थात् उसे अद्वय अद्वैत एव अखड रूप से ही ध्याता ध्यान ध्येय वा ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय की त्रिपुटी रूप भेद का वेध करके सर्व-सकल्पो, नयो व दृष्टियो को निराकृत करते हुए सम्पूर्ण निर्विकल्प एक एव शुद्ध चिन्मात्र प्रभु रूप रसा-स्वादन करना चाहिए।

जो अपने क्षुद्र अतर-अह को तिरस्कृत करके अपनी ज्ञान विराटता का आस्वादन करता है वही नित्य चित्-चिदेव है। इसी चिन्मात्र वस्तु की दिशा मे गति लेने की चेष्टा होनी चाहिये, यह ही मृत्यु की मृत्यु, मरण-वारण व काल-निवारण, अक्षय धाम स्व परमात्मा की दिशा है।

चैतन्य चिति भव्य आत्म देव ही सर्वकाल ऐसा ही है, भीतर मे सदा ही शुद्ध ज्ञान मय है, नया होकर शुद्ध नही हुआ जाता। भीतर मे शुद्ध नही होने से क्या कभी किसी मे शुद्धता का प्रकाश सभव है। यह शुद्धता कभी खोती नही, छूटती नही, आवरण ही होने से प्रकाश नही होता।

स्वानुभूति (आत्म-साक्षात्कार) तो कमोवेश सर्वदा ही है और शाश्वत् है, अनुभूति छिनती नही है। केवल मेघाछन्न सूर्य के समान ही हो जाता है अत मेघाच्छादन को दूर कर देना होता है। वह आवरण आरम्भ मे एक दम फट नही जाता तो भी प्रकाश का आभास होता रहता है। इस ज्ञान के प्रकाश से इसी ज्ञान पर्याय से अपने ज्ञायक स्वभाव का सधान लेकर इसी मे अपनी ज्ञान पर्याय को एकाग्र व अभिन्न अवस्थित कर देना चाहिये।

जो कोई ज्ञान की भूमि को पहचान लेता है, उस भूमि पर ही फिर सचेष्ठ होकर पहुँच भी जाता हे। तब वहाँ उस ज्ञान-भूमि मे जो कुछ भी है केवल वही ज्ञान है और इसकी ही विशेष पर्याय केवल ज्ञान कहा जाता है। इसे कोई शब्द बाँध नही सकता, सीमित नही कर सकता। अत ही शब्द धारणा मे भी शब्द को सक्रमण करके शब्द के वाच्य स्वय आत्मा प्रभु की ही धारणा, ज्ञायक स्वभाव की ही धारणा करनी चाहिये और इस धारणा को ही उग्र करके, नित्य करके ध्यानारोहण एव ज्ञाना रोहण करना चाहिये।

कार्य परमात्मा के विकास की विधि

मन को अत्यन्त सूक्ष्म एव लेश्या निर्मूल निर्मल विन्दु रूप करके ही आत्मा के ध्यान को कहा

गया है। जैसे देह व्याप्त विष को मन्त्र के द्वारा डक (काटने के स्थान) मे रोका जाता है और फिर श्रेष्ठ मत्र के द्वारा डक स्थान से भी उसे हटा दिया जाता है वैसे ही चित्त को एक बिन्दु पर रोक कर विषय वासना से मुक्त कर देना चाहिए –

तह विहुयण तणु विसयं मणो विसं जोगमंतबलजुत्तो ।
परमाणुंमि निरुभई अवणेई तओवि जिणवेज्जो ॥[1]

अर्थात्—तीनो लोक रूप शरीर को विषय करने वाले मन रूप विष को ध्यान रूप मत्र के वल से युक्त ध्याता परमाणु मे रोकता है यानी चित्त को अणु सस्थ करता है-और तत्पश्चात् जिनेश्वर रूप वैद्य उस परमाणु से भी उसे हटा देता है। चित्त के बिन्दु रूप हो जाने के बाद उसे भी निर्जरित कर देने पर विभाव से व लेश्या से उन्मुक्त स्वभावि आत्मा का ही साक्षात्कार होता है। और वह आत्मा कर्मेन्धन रहित परमात्मा स्वरूप ही होता है।

आत्मा परमात्मा ही है

"अयमात्मा स्वयं साक्षात्परमात्मेति निश्चय ।
विशुद्धध्याननिर्धूत-कर्मेन्धनसमुत्कर: ॥[2]

जिस समय विशुद्ध ध्यान के वल से कर्म रूपी ईधन को भस्म कर देता है, उस समय यह आत्मा ही साक्षात् परमात्मा हो जाता है, यह निश्चय है। चित्त को अणु सस्थ करने के उपरान्त उसे राग-द्वेषादि विभाव से मुक्त कर देने के वाद कर्मेधन को ही जलाना अवशिष्ट रहता है। ज्ञान धारणा और परिणति से यह अवशिष्ट कर्मेधन भी जब जल जाता है, तो आत्मा परमात्मा ही हो जाता है। तव सपूर्ण आत्मा अपनी सम्पूर्ण वैभव सत्ता मे प्रकाशित हो जाता है।

भगवत्स्वरूप क्या है ?

"ज्ञान धर्म महात्म्यानि भग. सोऽस्यास्तीति भगवान्"[3]–

ज्ञान धर्म के महात्म्यो का नाम भग है, वह जिसके है वो ही भगवान् कहलाता है। ज्ञान गुणो से वैभवो की राशि ही आत्मा का महात्म्य है। इसी से आत्मा भगवान् कहा जाता है।

ईश्वर क्या है ?

"ईश्वर: इन्द्राद्यासभविना अन्तरगवहिरगेषु परमैश्वर्येण सदैव सम्पन्न."[4]—

---

1. (ध्यानाध्ययन ७२)
2. (ज्ञानार्णव २१/७ पृ/२२१)
3. (धवला १३/५,५,८२/३४६/८)
4. (समाधिशतक/टीका।६।२२५।१७)

इन्द्रादिक को भी असम्भव-ऐसे अन्तरग और वहिरग परम ऐश्वर्य के द्वारा जो सदैव सम्पन्न रहता है उसे ईश्वर कहते हैं। अपनी सम्पूर्ण सत्ता ऐश्वर्य की ईशता को जो प्राप्त करके रहे—वही वस्तुत ईश्वर है। अपने स्वरूप का नाथ.... स्वतन्त्र, स्वाधीन और सर्व तन्त्र अपनी स्व सत्ता मे जो है, वही ईश्वर है।

केवल ज्ञानादि गुणैश्वर्य युक्तस्य सतो देवेन्द्रादयोऽपि तत्पदाभिलाषिण. सन्तो यस्याज्ञा कुर्वन्ति स ईश्वराभिधानो भवति"—

केवल ज्ञानादि गुण रूप ऐश्वर्य से युक्त होने के कारण जिसके पद की अभिलाषा करते हुए देवेन्द्र आदि भी जिसकी आज्ञा का पालन करते है, अत वह परमात्मा व ईश्वर होता है। जिसने अपने समस्त क्लेपो को नष्ट कर दिया है, अपने समस्त कर्म-विपाक को नष्ट कर दिया है, जो अव्यावाघ अक्षय स्वाधीन ज्ञानानन्द रूप है वही यथार्थ परम स्वरूप आत्मा परमात्मा होता है।

सत् स्वभाव ही जगत् का कर्ता है। सृष्टि रचयिता किसी एक ईश्वर का अस्तित्व नही है। लोगो का ईश्वर कर्तावाद और जैनो का कर्मकर्तावाद एक ही वात है। भक्ति प्रकरण मे ईश्वर मे कर्तापने का आरोप निषिद्ध नही होता। परन्तु आत्म-पराभक्ति मे आत्मा के सिवा अन्य कोई अपना ईश्वर नही है।

परमार्थ के एकार्थक शब्द

तच्चं तह परमट्ठं दव्व सहावं तहेव परमपरं।
धेयं सुद्धं परमं एयट्ठा हु ति अभिहाणा॥[2]

तत्व, परमार्थद्रव्य-स्वभाव, पर, अपर, ध्येय, शुद्ध और परम—ये सव एक ही अर्थ को वताने वाले है।

निर्विकल्प समाधि के एकार्थक शब्द

परम अद्वैत, परम एकत्व, परम ज्योति, परम तत्व, परम तत्व ज्ञान, परम ध्यान, परम ब्रह्म, परम विष्णु, परम वीतरागता, परम समता, परम सम रसी भाव, परम समाधि, परम स्वरूप, परम स्वास्थ्य, परम हस—ये सब निर्विकल्प समाधि के नाम हैं।

माध्यस्थ, समता, उपेक्षा, वैराग्य, साम्य, अस्पृहा, वैतृष्ण्य, परम और शाति—ये सव एक ही अर्थ लिये हुये है।[3]

1 (द्रव्य संग्रह टीका।१४।४७।७)   2. नयचक्र वृ ४
3 (तत्व० अनु।१३९)

२. उद्‌बोधक योग मीमांसाए "मोक्ष मार्ग प्रकाशक" में और "परमार्थ वचनिका" में

- स्वरोदय साधन का निषेध
- प्राणायाम का निषेध
- अनहद नाद का निषेध
- अजपा जाप का निषेध
- त्रिकुटी ध्यान का निषेध
- मोक्ष एक, मोक्ष मार्ग एक
- योग का अखड स्वरूप
- परमार्थ की प्रेरणा
- वीतरागता की प्रमुखता
- योग और सहज अवस्था
- निर्मल भावमयी सयोगी अवस्था
- भावातीत अयोगि अवस्था
- यथार्थ ज्ञान क्या है ?
- देह और आत्मा के सबध स्वीकृति से ही काय वचन मन के निरोध उपदिष्ट
- गुप्ति का स्वरूप और वीतराग भाव
- विशुद्धि की दो दिशाए वीतरागता और सर्वज्ञता
- योग विज्ञान मे ज्ञान तो मात्र एक अग
- सविकल्प और निर्विकल्प के अर्थ
- सामान्य और विशेष
- योग चर्या सम्यग् दर्शन से भी आगे
- केवल ज्ञान विशेष व्यक्ति दशा। केवल ज्ञान, सत्ता रूप नहीं
- शक्ति के प्रचार से विशेष अवस्था के उद्‌घाटन की आवश्यकता
- परमार्थ वचनिका में मिश्र व्यवहारी और शुद्ध व्यवहारी

- पर का ज्ञान अवधि-ज्ञान, स्व का ज्ञान केवलि दशा मे केवल ज्ञान
- यथावस्थ वस्तु निरूपण ही निश्चय नय
- शुद्धात्मा का अनुभव 13 वे गुणस्थान मे
- नय समन्वय मे व्यवहार साधक और निश्चय साध्य
- सहज वृत्ति की श्रेष्ठता
- स्वरूप मे परिणाम-मग्नता ही आत्मदर्शन
- अनुभव की तरतमता मे गुणस्थान के भेद
- अनुभव की परिभाषा आत्म रस का आस्वाद
- परिणाम मग्नता तन्मय अवस्था का नाम
- निर्विकल्प अनुभव के तीन महत्वपूर्ण प्रत्यय
- अरहत निर्ग्रन्थ ही गुरु
- अनुयोगो मे उपदेश निरुपण : क्रिया और परिणाम की प्रमुखता या गौणता
- बाह्य त्याग और अन्तराग त्याग मे समन्वय-दृष्टि की अपेक्षा
- तप और ध्यान का समन्वय अपेक्षणीय
- अर्हद् तपोयोग मे ध्यान प्रमुख तत्व, शिक्षा दीक्षा के अर्थ मडलादि विधान
- खर्चीले प्रदर्शन और आयोजन वर्जनीय

योग विज्ञान का यह अध्ययन आचार्य कल्प महा प्राज्ञवान पडित टोडरमल जी के निष्कर्षों तथा मतव्यो की चर्चा की अपेक्षा करता है। पडित जी ने अपनी प्रसिद्ध रचना "मोक्ष मार्ग प्रकाश" के पाचवे अधिकार मे पवनादि साधन द्वारा ज्ञानी होने के निषेध के अन्तर्गत योग के जिन कतिपय विषयो पर विचार प्रकट किये है, वे है—पवनादि साधन, प्राणायाम्, अनहदनाद, अजपा जाप रूप सोह ध्वनि, तथा नासिकाग्र भ्रुकुटी व ललाट आदि देश मे ध्यान आदि। पडित जी के वहा जो भी विचार प्रकट हुए हैं वे योगी जनो के लिये अति मननीय हैं। उन्होने उन तत्वो की प्रधानता पर जोर दिया जिन्हे सब को लक्ष्य मे रखना चाहिये। पडित जी ने जिस परमार्थ दृष्टि से इनका निपेध विधि किया है वह मननीय ही है। यद्यपि इनका आरभी साधन के लिये उपयोग भी कम महत्वपूर्ण नही है।

स्वरोदय साधन का निषेध

"मोक्ष मार्ग प्रकाश" मे पवन साधन के सम्बन्ध मे अति मननीय बाते कही गई है। पवन साधन से नासिका द्वारा निकलने वाली पवन के वर्णादि से स्वरोदय ज्ञान को लेकर जो इष्ट-अनिष्ट कहा जाता है। वह लौकिक कार्य है। यह परमार्थ साधन नही है। अत परमार्थ लिहाज से निषिद्ध है। वस्तुत चिन्तन परक योग मे एव परमार्थिक योग मे ऐसे स्वरोदय का कोई स्थान भी नही है।

प्राणायाम निषेध

प्राणायामादि साधन के पवन चढाकर समाधि लगाना नट-साधना से तुलना करते हुये कहा है कि इस शारीरिक क्रिया से आत्म हित कैसे सधेगा ? प्राणायाम द्वारा समाधि को योग मे भी हठ-योग की जड समाधि ही कही गई है। अत इस समाधि को तो योगी जन भी निम्न स्तर की ही समाधि मानते है और योग मार्ग मे गौण ही है। प्राणायाम से प्रकाशावरण की अवश्य निवृत्ति होती है जो क्रमश भावोदय करके ज्ञान को निरावरण प्राप्त करने मे हेतु है।

उन्होने इस बात का निराकरण किया कि प्राणायाम से मन का विकल्प मिटता है या सुख होता है अथवा यम (मृत्यु) के वशीभूतपना नही होता। मन के विकल्प हटाने के लिये कहा है कि मन को रोक रखना ही पर्याप्त नही, मन की वासना मिटाना आवश्यक है, जिससे मन फिर बाहर या भीतर विक्षोभ करना ही बन्द कर दे। तथा चेतना की प्रवृत्ति प्राणायाम मे रुकती है तो फिर बिना चेतना सुख भोग का प्रश्न ही नही होता। इसलिये इसी से सुख होता है ऐसा भी नही। तथा योगी भी अग्नि लगाने से मरते दिखते है तो यम के वशीभूत न होने की कल्पना झूठी है। पडित जी का यह विश्लेषण काफी सही है। प्राणायाम से प्राण सूक्ष्म, लम्बा और सम होता है और उर्ध्व मस्तिष्क मे सचालित होता है जहाँ उपयोग को स्थिर करना अपेक्षणीय है।

मन और प्राण का सम्बन्ध है। अत. मन के निग्रह पर-जो वासनायाम से होता है, प्राणायाम

स्वत ही सधता है। योगी जनो का भी यही अनुभव है। ज्ञानार्णव आदि ग्रन्थो मे प्राणायाम अगको वर्णन करके भी उसकी प्रधानता नही रखी है और मन के प्रत्याहार व धारणा पर ही ध्यान मार्ग पर आरूढ होने की प्रेरणा की गई है। पडित जी के मत मे भी यही ध्वनि है।

प्राणायाम से जो काल वचना होती है, वह क्या है? सुषुम्ना मे जितने काल प्राण वायु रुकता है काल का भान नही होता, यही काल वंचना है। मगर काल और आयु कर्म क्षण क्षण अपना वर्तन व भोग करते ही हैं। और इनका वर्तन सापेक्ष भी है। प्रत्येक वस्तु का परिणमन स्वत और परत दो प्रकार से होने की निजी योग्यता है। देहपात तो अन्त मे सबको ही होता है। प्र णायाम का मतव्य प्राण सवर या सयम है जिससे मन का भी सयम होता है। निश्चल व सम प्राण होने पर आत्म ध्यान की भूमि भी प्रशस्त होती ही है। प्राणायाम अभ्यास मे प्राण गति निरोध की चेष्टा मात्र है, स्थूल गति ही मद होती है, पर प्राण सूक्ष्म रूप मे किसी न किसी रूप मे क्रियाशील रहते है। पूर्णत प्राण निरोध पर देहातीत अवस्था होती है या समुद्घात होता है। समुद्घात करके ही केवली आयु कर्म वध को कृत्रिम रूप से सम रूप करते है। अत अघाती आयु कर्म की भी निरपेक्ष सत्ता नही है। वस्तु का वर्तन निमित्तानुसार सापेक्ष है। आयु आत्मा की नही; देह की है अत वह भी सापेक्ष है।

प्राणायाम अग योग का एक वहिरग अ ग है। पर देश विदेश मे आसन मुद्रा व प्राणायाम ही लोगो को चमत्कृत कर रहा है। आसन प्राणायाम योग मे है पर सपूर्ण योग इतना मात्र नही है। योग मूलत. शुद्ध आत्मा की प्राप्ति का उपाय है। सम्पूर्ण योग षडग, कही अष्टाग कहा गया है और सब ही अ गो के एक साथ अभ्यास मे ही सिद्धि का द्वार खुलता है। तथा ध्यान समाधि ही अन्तरग साधन है—बाकी सब वहिरग साधन माने गये हैं। वस्तुत पवनादि साधन से परमार्थ नही सधता, पर परमार्थ प्राप्ति के मार्ग के जो उपाय भूत कारण-ध्यान समाधि है, परिणाम मग्नता तथा आत्मलीनता रूप साधन है उसमे प्राणायाम का थोडा अभ्यास ध्यान साधना मे सहायता करता ही है, मगर इसकी प्रधानता स्वीकार नही की गई है। मन के प्रत्याहार तथा धारणा अभ्यास मे प्राणो का सहज याम जब सभव हो जाता है तो प्राणायाम की प्रधानता अपेक्षित भी नही रहती। ध्यान स्थिरता के अभ्यास मे प्राण स्वत सूक्ष्म होकर उर्ध्व-होते है और समुद्घात को भी प्राप्त होते है। प्रकाशावरण अत ज्ञानावरण का प्राणायाम अभ्यास से क्षय होता है। अन्तर-ज्योति प्रकाश से ज्ञान का समुद्भव होना सम्भव होता है, पर प्राण से मन अधिक सूक्ष्म है।

अनहदनाद

वीणादिक के शब्द सुनने जैसा ही अनहद नाद सुनने मे सुख की मान्यता लोग करते है। वह तो विषयपोषण है परमार्थ तो कुछ नही है, ऐसा पडित जी ने प्रकट किया है। यथार्थत तो योगी जन भी अनहद अभ्यास को परमार्थ नही समझते। जो इसे परमार्थ ही समझते है तो वे निश्चय ही भूल करते है, वे तो अपनी आगे की भूमिका अवरुद्ध कर लेते है। पर यह अवश्य है कि जो मन अति-

व्यग्र रूप से बाह्य-मुखी रहता है उसे यह अन्तर्जल्प अभ्यास अन्तर्मुखी बनाता है। बहिर्मुखी जल्प से अन्तर्जल्प सुनना इस दृष्टि से श्रेष्ठ ही है। अतः सापेक्ष परमार्थ के परिप्रेक्ष्य मे एक अन्तर्मुख उपाय की तरह ही इसका उपयोग करना चाहिए। अनादि का बाह्यआत्मा अन्तर्मुख होकर अन्तरात्मा परिणत होकर ही उर्ध्वमुख होता है और परम स्वरूप मे परिणत होता है। यह ध्यान रहे अनहद आदि सूक्ष्म आकाश तरगो के शब्द भौतिक ही है। इन्हे ही निरन्तर सुनते रहने से मस्तिष्क मे गर्मी बढ जाती है तथा किसी २ का अपने पर प्रभुत्व ही जाता रहता है।

अजपा जाप का निषेध

अजपा-जाप के लिये पडित जी ने कहा है कि पवन के निकलने व प्रविष्ट होने मे सोह ऐसे शब्द की कल्पना करते है उसे अजपा जाप कहते है। तीतर पक्षी की तूही शब्द मे जैसे अर्थ की अवधारणा नही होती वैसे ही यह शब्द है। उन्होने आगे स्पष्ट किया है कि शब्द के जपने व सुनने से तो कुछ फल-प्राप्ति नही होती, अर्थ का अवधारण करने से फल प्राप्ति होती है। उन्होने अन्त मे प्रकट किया है कि "अन्य जीव जो अपने को न पहचानता हो और कोई अपना लक्षण न जानता हो तब उससे कहते है "ऐसा है, सो मैं हू"। इसी प्रकार पडित जी ने दो तत्वो की ओर ध्यान को आकर्षित किया है–(1) अर्थ की अवधारणा बिना शब्द की पक्षी रटना निष्फल है। मत्र साधना मे वस्तुत' मन्त्रार्थ ही परम उपयोगी तत्व है, यह एक सर्वमान्य सत्य ही है तथा अर्थ को शब्द ही आश्रय देता है अत शब्द और अर्थ दोनो का योग होना आवश्यक ही है। (2) दूसरे उन्होने प्रकट किया है कि सोह शब्द से उसे ही समझाया है जो अपने से परिचित नही है। अत उस ज्ञानी को जो स्वय से प्रत्यक्ष परिचित है सोह अनावश्यक शब्द है। यथार्थ मे तो आरम्भी साधक जो अभी स्वरूप से परिचित नही हुआ है, उसे ही कहा जाता है "ऐसा वह जो है, वैसा ही तू भी है"। जो अभी कोऽह कोऽह की भूमि मे है, उसे देव के स्वरूप को दिखाकर कहा जाता है कि ऐसा ही तुम्हारा स्वरूप है। अत वह उस स्वरूप की भावना के लिये 'सोह' 'सोह' के चिन्तन मे अपनी स्वरूप-अवधारणा को ही दृढ करता है। जो स्वरूप-परिचित वा स्वरूप-परिणत हो जाते है उन्हे सोह भावना अपेक्षित नही रहती। "पुरुष आप को आप जाने, वह सो मैं हू-ऐसा किसलिये विचारेगा।" इससे निष्कर्ष यह होता हे कि जब तक जीवात्मा को आप अपना स्वरूप बोध दृढ न हो जाए, उसे सोऽहं अवधारणा योग्य है। अतः ही "नियमस्तर" मे आ० कुद कुदने सोऽह धारणा की बडी प्रशसा की है। दृष्टव्य है गाथा स. 96–97 और 98। पडित जी ने सोह रटन को तीतर पक्षी की अज्ञान पूर्ण रटना के समान निष्फल बताया हे। वस्तुत. सोह साधना वाचिक रटना नही है, यही उनका विशेष कथन है। सोह साधना तो सलीन आत्म-समाधि का आनन्द स्वरूप है कि जिसमे स्वत चिदाकाश मे सोह-२ रूप ध्वनि होती रहती है और ध्यानी साधक आनन्द रस मे डूबा तल्लीन स्थिर रहता है। आ कुद कुद ने इसी आनन्द समाधि की प्रेरणा सोह साधना मे की है।

त्रिकुटी ध्यान का निषेध

पडितजी ने ललाट भौह व नासाग देखने रूप त्रिकुटी ध्यान से परमार्थ होने का भी निषेध

किया है। कहा है "कोई ललाट, भ्रूमध्य और नासिका के अग्र देखने रूप साधन द्वारा त्रिकूटी आदि का ध्यान हुआ कह कर परमार्थ मानता है, वहां नेत्र की पुतली फिरने से मूर्तिक वस्तु देखी, उसमे क्या सिद्धि है ? तथा ऐसे साधन से किंचित् अनागतादि का ज्ञान हो व वचन सिद्धि हो व पृथ्वी आकाशादि मे गमनादिक शक्ति हो, व शरीर मे आरोग्यतादिक हो तो यह तो सर्व लौकिक कार्य है, देवादिक को स्वमेव ही ऐसी शक्ति पाई जाती है इनसे अपना कुछ भला तो होता ही नही है, भला तो विषय-कषाय की वासना मिटाने पर होता है।" पडितजी ने यहा ध्यान का निषेध नही किया है। ध्यान को स्पष्ट करते हुए उन्होने तो आगे स्वय तत्त्वार्थ सूत्र के "एकाग्रचिन्ता निरोध ध्यान" लक्षण को स्वीकार किया है। अत यहाँ उनका मतव्य इतना मात्र ही है कि ध्यान की बाह्य मुद्रा मात्र से कोई परमार्थ नही सधता। पुतली फिरने से त्रिकुटी मध्य मूर्तिक वस्तु देखी जाती है मात्र मूर्तिक समझने व मूर्तिक भाव रखने मे तो आत्मा का चैतन्य भाव गौण रह जाता है। अत इस मूर्ति रूप चैतन्य रूपस्थ ध्यान मे चिन्मय ध्येय रूप चैतन्य भाव मग्नता का अभ्यास होना चाहिये। बाह्य मुद्रा के बाद वस्तुत अन्तरग भाव मुद्रा मे ही चले जाना चाहिये। साधक को देह के प्रदेश त्रिकुटी हृदय आदि को देखना छोडकर वहाँ निरालम्ब ही आत्म-ध्यान व आत्म भाव मे अग्रसर होना चाहिये। आ शुभ चन्द्र ने ध्यान के लिये ललाट, भौंह आदि चित्त की कलाधार भूमियो का वर्णन किया है। आ सोमदेव ने व हेमचन्द्र ने भी इनका वर्णन किया है। इन्हे उन्होने आत्म-ध्यान के हेतु भी नही कहा है। यहाँ चित्तकला का उद्घाटन होता है, अत ये चित्त के एकाग्र निरोध एव परिष्कार के ही हेतु वृत्ति के आश्रय स्थल हैं। चित्त जब तक चित्ताकार रहता है आत्म-साधन बनता नही, अत मन की चचलता या जड मनस्कारता की निवृत्ति के ही अर्थ इनका प्रयोग है। इन कलाधारो का उपयोग अन्त स्त्रावी ग्रन्थि, स्थानीय प्रकाश चक्रो को सक्रिय करने के लिए तथा मन के सकल्प-विकल्पो को रोकने के अर्थ ही करते हैं। यहा उत्तीर्ण हुआ मन आगे वीतरागता को धारण करता है। जो स्थूल-अभ्यास को ही योग की सम्पूर्णता मानकर सतोष करते हैं वे आगे परमार्थ के मार्ग मे कैसे उपस्थित हो सकते है ? जो साधक दैहिक बहिरग भागो पर ही अटक जाते हैं, उन्हे यहा सम्बोधित तथा सचेत किया गया है कि विषय कषाय के निवृत्त होने रूप आत्म-साधना की भी प्रमुखता करो, क्योकि आत्म-साधना वीतरागता का मार्ग है। ध्यानादि परमार्थ अभ्यास का भी मूल हेतु यही है कि चित्त बार-बार आत्मिक अतीन्द्रिय आनन्द प्राप्ति करता हुआ अपने विषय कषायो की वासना से निर्मल हो। अतर मे मूर्तिक रूपस्थ वस्तु पुरुषाकार स्वरूप दर्शन के अनन्तर ही आत्मा का रूपातीत गुण भावना रूप ध्यान का क्रम सभव होता है।

मोक्ष एक, मार्ग एक

मोक्ष मार्ग एक है, दो नही, उसका निरुपण ही दो प्रकार से है-यह बडी प्रसिद्ध उनकी उक्ति है।

यह निर्विवाद है कि मोक्ष एक है, और मार्ग भी एक है और इस "एक" का भी अर्थ वस्तुत जैसा कि जैन वाङ्गमय मे अर्थ लिया गया है, शुद्ध है। अर्थात् मोक्ष मार्ग विशुद्धता का ही मार्ग है, यहाँ मार्ग से अमार्ग, या कुमार्ग का निषेध है। शुभ व अशुभ आस्रव वाले उपायो का भी

निषेध करके केवल विशुद्धि का ही मार्ग है। यहा एक मात्र विशुद्धि ही लक्ष्य है और वही मार्ग है, और वह शुद्ध लक्ष्य शुद्धनय से निरूपित-द्रव्यार्थिक नय का शुद्ध व सिद्ध सम आत्मा है और इसका मार्ग ऐसे ही विशुद्ध आत्मा के श्रद्धान को ही लेकर है।

मानव स्वय आप अपनी रुचि, ज्ञान और भाव स्थिरता पर सर्वज्ञ उपदेशानुसार जैसी भी अपनी योग्यता समझता है, एक साधना ग्रहण करता है। मार्ग शास्त्र से वा ऐसे गुरु द्वारा ही निर्णीत हो सकता है जिसने मार्ग देखा हो। "मार्ग" का लक्ष्य अव्याबाध नित्य ज्ञानानन्द आत्मा है। वही स्थिर लक्ष्य है। अब साधक ही चल स्थिति मे है। इस लक्ष्य प्रति जो भी उपाय गुरु निर्दिष्ट करता है उस साधक का वही एक साधन होगा। जो गुरु निर्दिष्ट है, वही साधन है बाकी सब साधक के लिये विकल्प या अमार्ग या विमार्ग ही होंगे। साधक को ही अपनी वर्तमान अशुद्ध स्थिति से आगे शुद्धता की ओर चलना है, अत उसे मार्ग को ग्रहण करके पथ का यात्री बनना होगा। और यात्री मजिल दर मजिल ही चल सकता है। वस्तुतः यह शुद्धता का मार्ग तो—"दर्शन ज्ञान चारित्र रूप" एक ही है परन्तु उस "एक" मे पहुंचने रूप यात्रा मे जीव की तात्कालिक विलक्षणता, बुद्धिगत सूक्ष्मता, तथा भाव सरलता के तारतम्य के अनुसार बहुत प्रकारान्तर सम्भव होते है। साधक की प्रकृति, योग्यता, रुचि, और स्थिति को जानकर, व्यवहार (उपाय) रूप मार्ग का वेत्ता 'गुरु' जो भी निर्दिष्ट कर देगा, वह ही साधक का मार्ग है। इस परम्परा मे अनेक उपाय व कारण कहे गये हैं। इनके ग्रहण मे मानव का पुरुषार्थ व सकल्प

योग का अखण्ड एक स्वरूप—

यह एक बहुत बडी भ्राति है कि योग अलग है, उपासना-भक्ति योग अलग है, ज्ञान-योग अलग है, या कर्म-योग अलग है या राजयोग अलग है। स्वामी विवेकानन्द ने राजयोग, भक्तियोग, कर्मयोग ज्ञान योग के नाम से अलग-अलग योगो का कथन किया है। एक सम्पूर्ण योग के इस तरह विभाग मे योग की न अखण्ड दृष्टि है, न समन्वित या पूर्ण दृष्टि ही है। गीता मे भी टीकाकारो ने ऐसे ही अलग-अलग नामो से योग के भेद बताकर एक सम्पूर्ण योग का खण्डशः वर्णन किया है। योग तो दर्शन-ज्ञान और चारित्र का अभेद स्वरूप है। अत भक्ति, ज्ञान और चारित्र सब अभेद ही साथ-साथ चलते है। इनका भेद करना आत्मा का ही खण्डन करना है। ये तीनो गुण एक आत्मा के ही हैं और आत्मा मे अभेद हैं। अतः इन्हे समझने के लिये अलग-अलग चाहे कहे, मगर इनका कार्य अखण्ड व अभेद ही आत्मा से आत्मा मे होता है। दर्शन बिना ज्ञान अपूर्ण है, ज्ञान बिना दर्शन अपूर्ण है, तथा आचरण या स्थिरता बिना दर्शन 'श्रद्धा' एव ज्ञान भी असम्भव है, ये सब धूमिल हो जाते हैं। सद्दृष्टि बिना न ज्ञान हो सकता है न आचरण, और आचरण बिना ज्ञान पगु है और श्रद्धान भी बिना आचरण निष्फल है। ऐसे तीनो गुणो की अभेद त्रिपुटि है। ज्ञान योग भक्तियोग आदि रूप से अलग-अलग योग भेद करना सही नही है। योग को यदि एक पुरुष की तरह कहा जाये तो कहना होगा कि दर्शन 'श्रद्धा' उस पुरुष का हृदय है, ज्ञान उसका मस्तिष्क है, और आचरण उसका चरण है। अब यदि आप इन तीनो तत्वो को खण्ड-खण्ड देखोगे तो योग का वह सपूर्ण पुरुष आखो से ओझल हो जायेगा। आप तब या तो दिल ही देखते रह जाओगे, या मस्तिष्क या पाव। तब इन विक्षत हुये अङ्गो से आपको योग का अलौकिक रूप दिखाई भी न पडेगा, न समझ मे आयेगा।

परमार्थ की प्रेरणा—

पडित टोडरमल जी ने नयाभासी 'नय कोई भी हो' को मिथ्या दृष्टि कहा है क्योकि नय एक दृष्टि मात्र है और वस्तु अनेक धर्मी होने से अनेक दृष्टि से कही व जानी जाने योग्य है। पडितजी न तो शब्द पर रुकते हैं, न अर्थ पर,—वे तो सीधे परमार्थ पर ही पहुचते हैं और उसी की बराबर प्रेरणा उनके लेखन मे है और यह ही उनकी विशेषता भी है। योग मे शब्द, अथ और ज्ञान इन तीनो का विस्तार से ही वर्णन है। और यह जैन योग की विशेषता है कि यह शब्द को कह कर भी न शब्द पर रुका है, और अर्थ "अभिव्यक्ति, पर्याय" को कहकर भी उस पर नही रुका है, यह तो केन्द्रस्थ मूल तत्व पर,—बोध पर ही पहुचा है। सामान्य मात्र तो बिना विशेष पर्याय अकार्यकारी है ऐसा स्पष्ट उल्लेख पडित जी का है। वे सम्यक् दर्शन के लिए वस्तु की द्रव्य दृष्टि, द्रव्यार्थिक -नय, शुद्ध-नय को कहते हैं और शुद्ध नय प्रतिपादित आत्मा की प्राप्ति ही को मोक्ष, व उसके ध्यान प्रतीति व स्थिरता को मार्ग कहते है। वे इस प्रकार आ० श्री कुन्दकुन्द व अमृतचन्द्र आदि की परम्परा को आगे बढाते लक्षित होते है। और इसीलिये उनकी प्ररूपणाएँ आचार्य-कल्प मानी जाती हैं। उनका मतव्य उत्कृष्टतम स्वरूप-प्राप्ति ही है और वे इसके लिये वीतरागता को यथार्थ ही प्रधानता भी देते हैं।

वीतरागता की प्रधानता—

वीतरागता की प्रधानता योग का स्वरूप है। योग मे आसक्ति-हीन, तथा विषय एवं कषाय-हीन प्रवृत्ति और अभ्यास का उपदेश दिया गया है। योग के तमाम अभ्यासो मे साधक की दृष्टि अपने परम प्राप्तव्य वीतराग सर्वज्ञ शुद्ध स्वरूप की ही होती है तथा प्रवृत्ति विषय व कषाय रहित रहने की होती है। योग साधना मे तो शुद्धतम स्वरूप की प्रतीति रूप सम्यग्दर्शन की ही भूमिका से अभ्यास करना समीचीन माना गया है। सर्वज्ञ योग परम्परा की यही बात है। राग व वासना ही ससार है; वासना तो मुक्ति की भी होना अयोग्य है। सहज रूप व कामना वासना रहित आप अपने मे, ज्ञान रूप मात्र से स्थिरता करना ही इस योग का मतव्य है। वासना ही आत्मा के वस्त्र हैं, आवरण है—इनके हटते ही वीतरागता है, दिगम्बरत्व है, और कर्म-ग्रन्थियाँ रहित निर्ग्रन्थिता है, अपनी सहजता, अपनी स्वाभाविक दशा है।

योग और सहज अवस्था—

यह आपको कुछ करने को नही कहता। यह आपको अपने आप मे सहज होने को कहता है। धर्म अपने आपकी ही खोज है। अपने सहजसौम्य मूल स्वरूप की खोज है तथा उस खोज के लिए एक वासना रहित वीतराग परिणत आदर्श पुरुष के चारित्र को भी समक्ष करता है जिसने अपने व जगत के साथ एक सहज सम्बन्ध जोडा था, वासना और राग रहित होकर जोडा था। पर अपने आप मे सहज व स्वाभाविक स्थिर होना आसान नही, बडा कठिन है। अत' ही अभ्यास और आदर्श की भी अपेक्षा है। पर जो क्षणात् ही सहज हो सकते है—उन्हे अभ्यासादि व्यवहार भी अपेक्षित नही हैं क्योकि वे तो प्रभुरूप ही है।

निर्मल भाव मयी सयोगी अवस्था

योगी अपने अभ्यासो द्वारा गुण-श्रेणी आरोहण मे भावो की विवर्धमान विशुद्धि एव उज्जवलता से मन वचन काय के विषय कषाय रूप परिस्पदनो का क्रमश निरोध कर अपनी ही मूल निर्मल सयोगी जिन अवस्था को उद्भव करना चाहता है, और तदनन्तर ही अयोग जिन-अवस्था की ओर आता है। सयोग अवस्था मे परिस्पदन होते है, मगर रागादि से निर्मल होने से सम रूप होते है जिनमे उनके व जगत् के बीच एक गहरा अन्तर-मिलन होता है—और आत्म-प्रदेशो मे हलन चलन, हीनाधिकता, चढना या नीचे होना भी नही होता। गुण एव भाव रूप से भी निर्मल भाव मात्र अवस्था रहती है।

भावातीत अयोगी अवस्था

इस भाव अवस्था का भी निरोध होकर अयोगी "भावातीत" होकर अशरीरी होते हैं, और

सिद्धालय मे प्रतिष्ठित होते हैं। भाव विशुद्धि के अनन्तर भाव-निरोध से भावातीत मुक्त-दशा आती है। योग-विज्ञान की ऐसी ही अलौकिकता है। इन योग अभ्यासो को अभूतार्थ कह कर जब कही निरादर प्रकट किया जाता है, तो यह मोक्ष मार्ग की अवमानना है। शास्त्रादि का श्रवण वा चर्चा मात्र ज्ञान नही है, यह सब ज्ञान तो बौद्धिक स्तर तक ही रहता है, अन्तश्चेतना उससे अछूती रहे, तब तक ज्ञान यथार्थ ज्ञान नही।

यथार्थ ज्ञान क्या ?

ज्ञान वह है जो ज्ञानी को स्वरूप से तन्मय करे और योगाभ्यास से साधक ऐसा ही ज्ञान रूप होकर परिणमन करता है। ज्ञान आत्म स्थिरता एव शुद्ध परिणाम-मग्नता के अर्थ योग के सर्वांग आचरण की अपेक्षा करता है और तब वह ज्ञान ही योग विज्ञान वा आत्म-विज्ञान नाम पाता है। इसी विज्ञान की चर्या योग मे है। यह मजमा या प्रदर्शन की वस्तु नही है, न मात्र मौखिक चर्चा की, यह अनुभव एव आत्म-एकाग्रता का विज्ञान है, अभ्यास का प्रायोगिक विज्ञान है। इसका रस अभ्यास और और अनुभव करने मे आता है, स्व सवेद्य है; क्योकि यह स्व का ही अन्तर-तत्त्व है।

अर्हत् पुरुषो व आचार्य गणो ने कहा है हे, भव्य जनो! इसके रस का आस्वादन करो।

देह और आत्मा का सम्बन्ध, मन वचन काया के निरोध

यह समझना एक भ्रम ही है कि ससारी देहस्थ "छद्मस्थ" जीवात्मा के मन वचन काय की क्रिया का आत्मा के साथ कोई "सम्बन्ध" नही है। छद्मस्थ की मन वचन काया की क्रिया अज्ञान मूलक आत्मा की ही क्रिया है। इन क्रियाओ मे आत्मा के भाव-प्रदेशो मे हलन चलन आदि होते ही है और कर्म-प्रत्ययो का बन्ध भी निमित्तानुसार पडता ही है। कर्म-प्रत्ययो मे स्थिति व अनुभाग कषायो से और प्रकृति और प्रदेश बन्ध मन वचन काय के हलन चलन से पडते है। प्रकृति और प्रदेश बन्ध चाहे कितने ही अल्प हो, मगर इससे यह स्पष्ट होता है कि वि-भावी आत्मा के साथ मन वचन काया की क्रिया का सम्बन्ध है। जीव के भाव मन मे व्यक्त होते है, फिर वचन मे होते है तथा फिर आगे काया की चेष्टा मे व्यक्त होते है। इसी कारण विषय व कषायो की निवृत्ति के लिये मन वचन काय के भी निरोध को उपदिष्ट किया गया है। यही सवर का स्वरूप है। यह शारीरिक क्रिया मात्र है ऐसा कह कर इन क्रियाओ की तुच्छता बताने वाले तो तत्त्व की अज्ञता को ही प्रकट करते है। देह मदिर मे अन्त प्रेक्षा करके ही परम विराट् सत्तामय आत्मा का दर्शन सभव होता है। जिसे उस देह मदिर मे अन्तर आत्मा को भी देखना नही आता, वह परम चैतन्य परम आत्मा को भी कैसे देख पायेगा ?

गुप्ति का स्वरूप और वीतराग भाव

जीव के मन वचन काया की क्रिया, चेष्टा, और आत्म-प्रदेशों की स्थिरता या कपन परस्पर

सम्बद्ध ही है। योग मे मन वचन और काय की सुनिश्चलता पर उतनी ही प्रधानता है, जितनी आत्मा के भाव-प्रदेशो की वीतराग सुनिश्चलता की। बल्कि आत्म प्रदेशो की ऐसी सुनिश्चलता के ही प्रयोजन से इन तीन प्रकार "मन वचन काय" की सुनिश्चलताओ को कहा गया है। पर आज तो अजैन योगियो ने विश्व मे बहुत कर कायिक आसनादि क्रियाओ के ही प्रदर्शन करके वहिरग योग की प्रसिद्धि कर रखी है। अध्यात्म-योग का शारीरिक क्रिया तथा रागादि के निग्रह से आत्मिक प्रदेशो के विक्षोभमय हलन चलन रोकने का मतव्य है। शारीरिक आसनादि क्रियाओ मे भी आध्यात्मिक अर्थ ही प्रधान वस्तु है। जब मन को वीतराग, वचन को मौन और काय को स्थिर किया जाता है, तो उसका उद्देश्य आत्म-प्रदेशो के कषाय रूप व मोहरूप हलन चलन को रोकना है जिससे आत्मा-आत्मा मे सुस्थिर व सम स्थित रहे। रागादि रहित सम स्थिरता ही अबध दशा है। पण्डित जी ने कहा है कि वीतराग भाव होने पर मन; वचन, काय की चेष्टा न हो, वही सच्ची गुप्ति है[1]। सवर को तत्त्वार्थ सूत्र मे "स गुप्ति समिति धर्मानुप्रेक्षापरिषहजय चारित्रैः" कहा है। इन सब चारित्रो मे व मन वचन काय निरोध मे भी वीतराग भाव रखना होता है।

विशुद्धि की दो दिशाएं—वीतरागता और सर्वज्ञता

योग मे विशुद्धि का अर्थ मन वचन काय—सब की ही विशुद्धि को साधने पर ही जोर दिया गया है, क्योकि मन वचन काय की शुद्ध क्रिया से ही पर्याय मे शुद्धि होती है। वरना आत्मा-द्रव्य तो शुद्ध ही है। शुद्ध का अर्थ अत पडित जी ने रागद्वेष विषय कषाय से रहित होना सही प्रकट किया है। इसी से निजरा भी घटित होती है। निश्चय धर्म तो वीतराग मात्र भाव है, अन्य नाना विशेष वाह्य साधन जो अपेक्षा व उपचार से लिये है, उनको व्यवहार मात्र धर्म सज्ञा जानना। इस रहस्य को जो नही जानता उसके निर्जरा का भी श्रद्धान नही है। इस प्रकार कह कर उन्होने ने शुभ अशुभ रूप विकल्पो का निषेध करके मात्र शुद्ध का ही प्रतिपादन किया है, और यह ही जैन धर्म या जैन योग का हार्द भी है। शुक्ल ध्यान मे शुक्लता की सर्वोपरिता इसीलिये है कि वहा वीतराग भाव की उपस्थिति से ही ध्यान की धारा चलती है, इसी से शुद्धोपयोग होता है। वास्तव मे ज्ञान और वीतरागता की दो धाराए एक ज्ञान गुण की दूसरी राग रहित स्थिरता रूप चारित्र गुण की समानान्तर चलती है।

ज्ञान और योग

आसन व प्राणायाम वहिरंग अङ्गो के प्रदर्शन तथा प्रधानता से योग का मूल आध्यात्मिक स्वरूप आम लोगो की दृष्टि मे गौण प्राय. हो गया है। इसी कारण लोग ज्ञानी कहे जाने मे गर्व एव गरिमा प्रतीत करते है। मगर योगी शब्द मे नट–विद्या का आभास पाते है, यद्यपि ज्ञान तो योग के

1. पृ० 228

तीन रत्न, दर्शन ज्ञान चारित्र मे से एक रत्न मात्र है और योग तीन रत्नों का एक परिपूर्ण विज्ञान है। अर्थात् योग मे ज्ञान तो समाविष्ट ही है।

योग का विषय क्या है, उसके क्या आयाम है, उसका उद्गम कब व कैसे हुआ, मूल आस्थायें क्या हैं, इसका वास्तविक स्वरूप क्या है,—आदि-आदि पर विचार किया जाना चाहिए। योग के शुद्ध स्वरूप की माग है कि इसके निर्भ्रान्त रूप को अवधारित किया जाए और इस प्राचीन सर्वज्ञ आत्म विद्या का स्वरूप विद्यमान रहे और परम्परा छिन्न न हो।

सविकल्प और निर्विकल्प के अर्थ

"रहस्य पूर्ण चिट्ठी" मे पण्डित जी ने सविकल्प के साधन मे निर्विकल्प साधन होने का विधान कहा है, यह कथन योग सम्मत है। सविकल्प मन द्वारा होता है, निर्विकल्प में भी मन न रहता हो ऐसा नही; केवल मात्र मन मे जब रागद्वेषादिक नही होते तब वह निर्विकल्प कहने मे आया है। रागद्वेषादि से आप उपयोग को न भ्रमाएँ तब तक निर्विकल्प दशा है। स्वानुभव जिसे कहते हैं, वह भी मन के द्वारा ही है, अनुभव पर्याय की वस्तु है। पंडित जी ने इस प्रकार जैन योग-तत्त्व को स्पष्ट किया है। अजैन मत मे मन के नष्ट होने रूप या अह के नष्ट होने रूप को निर्विकल्प मानते हैं, क्योकि वे मन को द्रव्य रूप ही मानते है, आत्मा के भाव रूप नही। जैन मान्यता मे मन द्रव्य तथा भाव दोनो रूप है और भाव मन स्वय आत्मा का ही रूप है अत. मन नष्ट नही होता, न मन का अह ही नष्ट होता है। मात्र अहं के विक्षोभ, व विकल्प तथा विभाव का ही परिष्कार होता है और मन व अह निर्विकार हो जाते हैं। हमारा ज्ञान ही अस्थिर एव अज्ञान रूप रहा होता है—वहीं से अस्थिरता तथा विकार मन के प्रवाह मे वह आते हैं, इसमे मन रूप धारा का क्या दोष है?

सामान्य और विशेष

पंडित जी ने सामान्य–विशेष पर भी कथन करते हुए स्पष्ट किया है कि सामान्य विशेष के विना वनता नही। विशेष "पर्याय" सहित ही सामान्य होता है। ऐसे उन्होंने आत्म वस्तु के द्रव्य व पर्याय दोनों पर ही समान रूप से ध्यान आकर्षित करते हुए शुद्ध नय "द्रव्यार्थिकनय" की प्रधानता सम्यक् दृष्टि के लिए मानी है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप द्रव्यार्थिक नय से श्रद्धा का विषय है। अत स्वरूप निर्णय के समय इसी शुद्ध स्वरूप की अवधारणा या श्रद्धान करके दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय कर लेना कहा गया है।

योग चर्या सम्यग् दर्शन से भी आगे

पंडित जी की मोक्ष मार्ग प्रकाशक–रचना सम्यक् दर्शन के अङ्गो के विवरण के वाद अधूरी रह गई है। और यह अति दुर्भाग्य ही रहा कि पंडित जी की प्रज्ञापूर्ण लेखनी सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र के अङ्गो पर प्रकाश न डाल सकी। योग का मार्ग न केवल सम्यक् दर्शन का है, यह सम्यक्

दर्शन, सम्यक् ज्ञान व सम्यक् चारित्र तीनो को अभेद मानकर आत्म दर्शन से मोक्ष प्राप्ति के उपाय को स्पष्ट करता है। अत पडित जी की रचना सपूर्ण योग मार्ग का विवरण नही बन सकी। अत उससे योग मार्ग के साधनो का मिलान करके योग को व्यवहार मात्र व अभूतार्थ कहना व मानना तो अपनी अज्ञता को ही प्रकट करना है। चारित्र मोहनीय कर्म के क्षय करने के साधनो को जो एक-एक चरण रूप आत्म-स्थिरता के हेतु है—अभूतार्थ कैसे कहा जा सकता है? यह योग मार्ग स्वरूप चरण का विज्ञान है। इसमे धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यान आदि ध्यानो की बडी महिमा है। ये विज्ञान प्रायोगिक है। अतः इसकी महिमा वे ही जानेगे जो अभ्यास करेगे और अनुभव लेगे। योग यथार्थ ही कतिपय सविकल्प साधनो को ग्रहण करके सर्व विकल्पो को उच्छेद तथा अति क्रात करके निर्विकल्प सहजानन्द को उद्घाटित करने का मार्ग है। इसकी शैली निरूपण प्रधान नही है, गति 'गमन' परिणमन व अनुभव प्रधान है, जिसमे वीतरागता व सर्वज्ञता ही परिणमति है। यहा आत्मा के ज्ञान स्वरूप को लेकर आत्मा को आत्मा मे ही प्रबोधित तथा स्थिर करते है। इस लिये ज्ञान-आत्मा का निरतर ज्ञानमय विचार (Sustained thougt) साधक को ज्ञान मे एकाग्र करके समाधिस्थ कर देता है। और यही विशेषता है इस जैन योग की तथा यही इसे अन्य-अन्य योग-आम्नायो व सम्प्रदायो से विशिष्ट करता है।

केवल ज्ञान विशेष व्यक्ति दशा है

पडित जी ने शक्ति और व्यक्ति के मर्म को केवल ज्ञान के उदाहरण से इस प्रकार प्रकट किया है—"सर्व जीवनिविषै केवल ज्ञान स्वभाव कहा है सो शक्ति अपेक्षा कहा है। वर्तमान व्यक्तता तो व्यक्त भए ही है। कही कोउ ऐसा मानै है कि आत्मा के प्रदेशनिविषै तो केवल ज्ञान ही है, उपरि आवरण ते प्रगट न हो है। सो यह भ्रम है। जो केवल ज्ञान होय, तो वज्रपटलादि आडे होते भी वस्तु को जाने, कर्म्म के आडे आए कैसे अटकै? तातै कर्म्म के निमित्त ते केवल ज्ञान का अभाव ही है। जो याका सर्वदा सद्भाव रहे है, तो याको पारिणामिक भाव कहते,—सो यह तो क्षायिक भाव है। सर्व भेद जामे गर्भित ऐसा चैतन्य भाव सो पारिणामिक भाव है। याकी अनेक अवस्था मति ज्ञानादि रूप वा केवल ज्ञानादि रूप है, सो ए पारिणामिक भाव नही। तातै केवल ज्ञान का सर्वदा सद्भाव न मानना।" यहां उन्होने श्वेताम्बर आम्नायो का जो ज्ञान को सत्ता रूप मानता है, निराकरण किया है। उन्होने स्पष्ट किया है कि केवल ज्ञान सत्तारूप सदा से है, ऐसा नही है, जब वह विशेप पर्याय रूप प्रकट होगा—तब ही वह है—इससे पूर्व नही।

जब जीवात्मा वर्तमान मे मति ज्ञानादि रूप-क्षयोपशम रूप अवस्था मे है, तो उसे अन्य अवस्थाओ का अभाव ही होता है; इसलिये केवल ज्ञान का भी अभाव है। केवल ज्ञान की शक्ति जीव मे हैं, उसे कर्म व्यक्त नही होने देते। इस लिये इस अपेक्षा केवल ज्ञान का आवरण है ऐसा कहा जाता है। यह नही कि केवल ज्ञान का सद्भाव है और कर्म उसे आच्छादन करते है। शक्तिरूप से होने से ही शक्ति का विशेप प्रत्यय या पर्याय प्रकट होता है। तब ही उस व्यक्त हुई अवस्था अपेक्षा उस अवस्था

का सद्भाव कहा जा सकता है। यह आत्मा चैतन्य पुंज पारिणामिक भाव वाला है। भाव का अर्थ ही शक्ति है। चैतन्य आत्म द्रव्य मे परिणमन करने की शक्ति है। इसमे शक्ति है कि यह अपने मे क्षायिक भाव से केवल ज्ञान अवस्थाओ का उद्भव कर ले। इसमे शक्ति है कि यह सिद्ध बन पूर्ण अवस्थाओ को प्राप्त कर ले। परतु वर्तमान मे ये विशेष अवस्थाए इसमे जागृत व विकसित नही है। वर्तमान मे यह केवल क्षयोपशम अवस्थाओ को ही प्राप्त है। अब यदि यह जीवात्मा अपनी शक्ति का प्रचार व विस्तार करके विशेष-विशेष चैतन्य अवस्थाओ की जागृति करे तो कभी इसमे वह क्षायिक ज्ञान अवस्था भी उत्पन्न हो सकती है जिसे केवल ज्ञान अवस्था या सिद्ध अवस्था कहते हैं।

हम भगवान् तीर्थंकर को इसलिए नही आराधते कि वे हमारे समान क्षयोपशमिक अवस्था वाले है। हम उन्हे इस लिये आराधते हैं कि उन्होने केवल ज्ञान व सिद्ध पद विशेष अवस्थाए प्रगट की हैं। अत प्रकट होता है कि केवल ज्ञान व सिद्ध पद विशेष अवस्थाओ का विकास प्राप्त कर लेना ही हमारा आदर्श है, वही हमारा लक्ष्य है।

हमारा जो चैतन्य-पिंड आत्मा वर्तमान मे है—इसकी शक्ति को ऐसा प्रदीप्त कर लेना होगा कि केवल ज्ञान भास्कर कहा जा सके। भ० वृषभेश्वर ने धर्म मे ऐसी योग-अग्नि प्रदीप्त की थी कि अन्तर मे ऐसा प्रतीत होता था कि मानो सैकडो उल्कापात के रूप मे नक्षत्र-ज्योतियाँ ही फूट पडी हो। भ० नेमीनाथ के चचेरे भाई योगीश्वर भावी तीर्थंकर श्री कृष्ण ने युद्धस्थल पर अर्जुन को सहस्त्रो सूर्यो के उदय के समान प्रकाश का उदय अपने चैतन्य-पिंड से प्रकाशित करके दिखाया था और तब ही उसकी भ्रान्ति का निराकरण हुआ।

मै चैतन्य पिंड हूँ—इसका परिचय तब ही प्राणो को होगा, जब अन्तर-प्राणो मे उस चैतन्य पिण्ड मे से सहस्त्रो सूर्य सम प्रकाश को ज्योतित होते देख लोगे, वह प्रकाश अवस्था ही विशेष पर्याय है और पूर्ण ज्ञान की व्यक्ति ही क्षायिक पर्याय है। इस विशेष के पूर्व जो भी कुछ है वह मात्र शक्ति का बुझा-बुझा अव्यक्त स्वरूप है। इसमे प्रोज्वलित होने की शक्ति हैं, मगर वह प्रोज्वलित नही है। इस विशेष अवस्था को उद्भव कर लेने के उपरान्त ही सामान्य चैतन्य पिण्ड मे स्थिरता की बात हो सकती है, वरना जो इस वक्त क्षयोपशम सामान्य अवस्था है उसी मे स्थिरता की बात तो निरर्थक है।

जो लोग अत विशेष को प्रथम उत्पन्न न करके सामान्य सत् पर्याय की बात करते हैं, चर्चा करते है और विशेष से विमुख कराते हैं, वे जैन योग के यथार्थ रहस्य को न स्वय समझते और न अन्य जनो को समझने देते। परिणामत वे लोगो को भव-भ्रमण मे डालते रहेगे। बौद्धिक ज्ञान क्षयोपशम से अधिक दूर नही ले जा सकता—इसके लिये अन्तर प्राणो कोअन्तरज्योति रूप परिणमित करना आवश्यक है, और वह ज्योति रूप विशेष अवस्था अभ्यास व साधना से ही उत्पन्न होती है।

शक्ति के प्रचार व शक्ति की विशेष आवस्था से क्षायिक ज्ञान अवस्था के उद्घाटन की महती

आवश्यकता है। इसके लिए योगाभ्यास के साधनो की शरण के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नही है। साधन व अभ्यासो से ही शक्ति व्यक्त होने लगती है, और इसी की अग्नि से कर्मावरण जर्जरित होते है। ऐसे साधन व अभ्यास रूपी तप चर्या का अवलम्बन लेना ही होगा। तत्त्व ज्ञान प्राप्त कीजिये और तत्त्व ज्ञान के आलोक मे अपने अदर तपाग्नि का उदय कीजिए, ध्यानाग्नि को उदय कीजिए, ये उस योगाग्नि रूप हो जायेगी जिसे ज्ञानाग्नि कहते है—उसमे फिर केवल ज्ञान भास्कर अवस्था विशेष का भी उदय हो जायेगा।

प० टोडरमल जी ने ही आगे कहा है "बहुरि तत्व ज्ञान भए, रागादिक मेटने के अर्थितप करने का तो निषेध नाही। जो निषेध होय तो गणधरादिक तप काहै को करे।"

गणधरादिक ही नही, स्वय तीर्थंकर भगवान भी तप करते हैं। इसीलिये उन्हे तप कल्याणक होता है। जब स्वय भगवान तीर्थंकर को तप कल्याण करने वाला है और इसीलिए उसे कल्याण नाम से विभूषित किया है, तो साधारण जीवात्मा को तप का निषेध—तप व्यवहार है, अभूतार्थ है—ऐसा कह कर क्यो किया जाए ? यदि मात्र ज्ञान ही मुक्ति कारक हो तो, क्यो श्रद्धा व चारित्र के मध्य ज्ञान को रखा गया। तप कल्याण के बाद ही जो ज्ञान होता है, वही कल्याण कारी कहा गया है। और तदनन्तर ही मोक्ष कल्याण होता है। मुक्ति की अवस्था विशेष तो हुई नही, और कहने लगे, मैं तो मुक्त ही हूँ, ज्ञानी ही हूँ। ज्ञानी होता है—तेरहवे गुण स्थान मे। इससे पूर्व तो सब छद्मस्थ ही है। छद्मस्थ अवस्था अभ्यास की, व्यवहार की अवस्था है। ज्ञान होने के उपरात ज्ञानी काहे केलिए अभ्यास करेगा ? ज्ञान–अभ्यासी और ज्ञानी ये अलग अलग अवस्थाए है।

मान लीजिए मैं मोटर गाडी चलाने की विशेष योग्यता प्राप्त करना चाहता हूँ—वह योग्यता मेरे मे शक्ति रूप है। अब वह योग्यता प्रकट होने के लिये अभ्यास ही चाहती है। मुझे स्टीयरिंग चलानासीखना पडेगा और धीरे-धीरे गाडी को चलाने व बैलेन्स मे रखने का स्टीयरिंग का अभ्यास करते-करते अभ्यास सधेगा। अभ्यास का सध जाना ही विशेष अवस्था है। अब आप सहज रूप मे रह कर यानी बिना विशेष प्रयत्न भी गाडी को चलाते रह सकते है, आप अपने मित्रो से गाडी मे बातचीत करते हुए भी सधे हुए तरीके से गाडी को सभाले हुए चलाते रह सकते है। यह सम व सहज अवस्था जो अब विशेष रूप मे जागृत हुई है—निश्चय ही पूर्व की आपकी सामान्य अवस्था से अपूर्व है। अब आप इसी विशेष अवस्था को जागृत कर लेने के कारण सामान्य व सहज रह सकते है। यही बात आत्मा की सहज व सामान्य अवस्था तथा विशेष अवस्था की है। विशेष को लेकर-यानी उत्पन्न करके ही सामान्य मे स्थिरता सहजता होती है।

माना कि आप मे प्रकाश करने की निजी योग्यता या शक्ति है पर जब तक आप अपने को प्रदीप्त दीपक के भाति अन्तर प्रकाश-प्रज्वलित नही कर लेगे, क्या आप का प्रकाश और कैसे आप ज्ञान दीप ? अत. अपने ज्ञान दीप को प्रथम अन्तर मे प्रदीप्त करे, किसी प्रज्वलित दीप के निकट

जाकर उसकी उपासना करें, और जब तत्समान ही विशेष अवस्था आपकी हो जाए तो सामान्य व सहज रूप मे स्थिर हो जाए। विशेष अवस्था के उद्भव के बाद जब चरम सीमा आ जायेगी और विशेष मे स्वत ही समान-समान सम अवस्था ही रहने लगेगी, कोई हीनाधिक होने का अवकाश ही न रहेगा, तो वही आपकी सहज सामान्य अवस्था होगी।

निश्चय ही आत्मा का सामान्य विशेषात्मक स्वरूप ध्यान और तप द्वारा ही निखरता है—इन्ही से सहजावस्था का परिणमन होता है। ध्यानादि अभ्यास साधनो को अत' व्यवहार व अभूतार्थ कह कर अवमानना कभी नही की जा सकती।

मिश्र व्यवहारी और शुद्धव्यवहारी

परमार्थ वचनिका मे कविवर प० बनारसीदास ने प्रकट किया है—"सम्यग्दृष्टि अपने स्वरूप को परोक्ष प्रमाण द्वारा अनुभवता है, पर सत्ता—पर स्वरूप से अपना कार्य न मानता हुआ योग द्वार से अपने स्वरूप के ध्यान—विचार रूप क्रिया करता है—वह कार्य करते हुए मिश्र व्यवहारी कहा जाता है। केवल ज्ञानी यथाख्यात चारित्र के बल से शुद्धात्म स्वरूप का रमण शील है। इसलिए शुद्ध व्यवहारी कहा जाता है।-योगारूढ अवस्था विद्यमान है, इसलिये व्यवहारी नाम कहते हैं। शुद्ध व्यवहार की सरहद तेरहवे गुण—स्थान से लेकर चोहदवे गुणस्थान पर्यन्त जानना। "असिद्धत्व परिणमनत्वात् व्यवहार।" इस प्रकार जब तक असिद्धत्व परिणमन रहे—यानी सिद्धत्व स्वरूप परिणमन न हो—सब क्रिया अभ्यास, चारित्र व्यवहार नाम पाते हैं।

अनात्म तत्त्व का ज्ञान अवधिज्ञान और आत्मा का केवल ज्ञान केवलि अवस्था

प० टोडरमल जी ने भी रहस्यपूर्ण चिट्ठी मे कहा है आत्मा को तो प्रत्यक्ष केवलि ही जानते है, कर्म वर्गणा को अवधि ज्ञानी भी जानते है। अर्थात् पुद्गल अनात्म तत्त्व का ज्ञान अवधि-ज्ञान मे हो जाता है। आत्मा का ज्ञान केवलि अवस्था मे होता है जो तेरहवें गुण स्थानक अवस्था है। केवल ज्ञान सर्व वस्तु को युगपद् जानता है। और यह जानता प्रत्यक्ष जानना है, अक्ष का अर्थ यहाँ आत्मा लिया गया है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि जब तक केवली अवस्था न परिणमित हो साधक व्यवहार व अभ्यास के ही क्षेत्र मे रहता है—और वस्तुत उसे अपने साधन—अभ्यास मे ही रहना भी चाहिए, साधन ही साध्य मे एकत्व कराकर सिद्ध करता है। इससे पूर्व साधक न तो ज्ञानी नाम पाता और न शुद्ध या सिद्ध नाम पाता। वह तब तक न निश्चय अवस्था को प्राप्त हुआ कहा जाता, वह मिश्र अवस्था मे ही है।

यथावस्थ वस्तु निरूपण निश्चय है

पडित जी ने मोक्षमार्ग प्रकाश के सातवें अधिकार मे स्पष्ट किया है—

"तथा तू ऐसा मानता है कि—सिद्ध समान शुद्ध आत्मा का अनुभवन सो निश्चय और व्रत शील सयमादि रूप प्रवृत्ति सो व्यवहार–सो तेरा ऐसा मानना ठीक नही, क्योकि किसी द्रव्य स्वभाव का नाम निश्चय, और किसी का नाम व्यवहार ऐसा नही है। एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना सो निश्चय नय है, उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भाव स्वरूप निरूपण करना सो व्यवहार है।"

तो इस विवेचन से यह प्रकट ही हो जाता है कि जो वस्तु जैसे भाव की है, उसे वैसा ही कहना—यानी "यथावस्था वस्तु निरूपण ही निश्चय नय है। अर्थात् सिद्ध को सिद्ध व व्यवहारी को व्यवहारी मानकर चलना—तथा वैसे ही रहना व निरूपण करना ही निश्चय नय है।

शुद्धात्मा का अनुभव १३वे गुणस्थान में

जब कोई साधक वर्तमान मे शुद्ध आत्मा का अनुभव नही करता (क्योकि शुद्ध आत्मा का अनुभव होना तेरहवे गुणस्थान मे है) तो साधक का यह मानकर सतोष कर लेना कि मै तो ज्ञानी हू—उसका ऐसा मानना मिथ्या ही है। साधक जब तक सिद्धत्व एव केवल ज्ञान मे परिणमित न हो जाये—अपने को साधक ही मानकर साधन मे ही लग कर आगे गति करता चला जाए—वह अपने को सिद्ध मानकर निष्क्रिय न हो जाए, निष्क्रिय मान लेना, या कर लेना तो मिथ्या है।

तथा यदि कोई जीवात्मा शुद्ध परिणमित हो गया है, वह शुद्ध स्वरूप का ही अनुभव प्रत्यक्ष रूप से करता है—कैवल्य प्राप्त हो गया है तो उसका साधनादि करना मिथ्या है। किसलिये वह साधनादि करे ?

दोनों नयों का समन्वय, व्यवहार साधक है और निश्चय साध्य है

पडित जी ने इस प्रकार दोनो नयो के परस्पर विरोध को दिखलाकर कहा है कि दोनो नयो का उपादेयपना साथ-साथ नही बनता। पर यह भी स्पष्ट है कि दोनो नय सापेक्ष हैं और सापेक्षता के परिप्रेक्ष्य मे क्या किसी नय को मिथ्या या अभूतार्थ कहा जा सकता है। अपने-अपने विषय को प्रतिपादन करने वाले किसी भी नय को—जो अन्य नयो का निराकरण न करता हो, मिथ्या नही कहा जा सकता। नय वही दुर्नय हो जाता है जो अन्य नयो का निराकरण करता है। व्यवहार निश्चय का साधन है, निश्चय व्यवहार का साध्य है। क्या सीढी बिना कभी कोई महल की ऊपर की मजिल पर चढ पा सकता है ? तथा समयसार आत्मा की प्राप्ति के उपरात तो कोई भी नय नही रहता—वह तो नय—भूमियो से अतिक्रात होकर प्रतिष्ठित है।

पडित जी ने माना हे कि शुद्ध आत्मा का अनुभव ही निश्चय है। अत इस निश्चय रूप सहज अवस्था, जिसमे सब कर्म, अभ्यास व साधनादि अनावश्यक होकर छूट जाते है, की प्राप्ति न होने तक

व्यवहार रूप साधन अभ्यास, ध्यान धारणा उपासना ही अवलम्वनीय है। जब सहज अवस्था निर्विकल्प सहजानन्द प्रकट हो जाए, कैवल्य हो जाए तो निश्चय रूप रहना ही है। इस निश्चय नय मे आने के लिये उस व्यवहार को उसकी पराकाष्ठा तक पहुचा करके, उस व्यवहार—कर्म के परतर प्रान्तो को अतिक्रमण करके ही—साधक को सिद्धत्व रूप परिणमन पर आना होगा। अशुद्ध व मिश्र व्यवहार अवस्था मे स्थित रहने वाला व्यक्ति आरम्भ मे ही व्यवहार को अभूतार्थ मानने लगे तो वह व्यक्ति सदा ही साधन रहित रहकर साध्य से दूर व अशुद्ध व मिश्र व्यवहारी ही रहेगा कभी व्यवहार भूमि के अतीत न होगा। साधनादि व ध्यान धारणादि के अभ्यास करा कर ही—उस अभ्यास द्वारा ही व्यवहार भूमि को उत्तीर्ण करके निश्चय मे अवस्थित होने की प्रेरणा की गई है। निश्चय स्वरूप अतिम रूप से उपादेय है यदि ऐसा न कहा जाये तो साधक कभी सिद्धत्व परिणमन के लिये व निश्चय स्वरूप मे आने के लिये क्यो चेष्टा करेगा ? ध्यान व धारणादि रूप योगारूढ अवस्था अत सहज निर्विकल्प अवस्था के लिये साधन व सोपान रूप है। योग जब स्व की प्रतीति, स्व का ज्ञान तथा स्व की रमणता को कहता है, तो स्पष्ट है कि योग का भी लक्ष्य निश्चय स्वरूप मे उत्तीर्ण होकर ही कोई व्यवहार मे सो सकता है, इससे पूर्व नही। यदि कोई इससे पूर्व व्यवहार को (श्रद्धान के अतिरिक्त) अभूतार्थ कहे और व्यवहार मे सोने के लिये कहे तो वह मिथ्या है। आत्मा-शक्ति जब स्वय जागृत हो जाती है, चिति का प्रकाश उद्योत्मान हो जाता है तब क्रिया व अभ्यास स्वत ही स्तभित होकर सहज ही छूट जाते हैं। तब किसी को उन्हे छोडने या परित्यक्त करने को कहने की भी आवश्यकता नही होती। तब वह सिद्ध साधक क्यो चाह कर क्रिया व अभ्यास करेगा ? मन जब स्वय चिदाकार व आत्माकार ही हो जाता है—उस चरम आत्माकार सहजावृत्ति की बडी महिमा है, वही परम प्राप्तव्य व उत्कृष्ट तत्त्व है, वह मुक्ति स्वरूप ही है। अत स्मरण रक्खे कि निश्चय स्वरूप की सहजावस्था १३वे गुणस्थान मे आकर परिणमित होती है इससे पूर्व नही।

सहज वृत्ति की श्रेष्ठता

उत्तमा सहजावृत्ति मध्यमा ध्यान धारणा।
अधमा तु शास्त्रवार्ता, तीर्थ यात्राऽ धमाधमा ॥

उत्तम मध्यम और जघन्य रूप से तारतम्य अवस्थाओ का यह निर्देश है। उत्तम तो सहजा-वृत्ति है। इसके अनन्तर जो मध्यमा दशा है—वह ध्यान धारणा की है तथा इस ध्यान धारणा से भी नीची भूमिका शास्त्र चर्चा, शास्त्र पाठन-पाठन की है तथा इससे भी फिर अन्य अधम भूमिका है तीर्थ यात्रा की।

तीर्थयात्रा यद्यपि प्रशस्त भावो को लेकर की जाती है मगर है वहिर्मुखी वृत्ति। क्योकि वहा निज आत्मा देव का ध्यान न होकर देवालयो मे देव-दर्शन का भाव है। इसी प्रकार शास्त्र वार्ता कर्णेन्द्रिय द्वारा मन-राजा का विषय-पोषण है। जब तक कि मनन व ध्यान मे उतर कर श्रवण किये

तत्व का अभ्यास न हो, वह तब तक तो बहिर्मुखी वृत्ति ही है। तथा ध्यान धारणा मे भी प्रथम तो मन को ही लगाना होता है। मन की चेष्टा तक वह अन्तर्मुखी क्रिया है और आत्मा के साक्षात्कार पर ही आत्मा की उर्ध्वमुखी क्रिया होती है। ध्यान धारणा मे जब मन निश्चेष्ट हो जाए, सकल्प विकल्प विवर्जित हो जाए तब वही यथार्थ आत्म-ध्यान है और उस आत्मस्थ अवस्था से ही कालान्तर मे सहजावृत्ति का आविर्भाव होता है तब चेष्टा रूप ध्यान-धारणा, व जीवन की अन्य चोबीस घण्टे की प्रवृत्ति या हेय या उपादेय के सकल्प या विकल्प—ऐसे सब भाव आदि भी निवृत्त हो जाते है, और तब वह आत्मा परमानन्द रूप ही स्थित रहता है, चिदानन्द ही सदा बरसता रहता है। अत सहजावृत्ति को ही सर्वोत्कृष्ट कहा गया है और वह ही योग अवस्था है। इस सहजावस्था के पूर्ण होने तक साधना की, व्यवहार की भूमिका होती ही है।

ध्यान धारणा की चेष्टा तक यानी अयत्नपूर्वक ध्यानावस्था न रहने लगने तक ध्यान धारणा की मध्यम भूमिका होती है। उत्तम सहजावृत्ति ज्ञान और वीतरागता से ही विभूषित रहती है, वही उत्तम भूमिका है।

इसी वर्णन को इस प्रकार भी तरतमता रूप से कहा जा सकता है, तीर्थयात्रा उत्तम दशा है, शास्त्र वार्ता उत्तमोत्तर, ध्यान धारणा उत्तमोत्तम तथा सहजावृत्ति उत्तमोत्तमतम। इस वर्णन मे योग मार्ग का ही अनुक्रम है। अध्यात्म मे आगम शास्त्र जीव के लिये बाहर का चक्षु है, मगर ध्यान धारणा अन्तर्चक्षु है जिससे आत्मा का दर्शन होता है। उस दर्शन के उपरान्त ही अभ्यास करते-करते सहजावृत्ति उल्लसित होती है। आत्म-ध्यान क्षीण-मोह के उपरान्त शुद्धोपयोग रूप होता है। इससे पूर्व सकल जिन परमेष्ठी प्रभु के ध्यान किये जाते है, इस ध्यान की अभेद उत्कर्षता मे ही फिर आत्म-ध्यान की भूमिका प्राप्त होती है।

आत्म-दर्शन क्या ? स्वरूप में परिणाम मग्नता आत्मदर्शन है

आत्म-दर्शन पर पण्डित टोडरमल जी का यह स्पष्टीकरण है। अनुभव मे आत्मा तो परोक्ष ही है, कुछ आत्म के प्रदेश आकार तो भासित होते नही है। परन्तु स्वरूप मे परिणाम मग्न होने से जो स्वानुभव हुआ वह स्वानुभव प्रत्यक्ष है। स्वानुभव का स्वाद कुछ आगम-अनुमानादिक परोक्ष प्रमाण द्वारा ही जानता है, आप ही अनुभव रसास्वाद को वेदता है। जैसे कोई अधा मिश्री को आस्वादता है, वहा मिश्री के आकारादि तो परोक्ष है, जो जिह्‌वा ने स्वाद लिया है वह स्वाद प्रत्यक्ष है—वैसे स्वानुभव मे तो आत्मा परोक्ष है, जो परिणाम से स्वाद आया, वह स्वाद प्रत्यक्ष है, ऐसा जानना। वस्तुत श्रद्धान और परिणमन ये आत्मा के दो गुण है और आत्म परिणमन मे ही जो साधना से होता है—स्वानुभव का स्वाद आता है।

अनुभव की तरतमता से गुणस्थान भेद

"अनुभव चौथे गुण-स्थान मे ही होता है। ऐसा परन्तु चौथे मे तो बहुत काल के अन्तराल से से होता है और ऊपर के गुण स्थानो मे शीघ्र-शीघ्र होता है।"

ऐसे ऊपर व नीचे गुण स्थानों के तरतमता रूप भेद को बताते हुए स्पष्टता की है कि चौथे से ऊपर के गुण-स्थानो मे परिणामो की मग्नता विशेष है। जैसे दो पुरुष नाम लेते हैं और दोनो ही के परिणाम नाम लेने मे हैं, वहा एक को तो मग्नता विशेष है और एक को थोडी है—उसी प्रकार जानना।

आत्म रस के आस्वाद से सुख का होना ही अनुभव है

अनुभव क्या व किसका नाम है सो समयसार नाटक मे कहा गया है—

वस्तु विचरत ध्यावतै, मन पावै विश्राम।
रस स्वादत सुख ऊपजै, अनुभव याको नाम॥

अर्थात् मन को साथ लेकर जब वस्तु के स्वरूप की चिन्तना की, तो चिन्तना करते-करते जहाँ मन विश्राम ले लेता है, मग्न हो जाता है, वहा जो सुख रस का आस्वाद आया, वही अनुभव है। इस प्रकार आत्म-अनुभव मन से मन के अतीत अतीन्द्रिय सुख रूप होता है तथा मन बिना जुदे हुये ही ऐसे परिणाम स्वरूप मे प्रवर्तित हो जाते है। वस्तुत आत्म-अनुभव का परिचय प्रत्यक्षत सप्तम गुण स्थान से पूर्व नही होता। चौथे गुण स्थान मे तो श्रद्धा से परोक्ष अनुभव होता है। सप्तम गुण स्थान मे प्रत्यक्ष आत्मा का आभास रूप दर्शन ही प्रत्यक्ष सम्यक्दर्शन है। इससे पूर्व का तो परोक्ष सम्यक् दर्शन है।

परिणाम कहते है भावो को। परिणाम मग्नता का अर्थ है, भावो की मग्नता, भावो का तन्मय हो जाना। स्वरूप जो ज्ञान रूप है—उस रूप ही भावो का स्थिरता होकर विश्रान्त हो जाना, ध्याता व ध्येयपना नही रहना।

परिणाम मग्नता तन्मय अवस्था का ही नाम है

प्रकट होता है कि प० टोडरमल जी ध्यान-प्रक्रिया की तन्मय अवस्था की प्राप्ति को ही परिणाम मग्नता के नाम से कहते है। सविकल्प दशा मे जिस चैतन्य स्वरूप का निर्णय व निश्चय किया था उसी स्वरूप मे व्याप्त-व्यापक होकर यानी ध्याता, ध्येय और ध्यान रूप त्रिपुटी का वेध करके जो निर्विकल्प निराकुल निरालम्ब अवस्था रूप समाधि होती है—वही परिणाम-मग्नता है। इस मग्नता से निजानन्द का परमानन्द रसास्वाद अतीन्द्रिय रूप से ज्ञान जो पर्याय को अनुभूत हुआ, वह ही स्वानुभव है। ध्यानानन्द का रस है—ब्रह्मानन्द घनरस है, आत्मानन्द है। इस निर्विकल्प आनन्द आस्वादन क्षण मे साधक के आत्मा का भाव राग-द्वेषादि विकार व कषायो से विवर्जित ही रहता है। इस परिणाम मग्नता रूप ध्यान मे बन्ध-पद्धति नही है, मोक्ष-पद्धति ही है। परन्तु यह परिणाम मग्नता एक साथ नही सम्भवती, क्रमश ही निर्मल होती अवस्थित होती है।

निर्विकल्प अनुभव के तीन प्रत्यय

निर्विकल्प अनुभव के तीन दृष्टान्त द्वितीया का चन्द्रमा, जल-बिन्दु तथा अग्नि कणिका कह कर पण्डित जी ने यह मत प्रकट किया है कि यह तो एक देश है—तथा पूर्ण मासी का चाद, महासागर तथा अग्नि कुण्ड—वह सर्वदेश है। इसी प्रकार चौथे गुण-स्थान मे आत्मा के ज्ञानादि गुण एक देश प्रकट होते है, तथा तेरहवे गुण स्थान मे आत्मा के ज्ञानादिक गुण सर्वदेश प्रकट होते है। इस कथन से साधना मे व्यवहार साधन का क्रम विकास ही प्रकट किया गया है।

द्वितीया का चाद, जल बिन्दु, अग्नि का कण, तथा पूर्ण चन्द्र, महासागर, अग्नि के ध्यान प्रत्ययो के दृष्टात द्वारा जो एकदेश वा सर्वदेश गुण प्रकाश का कथन पण्डित जी ने किया है वह योग छात्रो के लिये बहुत महत्वपूर्ण है, क्योकि ध्यान-समाधियो मे ऐसे ही प्रत्ययो के दर्शनो मे साधकत्व से सिद्धत्व की ओर गतिमान होना पाया जाता है। इन प्रत्ययो के अन्तर्दर्शन पर जागरूक ज्ञान पर्याय वाला साधक आह्लाद भाव को प्राप्त होकर ग्रन्थि-विमोचन करता है। स्वरूप तन्मयता के इन क्षणो मे ही ऐसे प्रत्ययो के दर्शन होते हैं। तथा इनके दर्शन के अनन्तर सर्वदृष्टा तथा ज्ञायक स्वरूप के ही ब्रह्मानन्द धन मे ही रसाभिन्नता करनी चाहिए।

गुरु कौन है ?

पण्डित टोडरमल जी ने गुरु किसको माना जाए—इस पर बडा सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया है—वे कहते है—

गुरु नाम बडे का है। सो जिस प्रकार की महतता जाके सभवै तिस प्रकार ताको गुरु सज्ञा सभवै। जैसे कुल अपेक्षा माता-पिता को गुरु सज्ञा है, वैसे ही विद्या पढावने वाले को विद्या अपेक्षा गुरु सज्ञा है। यहा तो धर्म का अधिकार है। तातै जाके धर्म-अपेक्षा महतता सभवै, सो ही गुरु जानना। सो धर्म नाम चारित्र का है। "चारित्त खलु धम्मो —ऐसा शास्त्र विषै कहा है। तातै चारित्र का धारक ही को गुरु सज्ञा है। वहुरि भूतादिक का नाम देव है, तथापि यहा देव का श्रद्धान विषै निर्ग्रन्थ ही का ग्रहण है। सो जिन धर्म्मविषै अरहत देव निर्ग्रन्थ गुरु ऐसा प्रसिद्ध वचन है।"

प० टोडरमल जी ने वेषधारी परिग्रही तथा गुण रहित पुरुषो को गुरु सज्ञा न होना स्पष्ट किया है। उन्होंने आगे धर्म सघ मे विरोध न हो इसलिए द्रव्य -लिंगी को भी प्रमाण करने का निर्देश दिया है। उन्होने कहा कि उन्हे प्रणाम न करना या आहार न देना अपनी मिथ्या दृष्टि को प्रकट करना है। जैसे पाषाणादि मे अकित जिनेन्द्र प्रभु की प्रतिकृति पूजने योग्य है, लोग उसकी पूजा करते हैं, वैसे ही आजकल के मुनियो को भी पूर्वकाल के मुनियो की प्रतिकृति मानकर पूजना चाहिए—यह उपदेश आ० श्री सोमदेव ने भी उपासकाध्ययन मे दिया है। तथा क्या प्रणाम न करना साधारण शिष्टाचार के भी प्रति कूल नही है ?

अनुयोगों में उपदेश निरूपण क्रिया और परिणाम को प्रमुख या गौण करके है

द्रव्यानुयोग से द्रव्य की, वस्तु की दृष्टि प्राप्त होती है—अत. पण्डित जी ने अध्यात्म उपदेश की प्रधानता वहा बतलाई है। जब जीव बाह्य क्रिया-व्रत उपवास आदि ग्रहण करके इन व्रत–उपवास से आगे की भूमिका पर न चढ कर मात्र व्रत व उपवास विषै ही मग्न रहने लगे और इसे ही समस्त धर्म माने, ऐसे एक स्थिति मे अवरूद्ध हुए लोगों को व्रतशील सयमादिक का हीन पना प्रकट करके आत्मानुभवन मे नियुक्त करना चाहिए। स्पष्ट प्रयोजन यह है कि जो अभी शुभोपयोग मे भी स्थिर नही है, उन्हे तो अशुभ छोडकर शुभोपयोग मे ही स्थिर होना है। पर जो शुभोपयोग धर्म-ध्यानादि मे परिपक्व व स्थिर हो जाए—उन्हे "शुद्धोपयोग विषै लगावने को शुभोपयोग का निषेध कीजिए है। बहुरि द्रव्यानुयोग विषै भी चरणानुयोग-वत् ग्रहण त्याग करवाने का प्रयोजन है। तातें छद्मस्थ के बुद्धि गोचर परिणामनि की अपेक्षा ही तहा कथन कीजिए है। इतना विशेष है जो चरणानुयोग विषै तो बाह्य क्रिया मुख्यता करि वर्णन करिए है, अर द्रव्यानुयोग विषै आत्म परिणामनि की मुख्यता करि निरूपण कीजिए है, करणानुयोग वत् सूक्ष्म वर्णन न कीजिए है।...... सूक्ष्म भावनि की अपेक्षा गुण स्थानादि विषै सम्यक्त्वादि का निरूपण करणानुयोग विषै पाइए है—ऐसा अन्यत्र जाने।"

बाह्य त्याग और अन्तरंग त्याग में समन्वय दृष्टि की अपेक्षा

प० टोडरमल जी के तप त्याग पर विचार सक्षेप मे इस प्रकार हैं—

बाह्य सयम साधन विना परिणाम निर्मल नही हो सकते है। अन्तरग परिणाम शुद्धि ही वस्तुत. सयम है। मगर बहिरग सयम किए विना, बाह्य त्याग बिना परिणाम शुद्ध नही रह पाते है। बाह्य विषय भोग सामग्री शुद्धता के लिए अनिष्ट निमित्त हैं और जब तक इनका त्याग नही होता, भाव शुद्धि की विद्यमानता दुष्कर ही है। यद्यपि कहा ये भी जाता है कि इंधन विहूनी आग क्या आग है? पर पद्म-पत्रमिवाम्भसा निर्लिप्त रहना सामान्य जन के लिए सभव नही होता। अत. बाह्य त्याग तथा अन्तरग भाव-शुद्धि दोनो ही समान रूप से एक साथ आदरणीय होनी चाहिए।

तप और ध्यान का समन्वय अपेक्षणीय

इस योग विज्ञान को तपोयोग व तप से ही तपस्वी अर्हत् पुरुषो व आचार्यों ने प्रसिद्ध रखा है। तथा चरणानुयोग मे तप प्रमुख है। फलत इसके तपाग पर ही लोगो की दृष्टि अधिक जाती है और इसीलिए व्रत व उपवास रूप अग लोगो मे अधिक पहचाने व आचरित होने लगे है। मगर तप का लक्षण तपो आलोचने-ध्याने रूप मे-प्रधानता जो होनी चाहिए, न रहने से ध्यान पर दृष्टि गौण हो गई है। अत निर्विकल्पपना जिससे परिणमे उस ध्यान-चर्या से लोग अपरिचित होते जा रहे हैं और शास्त्र वार्ता मात्र ही होने लगी है, या व्रत या उपवास ही मे सारी आत्म-साधना सिमट कर रहने लगी है। ये दोनो ही अतिया भयावह है क्योकि आत्मानुभवन की क्रियाये,-ध्यान समाधि इस तरह गौण हो जाती है, जो

होता नही चाहिए। यथार्थ मार्ग तप और ध्यान का समन्वय है। बिना ध्यान अभ्यास तप क्रोधेश्वर बनाता है—इसी लिये तपेश्वरी सो क्रोधेश्वरी भी कहा जाता है। ध्यान ही यथार्थ ज्ञानरूप परिणमन कराता है।

ध्यान अध्यात्म साधना का ऐसा अन्तरग साधन है जो सूक्ष्म चेतना स्तर पर सीधा प्रभाव डालने मे सक्षम होता है। उपवास स्थूल शरीर मे सम्बन्धित होने से स्थूल चेतना पर ही प्रभाव प्रकट कर सकता है। वर्तमान मे जैनियो से योग विज्ञान की ध्यान-धारा गौण ही हो गई है—और इसी कारण सम-दृष्टि मय चेतना का उद्घाटन भी दृष्टिगत नही होता। प्रत्यक्ष ज्ञान की धारा का उद्घाटन ध्यान क्षेत्र मे स्वय अवतरित होने पर ही सभव हो सकता है। निर्लिप्त जीवन-व्यवहार सहज-वृत्ति, और समदृष्टि चर्या के बिना सभव हो ही नही सकते। हमे तीर्थंकरो तथा अर्हत्पुरुषो के दीर्घ ध्यानी स्वरूपो को पहचानना ही होगा।

अर्हत् तपोयोग में ध्यान प्रमख तत्व और शिक्षा-दीक्षा के लिए मंडलादि विधान

अर्हत् तपोयोग मे ध्यान ही प्रमुख तत्व है, न कि व्रत व उपवास आदि। इनके स्तर भेद को विस्मरण नही करना चाहिए। तथा यह भी स्मरमणीय है कि व्रतादि व पूजन तथा मण्डलादि विधान हमारी धर्म-शिक्षा दीक्षा (Initiation) आदि के लिए इस आदि श्रमण सस्कृति के रूप, प्रभावना प्रचार तथा स्थायित्व के अर्थ भी अत्यन्त उपयोगी अग हैं।

खर्चीले प्रदर्शन व आयोजन वर्जनीय

प्रतिष्ठादि महोत्सवो तथा आयोजनो रूप एक ही दिशा मे अत्यधिक द्रव्य तथा शक्ति के व्यय से अन्य-अन्य सास्कृतिक, शैक्षणिक तथा साहित्यिक आदि गति विधियो मे गतिरोध हो गया है जो अवाच्छनीय है। कूपमडूकता छोडकर नई-नई विराट् आयाम मय सद्दृष्टियो की खोज करना चाहिए तथा स्रोतो को केन्द्रस्थ करना चाहिए। शुद्ध और मुक्त वायु लहरो के लिए बुद्धि विचार और मान्यताओ के वातायनो को उन्मुक्त रखना चाहिए। कुओ मे नये स्रोतो का आव अवरुद्ध हो जाता है, तो वे गन्दे ही हो जाते है। खर्चीले प्रदर्शनात्मक आयोजन वर्जनीय ही रहने चाहिए। सयम का ही हमारा मार्ग है। अतः हर कार्य मे शात और सतुलन रूप आचार-विचार ही, और उपयोगी और स्थायी लाभ की प्रवृत्तियाँ ही आदरणीय रहनी चाहिए। अनुशासन का आदर्श सामने रहना चाहिए और इसका पहला चरण—सादा जीवन और उच्च विचार। इनसे हमारे यहा प्राप्त सामाजिक अराजकता और अंधी नकलें व दौड समाप्त हो सकेंगी। समाज और राष्ट्र के व्यापक हितो के सदर्भो मे हमे अपव्ययो को रोकना चाहिए, तथा जीवन की नई दृष्टियो के साथ विकास के नये पथ-निर्माण करने चाहिए। हम आध्यात्मिक तत्त्व चर्चा करे, उपदेश सुने, पर क्या यह हस्यास्पद नही है कि हम सामाजिक कुरीतियो मे नहीं उबरते है, न अपनी पुरानी और स्तब्ध जीवन सरणियो मे, जो हमे बराबर पंगु बनाती चली जा रही है। व्यक्ति सास लेता है सामाजिक वातावरण मे, हमे इनको शुद्ध करने के प्रयास करने होंगे। छोटे-छोटे

संकुचित स्वार्थों की दृष्टियो को छोडना होगा। व्यक्ति और समाज के एक शुद्ध सम्बन्ध का धरातल समन्वित प्रेम पूर्ण शुद्ध व्यवहार का, सौहार्द का, सवेदनशील संतुलनो का धरातल बनाना होगा। व्यक्ति को पहले मानव होना होगा, मानवीय दृष्टि से समन्वित होना होगा। इसके उपरान्त ही वह प्रभु-आत्मा परमात्मा होने की बात करे। योग मार्ग का यह तकाजा है कि समाज सुधरे, व्यक्ति सुधरे, सारा जीवन ही शुद्ध बने। तनाव, उद्वेग, आवेग, आवेश, व्याधिया, कुरीतियाँ नष्ट हो। मात्र बाहर न देखकर हमे अन्तर मे भी देखना सीखना चाहिए। अन्तर सपदा की खोज और प्राप्ति का भी उद्योग करना चाहिए। इसके लिए ध्यान के अभ्यासो के प्रचार की जुरूरत है जो हमे अन्तर-सतोषी बनाये, अन्तर-शक्ति सम्पन्न करे। ध्यान के बिना हम अधे के अधे ही रहेगे, क्योकि अन्तर मे प्रकाश ध्यान-आभ्यासो से ही एक मात्र प्राप्त होता है। व्यक्ति, व्यक्ति के स्वभाव, रूचि और ज्ञान के आयामो को बदल देने के लिए ध्यान से प्राप्त प्रकाश तथा स्वरूप-महिमा के ज्ञान और आत्मा रस आस्वादन से महाभाव ही एक मात्र शक्तिशाली हेतु हो सकेगे। बाहर के नेत्रो के साथ-साथ हम अपने अन्तर के भी नेत्रो को अन्तर प्रेक्षा के साधनो से खोले, और अपने उस परमार्थ और सत्य को पाये जो शुद्ध है, अहिंसक है, शोषण से, क्रूर वृत्ति से और चौर वृत्ति से रहित है, मात्र ज्ञाता और दृष्टा ही है, अत. जो आवश्यक है, अबधक और वीतरागी है।

साधना विमर्श तथा प्रर्यालोचन; अन्र्तदृष्टि दीपसे स्वात्मा की प्रेक्षाएं; अनुप्रेक्षाए तथा भावनाएं

(1) साधना विमर्ष और प्रेक्षाएं

- साधना क्या है ? लक्ष्य का दृष्टि मे निर्धारण और प्राप्ति के उपायो का अनुष्ठान
- दृष्टि के दो प्रकार :-उनकी मर्यादा मे साधना का आलोचन
- साधना का आरम्भ : स्व तत्व मे रूचि, दृष्टि-स्थापन और ध्यान
- भाव से क्रिया का तथा क्रिया से भाव का उन्मेष
- भाव शुद्धि से ज्ञान की उज्ज्वलता
- भक्ति की परिभाषा : भाव का सम्यक्त्व और उसके दो रूप—सराग और वीतराग
- सराग और वीतराग भाव भक्ति की भूमिया
- स्वात्मा निरीक्षणीय
- स्वात्मा और उसके आधार
- हस ', सोह, और परम-हंस अभ्यास । आ० कुन्दकुन्द द्वारा कथित सोह साधना
- आ० हेमचन्द्र वर्णित सोह तथा नाद उत्थान ।
- आ० शुभचन्द्र और हेमचन्द्र द्वारा चन्द्र रेखा या कला रूप अनाहत ध्यान की प्रेरणा
- ज्योति विन्दु का शिव श्री तेजो मयी कुण्डलिनी मे लय. पूर्णोऽह भाव
- पूर्णोऽह परिणत निर्मल चित्त के द्वारा आत्मा का ध्यान
- चित्त की अतीन्द्रिय दर्शन शक्ति का विकास
- अन्तर्निरीक्षण क्रिया का स्पष्टीकरण
- सामायिक दीप
- काया गढ
- स्वात्मा
- अन्तर्यात्रा और उसके क्रम ।
- कायोत्सर्ग (काया प्रेक्षा)
- सुषुम्णा मे शक्ति और वृत्ति का भ्रमण ।
- सूक्ष्म प्राण—प्रेक्षा ।
- वर्ण और चक्र प्रेक्षा ।
- परमेष्ठी पुरुषाकार प्रेक्षा ।
- सवर का मार्ग : सविकल्प से निर्विकल्प की ओर ।
- प्रकाश की धाराए ही धाराए : चेतना का रूपातरण, उर्ध्वीकरण और आभामण्डल ।
- विभिन्न प्रेक्षाओं (दर्शनो) मे दृष्टा का, ज्ञायक का विकास, निर्मलता का विकास ।

- साधना का रूप है चित्कला का अन्तर्शोधन; विचार विचय से निर्विचार उन्मनी, ज्ञान मात्र अवस्था
- भाव–अपेक्षा ध्यान की पाच भूमिया
- अन्तर्दृष्टि अपेक्षा ध्यान की सात भूमिया और उसके विवेचन
- साधना का क्षेत्र कहा से कहा तक
- पन्द्रह पाक रूप अपरम भाव और सोलह पाक रूप परम भाव
- ध्यान से अन्तश्चेतना का निर्मल परिणमन
- चतुर्भेदात्मक ध्यान और ध्यान अभ्यास चरणो का उपसहार
- क्षणोत्तीर्ण दशा

(२) भावना विमर्ष और अनुप्रेक्षाएं

- भाव शुद्धिया
- भाव शुद्धियो मे अहिंसा और करूणा
- बौद्ध करूणा
- तीर्थ कर और बुद्ध करुणा के महासागर
- भाव शुद्धि की महत्ता
- बारह अनुप्रेक्षाए
- भावना चतुष्क
- पच शील भावना
- भावो (मानसिक सरचना) की शिक्षा और सवर और निर्जरा तत्व
- भावना का लक्षण।
- सक्लेश और असक्लेश भावनाए
- तप, श्रुत, सत्व, एकत्व और सतोष भावनाएं
- पाच कुत्सित भावनाए
- द्रव्य रक्षाणार्थ भावनाएं
- षोडश कारण भावनाए
- करूणा और मोह का भेद
- शाति पाठ मे सात भावनाएं
- भाव वृक्ष के आठ पुष्प
- शुद्ध नय की प्रेरणा क्यो ?
- भाव शुद्धि की महत्ता—निर्लिप्त जीवन जीने की कला से अमृत घट बनें

(३) प्रेक्षाध्यान साधना की महत्वपूर्ण निष्पत्तियां और निर्देश

साधना क्या है, लक्ष्य निर्धारण और लक्ष्य प्राप्ति के उपायों का अनुष्ठान

साधना और साधना भूमि पर आलोचना करते है तो सर्व प्रथम दृष्टि साधना के लक्ष्य पर जाती है—और लक्ष्य का निर्देश और निर्धारण भी दृष्टि पर ही निर्भर है। लक्ष्य, के निर्देशित होने पर ही लक्ष्य के साक्षात्कार एव प्राप्ति के उपाय जाने जाते हैं और उनका अनुशीलन ही साधना है।

दृष्टि शुद्ध अथवा अशुद्ध अर्थात् सम्यक् अथवा मिथ्या दो प्रकार की सभव हो सकती है। आत्मा के शुभ भाव की दृष्टि सम्यक्-दृष्टि और उसके अशुद्ध भाव की मिथ्या-दृष्टि है। शुद्ध और पूर्णत्व का भाव सामान्यत: जीव मे विकसित हुआ नही होता, और पूर्ण विकास होते ही जीवात्वा परमात्मा परिणत हो जाता है।

केवल-दर्शन सम्यक् दर्शन का ही परिपूर्ण विकास है। सम्यक् दर्शन मे पूर्णत्व के भाव का आभास मात्र होता हैं और केवल दर्शन मे पूर्णत्व के भाव की अविचल अवस्थिति है । इस प्रकार मिथ्यादृष्टि और केवल दृष्टि के मध्य सम्यक्-दृष्टि महत्वपूर्ण भूमिका है । अशुद्ध और शुद्ध दोनो दृष्टियो की यथार्थता को मानकर और उनकी मर्यादा रख कर साधना की आलोचना सभव होती है ।

साधना का आरंभ व स्वतत्व रुचि, दृष्टि – स्थापन और ध्यान से

साधना का आरम्भ तत्व रूचि तथा विशेष कर आत्म तत्व के निष्ठा भाव की जागृति से होता है । तब मिथ्यादृष्टि बाह्यातमा अन्तर्तत्व की रूचि लेकर अन्तर्मुख दृष्टि-स्थापन के लिए उद्यत होता है।

आत्मा ही साधना का लक्ष्य है, यह निर्णीत होकर साधना की दिशा निर्णीत होती है। इस दिशा मे साधक की वृत्ति अर्थात् उपयोग जब निज रुचि लेकर अन्त मे दृष्टि स्थापन करके अन्त: प्रवेश करता है—और अन्तः निरीक्षण और शोधन करता है तो इसी मे ध्यान एव साधना का आरम्भ है। आत्मा के शुद्ध भाव की रूचि ही अत. साधना मे प्रेरक तत्व है ।

साधना भूमि स्वयं जीवात्मा का ही अन्तर्तत्व है । स्वयं जीवात्मा का ज्ञान पर्याय ही साधक है। साधना मे स्वय जीवात्मा ही भावक है, भाव है और भाव्य भी स्वय ही है। भाव इस प्रकार साधना का हार्द है।

भाव से क्रिया का उन्मेष

भाव का उन्मेष क्रिया से होता है। भाव से चित्त क्रिया मे समर्पित हो जाता है। एकाग्रता, निरोध और तन्मयता—ये चित्त क्रिया के तीन उत्तरोत्तर भाव – स्वरूप क्रिया से ही स्पष्ट होते हैं।

भाव पर ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व भी निर्भर है और भाव पर ही केवल दर्शन भी । दर्शन के अनन्तर केवल ज्ञान होता है । केवल दर्शन और केवल ज्ञान युगपद् ही हो जाते हैं ।

भाव शुद्धि से ज्ञान की उज्ज्वलता

भाव की शुद्धता का क्रम जव तक उत्तरोत्तर प्रकट होता जाता है, उसके साथ-साथ ही ज्ञान की भी निर्मल उज्जवलता प्रकट होती है । भाव की महिमा ही के कारण भक्ति अति श्रेष्ठ साधन कोटि मे है । भाव ही भक्ति रूप है ।

भक्ति की परिभाषा, भाव सम्यक्त्व उसके सराग और वीतराग रूप

"भक्ति पुन सम्यक्त्व भण्यते, व्यवहारेण सराग सम्यग्दृष्टिनां पंच परमेष्ठिन्यादि ।
आराधनरूपा निश्चयेन वीतराग सम्यग्दृष्टिनां शुद्धात्म भाव रूप चेत ।।"[1]

भक्ति की परिभापा सम्यक्त्व भाव कहा जाता है । वह भाव सराग तथा वीतराग सभव हो सकता है । व्यवहार से सराग सम्यग्दृष्टियो की भक्ति पच परमेष्ठी की आराधना, निश्चय से वीतराग सम्यग्दृष्टियो की शुद्धात्मा की भावना रूप है ।

इस विवेचन मे सम्यग्दृष्टियो के दो भाव विभागो – मे भक्ति का आलोचन हुआ है । जव तक साधक जीवात्मा मे राग की विद्यमानता है, उसकी साधना पच-परमेष्ठियो की भक्ति रूप होती है और जब साधक वीतराग सम्यग्दृष्टि हो जाता है तो उसकी साधना शुद्धात्मा रूप तत्त्व की भावना व ध्यान रूप होती है । सराग सम्यग्दृष्टि जीव यद्यपि "आत्मा तत्त्व परम शुद्ध है"—इस निष्ठा को तो प्राप्त है, पर स्वय शुद्धात्म रूप परिणत व स्थिर नही हुआ है । उसका उपयोग अतः पच परमेष्ठियो के स्वरूप-आश्रय के राग रूप सापेक्ष-शुद्धता से वीतरागता रूप निर्पेक्ष की तरफ गतिमान होता है और क्रमश निर्मलता को एक-एक देश चरण या क्रम से प्राप्त करता है । पच परमेष्ठियो के स्वरूप स्व शुद्ध स्वरूप मे परिणत है, अत वे भी शुद्ध स्वरूप का ही निदर्शन है ।

वीतरागता का उन्मेष बारहवे गुण स्थान मे होता है । अत सराग सम्यग्दृष्टि की भूमिका से लेकर वीतराग सम्यग्दृष्टि की भूमिका के मध्य यथार्थत सातवे गुण स्थान से लेकर वारहवे गुण स्थान के मध्य की भूमियाँ हैं । वीतराग भूमि की आत्म ध्यान एव भावना रूप भक्ति ही निश्चय भक्ति है । इस प्रकार सराग-भक्ति की ही बारहवे गुणस्थान तक भूमिया है । बारहवें गुण स्थान मे आकर वीतराग भक्ति सभव होती है । और यह भी है कि वीतरागता होने पर साधक साधना-भूमि

---

1 (समयसार गा १७३–१७६ ता वृ टी पृ ४३)

से उत्तीर्ण भी हो जाता है। वह तब व्यवहार भूमि मे नही, निश्चय भूमि मे ही निश्चल रहने लगता है। क्योकि तब क्रमगत भूमिया समाप्त प्राय. हो जाती है।

सराग भक्ति साधना से पूर्व जीव वाह्यात्मा रहता है। चौथे गुणस्थान मे तत्त्व श्रद्धा पाकर सराग-भक्ति मे अवतीर्ण होकर वह अन्तरात्मा भूमिका मे प्रवेश लेता है। इस अन्तरात्मा भूमि से ही बारहवे गुणस्थान भूमि मे उत्तीर्ण होकर परमात्मा भूमि का आरोहण करता है। साधना का इस प्रकार पर्यवसान तेरहवी गुणस्थान सक्रान्ति मे होता है, तब जीवात्मा स्वय सयोगी जिनेश्वर रूप परिणत हो जाता है।

चौथी गुणस्थान भूमिका का साधक जिस आत्मा तत्त्व की निष्ठा लेकर ध्यान क्रिया की व्यवहार भूमि मे उतरा था, वह सप्तम व अष्टम गुणस्थान भूमि मे आत्मा के स्वरूप का साकार साक्षात्कार सकल जिनेश्वर के स्फटिक सन्निभ मूर्ति-विम्ब के दर्शन को प्राप्त कर लेता है और तब भावना रूप ध्यान ही वास्तविक सराग भक्तिमय ध्यान मे परिणत होता है।

यहाँ से ही वस्तुत सराग साधना आरम्भ होती है। साधक का भाव शुभोपयोग रूप होता है, निष्ठा अवगाढ होने लगती है। उपयोग अशुभ से निर्मलतर हो जाता है क्योकि उपयोग को स्थिरता का निमित्त, आश्रय मिल जाता है। भावोन्मेष होते हैं, भावोन्मेषो मे निर्मलता की धारा प्रखर होती जाती है, परिणतिया अपेक्षातया शुद्ध-शुद्ध होने लगती है। साधक अपने लक्ष्य मे स्थिरता के लिये अधिक प्रयत्नवान्, सजग और अप्रमादी होता है, चित्त के स्तरो का भेद होता है। चित्त मे से अनात्म-प्रत्ययो की निर्जरा होती है—जितनी मात्रा मे अशुद्धता हटती है, उतनी मात्रा मे चित्त का ज्ञान निर्मल होता जाता है।

चित्त का ज्ञेयाकार रूप ही कटता जाता है और ज्ञान रूप उघडता जाता है। (चित्त राग, मोह, कषाय आदि से अनुरजित या आवृत जब तक रहता है, और इसी कारण, साधक को व्यवहार भूमि भी तब तक रहती है।) तभी चित्त सपूर्णत. वीत मोह और वीत कषाय हो पाता है। मोह और कषाय क्रमश ही वीत होते जाते है। ध्यान की गति अन्तर्मुख दिशा मे गहन और गहनतर क्रमशः होती जाती है। दर्शन स्पष्टतर व अधिक अधिक स्थायी होता है और साधक का आनन्द पारावार भी अधिक-अधिक बढता जाता है। छठे सातवे गुणस्थान तक मे शुभोपयोग और शुद्धोपयोग का झोला रहता है—कभी शुभ से साधक ध्यान मे शुद्धात्म भावना मे उत्कर्ष करता है पर स्थिर नही हो पाता। कभी त्रिपुटी का वेध करके दर्शन रूप स्वय स्थिति भी पा लेता है—पर फिर अस्थिर होकर शुभोपयोग मे ही आ जाता है। इस प्रकार शुभ और शुद्ध के मध्य झूलता रहता है।

आठवे गुणस्थान मे आकर-साधक को भाव परिणतिनिर्णित कर देती है कि साधक ग्यारहवे गुण-स्थान मे नही जाकर एक साथ बारहवे गुणस्थान मे जा पहुँचे। यदि रागाश या मोह कषाय के अश

साधक मे सूक्ष्म वासना रूप मे किसी भाति के भी उपशात विद्यमान रहे, और वह आगे गुणश्रेणी चढता है तो ग्यारहवे तक ही पहुँच पाकर वापिस रागादि के मल-पाक हो जाने पर नीचे गुण-श्रेणियो मे पतित हो जायेगा, वरना समस्त रागादि का क्षय करके क्षपणा की दसवी भूमि से एक साथ बारहवें गुण-स्थान मे पहुँच जायेगा जहाँ से फिर प्रत्यावर्तन नहीं होता। इतनी ध्यान की भाव-भूमियो को पार करके भी वासना के अश मात्र विद्यमानता भी कही साधक मे दबी रह जाए, तो सब परिश्रम निष्फल हो जाता है।

साधक को इस लिए वार-वार अपनी चित्त भूमियो को, भाव – शुद्धियो को भावनाओ से, ध्यान सस्कारो से, विश्व की वस्तु व्यवस्था के ज्ञान से, वस्तु की स्वातत्र्य भावना से, विश्व के समस्त लोक परलोक के आश्चर्यों तथा सपदा के नश्वर होने की भावना से, अपने तत्त्व की सर्वोच्च महिमा, श्रेष्ठता और दुर्लभता की ज्ञान-भावना आदि से शुद्ध रखने का, सदा सावधान अप्रमत्त और जागृत रहने का उपदेश किया गया है।

स्वात्मा निरीक्षणीय

> **तत्सामायिक दीपेन काय दुर्ग समाश्रित ।**
> **अज्ञानाच्छादित स्वात्मा निरीक्ष्य योगिभिः ।।[1]**

अज्ञान से आच्छादित स्वात्मा को जो इसी काया के गढ (दुर्ग) मे विद्यमान है, सामायिक दीप लेकर योगियो को निरीक्षण करना चाहिए। स्वात्मा क्या है ? आत्मा तो निर्मल है पर यहाँ जिस अज्ञानमय स्वात्मा की बात है, वह चित्तात्मा है। यह अज्ञानी स्वात्मा है, अज्ञान से भरा होने से बडा दुर्धर्ष है और जीव को कभी भी धोखा देकर उसके आत्म—ऐश्वर्य पर छापा मार कर लूट पाट कर देता है। इस अज्ञानी स्वात्मा के विभिन्न आधार स्तरो को उघाड-उघाड कर देखना चाहिए ताकि इसका अज्ञान (अविद् परिणति) नष्ट हो। ध्यान की अन्तर्मुख गति मे जब उपयोग अशुद्धता से शुद्धता की ओर उघडता है तो जीव के सब ही आधारो मे एक-एक देश निर्मलता होती है। जीव के आधार प्राण, इन्द्रियाँ व चित्त है। ये आधार जीव के अशुद्ध हैं, जीवात्मा तो मात्र चिद्रूप ही है। जीवात्मा देह एव प्राणो को लेकर ससार मे व्यक्त हुआ है। अतः देह एव प्राण ही उसके जीवन के सर्व प्रथम आधार हैं। इस आधार की मलिनता से यदि वह निराधार हो जाए तो वह आत्मा सब ही आधारो से भी निर्मल एव निराधार होकर स्व स्वरूप की निर्मलता को प्राप्त हो जाए। जीव प्राणो के आवागमन से बधा है। प्राण हैं तब तक ही देह मे जीवन का प्रकाश है। प्राणो मे बधा जीव पराधीन, अल्प और दुखी ही हे। प्राणो की आकर्षण और विकर्षण रूप क्रिया के साथ ही चित्त का क्षोभ—विक्षोभ भी लगा है—और स्वय का अज्ञान भी लगा है। अनादि से ऐसा ही चलता आ रहा

---

1 (योग–प्रदीप–७)

है—अत जीव अनादि से ही आकुल है—निराकुल सुख नही है। अत. ज्ञानी अर्हंतपुरुषो ने जीव के प्राणो को सम व निश्चल करने, चित्त को प्रशात और सम करने तथा जीव के अनादि के देहाध्यास रूप अज्ञान को निवृत करने के हेतु काया मे शोधन करने तथा काया मे विद्यमान प्राण मन-चित्त का शोधन करने हेतु—इन काया, और मन-चित्त मे उनके निरीक्षण करने की प्रेरणा की है। इस अन्त· निरीक्षण क्रिया को ही सामायिक रूप दीप कहा है। इसमे काया की प्रेक्षा और चित्त की प्रेक्षा को ही जो सामायिक का सर्व प्रथम रूप है धारण करते हैं। कायोत्सर्ग करके प्रेक्षा विधि से सामायिक करनी चाहिए। इस के बाद ध्यान मे सोह साधना के साथ आत्म-प्रेक्षा चलनी चाहिए। नियमसार मे आ० कु दकु द ने सोह साधना को कहा है—जो अति उल्लेखनीय है।

हस, सौऽहं और परम हस साधनाएं

केवल णाण सहावो, केवल दंसण सहाव सुहमइओ ।
केवल सत्ति सहावो, सोहं इदि चिन्तए णाणी ।।[1]

मै केवल ज्ञान स्वभावी, केवल दर्शन स्वभावी, सुखमय और केवल शक्ति स्वभावी हूँ—ऐसे सोह रूप से ज्ञानी आत्मा की चिन्तना करे।

यहाँ करे—यह आदेशात्मक है अर्थात् ऐसे ही भाव रूप से चिन्तना करे—अन्य रूप न करे। भाव की' स्थिरता के अभ्यास मे यह सोऽह साधना अति उत्कृष्ट साधना है। वस्तुत सोहं साधना के भी उत्तम, मध्यम और जघन्य स्वरूप सभव है। सोह रूप की रटना जो वाचिक होती है—वह तो जघन्य साधना है ही। तथा जीव पुरुष है और प्रकृति शक्ति है—ऐसे भाव साधना को भी योगीजन जघन्थ निर्दिष्ट करते है। मध्यम भाव मे "सो" रूप अपान और ह रूप प्राण, इनके योग से समान प्राण का उद्भव किया जाता है और प्राणायाम मे वही कु भक का प्रथम हेतु भी होता है। जब श्वास वायु बाहर निर्गत होता है तो उस प्राण के साथ "ह" और श्वास वायु जब भीतर ग्रहण होता है तो उस अपान के साथ "सो" इस प्रकार सोह मत्राक्षरो की—मत्रार्थ के साथ समायोजना ही सोह की मध्यम साधना है। हस = रूप मत्राक्षरो को ही प्राण सदा अपनी गति मे उच्चार करते रहते है। इसे ही साधन अभ्यास द्वारा सोह रूप मे विपरीत गति प्रतिस्रोत दिशा मे प्रवाहित करते है। प्राण शक्ति के जागने पर तालु मूल से नाभि तक वायु के आकर्षण—विकर्षण रूप का अनुभव होने पर ही प्राण व अपान के सचरण गति के साथ चित्त को नियुक्त करके सोह-सोह ध्वनि का अन्तः श्रवण सभव हो जाता है। योगी जन इसे अजपा जाप तथा सास की चोकीदारी कहते हैं। बौद्ध योगी जन इसे आनापान-सति कहते हैं, वे सोह के स्थान पर अर्हत्-जिनेश्वर मत्र "अर्ह" की समायोजना प्राण व अपान वायु के सचरण के साथ करते है। सोह साधना सत आम्नाय में भी

---

1. (नियमसार—९६)

समाहृत है । इस सोहं श्रवण से नादानुसधान होता है तथा सप्रज्ञात समाधि का लाभ होता है । श्वास पर से दृष्टि लौट जाने पर देह भाव से परे होकर विदेह भाव की जागृति होती है, क्रमश दैहिक प्राणिक मानसिक, चैत्तिक स्तरो से लौटती चली जाती हे । सोह निरजन आत्मा का वाचक है । हर हालत मे इस निरजन आत्मा की स्मृति रहे—इसलिए श्वास के साथ सोह की ध्वनि पर ध्यान रखने का अभ्यास किया जाता है । सोऽहं ध्वनि को षण्मुखी मुद्रा लगा कर भी सुनते हैं ।

हसोच्चार वर्ण नाद का पता योगीजनो को हृदय मे चित्त स्थिर करने पर मिलता है। वहाँ यह प्राण-अनुरण रूप मे अनुभूत होता है । प्रथम तो हस रूप नाद ही हृदय मे उत्थित होता है । यही नाद सूक्ष्म होकर ध्वनि रूप हो जाता है । अ उ म रूप से प्रणव की तीन मात्राए है—प्रणव ध्यान मे जब अ उ म तीनो मात्रायें एकाकार होकर झकार की ध्वनि रूप होती है,' तो वही भ्रूमध्य विन्दु स्वरूप मे पर्यवसित होती है । इस बिन्दु के अन्य निर्मल पर्यायान्तरो के मध्य ही आत्मा का बोध या आभास स्फटिक सन्निभ जिनेश्वर की मूर्ति सम लक्षित होता है जो प्रणव का वाच्य है । तब ही केवल-ज्ञान स्वाभावी केवल-दर्शन स्वभावी आदि रूप से अनन्त चतुष्टय रूप की साधना की प्रतिष्ठा होती है । यही हस से सोह होकर सोह की उत्तम साधना है ।

*अ उ म प्रणव के एकाकार मे प्रथम तो घटा निनाद—टकार रूप ध्वनि प्रसृत होती है—*और यही हृदय से ऊपर तालु-रन्ध्र होकर मस्तिष्क रूप ब्रह्माण्ड मे व्याप्त होकर गूजने लगती है और विस्तृत होती है, इसके ही अनुगत चित्त नाद एव ध्वनि से अभिभूत—उनकी शनै शनै मधुर विश्रान्ति के साथ स्वय भी विश्रात होता है । तब उस विश्रात और लय हुए चित्त को जाग्रत करके ज्ञान पर्याय को सतेज रखते हुए—चित्त को अणु रूप अखण्ड ज्योति-बिन्दु मे आविर्भाव करना चाहिए । और फिर उस ज्योति-बिन्दु मे सकल जिनेश्वर के दिव्य स्वरूप की भावना द्वारा अवतारणा करनी चाहिए । इस प्रकार ओम् के आश्रय चित्त भूमि के विभिन्न स्तरो का वेध करके उस निर्मल चित्त द्वारा सहसदल कमल मे उस जिनेश्वरस्वरूप को प्रतिष्ठित करके अवलोकन करना चाहिए और भावना करनी चाहिए कि यह मेरा ही अभेद स्वरूप है ।

वस्तुत इस दर्शन मे चित्त ही चित्त को देखता है । निर्मल चित्त अपने सपूर्ण भाव को जिनेश्वर रूप में उल्लसित हुआ देखता है। यह चित्कला की ही अभिव्यजना है । मन ही यहाँ क्रीडा करता है परन्तु यह मन ही अन्तरात्मा का स्वरूप है । अन्तरात्मा रूप परिणत यह स्वरूप अब आभास रूप नही है—साक्षात् तथा अपेक्षतया अधिक स्थायी और स्पष्ट भी है । दर्शन की यह द्वैतभूमि पार होगी, सराग चित्त व उपासना योग से । उसमे स्वय दर्शन तथा ज्ञान मात्र अवस्थित होने पर त्रिपुटी वेध करके अद्वैत भूमि मे अवतरण होता है। यह अद्वैत दशा वीतरागता और सर्वज्ञता को उदित करती स्थिर होती है ।

प्राण-अपान की गमनागमन रूप विरुद्ध गतियो मे सोहं की समायोजना से समन्वय होकर प्राण शक्ति मे एक तेजोमय प्रशात सूक्ष्म सम अवस्था आती है और प्राण अपान के सघर्ष मय मार्ग से छुटकारा होकर सुषुम्ना मे प्राण सचरण होकर आज्ञा पद्म और तालुरन्ध्र मार्ग से सहस्रदल मे प्राण पहुंच जाते हैं और वहाँ के विराट अनन्त आकाश मे व्याप्त होते है । सुषुम्ना रूप मध्य नाडी के उन्मुक्त होने से ही ब्रह्माडीय उर्ध्वगति के लिए मार्ग प्रशस्त होता है। यही मत्र या शब्द-शक्ति का उपकार है। सब ही मत्र नाद रूप, ज्योति रूप होकर सुषुम्ना का वेध करते हैं तथा आज्ञापद्म मे बिन्दु रूप मे चित्त का उन्मेष होता है। यही आत्माम्नाय मे मत्र-बीज के साक्षात्कार का निदर्शन है। इसके अनन्तर सहस्र दल मे मंत्र-बीज के बिन्दु मध्य मे स्वय साधक अपने स्वरूप को देखता है। वह निज स्वरूप जिनेश्वर या अक्षर परमात्मा स्वरूप है । इस जिनेश्वर स्वरूप मे तन्मयी ज्ञान से ही आवरण क्षय कारक ज्ञानावस्था आती है। और वही हस का परम हस मे योग है । प्राण-अपान की सर्व प्रथम गति सम करना आवश्यक है। नासिकाग्र और नासिका मूल मे प्राण-अपान के गमनागमन का ही निरीक्षण करके यानी प्राणाप्रेक्षा करके प्राणापान को सम तथा मद करना चाहिए इसके अनंतर सोह की योजना करनी चाहिए।

आ हेमचन्द्र ने मत्रोच्चार के मध्य-नाडी (सुषुम्ना) मे प्राप्त होने के पश्चात् व नाद के अविर्भाव के अनन्तर सोहं की सदानन्द साधना का वर्णन किया है। इस साधना से परमेष्ठी ध्यान होना चाहिए। कहा है—

> अथास्य मंत्रराजस्याभिधेयं परमेष्ठिनम् ।
> अर्हं च मूर्ध्नि ध्यायेत् शुद्ध स्फटिक सन्निभम् ॥
> तद् ध्यानावेशत सोहं सोऽहमित्यालापयन् मुहु ।
> नि:शंकमेकतां विद्यादात्मन. परमात्मना ॥[1]

अर्हं मत्रराज के वाच्य और शुद्ध स्फटिक रत्न के समान निर्मल अर्हन्त परमेष्ठी का मस्तक मे ध्यान करना चाहिए। यह ध्यान इतना भावावेश मय होना चाहिए कि इसके चिन्तन मे बार-बार सोऽह सोऽह अन्तर्ध्वनि करता हुआ ध्याता नि शंक आत्मा और परमात्मा की एकता का अनुभव करे।

सोह नाद के चिन्तन के पूर्व नाद का अविर्भाव आवश्यक है। उस नाद के उत्थान की विधि इस प्रकार बताई है—

---

1. (योग शास्त्र ८/१४-१४)

अर्हमित्यक्षरं प्राण प्रान्त संस्पर्शिपातनम् ।
ह्रस्व दीर्घंप्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मं तत परम् ।।
ग्रन्थीन् विदारयन्नाभि कंवहृद्घटिकादिकान् ।
सूक्ष्मध्वनिना मध्यमार्गयापि स्मरेत्तत ।।[1]

अर्हं मत्र का पहले मन मे ह्रस्व, फिर दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म और फिर अति सूक्ष्म उच्चारण करना चाहिए—तत्पश्चात् उसका वह नाद नाभि, हृदय और कठ की ग्रन्थियो म विचरण करता सुषुम्ना (मध्य) मार्ग मे होकर चला जा रहा है, ऐसा चिन्तन व ध्यान करना चाहिए। इस अर्हं ध्वनि को नाभि से "अर" वर्ण से उठा कर "ह्" को हृदय मे लाकर 'म' को कण्ठ मे लेजाना चाहिए। मूलाधार से नाभि तक १ मात्रा नाभि मे हृदय तक दो मात्रा और हृदय मे कठ तक ३ मात्रा समय और फिर अनुस्वार नाद कला का १ मात्रा समय होकर फिर उसकी गु ज सुनना चाहिए । इसी मे ह्रस्व दीर्घ और ह्रस्व और सूक्ष्म उच्चारण हो जाता है । इसके बाद उस नाद की बिन्दु की तपी हुई कला मे से निकलने वाले दुग्धोज्जवल अमृत-तरगो से अन्तरात्मा को प्लावित हुआ ध्यान करना चाहिए। ऐसे—नाद व फिर नाद का बिन्दु रूप मे परिणत होना, बिन्दु रूप की परिपक्व दशा के बाद उस बिन्दु के चन्द्र रूप आविर्भाव के बाद दुग्धोज्जवल अमृत रस का निर्झरण होना—और उस अमृतरस रूप चित्कला मे अन्तरात्मा को निमग्न होने रूप का क्रमश ध्यान होता है। ग्रन्थियो को वेध करता नाद कण्ठ से ऊपर भ्रुकुटी मध्य (आज्ञा पद्म मे) पहुँचता हैं। वहां बिन्दु का स्थान है । वहां नाद बिन्दु रेखा मे परिणत हुआ लक्षित होता है और इस अखड ज्योति बिन्दु रेखा से ही योगी चन्द्र-प्रभा ज्योत्सना के रूप मे अमृत को स्रवित होता अनुभव करते हैं ।

आ. शुभचन्द्र तथा हेमचन्द्र दोनो ने अनाहत नाद का ज्योतिश्चन्द्र रेखा व चन्द्रकला के रूप मे ही वर्णन किया है।

चन्द्र लेखा समं स्फुरन्तं भानु भास्वरम् ।
अनाहताभिध देवदिव्य रूप विचिन्तयेत् ।।[2]

निशाकर कलाकारं सूक्ष्मं भास्कर भास्वरम् ।
अनाहताभिध देवं विस्फुरन्तं विचिन्तयेत् ।।[3]

चन्द्र कलाकार या चन्द्र रेखा कार सा सूक्ष्म और सूर्य सा भास्वर दिव्य अनाहत को स्फुरायमान हुआ ध्यान करना चहिए। अर्थात् ललाट के उपर (आज्ञापद्म) मे चन्द्रमा का जो ध्यान होता

---

1 (योग शास्त्र ८/९–१०) 2 ज्ञाना ३८/२३
3 (योग शास्त्र)

है—वह भास्वर दिव्य अनाहत का ही ध्यान है। यह ध्यान अर्हं की मस्तिक मे गूंज ध्वनियो को फैला कर विश्रात होती लक्ष्य करने के उपरात करना चाहिए।

नाभि से उठा मत्रोच्चार आज्ञा-पद्म-स्थान पर नाद न रह कर चन्द्र बिम्ब तथा सूर्य बिम्ब सा अवलोकित होता है। नाभि मे अग्नि बिम्ब रूप भी यही होता है। आज्ञा पद्म पर ये अग्नि सूर्य और सोम का एकत्व रूप होकर अखड ज्योति बिन्दु रूप होता है। अर्हं ही नही, सोऽहं, ओम आदि सब ही वर्णाक्षर (मातृका स्वर या शब्द-श्रुत) इसी प्रकार नाद, ज्योति, बिन्दु, और बिन्दु मे सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि पर्यायान्तरो को दिखाते है। बिन्दु की स्थिरता ही अणु-सस्थ स्थिर मन है, जिसमे अर्हन्त परमेष्ठी का ध्यानाभ्यास करते-करते सहस्रदल पर उस स्वरूप अकन व निर्माण हो जाता है। आज्ञा पद्म से उर्ध्व मस्तिक के नभो-भाग सहस्रदल के अतरिक्ष मे यात्रा करने वाले सचरणशील अनाहत की ज्योति रेखा या बिन्दु के ही वर्णन मे कहा गया है—

> **निर्यान्तं तालुरन्ध्रेण स्रवन्तं च सुधारसम्।**
> **स्पर्धमानं शशांकेन स्फुरन्तं ज्योतिरन्तरे॥**
> **संचरन्तं नभो-भागे योजयन्तं शिवश्रिया।**
> **सर्वावयव संपूर्णं कुंभकेन विचिन्तयेत्॥[1]**

वह ज्योति बिन्दु तालु-रन्ध्र से निकल कर, सुधा-रस को निर्झरता चन्द्रमा से स्पर्धा करता मस्तिष्क (ब्रह्माड) के अतर-भाग मे ज्योतियो को स्फुरायमान करता चला जाता है और मस्तिष्क के आकाश (गगन-शून्य) मे अग्रसर होता हुआ शिव-श्री से युक्त हो जाता है—ऐसे उस सर्वांग पूर्ण स्वरूप का कुंभक मे—अर्थात् सम निश्चल प्राण-स्थिति मे ध्यान करना चाहिए।

ज्योतिबिन्दु रूप मत्रपरिणत का शिव श्री से सयुक्त होने का यहाँ निर्देश अति उल्लेखनीय है। शिवश्री को मोक्ष रमणी भी कहा जाता है। पर यहाँ वस्तुत शिवश्री से उर्ध्वकुंडलिनी का ही निर्देश है जो ब्रह्माड के नभो-भाग मे लक्षित होती है। आ. शुभचन्द्र ने भी इसी प्रकार शिवश्री से बिन्दु युक्त होना बताया है। मत्र का कुडलिनी तत्व मे अभिन्न हो जाने का निर्देश मत्र के अति सूक्ष्म रूप मे परिणत हो जाने का सूचक है। वस्तुत मत्र से उदभूत नाद नभो-भाग के शून्य मे पहुँच पर व्याप्त हो जाता है, और लय को प्राप्त हो जाता है। तब न नाद रहता, न ध्वनि, पर ज्योतिर्बिन्दु ही प्राण शक्ति मे तादात्म्य करके प्राण-शक्ति को तेजोमयी कुंडलिनी रूप लक्षित कराता है—और चित्त ही इसे वहाँ साक्षात् करता है। तब प्राण और चित्त का भी तादात्म्य हो जाने पर एक निर्मल स्वरूप प्राणवान् चित्त का ही स्वरूप—पूर्णोऽहं रूप से लक्षित होता है—वही अर्हंतपरमेश्वरपरिणत होता है।

---

1. (योग शास्त्र ८/२१–२२)

इसे ही परम शिव भी कहते हैं, क्योकि यह प्राण व चित्त की सर्व शक्तियों को धारण किये हुए हैं और शक्तियो का सचालन भी यहाँ से ही होता है। यहाँ पर से अब चित्त को दो दिशाए मिलती हैं—नीचे वापिस समना भूमि है, जो मन की अति तेजस्वी और निर्मल भूमि है, और इसके ऊपर उन्मनी भूमि है, जो आत्म केन्द्र मे अधिष्ठित होने की अभिमुखी-दिशा है।

समनी मे चित्त फिर सृष्टि या जगत्-अभिमुखी हो सकता है। यदि वासना-का रागाश या सकल्प-कल्पना रहे, तो क्रमश नीचे की भूमियो मे गिरता साधक वापिस मिथ्यात्व तक पहुँच सकता है। अत योगी समना भूमि को भी छोडकर उन्मनी दशा को ग्रहण करता है। इस उन्मनी मे निर्मनस्क (अमनस्क) ध्यान-साधना शुद्धोपयोगी शुक्लध्यान मे ले जाती है। मत्र जब तक नाद, ध्वनि, या ज्योति बिन्दु रूप होता हे, साधक व्यवहार भूमि मे ही चलता रहता है। बिन्दु मे अर्हन्त परमेश्वर की प्रतिष्ठा पूर्वक ध्यान की भूमि सराग भूमि ही होती है।

यद्यपि मत्र या वर्णमाला यानी शब्द-श्रुत के पर्यायो के अवस्थातर को साधक अपनी आत्म कला तथा ध्यान पुरुषार्थ से उद्भव करता है, मगर, यहाँ तक भी चित्त का सपूर्ण अनात्म द्रव्य निजरित नही हुआ होता। तथा अर्हत्-स्वरूप उपासना मे चित्त जब आत्म रूप अभिन्न होता है, तब ही शुद्धोपयोगी आत्म तत्त्व भावना होती है और आत्मा का स्वातत्र्य और ऐश्वर्य प्राप्त होता है। चित्त यानी मन जब तक सब वासना, कामना व सात्विक भावो तक से विवर्जित होकर निर्मल न हो जाए, उसकी विभाव रूप स्पदन कलना रहती ही है, और तब तक निर्विकल्प समाधि भी प्राप्त नही होती।

शुद्ध चैतन्य भाव और जिनेश्वर स्वरूप पृथक नही है—अत सोऽह साधना से वह भाव, परिपक्व होकर जब स्वत तिरोधान को प्राप्त होता है, तब भावातीत दशा आती है। वही निर्विकल्प समाधि है। अत. जिनेश्वर मूर्ति के सहस दल-कमल मे शिवत्व रूप मगलमय रूप मे अचल आसीन होने के उपरात ही यथार्थ और उच्च कोटी सोऽह रूप से अनन्त चतुष्टय स्वरूप निजात्मा की भावना व ध्यान होता है—अर्थात् सोऽह भावना मे एक मात्र आत्मा द्रव्य आत्मा गुण और निर्मल पर्याय का अखड ध्यान होना चाहिए। इसे ही आ कु दकु द ने वर्णित किया है।

> पयडि ट्ठिदि अणुभागप्पदेसबधेहिं वज्जिदो अप्पा।
> सोह इति चिन्तिज्जो तत्थेव य कुणदि थिर भावं॥[1]

आत्मा को प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश-बध रूप कर्मावरण से निर्मल और विमुक्त हुआ, सोह भाव के—स्थिर भाव से ध्यान करे। स्थिरता ही वस्तुत चारित्र रूप है। यही चारित्र फिर वीतराग चारित्र होता है। वीतरागी सम्यग्दृष्टि का निश्चय चारित्र इस प्रकार व्यवहार

1 (नियमसार—९८)

भूमि को अतिक्रान्त करके प्रकट होता है। सहस्रदल कमल के प्रकाश मे जिनेश्वर के स्वरूप विलास के अनन्तर उस स्वरूप चन्द्रमा की निर्वाण कला को प्रकट करना चाहिए। उसकी ज्ञेय प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश वन्ध को एक-एक कला क्षय से निर्जरित करके स्वय निर्मल अक्षय आत्म चन्द्र को उदित करना चाहिए—वही सोह की साधना परमहस की साधना है।

आज्ञा पद्म मे ज्योति विन्दु के प्रकट होने से लेकर सहसदल पद्म मे महाविन्दु रूप के उन्मेष के मध्य ही चित्त के अनात्म स्कन्धो मे से पाच भौतिक तन्मात्रा स्वरूप का निरसन होकर ही चित्त की निर्मलता होती है और चित्त की इस अन्तर्यात्रा मे चित्त का नव-नादो के रूप मे साक्षात्कार होता है। नाभि से आज्ञापद्म तक की यात्रा मे चित्त व प्राण स्थूलता का निराकरण करते हुए सूक्ष्म रूप मे पहुचते है। सूक्ष्मावस्था मे भी अनात्म तत्त्व पच तन्मात्रा रूप मे विद्यमान रहते है। नाभि से आज्ञापद्म तक की यात्रा मे तो स्थूल पाच भूत तत्त्व ही निवृत्त होते है और चित्त का अपेक्षतया ही निर्मल निर्माण होता है। यह चित्त ही फिर आज्ञा पद्म से सहस दल तक की यात्रा मे सूक्ष्म तन्मात्रा रूप पाच भूतो से निवृत्त होकर और भी अधिक सूक्ष्म हो जाता है और इसका ज्ञायक भाव प्रकृष्टतर हो जाता है—यही अब आत्म-ध्यान कर सकता है। शुद्धोप योगी आत्म ध्यान या आत्म प्रेक्षा इसी प्रकृष्टतर निर्मलता को प्राप्त-यानी सहसदल कमल तक उर्ध्व मे विहार करने वाला चित्त ही करता है—यह चित्त भी अब चित्त नही है चेतना ही है और चेतना ही चेतना मे अब रमती है।

चित्त की अतिन्द्रिय दर्शन-शक्ति का विकास

सुविज्ञ पाठक हम साधना विमर्श करते यहा चित्कला के निर्मापक पूर्ण चन्द्र मय चित्त स्वरूप तक आ गये है। यह पूर्णचन्द्र रूप चित्त ही आगे आत्म ध्यान करने की क्षमता वाला है। हम पूर्व मे यह भी जान व कह चुके है कि यह चित्त एक अलौकिक आभ्यन्तर इन्द्रिय के समान भी है, जो अपनी प्रकाश वृत्ति के साथ सारे विश्व तथा ब्रह्माण्डो मे भ्रमण करने अथवा देखने की शक्ति रखता है। इसकी इस दर्शन शक्ति का ही साधक को लाभ उठाना है। दर्शन की वडी महिमा है—क्योकि मात्र दर्शन क्रिया मे विकल्प नही होते, प्रतिक्रिया नही की जाती, किसी सवेदना मे (द्वन्द्वो के भाव मे,—सुख-दु ख प्रिय-अप्रिय के भावो मे) नही जाते। दर्शन-क्रिया विकल्प का शोधन कर देती है। यह अनाकार वृत्ति है—अर्थात् यह वस्तु को मात्र देखती ही है पर उस के विषय मे उहा-पोह नही करती। अर्थात् मात्र देखने की क्रिया विकल्प शोधन करके निर्विकल्प की तरफ ले जाती है। यानी यही वह क्रिया है जो केवल-दर्शन की ओर जाती है। पदार्थ रूप दृष्टि से, न कि सवेदन के प्रिय-अप्रिय भाव से, देखना यथार्थ दर्शन-मात्र दृष्टि है।

दर्शनोपयोगी दर्शन की क्रिया मे मात्र देखते-देखते सम्यग्-ज्ञान होता है। फिर केवल दर्शन और केवल-ज्ञान होता है। ज्ञान साकार होता है—उसमे वस्तु का स्वरूप विस्तृत होता है। उसका बोध प्रकट होता है। जब दर्शन मात्र-दर्शन रूप मे, निर्विकल्प रूप मे विकसित तथा परिपक्व होता है,

तो यही सम्यग्ज्ञान को देता केवल-ज्ञान में उद्भासित होता है। तथा केवल ज्ञान और केवलदर्शन युगपत् ही होते हैं। मात्र दर्शन यानी प्रेक्षक् वत् तटस्थ, उदासीन होकर वस्तु का निरूपण और निरीक्षण ही केवल दर्शनऔर केवल ज्ञान का सूत्र है। यह किसी बाह्य सत्ता की नही, अन्तरसत्ता को देखने का सूत्र है। यह (God) ईश्वर को (Interpret) विवेचित नही करता —अत. इस विज्ञान का स्वरूप (Theology) का भी रूप नही है।

प्रक्षाएँ

हाँ तो ऊपर वर्णन आ गया है—

(१) सामायिक दीप से

(२) काया के दुर्ग मे

(३) स्वात्मा रूप चित्त-अन्तरात्मा के बाह्य एव आभ्यन्तर आधार स्तर

(४) निरीक्षणीय है।

स्पष्ट है कि साधना के तत्त्व इस निरीक्षण क्रिया मे ही अन्तर्गर्भित है, अतः यह अति महत्त्व-पूर्ण है। ध्यान और भेद विज्ञान का यह द्वार है।

(१) **सामायिक दीप**—से सकेत दिया है कि मन वचन और काया (देह इन्द्रिय मन वचन (वाणी) और प्राण) की सम सूत्रता, सतुलन और समता होनी चाहिए। तव ही जो हम खोजना, देखना चाह रहे है—खोजव देख पा सकेगे। दीप-सा प्रज्वलित तथा समरूप मे स्थित तथा प्रज्वलित अपने आप से यह खोज करनी है, और यह खोज होती है अपनी काया के दुर्ग मे चित्त को ही एक प्रखर प्रकाश पुंज सा भावित करके चित्त को सम्यक् साम्य सामायिक के दीप रूप वना कर अपने अज्ञानमय चित्त तथा उसके आधारो को क्रमश अनावरण करके देखना चाहिए।

(२) **काया का दुर्ग**—काया जैसा कि पूर्व मे हम देख आये है—स्थूल, सूक्ष्म और सूक्ष्मतम रूप से तीन प्रकार की है। इनमे सूक्ष्म देह तैजस् यानी प्राण देह हैं। सूक्ष्मतम देह कार्माण देह है जिसे अन्य आम्नाय वाले कारण-महाकारण नाम से कहते हैं। सूक्ष्मतम देह को अन्तर नयनरूप चित्त से देख पाने के लिये हमे स्थूल औदारिक देह को और उसे वेध या शिथिल करके प्राण तैजस् देह को देखना होगा। प्राण की तैजस् देह को देख कर और उसके मध्य वायवीय अति सूक्ष्म स्वरूप कामार्ण देह को देखने का प्रयत्न करना होगा। तथा कार्माण देह मे वन्धे या अवगाहित पर फिर भी स्वतन्त्र और अस्पृष्ट चैतन्य चिन्मय परम ज्योति परम ज्ञान आत्मा को देखना होगा। इस प्रकार इन विभिन्न स्तरों को देखते-देखते हमे आत्मा के निज गृह पर पहुचा होगा। सव साधना का यही स्वरूप है, सार है। इसे हम आगे और भी स्पष्ट रूप मे समझोगे।

(३) **स्वात्मा**—हम पूर्व मे समझ चुके हैं कि यह आत्मा त्रिविध है। वाह्यात्मा वाह्यवृत्ति मय

है, देहाध्यास युक्त है, देह मे आपा करने वाला और आत्मा मे देह भाव करने वाला है । पर गुरु-उपदेश तथा शास्त्र पठन-मनन करके यह अन्तरात्मा की दिशा मे झुकता है, और यह निर्णय करता है कि मै आत्मा हू, मात्र देह, इन्द्रिय, प्राण या मन नही हू । इस निर्णय से यह बाह्यात्मा अपनी मिथ्या दृष्टि से मुक्त होकर, सम्यग्-दृष्टा, आत्म-स्वरूप का जिज्ञासु और आत्म-स्वरूप के निश्चय वाला बनता है। ऐसा निश्चय वाला ही आत्मा साधक बनता है, और अपने अन्तर मे अपनी आत्मा का शोधन करता है । इस शोधन मे इसका अध्यवसाय चलता है । अध्यवसाय का सतही स्वरूप मन है, और अन्तर स्वरूप अन्तरात्मा है । चित्त की वृत्ति ही चलती है पहले तो । और यह वृत्ति ही शुद्ध होती उपयोग रूप हो जाती है । तीन आशयो के अनुसार यह वृत्ति ही अशुभ, शुभ और शुद्ध होती है । शुद्ध होते ही यह शुद्धोपयोग नाम पाती है और तब चित्त-चित्त न रह कर चिद् स्वरूप हो जाता है—यानी चित्त अपने ही शुद्ध स्वरूप मे अभिन्न होकर शुद्धोपयोगी हो जाता है । चित्त को अत्यन्त प्रखर प्रकाश मय शक्ति वाली वृत्ति सहित जानना चाहिए । इस शक्ति सहित ही यह अपने आप का दर्शन करता शोधन करता है, अपने सब आधारो को निर्मल करता है और इस क्रिया-कलाप मे स्वय भी शुद्ध होता जाता है । इसे ही आत्म-परिणतियो का शुद्ध होना कहा जाता है । चित्त को दृष्टा बनाइए और यह दर्शन क्रिया मे विकल्प शून्य होगा । अब आत्मा आप अपना दृष्टा बन जायेगा । चित्त को विकल्प-शून्य कर लेने पर ही आत्मा आत्म-दृष्टा होगा ।

दर्शन करने की इस क्रिया मे अत इस चित्त को अपने विभिन्न आधारो मे भ्रमण कराइए । यह इसकी अन्तर्यात्रा है । अन्तर्यात्रा पूर्ण होने पर यही अन्तरात्मारूप मे विकसित होगा । और तब उस अन्तरात्मा की उर्ध्वयात्रा परम स्वरूप परमात्मा की तरफ होगी । ऐसे अन्तर्यात्रा ही परम की यात्रा के लिए सीढी है ।

(४) अन्तर्यात्रा और उसके क्रम

अन्तर्यात्रा के अब क्रमो को देखे, जाने, और समझे। स्थूल देह से आरभ करे । हम इसे प्रथम काया पर, फिर काया के भीतर, तदनन्तर प्राण देह पर और फिर प्राण देह के भीतर चैतन्य चक्रो तथा कमलो पर ले जाए । तदनन्तर हम इसे अन्तरीक्ष परमेष्ठी रूप स्थित करके देखे और दिखायें । इस क्रिया मे यह पुरुषाकार होकर अर्हत् स्वरूप हो जायेगा, केवल दर्शन करता करता केवल ज्ञान तक पहुचेगा । इसी उपाय का वर्णन "अनुभव-प्रकाश" पृष्ठ[13] पर इस तरह उल्लिखित हुआ है—

"ज्ञान जानने मात्र, दर्शन देखने मात्र, सत्ता अस्ति मात्र वीर्य-वस्तु निष्पन्न सामर्थ्य मात्र, केवल ऐसा प्रतीत्य मात्र रुचि भाव को आस्तिक्यता श्रद्धान कहिये । तिस तैं उपजी आनन्द कन्द मैं केलि करि सुखी हौ । जान्या आनन्द ज्ञानानन्द स्वरूप देखे आनन्द दर्शनानन्द, परिणया आनन्द चारित्रा-नन्द । ऐसे रूप गुणानन्द तिसका मूल निज स्वरूप आनन्द कन्द । तिसकी केलि स्वरूप मे परिणति रमावणी । तिसतै सुख समूह भया है । और इस तैं ऊँचा उपाय नाही । भव्यन को शिवराह सोहली

(सहज),—यह भगवन्त ने बताई है। भगवन्त की भावना तैं सन्त महन्त भये। मैं भी याही भावना का अवगाढ थम्भ रोप्या हे।"

आगे कहा है कि आत्मा का स्वरूप गोप्य हो रहा है। "दीपक के पाच पडदे हैं। एक पडदा दूरि भये, झीणा बारीक उद्योत भया। दूजा पडदा दूरि भया, तव चढता प्रकाश भया। तीजा गये चढता भया। चउथा भये, अधिक चढता भया। पांचवा निरावरण प्रकाश भया।" इस प्रकार पाच पडदो के अनावरण की चर्चा इस साधना भूमि मे चलाई जाती है।

पडदो के अनावरण मे कर्म-अनावरण की निष्पत्ति है। और यह अनावरण को करने वाली "अनन्त चैतन्य चिन्ह को लिये अखाडित गुण-पुंज पर्याय का धारी द्रव्य ज्ञानादि गुण-परणति पर्याय अवस्था रूप वस्तु" है। इस वस्तु का जो पर्याय है, उसी मे अनुभव होता है और यह पर्याय निर्मल प्रखर प्रकाशमय, अतीन्द्रिय दर्शन शक्ति मय स्वय अन्तरात्मा है, वही अन्तर्जगत् को देखने का नयन है। और वही देखने वाली वस्तु हे, अनुभव करने वाली वस्तु है।

"दरसन ज्ञान शुद्ध चरित कौं एक पद,
मेरो हे स्वरूप चिह्न चेतना अनन्त है,
अवल ज्ञान ज्योति है, उद्योत जामैं,
परम विशुद्ध सव भाव मे महन्त है।

आनन्द की धाम अविराम, जाकौं आठौं जाम,
अनुभव मोक्ष कहे देव भगवन्त हैं,
शिवपद पाइवे को और भाति सिद्धि नाहि,
यातैं अनुभवो निज मोक्ष तिया कन्त है।[1]

ज्ञान का लक्षण जाणपणा है, दर्शन का लक्षण देखना है। देख-पणा और ज्ञान-पणा—दोनों ही "परसौ व्यापि, पर ही का हो रह्या है" तथा यह जानपणा तथा देख-पणा भी, जो वर्तमान मे पर का जानपणा व पर का देख पणा होय रह्या है—विना ज्ञान व बिना देखने के भी नही होता। अतः देखने और जानने की क्रिया-कलाप के अभ्यास के अन्य कोई उपाय भी नही है।

(५) **कायोत्सग काया-प्रेक्षा**—अत प्रथम काया को सोधने को काया पर तथा काया के विभिन्न अगों पर वृत्ति को क्रमश घुमाओ, फिर काया के भीतर वृत्ति को विभिन्न अगो मे घुमाओ। हमे काया और काया के विभिन्न अगो मे पसरी हुई चेतना को समेटना है। अत आसनस्थ होकर (चाहे पद्मा-

---

1. ज्ञान दर्पण—45

सन या सुखासन मे बैठें या खड्गासन मे खडे हो या शवासन मे लेटे रहे) सहज नेत्र बन्द करके काया के, विभिन्न अगो पर ऊपर-मस्तक से लेकर नीचे पावो तक के एक एक अग पर क्रमश अपनी वृत्ति को ले जाकर, उन अगो को शिथिल होने का निर्देश दे कि वे तनाव-मुक्त और शिथिल हो गये और फिर उन्हे तनाव-मुक्त शिथिल हुए अनुभव करे । इस प्रकार प्रत्येक अग को शिथिल करे । साथ ही प्रत्येक अग पर ये भी भावना करे कि वहा की सब मासपेशिया कोशिकाए, तंतु आदि चैतन्य हो जाए, और फिर वे चैतन्य होकर चमकने लग कर प्रकाश मय हो गये है, ऐसा अनुभव करे । इस भावना मे वृत्ति लगी रहने से जागरूक रहने लगेगी । प्रति अग पर इस तरह अन्तर्दृष्टि ले जाकर उसे प्रकाश मय, प्राण मय देखे । फिर उस दृष्टि से सपूर्ण शरीर को ही एक साथ पूरा का पूरा बार-बार ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर देखे। आप अब पायेगे कि मै देखने वाला इस सपूर्ण शरीर से अलग हू, यह शरीर एक खोल की तरह ही बैठा है, या खडा है या लेटा है (जैसी भी स्थिति हो) । यह कायोत्सर्ग है । कायोत्सर्ग शब्द काया और उत्सर्ग-इन दो शब्दो से निष्पन्न है और इसका अर्थ है काया को काया के भाव को छोडना । यहा इस क्रिया मे आपने अपने को इस काया से शिथिल करके, विभक्त करके देखा है । यही काया का उत्सर्ग है और काया का भेद-ज्ञान है । इससे देहातीत विदेह भाव की प्राप्ति होती है । साधना मे आत्म-यात्रा का यह प्रथम चरण है ।

आप देखेगे कि इस औदारिक स्थूल देह के खोल मे एक अन्य सूक्ष्म और प्रकाशमय देह चमक रही है । यह प्राणमय या तेजस् देह है । इसका देखना प्राण देह का विज्ञान है । स्थूल काया का देखना काया का प्रेक्षा ध्यान है । इस सूक्ष्म प्राणमय देह का देखना प्राण प्रेक्षा है । इस प्राणमय देह मे आप चित्त रूप से अवस्थित है । प्राण प्रेक्षा मे प्राणो का भेद-ज्ञान है ।

(६) सुषुम्णा में शक्ति तथा वृत्ति का भ्रमण

अब आप चित्त देह से भी विभक्त होने के लिए उस प्राण देह मे प्रवेश ले—उसी प्रकार जिस तरह आपने स्थूल देह से इस सूक्ष्म देह मे प्रवेश लिया है । इस प्राण देह को ऊपर से नीचे देखते जाइये । एक-एक अ ग को देखिये और फिर सम्पूर्ण देह को देखिये । इसके अनन्तर इसमे प्रवेश कीजिये । इस देह मे पृष्ठ भाग के नीचे मेरूदण्ड भाग पर दृष्टि ले जाए और वहा मूलाधार (शक्ति केन्द्र) पर दृष्टि जमाए, वहा के चक्र और कमल को देखे । और इसके पास ही तेजस् तन्तु स्वरूप शक्ति को, प्राणशक्ति को देखे और उठाए, यह प्राण शक्ति उठती है तब मेरुदण्ड के पास जो नीचे मेरुदण्ड मे विवर है—उसमे प्रवेश करके चलती है । यह सूर्य-प्रकाश की प्रखर धारा के समान मेरुदण्ड के मध्य भाग (सुषुम्णा) मे होकर ऊपर उठती है और पीछे की तरफ से चढती हुई कण्ठ होकर आज्ञा पद्म पर आ जाती है । वहा से चलकर देह-ब्रह्माड के ज्योतिष-मण्डल की महा ज्योति को दिखाती है । यह स्मरण रहे कि जब यह शक्ति सुषुम्ना मे होकर चलती है तो इसके साथ चित्त वृत्ति भी साथ-साथ चलती है और आत्म चेतना का—अपने देखने रूप व जानने रूप क्रिया का भी साथ-साथ प्रचार होता जाता है । वह आत्मा का आत्मा मे प्रचार है । आ० शुभचन्द्र कहते है—

आत्मन्यात्म प्रचारे कृत सकल वहि सन्यास वीर्या-
दन्त ज्योति. प्रकाशाद्विलयगत महा मोह निद्रातिरेकः ।।

अर्थात् आत्म को आत्मा मे प्रचारित (प्रवर्तित) करके,—अन्तर्यात्रा कराने पर, सारा वाह्य प्रपच मय जगत् सन्यस्त हो जाता है, छूट जाता है और अन्तर्ज्योति का प्रकाश हो जाता है और उसका फल यह हे कि महा मोह तथा निद्रा का अतिरेक (वल) विलय को प्राप्त होता है, नष्ट हो जाता है।

चित्त को वार-वार शक्ति केन्द्र से प्रकाश पु ज के रूप मे उठाकर सुपुम्ना होते हुए मस्तिष्क के सहस्त्रार,—महा ज्योतिर्मय महा कमल तक ले जाइये और वापिस शक्ति केन्द्र मे लाइये। और इस क्रिया को फिर स्वत होती भी कुछ काल तक देखे कि यह क्रिया आप ही हो रही है।

चित्त को घुमाने और शक्ति स्वरूप को देखने की इस अन्तर्यात्रा मय अभ्यास मे चित्त स्वय फिर कही भी रुकने लगेगा और आप द्रष्टा रूप मे समाधिस्थ हो जाएगें।

(७) सूक्ष्म प्राण प्रेक्षा

चित्त आप का शून्य वत् होकर समाधिस्थ हो गया। पर अव इसे वहा से जगाइए और इसे वापिस प्राण प्रेक्षा पर लाइए। पूर्व मे जो चित्त ने कायोत्सर्ग के समय प्राण का रूप देखा था, वह स्थूल था। अव इसे सूक्ष्म प्राण के स्वरूप को दिखाइए। प्राण प्राणवायु के साथ आता जाता है। हम पूर्व मे समझ आये है कि प्राण को सम और सूक्ष्म करना चाहिए। प्राणो के इस सूक्ष्म स्निग्ध स्वरूप मे ही फिर अन्य आधारो की शिथिलता होती है। अव वृत्ति को प्रथम नासाग्र तथा फिर नासा-मूल स्थित करके प्राणो के आवागमन को मात्र कुछ काल तक देखिये, उस प्राण वायु का स्पर्श अनुभव कीजिये, उसे वाहर से भीतर और भीतर से वाहर आता जाता महसूस कीजिये। महसूस कीजिये कि वह जव नीचे जाता है तो नाभि भाग ऊपर उठता है, और जव प्राण वायु वाहर ऊपर जाता है तो वह नाभि भाग नीचे सुकडता है। इस प्रकार देखने मे श्वास वायु दीर्घ और मद होगा तथा फिर उसे नासाग्र और नासा मूल मे देखते-देखते उसकी गति, उसका रग, गध, रस आदि का भी कालान्तर मे अनुभव होगा। तव आप जान लेगे कि इस प्राण-श्वास का क्या स्वरूप है? यह ज्ञान अति सूक्ष्म प्राण तत्व का है। आपने अपने स्थूल प्राण को विभक्त करके प्राण का अव भेद ज्ञान प्राप्त कर लिया है। इससे आपको प्राण पर अधिकार तथा नियन्त्रण प्राप्त होगा। आप को इस नियन्त्रण के लिए किंचित् सूक्ष्म लोम-अनुलोम प्राणायाम तथा थोडा अल्प-अल्प कु भक भी करना चाहिए। यह सव बहुत सहज और जागृति के साथ ही अपनी कायोत्सर्ग स्थिति मे करने चाहिए। इस प्रकार करने पर आपको नासामूल पर प्रकाश उगता प्रतीत होगा। वह ज्योति प्रकाश भी अभ्यास के साथ धीरे-धीरे वढता जायेगा। इस ज्योति को

1 ज्ञाना 105/27 का पूर्व भाग

अब आप भृकुटी मध्य दोनो नेत्रो के बीच अच्छी तरह ले जाए और जमाएं। जब यह जमने लगे तो इसे बाये नेत्र पर ले जाएं और देखे कि यह नेत्र आप को दिखने लगा है—उसके ऊपर की भ्रुओ, फिर पलको, पलको के अन्दर श्वेतवर्ण पटल, पटल के मध्य भूरे-काले वर्ण गोलाकार बिन्दु और उस गोलाकार बिन्दु के भीतर काला सूक्ष्म बिन्दु रूप तिल (Retina) है, और अब आप और गहरा देखे तो आप अब उस तिल रूप बिन्दु के भी भीतर अन्य सूक्ष्म छिद्र है उसके भीतर भी आप प्रवेश कर जाये और प्रकाश को देखे और उस प्रकाश मे स्थित अपने को देखे।

इसी प्रकार फिर भ्रूमध्य वापिस अपनी दृष्टि को लाकर वहा प्रकाश को देखे। वहाँ वह प्रकाश अरुण वर्ण उगता प्रतीत होगा, उसका विस्तार होगा। और वही फिर और गगन मे चढ़ कर श्वेत सूर्य या चन्द्र सदृश भासने लगेगा। यह आज्ञा पद्म का चन्द्रमा चित्त का ही रूप है, यह एकाग्र चित्त है। इस एकाग्र चित्त को अब थोडा और ऊपर व गहन निर्विकल्प रखते-रखते इसे निरुद्ध चित्त बना ले।

यदि दृष्टि मे प्रकाश न खुले तो प्राण-अपान पर जब आपने दृष्टि स्थिर करके उसके आने या जाने को निरन्तर देखने का जो अभ्यास किया था, उसी पर फिर कुछ समय लौट आए, और निरतर प्राण-अपान को आता जाता देखे। अब इस आवागमन के साथ सोह ध्वनि की योजना कर दीजिये और सोह नाद को मात्र सुनते रहे,—तथा नाद से भी वृत्ति हटाकर उस अनाहत नाद को चन्द्रमा सा ध्यान करे। इस ध्यान को अब भ्रूमध्य (आज्ञा पद्म) पर ले आए। अनाहत के स्वरूप को हम ऊपर वर्णित कर चुके है। निरुद्ध चित्त उन्मनी ध्यान के योग्य होता है—और यही सहस्रदल पर ले जायेगा जहाँ आपको यह चित्त जिनेश्वर रूप मे प्रतिष्ठित हुआ अवलोकित होगा। इस चित्त-दर्शन छबि मे तन्मयता और अभेद होने पर वही आत्म ध्यान का रहस्य स्वत खुल जायेगा।

(८) वर्ण तथा चक्र प्रेक्षा

प्राण देह पर एक बार फिर आए। अब प्राण देह के भीतर चले। आप नाभि मे ररकार रूप रक्त वर्ण अग्नि मण्डल का ध्यान करे। फिर कुछ काल अभ्यास के बाद हृदय पर आ जाए। वहा आप भीतर हरित् वर्ण या या पीत वर्ण का ध्यान करें। हरित् हरा भी है और वही हरिद्रा रूप पीत भी है। इसके अनन्तर भ्रूमध्य फिर अरुण वर्ण प्रकाश का ध्यान करे। इसके अनन्तर ललाट के बीच भाग पर श्वेत वर्ण का ध्यान करे। इस श्वेत वर्ण प्रकाश का पूरे ललाट पर विस्तार करके और ऊपर ब्रह्माड के ज्योतिषमण्डल का, महा प्रकाशमय सहस कमल का ध्यान करे। इन उर्ध्व चक्रो की प्रेक्षा से उन-उन स्थानो की ग्रन्थि-रसो का विषमरूप परिणाम होना बन्द हो जाता है। रसो की विषम प्रकृति बदल जाने से साधक का आचरण, व्यवहार तथा चेतना सब ही बदल जाते है। चेतना का इससे स्वत उर्ध्वीकरण होता है और अति श्रेष्ठतर ऊर्जा प्राप्त होती है।

अर्हत्—विज्ञान मे मात्र रग का ही ध्यान विहित नही किया गया है। हम ऊपर देख आये है कि सप्त सर्वज्ञ मण्डलो मे ह्री का वर्ण तथा अवर्ण मय ध्यान भी होता है जो ऋषिमण्डल स्तोत्र मे कहा

गया है। अत॰ ज्यादा अच्छा है आप विभिन्न चक्र मध्म विभिन्न वर्ण-प्रभा सहित ह्री को, ओ को, या हँ को या अर्हं को ही ध्यान मे ध्याये। इन्हे विभिन्न चक्र-स्थानो पर स्थापित करिए। रक्त तेजो मय ध्यान से सानन्द भाव का निर्झर फूटने लगता है। पीत वर्ण ध्यान से शान्ति तथा पद्म वर्ण ध्यान से निर्मलता और वीतरागता प्रकट होने लगेगी। शुक्ल वर्ण ध्यान से शुक्ल-आत्म ध्यान का आरम्भ होता है। उसे स्फटिक सन्निभ अवर्णमय ध्यान तक तक ले जाना चाहिए। चक्र स्थानो पर इन्हे विराजमान करके प्रकाशमय,—प्रभामय स्वरूप मे ध्यान करना चाहिए। फिर महा कमल सहस्त्रार पर आकर अर्हंत् परमेष्ठी का शुभ्र तथा अचल ध्यान करना चाहिए। चैतन्य चक्र (केन्द्र) प्रेक्षा अध्यात्म विकास का अत्यन्त महत्वपूर्ण अभ्यास है। इनसे साधना मे नये आयाम खुलते हैं और साथ ही अत स्त्रावी ग्रन्थि रसो को ये अमृतमयी कर देते है। तब नई स्फूर्ति आनन्द और उल्लास प्रकट होता हैं।

(६) परमेष्ठी पुरूषाकार प्रेक्षा

हम ऊपर समझ आए हैं कि अर्हं मन्त्राक्षर की भावना तथा ध्वनि मस्तक मे तरग रूप मे विस्तार पाती है। इन तरगो को आप दुग्धोज्ज्वल अमृत-तरगो के समान देखे और भावना करे कि अन्तरात्मा इन दुग्धोज्ज्वल तरगो मे आप्लावित हो रहा है और स्वय दुग्ध वर्ण शुक्ल हो गया है। यह शुक्ल वर्ण प्रकाश मय चित्त ही कण्ठ से सहस्त्रार के कमल पर महा विन्दु रूप मे आसीन लक्षित होता है। इस ज्योति विन्दु को दृष्टि से वेध करके इसके मध्य परमेष्ठी पुरुषाकार को विराजमान करके ध्यान करे। येही सोह, "क" यानी आनन्द रूप का गुप्त रहस्य है। यह स्वरूप ही अनन्त चतुष्टय रूप भावित होना चाहिए। यह नाद, ज्योति का वाच्य है। इस ध्यान का अराधन सहज कु भक मे करना चाहिए। इस ध्यान से सूक्ष्म का वेध होकर कारण महाकारण लोको मे चले जाते है।

हम चक्र ध्यान मे भी सहस्त्रार पर पहुचते है। यहा हम नाद के आश्रय पहुचे है। शब्द से प्रकाश होता है। वह प्रकाश होता है नाद रूप, और नाद ही ज्योति रूप और ज्योति चन्द्र या सूर्य रूप भारसता है। वह पूर्ण चन्द्र या सूर्य ही महा कमल पर ध्यान किया जाता है।

इस महा कमल के मध्य ही अर्हंत् परमेष्ठी का ध्यान करिए। वस्तुत मानव का हृदय यह महाकमल--सहसदल कमल ही है। यहा ही अपने मन्त्र का ध्यान, अपने इष्ट का ध्यान, प्रकाश रूप मे ध्वनि रूप मे और पुरुषाकार देह रूप होता है। मन्त्र चाहे ओम् हो, ह्री हो, अर्ह हो या ह हो किसी भी मन्त्र का आराधन हो—चन्द्रमा के समान गौर वर्ण या सूर्य समान भास्वर ही ध्यान करना चाहिए। यह स्वय साधक का ही स्वरूप है।

यह गौर वर्ण चन्द्र ही पूर्ण चन्द्र है। यही निर्माण कला वाला पूर्ण चन्द्र है जिसका हम ऊपर निर्देश कर चुके हैं।

जो व्यक्ति कायोत्सर्ग मे स्थित स्थान होकर इस ध्यान तक आ पहुचता है वह ज्ञान-समुद्र मुनि के ही समान हो जाता है और आ० शुभचन्द्र ने यह आर्शीवादात्मक वचन कहे है—

निर्णीते स्व स्वरूपे स्फुरति जगदिद यस्य शून्यं जडं वा ।
तस्य श्रीबोधवार्धेर्दिशतु तव शिवं पादपकेरुहश्री ।।[1]

जिसको स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन होकर निर्णीत हो जाता है, निश्चय हो जाता है, उसके लिए यह जगत् जडवत् या शून्यवत् है, क्योकि वह एक अन्य उत्कृष्ट परम ज्योति मे ही जाग जाता है और उसकी तुलना मे जगत् का आलोक मी अधकार वत् भासने लगता है, ऐसे ज्ञान समुद्र मुनि के चरण कमल की लक्ष्मी (शोभा) तुमको मोक्ष पद प्रदान करे। इस आशीर्वाद पद के साथ आचार्य ने सूचित किया है, कि हे साधक ! यहा तक आने पर अव तुम न केवल मोक्ष के ही निकट आ गये हो। तुम तो ज्ञान के सागर मुनि के ही समान हो और तुम्हारे चरण-कमल की शोभा का ध्यान भी लोगो को मोक्ष पद प्रदान करने वाला है।

सुविज्ञ पाठक ! देखो कि इस पूर्ण चन्द्र विन्दु और अर्हत् परमेष्ठि स्वरूप आराधना पर आकर साक्षात् निर्मल स्वरूप, निर्मल आत्मा के ही निकट आ जाते है। पर अभी सर्व कर्म कलक-मुक्त भी नही हुए है। अब आगे की आराधना काया, मन वचन को निरोध मे रखते हुए स्वय परमेष्ठी रूप आत्मा की ही आराधना होगी। यह आराधना उन्मनी मन की, उत् स्वरूप मे स्थिर हुए चित्त के द्वारा सम्पादित होगी। यह उत्स्वरूप चित्त तब निर्मित होगा जब दृष्टि सामने से हटकर स्वय आप अपने अकेले "मै" पर निर्विकल्प स्थित होकर सदा काल के लिए स्थिर रह जायेगी और अपने पूर्ण स्वरूप के परमानन्द का आस्वादन करके तृप्त हो जायेगी और बाहर-भीतर या ऊपर नीचे ऐसा भी भेद समाप्त हो जायेगा। अखण्ड स्वरूप ही हो जायेगे तो यही केवल दर्शन और केवल ज्ञान की साधना है। यह निर्विकल्प निर्विकार साधना है। यह सर्व-विकल्प शोधक होने से राग, द्वेष मुक्त वीतराग आत्मा की साधना है।

संवर का मार्ग : सविकल्प से निर्विकल्प की ओर

कायोत्सर्ग (काया प्रेक्षा) चित्त-प्रेक्षा चक्र-प्रेक्षा आदि से काया, इन्द्रिय, वचन, (वाचा) मन सव का सवर होता है। उनके रागात्मक-प्रिय-अप्रिय रूप विकल्प रुकते हैं। उनके प्रकम्पन रुकते है। अन आस्रव रुकते है। और बन्ध की निवृत्ति होती है। यह सब क्रिया सवर रूप है। इसमे अशुभ की निवृत्ति होती है—यानी शारीरिक मानसिक और आध्यात्मिक तनावों की, ग्रन्थियो की, कठिनाइयो की निवृत्ति होती है, पदार्थ और वस्तुओ का राग टूटता है—दृष्टि निस्पृह और असग होती है और निर्लिप्त होकर शुद्ध रहती है। इस दृष्टा दृष्टि मे कोई प्रतिक्रिया नही होती, मात्र तटस्थ होकर

1—ज्ञाना० ५/२७ का उत्तर भाग

देखना ही रहना है । दृष्टि के सामने किसी भी अन्य क्षोभ विक्षोभ या विकल्प-सकल्प को नही आने देना चाहिए । आए भी तो उनका साथ न देकर, मात्र देखे, तब वह स्वत शान्त हो जाएगा । यह क्रिया दर्शन और ज्ञान को खोलती है, दर्शन और ज्ञान रूप आत्मा है, अत. यह आत्म-समाधि रूप है । इसमे प्रथम पूर्ण चन्द्र के आविर्भाव तक तथा परमेष्ठी के रूपमय ध्यान तक सविकल्प समाधि है । यह सविकल्प समाधि असख्यात विकल्पो को निर्जरित करके तथा करती हुई होती है अत' यही पराकाष्ठा मे निर्विकल्पता मे भी जाती है । दिशा एक ही है, चिंतन रह कर भी निश्चिंतन की तरफ प्रयाण है । चिंतन को भी जब प्रेक्षक वत् देखने लगते है तो निर्विचारना मे चरण बढते हैं । श्वास हीन निश्चय सविकल्प समाधि के बिना कोई भी साधक निर्विकल्प आत्मोपलब्धि के प्रथम चरण मे प्रवेश नही कर सकता । साधक केवल श्वास हीन अवस्था मे ही पहली बार अपने स्वरूप को जान पाता है । देह और आत्मा के मध्य श्वास एक सूक्ष्म कडी है । जब आपकी दृष्टि अन्तर्मुख होती है, नेत्र मृदु और निश्चय हो जाते है और एक दीर्घ निश्वास के बाद श्वास हीन आनन्द समाधि मे जाते हैं तो आप अकेले-केवल मात्र होने की तरफ ही गति कर रहे होते है । इसके अलावा सूक्ष्म प्राण तथा चक्र प्रेक्षा से सुख-दु ख रूप सवेदनाओ से निवृत्ति होती है । चक्रो के स्थान वे ही है—जहा अन्त स्रावी ग्रन्थिया (Endocrine galnds) है—अत चक्रो के ध्यान से अन्त स्रावी सूक्ष्म ग्रन्थियो की सक्रियता तथा शुद्धता होती है और उनके रस देह के लिए ही अमृत स्वरूप ही होते है, वे मन व चित्त को भी अमृत रूप कर देते हैं । कषाय तथा मोह के भाव क्षीण हो जाते है, स्वभाव परिवर्तन होने लगता है । वृत्तिया बदल जाती है । वृत्तियो पर उद्वेगात्मक, आवेशात्मक, आक्रमणात्मक तथा द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियो पर प्रतिक्रियाओ तथा सवेदनाओ पर साधक के प्रेक्षा ध्यान मे समग्र रहने से, नियन्त्रण होता है, और प्रशात सकल्प का, अनुद्वेगात्मक परिणाम-शीलता का आविर्भाव होने लगता है ।

चेतना का रूपांतरण तथा उर्ध्वीकरण एव आभामण्डल

स्वय चेतना भी इस क्रिया कलाप मे रूपातरित होती है । वह राग विमुक्त होकर उर्ध्व ब्रह्माड (मस्तक) के विराट् गगन मे विहार करती है और विस्तार पाकर परम उज्ज्वल हो जाती है, अबाध हो जाती है । चेतना का इस प्रकार उर्ध्वीकरण अत्यन्त महत्त्वशील ही होता है । ऐसी उर्ध्व गतिशील चेतना परम स्वरूप परमात्मा की आराधना करने वाली है । चेतना की विभाव धारा ही लेश्या है । कृष्ण, नील और कापोत-तीनो लेश्याए बदलती है । जब आज्ञा पद्म स्थान पर चेतना का विस्तार होता है, तब तेज, पद्म और शुक्ल लेश्याए जो उच्चत्तर जीवन को उद्घाटित करने वाली है, अवतरित होती है ।

ध्यान मे चन्द्र या सूर्य सम प्रखर प्रकाशमान स्व आत्मा वस्तु का ललाट पर ध्यान होता है । इस प्रकाशमान आत्म चन्द्र या सूर्य के प्रकाश को विस्तृत करना चाहिए तथा सर्व तरफ निर्झरित होता भी ध्यान तथा अनुभव करना चाहिए । इस प्रकाश को धारा-प्रवाह रूप मे प्रवाहित होता ध्यान किया जाता है । इसे अपने सम्पूर्ण स्थूल शरीर पर ही नही, भीतर सूक्ष्म प्राण शरीर पर भी और उसके

भीतर चक्रो तथा कमलो पर भी बरसती अनुभव करे। वह धारा रूप मे ऊपर से नीचे, नीचे से ऊपर, व कभी बाये से दाये तथा तथा दाये से बाये तथा सामने से पीछे तथा पीछे से सामने—तथा सम्पूर्ण ही तीनो शरीरो को आप्लवित करती हुई व अनुप्रविष्ट हुई प्रवाहित हो रही है, ऐसा देखना तथा अनुभव करना चाहिए। यह प्रकाश की धारा फिर भीतर बाहर सर्वदा वर्तमान रहती है तथा ये ही विशेष कर मुख मण्डल की आभा के रूप मे, आभामण्डल के रूप मे तथा सम्पूर्ण शरीर को ही व्याप्त तथा आवृत्त करके, घेरा बनाकर विद्यमान हो जाती है। प्रकाश के प्रभा मण्डल तथा आभा मण्डल का निर्माण वीतरागता के पूर्ण विकास की सूचना है और ऐसा पुरुष पूर्ण अहिंसक, महा करुणा मय, सम-दृष्टि, समता का सागर प्रभु रूप हो जाता है। यह सुख-दु ख से अतीत होता है। इसे कर्म विपाक बाधित नही करते। इसने उस सूत्र का जिसके आश्रय तथा निमित्त से कर्म-आस्रव होता है कर्म उदय होता है और कर्म-विपाक होकर सुख दु ख के भावो को देता है अभाव कर दिया है। कर्म-विपाक देह ग्रन्थि-रसो का तथा मन के अध्यवसायो का, कषाय, मोह, प्रमाद, आहार, भय, मैथुन, रति (राग) अरति (द्वेष) का निमित्त (आश्रय) लेकर अपना रस प्रकट करता है, मगर इस पुरुष ने तो ग्रन्थियो पर, चक्रो पर सुख-दु ख के भावो पर मोह कषाय राग द्वेषादि द्वन्द्वात्मक तथा उद्वेग कारक भावो पर ध्यान द्वारा विजय प्राप्त करली है। इसने एकाग्रता पर विजय की है, इसने अपने श्वास को सम, शात कर स्वाधीन किया है। इसने चित्त चचलता के द्वार श्वास तथा कर्म विपाक दोनो पर तथा इन्द्रिय विषयो पर विजय की है। इसकी विजय जितेन्द्रियता रूप ही नही, जित-मोह रूप भी हो जाती है। देह प्राण (श्वास), वाणी और मन को इसने जीत लिया है। इसका मन जागरुक है, अप्रमत्त, आत्म स्मृति व ज्ञान से भरित है। चित्त अत्यन्त रूप से निर्मल होकर चिद् रूप हो गया है सारे आवेश व उद्वेग नष्ट हो गये है। इसके प्राण का प्रवाह निर्मल, अबाधित है, वे शरीरगत व सुषुम्णागत रहते है और समुद्-घात मे देहातीत भी होते है, सम्पूर्ण विश्व-व्याप्त भी होते है। अत वह सर्व विश्व का ज्ञाता दृष्टा भी है। प्राण सतुलित तथा निगृहीत रहने से यह राग रहित शात और स्वस्थ होता है। इसके चैतन्य चक्रो के केन्द्र प्रकाशमान हो गये है। अत ज्ञान चेतना भी अबाधित रहती है, कोई आवरण अब नही है। तैजस् देह से ही नही-कार्मण देह से भी यह उत्क्रमित होता है, उसके पाशो को छिन्न कर देता है। इसके लिये तीनो देह फिर मात्र एक खोल ही रह जाती है। इसके चैतन्य प्रदेश पुरुषाकार रूप मे स्थित रहे या उत्क्रमित रहे इसमे कोई बाधा नही रहती। इसका स्व तथा पर का स्वरूप–ज्ञान अबाधित उल्लसित रहता है। तथा स्व–स्वरूप ज्ञान,—केवल ज्ञान मे यही अवस्थित रहता है।

विभिन्न प्रेक्षाओं, अन्तर दर्शनो में दृष्टा का, ज्ञायक का विकास, निर्मलता का विकास

साधक इन ध्यान-क्रमो मे शरीर प्रेक्षा मे शरीर-कपनो का अनुभव करके, प्राण प्रेक्षा में श्वास तथा प्राणो के प्रकम्पनो का अनुभव करके, तथा चित्त प्रेक्षा मे वेदना के सुख-दु ख प्रकम्पनो का निर्पेक्ष भाव से बोध करके इन सब से अतिक्रात होता है। उसे अपने विचारो के दर्शन से निर्विचारता होती है। चैतन्य प्राण-प्रवाह का, आभा मण्डल का आविर्भाव होता है। प्राण पु ज का दर्शन तैजस् शरीर का ही

दर्शन है—कुण्डलिनी का सूर्य सम प्रभा मय प्रकाश-विकास है । दु ख के उपादान का दर्शन करके वह कर्म विपाक से विमुक्त होता है । दु ख के कारण अध्यवसायादि हैं । साधक ने कर्म विपाक की अभि-व्यक्ति के जो केन्द्र है, शरीरगत जो ग्रन्थि तथा चैतन्य केन्द्र है उन्हे सक्रिय तथा निर्मल करके, उनके प्रकम्पनो को, दु ख-अभिव्यक्तिओ को रोका ही नही, उन्हे दु ख या सुख अभिव्यक्ति करने की दिशा से विमुख करके स्वय आप अपनी ओर मोड लिया है । उसके सचित पूर्व कर्म मन के विषय भाव तथा ग्रन्थियो के विषम के विपय रसपरिपाक रूप कोई भी आश्रय या निमित्त न पाकर स्वत बिना प्रति क्रिया किये अविपाकी रूप निर्जरित हो जाते है । ज्ञानाग्नि प्रज्वलित रहकर सर्व उपार्जित कर्म-शृंखला की अविपाकी निर्जरा कर देती है । वह उन्हे समूल जला देती है । दुःख के मूल (हेतु) शरीर मे ही है, अतः साधक अन्तः यात्रा करता, शरीर, इन्द्रिय, प्राण, मन, चित्त, के पाशो मे विमुक्त होकर कर्म-विमुक्ति को भी घटित कर लेता है । देह मे रह कर इस प्रकार आत्म भावो को देखते-देखते ऐसे निर्मल भावो का उदय होता है, जो अत्यन्त निर्मल होते है, सम होते है और पूर्व मे कभी वैसे नही हुए तब यही अपूर्व करण की स्थिति होती है । इसी मे कर्मों के प्रदेशो का घात होता-होता, वैराग्य बढता-बढता राग कटता कटता क्षीण-राग होता है । वीतराग सयोगी जिन अवस्था होती है । सर्वज्ञता तथा समता का उदय होता है । साधक सिद्ध सम हो जाता है । साधक भाव तक ही रागमय अह रहता है । अत्र इस सिद्ध दशा मे अह भी पूर्णोह होकर विराट् निर्मल और सम हो जाता है, पूर्णता पच जाती है । अनुप्रेक्षाओ की चिन्तना को साधक दशा के लिए, इस अह को विगलित करने के लिए माता के समान कल्याण-दायिनी अमृत-दायिनी कहा गया है । साधना व ध्यान मे उग्र गर्मी या सर्दी का अनुभव हो सकता है, अन्य अनुताप के उदय हो सकते हैं, कर्म प्रत्ययो का उभार (उदय) होकर मन को व शरीर को मलीन कर सकते है । साधक तब सब पदार्थों को घटनाओ को, तटस्थ प्रेक्षक की उदासीन वृत्ति से ही देखता, न कि सवेदनात्मक प्रिय-अप्रिय भाव से देखता, ज्ञान मात्र अवस्था मे स्व-आत्म लीन ही रह कर साधक दशा को परिपक्व करके सिद्ध दशा मे उत्कर्ष करता है । तेजो-लेश्या मय देह के प्रकम्पनो के अनन्तर पीत तथा पद्म लेश्या फिर शुक्ल लेश्या और तदनन्तर अवर्ण लेश्या मय अप्राकृत निज चिन्मय देह का आविर्भाव होता है जो चार अघातिया कर्म से विमुक्त होती है । यह देह ही अर्हत्-देह होती है । यह ही चैतन्य आत्मा पुरुषाकार स्वय है । उस सयोगि जिन सिद्ध पुरुष के मुख पर (Halo) प्रकट होता है । उसके चारो तरफ एक आभामण्डल का घेरा होता है जो उसके विशुद्धतम भाव धारा का प्रतीक होता है । साधक की भाव धारा जैसे जैसे निर्मल होती है, उसका आभा मण्डल तैजस् से पीत, पद्म, शुक्ल होकर निर्मल जल सा रग-विहीन अत्यन्त प्रखर (Transparent) हो जाता है । वह सर्व वेधक सर्व शक्तिमान प्रकाश रूप होता है । तब सिद्ध हुआ आत्मा अमर अच्छेद्य अभेद्य और अखड हो जाता है, भावातीत हो जाता है । सिद्ध योगीजन दूसरे व्यक्ति के आभा मण्डल को पढ कर उसके चरित्र को पढ लेते है । सिद्ध योगी जन सक्रमणशील प्रकपन-शील विश्व मे रह कर भी इससे अस्पृष्ट हो जाते हैं । तब ही आत्मा का अस्पृष्ट अद्वैत स्वरूप समझ मे आता है और उस स्वरूप की अवस्थिति होती है । वस्तुत ऐसी सब आध्यात्मिक-निधिया तथा गुण-एकाग्रता तन्मय अहिंसक उन्मनी दशा मे ही प्राप्त होती है । सम्यक् चारित्र रूप आत्म-स्थिरता ऐसे

ही सधती है। ऐसी साधना ही उच्च सयम चारित्र की साधना है। यही स्वरूप चारित्र की स्थिरता है, आत्म का आत्मा मे देखना, ज्ञान करना और स्थिर होना। निर्विचारता मे—उन्मनी मे ही अत्यन्त गहरी आत्म-लीनता आती है। तब वह सिद्ध साधक ऐसा निर्मल हो जाता है कि सर्व प्राणियो के सवेदनो को, भावो को भी जान सकता है। उनसे तादात्म्य प्राप्त कर सकता है, और उनकी दुःख-मुक्ति भी कर सकता है। और वह दुःख-मुक्ति उसके अनिच्छुक पणे ही, स्वतः प्राणियो को प्राप्त होती है। उसके मन प्राण चित्त के प्रकम्पन इतने शुद्ध रहते हैं कि जो निकट आता है उसके अमृत मय प्रभाव को अनुभव करता है। सबको उसके प्रति आकर्षण होता है। सारी परिस्थितियाँ व वातावरण भी उसके लिए बदल जाते हैं। वह ससार के सब आश्चर्य, सर्व सम्पदा के राग से तथा सर्व सकल्प विकल्प तनावो आदि से शून्य रह कर आप ही अपने मे पूरा भरा है—उसका आत्म-पात्र पर-पदार्थ या भाव से भरा नहीं है। वह स्वरस से ही लबालब भरा रहता है। कर्म विपाक उसे नही रहते उसने सर्व पाशो को छिन्न कर दिया है। सर्व घाती कर्म नष्ट हो गए है—अघाती कर्मो को क्षय करके अशरीरी मुक्ति की तैयारी है।

साधना का रूप है चित् कला का अन्तर्शोधन, विचार विचय से निर्विचार उन्मनी,—ज्ञान मात्र अवस्था भूमि

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि साधना विचार (विचय) ध्यान से आरम्भ होकर अथवा प्रेक्षा से आरम्भ होकर निर्विचार ज्ञान मात्र भूमि पर आरोहण करती है। विचार (विचय) का उल्लास पूर्णचन्द्र बिन्दु का उल्लास है। तदनन्तर ही उन्मनी की भूमि निर्विचार मे आती है। विचय व प्रेक्षा दोनो ही भूमि शुक्ल ध्यान को स्पष्ट करती है। यहा प्रेक्षा रूप अन्तर्शोधन की विशेष चर्चा है।

"ध्यानाध्ययन"—गाथा १०–१८ मे शुक्ल ध्यान के परिचायक—(१) अवधा (२) असम्मोह (३) विवेक और (४) व्युत्सर्ग, चार हेतु बताये है। अवधा उपसर्ग तथा परिषहो से विचलित न होना है। असम्मोह-सूक्ष्म वस्तु तथा देव निर्मित आश्चर्यों, विषयो मे विमूढ न हो जाना है। विवेक तथा व्युत्सर्ग को इस प्रकार कहा गया है—

देह विवित्तं पेच्छइ अप्पाणं, तहय सव्व संजोगे।
देहोवहि सग्गं निस्संगो सव्वहा कुणई ॥९२॥

अर्थात्—(१) देह विविक्त (विवर्जित) आत्मा को तथा सर्व सयोगो (मन, वचन, काया, प्राण, इन्द्रियाँ आदि आधारो) को मात्र देखना विवेक है।

(२) देह–उपाधि का नि.सग होकर सर्वथा परित्याग करना व्युत्सर्ग है।

इस वर्णन मे—"पेच्छइ" शब्द प्रेक्षा रूप दर्शन क्रिया को सकेतित करता है। देह-उपाधि

का कायोत्सर्ग मे त्याग तथा मन वचन काया के प्रकम्पनो को मात्र देखना, विना प्रतिक्रिया मात्र देखना आदि अभ्यास शुक्ल ध्यान के ही हेतु है, यह इस गाथा के विवेक तथा व्युत्सर्ग लिंगो के स्पष्टीकरण से निर्णीत होता है। अतः दर्शन मे राग रहित रहने के अभ्यास शुक्ल ध्यान मे ही ले जाने वाले है।

विचय रूप ध्यान अन्तिम परिणति मे निर्विचार भूमि मे ले जाते है, यानी शुद्धोपयोगी शुक्ल ध्यान मे ले जाते है। पूर्णचन्द्र विन्दु का उल्लास विचय रूप मे भी है, और वह आत्म-चन्द्र विन्दु का ही पूर्व रूप हे। यह पूर्ण चन्द्र शक्ति समन्वित होने से अति शक्ति धर है। और यह निर्माण कलाओ का पूर्णचन्द्र है। यही पूर्णचन्द्र उन्मनी मे अव अपनी विचार और भाव कलाओ का निरोध करके—निर्जरा करता एक-एक कला का क्षय करता शुद्धात्म रूप मे परिणत होता है। सव सस्कार भी कट जाते है और स्वस्वभाव उल्लसित हो जाता है। चित्त आत्मा की ही विभावी परिणति या—आत्मा की ही विभावी कला है। यह अव सम्पूर्णतः चित्कला रूप होकर चिद्रूप हो जाता है। निर्माण कला युक्त चित्त ही निर्वाण कला को प्रकट करता आत्मा से अभिन्न होता होता चिद्मात्र स्वभाव को प्राप्त होकर शुद्ध ज्ञायक हो जाता है। चित्त पर्याय रूप शक्ति-अभिव्यक्ति मे अब स्वय शुद्ध शक्ति-गुण की गुणवत्ता रूप है, शक्ति और व्यक्ति का यहा गुण-भेद समाप्त हो गया है। द्रव्य और भाव रूप निर्मलता की यही परिणति है—अर्थात् यहा कर्मावरण रूप द्रव्य जो प्रकृति, स्थिति अनुभाग और प्रदेश रूप वध था उसमे से घातिया कर्मो की निर्जरा, चित्त की भाव-निर्जरा के साथ ही घटित होती जाती है। ज्यो ज्यो चित्त निर्मल होता जाता है निर्जरा असख्यात गुणी क्रमश वढती ही जाती है। ध्यान के द्वारा यह निर्जरा अविपाक निर्जरा है। कर्म प्रत्ययो को चित्त-सत्ता मे से विपाक देने के योग्य काल से पूर्व ही ध्यानी वाहर लाकर निर्जरित करता जाता है यही ध्यानी का ध्यान मे अन्तर्शोधन करना व निर्जरा करना है। वह एकगहन शक्ति-कला का ही व्यापार है, जो ध्यान मे ही शक्ति प्रवद्ध ध्याता को लिये सम्भव होता है।

ध्यान की पांच अवस्थाए

जैन योग मे (१) सम्यग्दर्शन, (२) प्रमत्त दशा, (३) अप्रमत दशा, (४) क्षीण मोह व क्षीण कषाय, (५) सयोगी जिन इन पाच भावमय ध्यम दशाओ के आविर्भाव पूर्वक पूर्णत्व की निष्पन्नता स्वीकार की है। ये गुण स्थान दशाए ध्यान के आरम्भ से लेकर ध्यान के पूर्णत्व की ही उत्तरोत्तर चढती निर्मल भाव दशाएँ है। इनमे कषाय व मोह के अश कटते जाते है और अनत गुणी कर्म निर्जरा घटित होती है। सयोगी जिन अवस्था के बाद तो फिर अयोगि-जिन अवस्था ही रहती हे जिसमे सूक्ष्म काया के योग (परिस्पदन) भी रोक कर अशरीरी सिद्ध हो जाते है।

ध्यान की अन्य प्रकार से सप्त अवस्थाए

ध्यान की इन पाच अवस्थाओ को ही अन्य प्रकार से सात भूमियो मे भी वर्गीकृत करके

वर्णित किया जा सकता है। इनमे सातवी भूमि सयोगी जिन अवस्था रूप ही होती है। और छ भूमिया ध्यानाभ्यास की व्यवहार भूमिया होती है—वस्तुत ध्यान मे साधक की अर्न्तदृष्टि की शक्ति और शुद्धात्मा के निर्मल भाव की धुन ही प्रमुख तत्त्व है। आज्ञा पद्म मे यानी ललाट पर तिलक या टीका लगाने के स्थान भ्रू कुटी मध्य नेत्रो को उलट कर अन्तर-नेत्र-दृष्टि को स्थापित करके अर्न्तनिरीक्षण करना ध्यान को प्रवृत्त करता है और इस निरीक्षण मे ही आत्मा का दर्शन-उपयोग ही प्रवृत्त होता है और इस निरीक्षण मे ही ध्यान की छ भूमिया अतिक्रात होकर सातवी भूमि मे पहुचते है।

दृष्टि की अन्तर गति मे ही स्वय आत्मा का दर्शन-ज्ञान उपयोग प्रवृत्त होता है और वही अपनी अशुद्ध भूमि को निराकृत करता क्रमश शुद्ध भूमि को प्राप्त होता है। अब तक उपयोग अशुभ व शुभ भूमियो मे ही प्रवृत्त रहने से अशुद्ध रहा है। अशुद्धता के ही कारण अन्तरदृष्टि मे अन्तर मे आरभ मे कुछ अवलोकित नही होता, और साधक अन्तर्मुख होने की इस चेष्टा मे घबडा कर वापिस ध्यान विमुख होने लगता है। अत साधक को धैर्य रख कर ही दृष्टि-स्थापन पूर्वक मात्र लक्ष करते-करते अथवा सोह साधन को साथ मे चलाकर, प्राण गति के साथ सोह या ओम् या अर्हं को युक्त करके मन और प्राण को सम व निश्चल करना चाहिए। मन व प्राण के निश्चल होते ही कुछ समान-अवस्था होने पर चित्त का तत्त्व खुलने लगता है और साधक को नाद व ज्योति का साक्षात्कार होता है। यह साक्षात्कार ही स्थूलता के लोक से सूक्ष्म लोक का प्रवेश द्वार है।

मानव जीवात्मा मानव देह मे अवगाहित है। यह देह स्थूल, सूक्ष्म कारण रूप से त्रय देह रूप है। स्थूल देह स्थूल पच भौतिक पुद्गल-प्रत्ययो से निर्मित है। सूक्ष्म देह सूक्ष्म पच तन्मात्राओ तथा कारण देह विचार रूप है और इसके अनन्तर महाकारण-भाव रूप है—और आत्मा इन सब से विलक्षण अनन्त गुणमय और चिद्रुप व भावातीत हे। ध्याता जब शुद्धात्मा का साक्षात्कार करने के उद्योग मे ध्यानावस्थित होता है तो ध्यान की गति जीवात्मा के ऊपर आये हुए सब आवरण-स्तरो का वेध करती है और उन सब का वेध होने के अनन्तर ही शुद्ध आत्मा के ज्ञानानन्द स्वरूप का रसास्वादन होता है।

कारण और महाकारण स्तर विचार व भाव लोक है—इनसे ही द्रव्य रूप मे सूक्ष्मतम का र्माण देह हे। सूक्ष्म स्तर का देह न्यूट्रानिक कणो से निर्मित प्रकाश (तैजस्) देह है। इस सूक्ष्म देह मे ही चित्त (भाव) पिड मे बधा मानव आत्मा पुरुप पुरुषाकार रूप मे विद्यमान है। इस चित्त-पिड को ही अन्तर या हृदय भी कहा जाता है। यह रक्ताभिसरण वाले हृदय मे भिन्न है और सारे सूक्ष्म व स्थूल देह को नियन्त्रण करने वाला है। मैं आत्मा हू, देह से भिन्न हू – इस प्रकार विना उन देह-स्तरो का अतिक्रमण किये और देहातीत विदेह भाव का अनुभवा किये यानी बिना घातिया कर्मो की निर्जरा किये कोई अपने को कहे या माने तो यह आत्मा-वचना ही है।

द्रव्यार्थिक नय से आत्मा शुद्ध तत्त्व व ज्ञायक तत्त्व ही है। पर पर्यायार्थिक नय से पर्याय

शुद्ध ज्ञायक नही है, राग और कषायो से भी उपरक्त है और कर्मोपाधि से बंधा है। इनके निमित्त से वह दुखी, चचल या जड व प्रमादी है, अज्ञानी है। यह आत्मा पर्याय भी विभावी है, विकारी चित्त रूप है, बहिरात्मा है। अपेक्षतया यदि निर्मल अन्तर्मुख है तो अन्तरात्मा है, पर यह परमात्मा रूप नही है।

वहिर्मुख चित्त ही ध्यानाभ्यास मे अन्तर्मुख किया जाता है और अन्तर्मुखता की ही यात्रा मे यह अन्तरात्मा ईश्वर रूप अनु-शास्ता परिणत होता है। स्थूल का वेध, सूक्ष्म का वेध और कारण-महाकारण रूप सूक्ष्मतम देह को वेध करने मे ही साधक अन्तरात्मा का उत्तम रूप-प्राप्त करता है। और तब वह अन्तरात्मा ही परम स्वरूप की आराधना करके परम स्वरूप मे स्थिरता का लाभ करके परम स्वरूप हो जाता है। अत वहिरात्मा स्वभाव को छोडकर अन्तरात्मा स्वभाव का ध्यानाभ्यास से आविर्भाव करके परमात्मा परिणमित होने का उद्योग करना होता है।

सप्त भूमिकाएं ध्यान अभ्यास की

(१) बहिरात्मा को यह अध्यास रहता है कि मैं तो देह मात्र हू, आत्मा कोई तत्त्व नही है। आत्मा परक दृष्टि लेकर ही अन्तर्मुखता की दिशा मे आना होता है। अन्तर मे उपयोग की एकाग्रता और वेधकता पर ही स्तरभेद निर्भर है। स्थूल स्तर का भेद ही प्रथम ध्यान-भूमि है।

(२) द्वितीय ध्यान भूमि अतर मे—भ्रूमध्य मे किंचित् ज्योति का आविर्भाव है जो स्थूल व सूक्ष्म स्तर का सधि स्थल है। स्थूल स्तर पर तो मन, प्राण इन्द्रिय सब ही स्थूल रहते है और साधक का भी भाव स्थूल ही रहता है, और उसे सूक्ष्म स्तर का कोई परिचय भी नही होता। अब ज्योति के आविर्भाव पर उसे सूक्ष्म मे प्रवेश का द्वार मिलता है। स्थूल स्तर पर तो साधक सदा ही स्थूल लोक मे जाग्रत ही है। दूसरी भूमि मे भी स्थूल का भान रहता है—यद्यपि वह सूक्ष्म को भी देखता है। ध्याता को इस स्तर पर यह प्रतीत होता है कि मानो वह स्थूल नेत्र, कर्ण आदि से ही सब कुछ देख व सुन रहा हो। इस अवस्था मे इन्द्रिय-स्तब्धता भी हो जाती है पर स्थूल का भान भी रहता है, और ध्याता साधक अपने सब व्यवहार उठना, बैठना, इच्छा-कामना आदि सब पूर्ववत् ही करता है। यद्यपि इसकी चेतना सूक्ष्म के परिचय से एक देश अन्त सज्ञ भी हुई है।

(३) तीसरी ध्यान भूमि मे उत्तीर्ण होते ही साधक को स्थूल स्तर का भान नही रहता, उसे पूर्णत सूक्ष्म मे प्रवेश हो जाता है। उसे अब स्थूल-इन्द्रियो की जागृति नही, सूक्ष्म अति-इन्द्रियो की जागृति होने लगती है। दिव्य पच तन्मात्रिक विषय, शब्द, रस, गध स्पर्श और रूप का क्रमश साक्षात्कार होता है और इनसे चेतना नये सस्कारो से सस्कारित होती है, अन्तर्मुखता गहन होने लगती है। चित्त की मलिनता भी कटने लगती है और सूक्ष्म लोक के आकाश मे गगन विहार होने लगता है।

आ० सोमदेव ने योग की इस अद्भुत अतीन्द्रिय शक्ति स्तर का वर्णन उपासकाध्ययन (७७७) मे दिया है। इस स्तर के योगी जन दूर वर्ती रूप रस, स्पर्श, गन्ध, और शब्द को ऐसे जान लेते है मानो समीप ही है। रूप रस, गंधादि ये पच तन्मात्राएं है, और इन बिषयो को ग्रहण कर लेना योगी के सूक्ष्म स्तर की प्रवेश की ही सूचना है। इस दशा मे योगी की स्थूल इन्द्रिया नही, सूक्ष्म इन्द्रिया कार्य-शील होती है। वस्तुत यह ऋद्धि तो क्षयोपशम के प्रबल हो जाने की सूचना है। इस ऋद्धि का कार्य होना तो यह भी बताता है कि योगी का स्थूल जगत् से अभी सम्बन्ध विद्यमान ही है।

ध्यान मे आगे बढने पर ही योगी को यह तीसरी ध्यान भूमि आती है। यह स्थूल व सूक्ष्म की सधि नही, साक्षात् सूक्ष्म जगत् मे ही स्थिति है। इसमे योग-शक्ति अधिक मात्रा मे स्पष्ट होती है, अपेक्षतया अतर जगत् मे स्थिरता का काल भी बढता है। पर यह भी अनात्म जगत् ही है। सूक्ष्म के लोक लोकान्तरो मे भी योगी का भ्रमण होता है। यहा से चित्त का औत्सुक्य भाव कम होता है, वह जानने लगता है कि मैंने इस जगत् मे जो जानने योग्य है सब जान लिया है। सूक्ष्म जगत् की विराट्ता और सौन्दर्य देखकर वह स्तम्भित भी होता है, विस्मय भी करता है और धीरे धीरे उनसे तृप्ति को प्राप्त होकर स्थूल जगत् से पूर्णतः वीतराग होता है। मन्त्र, नाद, ज्योति, वर्ण, वर्णमातृका, कला, नाना रूप जो अन्तर्जगत् मे देखता है उनसे वह अभिभूत हो जाता है और एक नये व्यक्तित्व का उसमे जन्म होता है। उसकी अन्तश्चेतना बहिरात्मा पने को त्याग करके अन्तर्मुखी अन्तरात्मा रूप परिणत होती है।

(४) इस तीसरी भूमिका को भी साधक ध्यान की और गहनता मे पार कर चौथी भूमि मे आ जाता है। यह चौथी भूमि मनो-जगत् मे प्रवेश का द्वार है। अभी ध्याता को चित्त का पूर्णत वेध नही हुआ है। यहा वासना मय चित्त की प्रबलता रहती है। अहकार भी जागृत हो सकता है। बहुत प्रलोभन रहता है। शक्ति जागी है। सावचेत और सावधान रहना होता है। यह भूमि ही दसवी गुण-स्थान भूमि है। अत साधक पर निर्भर है कि वह अपने दबे विकार, कषाय व मोह आदि के भावो को क्षीण करके आगे उन्नति करता है, अथवा उन्हे उपशात करके ही ध्यान मे आगे जाता है। पर यदि उपशात करके ही आगे गया तो दबे हुए मनो विकार कभी भी बाहर प्रकट होकर उसका पतन कर दे सकते है, और ऐसा ध्याता ग्यारहवी भूमि मे चढ कर भी वापिस मिथ्यात्व भूमि तक लौट सकता है। इस चौथी साधना भूमि तक प्रत्यावर्तन का मार्ग रहता है। यदि अब उसने अपने चित्त को कषायो से, मोह से पूर्णत शुद्ध कर लिया तो एकदम दसवे गुण स्थान से बारहवें गुणस्थान मे आरोहण कर कर लेगा।

(५) पाचवी ध्यान भूमि ही बारहवी गुण-स्थान भूमि है। यहा पहुचने पर फिर पतन की आशका नही रहता। चौथी भूमि तक की प्राप्त हुई शक्ति का साधक को सदुपयोग ही करना चाहिए तथा उसे अपने चित्त विकारो पर कडी नजर रखकर—उन्हे हृदय मे से ससार की, और ससार के

आश्चर्यों की नश्वरता, क्षणिकता और विश्व मे वर्तमान प्रत्येक वस्तु की निज योग्यता शक्ति की व्यवस्था और प्रत्येक वस्तु की स्वतन्त्रता आदि विचारो से निर्मल कर लेना चाहिए। निरन्तर द्वादश अनुप्रेक्षाओ भावनाओ आदि से भी चित्त की शुद्धि को आत्म–लक्ष एव ध्यानाभ्यास के द्वारा बढाना चाहिए। सूक्ष्म जगत् पर चौथी भूमिका मे अधिकार हो जाता है, तो पाचवी भूमि मे चित्त का (चित्त के भाव-लोक का) वेध होकर आत्म लोक मे प्रवेश ध्याता को हो जाता है।

(६) चित्त लोक के वेध व पवित्र होते ही वह सयोगी जिनेश्वर अवस्था की तेरहवी गुण-स्थान रूप भावातीत ध्यान की छठी भूमिका मे अवतीर्ण हो जाता है। पाचवी भूमि मे ही ध्याता यथाख्यात चारित्र का अनुष्ठान करता है। इसके पूर्व की चारित्र साधना जिसमे सामायिक, छेदोप स्थापना, सूक्ष्म सापराय, परिहार विशुद्धि है, चौथी भूमि मे अनुष्ठित होती है। छठी भूमि मे साधक अब साधक नही, स्वय सिद्ध और जगत् गुरु हो जाता है। जिस जिनेश्वर की स्फटिक मूर्ति का उसने भ्रूमध्य ध्यान किया था, और सम्यक्दर्शन रूप मे दर्शन किया था, उस रूप ही वह अपने को परिणमित कर लेता है। उस रूप-स्व-रूप मे अभिन्न ज्ञान स्वरूप स्थिर हो जाता है। यह मनोराज्य के वेध के अनन्तर अन्तर चेतना का अपूर्व परम परिणति मय परम ज्ञानोदय है।

साधना भूमियो का विवेचन

चौथी भूमि मे सिद्धिया तथा ऋद्धिया आ जाती है। ऐसे पुरुष विष्णु कुमार मुनि के सदृश सकट-प्राप्त जीवात्माओ का रक्षा विधान भी कर सकते है। ऐसे पुरुष अदृश्य या दृश्य रूप मे योग-पथ पर चलने वाले साधक जनो की सहायता भी करते रहते हैं। इस भूमि के साधक जीवन-लक्ष्य मे अपने चित्त को सर्वतोभाव से एकाग्र निरुद्ध और सम निश्चल रख कर, आत्म प्रभु की ही धुन रखते हुए गहन ध्यानावस्था मे उतर जाते है, तब स्वत पचम भूमि और फिर छठी मे अवतरण सम्भव होता है। चित्त मे रागाश रहते चौथी भूमि से आगे जा पाना सम्भव नही होता। कषायो के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान प्रकार तो तीसरी भूमि मे आते ही कट जाते हैं। यहा चौथी मे सज्वलन कषायो की भी निवृत्ति होती है। अहकार का सात्त्विक भाव भी नही होना चाहिए। तामसिक व राजसिक (चचल) भाव की तो बात ही क्या ?

तीसरी भूमि मे सत्त्व की, प्रकाश की बहुत प्रबलता रहती है। इसका वेध करके ही चौथी भाव भूमि मे चले जाते है। तथा भाव भूमि का भी अतिक्रमण करके भावातीत यानी विश्वोत्तीर्ण होने की भावना की जाती है। अभ्यास होना चाहिए कि मैं इस देह से अतीत सिद्धालय की सिद्ध भूमि मे वीत-राग भगवत् सिद्ध पमेश्वर के ही समान अवस्थित हूँ।

तीसरी भूमि मे रूप-ध्यान परिपक्व होकर "रूप" स्वय साधक मे उतर जाना चाहिए—और साधक का चौथी भूमि मे भाव देह निर्मित होकर स्थिर हो जाना चाहिए। पाचवी भूमि मे इसी भाव देह मे स्थिर रहते रहते भावातीत होकर छठी मूमिका मे जा पाते है।

चौथी भूमि मे यदि साधक मिथ्यात्व की तरफ लौटा है तो यह भाव देह खडित हो जाती है और भग्न हुई वस्तु को फिर आरभ से ही पुनर्निर्माण करना पड जाता है, युगो का किया हुआ तप-परिश्रम बेकार हो जाता है ।

वस्तुत कोई भाग्यशाली जीव ही परम गुरु की कृपा से इस चौथी भूमि को सुरक्षा से पार कर पाता है । पतन होता भी इसी लिए है कि जीव का चित्त-लोक निर्मल बने, दबी हुई ग्रन्थिया साधना मे अवरोध ही हैं । अतः उनका मलपाक होकर पके फोडो की तरह फूट निकलना भी श्रेयस्कर ही है, ताकि उसे फिर अवसर मिले कि वह अपने अन्तर व्यक्तित्व के निर्मल निर्माण को अकम्प क्षपक श्रेणी से ही करे । अन्तश्चेतना के विकार के क्षय पूर्वक निर्मल परिणत होना ही यथार्थ वीतरागता का मार्ग है ।

चौथी भूमि मे साधक की सूक्ष्म चेतना के साथ मन तादात्म्य करता है । अत ब्रह्म मे चिन्तन और भाव दोनो के ही उद्दामवेग स्थूल व सूक्ष्म जगत् के दृष्ट, श्रुत, और अनुभूत विषय चिन्तन के प्रवाह का योगी को नियन्त्रण होना आवश्यक हो जाता है । उस वेग से भी अधिक उसे अपनी एक भाव की अखंडता रखने हेतु अपने भाव-प्रवाहो पर भी निग्रह रखना होता है । यह निग्रह रख कर नितात सर्वथा और सर्वदा ही उसे अपनी चेतना को जागरुक व समान व शुद्ध रखना होगा । भाव जगत् ही अपना आतर भाग है, विचार लोक तो मात्र बाहर का ही कक्ष है । मन मनन करता है पर चित्त अनेक भावो के प्रवाह मे भी बहता है । यह सब नियन्त्रण होना चाहिए ।

साधक एक मुखी होकर आत्मा मे ही सलग्न रहे, ज्ञाता व दृष्टा ही रहे । मैं ज्ञायक ही हूँ— इस दृढ भाव मे वह स्थिर रहे तब यह चौथी भूमि पार होती है । सकल्प विकल्प मय भावो के पूर्णतः विवर्जन पर ही बोध मय उन्मनी तथा तन्मयी अवस्था का परिचय मिलता है, और उसी मे रहते रहते पाचवी भूमि पार होती है ।

पांचवी भूमि मे ही इस भूमि का मन व्यष्टि मन नही, विराट् विश्व रूप होकर ज्ञान-स्वरूप को प्राप्त होता है । सर्वज्ञ जिनेश्वर प्रभू से मन से नही, आत्म रूप से अपनी अभिन्नता की प्राप्ति करके ही छठी भूमि मे आना होता है । मन से देखते रहे—तो मन की क्रीडा रही । मन से अतीत होने पर ही जब हस मन परम हस आत्म प्रभु स्वय मे लीन हो जाये तब ही दर्शन भूमि से अतीत यानी मनोमय रूप का दर्शन न होकर स्वय साक्षात् भगवद् रूप हुआ जा सकता है ।

अभिन्नता का ज्ञान जागृत होने मे पर्याप्त समय लग जाता है, यही शुभ से शुद्ध का झोला है, वन्दक से वन्द्य भाव मे जाना होता है । यह बौद्धिक निर्णय रूप नही होता—अन्तश्चेतना स्वय ही परम से अभिन्न रूप जब परिणित होती है, तब ही वह अभिन्न-ज्ञान स्वत. ही प्राप्त होता है । मन का पर्दा हटने पर ही, मन का वेध होने पर ही यह कभी सभव होता है ।

चौथी व पाचवी भूमि मे मन जब पूर्णतः रागक्षीण हो जाता है, तब ही छठी भूमि में भगवद्दर्शन मे मात्र भगवद् दर्शन रूप न रह कर, स्वय भगवद् ही स्वय हुआ जाता है। चौथी व पाचवी भूमि मे ही रूपातीत ध्यान परिपक्व होता है। रूपातीत मे गुण भावना से भाव देह परिणत होती है और भावातीत सिद्ध देह की भूमि तैयार होती है। छठी भूमि का परिपाक यथाख्यात चारित्र के ही अनुष्ठान से होता है और इसी मे एकत्व-विचार-शुक्ल-ध्यान तथा आगे की ध्यान भूमिका आती है।

सामान्य साधक तो साधारणत प्रथम स्थूल भूमि से ही आगे नही जा पाते और यदि वे इससे भी निकल जाते हैं, तो सूक्ष्म मे या कारण (मनो भूमि) मे ही अटके रह जाते हैं।

अज्ञान को अविद्या रूप भी कहा गया है। अविद्या मे ही मल विक्षेप और आवरण होते है। मन की स्थूल मलिनता ही मल रूप है—जिसकी निवृत्ति पर ही अखड ज्योति-बोध रूप विन्दु का लाभ होता है। इसके अनन्तर जिस विद्या रूप आवरणो का निराकरण होता है, वह सात्त्विक प्रकाश रूप है। इसके भी ज्ञान मे सक्रमित हो जाने पर साधक जीवन्मुक्त हो जाता है। इस विवरण से यह प्रतीत होता है कि आवरणो की निवृत्ति भी घातीकर्मो की आवरण-निवृत्ति के ही तुल्य है, और विक्षेप-निवृत्ति अघाती कर्म-निवृत्ति रूप है। इस वर्णन मे भी साधना-भूमि आवरण-निवृत्ति तक ही मानी गई है। साख्य व योग दर्शन कैवल्य को पुरुप-आत्मा और प्रकृति के वियोग रूप मानता है। इस वियोग को सपन्न करके बुद्धि रूप प्रकृतितत्त्व का कार्य समाप्त हो जाता है और बुद्धि के लय पर पुरुप केवल रूप रह जाता है। इस मान्यता मे अत आत्मा को ज्ञान व गुण-ऐश्वर्य रूप परमैश्वरत्व की प्राप्ति नही होती। अत इस कैवल्य के वाद जीव अपनी लयावस्था से पुन' जागता है और मुक्त नही होता। जैन साधना मे ज्ञान तथा भाव की विशेष पर्याय अवस्थाओ के क्रमश उद्भव करते हुए सत्-सामान्य अवस्था मे विशेष ज्ञान पर्याये केवल ज्ञान रूप होती है और आत्मा परमैश्वर्य (अनन्त चतुष्टय) को प्राप्त हो जाता है। यही परम अवस्था होती है।

ध्यान की तीसरी भूमि मे सूक्ष्म जगत् पर अधिकार हो जाता है। इसका चौथी भूमि मे वेध होकर चित्त-भूमि मे प्रवेश होता है। चित्त भूमि के विचार-प्रवाह का वेग शात करके पाचवी भूमि मे आना होता है। तथा पाचवी भूमि मे भाव-प्रवाह का वेग शात होता है, और चित्त भूमिका का सर्वथा सक्रमण हो जाता है।

चौथी व पाचवी भूमि अत उच्चतम भूमि स्पर्श के लिए अति महत्त्वपूर्ण है। इस पाचवी भूमि मे चारित्र अग का यथार्थ अनुष्ठान होता है क्योकि उपयोग शुद्ध रहता है। यहा सभेद चारित्र का अनुष्ठान समाप्त होकर अभेद-चारित्र यानी अभेद रत्न त्रय का अनुष्ठान होता है, निर्विकल्प ही स्थिति रहने लगती है। निर्विकल्प का अर्थ ही वीतरागता है। यह वीतरागता व्यवहार भूमि को अतिक्रान्त करती प्रकट हुई है। छठी भूमि मे मात्र शुद्ध का ही स्व-सवेदन है, यथाख्यात चारित्र का सेवन है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि साधना भूमि का क्षेत्र कहा से आरम्भ होकर पर्यवसान होता है अर्थात् व्यवहार भूमि का क्षेत्र कहा से कहा तक रहता है और कहा निश्चय भूमि की यथार्थ प्राप्ति होती है।

आत्मा को उत्कृष्ट स्वरूप का लक्ष्य तथा ग्रहण क्यो ?

शुद्धाच्छुद्धमशुद्धं ध्यान्नाप्नोत्य शुद्धमेव स्वम्।
जनयत हेम्ना हेमं लोहाल्लोह नर' कटकम्॥

जैसे स्वर्ण से स्वर्ण-कडा और लोह से लोहे का कडा प्राप्त होता है, वैसे ही शुद्धभाव से जीवात्मा शुद्ध निर्मल स्वरूप को और अशुद्ध भाव से ध्यान करते हुए अशुद्धता को, विकारता को ही प्राप्त होता है।

इससे यही निर्णीत होता है कि शुद्ध भाव स्वरूप ही ध्याता का लक्ष्य होना चाहिए। इसके ही प्रकट होने पर शुद्धात्मा रूप जीव परिणमता है। इस जीवात्मा की अपनी ही अज्ञान और निर्बल भूमि के कारण उसे व्यवहार भूमि का, अशुद्ध-भूमि का ध्यान मे आश्रय रहता है। जब यह अशुद्ध-भूमि व्यवहार-अभ्यास से शनै शनै. शुद्ध हो जाती है तो ध्याता स्वत ही शुद्ध निश्चय भूमि मे उल्लसित हो जाता है।

साधनाभूमि आलोचना

साधना का मार्ग वस्तुत दोष पूर्ण नहीं, स्वय साधक ही दोष पूर्ण है, अशुद्ध एवं रागी है, अत उसका उपयोग अशुभ भूमि मे रहने से उस उपयोग को शुभ निमित्त व व्यवहार अभ्यास से अपेक्षतया निर्मल और सशक्त बनाते हुए अनात्म-तत्त्वो के आवरण स्तरो का वेध करते हुए आत्मा को स्व स्वरूप के लिए निर्मल करते हैं। व्यवहार अभ्यास मे भी दृष्टि तो साधक को शुद्ध आत्म तत्त्व की ही प्राप्ति की ही रखनी होती है। साधक ध्यान मे जैसे जैसे तन्मय परिणामी होता जाता है, निर्मल होता जाता है वैसे वैसे साधना भी प्रखर होती जाती है। साध्य साधक और साधना का एक बिन्दु पर एकत्व हो जाना ही सिद्धि का निर्देशक होता है।

साधक जब अपने मे वर्तमान अज्ञान स्वरूप से भेद-विज्ञान के लिए ग्रन्थियो का वेध करके स्वरूप के निकट होता है और उत्कर्ष काल मे ध्याता ध्यान और ध्येय रूप त्रिपुटी का वेध करके तन्मय होकर साध्य रूप मे अवस्थित होता है, तब ही निर्जरा करता हुआ परमात्मा दशा मे पहुचता है। साध्य का दर्शन या अनुभव ही वस्तुत' पर्याप्त नही होता। उस स्वरूप रूप ही उसकी अन्तश्चेतना को परिणमित भी होना होता है।

साधना की व्यवहार भूमिया अन्तश्चेतना को निर्मल से निर्मलतर की ओर क्रमश. ले जाती हुई निर्मलतम स्वरूप मे ले जाती हैं।

चौथी भूमि से ध्याता द्रष्टा तथा ज्ञायक भाव का ध्याता है और असग निर्लिप्त भाव की साधना करता है। राग, द्वेष, कषाय आदि के सूक्ष्म स्वरूपो की भी क्षपणा का उद्योग करता है।

पाचवी भूमि मे वीतरागता होकर आत्म ध्यान की स्थिरता स्थायित्व लाभ करती है। पाचवी व छठी भूमि ही अत यथार्थत स्वरूपाचरण है। यही स्वभाव-गति का प्रवाह आता है। पाचवी भूमि मे स्वभाव धारा को यत्न व उद्योग पूर्वक चलाते है, पर छठी भूमि मे अयत्न पूर्वक ही स्वभाव धारा रहती है। और सातवी भूमि तो जीवन्मुक्त की सिद्ध भूमि ही है जिसमे जीवात्मा स्व केन्द्रस्थ हो जाता है।

जिन जीवात्माओ से ससार के प्राणियो का हित साधन होना होता है, वे केन्द्रस्थ रहकर, केन्द्र स्थिति मे परिपक्व होकर स्थूल ससार मे फिर से लौटते हैं और जीवो को मोक्ष-मार्ग मे प्रबोधित करते हैं। जीवन्मुक्त पुरुष या सयोगी जिनेश्वर स्वरूप मे केन्द्र और परिधि (पर्याय) का भेद नही रहता। पर्याय समान रूप से ज्ञानादि गुण रूप ही रहती है। परिधि जो है—वह स्व-केन्द्र से है। यहा जीवात्मा ऐसा स्व-शक्ति सपन्न होता है कि परिणामी और अपरिणामी दोनो ही निर्मल और समन्वित रहते है। ज्ञान पर्यायो की यानी ज्ञप्ति स्वरूपो की दशा एक समान विशेष चिद्रूप केवल ज्ञान रूप ही रहती है। स्व तथा पर का ज्ञान स्व प्रकाशक और स्वय-प्रकाश-ज्ञान ज्ञायक मे अभेद रहता है। अर्हत् देह यानी चिन्मय आत्म स्वरूप का यही परिपूर्ण विकास तथा निर्माण है। यही योगानुष्ठान का परम प्राप्तव्य है। जीवन का परम लक्ष्य यही स्वरूप है।

वेदान्त का साधनो मे अप्रोच (Apprroacn) बौद्धिक है, पर वे अविद्या के नाश तक साधना का क्षेत्र मानते है जिसे वे बौद्धिक निर्णय तथा "अह ब्रह्मास्मि", "प्रज्ञान-ब्रह्म", "तत्त्वमसि" सिद्धोऽह रूप चार महावाक्यो की अवधारणा से प्रकट करते हैं। जैन साधना का अप्रोच उपासनात्मक है—यद्यपि वे भी अनन्तचतुष्टय रूप आत्म स्वरूप की अवधारणा और ध्यान को करते हैं। जैनो की साधना निष्ठा, ज्ञान और चारित्र (आत्म स्थिरता) का समन्वित रत्नत्रय स्वरूप हैं। पर वेदात की साधना प्रधानत बौद्धिक है और बुद्धि-निर्णय तक ही सीमित है व बुद्धि की समता को ही समाधि रूप मानते है। पर जैन साधना बौद्धिक निर्णय को तो लेकर चलती है, पर उतने मात्र को मान्य नही करती। उसमे बौद्धिक निर्णय तो आरभ विन्दु ही है। मिथ्यात्व रूप अज्ञान तो मात्र ज्ञान-गत ही नही है, निष्ठा और चारित्र गत भी रहता है। अत मात्र बौद्धिक निर्णय अन्तश्चेतना को निर्मल रूप मे परिणमित करने को पर्याप्त नही होता।

जैन विज्ञान साधना को व्यवहार रूप मानता है, चारित्र रूप मानता है, मात्र निष्ठा या बौद्धिक ज्ञान रूप नही। निष्ठा तो मात्र आत्म-रुचि रूप है—और वह परोक्ष रूप ही आरभ मे होती है। ज्ञान जो पुस्तकीय या शास्त्रीय या बौद्धिक होता है, वह भी ऊपर ऊपर ही चेतना मे है, वह आत्म-वेधक नही होता। हरताल जिस प्रकार ताम्र को रग कर नकली सोना रूप दिखा देती है, पर उसका पारखियो के समक्ष कोई मूल्य नहीं होता, ऐसे ही यह आरोपित तात्त्विक चर्चा से या पठन

स्वाध्याय से प्राप्त ज्ञान भी आदमी को ज्ञानाभिमानी व वाचिक ज्ञानी या उपदेशक तो बना सकता है, पर वह वस्तुत. आत्म-साक्षात्कार मे परिणित ज्ञान को प्राप्त नही होता ।

वाचिक ज्ञानी अपने को व दूसरो को ही धोखे मे रख सकता है, पर वह मोक्ष के वास्तविक निश्चल मार्ग मे नहीं होता । जैन ऋषियो और अर्हत्पुरुषो ने अतः साधना रूप व्यवहार मार्ग यानी सभेद रत्नत्रय का मार्ग स्वभाव गति मे स्थिर हो जाने तक माना है । स्वभाव गति मे यानी शुद्धोपयोग मे स्थिरता तक विभाव की अशुद्धता की ही क्रमश भूमिकाए घटती हुई विद्यमान रहती है । जैसे-जैसे ध्यानावस्था गहन व निर्मल होती है, वह अशुद्धता भी अपेक्षतया एक-एक देश कटती जाती है । जब तक अशुद्धता पूर्णत न कट जाए—स्थूल व सूक्ष्म देहाध्यास रूप नोकर्म, चित्तावरण रूप भावकर्म और घाती द्रव्यकर्म-रज न कट जाए, बराबर व्यवहार तथा निमित्त की आश्रय भूमि ही रहती है । ये सब छद्मस्थ अवस्था है । इसके उपरात की सर्व ग्रन्थि-रहित निर्ग्रन्थ सिद्धावस्था तेरहवी गुण-स्थानक अवस्था आती है । यहा सिद्धावस्था से हमारा मतव्य अशरीर सिद्धावस्था से नही, सर्व सशय रहित सर्व कर्म रहित सशरीर जीवन्मुक्त परम हस महा ज्ञानी अवस्था से है ।

यह स्पष्ट ही है कि व्यवहार का कार्य व्यवहार से ही होता है । व्यवहार दशा मे निश्चय की चर्चा आप सुने, और सुनना भी चाहिए—क्योकि वह लक्ष्य है, पर आप व्यवहार भूमि के विभिन्न आधार-स्तरो को पार किये बिना निश्चय मे नही पहु च सकते । निश्चय वह स्थिति है जिसमे पहुंच कर फिर वापिस नीचे चय नही होता, वापिस कर्म-कलक नही लगता । रागाश रहते कभी पूर्ण अबध दशा होती नही । और रागादि का शमन या क्षय दसवी गुणस्थान सक्रान्ति है, ध्यान की चौथी भूमि है । यहा तक आपको शुभ-निमित्तो का आश्रय होता ही है । आपके चाहने या न चाहने का कोई प्रश्न ही नही है—आप जब तक इस गुण श्रेणी को ध्यान के उत्कर्ष काल मे न अति क्रान्त कर लें, आपका उपयोग, आपकी सुरति, सज्ञा शुभ निमित्त के ही आश्रय टिक पायेगी, एक मात्र शुभ ही आपकी ध्यान नाविका के लिए ध्रुव नक्षत्र रहेगा । आपके उपयोग की सूई उसी की ओर रहेगी, और तब ही आपका ध्यान आगे भी चलेगा । इसमे ही शुभ से शुद्ध व फिर शुभ से शुद्ध, इस प्रकार झौला चलता रहता है और अत मे शुद्ध की स्थिरता होती है ।

निश्चय दशा मे परिणत होने पर फिर व्यवहार आप ही अनपेक्षित होकर छूटे जाते है । व्यवहार छोडा नही जाता, यह स्वत ही छूटता है । निश्चय तो व्यवहार के आगे की बात है । वहा तो व्यवहार का क्षेत्र रहता ही नही । क्योकि व्यवहार का जो भी कार्य है वह सम्पन्न हो चुका होता है । स्वभाव मे गति तब स्वत और स्वय ही रहती है । वही तब साधन है यानी यहा ही साध्य ही साधन है और साधक उस साध्य रूप ही रहने से साधन रूप भी है । यही वह ज्ञान अवस्था है जिसमे ज्ञानाग्नि तीव्र रूप से प्रज्वलित होती है और कर्मो को जो अब भी तनु रूप मे बचा पडा है, जला देती है ।

स्वभाव ध्रुव है, अपरिणामी मे स्थिरता है, न कि पर्याय मे। परन्तु पर्याय प्रवाह नित्य है उस की नित्यता का स्रोत कहा है—उसको देख कर ही साधक नित्य शाश्वत् ध्रुव मे स्थिर हो जाता है वह यहा "पर" मे सन्निविष्ट नही, स्व मे ही है। अब वह "पर" को देख कर भी वीतरागी ही रह है, स्व से विचलित नही होता। व्यवहार को अभूतार्थ कहने वाले कि जिन्होने व्यवहार भूमि अतिक्रान्त भी नही किया, अपने अतरग मे विचार तो करे कि क्या वें प्रत्येक अवस्था मे, प्रत्येक क्ष मे स्व मे से विचलित तो नही होते, क्या उनमे अब कोई रागाश भी नही है ? यदि वे ऐसे हैं, तो निश्चय ही वे ज्ञानी है, पूज्य है, आराध्य है। स्व मे निश्चल अवस्था से पूर्व मह स्पष्ट है कि साध को ध्यान की उन्मनी और तन्मनी अवस्थाए आती है—और इन ध्यान अवस्थाओ के ही परिपाक साधक सक्रिय रहकर निश्चय मे आता है।

निश्चय निष्क्रिय अवस्था है। निश्चय मे कभी सक्रियता आती भी है तो वह वीतराग हो से, सहज अहेतुकी रहने से निष्क्रियता की ही गिनती मे है। यही पूर्णत अवध दशा है इस निश्चय मे सक्रिय विशेष चैतन्य केवल ज्ञान की दशा उदित रहती होती है। यह निश्चय दशा प्रकट ही है, जुबानी जमा-खर्च नही है। यह अन्तश्चेतना के निश्चल निश्चय (चयरहित) परिणमन होने के अनन्तर की बात है। इस मे शुद्ध के ही आश्रय यानी अनात्म व पर-निमित्तो से रहित, स्वाश्रित शुद्ध दशाए ही परिणमित होती रहेगी।

यह दृढ जान लेना चाहिए कि विशेष केवल ज्ञान अवस्था से पूर्व सत्-सामान्य की अवस्थिति नही होती, तब तक तो इस सत्-सामान्य की निष्ठा और परोक्ष जानकारी ही रहती है। साधक को इस सत्सामान्य रूप से जो फासला रहता है, उस को ही ध्यानाभ्यास से पूरा करना होता है। वस्तुत आत्मा न तो मात्र सत्-सामान्य है, और न मात्र विशेष पर्याय रूप ही है, वह तो सामान्य विशेपात्मक है।

शक्ति रूप से भव्य अशुद्ध आत्मा को यह शक्ति है कि वह शुद्धता मे परिणमित हो सकता है और यह परिणमन निर्मल अभिव्यक्तियो के प्रकाश करते-करते, शक्ति का विकास करने-करते, पुरुपार्थ को सक्रिय करते-करते ही होता है। अत यह सही है कि राग रहित स्व परिष्कार रूप निर्मलता व्यवहार साधना का क्षेत्र है। यह क्रमिक मार्ग है। विभिन्न गुण-स्थानो के क्रम अवलम्बन रूप यह है। हाँ जो पूर्व जन्मो मे साधना के क्रमो को पूरा कर चुके है, वे अब यहा परम अक्रम निश्चय भाव दशा मे या तेरहवी गुणस्थान मे निष्क्रिय भी रह सकते है। पर यह तो विरले ही जनो की बात है।

पन्द्रह पाक मय अपरम भाव, सोलह पाक मय परम भाव, व्यवहार तीर्थ रूप और निश्चय आत्मतत्त्व रूप

सुद्धा सुद्धादेसो णायव्वो परमभाव दरिसीहि ।
ववहार देसिदा पुण जे दु अपरमे ट्ठिदा भावे ।।[1]

परम भाव को जिन्होने देख लिया है, जान लिया है और पहुच गये है, ऐसे परम भाव-दर्शियो को शुद्ध के ही आदेश को जानना चाहिए । परन्तु जो अपरम भाव (परम भाव से नीचे की भूमिका) मे स्थित है, उनको व्यवहार साधनाओ का ही उपदेश योग्य है ।

इस पर अमृत चन्द्राचार्य का कहना है—

"जो पुरुष अन्तिम पाक से उतरे हुए शुद्ध स्वर्ण के समान शुद्ध परम भाव का अनुभव करते हैं, वे प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाको की क्रमश परम्परा से पच्यमान अशुद्ध स्वर्ण के समान अपरम भाव के अनुभव से शून्य है । अत. उनके लिए शुद्ध द्रव्य को ही कहने वाला होने से जिसने अस्खलित एक स्वभाव रूप एक भाव प्रकट किया है, ऐसा शुद्धनय ही उपरितन एक शुद्ध सुवर्ण के समान जाना हुआ प्रयोजन वाला है । और जो पुरुप प्रथम द्वितीय आदि अनेक पाको की परम्परा से पकते हुए उस अशुद्ध सवर्ण के समान "अपरम भाव" का अनुभव करते है, वे अन्तिम पाक से उत्तीर्ण शुद्ध सुवर्ण के सदृश "परम भाव" के अनुभवो से शून्य है, अत उनके लिए अशुद्ध द्रव्य का कथन करने वाला होने से, भिन्न-भिन्न एक भाव-स्वरूप अनेक भाव दिखलाता हुआ यह व्यवहार नय विचित्र अनेक वर्णमाला के समान जाना हुआ उस काल मे प्रयोजनवान है,—क्योकि तीर्थ और फल इस प्रकार से ही व्यवस्थित है ।"

'उक्त च' कह कर उन्होने आगे यह गाथा दी है—

जेइ जिणमयं पवज्जह ता मा ववहार णिच्छए मुयह ।
एकेण विणा छिज्जइ तित्थं अण्णेण उण तच्च ।।

जो तुम जिन मत के अनुसार प्रवर्तन करना चाहते हो तो व्यवहार और निश्चय, इन दोनो नयो (प्रणालियो) को मत छोडो, क्योकि व्यवहार के बिना तो तीर्थ (मोक्ष मार्ग) का नाश हो जाएगा, और दूसरे निश्चय नय के बिना तत्त्व (आत्म वस्तु) का नाश हो जाएगा ।

इससे अधिक स्पष्टीकरण आचार्य कर ही क्या सकते है ? स्पष्ट कर दिया है कि व्यवहार ही मोक्ष मार्ग है, और निश्चय वह तत्त्व है जो प्राप्त करना है और यह आत्म-तत्त्व रूप ही है । इस

1. (समय सार—१२)

आत्म तत्त्व को ही व्यवहार से प्राप्त करना होता है—साधना अभ्यास योगानुष्ठान उपासना योग आदि से साक्षात्कार करना होता है। इससे ही निर्मल सर्वज्ञ वीतराग शुद्ध बुद्ध सिद्ध रूप से अवस्थिति करनी होती है। मार्ग का लक्ष्य आत्म-वस्तु की निश्चय स्थिति प्राप्त होती है । परम भाव निर्विकल्प आत्म तत्त्व का अनुभव है। अपरमभाव मे सविकल्प आत्म तत्त्व का अनुभव है । सविकल्प अवस्था से ही निर्विकल्प भूमि मे उत्कर्ष होता है। छद्मस्थ जीव मे सब क्रियाए बुद्धि पूर्वक होती है—अतः उसे साधना-व्यवहार का अवलम्बन रहे ही गा। निर्विकल्प ध्यान मे आठवे, नवमे, दशमे गुणस्थान मे बुद्धि पूर्वक रागादि भावों का अभाव रहने रूप वीतरागता आती है । अत वहा भी ध्यान काल मे उस समय तक परम भाव रहता है। यही वहा निर्जरा का हेतु है। परमभाव से पूर्व सविकल्प अवस्था मे अपरम भाव रहता है, पर वह सविकल्प अपरम भाव भी सराग-चारित्र का अग होने से अनत गुणी निर्जरा करता ही है। वह निर्विकल्प समाधि के तुल्य तो नही, पर फिर भी निर्जरा का हेतु है और यह भी अपेक्षतया विषय कषाय राग आदि को दूर करने के लिए प्रयोजनवान् है। इसी लिये जयसेनाचार्य कहते है—

"यहाँ पर केवल भूतार्थ निश्चय नय निर्विकल्प समाधि में रत हुए मुनियो को प्रयोजनवान् हो, मात्र इतनी ही बात नही है, किन्तु सोलह ताव के शुद्ध सुवर्ण-लाभ के अभाव के नीचे के ताव सहित सुवर्ण लाभ के समान निर्विकल्प समाधि मे रहित किन्ही प्राथमिक शिष्यो को कदाचित् सविकल्प अवस्था में मिथ्यात्व व विषय कषाय को दूर करने के लिए व्यवहार नय प्रयोजनवान है ।"

वस्तुत पन्द्रह तावो तक तो सविकल्प दशा ही रहती है और सोलहवें ताव रूप निर्विकल्पता होने पर ही शुद्ध सुवर्ण रूप आत्मा का साक्षात्कार होता है । साधना और तप रूप योगानुष्ठान की अग्नि भट्टी मे शुद्धता के अर्थ क्रमश पन्द्रह तावो की परम्पराओ मे ध्यान-सस्कारो मे से गुजरना ही होगा। परम भाव साध्य है और साधक दशा में अपरम भावो की भूमिका के अनुसार शुद्ध से नीचे शुभ-भाव आते ही है और रहते ही है।

चतुर्थ गुणस्थानक सम्यक् दृष्टि को वीतरागी अथवा अबंधक कैसे कह सकते है ? सातवे से दसवें गुणस्थान तक अबुद्धिपूर्वक भी राग का अश होने से कर्म-बध होता है । जितने अश राग रहता है, उतने अश कर्म कालिमा रहती है और जितने अश रागादि का अभाव होता जाता है, निर्मलता के सस्कार तथा परिणतिया भी बढती जाती है। सर्व प्रकार सर्व आधारो मे रागादि विभाव की निवृत्ति जब हो जाती है, तब सोलहवें ताव से तपे शुद्ध हुए सुवर्ण तुल्य निर्मलता की अवस्था होती है। साधना की प्रक्रियाओ का यही लक्ष्य है कि परिणामों को, मन की परिणतियो की क्रमश निर्मलता करते जाना। अपरम भाव से, सविकल्प भाव से, विभाव भाव से, निर्विकल्प भाव मे, स्वभाव भाव मे उल्लसित हो ..., क्रमशः स्थिरता का उद्देश्य इन व्यवहार-साधनाओ का है। इनका अनुष्ठान वीतरागता मे आने

के ही हेतु से है। अर्हन्तादि भी वीतरागता रूप विज्ञान से ही महानता को प्राप्त हुए है। तप कल्याण के अनन्तर ही ज्ञान कल्याण होता है। वीतराग तप ही कल्याण का कारण है, और उससे निष्पन्न हुआ ज्ञान ही शिव रूप होता है।

सराग चारित्र और वीतराग चारित्र के फासले को जानकर सराग चारित्र के भेद अवस्था के ध्यान उपासना से सवर तथा निर्जरा करते हुए क्रमश. अभ्यास मे पराकाष्ठा को पहुच कर अभेद अवस्था के निर्विकल्प परम ध्यान मे सक्रमण करने का प्रयत्न करना चाहिए। सराग भूमि मे भी राग के हटाने का ही मतव्य है। राग वहा रहता है, अतः ही यह सराग कहने मे आता है पर वहा राग वस्तुत. अभीष्ट नही है। मात्र स्व प्रभु आत्मा जो निर्मल जिन स्वरूप आत्मा तुल्य है वही अभीष्ट है। इससे अन्य सब "पर" के राग का व अपरम भावो का क्रमश निराकरण होकर ही वीतरागता होती है।

ध्यान से ही अन्तश्चेतना का निर्मल परिणमन

ध्यान की प्रकृति ज्ञान रूप है। ज्ञान ही जीव का व्यग्र होता हे, और ज्ञान ही स्थिर होता है और पूर्णत्व रूप विकास को प्राप्त होता है। इसे ही सर्वज्ञता कहा जाता है। इससे स्व तथा पर का स्वत स्वय प्रकाश अनन्त अमित विस्तृत हो जाता है और यह अनेक अनन्त गुणराशियो तथा शक्तियो को धारण किये रहता है। ज्ञान ही राग रहित रहा चारित्र मे वीतरागता को परिणमन कराता है। अत साधना के अभ्यास-क्रियाओ से राग व मोह का क्रमश क्षय करके अन्तश्चेतना को शुद्ध व निर्मल परिणमन करना चाहिये।

ध्यान साधना के चार भेद और ध्यान के सात चरणों की उनमें संगति

ध्यान को जैन योग विज्ञान मे चतुर्भेदात्मक कहा है। उनमें प्रथम व द्वितीय भेद आर्त व रौद्र-ध्यान है, जो करणीय नही है मगर अशुभ दशा मे जीव को होते ही है। उनका निराकरण करते हुए धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान दो प्रशस्त ध्यान होते है। इनके भी उत्तर भेद हैं। शुक्ल ध्यान मुक्ति कारक है और शुद्धोपयोग के प्रकट होने पर सभव होता है। धर्म ध्यान मे लक्ष्य शुद्धात्मा ही है, पर शुद्धात्मा की सीधी पकड उपयोग को नहीं हो पाती, अतः अवलम्बन से शुभ सकल्प पूर्वक, शुभ प्रवृति-पूर्वक ध्यान होता है। इस ध्यान मे चेतन ध्येय मे अर्हन्त परमेष्ठी या सिद्ध परमेष्ठी का ध्यान चलता है। ये सावलम्बी ध्यान है। पर वस्तुत परात्मा लक्ष्य और स्वात्मा लक्ष्य मे गुणरूप से कोई भिन्नता नही होती। अत धर्म-ध्यान परम्परा से मोक्ष कारक है। वह शुक्ल ध्यान मे उत्कर्ष करता है, इसलिये यह शुक्ल ध्यान का सोपान है।

धर्म ध्यान चित्त सापेक्ष सावलम्बी ध्यान और शुक्ल ध्यान चित्त-निर्पेक्ष स्वावलम्बी ध्यान है। यह निराश्रयी, राग-र्वजित, मोह से व कषाय से शून्य ध्यान है। इस आत्म समाधिमय शून्य

ध्यान का पूर्व अध्याय में विवेचन हो चुका है । ध्यान की सप्त भूमियो मे पाचवी, छटी और सातवी भूमिया शुक्ल ध्यान रूप होती है । इनसे पूर्व की चार भूमिया धर्म ध्यान की भूमिया है, जिनमे चौथी भूमि मध्य स्थानीय होने से अति महत्वपूर्ण और निर्णायक है ।

ध्यान साधना चरणों को सूक्ष्म में इस प्रकार समझें

(१) श्वास के आवागमन के स्पर्श को अपने अन्तर मे अनुभव करना है और अनुभूति करके उस आवागमन में सोह मत्र के बीजाक्षरो की समायोजना करना है कि इससे सकल्प तथा शक्ति का जागरण हो ।

(२) प्राण व चित्त (मन) को तनाव व विकारो को प्राण वायु रेचन के साथ रेचित होने की भावना करे । तथा प्राण वायु के ग्रहण के समय शक्ति का आहरण करने की भी भावना करे ।

(३) प्राण अपान के साथ मन को समायुक्त करके चित्त को लय व विश्रात करें और अपने को स्थूल देह से अतीत हुआ प्राणमय तैजस् देह मे स्थित और शक्ति प्रवाहित से आप्लावित होता अनुभव करे ।

(४) इसी मे अपने ज्ञायक भाव को जागृत रख कर यह निश्चल भावना करे कि मै ज्ञायक ही अनन्त चतुष्टय रूप आत्म-तत्त्व हू । मै औदारिक तथा सूक्ष्म प्राण (तैजस्) देह का भाव देह से भी अतीत चिन्मय आत्म देह मे अर्हत्-देह मे ही अवस्थित हू ।

(५) चित्त मे नाद व चिर ज्योति-विन्दु मे अर्हन्त सकल जिनेश्वर की स्व पुरुषाकार स्वरूप को उल्लसित करके उस के अन्तर-भाव मे निर्विकल्प हो जाए ।

क्षणोत्तीर्ण दशा की विधि

स्व समय (आत्मा) मे ही स्थिरता का अभ्यास व ध्यान ही सामायिक का श्रेष्ठ स्वरूप है । जो समय वीत गया और जो समय अभी अनुत्पन्न है, यानी अतीत और भविष्य की किसी स्मृति या कल्पना को मत उठने दीजिए । वर्तमान क्षण को ही आत्मा मे अर्पित करते रहे । क्षणोतीर्ण होने की यही विधि है । इसी मे स्वरूप-सधान करते हुए ज्ञान व आनन्द रूप मे निमग्न रहिए । यह अभ्यास जान लेने की मात्र क्रिया नही है, भाव ही इस क्रिया का रहस्य मय अन्तरग है । भाव से भावतीत होकर गुणत्रय से अतीत, अनन्त गुण राशी परमेश्वर स्व परमात्मा पद मे स्व शक्ति विकास से ही आरोहण होता है । जितना प्रखर व निर्मल भाव आप उदित कर सकेंगे उतनी ही शीघ्र परम पद की सन्निकटता होती जायेगी । व्यवहार समाप्त होकर निश्चय मे निश्चल अवस्थिति हो जा सकती है ।

चितना भावना—ये सब व्यवहार रूप है, चिन्तना—भावना रूप ही होकर निश्चितना के क्षेत्र में आजाना निश्चय का क्षेत्र है। निश्चय में आने के लिए भाव की अचिन्त्य महिमा है और भाव का उन्मेष, अभ्यास सक्रियता से होता है।

भाव शुद्धियां-अनुप्रेक्षाएं

भाव व अध्यवसायो की निर्मलता के हेतु ध्यान-उपासना समाधि के अतिरिक्त भावना और अनुप्रेक्षाओ पर योग विज्ञान मे वहुत जोर दिया गया है। साधक चोबीस घटे ध्यान समाधि मे रह ही नही सकता। छद्मस्थ को ध्यान यदि होता भी है तो अखडता तीस मिनट (अढाई घडी) से ज्यादा नही हो पाती। जो ध्याता इससे भी ज्यादा ध्यान मे बैठते है, वे वस्तुत एक ध्यान मे नही, ध्यान-सतति मे निमग्न रहते है, अथवा जाप, भावना या अनुप्रेक्षाओ मे ही होते है। साधक ध्यान के उपरात भी अज्ञान, प्रमाद, चचल या विक्षोभ मय मन स्थितियो मे न चला जाए, अत. भाव-शुद्धिया की गई हैं। यम व नियम के साधन भी इसी हेतु हैं। मन के निर्मल भाव उत्तरोत्तर ऊपर ही चढते हुए रहने चाहिए। वीतरागता, असगता, और मृदुता परिणमति है या नही, कैसी मनः स्थिति रहती है—इसका निरतर ध्यान होना चाहिए। मन की निरख, परख और हरख पर नजर रहनी चाहिए। जिस भाव या चिन्तन से मन प्रभावित तथा निर्मल रूप परिणत हो—उसका अभ्यास, बार-बार अनुप्रेक्षा भावना कही जाती है। इससे मन की मूर्च्छा टूटती है, ध्यान करने की योग्यता बढती हैं।

भाव शुद्धियो में अहिसा व करूणा

आत्मा के गुणो की भावना मे अहिंसा और करुणा का सर्वोपरि स्थान है। "स्व" और "पर" दोनो पर ही करुणा का उदय होकर साधना सुचारू चलती है। करुणा और ज्ञान का साहचर्य है। भ० अर्हत् तीर्थंकर साकार करुणा-मूर्ति है और उनके आश्रयी होकर करुणा भाव का उदय अपने मे भी करणीय है। करुणा का उद्रेक ज्ञान से अभिन्न कर देता है।

> यथा यथा हृदि स्थैर्यं करोति करुणा नृणाम्।
> तथा तथा विवेकश्री. परा प्रीतिं प्रकाशते।।[1]

जैसे-जैसे करुणा भाव हृदय मे स्थिर होता जाता है, वैसे ही विवेक रूप लक्ष्मी भी अपनी प्रीति का प्रकाश करती जाती है।

करुणा मानव हृदय का औदार्य है, परम रस है। जब जीवन की धारा जीव के हृदय मे रुकती है तो करुणा की धारा ही उसे फिर से सरस करती है।

---

1. (ज्ञाना. ८/५५)

बौद्ध करूणा

वौद्ध साधना मे करुणा प्रधान ही है। चित्त को शून्य रूप करने के बाद करुणा से ही चित्त को पूरित करते है—तब वह चित्त निर्वाण मूलक होता है । करुणा तीन अवलम्बनो में वर्णित हुई है—

(१) सत्वावलम्बन—वह करुणा है जो जीवो के दु ख साक्षात्कार से उत्थित होती है।

(२) धर्मावलम्बन—वह करुणा है जो जगत् की नश्वर एव अनित्य शीलता, व क्षणिकता के दर्शन से प्रवाहित हो जाती है।

(३) निरालम्बन—यह निर्मल दृष्टि प्राप्त योगियो की करुणा है जो जीवों के दु'ख या जगत् की नश्वरता देखे बिना भी निरुपाधिक या स्वाभाविक प्रवाहित रहती है। यह निरपेक्ष स्वतन्त्र और अहेतुकी होती है । निरालम्बन पद में प्रज्ञा निरालम्ब होकर प्रज्ञा-पारमिता मे परिणत होती है। योगी जन चित्त की शून्यता मे ऐसे ही महा करुणा को धारण करके निरालम्ब प्रज्ञामय हो जाते है।

निरालम्ब प्रज्ञा निरालम्ब महा कृपा ।
एकी भूता धिया सार्ध गगने गगनं यथा ॥

निरालम्ब महा कृपा (करुणा) निरालम्ब प्रज्ञा ही है, करुणा से ज्ञान एकीभूत हुआ शून्य गगन मे गगनवत् निरभ्र निर्मल हो जाता है ।

तीर्थंकर और बुद्ध करूणा के महासागर

तीर्थंकर एव बुद्ध की निरपेक्ष महा कृपा-प्रसाद करुणा-रस महासागर के समक्ष तो साधक जीवो की अयोग्यता भी नगण्य हो जाती है । यही कृपा-करुणा सब द्वैत भावो को अभिभूत करके चैतन्य तत्त्व की अद्वैत भूमि मे सचरित होती है। वह यर्थार्थत राग रहित व अद्वैत स्वभाव के अतर्गत ही है । इसमे इच्छा अनिच्छा या हेतु आदि को कोई स्थान नही होता । यह साधको पर उनको दु खो से त्राण करती स्वत बरसती रहती है । यह स्व अहिंसा भाव का ही परम विशेप भाव है, आत्मा का ही गुण है । अत इसी करुणा मे ही परम प्रशात परम रस भी है, साम्य रस भी है । तीर्थंकर अर्हत् जिनेश्वरो में उनके सर्वांग से यही अहिंसा एव महा करुणा की अमृत-सरिता बाढ की तरह प्रवाहित रहती है । उनके ध्यान से, उनकी ओर उन्मुखता से उनके मुख व चरण कमल से विशेप कर, तथा सर्वांग से सदा प्रवाहित उस अनुपम रस से साधक

जन आप्लावित तथा सरस रहते है । उस वीतरागी महा करुणा रस का प्रवाह मोह-मुद्रा का कपाट तोड कर मोक्षद्वार को ही उन्मुक्त कर देता है ।

धन्यास्ते हृदया येषामुदीर्ण: करुणाम्बुधिः ।
वाग्वीचि सञ्चयोल्लासैर्निर्वापयति देहिनः ॥[1]

धन्य है वे पुरुष जिनके हृदय मे करुणा का समुद्र बहता है—उनके ही वचन-लहरो के समुदाय उल्लासो से जीवो को शान्ति मिलती है ।

करुणा भाव के लिये आ. श्री शुभचन्द्र का अति महत्त्वपूर्ण यह उपदेश है—

ध्याने उपरते धीमान् मनः कुर्यात्समोहितम् ।
निर्वेदमापन्नं मग्नं वा करुणाम्बुनिधौ ॥[2]

बुद्धिमान ध्यानी पुरुष को ध्यान से निवृत्त होने के समय चित्त को महा करुणा-सागर मे निमग्न करके महा करुणा मय हो जाने की भावना करनी चाहिये । अथवा चित्त को परम वैराग्य भावो से भावित करना चाहिये । इस प्रकार कुछ काल तक इसी भाव मे निश्चल समाहित रहने का अभ्यास जारी रखना चाहिये । श्रमण परम्परा—जैन व बौद्ध दोनो ही परम्पराओ मे करुणा ध्यानोत्तर साधना के अग के रूप में महत्त्वपूर्ण रूप से स्वीकृत हुई है ।

भाव-शुद्धि की महत्ता

आ. श्री कुद कुंद ने भाव शुद्धि की महत्ता को स्वीकार करते हुए, भाव शुद्धि पर "नियमसार" मे एक पूरा अध्याय अठारह गाथाओ का निर्माण किया है । स्पष्ट है कि जैन परम्परा मे चित्त को निर्मल तथा समभाव मय बनाने की बडी प्रेरणा की गई है । क्योकि भावो की रूपकता से अन्तराकाश मे उन चित्रों का, बिम्बो का निर्माण होता है, जिनसे कर्म संस्थान तथा भाव-सस्कारो का जो आत्मा को बधन मे डालते है—निर्माण होता है । शुद्ध भावों से निर्बंधता होती है, वे लेश्या विमुक्त होते है । अत कहा है—

समत्वं भज, भूतेषु निर्ममत्वं विचिन्तय ।
अपाकृत्य मनः शल्यं भाव-शुद्धि समाश्रय ॥[3]

---

1. (ज्ञाना. ६/१४) 2. (ज्ञाना. ३१/६)
3 (ज्ञाना. २/४)

सर्व प्राणियो मे समदर्शी भाव, समता को पालो। निर्ममत्व रूप शुद्ध-भाव का चिन्तवन करो, मन से शल्यो को, तृष्णा, वासना, कामना आदि काटो को हटा दो। इस प्रकार चित्त को भाव-शुद्धि की भावक भावनाओ के समाश्रित कर दो।

बारह अनुप्रेक्षाएं

भाव शुद्धि के हेतु ही धर्म-ध्यान के अङ्गभूत बारह प्रकार की अनुप्रेक्षाओ के चिन्तवन का आग्रह किया गया है। इन्हे १२ वैरागय-भावना भी कहा है। "चारित्रसार" मे इन वारह अनुप्रेक्षाओ को अच्छा समझाया गया है।

१ अनित्य भावना—ससार और पर्याय की विजली की चमक के समान क्षण भगुरता देख-कर नश्वर पर्यायो से वुद्धि को हटाकर, नित्य आत्मा-द्रव्य के आश्रय-वैराग्य भावना से वासित रहो। तृष्णा को नष्ट करने वाले निर्ममत्व भाव को जगाए रखने के हेतु जगत् के अनित्य स्वरूप का वार वार चिन्तन करो।

२. अशरण भावना—पर स्वरूप देह तथा ससार मे से एकता हटाकर अपने ही आत्म प्रभु की महिमा मयी शरण की भावना करो, और अशरण-भावना को छोडो। आत्मा की शरण तो केवल अपना आत्मा ही है, अन्य कोई शरण नही है। ससार की भीषण ज्वालाओ से वचाने वाला एक मात्र अपना ही आत्मा है। मेरे कोई शरण नही, मैं असहाय हू—ऐसी दीन अशरण भावना छोड कर, मेरा अपना अनन्त शक्तिमय चिदानन्द अमर अमृत आत्मा ही एक मात्र शरण है, इस शरण भावना से अपने को आश्वस्त व सुरक्षित रक्खो।

३ ससार भावना—ससार की ससृति मे जो अनादिकाल से भव-दुख पाये हैं, उनका स्मरण करके उन दुखो को हेय करने का चिन्तन करो। ससार के जन्म मरण रूप दुश्चक्रो से मैं कव मुक्ति पाऊँ, कैसे मुक्ति पाऊँ इसका बार बार स्मरण दु ख के हेतुओ मे पडने से बचाता है और धर्म मे ही निरन्तर रहने को लालयित करता है।

४ एकत्व भावना—ससार मे अनेक अवस्थाये कर्म-निमित्त से ही हैं और यह जीव उन्हे अकेला ही भोगता है, कोई सगी साथी नही है। अत एकाकी होने, निरालम्ब होने, निराश्रय होने की भावना से अपनी असगता की भावना को दृढ करो। इससे निस्पृह जीवन जीने की कला प्राप्त होगी। निस्पृहता मे ही अबन्ध दशा होती है।

५ अन्यत्व भावना—यह आत्मा सव से भिन्न विलक्षण परम शुद्ध चिन्मय ही है। इसकी अनुपमता, अपूर्वता, तथा विलक्षणता का, व शुद्ध, अद्वय ज्ञान स्वरूप का ही चिन्तन करो। देह और

जीव-पानी दूध के समान मिले होने पर भी दोनो भिन्न है, अलग अलग लक्षण वाले है; भिन्न अनुभव करने में ही जीव शोकग्रस्त नही होता। इससे भेद विज्ञान का उद्भव रहता है।

६ अशुद्धि भावना—आत्मा निर्मल है और देह व कर्म ही मलीन है। इस मलीनता से मुक्त अपनी शुचिता, पवित्रता की भावना करो। अपावन देह मे पवित्रता की कल्पना विडम्बना मात्र है। आत्मा शुचि है, आत्मा की शुचिता कैसे उद्घाटित होती है और किस प्रकार स्थित रहती है—इसका चिन्तवन करो।

७ आस्रव भावना—जीवात्मा को कर्मों का आस्रव कैसे होता हे ? आत्मा की विभाव-क्रिया तथा स्वभाव-क्रिया कैसी होती है ? इसका चिंतन करे। स्वभाव रूप ज्ञान धारा की भावना करो, जो आस्रव से मुक्त रखती है। मन वचन काय की राग-चचलता से कर्मास्रव होता है। तीनो—मन वचन काय के योग अशुभ–शुभ कर्मों के जनक हे। कपाय, प्रमाद, हास्य रति-अरति, चचलता और अज्ञान ही आस्रव के कारण है।

८ सवर भावना—स्व स्वरूप मे निश्चलता ही सवर का स्वरूप है। आस्रवो का विरोधी प्रतिपक्षी भाव सवर है, जो द्रव्य व भाव रूप से दो प्रकार का होता है। उस अयोगी दशा की जिसमे सवर की प्राप्ति होती है चिन्तन करो। गुप्ति, समिति, अनुप्रेक्षा, परीपह–जय तथा चारित्र के पालन (स्वरूप-स्थिरता) मे सवर होता है।

९ निर्जरा भावना—जिन शुद्ध भावो से कर्म रूप बीज आत्मा से झड जाएँ, उनकी चिंतना व भावना करो। फल देकर सविपाकी अकाम निर्जरा तो होती ही रहती है, अविपाकी निर्जरा का, तपोमय जीवन का यत्न करो।

१० धर्म भावना—आत्मा जिससे पवित्र हो, तथा आत्मा का तथा जगत् का जो उद्धार करे, ऐसे दयार्द्र करुणामय धर्म के सेवन की भावना करनी चाहिये। धर्म का सक्षिप्त आशय चार तत्त्वो मे लक्षित हो जाता हे १ वस्तु स्वभाव रूप धर्म २ उत्तम क्षमादि दश धर्म ३ रत्नत्रय रूप बोधि अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यग्चारित्र तथा अहिसा मय, दया मय धर्म। धर्म ही एक मात्र सखा, बन्धु और रक्षक है।

विश्व के सब धर्मो मे दश धर्म स्वीकार किये गये है। हजरत मूसा के दस आदेश (कमाण्ड-मैण्ट्स) मे भी यही दश धर्म आए है। मनुस्मृति मे भी इन ही दश धर्मो को स्वीकार किया गया है। ये विश्व धर्म कोटि के धर्म हे। ये मानव की आत्मा को तथा उसके व्यवहार को अनुशासित करते हे। (१) उत्तम क्षमा (२) मार्दव (३) आर्जव (४) सत्य (५) शौच (६) सयम (७) ब्रह्मचर्य (८) तप (९) त्याग (१०) अकिंचन्य, मामूली फेर के साथ ये ही दश धर्म सर्वत्र समादृत हुये है। इन धर्म–स्वरूपो की उत्तमता की चिंतना तथा भावना करते रहना चाहिये। कर्म-मवर के हेतु इन उत्तम दश धर्मो की इतनी

महिमा मानी है कि जैन धर्म का नाम ही दश लक्षण धर्म प्रसिद्ध है तथा उसके नाम से दश लक्षण पर्व भी मनाया जाता है। उत्तम दश धर्मों के पालन के फल समाधि व ध्यान से व्युत्थान होने पर यानी ध्यान व समाधि से उठने के बाद भी मानसिक वृत्तिया वापिस विकार को प्राप्त नही होती जैसा कि अन्य आम्नायो में सम्भव होता है। इन दश धर्मो मे से ही पंच अणुव्रत व महाव्रत भी निसृत हुए है जो योग के यम व नियम अङ्ग है। दश धर्मो मे सत्य प्रमुख धर्म रूप है। यह वचन या वाणी, या मनो भाव या चेष्टा के ही सत्य को नही, यह तो स्वयं आत्मा के ही यथार्थ मौलिक स्वभाव रूप, ज्ञान भाव रूप को प्रकट करता है और उस स्वभाव मे ही एकाग्रता को धर्म की क्रिया कहा गया है।

११, लोक भावना—अनादि व अनन्त, अध , मध्य, और उर्ध्व विभाग सहित पुरुषाकार षट् द्रव्य मय लोक के विराट् तथा सूक्ष्म स्वरूपो का चिन्तवन करना चाहिये। तथा लोक की अनन्तता के परिप्रेक्ष्य मे अपनी आत्मा के ज्ञान की अनन्तता यानी अनन्त ज्ञान प्रदेशो का भी विचार करना चाहिये। तथा जो परमार्थ व हित जीव को है, उनकी भावना करनी चाहिये। लोक की अनित्यता से वैराग्य जागृत करना चाहिये। लोकाग्र विराज मान सिद्ध ही सुखी है, बाकी सब दु खी हैं। अत सिद्धो के उस अक्षय सुख की भावना करनी चाहिये।

१२ बोधि दुर्लभ भावना—रत्नत्रय रूप परा-विद्या (स्वरूप चिन्तन) ही बोधि है। अनन्त-ससार मे सम्यक्त्व बोधि रत्न की दुर्लभता का चिन्तवन करके अपने परिणामो की शुद्धि तथा अनासक्त समभाव मय स्वरूप की दृढ भावना करनी चाहिये। मुक्ति के सकल्प को दोहराते रहना चाहिये। आर्त और रौद्र ध्यानो से बचना चाहिये। धर्म और शुक्ल ध्यानो की भावना करनी चाहिये। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, सम्यग्चारित्र तथा सम्यक्तप,—इन चार की भावना करनी चाहिए—इनका अन्तर प्रकाश ही सम्बोधि है।

भावना चतुष्क मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ भावना

चार भावनाए—(भावना चतुष्क) परिणाम शुद्धि तथा ध्यान की सहायक कही गई है—

१ मैत्री भाव—सर्व प्राणियो से मैत्री भाव। मैत्री भाव से द्वेष भाव की निवृत्ति। सव प्राणियो मे शत्रु भी शामिल ही है। अत उसका भी अहित न विचार करके हित ही विचारना होता है। ऐसा यह मैत्री भाव सर्वगत व्यापी भाव होना चाहिए।

२ प्रमोद भाव—गुणीजनो मे प्रमोद का भाव। इससे चित्त मे ईर्ष्या व असूयाभाव का निराकरण का भाव होता है। गुण और गुणी का मात्र आदर ही नही, प्रत्युत उन पर हृदय से प्रसन्नता होनी चाहिए, अपने हृदय के भावो का विकास करना चाहिए।

३ करुणा व कृपा भाव—क्लिष्ट प्राणियो मे व दु खी-जीवो के लिये सदा करुणा और कृपा

भाव रखना। दु खी जनो की सेवा एवं वैयावृत्य भी इसी मे शामिल है। इससे हृदय मृदु व मधुर होता है, विशाल होता है और आसाता कर्म का बधन कम हो जाता है।

४. उदासीनता या माध्यस्थभाव—जो विपरीत वृत्ति वाले हो, शत्रु भाव रखते हो उनसे राग-द्वेष कुछ भी न करके उनमे समभाव, शीतल भाव की स्थापना रखना चाहिए। उपेक्षा भाव सयम का भाव है। तटस्थता, मध्यस्थता का भाव सतुलन का भाव है, यह द्वन्द्वो से, प्रिय-अप्रिय व राग-द्वेषादि रूप आवेगो से सुरक्षित रखता है।

इन चार भावनाओ को आ० श्री अमित गति ने एक ही पद्य मे इस प्रकार कहा है—

सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा–परत्वम्।
माध्यस्थ-भावं विपरीतवृत्तौ सदाममात्मा विदधातु देव ॥[1]

हे देव ! मेरी आत्मा का ऐसा भाव हो कि सब प्राणियो से मित्रता, गुणाधिको मे प्रमोद, दु खियो पर दया, कृपा तथा विपरीत-वृत्ति वाले जनो से उदासीन व मध्यस्थता रहे।

पंचशील भावना

इन ही भावनाओ मे से पच शील भी है। ये भी सतो मे प्रचलित है—

१. सर्व मैत्री व प्रेम का भाव—शत्रु की भी हितकामना करना।

२. करुणा का भाव—जो मुसीबत व दुख मे है उन पर रहम व तरस, कृपा और करुणा की वर्षा करना।

३ शुचिता का भाव—भलाई के भावो से हृदय को सदा पवित्र रखना। अशुचिता तथा पाप के अजाम व बुराईयो के परिणामो पर चिन्तवन करना। अपध्यान (अप-भाव), अप-कथन (अप वचन) तथा अप-चेष्टा (दुराचार कदाचार, अतीचार भ्रष्टाचार रूप चेष्टाओ) के निराकरण सावद्य क्रियाओ के वर्जन रूप मन वचन काय की पवित्रता की भावना को सदा भाना, शुचिता के भाव का पालन है।

४ प्रमुदिता (खुशी का ध्यान)—दूसरो की खुशी मे खुशी मानना। हर दशा मे प्रसन्नता का भाव ही स्थिर रखना। मन-कमल को सदा प्रमुदित ही रखना, उसे म्लान या मलीन न होने देना,-ऐसा ध्यान सदा रखना।

---

1. सामायिक पाठ–१

५ शान्ति का ध्यान—हर दशा मे परिणामो को शान्त रखना, कृतज्ञ भाव रखना। द्वन्द्वो से उद्विग्न न होना। पूजा हो या तिरस्कार किसी भी ऐसी बात से दिल को अप्रभावित रखना। बेफिक्री और शाति का ही ध्यान करना। निराकुल शाति के भाव को अचल स्थापित रखना।

भावों (मानसिक संरचना) की शिक्षा और संवर और निर्जरा तत्व

ध्यान प्रवृत्ति मे अपने भाव रूप मानसिक सरचना का बडा प्रभाव पडता है। अतः अपने मानस को अडोल शुद्ध तथा दृढ रखने के लिए प्रशस्त भावनाओ तथा भावो को भाते रहना चाहिए। सब ही सप्रदायो मे प्रशस्त भावो की बडी विशेपता तथा महत्ता स्वीकार की गई है। मानव वास्तव मे भाव मूलक प्राणी हे। उसके चित्त के शुभ-अशुभ या शुद्ध आशय के अनुसार ही अनन्त ससार की रचना है तथा इसके ही अनुसार सस्कारो के बध पडते हे तथा तदनुसार ही द्रव्य-कर्म बध भी मानव से बन्धते या निर्जरित होते है। कर्म-बन्ध की पुद्गल प्रत्ययो की सकल्पना जैन योग की विशेषता है। अत इसके सवर व निर्जरा तत्व भी विशेपता रखते हैं। जहा अन्य परम्पराओ ने केवल भाव-शुद्धि का ही वर्णन किया है, जैनो ने भाव-शुद्धि के ही साथ अनात्म कर्म-सस्थान का भी जो जीव के प्रदेशो के साथ बधता है, वर्णन किया है। तथा साथ ही भावो के रूपक होने, वर्णमय होने का तथा लेश्या रूप आलेप आत्म-प्रदेशो पर सश्लिष्ट होने का भी बडा वैज्ञानिक ढग से वर्णन किया है। शुद्धि, जिस की चर्चा के लिये जैन योग मे सवर तत्व निर्जरा तत्त्व कहे गये है, दो प्रकार से हे। द्रव्य-शुद्धि तथा भाव-शुद्धि इसके दो भेद है। चाहे सवर हो, चाहे निर्जरा हो, अथवा आस्रव या बध हो, मन हो या बुद्धि हो जैन वर्णन की विशेपता है कि इन्हे द्रव्य तथा भाव रूप से कहा है। शुद्धि का अर्थ है कि आत्मा की जागृति, आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और आनन्द प्रकाशित हो। जो व्यक्ति स्वय नही जागृत होता, उसे श्रद्धा भाव के बल से अपनी जागृति करनी चाहिए।

परम सवर का स्वरूप तब प्राप्त होता है जब आत्मा अपनी समस्त कल्पनाओ को छोडकर निश्चल-चित्त से अपने ही निर्मल स्वरूप मे थमता हे। ऐसा सवर ही परम निर्जरा का हेतु होता है। अन्य-अन्य जो भावो का वर्णन है, वह तो शुभ की कोटि मे है। शुभ से ऐसा सवर नही होता, जो निर्जरा का हेतु होता है। शुभ से आस्रव होता है। कितना ही प्रशस्त भाव हो, वह शुभ व पुण्य का ही हेतु होने से मोक्ष का कारण नही है। प्रशस्त भाव पर-द्रव्यो से जिनमे पर—प्राणी भी सम्मिलित है सम्बन्धित होते है। जब स्व निर्मल स्वरूप के ज्ञान से जीवात्मा के भाव सम्बन्ध करते है, तो वे शुभ व अशुभ दोनो से ही अतीत होकर शुद्ध स्वरूप हो जाते है।

भावो के औदयिक औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक तथा पारिणामिक ऐसे (पाच) भेद आगम मे कहे गये हैं। इनके लक्षण इनके नामानुसार है। निरुच्छुक करुणा का प्रवाह पारिणामिक भाव के ही अन्तर्गत होना चाहिये। वह ज्ञान मात्र ही वीतराग भाव हे। जब तक जीव मे कर्मों की सत्ता है, तब तक यह ज्ञान-मात्र भाव अपने निर्जरात्मक स्वरूप के कारण क्षायिक कहा जाता है। परन्तु

त्र कर्मविमुक्त अवस्था की प्राप्ति हो जाती है, तब यह त्रिकाली ज्ञान मात्र असग भाव पारिणामिक हा जाता है । क्षायोपशमिक भावो मे इतनी शुद्धि का प्रवाह नही होता कि वे पूर्ण रूप से क्षायिक हे जा सके । उनमे कपाय क्षय की क्षमता कम और कपायो को उपशम करने की अधिक क्रिया रहती । अत वे भाव क्षायोपशमिक कहे जाते है । इनसे भी कम निर्मलता वाले भाव तो कपायो व मोह मात्र उपशम करने वाले ही होते है औपशमिक कहे जाते है । वे जो भाव कर्मों के उदय मे, आस्रव वध मे हेतु बनते है, वे औदयिक भाव कहे जाते है । यह निश्चिय ही अशुद्ध होते है, अब ये चाहे भ हो या अशुभ हो । क्षायोपशमिक तथा उपशम मे शुभ व अशुभ का तारतम्यानुसार मिश्र भाव रहता । उपशम भाव के होने पर ही धर्म की क्रिया का होना सभव होता है ।

सवर का कार्य तो मात्र नये कर्मो का आत्म-प्रदेशो के साथ बधने को रोक देना है । र्जरा की प्रकृनि है कि वह कर्मों को उदय मे लाकर समाप्त करती है । यह निर्जरा दो प्रकार की हो कती है—यशाकाल व औपक्रमिक अर्थात् एक निर्जरा सविपाकी है, दूसरी अविपाकी है । जैन योग मे चित कर्मो को कर्म-संस्थान मे से प्रयत्न द्वारा (वहिरग तथा अन्तरग निमित्तो द्वारा) वाहर उदय मे लाकर र्जरित कर देना सम्भव है । यथा ही कच्चाफल कृत्रिम रूप से पाल मे देकर पका दिया जाता है, वैसे जो कर्म अभी फल देने के भी योग्य नही है, उन्हे भी वाहर उदय मे लाकर नष्ट किया जा सकता या उन्हे फल देने योग्य वना लिया जा सकता है । भाव शुद्धि का अर्थात् आत्म स्वभाव के ज्ञान-भाव अवलबन ही ऐमी क्रिया है—जिसमे विना पके या अधपके कर्म समय से पूर्व पक कर विना फल दिये झड जाते है । कर्म कर्म-सस्थान मे सत्ता रूप से पडे पडे भी बिना फल दिये नष्ट किये जाते है । विपाकी कर्म निर्जरा का सिद्धान्त जैन विज्ञान की ही विशेपता है—तथा ऐमा सिद्धान्त अन्यत्र नुपलब्ध है ।

सवर निर्जरा का पूर्व रूप है । अथवा कहा जा सकता है कि ये एक दूसरे के पूरक है । सवर ान और योग का प्रधान अङ्ग ही है । महर्षि पतञ्जलि ने "योगश्चित्त वृत्ति निरोध" कहा है, तो त पातजल निरोव तथा जैन "चिता-निरोध ध्यान" मे निरोध रूपमे यह सवर ही रहता है । ध्यान ाहे जैन परम्परा का हो या अजैन हो उसका स्वरूप सयमरूप सवर से ही वनता है । वृत्ति का सवरित ान", वृत्ति का मुख वाहर न रहना, उसका मुख आत्मा की तरफ होना, वह वृत्ति का सवर है । ये ही र्जरा व मोक्ष का हेतु है । अर्थात् वृत्ति का शुद्ध भाव होना या ज्ञान भाव मे सवरण ही सवर है, यान है । इसमे गहन इच्छा निरोध अनिच्छुकपणा असगता व वीतरागता रहती है । जव तक मानव हृदय मे इच्छाओ व कामनाओ का राज्य रहता है, वह भव से मुक्त नही हो सकता है । विपरीत ान्यता का त्याग (सम्यक्त्वसवर) सावद्य क्रिया का त्याग (विरतिसवर), अतरनिरुत्साह का त्याग अप्रमाद सवर), क्रोधादि दशाओ का अभाव (अकपाय रूप सवर), तथा मन वचन काय की क्रिया का याग (अयोग सवर), ऐसे सवर पाच प्रकार है ।

५ शान्ति का ध्यान—हर दशा मे परिणामो को शान्त रखना, कृतज्ञ भाव रखना। द्वन्द्वो से उद्विग्न न होना। पूजा हो या तिरस्कार किसी भी ऐसी बात से दिल को अप्रभावित रखना। बेफिक्री और शाति का ही ध्यान करना। निराकुल शाति के भाव को अचल स्थापित रखना।

भावों (मानसिक संरचना) की शिक्षा और संवर और निर्जरा तत्व

ध्यान प्रवृत्ति मे अपने भाव रूप मानसिक सरचना का वडा प्रभाव पडता है। अतः अपने मानस को अडोल शुद्ध तथा दृढ रखने के लिए प्रशस्त भावनाओ तथा भावो को भाते रहना चाहिए। सब ही सप्रदायो मे प्रशस्त भावो की वडी विशेपता तथा महत्ता स्वीकार की गई है। मानव वास्तव मे भाव मूलक प्राणी है। उसके चित्त के शुभ-अशुभ या शुद्ध आशय के अनुसार ही अनन्त ससार की रचना है तथा इसके ही अनुसार सस्कारो के वध पडते है तथा तदनुसार ही द्रव्य-कर्म वध भी मानव से वन्धते या निर्जरित होते है। कर्म-वन्ध की पुद्गल प्रत्ययो की सकल्पना जैन योग की विशेषता हे। अत इसके सवर व निर्जरा तत्व भी विशेषता रखते हैं। जहा अन्य परम्पराओ ने केवल भाव-शुद्धि का ही वर्णन किया है, जैनो ने भाव-शुद्धि के ही साथ अनात्म कर्म-सस्थान का भी जो जीव के प्रदेशो के साथ बधता है, वर्णन किया है। तथा साथ ही भावो के रूपक होने, वर्णमय होने का तथा लेश्या रूप आलेप आत्म-प्रदेशो पर सश्लिष्ट होने का भी वडा वैज्ञानिक ढग से वर्णन किया है। शुद्धि, जिस की चर्चा के लिये जैन योग मे सवर तत्व निर्जरा तत्त्व कहे गये है, दो प्रकार से है। द्रव्य-शुद्धि तथा भाव-शुद्धि इसके दो भेद है। चाहे सवर हो, चाहे निर्जरा हो, अथवा आस्रव या वध हो, मन हो या बुद्धि हो जैन वर्णन की विशेपता है कि इन्हे द्रव्य तथा भाव रूप से कहा हे। शुद्धि का अर्थ है कि आत्मा की जागृति, आत्मा की प्रतीति, ज्ञान और आनन्द प्रकाशित हो। जो व्यक्ति स्वय नही जागृत होता, उसे श्रद्धा भाव के बल से अपनी जागृति करनी चाहिए।

परम सवर का स्वरूप तव प्राप्त होता है जव आत्मा अपनी समस्त कल्पनाओ को छोडकर निश्चल-चित्त से अपने ही निर्मल स्वरूप मे थमता हे। ऐसा सवर ही परम निर्जरा का हेतु होता है। अन्य-अन्य जो भावो का वर्णन है, वह तो शुभ की कोटि मे है। शुभ से ऐसा सवर नही होता, जो निर्जरा का हेतु होता है। शुभ से आस्रव होता है। कितना ही प्रशस्त भाव हो, वह शुभ व पुण्य का ही हेतु होने से मोक्ष का कारण नही है। प्रशस्त भाव पर-द्रव्यो से जिनमे पर—प्राणी भी सम्मिलित हे सम्बन्धित होते हैं। जव स्व निर्मल स्वरूप के ज्ञान से जीवात्मा के भाव सम्बन्ध करते है, तो वे शुभ व अशुभ दोनो से ही अतीत होकर शुद्ध स्वरूप हो जाते है।

भावो के औदयिक औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक तथा पारिणामिक ऐसे (पाच) भेद आगम मे कहे गये है। इनके लक्षण इनके नामानुसार है। निरुच्छुक करुणा का प्रवाह पारिणामिक भाव के ही अन्तर्गत होना चाहिये। वह ज्ञान मात्र ही वीतराग भाव है। जब तक जीव मे कर्मो की सत्ता है, तब तक यह ज्ञान-मात्र भाव अपने निर्जरात्मक स्वरूप के कारण क्षायिक कहा जाता है। परन्तु

जब कर्मविमुक्त अवस्था की प्राप्ति हो जाती है, तब यह त्रिकाली ज्ञान मात्र असग भाव पारिणामिक कहा जाता है। क्षायोपशमिक भावो मे इतनी शुद्धि का प्रवाह नही होता कि वे पूर्ण रूप से क्षायिक कहे जा सके। उनमे कपाय क्षय की क्षमता कम और कषायो को उपशम करने की अधिक क्रिया रहती है। अत वे भाव क्षायोपशमिक कहे जाते है। इनसे भी कम निर्मलता वाले भाव तो कषायो व मोह को मात्र उपशम करने वाले ही होते है औपशमिक कहे जाते है। वे जो भाव कर्मो के उदय मे, आस्रव व वध मे हेतु बनते है, वे औदयिक भाव कहे जाते है। यह निश्चिय ही अशुद्ध होते है, अब ये चाहे शुभ हो या अशुभ हो। क्षायोपशमिक तथा उपशम मे शुभ व अशुभ का तारतम्यानुसार मिश्र भाव रहता है। उपशम भाव के होने पर ही धर्म की क्रिया का होना सभव होता है।

सवर का कार्य तो मात्र नये कर्मो का आत्म-प्रदेशो के साथ बधने को रोक देना है। निर्जरा की प्रकृति है कि वह कर्मो को उदय मे लाकर समाप्त करती है। यह निर्जरा दो प्रकार की हो सकती है—यशाकाल व औपक्रमिक अर्थात् एक निर्जरा सविपाकी है, दूसरी अविपाकी है। जैन योग मे सचित कर्मो को कर्म-सस्थान मे से प्रयत्न द्वारा (वहिरग तथा अन्तरग निमित्तो द्वारा) वाहर उदय मे लाकर निर्जरित कर देना सम्भव है। यथा ही कच्चाफल कृत्रिम रूप से पाल मे देकर पका दिया जाता है, वैसे ही जो कर्म अभी फल देने के भी योग्य नही है, उन्हे भी वाहर उदय मे लाकर नष्ट किया जा सकता है या उन्हे फल देने योग्य बना लिया जा सकता है। भाव शुद्धि का अर्थात् आत्म स्वभाव के ज्ञान-भाव का अवलबन ही ऐसी क्रिया है— जिसमे विना पके या अधपके कर्म समय से पूर्व पक कर विना फल दिये ही झड जाते है। कर्म कर्म सस्थान मे सत्ता रूप से पडे पडे भी विना फल दिये नष्ट किये जाते है। अविपाकी कर्म निर्जरा का सिद्धान्त जैन विज्ञान की ही विशेषता है—तथा ऐसा सिद्धान्त अन्यत्र अनुपलब्ध है।

सवर निर्जरा का पूर्व रूप है। अथवा कहा जा सकता है कि ये एक दूसरे के पूरक है। सवर ध्यान और योग का प्रधान अङ्ग ही है। महर्षि पतञ्जलि ने "योगश्चित्त वृत्ति निरोध" कहा है, तो इस पातजल निरोध तथा जैन "चिता-निरोध ध्यान" मे निरोध रूपमे यह सवर ही रहता है। ध्यान चाहे जैन परम्परा का हो या अजैन हो उसका स्वरूप सयमरूप सवर से ही वनता है। वृत्ति का सवरित होना, वृत्ति का मुख वाहर न रहना, उसका मुख आत्मा की तरफ होना, वह वृत्ति का सवर है। ये ही निर्जरा व मोक्ष का हेतु है। अर्थात् वृत्ति का शुद्ध भाव होना या ज्ञान भाव मे सवरण ही सवर है, ध्यान है। इसमे गहन इच्छा निरोध अनिच्छुकपणा असगता व वीतरागता रहती है। जव तक मानव के हृदय मे इच्छाओ व कामनाओ का राज्य रहता है, वह भव से मुक्त नही हो सकता है। विपरीत मान्यता का त्याग (सम्यक्त्वसवर) सावद्य क्रिया का त्याग (विरतिसवर), अतरनिरुत्साह का त्याग (अप्रमाद सवर), क्रोधादि दशाओ का अभाव (अकषाय रूप सवर), तथा मन वचन काय की क्रिया का त्याग (अयोग सवर), ऐसे सवर पाच प्रकार है।

भावना का लक्षण व ध्यान और भावना का भेद

(१) "ज्ञाते अर्थे पुनः पुनश्चिन्तनं भावना ।[1]

जाने हुये अर्थ को पुन पुन चिन्तन करना भावना है ।

(२) "एक चिन्ता निरोधो यस्तद्ध्यान भावना परा ।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते ।।"[2]

जो एक चिन्ता का निरोध—जो एक ज्ञेय मे ठहरा हुआ है, वह तो ध्यान है । और इससे भिन्न है, वह भावना है और उसे ही विद्वान अनुप्रेक्षा या अर्थ-चिन्ता या अर्थ का वार बार चिन्तवन कहते है ।

संक्लेश भावना

"को संकिलेसोणाम, कोह-माण माया लोह परिणाम विसेसो ।"[3]

क्रोध, मान, माया, लोभ रूप परिणाम विशेष को सक्लेश कहते है ।

सक्लेश व विशुद्धि के स्थान

कपायो के विपाक की अतिशयता जिनका लक्षण है, ऐसे सक्लेश स्थान तथा कषायो के विपाक की मदता जिनका लक्षण है, ऐसे विशुद्ध स्थान होते है । "कषाय विपाकोद्रेक लक्षणानि सक्लेश स्थानानि । कषाय विपाकानुद्रेक विशुद्धि स्थानानि ।"[4]

संक्लेश से विपरीत असंक्लेश तथा असंक्लिष्ट भावनाओ के पांच प्रकार

तप भावना, श्रुत-भावना, सत्व-भावना, एकत्व भावना और धृति-बल-भावना ऐसी पाच भावनाए असक्लिष्ट है ।

तपो भावना — तपश्चरण से इन्द्रियो का मद नष्ट होता है । इन्द्रियवश मे हो जाती हैं । अतः इन्द्रियो को शिक्षा देने वाले आचार्य, साधु, रत्नत्रय मे जिसमे स्थिरता होती है ऐसे तप की भावनाए करते है ।

श्रुत-भावना — श्रुत (शास्त्र का अध्ययन, मनन व ज्ञान) की भावना करना अर्थात् तद्विषयक

---

1 पञ्चास्तिकाय। ता० वृ० ४६/८६
2. ज्ञानार्णव-२५/१६
3. कषाय पाहुड ४-३-२२ व ३०/१५/१३
4 समयसार/आ० ५३-५४

ज्ञान मे बारम्बार प्रवृत्ति करना श्रुत-भावना है। इस श्रुत-भावना से सम्यग्ज्ञान, दर्शन, तप, सयम इन गुणो की प्राप्ति होती है।

सत्व भावना = यदि मुनि देवो से त्रस्त किया गया हो, भयकर व्याघ्रादिक रूप धारणा कर पीडित किया गया हो, तो भी वह सत्त्व भावना को हृदय मे रख कर दुखो को सहन कर और निर्मल होकर सयम का सम्पूर्ण भार धारण करे।

एकत्व भावना—का आश्रय लेकर विरक्त हृदय से मुनिराज भोग मे चतुर्विध सघ और शरीर मे आसक्त न होकर उत्कृष्ट चारित्र रूप को धारण करे।

धृति भावना—चार प्रकार के उपसर्गों के साथ भूख प्यास शीत वगैरह बाइस प्रकार के दुखो को उत्पन्न करने वाली परिषह रूपी सेना दुर्धर वेग से युक्त होकर जब योगी मुनियो पर आक्रमण करती है तब अल्प शक्ति के धारको को भय होता है। धर्म रूपी परिधान जिसने बाधा हे, ऐसा पराक्रमी योगी मुनि धृति-भावना हृदय मे धारण कर सफल मनोरथ होता है, यानी अडिग रहता है और अपनी साधना को पूरी करता है।[1]

अनशन आदि बारह प्रकार के निर्मल तप को करना—सो तप-भावना है। उसका फल विषय कषाय पर विजय प्राप्ति है। प्रथमानुयोग, चरणानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग के भेद से चार प्रकार के आगम का अभ्यास करना श्रुत भावना है। मूल और उत्तरगुण आदि के अनुष्ठान के विषय मे गाढ वृत्ति होना सत्वभावना है। घोर उपसर्ग अथवा परिषह के आने पर भी पाण्डवादि की भाति उसको दृढता से मोक्ष प्राप्त होती है। यह उसका फल है। ज्ञान दर्शन लक्षण वाला शाश्वत् एक आत्मा मेरा है। शेष सब सयोग लक्षण भाव मुझ से बाह्य हैं।[2] यह एकत्व भावना है। स्वजन व परिजन मे निर्मोहत्व होना इस भावना का फल है। मान अपमान मे समता, अशनपानादि मे तथा लाभ अलाभ मे समता रखना—सो सतोष भावना है। आत्मा से उत्पन्न सुख मे तृप्ति और विषय-सुख से निवृत्ति ही इसका फल है।[3]

पांच कुत्सित् भावनाएं

कादर्पी (कामचेष्टा), किल्विषी (क्लेशकारिणी), अभियोगिकी (युद्ध लडाई झगडे की भावना), आसुरी (सर्वभक्षणी) और समोही (कुटुम्ब मोहिनी),—इस प्रकार ये पांच भावनायें सकिलष्ट कही गई हैं।[4]

---

1 भगवती आराधना १८७–२०२

2. भाव पाहुड ५/५९

3. पचास्तिकाय–ता वृ.

4. भगवती आराधना १७९/३६६

सक्लेश परिणामो का नष्ट हो जाना ही वीतरागता है। राग और संक्लेश-परिणाम एकार्थ ही है।

समता, माध्यस्थता, वीतरागता, चारित्र, धर्म, स्वभाव की आराधना—ये सब एकार्थ-वाची है।

व्रत रक्षणार्थ भावनाएं

१ हिंसादि पाच दोषो मे ऐहिक और पारलौकिक अपाय और अवद्य का दर्शन भावना करने योग्य है। अथवा हिंसादि दु ख ही है, ऐसी भावना करनी चाहिये।

२. प्राणी मात्र मे मैत्री, गुणाधिकों मे प्रमोद, दु खी जनो मे करुणावृत्ति और अविनयो मे माध्यस्थ भाव की भावना करनी चाहिये।

३. सवेग और वैराग्य के लिये जगत् के स्वभाव और शरीर के स्वभाव की भावना करनी चाहिये।

ये शका योग्य नही होती कि अहिंसादि व्रत की समिति गुप्ति आदि रूप ये पाच भावनायें तो मुनियो को कर्त्तव्य है, इसलिये देश-व्रतियो (गृहस्थो) को नही करनी चाहिये। यह देश शब्द तो व्रतो की भाति समिति, गुप्ति आदि मे भी एक देश रूप से व्यापक रहता है। श्रावक को भी अहिंसादि व्रतों की रक्षा के लिये ये भावनाए अणुव्रत की तरह ही अवश्य करनी योग्य है।

षोडश कारण भावनाएं

दर्शन निशुद्धि, विनय-सपन्नता, शील और व्रतो का अतिचार रहित पालन करना, ज्ञान मे सतत उद्योग (अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग), सतत सवेग, शक्तित त्याग, साधु समाधि, वैयावृत्य करना, अर्हत् भक्ति, आचार्य भक्ति, बहु-श्रुत-भक्ति, प्रवचन भक्ति, छ आवश्यक क्रियाओ को न छोडना, मोक्ष मार्ग की प्रभावना और प्रवचन-वात्सल्य ये षोडश कारण भावनाए है। ये तीर्थङ्कर नाम कर्म को बाँधती है।

(१) **दर्शन विशुद्धि**—निर्दोष सम्यग्दर्शन, आत्म श्रद्धा के लिये भावना है।

(२) **विनय संपन्नता**—पूज्य महानुभावो तथा रत्नत्रय के लिए विनय भाव है।

(३) **अनतिचार शील व्रत**—व्रत और उसके रक्षक शीलो का निर्दोष आचरण पालन है।

(४) **अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग**—निरतर ज्ञान का अभ्यास करना है।

(५) **संवेग**—ससार-भ्रमण का भय, तथा धर्म और धर्म फल मे अनुराग है।

(६) **शक्तितस्त्याग**—शक्ति के अनुसार त्याग करना है।
(७) **शक्तितस्तप**—शक्ति के अनुसार तप करना है।
(८) **साधु समाधि**—समाधि सहित मरण भावना तथा साधुओ का उपसर्ग दूर करना है।
(६) **वैयावृत्य**—रोगी बाल वृद्ध की सेवा करना है।
(१०) **अर्हन्त भक्ति**—अर्हन्त प्रभु की भक्ति करना है।
(११) **आचार्य भक्ति**—मुनि सघ के नायक आचार्य की भक्ति करना है।
(१२) **बहुश्रुत भक्ति**—उपाध्याय की भक्ति करना है।
(१३) **प्रवचन भक्ति**—शास्त्र आगम की भक्ति करना है।
(१४) **आवश्यकापरिहाणि**—छ आवश्यक क्रियाओ का निर्दोष पालन है।
(१५) **मार्ग प्रभावना**—उपदेश, शका–समाधान तपादि से धर्म की प्रभावना करना है।
(१६) **प्रवचन वात्सल्य**—साधर्मी जनो से गाढा वात्सल्य रखना है।

ये सोलह कारण है। यदि अलग अलग इनका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी ये तीर्थंकर नाम कर्म के आस्रव के कारण होते है, और समुदाय रूप से सबका भले प्रकार चिन्तन किया जाता है तो भी तीर्थकर नाम कर्म के आस्रव के कारण होते है।

प्रत्येक भावना शेष पन्द्रहो भावनाओ की अविनाभावी है, क्योकि शेष पन्द्रह के बिना कोई भी एक नही हो सकती है। इनमे–दर्शन विशुद्धि भावना की प्रधानता हे। तीर्थकर नाम कर्म के बध की कारण होने से इन्हे कारण भावना कहा जाता है। ये भी तप के विशेप अग है।

भावना भाना प्रेक्षा ध्यान के विशेप अग है, इसीलिए इन्हे अनुप्रेक्षा नाम सार्थक है। इनसे चेतना के प्रति जागरुकता होती हे। भावना को साधना यात्रा के लिए नौक के समान कहा गया है—ये दु ख के पार लक्ष्य पर लेजाती है। इनसे रागद्वेष के सस्कारो को जो चेतना पर पडे होते है—तोडना चाहिए—प्रतिपक्ष भावना का आश्रय लेना चाहिए।

शुद्ध नय की प्रेरणा क्यो ?

इदमेव तात्पर्यं हेय शुद्ध नयो न हि।
नास्ति बधस्तदत्यागाद् तत्यागाद् बंध एव हि ॥[1]

अर्थ—तात्पर्य यह है कि शुद्ध निश्चय नय को भी नही छोडना चाहिए। जब तक इस शुद्ध नय (द्रव्य. नय) का आश्रय रहेगा कर्मबन्ध नही होगा। इसके त्याग होते ही कर्म का बन्ध भी होगा। अर्थात् भाव-शुद्धि अथवा शुद्ध भाव की प्राप्ति का एक मात्र गूढ रहस्य शुद्धात्मा के निर्मल अमृत-स्वभाव का मनन चिंतन और ध्यान ही है।

एक मात्र विशुद्धि का मार्ग

योग का मतव्य विशुद्धि का है, वीतरागता का है, मोह वासना से विशुद्धि का है, कर्मो के कलक से विशुद्धि का है। अत. इस योग का मार्ग एक मात्र विशुद्धि का ही मार्ग है।

---

1. समय० कलश

साधक के योगाभ्यास मे प्रगति का एक मात्र मापदण्ड यही है कि वह अपने अन्त करण मे, आत्मा मे कितने-कितने अश रूप भाव-विशुद्धि, राग मोह कषाय की विशुद्धि, भय की विशुद्धि को प्राप्त हुआ, उसका कितना अभय, नि मग और अनासक्त जीवन बनता जा रहा है। जितने-जितने अश वह अभय और मध्यस्थ-भाव, सम-भाव को प्राप्त होगा, उतनी-उतनी ही आत्मशक्ति का विकास हुआ मानना चाहिए। निर्मलता और निर्विकारता ही चारित्र शुद्धि है, चारित्र शक्ति है।

आत्म-शक्ति कोई पाशविक या लौकिक शक्ति नही है, उससे इसका कोई प्रमाण नही है। आपकी समता, पवित्रता, करूणा, स्थिरता, और शान्त और आनन्दभरित प्रकृति ही उसका मापदण्ड है। इन अप्राकृत शक्ति गुणो का ही विकास वीतराग और सर्वज्ञता मे ले जाता है। आपके हृदय का अमृत-घट मे रूपातरण हो जाना ही आपको परम प्रभु बनाता है।

भाव शुद्धि की महत्ता और निर्लिप्त जीवन जीने की कला से अमृत घट बनें

देह मे रहते मानव कभी चेष्टा हीन होकर जीवन नही जी सकता। उसे कर्मशील, श्रमशील होना ही होता है। हर कर्म या चेष्टा के पीछे एक भाव, एक भावना होती है। जीव की जीने की सुप्त भावना ही उसे सामान्यत खुदकशी करने से रोकती है—अथवा मरने से भयभीत बनाती है। यह सुप्त भावना क्षीण हो जाए तो मानव की उन्नत जीवन जीने का भाव एव इच्छा भी क्षीण हो जाते हैं। "जीवेम शरद शत" मे मानव की जीने की ही इच्छा, भावना व्यक्त होती है। इस भावना को सुप्त न रहने देकर, दृढ व उत्कृष्ट रूप से जागृत बनाना चाहिए। अच्छा जीवन जीने के लिए अत मानव को अच्छे भावो का आश्रय लेना ही होगा।

भावो का सचालन उर्ध्वगामी व प्रशस्त होना जीवन के प्रगतिगामी, सुन्दर और शिव होने के लिए आवश्यक ही है। अत भाव शुद्धि के लिए शुद्ध भाव ध्येय तथा निर्मल चारित्र पुरुष की उद्-भावना की भी त्रिकाल महती आवश्यकता मानव जीवन मे रहे हीगी,—इसमे कोई सदेह किसी भी विवेकशील व्यक्ति को नही हो सकता। अच्छे फल के लिए यथा अच्छे बीज की खेती की आवश्यकता है, वैसे ही अच्छे कर्म के लिए अच्छे भाव और भावना की भी आवश्यकता है। अच्छे भाव-पुरुष का आदर्श भी मानव के समक्ष होना आवश्यक है, जो उसके जीवन को सदा प्रेरणा व मार्ग दर्शन तथा सहारा देता रहे।

जैसे दृश्य जगत् कर्म से बनता है, वैसे ही अदृश्य मानसिक जगत् भाव से निर्मित होता है। और उसी से मानव का अच्छा बुरा कर्म-सस्थान (कर्मावरण) बनता है। इसी मे पाप व पुण्य का रहस्य है। स्वर्ग रूप अति भौतिक स्थिति और नरक रूप निकृष्ट भौतिक स्थितिओ का भी यही रहस्य है।

यह जीव ससार मे अच्छे-बुरे, पुण्य-पाप व स्वर्ग-नरक मे अनादि से झोले खाता ही रहा है। मानव जब तक उद्वेग पूर्ण दुविधामय स्थितियो मे रहेगा, उसे कभी अपना अक्षय आनन्द-ज्ञान स्वरूप

प्राप्त नही हो सकेगा । अतः भाव-शुद्धि का खेल खेलते हुए, पाप व दुष्कृतियो से बचते हुए मानव को भावातीत शुद्ध अहिंसक ज्ञानमय जीवन का खेल खेलने का विज्ञान, नि सग, निस्पृह, मोह रहित निर्मल जीवन जीने की कला का अभ्यास सीख लेना चाहिए और अमृत घट बन जाना चाहिए ।

(१) ध्यान साधना की निष्पत्तियां और कुछ निर्देश

हे सुविज्ञ पाठक ! आपने महा समाधि-विमर्ष, भाव-विमर्ष तथा भावनाओ पर विमर्ष पढे, मनन किये और साधना विमर्ष के बाद अभ्यास करके स्वानुभव मे गोते भी लगाए और आपको सम्यक् दर्शन रूप आत्मानन्द प्राप्त हुआ । आपने अपने मन वचन काया के सवर रूप स्थिति मे कुछ अनुभव किये । इन अनुभवो की सगति का ही यहा किंचित् दिग्दर्शन भी अभिप्ट है—

(१) आपने ध्यान स्थिति मे अनुभव किया होगा कि आप केवल दृष्टा तथा ज्ञाता है और इसी मे आपका पुरुषार्थ है । दिव्य सविकल्प समाधि होते ही श्वास लगभग बन्द हो जाता है, अन्तर्दृष्टि अपलक और वेधक हो जाती है—प्रकाश का आविर्भाव होता है । उस प्रकाश मे स्थिर रहना आपका पुरुषार्थ है ।

(२) आपको अनुभव हुआ होगा कि आपने जिस निर्मल पर्याय का ध्यान मे अनुभव किया वह आपकी ही दृष्टि से आई है । इससे आपको निर्णय होना चाहिए कि जीव का एक मात्र हित स्वभाव-दृष्टि है । विकल्प व विचार सब मेरे से दृष्ट है—मै दृष्टा हू । मेरा दर्शनोपयोग मेरे शुद्ध स्वरूप टकोत्कीर्ण ज्ञायक आत्मा मे ही रहना चाहिए । इस शुद्ध स्वरूप मे दृष्टि रक्खो । स्वरूप मे दृष्टि ही स्व-भाव दृष्टि है ।

(३) स्वभाव दृष्टि मे उपयोग रहने से तथा पर पदार्थ व पर-भाव से उपयोग हटाने मे स्वानुभव का मार्ग है । यही स्वभाव पुरुषार्थ है ।

(४) आपने ध्यान क्रिया मे अनुभव किया होगा कि दर्शन ही मूल रहस्य है । आत्म वस्तु का स्वभाव स्वतन्त्र, निरपेक्ष है और वह आप मे अभेद सदा वर्तमान है ।

(५) आपने प्रतीत किया होगा कि दर्शन की सब मे समान योग्यता है तथा सामान्य दर्शन योग्यता कार्य के प्रकट होने का कारण नही है । उपादान कारण इस दर्शन शक्ति मे विशेष भाव से विशेष योग्यता होती है । यह दर्शन शक्ति जब अप्रतिक्रियात्मक यानी राग द्वेष से रहित, मात्र दर्शन रूप ही रहती है तब ही यह विशेष योग्य होती है । पर-सवेदन शीलता रहते दर्शन शक्ति मे कार्य होने की योग्यता नही होती । चित्त को प्रोज्वलित तथा निर्मल करके उसे दर्शन शक्ति विकास मे, प्रेक्षा मे नियोजित करो ।

(६) मन वचन काया रूप पर-द्रव्यो मे रागादि भाव से विमुक्त ध्यानावस्था मे यही आपको

निर्णय हुआ कि पर-द्रव्य की पराधीनता मानकर ही यह जीव पराधीन हो रहा है। मोह व राग द्वेष तथा कषायो की पकड कम होने मे ही ज्ञान व दर्शन पर पडा आवरण क्षीण होने लगता है। मन वचन काया की तरफ से जो बार २ माग उठती है, इच्छाए उठती हे उनको देखो पर अनुमोदन न करो, तब उनका स्वत निरोध होने लगेगा।

(७) जीव की क्रिया के दो ही मुख है—(१) रागादि रूप विभाव जिसमे क्षोभकारी पर-सवेदन होते है (२) अविकारी स्वभाव क्रिया—जिसमे विक्षोभकारी पर के सवेदन नही होते, उद्वेग क्षोभ-विक्षोभ नही होते, उसमे होता है स्व सवेदन। इस अविकारी क्रिया की शाश्वत्ता ही वीतरागता हे। विकारी क्रिया ही वन्ध क्रिया है, देह की क्रिया, मन की क्रिया या वचन की क्रिया किसी मे भी वन्ध मोक्ष नही हे। वन्ध मोक्ष विकारी और अविकारी क्रिया मे ही हे। स्व लक्ष आत्मा की ओर उपयोग उन्मुख होने पर आत्मा अपना ज्ञान स्वभाव जब जब रचता हे और उसमे रमण करता है, तब तब वही एक मात्र आत्मा की अविकारी क्रिया है, धर्म है।

(८) आपने प्रतीत किया होगा कि आत्म-द्रव्य के स्वभाव के लक्ष दृष्टि जमते जमते सब व्यवहार का निषेध हो जाता है। निश्चय का इसमे आश्रय हुआ और व्यवहार का निषेध हुआ—यह अस्ति और नास्ति रूप का जो अनुभव हुआ यही है अनेकान्त। तथा यह भी अनुभव हुआ कि एक ही शुद्धनय का ही आश्रय रहता हे। जैसे जैसे वृत्ति स्वभाव की ओर ढलती जाती है, व्यवहार का अभाव होता जाता है। प्रेक्षाए और अनुप्रेक्षाए स्वभाव की ओर ही ढालती जाती है।

(९) उपयोग को, अपनी दर्शन-शक्ति को अपने विशुद्ध द्रष्टा व ज्ञायक भाव पर ही एकाग्र रखना चाहिए और इसी मे पर्याय स्वत ही शुद्ध होती जाती है। इस विशुद्धि के अर्थ वर्तमान क्षण का भरपूर उपयोग करना चाहिये, अतीत की स्मृति या भविष्य के लिए कल्पनाये व स्वप्नो को नही बनाते रहना चाहिए (२) प्रत्येक कार्य विवेक पूर्वक जानते हुए करना चाहिए। (३) निरन्तर अपनी जागृति रखनी चाहिए, प्रमाद न रखकर अप्रमत्त रहना चाहिए। (४) क्रिया हो, पर प्रति क्रिया,—आवेश, आवेग, राग द्वेष, प्रिय अप्रिय भाव न करे। (५) सर्वत्र मैत्री भाव रक्खे। आत्मा के तीन स्व रूपो के भेद—बाह्यात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा के स्वरूपो को हृदयगम रक्खे। व्यवहार व निश्चय रत्नत्रय का स्वरूप समझे। ज्ञान, दर्शन, चारित्र और तप व वैराग्य की अनुप्रेक्षा (भावना) दृढ रक्खे। अनुप्रेक्षाओ मे—(१) एकत्व अनुप्रेक्षा कि मै अकेला, बाकी सयोग (२) अनित्य अनुप्रेक्षा देह व रूपी ससार सब अनित्य (३) अशरण अनुप्रेक्षा—मात्र अपना अस्तित्व ही शरण, आत्मा ही एक मात्र शरण तथा (४) ससार अनुप्रेक्षा—यह उत्पाद व्यय शील समूचा परिवर्तन-चक्र सा है, की विशेष भावना रक्खे। भावना ही दु ख के पार ले जाता है।

(१०) आत्मा केवलदर्शनज्ञान उपयोग मय है, गुण मय है। वह केवलमात्र देखने तथा जानने का ही काम करता है। यह देखना मन वचन काया मे नही है। आत्मा के ये त्रैकालिक गुण है, स्वरूप है—ये अपने आप ही विशेष रूप (वर्तमान पर्याय रूप) कार्य करते है।

(११) सामान्य दर्शन और सामान्य ज्ञान स्वय परिणमन करके विशेष रूप होता है वही विशेष रूप देखने तथा विशेष रूप जानने का काम करता है। देखने व जानने के कार्य के लिए अन्य अवलम्बन की अपेक्षा नही है, यह तो स्वावलम्बन से ही देखता है, जानता है। यह विशेष दर्शन तथा विशेष ज्ञान स्वाधीनता से हट कर परावलम्बन मे जाता ही नही है।

(१२) धर्म कही बाहर नही, यह तो अपने ही ज्ञानानन्द स्वभाव का धर्म है। दर्शन और ज्ञान का कार्य अपनी ही आत्मा को प्रसिद्ध करना है। अखण्ड आत्मा ही आदरणीय है, मन वचन काया—कुछ भी इस आत्म ध्यान मे आदरणीय नही है।

(१३) दर्शन और ज्ञान शक्ति मे सर्व दर्शित्व तथा सर्वज्ञत्व के प्रकट होने की शक्ति है। वही इन शक्तियो का विकास है—विशेप पर्यायो की उपलब्धि है वह क्रम क्रम ही निर्मलता होते, चिद् परणति बढते बढते ही सम्भव है।

(१४) द्रव्य, गुण और निर्मल पर्याय, यही आत्मा का स्वभाव है और इस स्वभाव की अतर-रचना की सामर्थ्य त्रिकाल ही आत्मा मे है। जो रागादि विकारो की रचना होती है वह आत्मा की रचना नही है, न स्वभाव है। ये सब आत्मा मे ध्यान गत अवस्था मे इसी कारण सयोगी और बाह्य ही रह जाते हैं।

(१५) ध्यान मे अपनी दृष्टि शक्ति ज्ञान शक्ति ही निज वीर्य शक्ति के आश्रय ही निज स्वरूप मे टिकाए रखती है—ऐसा अनुभव होता है, निर्णय होता है। रागादि स्वत ही हटते जाते है, हटाने का विकल्प भी नही करना पडता। विकल्प मात्र भी हो तो स्व वस्तु के रस से च्युत हो जाते है। विकल्प और विचारो का मौन,—उनके भी दृष्टा मात्र रहने से ही ध्यान का स्वरूप बनता है।

(३६) इस आत्मा मे चैतन्य प्रभुता भरी है। यह अन्य की, पर की चाहना क्यो करे ? अन्तर-अभ्यास मे जब तक दृश्यो तथा दृश्यो सम्बन्धी विचार तथा भाव है, तब तक अपनी निर्मल आत्मा की नित्य निर्मल अवस्थिति भी नही है। अत इन दृश्यो तथा विचारादि लोको का यथा शीघ्र अपने अभ्यास से अतिक्रमण करो।

(१७) यह आत्मा अनेक भाव रूप होने पर भी वस्तुत एक ही भाव रूप है,—यह कही बाह्य मे व्यापक नही है। अपने ही अन्तर मे, अपने ज्ञान भाव मे सर्वव्यापक है।

(१८) आत्मा की प्रकाश शक्ति स्वय है। वह स्वय अपना स्व सवेदन करता है। पर पदार्थ सवेदन करे तो राग-द्वेष प्रिय-अप्रिय आदि द्वन्द्व होते है। यह अपने से प्रकाशमान है। यह प्रकाश चैतन्य और अतीन्द्रिय है। यह प्रकाश बाह्य प्रकाश से अतीत है।

(१९) आत्मा का अमर्यादित चिद् विलास है। इस ओर अन्तर्मुख न होने से ही संसार ज्वाला की प्राप्ति है। आत्मा मे ससार का कोई कार्य नही है, अपने मे ही इसका चिद् परणति-रूप कार्य है और यही रहेगा। स्वभावावलम्बन से जो पर्याय स्वत आई और आती रहेगी,—वही इस आत्मा का कार्य है।

(२०) आत्मा को सयोग वियोग मे दृष्टि नही करनी, अपने मे ही दृष्टि करनी है। इसका दृष्टा और ज्ञायक स्वभाव ही ध्रुव उपादान है।

(२१) आपने अनुभव किया कि यह आत्मा अपने ही स्वभाव मे है। यह अपना स्वभाव छोडकर कही पर-रूप नही हुआ है। इसके गुण कही बिखर कर छिन्न भिन्न नही होते, और यह गुण ही इसे अखण्ड रखता है—इस गुण का सूक्ष्म परिणमन प्रति समय होता ही रहता है। क्या यह इसका अलौकिक अचिन्त्य स्वभाव नही है ?

(२२) आपने अनुभव किया कि आत्मा का गुण किस क्रम से कब कैसे परिणमन करेगा इसका कोई नियम नही बनाया जा सकता। अणु के ऋणाणु तथा धनाणुओ का ही कोई नियम नही। इनके यानी ज्ञान और भौतिक अणु के गुण अपने ही आधीन हैं। अत इनके क्रम अक्रम हैं—यही कहा जा सकता है पर स्वभाव लक्ष मे जो पर्याय आती है वह नियम से जो आनी होती है, आती है,—अत क्रम बद्ध ही कही जाती है। वैसे ही जड मे भी जो दशा आनी होती है, क्रम से ही आती है।

(२३) कर्म के परमाणुओ मे अवस्थाए बन्ध, उदय, उदीरणा, उपशम, अपकर्षण, उत्कर्षण, सक्रमण, सत्ता, निधत्त, निकाचित परमाणु की क्रमबद्ध दशाए है। आत्मा के पुरुषार्थ (स्व लक्ष पुरुषार्थ) के समय जो परमाणु विद्यमान होते हैं,—वे अपनी-अपनी योग्यतानुसार स्वय परिणिमन करते है उनमे समय-समय पर्याय क्रमबद्ध बदलती है—ये स्वय आत्मा मे कुछ नही करते। ये मात्र आवरण रूप ही हैं। स्वरूप मे रमण करने से स्वय चैतन्य आत्मा मे अपनी क्रमबद्ध पर्याय होती है।

(२४) क्रमबद्ध पर्याय का ज्ञान स्वभाव और स्व पुरुषार्थ मे ही ढलने को प्रेरित करता है। स्वाभावोन्मुख होने को कहता है। निमित्तो के आश्रय छोडकर स्वाश्रयी होने को कहता है।

(२५) अन्तर स्वरूप मे दृष्टि करने तथा अवलोकन करने पर विकार बाहर रह जाते है—क्योकि स्वभाव मे विकार नही है, यानी विकारो की वहा एकता है ही नही।

(२६) आपने अनुभव किया कि यह आत्मा अखण्ड है,—ऐसा नही है कि दर्शन करने वाली आत्मा अलग है, या ज्ञान करने वाली आत्मा अलग है। यह अनेक गुण रूप होकर भी एक रूप है।

(२७) आत्मा की भाव शक्ति,—सुखादि भावो के लिए किसी "पर" को कारक नही बनाती,—वह स्वय ही अपनी अन्तर्मुखता मे भावक है, भाव्य है और भाव रूप है, अखण्ड भाव रूप है। यह पारिणामिक भाव से शुद्ध है।

(१८) आत्मा अनीन्द्रिय दर्शन और अनीन्द्रिय ज्ञान से ही स्वसवेदनगम्य है, स्वसवेदन प्रत्यक्ष है। समुद्र तरगो के समान असख्य दृश्य एक के बाद एक जब अन्तर्दृष्टि मे इस चिदात्म आत्मा के तट से आ आ कर, टकराकर, गलकर विलीन हो जाते हैं—सारे परि दृश्यमान लोक अन्त मे उस विराट् चेतना सागर मे कही खो जाते हैं तब ही अनन्त आनन्द सागर हो गये होते है।

(२९) आत्मा की निर्मल पर्याय आत्मा की शक्ति का ही कार्य है और इस निर्मल पर्याय को प्रकट करने के लिए मात्र आत्मा मे ही देखना है। इसके सिवाय आत्म-सिद्धि का कोई अन्य मार्ग नही है। केवल दर्शन, केवल ज्ञान का मार्ग है। अत अन्तर्दृष्टि करो, अन्तर्दृष्टि करो, अन्तर्दृष्टि करो,—कायोत्सर्ग मे (मन बचन काया के सवर मे) स्थिर होकर स्वय सत्य खोजो, खोज मे ही आत्म प्राप्ति है।

(३०) यह आत्मा ही अमृत है, अमर परिणामी रस है। इस रस का आस्वादन नही, तो जीवन वृथा है। अनादि भव भ्रमण के अन्त का अन्य कोई,—इतना सरल त्वरित सीधा मार्ग नही।

(३१) शरीर, प्राण, वचन और मन—ये हमारे जीवन के बाहर के स्तर है, आत्मा इनसे भिन्न है। हम काया प्राण मन वचनादि की प्रेक्षा इस लिए करते है कि इनके सूक्ष्म स्वरूपो, प्रकम्पनो को पकडे, देखे और स्थूल औदारिक और तैजस (प्राण) शरीर के प्रकम्पनो से आगे कार्माण शरीर के सूक्ष्मतम प्रकम्पनो तक हम पहुचे और उन्हे देखते २ स्वय अपने अप्रकम्पित ज्ञान स्वभाव को जानने लगे, प्रकम्पनो मे से यात्रा करते २ अप्रकम्पित अयोग--स्थिति जो आयोगिजिन अवस्था है, उसका हमे परिचय हो। हम देह मन वचन प्राण के कारागारो मे बन्धे है। अपने असीम अनन्त मुक्त ज्ञान के प्रतिच्छेदो से अपरिचित है। हमारी अन्तर्यात्रा ससीम से असीम की ओर, अनन्त ज्ञान की यात्रा है। मानव स्पदनशील अनात्म सृष्टि राज्य का अतिक्रमण करके स्पदन रहित, स्थिर, सम और असीम आत्म-ज्ञान मे प्रवेश पाकर ही मुक्त होता है।

अन्त मे यह स्मरण रक्खे कि ध्यान व साधना-अभ्यास को जब समाप्त करते हैं तब करूणा भाव के महा सागर मे ही अपने को निग्मन सा करके कुछ काल स्थिति रहना चाहिए। आ० शुभचन्द्र का यह उपदेश वास्तव मे अति स्मरणीय ही है। इसी सम्बन्ध में यह भी स्पष्ट कर देना अपेक्षित है कि यहा जिस करूणा भाव की चिन्तना का उपदेश है, वह मोह का पर्यायवाची नही है। एक स्थान पर करूणा को मोह का चिह्न भी कहा है—यथा—

अट्ठे अजधागहणं करूणाभावो य तिरिय मणुएसु।
विसएसु व पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि॥

पदार्थ का अयथा ग्रहण (दर्शन-मोह) और तिर्यंच व मनुष्यो के प्रति करूणा भाव व विषयो की सगति (शुभ-अशुभ प्रवृत्ति रूप चारित्र) मोह के चिह्न है।

पर जब करूणा व्यक्ति व वस्तु (पदार्थ) से ऊपर उठ कर स्व की करूणा रूप अभिन्न होती है—तो वह वीतराग प्रशम रस रूप एक दिव्य विभु भाव मय ही हो जाती है कि जिसमे सहज ज्ञान भाव अवत्तीर्ण रहता है। सहज करूणा रस का प्रवाह आत्मा का ही गुण है। इसमे व्यक्ति या पदार्थ निष्ठ रागाश का भी सद्भाव कैसे रहे ?

४–योग शासन की प्रागैतिहासिक तथा वेद पूर्व परम्परा, प्राचीनता, और प्रमाणिकता

- भारत वर्ष ग्रौर उसकी सस्कृति
- हिन्दू सस्कृति मूल सस्कृति का एक देश मात्र
- मूल सस्कृति का मूल भारतवर्ष
- सद् धर्म ही मूल ग्रौर सनातन
- समन्वय दृष्टि ग्रनेकात
- ग्रखड सत्य-ग्रात्मा का लाभ
- योगशासन के इतिवृत मे भारत की गौरवमयी यशोगाथा
- विश्व व्यवस्था के निर्मापक तथा योग के ग्रादि प्रवक्ता
- योग-ग्रन्थो ग्रौर योग-वेत्ताग्रो के मत —
- १. योग निकेत
- २. कल्याण का योगाक
- ३ पुराण ग्रन्थो का ग्रालोक
- ४. देवी-भागवत की साक्षी । हठयोग की मान्यता
- ५ नाथ-स्तोत्र
- ६ "धर्म का ग्रादि प्रवर्तक" मे पुराणो की साक्षी
- ७. जैन ग्रादि-पुराण
- ८. स्वयभू स्तोत्र
- ९ सूरसागर तथा सूर सारावलि
- १०. "योग-तत्वम्" मे श्री दामोदर शास्त्री
- ११. "योग की प्राचीनता"—श्रीमन् मौक्तिक नाथ नैरजन का वैदुष्यपूर्ण निरुपण तथा निष्कर्ष
- १२. ग्रथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योग " सूत्र की ग्रलौकिक पद रचना
- १३ भर्तृ-प्रपच के उद्धरणो मे जैन प्ररूपणाग्रो से निकटता
- १४. पातजल योग—दर्शन मे श्री ग्रोमानन्द स्वामी द्वारा श्री हिरण्यगर्भ की मान्यता
- १५. षट् दर्शनो मे योग-दर्शन की प्राचीनता
- १६. योग का उत्स, ग्रौर तप ग्रौर ग्रक्षर विद्या (योग विज्ञान) का ग्राविर्भाव

- निर्ग्रन्थ वातरशना दिगम्बर मुनियो की प्राचीन परम्परा
- जैन सस्कृति को वैदिक सस्कृति की शाखा बताना नितात भ्रम पूर्ण
- सत्य-युग के प्रथम स्वायभुव मनु की पीढी मे ऋषभदेव पाचवें
- सिन्धु घाटी की सभ्यता और मनुर्भरतो की समकालीनता
- प्राचीन अयोध्या वेद-वर्णित
- श्रीमद्-भागवत मे नाभि और ऋषभदेव
- तीर्थंकरो का विष्णु के अवतार रूप मे मान्यता और वर्णन
- भारतीय इतिहास का प्रथम अध्याय, जैन धर्म के इतिहास का आदि पर्व
- जैन वाङ्मय में भ० हिरण्य गर्भ की स्तुति तथा अन्य स्तुति-स्तोत्र
- प्रागैतिहासिक और प्राक्-वैदिक सस्कृति
- शिव और ऋषभदेव, समानताए और मान्यता
- पार्श्वनाथ और नेमिनाथ के इतिहास-पुरुष होने के कुछ साक्ष्य
- प्रसिद्ध आख्यायिकाओ के सकेत

- १. प्रजापति और इन्द्र विरोचन का आख्यान
- २. यक्ष (अक्षय) पुरुष से इन्द्र को ज्ञान
- ३. तपोयोग और वरुण भृगु सवाद

- तपोयोग और श्वेताश्वतर
- यज्ञादि कर्म-प्रधान अपरा विद्या के साथ परा अध्यात्म-विद्या का समन्वय
- हैरण्यगर्भीय अक्षर 'तप' विद्या ब्राह्मण वर्ग के पास कैसे पहुची
- 'तप' महिमा की मान्यता
- अध्यात्म-विद्या मात्र क्षत्रियो की देन
- छान्दोग्योपनिषत् की साक्षी क्षत्रिय परम्परा का ब्राह्मणो मे प्रचार
- भ० राम के भावनोद्गार
- पारस वशी नाथ-संप्रदाय और कबीर-पथी सप्रदाय
- महात्मा बुद्ध और भ पार्श्वनाथ की परम्परा
- धम्मपद और मजुश्री मे ऋषभ देव
- त्रिशास्त्र के संप्रदाय के चित्सग का ऋषभ-दर्पण
- यजुर्वेद मे भ अजितनाथ, अरिष्ट-नेमि
- भ. नेमिनाथ का जन्म और वर्णन
- नेमि नाथी सप्रदाय
- महाभारत और वेदो मे नेमिनाथ

- आगीरस नेमीनाथ
- श्रीमद्-गीता का ज्ञान क्षत्रिय श्रमग परम्परा का
- नासदीय सूक्त की अन्तरग साक्षी-जैन नय शैली, अनेकात, अगशास्त्र, और केवल ज्ञान अवस्था के निदर्शन के रूप मे
- नासदीय सूक्त एव गीता मे सृष्टि-रचना नही,—कर्म (आवरण) रचना का कथन
- गीता मे स्वभाव एव विभाव (रचना) वर्णन
- जैन योग का भेद-विज्ञान और कठोपनिषद्
- वेदो का पुरुष—भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभदेव)
- पुरुष प्रतीक और अयोध्या का प्रतीक
- चैत्यवृक्ष श्रमणपरपरा मे वृक्षो की मान्यता
- परोक्षप्रिय ऋषि-देवो के वर्णन सकेत रूप
- ऋषभदेव अग्निदेव (तपोपूत पुरुष)
- अथर्व-वेद मे ऋषभदेव की परमेश्वर रूप मे स्तुति
- गायत्री मत्र और केवल ज्ञान सूर्य भ० तीर्थंकर
- पुरुष सूक्त मे भ आदिनाथ वृषभेश्वर की स्तुति
- अष्ट चक्रा नव द्वारा अयोध्या और उसके स्वामी
- वेद–ऋषियो को योग अविदित, अत योग ज्ञान प्राप्ति की उनकी ललक
- अष्ट–चक्रो का निरुपण
- भ० आदिनाथ ऋषभदेव की "बावनगजा" प्रतिमा
- भ० बाहुबलि की प्रतिमा
- योग-धर्म की प्राचीनता और भ० हिरण्यगर्भ द्वारा शिक्षण
- प्रशात और स्थिर आत्मा का ज्ञान
- स्वाश्रित साधना
- अलौकिक रूपक मे योग धर्म का स्वरूप वर्णन
- उपनिषदो मे तीर्थंकरो के तत्त्वो का प्रभाव तथा वर्णन–साम्यता
- श्वेताश्वतरोपनिषद् मे भ० हिरण्यगर्भ की और उनकी सकल ध्यान ध्येय के रूप मे प्ररूपणा तथा उनके तपोयोग का वर्णन
- धर्म के अन्वेषक वीतरागी क्षत्रिय और उसके प्रसारक ब्राह्मण
- तीर्थंकर सत्समागम के वरदान
- त्रिविक्रम और त्रिरत्न (रत्नत्रय)
- ऋषभ का नाम और काम विश्व व्यापक
- वेदो मे ऋषभदेव की भाव-विभोर स्तुतियो
- केशी प्रभु ऋषभदेव

- ऋग्वेद मे भगवान् ऋपभदेव को "छन्दासि स्तुत" "सूर्य-रश्मि", "हरिकेश." "हरिश्मश्रु" रूप मे वर्णन
- ऋग्वेद मे अनन्त चतुष्टय का तथा सम्यक्दर्शन का श्रद्धा के रूप मे वर्णन
- हिरण्यगर्भ सूक्त मे भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) की उपास्य रूप मे स्तुति
- यजुर्वेद और ऋग्वेद के और भी स्थल
- वेदो का ऐतिहासिक मूल्य
- वेदो मे इतिहास और ऐतिहासिक पुरुषो के सत्यार्थ न करके अभिष्ट अर्थ किये गये है
- अखिल धर्म-सप्रदायो का एक आदि धर्म-प्रवर्तक
- 'गोवत्स' वृषभ की प्राण विद्या, सुरो को प्रथम प्राप्त हुई
- "पूर्व देवा" तथा पूर्व ऋषि वैदिक आर्यो से पूर्व के आर्य थे
- असुर (अहुर) और आर्हत् वार्हत्
- ऋषभदेव और द्रविड
- ऋषभदेव के पुत्र विश्व-विजेता भरत, उनका राज्य भारत, और राजधानी हस्तिनापुर
- लिपि और ज्ञान विज्ञान के पुरस्कर्ता महाराजा ऋषभ
- परमेष्ठी पद की मूल उद्भावना
- ऋषभ पुत्र भरत, भरत वशी भारत और भारतवर्ष देश का नामकरण महाराज भरत के नाम पर
- ऋग्वेद मे भारतो का उल्लेख। भरतवश वेदपूर्व
- तृत्सु सुदास भरतो के कुल मे
- महाभारत के कौरव-पाडव— "भारत" प्राचीन भारतो से भिन्न
- सूर्य वश को मनु ने, चन्द्र वश को बुध ने स्थापित किया
- आद्य चक्रवर्ती भरत ने चन्द्रवशी पुरुरवा को परास्त किया था
- इन्द्र, अर्हन्न, अग्नि
- ऋग्वेद मे नहुष का भारतो द्वारा पराभव वर्णन
- असुर और देवो के सघर्प की लहर
- वेदो मे वेद-पूर्व महापुरुषो के सकेत प्रमाणिक
- वेदो मे कर्मकाडी छन्द ही नही, कही-२ प्राचीन भारतो से सबधित प्राचीन छन्दो का भी समावेश है
- सूर्यवशी इनकी-उपाधि सूर्य और विष्णु पूजा ऋषभदेव की ही पूजा थी
- सूर्य और अग्नि समानार्थक और भरत का भी अग्नि नाम से उल्लेख और देवो का अग्नि धारण
- भरत से भारत
- पूर्व भारत दौष्यन्ती भरत से अति प्राचीन

- निमित्त शास्त्र जो आज उपलब्ध नहीं
- प्राचीन आर्य अहिंसा प्रधानी
- सम्राट भरत अन्तिम मनु
- भरत नाम की सार्थकता
- ऋषभदेव और भरत से ईक्ष्वाकु व सूर्य-वश
- औषधि ज्ञान के प्रणेता
- अयोध्या की सगति
- ऋषभ पुत्र भरत की राज्य सीमा
- स्व० कर्मानन्द की कृति, एक गवेषणात्मक चिन्तन—प गगानाथ झा के शब्दों मे
- डॉ ज्योतिप्रसाद के शोधपूर्ण निष्कर्ष और प्रागैतिहासिक काल से ही प्रवाह मय यह योगमय जैन धर्म
- यह आत्म-धर्म के रूप मे सनातन
- धर्म और सस्कृतियो के आदि प्रवर्तक की स्थापना मे समन्वय सामजस्य की ही अन्र्तदृष्टि
- नव-निर्माण की आधार भूमि क्या हो
- हम कब तक भटकेंगे
- निष्पक्ष चिन्तन शील दृष्टि की अपेक्षा
- प्राचीन इतिहास के उपदेशात्मक अर्थो को निष्पक्ष ज्ञान वाली आगे की पीढिया क्षमा नही करेगी
- आत्मा की आलौकिक चैतन्य प्रकाश धारा पाई ही जानी चाहिये।
- प्राचीन वाङ्मय राष्ट्रीय निधियाँ है, वह जीवन निर्माण के प्रकाश, आस्था और करुणा
- भाव के स्रोत है
- अतीत से आता यह प्रकाश-पु ज और आस्था का शखनाद

भारतवर्ष और उसकी संस्कृति

"भारतीय सस्कृति का स्वरूप" प्रबन्ध मे डा. गोपीनाथ कविराज ने भारतवर्ष और उसकी सस्कृति पर अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है—

"प्राचीन भूगोल के अनुसार भारतवर्ष सप्त द्वीपा वसुन्धरा के अन्तर्गत जम्बू द्वीप का एक वर्ष है। इसके उत्तर मे हिमालय और दक्षिण मे लवण–समुद्र है। यह योग भूमि होने पर भी विशेषत कर्म भूमि है।

"पूर्वापर समुद्र-जल से भारतवर्ष ९ (नौ) खण्डो मे विभक्त है। ये खड नवद्वीप नाम से प्रसिद्ध है। इसमे कन्या द्वीप नाम से परिचित नवम्-द्वीप ही कुमारिका खड है। यह हिमालय के पाद मूल मे अवस्थित है। ऋषभ-पुत्र राजा भरत ने यह देश अपनी कन्या कुमारी को दान दिया था। शेष आठ द्वीप पुत्रो को दिये थे।"

इस देश भारतवर्ष का इस प्रकार भगवान् ऋषभदेव व उनके पुत्र चक्रवर्ती सम्राट भारत से सम्बन्ध बता कर डा० गोपीनाथ ने आगे भारतवर्ष की विशिष्टता को बताया है—

"जम्बू द्वीप के अन्तर्गत इलावृत प्रभृति वर्षो मे एक मात्र त्रेता युग ही सदा विराजता है, न वहाँ सत्ययुग है, न कलि है। सब वर्षो के भीतर भारत-वर्ष ही ऐसा देश है, जहाँ चारो युग वर्तमान है।"

ऐसे विशिष्ट देश भारत की भारतीय सस्कृति की चर्चा मे आगे उन्होने बताया है—

"यहाँ जिस संस्कृति की अभिव्यक्ति हुई है, जगत् के किसी देश मे उसकी उपमा नही है। मिश्र देश (इजिप्ट), फिनिशिया, पार्थिया, क्रीट भूमध्य सागर की प्राच्य-प्रान्त भूमि, ग्रीस, प्राचीन चीन-किसी भी देश की सस्कृति की गभीरता, व्यापकता, विरोध-समन्वय सामर्थ्य और सर्वतो मुख विकास के विषय मे भारतीय सस्कृति के साथ तुलना योग्य नहीं प्रतीत होती। व्यष्टि के साथ समष्टि का तथा दूसरी ओर सर्वातीत मूल सत्ता का इस प्रकार अद्भूत समन्वय और किसी देश मे नही मिलता। यदि किसी दिन भारतीय सस्कृति की ऐतिहासिक क्रम धारा के अतराल मे रहने वाले तत्वो का विश्लेषण सम्पन्न होगा तो इस सस्कृति की महिमा प्रस्फुटित होगी। अत्यन्त खेद की बात है कि वर्तमान समय मे भारतीय सस्कृति के स्वरूप का पर्यालोचन करने के लिए विद्वज्जन यथोचित प्रयत्न नही कर रहे है।"

हिन्दू संस्कृति मूल सस्कृति का एक देश मात्र

"हिन्दू सस्कृति इस मूल सस्कृति का एक देश मात्र है। एक चिन्तनशील लेखक ने कहा था कि इस मूल सस्कृति से ही क्रमिक सकोच विकास के प्रभाव से नाना सस्कृतियो का उद्भव हुआ है। दस्युओ की सस्कृति, द्राविड-सस्कृति, आर्य-सस्कृति, बौद्ध व जैन सस्कृतिया तथा अभिनव हिन्दू सस्कृति इसी के क्रम विवर्तमान अवस्था मात्र है। वानरो की तथा राक्षसो की सस्कृति भी उसी की विकृति-मूलक स्फूर्ति है। मैं समझता हूँ कि इन सब तत्वो को पूरी-पूरी आलोचना करके समझने का समय आ गया हे।"

मूल संस्कृति का मूल भारतवर्ष

"एक प्रदीप से जैसे सहस्त्र प्रदीप प्रज्वलित किये जा सकते है, वैसे ही एक जीवन्त सस्कृति के प्रभाव से सहस उपसस्कृतियो का विकास होता है। भारत वर्ष से तिव्वत (महाचीन) चीन, नेपाल, मध्य एशिया, गान्धार, जापान, कोरिया, ब्रह्मदेश प्राच्यद्वीप पु ज (सुवर्णद्वीप, वालिद्वीप, यवद्वीप, आदि) प्रतीच्य उपद्वीप ईरान सिंहल प्रभृति नाना देशो मे सभ्यता का विस्तार हुआ है, वह अखडनीय ऐति-हासिक तत्त्व है। सभवत वेवीलोन, मिश्र, उत्तर कोरिया, फिलस्तीन, ग्रीस आदि स्थानो मे भी ऐसा ही हुआ है। क्रीट, ऐशिया माइनर प्रभृति स्थानो मे जो प्राचीन तान्त्रिक साधना के भग्नावशेष मिले हैं, उनका आलोचन करने से प्रतीत होता है कि इनका मूल भी परम्परा से भारतवर्ष ही है।"

इस प्रकार प्राय समस्त विश्व ही दिव्य ज्ञान और शक्ति के लिए साक्षात् या परम्परा से भारतवर्ष के ऋणी है। यह बताकर उन्होने आगे कहा है—

सद्धर्म ही मूल और सनातन

"और और धर्मो का जैसा नाम है, भारतीय मूल धर्म का वैसा कोई नाम नही है। हो भी नही सकता। क्योकि जो नित्य व्यापक और सनातन है, वह परिच्छिन्न नाम से परिचित होने योग्य नही है। इसी लिए इसका नाम सनातन धर्म है। बौद्ध, जैन भी इसी प्रकार मूल-धर्म को सद्धर्म मात्र कहते है।" इस सद्धर्म का ही प्रवचन तीर्थंकर अनादि काल से कृति रूप मे उपदेश करते हैं।

समन्वय दृष्टि अनेकान्त दृष्टि

आगे फिर भारतीय सस्कृति के रहस्य के दो तथ्यो पर ध्यान आकर्षित कर कहा है कि "समन्वय-मार्ग से ही भारतीय सस्कृति का रहस्य उद्घाटित होगा। कहने का तात्पर्य यही है कि भारतीय दर्शन-विकास मे समन्वय रूप दर्शन तथा दृष्टि भारतीय सस्कृति की सार्व भौमिक

या सार्वकालिक विशिष्ट देन है ।" इस सदर्भ मे अनेकात् दृष्टि का बहुमान स्पष्ट ही लक्षित हो जाता है ।

अखंड सत्य-आत्मा का लाभ

दूसरे उन्होने कहा है कि "भारतीय सस्कृति को अखड सत्य का पता है । इसी से यह खंड सत्य का भी आदर कर सकती है । इस देश की प्रत्येक विद्या, प्रत्येक कला, प्रत्येक शास्त्र ही एक महान् उद्देश्य से अनुप्राणित है । ब्रह्म प्राप्ति या आत्म लाभ ही जीवन का मुख्य लक्ष्य है । प्राचीन समय मे भारतवर्ष मे सर्व प्रकार साधना का यही परम उद्देश्य था—"य लब्ध्वा चापर लाभ मन्यते नाऽधिक तत —"भारतवर्ष का यह ज्ञान था कि आत्म-लाभ होने पर और किसी वस्तु की प्राप्ति शेष नही रहती ।"

भारतीय सस्कृति मे समन्वय ज्ञान और आत्मलाभ इन दो विशिष्टताओ का जन्म देने वाले चक्रवर्ती राजा भरत के पिता आदि गुरु ऋषभदेव या हिरण्यगर्भ प्रभु-वैदिक आर्यों से भी पूर्व भारतवर्ष मे हुए और उन्होने योगशासन प्रवर्तित किया । उन्होने सनातन मानव धर्म का व्यवस्थित रूप से प्रवचन किया । यह प्रागैतिहासिक तथा अखडनीय है । इसी का इस अध्याय मे वेदादि से व पुराणादि की बहिरग साक्षियो से, तथा उपनिषद्, पुरुष सूक्त, नासदीय सूक्तो आदि की अन्तरग साक्षियो से विवेचन प्रस्तुत कर रहे है ।

योग शासन के इति वृत्त में भारत की गौरव पूर्ण यशो गाथा

यह कम आश्चर्य जनक नही है कि जिसे आज इतिहासकार प्रस्तर युग व सभ्यता का आदि-काल कहते है, उस समय भगवान् आदिनाथ हिरण्यगर्भ ने अध्यात्म के उच्चतम शिखर को प्राप्त कर लिया था, तब शेष जगती तल असभ्यता के अध युग मे सोया हुआ था । योग विज्ञान की प्रमाणिकता और इसका इतिवृत्त वस्तुत हजारो ही वर्ष की कहानी है । जैन गणनानुसार तो हजारो लाखो ही वर्ष पुरानी है । इस परम्परा मे चौबीस तीर्थंकरो का शासन प्रवर्तित हो चुका है । प्रथम तीर्थंकर भ. आदि-नाथ हिरण्यगर्भ या वृषभेश्वर ऋषभनाथ हुए अन्तिम वर्धमान महावीर सन्मतिनाथ । यह आदि कही जाने वाली सृष्टि के इस युग की बात है । योग शासन के इतिवृत्त की जानकारी मे वस्तुत भारत के ज्ञान की गौरव गाथा गर्भित है । भारत को गौरव है कि यहा उस अग्र और प्रथम पूर्ण-पुरुष, आदि अध्यात्म पुरुष का जन्म हुआ और उसने इस विश्व की मानव जातियो को सर्व प्रथम योग शासन दिया ।

विश्व व्यवस्था के निर्मापक तथा योग के आदि प्रवक्ता

यह निर्विवाद रूप से मान्य है कि आदि विश्व व्यवस्था के स्रष्टा भ ऋषभदेव-हिरण्यगर्भ ही योग विज्ञान के आदि वक्ता है । वे जैनो के आदि धर्म सस्थापक प्रथम तीर्थंकर है—पर जैन तो

कहते ही है, वेद उपनिषद, पुराण आदि समस्त जैनतर भारतीय परम्पराए भी कहती और मानती चली आ रही है। वस्तुतः योग विज्ञान की जानकारी के साथ इसके प्रवक्ता के सम्बन्ध मे प्राचीन वाङ्मय मे कहाँ किस प्रकार सकेत है, यह सक्षेप मे दिग्दर्शन करना योग परम्परा की समझ तथा महत्व के लिये आवश्यक और उपयोगी है।

योग ग्रन्थों तथा योग वेत्ताओं के मत

प्रसिद्ध **"योग निकेत"** ऋषिकेश से प्रकाशित तथा श्री योगीश्वरानन्द सरस्वती ब्रह्मर्षि द्वारा प्रणीत "आत्म-विज्ञान" मे प्रकाशकीय लेख मे यह मत प्रकट किया गया है कि भगवान हिरण्यगर्भ ही योग विद्या के आदि आचार्य हुए है। कहा है—"योग साधना ही एक मात्र ऐसा राज मार्ग है जिस पर चल कर जीव विष्णु के परम पद को प्राप्त कर सकता है। इसी कारण सपन्न पर बडे-बडे ऋषि महर्षियो ने इस अनुपम विद्या पर प्रकाश डाला। यद्यपि हमारे साहित्य मे, महर्षि हिरण्यगर्भ को इस विद्या का आदि आचार्य माना गया है परन्तु इस समय उपलब्ध ग्रन्थो मे केवल पतजलि का योग-सूत्र ही एक ऐसा प्रमाणिक शासन है जिसमे कुछ विस्तार से इस पावन योग विद्या का वर्णन मिलता है। महर्षि पतजलि ने भी सूत्रो मे इसी विद्या का दिग्दिर्शन कराया है।"

अध्यात्म-पत्रिका **"कल्याण" का योगाक** विशेषाक (अगस्त सन् ३५) पृ ७६८ पर भ हिरण्यगर्भ को आदि योग शास्त्र रचयिता मानते हुए इस प्रकार विवेचन करता है—

"योग सूत्र के प्राय सभी भाष्यकारो तथा वृतिकारो का यह मत है कि पातजल योग शास्त्र हैरण्यगर्भ शास्त्र के आधार पर रचा गया है। इसके समर्थन मे उनका कहना है कि पतजलि ने पहला सूत्र "अथ योगानुशासनम्" (अब योग का उपदेश दिया जाता हे) रक्खा है, जिससे यह मालुम होता है कि योग सूत्र मे उनका साक्षात् शासन नही–वरन् अनुशासन मात्र हे। फिर महाभारत तथा याज्ञवल्क्य स्मृति मे एक कथन यह मिलता है—

"हिरण्यगर्भं योगस्य वक्ता, नान्य पुरातन।" हिरण्यगर्भ ही योग के वक्ता हैं। इससे पुरातन और कोई वक्ता नही है। परन्तु यह हिरण्यगर्भ महाराज कौन थे—इसका वर्णन कही कुछ नही मिलता। महाभारत मे अवश्य ही यह श्लोक मिलता है—

> **हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुत।**
> **योगै सम्पूज्यते नित्यं, स च लोके विभु स्मृति॥**

अर्थात् यह द्युतिमान हिरण्यगर्भ वही है, जिनकी वेद मे स्तुति की गई है—इनकी योगी लोग नित्य पूजा करते हैं और ससार मे इन्हे विभु कहते है। इससे मालुम होता है योग के आदि प्रवर्तक

हिरण्यगर्भ महाराज ही—साक्षात् परमात्मा ही थे। परम ब्रह्म परमात्मा मे योग सम्बन्धी जो ज्ञान योगाचार्य पतञ्जलि महाराज को प्राप्त हुआ उसी का विस्तार उन्होने अपने योग सूत्र मे किया। हिरण्यगर्भ ब्रह्म का भी नाम है—इसलिए किसी-किसी के मत मे योग के आदि प्रवर्तक ब्रह्मा ही हैं।"

उपर्युक्त विवरणो से यह स्थापित होता है कि योग का प्रवर्तन साक्षात् परमात्मा रूप हिरण्यगर्भ प्रभु से हुआ। इन हिरण्यगर्भ का अपर नाम ब्रह्मा भी है। इनकी वेदो मे स्तुतिया है। ये अति तेजस्वी द्युतिमान और परम परमात्मा रूप ही माने जाते रहे है। योगी जन आज भी इनकी ही अर्चना पूजा करते है। इन हिरण्यगर्भ से अन्य कोई भी योग का पुरातन आचार्य नही हुआ। तथा इन हिरण्यगर्भ का विशेष विवरण अजैन (हिन्दू) वाङ्मय मे प्राप्त नही है, अथवा नष्ट हो गया है।

प्राचीन घटनाओ, व्यक्तियो तथा इतिहास-सत्यो को परम्परा रीत्या से कहने और वर्णन करने वाले पुराण साहित्य हैं—जिन मे प्राचीन ट्रेडीशन (Tradition) लिपिबद्ध हुआ वर्तमान है—

पुराणो का आलोक

श्री देवी-भागवत् की साक्षी

इन ही भ हिरण्यगर्भ ऋषभदेव की श्री देवी भागवत् पुराण उत्तरार्द्ध के स्कंध ८ एकादश अध्याय पृष्ठ—७ या (७६) मे इस प्रकार स्तुति हुई है—

"ओम् नमो भगवते उपशमशीलायोपरतानात्म्याय नमोऽकिंचनवित्ताय।
ऋषि ऋषभाय नरनारायणाय परम गुरवे आत्मारामणधिपतये नम इति ॥१

कर्ताऽस्य सर्गादिषु यो नवध्यते न हन्यते देहगतोऽपि दैहिकैः।
द्रष्टुर्न दृग्यस्य गुणैर्विदूष्यते, तस्मै नमोऽसक्त विविक्त साक्षिरो ॥२
इप हि योगेश्वर योग निपुण हिरण्यगर्भो भगवान्जगादयन।

"भारतारद्येन वर्षे ऽस्मिन्नहमादिज पुरुष ।
तिष्ठामि भवता चैव स्तवनं क्रियतेऽनिशम् ।।"

इस प्रकार नारायण हरि ने कहा कि मैं ही आदि व पुरुष हूँ—जिसकी तुम रात दिन स्तवन करते हो । ऐसे यह उक्त स्तुति श्री नारद ऋषि द्वारा कही गई ।

इस विवेचन से स्पष्ट होता है कि नारायण हरि, आदिज या अग्रज पुरुष ये सब नाम भ ऋषभदेव हिरण्यगर्भ के ही प्राचीन काल से माने जाते रहे है । प्राचीन ऋषि गण इन ऋषभदेव हिरण्यगर्भ की ही आराधना करते रहे है, तथा ये भारत मे आदि-युग मे ही हुए थे ।

श्री मद्भागवत (५/४/६) मे कहा गया है—"भगवान ऋषभो योगेश्वर" तथा इसी मे (५/५/२५) मे कहा गया है—"नाना योग चर्या चरणो भगवान् कैवल्य पति ऋषभ ।"

हठ योग में मान्यता

भगवान् ऋषभनाथ की मान्यता प्राचीनतम काल से हिन्दू परम्परा मे आज तक बराबर चली आ रही है । इन्हे ही हठयोग के उपदेष्टा भी कहा है—"श्री आदिनाथ नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोग विद्या ।"

नाथ स्तोत्र

नाथ स्तोत्र में इन्हे इस प्रकार नमस्कार किया गया है—

मोहान्धकार विचलन् मनसो मनुष्यांस्तत्त्वो ज्झितानपि परम्परयोपदेष्टुम् ।
तत्व विमुक्तय उताकृत योगशास्त्रमादेशएतुमम तत्र स आदिनाथ ।।

तत्व से वचित, मोहान्धकार से विचलित, मन से किंकर्तव्य विमूढ मनुष्यो की मुक्ति के लिए, तथा परम्परा से तत्व का उपदेश देने के लिये, जिसने योग-शास्त्र बनाया, उस आदि-नाथ को मेरा नमस्कार रूप आदेश पहुँचे । नाथ सप्रदाय के लोग जैन रह चुके है । विद्वानो की नवीन खोज से ऐसे तथ्य प्रकट हो रहे है ।

योग तत्वोपनिषद

योगतत्वो पनिषद् मे कहा है—

विष्णुर्नाम महायोगी, महा मायोमहातपा ।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तम ।।

विष्णु नाम से यह महायोगी, महा ऐश्वर्य शाली, महान् तपस्वी, तत्त्व (योग)—मार्ग मे वह पुरुषोत्तम और दीपक के समान प्रकाशक है।

इससे प्रकट है कि भ. ऋषभदेव आदिनाथ की ही विष्णु करके योगीजन पूजा करते थे।

"धर्म के आदि प्रवर्तक" में पुराणों की साक्षी

स्व कर्मानन्द ने "धर्म के आदि प्रवर्तक" पुस्तक मे विभिन्न हिन्दू पुराणो मे भ ऋषभदेव, उनके मातापिता पुत्र आदि के जो उल्लेख मिलते है—उनका उल्लेख किया है। इनके ही उल्लेख को ज्ञान-पीठ से प्रकाशित "आदि पुराण" की प्रस्तावना मे भी दिया गया है। ये ही उल्लेख भारत का आदि सम्राट-भरत" मे भी आये हैं। हम इन उल्लेखो की सूचना मात्र ही यहाँ देते है। इतने विस्तार मे जाने की अपेक्षा भी नही है। ये है—मार्कण्डेय पुराण अ ५०/३९–४१, कूर्म पुराण अ. ४१/३७–३८, अग्नि पुराण अ १०१०–११, वायु-पुराण पुराण पूर्वार्ध उ. ३५/५०–५२, ब्रह्मांड पुराण पूर्वार्ध अनुषगपाद अ १४/५९–६१, वराह पुराण अ ७४, विष्णु पुराण द्वितीयाश अ. १/२७–२८, लिंग पुराण अ ४७ १९–२२। इनमे से देखिये ब्रह्माड पुराण इस प्रकार वर्णन करता है—

नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्यां महाद्युतिम्।
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्॥

ऋषभाद् भरतो जज्ञ वीरः पुत्रशताग्रजः।
सोऽभिसिच्यर्षभ पुत्र महाप्रव्रज्यया स्थित॥

हिमाह्वं दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्मात्तु भारतं वर्षं तस्य नाम्ना विदु बुधाः॥[1]

अर्थात्-नाभि की धर्म पत्नी मरू देवी के महान् द्युतिशाली, समस्त पृथ्वीवासियो मे श्रेष्ठ, सब क्षत्रियो के पूर्वज, ऋषभनाथ नाम पुत्र हुआ। ऋषभ के सौ पुत्रों मे ज्येष्ठ और वीर पुत्र भरत नाम का हुआ। ऋषभदेव भरत का राज्याभिषेक करके दीक्षा ले गए और भरत को हिम नामक दक्षिण प्रदेश का अधिकार दिया। इन्ही भरत से इस देश का नाम भारतवर्ष पडा है।

स्कन्द पुराण माहेश्वर खण्ड के कौमार खड अध्याय ३७ मे भी इसी प्रकार वर्णन है—

नाभे पुत्रश्च ऋषभ, ऋषभाद् भरतो ऽभवत्।
तस्य नाम्नात्विदं वर्ष भारत चेति कीर्त्यत॥(५७)

---

1. ब्रह्मांडपुराण पूर्व अ. १४/५९–६१पृ २२

नाभि के पुत्र ऋषभ हुए, ऋषभ के भरत हुए, भरत के नाम से ही यह देश भारत वर्ष प्रसिद्ध हुआ है ।

शिव पुराण अ ५२/पृष्ठ सख्या ८५ तथा नारद पुराण पूर्व खड अ. ४८/५-६ मे भी इसी प्रकार ऋषभ के पुत्र भरत के नाम से यह देश भारतवर्ष कहा जाता है, यह वर्णित किया गया है । सर्व पुराण साहित्य एक स्वर से इसी प्रकार की मान्यता की पुष्टि करता है । शैव सप्रदाय के सहस्रनाम मे "नमो शिवाय दिगम्बराय" के उल्लेख से शिवजी स्वतः दिगम्बर सिद्ध होते है, और उनके अनुयायी दिगम्बर को ही पूजने वाले ज्ञात होते है ।

ऐसे प्रसिद्ध व अग्र पुरुष हिरण्यगर्भ ऋषभदेव का चरित्र अलग से किसी जैनेतर साहित्य मे न होना आश्चर्य जनक ही है क्योकि साख्यादि षट्-दर्शनो के वक्ताओ मे योग के प्रवक्ता हिरण्यगर्भ के अतिरिक्त सब ही के आख्यान तथा चरित्र मिलते है । अत भ ऋषभदेव हिरण्यगर्भ के विस्तृत चरित्र-आख्यान के लिए जैन पुराण स्रोत ही प्रमाणिक स्रोत है । पर यह असदिग्ध है कि भ ऋषभदेव ही हिरण्यगर्भ है, वे ही ब्रह्मा, प्रजापति, आदिनाथ, महाद्युति, महामति, विष्णु आदि रूप से स्तुत हुए है । इन्हे ही दत्तात्रेय के रूप मे भी मान्य किया गया है ।

जैन आदि पुराण

जैन **आदि पुराण** (सर्ग २४) मे चक्रवर्ती सम्राट भरत द्वारा भगवान आदिनाथ की स्तुति को इस प्रकार वर्णित किया गया है—

> **हिरण्यगर्भो भगवान् वृषभो वृषभध्वज ।**
>
> **परमेष्ठी पर तत्व परमात्मात्मभूरसि ।(३३)**

हे प्रभो । आप हिरण्यगर्भ है, भगवान् है, वृषभ (श्रेष्ठ) है—व वृषभनाथ नाम धारी है, वृषभ चिन्ह से शोभित है, परमेष्ठी है, परम तत्व है, और अपने आत्म स्वरूप को स्वय प्रकट करने वाले स्वयभू हैं ।

स्वयभू स्तोत्र

आचार्य श्री **समन्तभद्र** द्वारा "स्वयंभू"—स्तुति को हम इसी ग्रन्थ के द्वितीय भाग के आरम्भ मे मगल चरण के रूप मे दे ही चुके है ।

सूर सागर और सूर सारावलि

हिन्दु भक्ति सलिला को प्रवाहित करने वाले "सूर सागर" मे भी भगवान् ऋषभ के प्रभु रूप मे जन्म लेने को इस प्रकार सकेत किया है—

"नाभि नृपति सुत हित जग कियौ।
जज्ञ पुरुष तब दरसन दियौ ॥[1]

"मैं हरता करता संसार मे लेहौ, नृप गृह अवतार।
ऋषभ देव तब जनमे आइ, राजा कै गृह बजी वधाई ॥[2]

तथा सूर सारावलि पृ ४ मे भी कहा गया है कि प्रियव्रत के वश मे उत्पन्न हरि के ही शरीर का नाम "ऋषभदेव" था ।

प्रियव्रत धरेउ हरि निज वपु, ऋषभदेव यह नाम।
कीन्हे काज सकल भक्तन के, अग अग अभिराम ॥

आठौंसिद्धि भई सम्मुख, जब करी न अगीकार।
जय जय श्री ऋषभदेव मुनि, परब्रह्म अवतार ॥

वेदों मे तथा उपनिषदो भ हिरण्यगर्भ ऋषभदेव की अनेक स्तुतियां है—यह तो हम आगे कहेगे। यहा हम प्रथम प्रमुख योगाचार्यो के कतिपय मतव्य भी उधृत करते हैं।

"योग तत्वम्" में श्री दामोदर शास्त्री

श्रीमन्माध्वसप्रदायाचार्य साहित्य दर्शनाद्याचार्य गोस्वामी दामोदर शास्त्री ने "योग तत्वम्" अपने लेख[3] मे योग को हिरण्यगर्भाचार्य प्रवर्तित तथा पातजल योग दर्शन को म पतजलि द्वारा अनुशासित हुआ माना है।

"योग की प्राचीनता" में श्री मौक्तिक नाथ नैरजन का वैदुष्य पूर्ण विवेचन और निष्कर्ष

योगाचार्य श्री मन्मौक्तिक नाथ नैरजन महोदय द्वारा "योग की प्राचीनता" नाम के अपने लेख मे, कल्याण के ही योगाक मे इतर दर्शनो के विस्तृत प्रमाण देकर निर्णीत किया गया है कि सर्व

---

1. (पद ४०६ पृ १५०)
2. (सूरसागर पृ १५०१)
3. (कल्याण योगाक पृ. ३३)

पट् दर्शनो मे एक मात्र योग दर्शन प्राचीनतम है और इस पातजल योग दर्शन का विकास हैरण्यगर्भ शास्त्र से हुआ है। इस प्रकार योगाचार्य महोदय ने हैरण्यगर्भ योग शासन को उपलब्ध पातजल योग से भी प्राचीन सिद्ध किया है और पातजल योग भ० हिरण्यगर्भ के शासन का अनुशासन (उपदेश) करता है—यानी योग के मूल प्रवर्तक भ० हिरण्यगर्भ ही है। तर्क पूर्ण विश्लेपणात्मक षट् दर्शनो के विवेचन के साथ यह तो स्पष्टीकरण किया ही है, इसके अतिरिक्त उन्होने ऋषि वेदव्यास द्वारा प्रणीत व्यास-भाष्य से लेकर स्व हरिप्रसाद कृत योग सूत्र वैदिक वृत्ति तक तेईस भाष्यो, वृत्तियो तथा उनके भाष्यकारो, वृतिकारो को नाम सहित उल्लेख करके इनके मत सहित अपनी सम्मति और निर्णय को प्रकट किया है। वे लिखते है—"इन सब भाष्यकारो का एक मत है कि पातजल योग दर्शन का विकास हिरण्यगर्भ शास्त्र से हुआ है। इन भाष्यकारो ने निश्चय किया है कि योग—सूत्र "अथ योगानुशासनम्" (अब योग का उपदेश किया जाता है)— से पतजलि महाराज का योग सूत्र मे साक्षात् शासन न होने पर अनुशासन ही है। यथा—

"हिरण्य गर्भो योगस्य वक्ता नान्य. पुरातन"

"यानी हिरण्यगर्भ ही योग के प्रथम प्रवक्ता है, इनसे पुरातन कोई योग प्रवक्ता नही है। योगी याज्ञवलक्य की याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रवल प्रमाण से योग शास्त्र के विधाता भी हिरण्यगर्भ महाराज ही हैं। तथैवस्तु। परन्तु जिस प्रकार दर्शनकारो के इतिहास पुराणादि मे उपलब्ध है उस प्रकार श्री हिरण्यगर्भ जी का कोई भी इतिहास पुराणादि मे नही मिलता। इस विषय मे किसी महानुभाव ने न कोई कष्ट उठाया, और किसी को जुरूरत भी क्या थी कि वहिरग परीक्षा के पीछे पीछे फिरे। परन्तु कुछ शास्त्रो का समाकलन करने पर हमे यह तो आपका पता मिला कि—[1]

साख्यस्य वक्ता कपिलः, परमर्षि स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता, नान्य पुरातन ॥[2]

अर्थ—साख्य के वक्ता कपिलाचार्य परमर्षि कहलाते है और योग के वक्ता हिरण्यगर्भ हैं, जिनसे (पुराना) और कोई इस शास्त्र का वक्ता नही है। आगे चल कर इस प्रकार योग का रहस्य दर्शाया है कि—

हिरण्यगर्भो द्युतिमान् य एषच्छन्दसि स्तुत।
योगै सम्पूज्यते नित्य, स च लोके विभु स्मृत ॥[3]

---

1 कल्याण योगांक पृ० ३३
2. महा भारत ०/२/३४९–६५
3. महा. भारत १२/३४२/९६

अर्थ—यह द्युतिमान् हिरण्यगर्भ वही है जिनकी वेद मे स्तुति की गई है। इनकी योगी लोग नित्य पूजा करते हैं और ससार मे इन्हे विभु कहते है। और देखिये—

हिरण्यगर्भो भगवानेष बुद्धिरिति स्मृत
महानिति च योगेषु विरंचिरिति चाप्यज. ।।

इन हिरण्यगर्भ भगवान को (समष्टि) बुद्धि कहते है, इन्ही को योगी लोग महान् विरचि और अज (अजन्मा) भी कहते है। अपि च—

इद हि योगेश्वर योगनैपुण हिरण्यगर्भो भगवान् जगादयत् ।।[1]

हे योगेश्वर। यह योग-कौशल वही है, जिसे भगवान् हिरण्यगर्भ ने कहा था।

हिरण्यगर्भो जगदन्तरात्मा· ·· ··· ···· · ।[2]

हिरण्यगर्भ जगत् के अन्तरात्मा है।

हिरण्यगर्भः सर्गेऽस्मिन् प्रादुर्भूतश्चतुर्मुख ।

इम सर्ग मे हिरण्यगर्भ चतुर्मुख रूप मे प्रकट हुए। इन पद्यो का भावार्थ यह है—

वेदो ने जिनकी स्तुति की, जो योगिजनो से पूजित है, वेदो मे जो विभु, विरंचि, अज, चतुर्मुख तथा जगदन्तरात्मा इत्यादि विशेषणो से उपश्लोकित हुए है, बस उन्ही की—"महानिति च योगेषु" है। इसकी टीका करते हुए श्री नीलकण्ठ जी फरमाते है—

योगेषु एष महानिति प्रथमं कार्यम् ।

अर्थात् हिरण्यगर्भ महाराज की यही "महान् कृति" है कि आपने वेदो से प्रथम योग-विद्या यानी परा-विद्या का प्रादुर्भाव किया। जिन हिरण्यगर्भ भगवान् का छन्द यानी वेद मे—

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवी द्यामुतेमा कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

हिरण्यगर्भ ही पहले उत्पन्न हुए, जो समस्त भूनो (प्राणियो) के एक मात्र पति थे। उन्होने पृथिवी और स्वर्गलोक को धारण किया। उन अनिर्वचनीय देव की हम पूजा करते है।

---

1 श्रीमद्भागवत ५/१९/१३ 2 अद्भुत रामायण १५।१६
3 वायु० ४/७८ 1. ऋ० १०/१२१/१

इस प्रकार स्तुति की गई है। बस, इन्ही हिरण्यगर्भ महाराजा के हिरण्यगर्भ-सूत्रो का योग-दर्शन मे अनुशासन का, "अथ योगानुशासनम्" से योग दर्शन का प्रादुर्भाव हुआ है। अत यह निर्विवाद है कि पातजल योग-दर्शन से प्राचीन कोई भी दर्शन ससार मे है ही नही।"

इस प्रकार योगाचार्य विद्वान नैरजन महोदय ने हिरण्यगर्भ योग के आधार पर अनुशासित पातजल "योग-दर्शन" को प्रामाणिक रूप से षट् दर्शनो मे प्राचीनतम होना सिद्ध किया है। इस सिद्धि मे भगवान् हिरण्यगर्भ का योगशासन स्वत प्राचीनतम सिद्ध हो जाता है। यह अलग बात है कि दुर्भाग्यवश हिरण्यगर्भ-योगशास्त्र की कोई प्रति आज उपलब्ध नही है। मगर हिरण्यगर्भ-योग शास्त्र पर सब ही दर्शनो के भाष्य भी कभी विद्यमान रहे होगे तथा उस मूल योग-शासन के अनुगत अपने-अपने दर्शनो की मान्यताओ को लेकर योगशास्त्र पर भाष्यो की रचनाए भी होती रही होगी। यह बात महर्षि पतजलि के प्रत्येक पाद के अन्त मे "योग शास्त्रे साख्य-प्रवचने" ऐसे उल्लेख से प्रकट होती है।

"अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योग" (ब्रह्म सूत्र भाष्य २,१,३) —इस कथन से स्पष्ट प्रकट होता है कि ब्रह्मसूत्र भाष्यकार के समक्ष पातजल योग दर्शन के अतिरिक्त एव भिन्न योगशास्त्र भी रहा है—क्योकि पातजल योगदर्शन तो "अथ योगानुशासनम्" सूत्र से आरम्भ हुआ है। इस से वह भी विदित होता है कि अब अवैदिक आम्नाय योग-शास्त्र अनुपलब्ध है,—यद्यपि उसके आगम ग्रन्थो मे योग का विषय बहुलता से बिखरा पडा मिलता है। वर्तमान मे योग विषयक विवेचनाओ मे महर्षि पतजलि का योगदर्शन ही एक मात्र ऐसा प्राचीनतम योगशास्त्र उपलब्ध है जो योग के आठो अङ्गो का व्यवस्थित वर्णन करता है। इस योग शास्त्र ने बाद की बनी सभी योग सम्बन्धी रचनाओ को अपनी शैली तथा क्रम-व्यवस्था से कम व बेश प्रभावित भी किया है।

अथ सम्यग्दशनाभ्युपायो योग "सूत्र की अलौकिक पद रचना

"**अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योग**" सूत्र के अतिरिक्त आ. शकर ने अपने भाष्य मे योग से सम्बन्धित दो और सूत्रो का उल्लेख किया है। सम्यग्दर्शन पद की विद्यमानता से उक्त सूत्र का सकेत किस विशिष्ट परम्परा के लिए है—यह कहने की भी अपेक्षा नही है। क्योकि सम्यग्दर्शन जैन योग तथा धर्म परम्परा का विशिष्ट व गूढ पद हे।

१ ("स्वाध्यायादिष्टदेवतासप्रयोग") तथा २ "प्रमाणविपर्ययविकल्प निद्रास्मृतय नाम") (ब्रह्म सूत्र भा १,३३,३ २,४,१२) इनमे से एक तो पातजल सूत्र २/४४ ही पूरा सूत्र है और दूसरा उसका अविकल सूत्र तो नही—परन्तु उससे मिलता जुलता सूत्र (प्रमाण विपर्ययनिद्रास्मृतय —१/६) है। उपाध्याय अमरमुनि "योग शास्त्र—एक परिशीलन" मे इस सम्बन्ध मे कहते है—" परन्तु "अथ सम्यग्दर्शनाभ्युपायो योग"—इस सूत्र की मौलिकता एव शब्द रचना से यह स्पष्ट प्रतीत होता

है कि आ. शकर द्वारा अतिम दो उल्लेख भी उसी योगशास्त्र के होने चाहिये जो दुभाग्य से आज अनुपलब्ध है।"

भर्तृ प्रपच के उद्धरणो मे जैन प्ररूपणाओं की निकटता

भर्तृ-प्रपच के जो उद्धरण वृहदारण्यकोषनिषद् पर मिलते है— उनसे प्रकट होता है कि शाकर भाष्य से पूर्व ऐसे भी भाष्य थे जो जैन दर्शन की प्ररूपणाओ के अधिक निकट थे।

पातंजल योग दर्शन (श्री ओमानन्द स्वामी) में हिरण्यगर्भ प्रभु का उल्लेख

श्री ओमानन्द स्वामी का पातजल योग दर्शन एक वृहत् ग्रन्थ है। वह विद्वज्जनो तथा योग साधको मे पर्याप्त रूप से प्रमाणिक तथा समादृत है। इस ग्रन्थ मे भी योग के आदि वक्ता भगवान् हिरण्यगर्भ को ही स्वीकार किया गया है, तथा इसमे भी वे ही उद्धरण है—जो योगाचार्य श्री मौक्तिक नाथ नैरजन महोदय द्वारा श्रुति व स्मृति के उद्धरणो को मान्य करते हुए प्रस्तुत किये गए है।— देखिये पातजलि योग प्रदीप पाचवा सस्करण मे (पृष्ठ—१५७–१५८)

सर्व षट् दर्शनो मे पातंजल दर्शन् प्राचीनतम

श्री नैरजन महोदय ने पातजल योग दर्शन को अन्य षट् दर्शनो से अधिक प्राचीन होना प्रकट किया है उसका ही सूक्ष्म रूप मे दिग्दर्शन करा देना यहाँ पर्याप्त होगा।

उन्होने कहा है कि साख्य प्रतिपादित प्रकृति की विलक्षणता का ज्ञान सबको शिरोधार्य हुआ है। महाभारत मे भी उसके विषय मे कहा गया है—

> "ज्ञानं च लोके यदिहास्तिकिंचित्।
> साँख्यागत तच्च वृहन्महात्मन् ॥[1]

अर्थात् इस ससार मे विभिन्न प्रकार के ज्ञान साख्य से ही प्राप्त हुए हैं। पातजल दर्शन मे यह ज्ञान है, तथा अनेक सूत्रो की दोनो मे ऐसी समता है कि गीता ने तो यह मान ही लिया "साख्य योगौ पृथग्बाला प्रवदन्ति, न पण्डिता.।" (५/४)

"मगर पण्डित जनो ने यह खोज निकाला है कि पातजल योग दर्शन साख्य का ऋणी नही है, वस्तुत पातजल योग दर्शन ही साख्य से बहुत प्राचीन है और इस प्राचीनता का पता उन्होने स्वय साख्य सूत्रो से ढूढ निकाला है।

1 म, भा शांति पर्व ३०१/१०६

"न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्"[1]

यानी महर्षि कपिल कहते है कि हम वैशेषिकादि दर्शन शास्त्रो के समान "षट् पदार्थवादी" नही हे। इससे पता चलता हे कि कपिल साख्य से तो कणाद्-वैशेषिक दर्शन प्राचीन हे।

"तदभावे सयोगाभावोऽ प्रादुर्भावश्च मोक्ष ।"

"तद्भावात् सयोगाभावो हानमृतद् दृशे. कैवल्यं"

इन दोनो सूत्रो मे भाव और वर्ण समता हे। "आत्मकर्मसु मोक्ष व्याख्यात" (कणाद ६/२/१६) मे आत्मकर्मसु को चन्द्रकात भाष्य मे "यम–नियमादिषु सत्सु मोक्षो व्याख्यात" कहा तथा "दृष्टादृष्ट प्रयोजनाना दृष्टाभावे प्रयोजनमभ्युदयाय" इस कणाद्-सूत्र की रचना "क्लेश मूल कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय" (पात. सूत्र २/१२) के ही आधार पर है—इससे निर्णीत किया गया कि पातजल सूत्र कणाद सूत्रो से भी पूर्व कालिक है।

महर्षि गौतम के न्याय-दर्शन मे दु ख-निवृत्ति का उपाय—"तदर्थ यमनियमाभ्यामात्म-सस्कारो योगश्चाध्यात्मविध्युपायैः" लिखा, योग-साधनोपयोगी स्थान "अरण्य, गुहा, नदी-तट" आदि को बताया तथा समाधि साधना से ब्रह्म तत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, यह बताने को "समाधि-विशेषाभ्यासात्" (४/२/३८) कहा। ये सब तथ्य सुस्पष्ट करते हे कि गौतम दर्शन पातजल दर्शन से अर्वाचीन ही है।

पूर्व–मीमासा (जैमिनि प्रणीत) तो याज्ञिक कलाप को ही अष्टागयोग का साधन बतलाती है।

वेदान्त ही अब रह जाता है, तो स्पष्टत यह तो योग के बाद का ही है। यह तो वेद के भी बाद का है। "एतेन योग प्रत्युक्तत" (२/१/३) यह सूत्र योग की ही प्राचीनता को स्पष्ट करता है। वेदो को तो पराविद्या मे स्थान ही नही दिया गया है। गीता मे कहा है—"त्रैगुण्यविषया वेदा।" मुण्डक (१३/५) मे भी वेदादि को अपरा विद्या कहा है।

भक्ति-दर्शन से भी योग दर्शन प्राचीन है। लोक मान्य तिलक ने शाण्डिल्य-भक्ति दर्शन को गीता-रहस्य के परिशिष्ट मे पातजल सूत्र से प्राचीन कहा हे। परन्तु महर्षि शाण्डिल्य को "हेयो रागत्वाद्" (१/१/२१) इस सूत्र की जो रचना करनी पडी है उन्हे वह "अविद्याऽस्मितारागद्वेषा-भिनिवेशा पच क्लेशा" (पात सू. २/३) के ही कारण करनी पडी। हॉलाकि उन्होने अपनी भक्ति-मीमासा का श्री गणेश "परानुरक्तिरीश्वरे" (१/१/१) कहकर किया था। पातजल ने राग, रति के स्थान पर ईश्वर-प्रणिधान पूर्वक समाधि–सिद्धि कही। अत. पातजल सूत्र का विकास शाण्डिल्य से भी पूर्व का है।

---

1 (साख्य सूत्र१–, २५)

2 पात. सू २/२५

1 कणाद् ५–२–८१

श्री नैरजन महोदय ने स्पष्ट किया है कि योग द्वारा प्राप्त समाधि के सहस्त्रो लक्षण विद्यमान है—

"ब्रह्मैवेदमृत पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणातश्चोत्तरेण अधश्चोर्ध्व च प्रसूत ब्रह्मैवेद विश्वमिद वरिष्ठम्" (मु २–२–११)

यह अमृत स्वरूप ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिण मे और ब्रह्म ही उत्तर मे है, तथा ऊपर और नीचे भी ब्रह्म ही फैला हुआ है। यह सारा विश्व ही ब्रह्म है और ब्रह्म ही श्रेष्ठ है।" यह परमानन्द समाधि ही है जो योग-साधनो से फलीभूत होती है।

"क्रियात्मक अष्टाग योग-साधना के बिना केवल वेदान्त-परिभाषा के अक्षरो मे ब्रह्म कभी नही मिलेगे।" योग-समाधि का वर्णन स्वय शकर ने किया है—

समाधिनानेन समस्तवासनाग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाश ।
अन्तर्बहि सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नत स्यात् ।।[1]

इस समाधि से समस्त वासना रूप ग्रन्थिका विनाश और अखिल कर्मों का नाश होकर भीतर बाहर सर्वत्र और सर्वदा बिना यत्न किये ही स्वरूप की विस्फूर्ति होने लगती है।

निर्विकल्पक समाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।
नान्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रित भवेत् ।।[2]

निर्विकल्प समाधि से निश्चय ही ब्रह्मतत्व का स्फुट ज्ञान हो जाता है, अन्यथा नही, क्योकि अन्य अवस्थाओ मे मनोवृत्ति के चचल होने से वह ज्ञान अन्य प्रतीतियो से मिश्रित रहता है।

"एतेनयोग प्रत्युक्त" मात्र कह देने से योग-समाधि-भास्कर को प्रकाशमान करने वाला योग-दर्शन कही प्रत्युक्त हुआ है ?

योग-उत्स-तप और अक्षर विद्या योग विज्ञान का आविर्भाव

भगवद् हिरण्यगर्भ द्वारा योग शासन के उत्स पर श्री नैरजन महोदय ने मुण्डकोपनिषद् तथा श्री मद्भागवत के उद्धरण दिये है।

उन्होने कहा है कि मुण्डकोपनिद् के प्रारम्भ मे ही लिखा है—

ॐ ब्रह्मा देवाना प्रथम सवभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।

---

1. विवेक चूडा. ३६४
2. विवेक चूडा ३६५

देवताओ मे प्रथम ब्रह्मा हुए जो विश्व के कर्ता और भुवन के गोप्ता है। ठीक है, परन्तु जब विश्व की रचना की आवश्यकता पडी तो श्री हिरण्यगर्भ के पास विश्व-रचना-सामग्री तो थी ही नही अत वे मन ही मन चिन्तन करने लगे।

स चिन्तयन्द्वयक्षरमेकदाम्भ,
स्युपाश्रुणोद् द्विर्गदित वचोविभुः।
स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंश,
निष्किंचनाना नृप यद्धनं विदु'।।[1]

उन हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ने सृष्टि-व्यवस्था पर चिंतन करते हुए एक दिन समाधि रूप प्रकृष्ट लीनता के महासागर के जल मे दो अक्षरो वाले एक शब्द का दो बार उच्चारण सुना। उनमें से पहला वर्ण तो स्पर्शवर्णो मे पन्द्रहवा "त" था और दूसरा इक्कीसवा अर्थात् "प" था। (जिनको मिलाने से "तप" ऐसा शब्द बन जाता है) यही अक्षर रूप आविर्भूत तप अकिंचन पुरुषो का धन कहा गया है।

श्री नैरंजन महोदय ने मुडक व भागवत् के आधार पर महाराज ऋषभदेव प्रजापति (ब्रह्मा) द्वारा तपोमय और अक्षर मय योग-विज्ञान के प्रादुर्भाव की महत्वपूर्ण घटना को स्पष्ट किया है।

चिन्तन करते-करते "पश्यन्ती वाणी" के स्तर पर जाकर प्रकाशमय अक्षरो के रूप मे जो प्रादर्भूत हुआ वही भ हिरण्यगर्भ ऋषभ नाथ द्वारा योग-विज्ञान के प्रथम उत्स का हेतु बना। यह उस आदि युग की बडी ऐतिहासिक महत्व की घटना थी। अध्यात्म क्षेत्र के लिए एक युगान्तरकारी घटना थी। ऐसे वाणी अथवा अक्षर के रूप मे तपोमय हिरण्यगर्भ योग-विज्ञान का जन्म हुआ। यह ही अनन्तर की समस्त अध्यात्म-विद्याओ, परा-विद्याओ और धर्मसाधनाओ की मूल आधार बना। और उस प्रागैतिहासिक काल से लेकर अद्यावधि भी यही मूल आधार विद्या है। इस अक्षर, परा शब्द मय वाणी के आधार पर ही सारे विश्व मे विभिन्न धर्मो की नीव रखी गई है और इमारते खडी ही गई है। प्रकाशमय अक्षर जो पावन मत्र बने, उनके द्रष्टा बन कर ऋषियो ने द्रष्टा ऋषि नाम पाये और बाद मे उन्होने इसी योग-विज्ञान के पावन वरदानो के रूप मे वेद की पावन ऋचाओ को प्राप्त किया और इस प्रकार विश्व की वर्तमान मे प्राचीनतम पुस्तक "वेदो" की रचना सभव हुई।

---

1. श्री मद् भा० २/९/६

निर्ग्रन्थ वातरशना (दिगम्बर) मुनियों की प्राचीन परम्परा

वैदिक परम्परा मे ऋषि व जैन परम्परा मे मुनि कहलाते थे । ऋषि गण प्रवृति-परम्परा सस्कृति के थे और गृहस्थ थे, तो मुनि मनन शील निवृत्ति परम्परा सस्कृतिक थे । कहा गया है–"ऋपयो मत्र द्रष्टार· ऋपयो गृहमेधिन" । ऋषि परम्परा मे कण्व भारद्वाज, वशिष्ट आदि हुए । इसी परम्परा ने पृथ्वी को सतरह बार क्षत्रिय हीन किया यानी क्षत्रिय परम्परा के जैन धर्म (आर्हत्, व्रात्य) और सस्कृति के मूलोच्छेद का अभियान चलाया । यह भी सुर—असुर सग्राम की शृ खला मे हुआ था, तथा राम व रावण युद्ध भी इसी सदर्भ मे हुआ । ऋषियो से मुनि परम्परा भिन्न थी । व्रात्य का अर्थ है, व्रतो के पालन करने वाले । अथर्ववेद मे समूचा व्रात्य काड आया है जिसके अनुसार ब्रह्मचारी, ब्राह्मण विशिष्ट, पुण्यशील विद्वान और विश्व सम्मान्य व्यक्ति व्रात्य कहलाते थे (अर्थववेद–१५–१–१–१ सायण भाष्य, ऋग्वेद १०,३१६,२१ मे मुनियो तथा उनकी विशेष शाखा वातरशना (दिगम्बर) मुनियो का विवरण है । यास्क का भी कथन है—"व्रतिनो ब्राह्मणा मता" । पदमचरिय ग्रन्थ (प्रथमशती) मे कीर्ति धर विमल ने भी ब्राह्मणो को जैन बतलाया है—यह अब अलग बात है कि आधुनिक ब्राह्मण प्राय व्रतो से रहित है । केवल दक्षिण मे जैन ब्राह्मण ही वर्तमान है ।

"मुनयो वातरशना पिशंगा वसते मला ।
वातस्यानुध्राज यन्ति यद्दिग्वासो अविक्षत ।।"

महापुराण (२५/२०४) मे व्रती ब्राह्मणो का उल्लेख है कि वे जिन मूर्तियो की उपासना व व्रतो का पालन किस-किस प्रकार करे वहा कहा है—

दिग्वासा वातरशनो निर्ग्रथेशो निरम्बर ।

ऋग्वेद रचना के काल मे भी दिगम्बर मुनि परम्परा की प्रतिष्ठा देवता तुल्य थी और उनकी स्तुति व वदना की जाती थी ।

"उत्तर कालीन वैदिक परम्परा मे वातरशना मुनि पूर्ववत् सम्मान पाते हुए उर्ध्व-रेता (ब्रह्मचारी) और श्रमण नामो से भी अभिहित होने लगे थे ।

"वातरशनाह्वा ऋषय श्रमणा उर्ध्वमंथिनो बभूवु ।।"[1]

डा धर्मचद ने प्रकट किया है कि समन्वय बुद्धि के परिणाम स्वरूप मुनि-वृत्तियो को अगी-कार कर वैदिक सप्रदाय मे ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास चार आश्रमो की व्यवस्था स्थापित

---

1 (तैत्तिरीय आरण्यक ६१,२६,७)

की गई और इस प्रकार ऋषियो और मुनियो मे एकत्व स्थापित करने का प्रयास हुआ और वे परस्पर पर्याय बन गये ।" (प्राग् ऐतिहासिक परम्परा) "वातरशना मुनियो को श्रमण व ऋषि कहा जाने लगा था ।" तैत्तिरीय आरण्यक के सूत्र (१,२१,३) पर सायणाचार्य का भाष्य है—"केतु—अरुण—वातरशन शब्दा ऋषि सधाना—चक्षसे ते सर्वे ऋषि सघा समाहिता सो अप्रमत्ता सत उपदधतु ।"

केतु अरुण व वातरशन उन ऋषि सघो के वाचक है जो चित्त को एकाग्र कर अप्रमत्त भाव को प्राप्त होते है । शतपथ ब्राह्मण मे याज्ञवल्क्य के गुरु आरुणि नामके प्राचीन ऋषि सप्रदाय के औपनिषदिक प्रति निधि है । यह तथ्य छान्दोग्य और बृहदारण्यक से प्रमाणित है कि अरुण और केतव ऋषि समुदायो का वातरशन श्रमण मुनियो के सिद्धात से बडा साम्य है । यहा यह उल्लेखनीय है कि मुनियो के सघो की व्यवस्था और मुनि के एकाग्र ध्यान द्वारा अप्रमत्त आध्यात्मिक दशा—"गुण-स्थान" की प्राप्ति जैन मुनियो के आचार की विशेष साधनाए है ।

कात्यायन कृत सर्वानुक्रमणी के अनुसार एतश और ऋष्यश्रृग भी वातरशन मुनियो के नाम है । ऋग्वेद (८,१,११), ऐतरेय ब्राह्मण (८,१) मे कवस ऐलक मुनि का उल्लेख है कि जिन्हे अब्राह्मण कह कर यज्ञ मे भाग लेने से रोक दिया गया था । ताडव ब्राह्मण मे तुरोदेव मुनि का और शतपथ मे तुर-कावषेय मुनि का उल्लेख है । ब्रह्मसूत्र पर भाष्य मे कावषेय मुनि का उल्लेख है जो यज्ञ और वेदाध्ययन विरोधी थे । इस प्रकार उत्तर कालीन वैदिक साहित्य मे वातरशन मुनि परम्परा के अनेक उल्लेख है, जिनसे ज्ञात होता है कि ऋषि-मुनि समन्वय के पश्चात् भी उनमे परस्पर विरोध या सघर्ष के अवसर आ जाते थे ।

वातरशना मुनियो की परम्परा वेदो से लगा कर पुराणो के रचना काल तक प्रबलता मे चलती रही । ऋग्वेद दशम मडल के अ ७ व २४/२ अनुवाक् ११सूक्त १३६'१ मे प्रकाश मय सूर्य अग्नि तथा ज्ञान रश्मियो मय जटा धारी को केशी कहा गया है ।

"केश्यग्नि केशी विष केशी विभर्ति रोदसी । केशी विश्व स्वसरशे केशीद ज्योतिरुच्यते" ।

भगवान् हिरण्यगर्भ आदिनाथ व उनकी मूलधारा के मुनिजन निर्ग्रन्थ रहे । इस परम्परा मे बहुत काल तक ग्रथो का निर्माण ही नही किया गया । विज्ञान श्रुति परम्परा से अथवा कण्ठाग्र ही चलता चला आता रहा । युग बीतते चले गये । वेदो ने श्रुति का स्वरूप लिया मगर जैन श्रुतज्ञान ग्रन्थ-रचना की प्रतीक्षा मे बहुत कुछ धूमिल तथा नष्ट भी हो गया ।

जैन वैदिक सस्कृति की शाखा—यह नितांत भ्रमपूर्ण

प्राचीनता के इस विवेचन से श्री लक्ष्मण जोशी का "वैदिक सस्कृति का विलास" पुस्तक मे यह कथन कि जैन वैदिक सस्कृति की शाखा है स्वत असिद्ध हो जाता है । श्री जोशी ने अपने निष्कर्ष

का हेतु इस तरह प्रकट किया है कि जैनो और बौद्धो की तीन अतिम कल्पनाए कर्म-विपाक, ससार का बधन, और मोक्ष या मुक्ति अन्ततोगत्वा वैदिक ही है ।

श्री जोशी के उक्त निष्कर्ष का निराकरण तो इसी से ही हो जाता है कि योग और विद्या के रूप मे जैन धर्म वेदो के पूर्व ही परपक्व हो चुका था । श्री देवेन्द्र मुनि ने जोशी के उक्त मत पर इस प्रकार विचार प्रकट किया है—"जोशी महोदय ने जिन अन्तिम कल्पनाओ कर्म विपाक, ससार का बधन और मोक्ष या मुक्ति को अन्ततोगत्वा वैदिक कहा है—वास्तव मे वे मुख्यत अवैदिक हे ।

"वैदिक साहित्य मे आत्मा और मोक्ष की कल्पना ही नही है और इनको जाने बिना कर्म विपाक और बधन की कल्पना का भी प्रश्न नही है । ए, ए, मैकडोगेल का स्पष्ट मतव्य है कि पुर्नजन्म के सिद्धात का वेदो मे काई सकेत नही मिलता है, किंतु एक ब्राह्मण मे मात्र यह उक्ति मिलती है कि जो लोग विधिवत् सस्कारादि नही करते, मृत्यु के बाद पुन जन्म लेते है और बार-बार मृत्यु का ग्रास बनते रहते है ।

"वैदिक सस्कृति के मूल तत्त्व है यज्ञ, ऋण और वर्ण-व्यवस्था । इन तीनो का ही विरोध श्रमण-सस्कृति की जैन और बौद्ध दोनो धाराओ ने किया है । अत जोशी का मतव्य आधार रहित है । यह बहुत स्पष्ट है कि जैन धर्म वैदिक धर्म की शाखा नही हे । वहाँ वैदिक धर्म और सस्कृति से हमारा मतव्य याज्ञिक वैदिक धर्म और सस्कृति से है, उस धर्म और सस्कृति से नही जो वेद पूर्व है और जिनके सकेत वेद और उपनिषद मे है । उस वेद पूर्व धर्म व सस्कृति का ही वर्तमान जैन धर्म प्रतिनिधित्व (Represent) करता है ।"

सतयुग के प्रथम स्वायभुव मनु से ऋषभदेव पांच पीढी से

"भारतीय सस्कृति का इतिहास" मे आ श्री चतुरसेन शास्त्री ने कहा है कि पुराणो मे सतयुग, त्रेता, तथा द्वापर को त्रियुगी कहा है तथा वास्तव मे स्वायभुव मनु की ४५ पीढियो का भोग–काल ही सतयुग है । पार्जिटर ने मनु वैवस्वत से राम तक की वशावलियो पर प्रकाश डाला मगर स्वायभुव मनु के वश की न तो आधुनिक भारतीय विद्वानो ने न पाश्चात्य विद्वानो ने विस्तार मे चर्चा की है । उन्होने आगे कहा कि "पुराणो मे १४ मनु वर्णित है—स्वायभुव मनु इनमे सर्वप्रथम है । इन स्वायभुव मनु के प्रियव्रत् तथा उत्तानपाद पुत्र हुए । प्रियव्रत के अग्नीध्र हुए तथा अग्नीध्र के नाभि हुए और नाभि के ऋषभदेव हुए । यानी यह ऋषभदेव मनु से पाचवे हुए ।"

प्रियव्रत शाखा का वर्णन करते हुए श्री चतुरसेन लिखते है—

"स्वायभुव की पत्नी शतरूपा थी । प्रियव्रत ने पृथ्वी के भाग किये और देशो के नाम रखे । पहले पर्शियन राज्य के ४ खण्ड थे—सुग्द (Sugd), मरू (मर्व), हरिपुर और निशा । कुछ काल बाद

हरितपुर हिरात और काक्नि (काबुल) को भी मिलाकर साम्राज्य सगठित किया, जो पूर्वी साम्राज्य और पश्चिमी साम्राज्य के नाम से विख्यात हुआ। दारा ने साम्राज्य के इन दोनो प्रान्तो को तेरह भागो मे विभक्त किया जिन्हे शतृप (Satripes) कहते है। शतृप शतरूपा के पुत्र होने से उनका नाम पडा क्योकि उसकाल मे मातृगोत्र प्रचलित था। प्रियव्रत ने जम्बू-द्वीप अपने पुत्र अग्नीध्र को दिया, जिसने उसके नौ खण्ड करके अपने नौ पुत्रो को बाट दिया।

"प्रियव्रत के पुत्र अग्नीन्ध्र ने अपने पुत्र नाभि को हिमवर्ष (हिमालय से अरब सागर तक का देश) दिया, हरिवर्ष (रूसी तुर्किस्तान), इलावर्त को इलावर्ष (पामीर), रम्यक को चीनी तातार, हिरण्यमय को मगोलिया, उरू को कुरूवर्ष (साइबेरिया), किम्पुरुष को उत्तरी चीन, भद्राश्व को दक्षिणी चीन और केतुमान को रूसी तुर्किस्तान दिया।

भगवान् श्री ऋषभदेव तथा भरत के सबध मे फिर श्री चतुरसेन ने लिखा है—

"महाराज नाभि भारत के प्रजापति हुए। इनके पुत्र ऋषभदेव महात्यागी और ज्ञानी हुए। जैन इन्हे आदि तीर्थंकर मानते है। ऋषभदेव के पुत्र भरत हुए, जो जड भरत या मनु भरत कहलाते हैं। इन्ही के नाम पर देश का नाम भारतवर्ष पडा। वे महाज्ञानी और प्रतापी थे। इन्होने आठ द्वीपो पर अधिकार रखा। ये द्वीप समुद्र द्वारा पृथक थे। प्रियव्रत शाखा के ये दो प्रधान पुरुष है। इन्होने अपने राज्य को नौ खण्डो मे बाटा तभी से भरतो को सप्त द्वीप और नौ खण्डो का स्वामी माना गया।"

श्री चतुरसेन ने आगे स्पष्ट किया कि इस वश मे चार मनु हुए—(१) स्वारोचिष (२) उत्तम (३) तामस और (४) रैवत। इनमे स्वारोचिष मन्वन्तर के किसी पुरुष का नाम वेदो मे नही है अत यह युग वेद-पूर्व युग है। विष्णु-पुराण मे स्वारोचिष का पुत्र चैत्रकी बताया गया है। इन चार मनुओ के वश मे ३५ पीढी सत्ता रही—और फिर स्वायभुव के पुत्र उत्तानपाद की शाखा मे चाक्षुष मनु हुए और ३६वे प्रजापति बने। विवस्वान के पुत्र वैवस्वत सातवे मनु हुए। इनका नया वश चला। इनसे पूर्व ६ मनु स्वायभुव वश मे थे। वैवस्वत मनु के काल मे त्रेता युग आरम्भ हुआ। महाराज इक्ष्वाकु इन वैवस्वत के नौ वशकर पुत्रो मे ज्येष्ठ हुए और वे सूर्यवश की मुख्य राजधानी अयोध्या मे उत्तर कोशल देश के राजा हुए–इनके कुल मे मनु से ३९वी पीढी मे राम का जन्म हुआ।"

सिधु घाटी की सभ्यता और मनुर्भरतो की समकालीनता

सिधु घाटी की सभ्यता और मनुर्भरतो की समकालीनता बताते हुए आचार्य चतुरसेन का वक्तव्य है—

"मोहनजोदडों और हडप्पा की सिंधुघाटी की सभ्यता को पुरातत्वविद ई. पू. ३२५०
मानते है। लगभग यह ही काल मनुर्भरतो की सभ्यता का है।"

भगवान् ऋषभदेव को श्रीमद्-भागवद् मे "हरि" कहा है—"ऋषभो हरि." (४/३/३४)
इनके ही वश को हरिवश नाम से प्रसिद्ध किया है। हरपू, हरितपुर हिरात आदि नाम हरि शब्द
ही सम्बन्धित है तथा हडप्पा शब्द भी "हरि" से ही उद्भूत है। ये भी प्रवल कारण है, जिनसे ह
सस्कृति को मनुर्भरतो यानी ऋषभदेव के वश से सवन्धित मानी जाय। हडप्पा की खुदाई से
ध्यानस्थ मूर्तिया भी इसी निष्कर्ष की पुष्टि करती हैं।

प्राचीन अयोध्या वेद वर्णित

उत्तरकोशल की राजधानी अयोध्या सरयू-तट पर राम की जन्म-भूमि है। यही वर्त
अयोध्या है। जैन पुराण अयोध्या को इन्द्र द्वारा वसायी हुई मानते हैं। ऋग्वेद मे इन्द्र को मुनियों
सखा कहा है—"इन्द्रो मुनीना सखा" (८/१७/१४)। इन्द्र द्वारा वसाई हुई अयोध्या ही मह
ऋषभदेव तथा उनके वशज मनुर्भरतो से सबधित है। वर्तमान अयोध्या नगरी जो सरयू-तट पर है
प्राचीन अयोध्या नही है - ऐसा वहाँ पर की गई खुदाईयो के आधार पर पुरातत्वविदो का निष्कर्ष
अतः मूल व प्राचीन अयोध्या ही हडप्पा सस्कृति से सवन्धित रही होगी और यह अयोध्या सरयू
किनारे न होकर सिंधु घाटी मे ही कहीं होनी चाहिये। हडप्पा सस्कृति के नष्ट होने के साथ ही म
तया मूल अयोध्या भी छिन्न भिन्न हो गई और फिर उसी नाम पर नई अयोध्या सरयू-तट पर
वसी होनी चाहिये। वेदो मे जिस अयोध्या का विशद वर्णन है, वह प्राचीन अयोध्या ही है। ऋग्वे
भगवान् हिरण्यगर्भ ऋषभदेव को ही "सहस्त्र शीर्षा पुरुष सहस्त्राक्ष सहस्त्रपात्" (१०/९०/१) क
तथा अथर्ववेद मे "सहस्त्रवाहु पुरुष सहस्त्राक्षः सहस्त्रपात्" (१९/१/६) कहा है। इनके ही सव
पुरुष-सूक्त व हिरण्यगर्भ सूक्तो की भी रचना हुई है। अत वेद वर्णित अयोध्या इनसे ही सवन्धित
"अथर्ववेद की गणना वेदो म यद्यपि वहुत उत्तर काल मे हुई है परन्तु अथर्ववेद की कुछ ऋचाए ऋ
समान ही प्राचीन है—" (चतुरसेन शास्त्री-भारतीय सस्कृति का इतिहास—पृ-२७८)

अथर्ववेद के १७वें मडल के दूसरे सूक्त के पाच मत्रो मे अयोध्या का वर्णन आता है—

> पुरो यो ब्रह्मणो वेदा यस्या. पुरुष उच्यते।
>
> अष्टचक्रा नवद्वारा देवाना पूरयोध्या तस्या हिरण्मय स्वर्गोज्योतिषावृत.॥

अर्थात् जो कोई उस पुर को जानता है जिसका स्वामी "पुरुष" कहा जाता है। अ
नगर जिसमे आठ चक्र है और नौ द्वार है। इसमे सुन्दर प्रकाश-पुञ्ज मे आच्छादित स्वर्ग-
ऐसी यह वेद वर्णित अयोध्या थी। इसका हम आगे और भी विशद वर्णन प्रस्तुत करेंगे।

श्रीमद् भागवत् में नाभि राजा और श्री ऋषभदेव

महर्षि शुकदेव ने भागवत मे कहा है कि महाराज नाभिराजा ने धर्म मर्यादा के रक्षणार्थ अपने पुत्र वृषभदेव का राज्याभिषेक करके विशाला—ब्रदरिकाश्रम मे प्रसन्न मन से (चिर-उपास्य) तीव्र (घोर) तप करते हुए यथावत् समाधियोग द्वारा महिमा रूप जीवन्मुक्ति को प्राप्त किया—(५/४/५)

विष्णुपुराण मे भी ऐसा विवरण आया है—

हिमाह्वं तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मन ।
तस्यर्षभोऽभवन्पुत्रो मरुदेव्यां महद्युतिः ।।[1]

हिम-वर्ष नाभि महाराज का था और नाभि की रानी मरूदेवी से ऋषभनाम पुत्र महाद्युतिमान् हुए ।

श्री मद् भागवत मे भगवान् ऋपभदेव की इस प्रकार स्तुति हुई है—

प्रचोदिता येन पुरा सरस्वती
वितन्वताजस्य सतीं स्मृति हृदि
स्वलक्षणा प्रादुरभूत् किलास्यत
स मे ऋषीनामृषभ प्रसीदताम् ।

पुराकाल मे जिन्होने अक्षर विद्या-सरस्वती को वाणी, (भाषा और लीपि) से प्रवर्तित किया, जिन्होने अजन्मा आत्मा के सत्-स्वरूप की उस स्मृति को हृदय मे विस्तारित किया—जो निश्चय ही स्व लक्षण और अनुपम भी इसी कारण थी—वे ऋषियो के उपास्य ऋपभ मेरे लिए प्रसन्न हो ।

तीर्थंकरो की विष्णु के अवतार रूप में मान्यता और वर्णन

वैदिक पुराणो मे ऋषभनाथ को विष्णु भागवान् के अवतार के रूप मे माना और कहागया । (भागवत् पुराण ५/३/२०) । ये ही ऋषभनाथ ,जैनो के प्रथम मन्वन्तर हुए । द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ द्वितीय स्वारोचिष मन्वन्तर मे हुए । वे भी विष्णु के अशावतार कहे गये है (विष्णु पुराण २/२/३५/३७)—अर्थात् सभी मन्वन्तारो मे देव रूप मे स्थित भगवान् विष्णु की अनुपम और सत्त्व प्रधान शक्ति ही ससार की स्थिति मे अधिष्ठात्री होती है । पाचवे रैवत मन्वन्तर में वही विष्णु शक्ति

1 (२/१/२७)

के अग्रभूत मानस देव सभूति के उदर से उत्पन्न हुए तो तीसरे सभवनाथ का स्मरण कराते है। यहा यह भी ध्यान देने योग्य है कि स्वारोचिष, उत्तम, तापस और रैवत—ये चार मनु प्रियव्रत के ही वशज माने गये है—(विष्णु पुराण—३/१/२४)।

भारतीय इतिहास का प्रथम अध्याय जैन धर्म के इतिहास का आदि पर्व

"इस प्रकार वैदिक परम्परागत प्राचीन पुराणो मे निर्विरोध रूप से स्वीकृत यह वृतात वस्तुत भारतवर्ष के ज्ञात राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक व सास्कृतिक इतिहास का प्रथम अध्याय है और यही जैन धर्म के इतिहास का भी आदि पर्व है। आश्चर्य है आधुनिक इतिहासज्ञो ने इस सामग्री का समुचित उपयोग नही किया। वे सातवे मनु वैवस्वत के काल से प्रारम्भ राजवशो का वर्णन करते है और इस सर्व प्रथम स्वायभुव मनवन्तर की उपेक्षा। यदि कही उल्लेख भी है तो उनके ज्येष्ठ पुत्र प्रियव्रत की वश परम्परा को छोडकर कनिष्ठ पुत्र उत्तानपाद के वश का ही विवरण देते है। इस तरह जम्बू द्वीप और भारतवर्ष का गौरवशाली चित्र उपेक्षित और अजाना बना रहा है" (प्राग-ऐतिहासिक जैन परम्परा—पृ २७–२८)।

"हडप्पा सस्कृति असुरो की मानी जाती है। सिधु देश के असुर नरेश मावयव्य के पुत्र स्वतप के लिए कक्षीवान ऋषि ने हिंसा विरहित एक सहस्त्र सोम-यज्ञ किये थे—(ऋ १, १२६)। ऋग्वेद मे यह भी उल्लेख है कि असुर शिश्नदेव (नग्नदेवता) के उपासक थे और हिंसात्मक यज्ञो मे विघ्न डालते थे। (७,२१,४–५)।

"सिन्धु सस्कृति का विस्तार नर्मदाघाटी और उसके परिधि क्षेत्र मे फैला था। शिवोपासना की दृष्टि से नर्मदा का बडा महत्वपूर्ण स्थान है। इस नदी का नाम पुराणो मे "शिव-देहा" भी पाया गया है। पुराणो के अनुसार इस नदी का निर्माण ही शिव के अग से हुआ है। कृतयुग मे हुए मान्धाता सम्राट के नाम का तीर्थ ओकार मान्धाता नर्मदा तट पर अब भी वर्तमान है। उसी के समीप नर्मदा से घिरा हुआ जैन तीर्थ सिद्धवरकूट है। हेहयवशी महिष्मान नरेश द्वारा स्थापित महिष्मती आज भी महेश्वर नामक तीर्थ के रूप मे विद्यमान है जो कृतवीर्य सहस्त्रार्जुन की राजधानी रह चुकी है। निर्वाण काड गाथा के अनुसार इन्द्रजीत, कुभकर्ण, तथा रावण के अन्य सम्राट पुर्वज इसी रेवा तट पर तपस्या करके मोक्ष गामी हुए है और इसी से सिद्धवर-कूट बडवानी आदि स्थान तीर्थ माने जाते हैं। इस प्रकार नर्मदा तट पर असुरो का सद्भाव, उनमे ऋषभ द्वारा जैन धर्म का विस्तार तथा उनसे सुरो का संग्राम प्राचीन भारतीय इतिहास का महत्वपूर्ण अध्याय है"—(प्राग-ऐतिहासिक जैन परम्परा—पृ २५)

प्रागैतिहासिक काल मे वह जो प्रस्तर युग का अन्त तथा कृषि–युग के प्रादुर्भाव का काल था उसमे भ. ऋषभ ने ही अपने हिरण्यमय नाभि-कमल स्वर्ण-कमल मे "ज्ञान" का उद्भव किया था अत. हिरण्यगर्भ नाम भी पाया, वे महान् द्युतिमान भी कहे गये। उनके गर्भकाल मे जैन जन-श्रुति के

अनुसार ६ मास तक हिरण्य (स्वर्ण) की वर्षा अयोध्या में होती रही—अत ही उन्होंने हिरण्य को भी प्राप्त किया।

जैन वाङ्मय में भ हिरण्यगर्भ की स्तुति और अन्य स्तोत्र

भगवान् ऋषभदेव की जैन वाङ्मय में सौधर्म स्वर्ग के इन्द्र द्वारा हिरण्यगर्भ के प्रकार स्तुति की गई है—

"हिरण्य नाभिर्भूतात्मा, भूतभृद् भूतभावन ।
प्रभवो विभवो भास्वान् भवो भावो भवंतक ॥(११७)

हिरण्यगर्भ श्रीगर्भः प्रभूतविभवोद्भव ।
स्वयं प्रभु सार्वः सर्वज सर्वदर्शन. ॥(११७)

आदित्यवर्णो भर्माभः सुप्रभ कनकप्रभः ।
सुवर्णवर्णो रुक्माभ सूर्य कोटिसमप्रभ ॥(१६७)

चराचर गुरु. गोप्योगूढात्मा गूढगोचर. ।
सद्योजात प्रकाशात्मा ज्वलज्ज्वलन सप्रभः ॥(१६६)

तथा—

बृहद्बृहस्पतिर्वाग्मी वाचस्पतिरुदारधी ।
मनीषी धिषणो धीमान् शेमुषीशो गिरापति. ॥(१७६)

युगादिपुरुषो ब्रह्म पंचब्रह्ममय शिव. ।
पर. परतर. सूक्ष्म परमेष्ठी सनातन ॥(१०५)

ज्ञान गर्भोदयागर्भो रत्नगर्भा प्रभास्वर ।
पद्मगर्भो जगद्गर्भो हेमगर्भ सुदर्शन. ॥(१८१)

और

सहस्त्रशीर्ष क्षेत्रज्ञ सहस्त्राक्ष सहस्त्रपात् ।
भूत भव्यभवद्भर्ता विश्वविद्यामहेश्वर. ॥(१२१)[1]

1. (महापुराण प्रबंध–आ. श्री जिनसेन)

भगवान् हिरण्यगर्भ वृषभदेव की इन्द्र ने १००८ नामो से स्तति का आर
सहस्त्र नाम से अद्यावधि जैनो मे प्रसिद्ध व प्रचलित है । आ. श्री समन्तभद्र ने इन हिरण्यगर्भ प्रभु
स्वयंभू स्तोत्र की रचना करके स्तुति की है जिसे हम इस ग्रन्थ भाग के मगलाचरण के रूप मे र
दे चुके है ।

अन्य अन्य स्तुतियाँ—

त्वामामनन्ति मुनय परमं पुमांसम् ।
आदित्यवर्णममल तमस परस्तात् ।।[1]

आदित्य के समान सर्वदा प्रकाश को सर्वत: सर्वत्र विस्तारित करने वाले वे केवलज्ञान ही है । वे ही परम पुरुप है । यजुर्वेद पुरुष-सूक्त इनके लिए ही प्रस्तुत हुआ है ।

"वेदाहमेतं पुरुषं महान्तम्, आदित्य वर्णं तमसः परस्तात् ।"

योगीजन इनकी ही उपासना करके अपने अन्तराकाश के सूर्य मे उनही परम हिरण्यमय रूप मे दर्शन करते है । छान्दोग्योपनिपद ने गाया—

"अथ य एष अन्तरादित्य हिरण्यमय पुरुषो दृश्यते ।(१–६–६)
"अथ य एषोऽन्तरक्षीणि पुरुषो दृश्यते ।(१–७–५)

और भगवद्गीता मे भी कहा—

"सर्वस्य धातारम चिन्त्यरूपम्, आदित्य वर्णं तमस परस्तात् ।।"(८/

अन्यत्र भी एक स्तुति मे कहा है—

"प्रात नमामि तमसः परमर्कवर्णम् ।

ऐतिहासिक तथ्य को उद्घाटित करने वाले पुरातत्व, भाषा-विज्ञान, साहित्य ग
से अब यह स्पष्ट हो गया है कि क्रिया काण्डी याज्ञिक वैदिक सस्कृति से पूव भार
अध्यात्मिक अहिंसक सस्कृति थी ।

प्रागैतिहासिक तथा प्राग-वैदिक सस्कृति

सिन्धु घाटी के उत्खनन मे जिस सस्कृति और सभ्यता का रूप हमारे स
निश्चित प्राग्वैदिक है । यह सिन्धु घाटी सभ्यता द्रविड और विद्याधर जाति से स

---

1. (आदिनाथ स्तोत्र–आ श्रीमानतुंग)

ऋषभ को पूज्य मानती थी, जो भ ऋषभदेव हिरण्यगर्भ तीर्थंकर का चिन्ह था । लोहानीपुर एव हडप्पा से प्राप्त कायोत्सर्ग मुद्रा मे स्थित मूर्ति भ ऋषभदेव की है क्योकि उसकी ध्यानाकृति, भाव तथा मुद्रा भगवान् ऋषभदेव की जैन मूर्तियो से शत प्रतिशत समानता रखती है । रामचन्द्रन तथा डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल जैसे पुरातत्व वेत्ताओ ने उस मूर्ति को जैन तीर्थंकर मूर्ति माना है । इसी सवध मे ऋषभ चित्र से अकित कुछ मुद्राओ की उपलब्धि भी महत्वपूर्ण है ।

प्राग्-ऐतिहासिक जैन परम्परा को और सूक्ष्मता से अध्ययन मे जिनकी रूचि हो—उन्हे "प्राग-ऐतिहासिक जैन परम्परा" नाम की पुस्तिका का अवश्य अवलोकन कर लेना चाहिए । इसमे डा. धर्मचन्द्र एम ए पी एच डी ने जैन धर्म के उद्गम और विकास का गवेषणा पूर्ण विस्तार प्रस्तुत किया है । यह रचना जैन धर्म और दर्शन के अनन्य विद्वान स्व डा हीरालाल जैन की "Jainism Throughthe Ages" कृति की पाडुलिपि का सक्षिप्त सस्करण है ।

शिव ऋषभदेव आदिनाथ की समानताएं और मान्यता

शिव की मान्यता वैदिक नही है, वह प्राग् ऐतिहासिक देव रहे है । दिगम्बर स्वरूप तथा जटाजूट आदि नाना सादृश्यता के कारण ऋषभदेव और शिव की एकाकारता पर विद्वानो का ध्यान गया है । ऐसा लगता है कि सस्कृतियो के एक लम्बे सघर्ष के पश्चात् देश मे समन्वय की भी प्रवृत्ति आई होगी । और उसी मे शैव सम्प्रदाय अलग व्यवस्थित किया गया होगा । शैवो मे यति पशु और पाश तीन मूल चीजे है—तो जैनो मे देव शास्त्र गुरु तीन मूल बाते है । प्राचीन पाशुपतो मे अहिंसा ब्रह्मचर्य, सत्य, असम व्यवहार, आहार-लाघव, और अप्रमाद पाच मूल धर्म तत्त्व है, और जीव रक्षा के विचार से अग्नि जलाने का भी निषेध किया और वस्त्र से पानी छान कर उपयोग करने को कहा, वनस्पतियो मे वनस्पति की जड़ कदमूल और पके बीजो के खाने का निषेध किया । डा० धर्मचन्द ने "जैन धर्म और प्राग-ऐतिहासिक जैन परम्परा" मे रूद्र के द्विरूप केशी व रूद्र के शात और उग्र के समन्वय का विवेचन किया है । उसमे उन्होने शिव पूजा की वैदिक यज्ञ से भिन्नता को प्रकट करते हुए जैन पूजा से समानता बता कर कहा है कि पूजा शब्द स्वय द्रविड भाषा का शब्द है ।

डा० धर्मचन्द ने—शिव और वृषभ-विषयक अनेक समानताओ पर लक्ष्य कराया है और कई सुर्खियो मे अपने मतव्यो को स्पष्ट किया है यथा—(१) शिवरात्रि और शिव तत्त्व की प्राप्ति (२) काम दहन और विवाह (३) महोपधिदान (४) दो पत्नियो और ज्येष्ठ पत्नी से सौ पुत्र (५) वैराग्य, वनगमन और ध्यान (६) शिव और वृषभ के गण और गणधर (७) शैव और जैन शासन देवता (८) शैव और जैन गुफाए और मन्दिर (९) शिव और वृषभ पराम्पराओ मे क्षेत्रपाल का स्थान (१०) त्रिशूल और त्रिरत्न (११) ललित कलाएँ और श्मशान वास (१२) आगम और निगम का भेद इस प्रकार शिव रूप वृषभ की समानता, प्राचीनता और प्राचीन रूप का उल्लेख किया है । डा धर्मचन्द ने जो तथ्य प्रकट किये है—उनके अतिरिक्त हम यह भी कहना चाहते हैं कि जैन निर्वाण एव सिद्ध क्षेत्रो की पूजा करते

है जिनमे भ. ऋपभदेव से सम्बन्धित कैलाश गिरि निर्वाण स्थल भी है और शैवो मे वही शिव का स्थान है—उस कैलाश गिरि का ही वस्तुत शैव शिव-पिंड या शिव लिंग स्थापित करके पूजते है। लिंग का पार्वतीय भापा मे प्रदेश अर्थ है। यथा दार्जिलिंग—यानीविद्युत् का प्रदेश वैसे ही शिव लिंग का अर्थ होता है,—शिव का स्थान या प्रदेश। कैलाश गिरि की ही प्रतिकृति शैवो का शिव-पिंड है, और मान सरोवर की प्रतिकृति जलहरि है। बाद के कापालिको ने शिव पिंड और जलहरि को शिश्न और योनि रूप मे अवधारणा करके उनके मूल स्वरूप को ही धूमिल-विकृत और भ्रष्ट कर दिया।

भ० पार्श्वनाथ और नेमिनाथ के इतिहास पुरुष होने के कुछ साक्ष्य

जैन धर्म की प्राचीनता के विवेचन पर अन्य महत्वपूर्ण पुस्तिका है—Jainism The oldest Living Religion जो डा० ज्योति प्रसाद जैन एम ए एल बी की कृति है। इसमे भ० पार्श्वनाथ और नेमिनाथ अरिप्टनेमी पर आधिकारिक विद्वानो के खोजपूर्ण निष्कर्षो उद्धरणो सहित विचार तथा तथ्य प्रकट किये गये है। भ० पार्श्वनाथ के काश्यप वश का उल्लेख तथा नेमिनाथ की रैवत गिरि पर मूर्ति को ११४० ई० पू० का दान ताम्र पत्र का उल्लेख ये दो उल्लेख विशेष दृष्टव्य है।

"श्री ऋपभ देव व माता मरुदेवी के स्वप्न,—एक शोध सदर्भ"—मे श्री ज्ञान स्वरूप गुप्ता ने राष्ट्रदूत १ नवम्बर, ८१ व ८ नव० ८१ मे माता मरुदेवी के स्वप्न चित्र–हाथी, वृपभ, सिंह, चन्द्रमा, सूर्य, कलश-स्नान करती लक्ष्मी, दो मछलिया, कमल सरमित सरोवर, घट, सिंहासन, समुद्र, आकाश मे देव विमान, नागराज (धरणेन्द्र) का महल, रत्न-राशि, निर्धूम अग्नि पर विवेचना प्रकट करते हुए—इनके सम्बन्ध को सिन्धु घाटी की लिपि से जोडते हुए बडे मनोरजक तथा महत्वपूर्ण सकेत प्रकट किये है। उन्होने अपने लेख को इस तरह आरम्भ किया है—

"श्री भगवान् ऋषभ देव भगवान विष्णु के पाचवे परन्तु प्रथम मानव अवतार व जैन मत के अनुसार [illegible] के प्रथम सम्राट व प्रथम तीर्थंकर थे। भगवान् ऋपभ देव के जन्म के पूर्व जैन मत के अनुसार उनकी माता पूजनीय मरुदेवी को सोलह स्वप्न दिखाई दिये थे व इन सोलह स्वप्नो मे सोलह ही विभिन्न चीजे दिखाई दी थी। विद्वानो ने इन सोलह का समय समय पर विवेचन किया है परन्तु इन विवेचनो का अध्ययन करने से यही प्रकट होता है कि उनके अनुसार इनका आपस मे सम्बन्ध नही है। परन्तु सोलह चित्रो का एक साथ प्राचीन गाथा मे आना कौतूहल की वस्तु है, व यह भी प्रकट करता है कि यह सभी आपस मे सम्बन्धित हैं, व सम्भव है कि यह किसी प्राचीन चित्र लिपि के अश होंगे जिसे समय के वहुत अन्तराल के कारण हम भूल गये। प्राचीन चित्रलिपि या भारत की प्राचीनतम लिपि सिंधु घाटी सभ्यता की लिपि के अनुसार इनका नवीन रूप मे अध्ययन करना उपयुक्त होगा। सम्भव है कि हम इस प्रकार इनका सदेश भी प्राप्त कर लें व यह भी सम्भव है

कि भगवान् ऋषभ देव के बारे मे उपलब्ध तथ्यो की पुष्टि भी हो व कुछ नवीन तथ्य भी सामने आए।"

अपने विवेचन को आगे करते हुए उन्होने आगे लिखा—भगवान् ऋषभ देव के लिये कहा जाता है कि वे सभ्यता के आदि काल मे हुए थे व उनसे ही सभ्यता प्रारम्भ हुई थी। क्योकि विश्व की प्राचीनतम सभ्यता भारत की सिन्धु घाटी सभ्यता ही है। अत उनका चित्र भी उसी सभ्यता से प्राप्त अवशेषो मे देखना होगा, व यह भी देखना कि क्या उपर्युक्त सोलह चित्रोमे सिन्धु घाटी की लिपि के वर्णाक्षर है। सिन्धु घाटी सभ्यता से केवल एक ही मुद्रा पर एक देवी पुरुष का चित्र प्राप्त हुआ है। यह मुद्रा मोहन जोदडो से प्राप्त मुद्रा सख्या ४२० है (फरदर एक्सकवेशन एट मोहन जोदडो-मैके) इसमे पद्मासन मुद्रा मे आसन पर एक दिगम्बर मूर्ति अकित की गई है जिसके मुख को बैल का मुख का रूप दिया है व सिर पर एक मुकुट है जिसमे सीग है।-यद्यपि मुद्रा छोटी है व एक तरफ से खण्डित है परन्तु आभास देती है कि इसके चारो दिशाओं मे चार मुख हो सकते है। इसे घेर कर चार जानवर बैठे है। हाथी, सिह, गैंडा व भैंसा। इसके आसन के नीचे दो छोटे जन्तु भी है जो या तो हिरण है या बकरे, जो आमने सामने पीछे की तरफ देखते हुए इस प्रकार खडे है कि उनके सीग एक दूसरे की तरफ हो गये है। मुद्रा मे दिखाये गये दो जानवर व ऋषभदेव सोलह स्वप्नो के प्रथम तीन स्वप्नो मे चित्रित है। अत यह देखना उचित होगा कि यह सोलह स्वप्न इसी मुद्रा पर चित्रित देवी पुरुष का ही वर्णन कर रहे हैं व सिन्धु घाटी की लिपि के ही अक्षर हो। इसका अध्ययन करने के पूर्व यह देखना आवश्यक है कि उपर्युक्त सोलह स्वप्नो मे कौन से चित्र सिंधुघाटी की लिपि से मिलते जुलते है—उनका क्या अर्थ हो सकता है।

आगे उन्होने सिंधु घाटी की लिपि के समझने के लिए पाच आधार निश्चित कर अपनी गवेषणा से यह निर्णीत किया, (यहा हम उनके पूरे अध्ययन व गवेषणा को न देकर मात्र उनके निष्कर्ष ही देते हैं)—सिंधु घाटी के केवल दो शब्द ही हमे मालुम है—मखन व मल जो दो नगरो के नाम है जिनका सदर्भ सुमेरु सभ्यता से प्राप्त लेखो से मिला है व कदाचित् यह वे नगर है जो मोहन जोदडो व हडप्पा कहलाते है। उपरोक्त स्वप्नो मे एक स्वप्न है दो मालाये यानी माल्य (माला का सस्कृत मे द्विवचन) जो मल उच्चारण से मिलता जुलता है। अत यह सम्भव है कि दो मालाओ का अभिप्राय 'मल' नगर से है। एक स्वप्न है चन्द्रमा। हडप्पा से प्राप्त मुद्रा स० ३०८ मे चित्र मे तलवार को नव चन्द्रमा के बिलकुल समान आकृति का बनाया है। अत इसका अर्थ चन्द्रमा, खडग्, खग (गैंडा)—क्योकि वैदिक सस्कृति मे गैंडे को खग कहा है। तथा खग (पक्षी) हो सकते हैं। इस प्रकार श्री गुप्ता महोदय ने सात स्वप्नो के अर्थ करके प्रकट किया कि सात स्वप्न—माला, चन्द्रमा, सिंहासन, कमल, सरोवर, दो मछलिया, महिष (भैंसा), गज, लक्ष्मी, भ० ऋषभ देव को पद्मासन मुद्रा मे बैठे हुए का पूर्ण विवरण देते हैं। बाकी बचे हुए स्वप्नो के लिए भी प्रकट किया कि ये भी उन्ही के बारे मे सूचना देते होगे। —गोल घेरे के रूप मे है, छोटा वृत्त है, चार पशु उन्हे घेर कर बैठे है—यह वृत्त सूर्य वश का जिसमे [illegible] ता है। दो मालाओ का अर्थ सिंधु सभ्यता के नगर मल से है व दो

मछलियो का अर्थ शासक या आराध्य पुरुष है । इन दोनो का अर्थ है—भगवान् ऋषभदेव मलः नगर के आराध्य पुरुष है । इसके बाद कलश स्वप्न है—वह घी (मक्खन) भरा वर्णित हुआ हो तो अर्थ होगा मखन व मल के सम्राट व आराध्य पुरुष अथवा खाली पात्र हो तो अभिप्राय पुत्र लेना होगा । मुद्रा पर भगवान् ऋषभदेवजी के विवरण व उनके साम्राज्य के बारे मे बताने के बाद स्वप्न आवश्यक रूप से उनके पूर्वजो के बारे मे बतादेगें । रत्नो की ढेरी पवित्र पर्वत मेरु या मन्दर अभिप्राय देता है और यह उनकी माता मेरुदेवी का नाम बताता है । एक स्वप्न है निर्धूम अग्नि भ० ऋषभदेव के दादा का नाम था अग्निध्र—यह अग्नि + निर्धूम या अग्नि ध्रूम उनके दादा के नाम को बताता है । नाभि बिना मात्रा के नभ—आकाश है स्वर्ग विमान स्वप्न आकाश को इगित करता है । अत वह है नाभि भगवान् ऋषभदेव के पिता । बाकी दो स्वप्न—धरणीन्द्र महल व समुद्र का अर्थ स्पष्ट नही परन्तु ये अन्य पूर्वजो के नाम बताते होगे ।

हो सकता है धरणीन्द्र महल व समुद्र—आसमुद्रा उनके समस्त धरणी (पृथ्वी) पर व्याप्त विशाल साम्राज्य को, अथवा उनके ज्ञान सागर साम्राज्य को उपलक्षित करते हो । जो भी हो—श्री गुप्ता महोदय ने आगे यह निष्कर्ष दिया है—

इन स्वप्नों का उपरोक्त मुद्रा सदर्भ में अर्थ निम्न होगा

श्री ऋषभ शद्रि, व्याघ्र, खग, महिष परिवेष्ठित पद्मासन मल सम्राटे व आराध्य देवे पुत्राः नाभि मेरु अग्निध्र इत्यादि । अर्थात् भगवान् ऋषभदेव हाथी सिंह गैंडा भैंसे से घिरे हुए पद्मासन मुद्रा मे बैठे हुए मल के आराध्य देव व नाभिराय मेरु अग्निध्र इत्यादि के पुत्र । सही रूप इस वाक्य का प्राचीन वैदिक सस्कृत मे मिलेगा ।"

जैन महा पुराण के अनुसार पूर्व जन्म मे ऋषभदेव राजा वज्रजघ थे तब चार जानवर नकुल सिंह वानर व शूकर उनके साथ थे । (महा पुराण अष्टम पर्व श्लोक २४५)—ऋषभदेव जी की मुद्रा मे भी चार पशुओ को दिखाया गया है । इनके अभिप्राय स्पष्ट नही है और इनके अर्थ उस काल की सभी मुद्राए पढ ली जावेंगी तब स्पष्ट होगे—ऐसा श्री गुप्ता ने आगे प्रकट किया है । सब ही तीर्थंकर माताओ के ये ही स्वप्न होते है । इस पर यह स्पष्ट किया है कि तीर्थंकरो की माताओ ने प्रत्येक ने भगवान् ऋषभदेव को ही स्वप्न मे देखा व उनका वही रूप देखा जो सिधु घाटी मे लोगो द्वारा माना था व जो चित्र कदाचित् प्रत्येक घर मे होगा ।

इस प्रकार श्री गुप्ता का निष्कर्ष है कि सोलह स्वप्न—सोलह वस्तुओं का समूह सिधु घाटी लिपि का एक लेख है जो सिधु घाटी मे प्राप्त मुद्रा पर अंकित भगवान् ऋषभदेव के चित्र का विस्तृत विवरण देता है, उनकी वशावलि भी बताता है व उनके राज्य व साम्राज्य भी बताता है । इस प्रकार यह मानने के कारण उपलब्ध है कि [illegible] ही नाम [illegible] ।

ऐसा प्रतीत होता है कि उक्त चिन्ह् किसी कारण से बाद मे मौखिक रूप बनाये गए व याद कराये गए व किसी समय किसी उद्वेलित कल्पना शक्ति वाले व्यक्ति ने सस्कृत के दो अर्थ निकलने वाले-शब्दो के ऐसे उच्चारण रख दिये जो कल्पना को सुन्दर लगे व इस कारण उनसे पूर्ण अर्थ भुलाया जाकर गलत अर्थ लगाया जाने लगा। गैंडे के लिये खग शब्द का मतलब भूल कर खग कहा जाने लगा व बाद मे चन्द्रमा हो गया। इसी प्रकार महिष का महिषि हुआ व बाद मे लक्ष्मी। ईसा पूर्व तीसरी शताब्दि मे जब राज लक्ष्मी की कल्पना उठी तब इसे भी राज लक्ष्मी रूप दे दिया गया। इसी प्रकार कलश को स्वर्ण कलश या अमृत कलश कहने मे यह भुला दिया गया कि उसका 'मखन' से अभिप्राय है या पुत्र से। इसके बावजूद यह जैन गाथाए ही है जो सिन्धु सभ्यता की लिपि व उसके मूल तत्त्व अपने मे सजोये हुए है। जैन गाथाओ मे ऐसे अनेक वस्तुओ का समूह है। अगर उन्हे सिन्धु लिपि का लेख मान कर अध्ययन किया जावे तो जैन धर्म के अन्य रहस्य प्रकट हो जायेंगे। इन समूह मे १०८ वस्तुओ का वर्णन है जो ऋषभदेव के शरीर पर चिन्हो के रूप मे दिखायी गई हैं। (महापुराण पच दश पर्व श्लोक ३७–४४)। इसी प्रकार उनके समवशरण मे विभिन्न चिन्ह् वाली पताकाओ का समूह व विभिन्न जैन विशिष्ट पुरुषो के जन्म के पूर्व उनकी माताओ के स्वप्न इत्यादि है। इन गाथाओ को वास्तविक रूप से देखें व अध्ययन करे तो हमे सिन्धु घाटी सभ्यता की असलियत भी पता चल जावेगी जो जैन सभ्यता ही प्रतीत होती है।"

श्री गुप्ता ने इस प्रकार जैन धर्म व सभ्यता को सिन्धु घाटी से सम्बन्धित होने को तथा सिन्धु सभ्यता की लिपि को सोलह स्वप्नो मे खोज बताकर उत्खनन से प्राप्त मुद्रा को भ० ऋशभ-का ही विवरण बताया है। श्री गुप्ता का चिन्तन एक नई दिशा की खोज को बताता है उस सभ्यता की कि जो भारत की ही नही सारे विश्व की प्राचीनतम सभ्यता है। श्री गुप्ता महोदय ने अपने लेख मे जिस मुद्रा का उल्लेख किया है— उसमे चित्रित बैल के शृंगो से उनका ऋषभनाथ नाम व शृंगो से उनके अनन्त चतुष्टय, मुकट से उनके सम्राट होने तथा दिगम्बर होने से उनके तथ्यो मय दिगम्बर स्वरूप तथा पशुओ के घेरो से समवशरण की रचना जिसमे पशु व देव भी उपस्थित होकर भगवान् की वाणी सुनते हैं सकेतित हुए हैं। वेदो मे 'चत्वारि शृंगा' कह कर भगवान् ऋषभ पूर्ण पुरुष के अनन्त चतुष्टय बताये गये है। चतुर्मुख से उनके ब्रह्मा रूपा स्वरूप को बताया गया है।

डा० दामोदर शास्त्री की जैन संस्कृति की प्राचीनता तथ्य देन पर अभिमत

केन्द्रिय सस्कृत विद्यापीठ (नई दिल्ली) के विद्वान डा० दामोदर शास्त्री के विचार हैं—

"हडप्पा व मोहन जोदडो की सभ्यता के अवशेषो से यह सिद्ध हो गया है कि इस सभ्यता के निर्माता लोग जैन धर्म के आदि तीर्थंकर ऋषभदेव के पूजक, वीतराग धर्म के अनुयायी तथा योगिक ध्यानादि क्रियाओ के द्वारा आत्म साधना के उपासक थे। इस सस्कृति के समानान्तर दूसरी सस्कृति थी वैदिक। वेद मे स्थान स्थान पर वैदिक देवताओ के प्रति की गई प्रार्थनाओं मे यह तथ्य स्पष्ट

होता है कि इस संस्कृति के लोग भौतिक कामनाओं की पूर्ति के लिये देव-शक्तियो पर आश्रित रहने वाले थे, इनके द्वारा यज्ञ मे पशु-बलि दी जाती थी। इनका जीवन सघर्ष मय व असुरक्षा की भावना से ग्रस्त था और अपने दैनिक जीवन मे अपने शत्रुओ के प्रति व्यवहार मे पूर्णत' अहिंसक नही कहे जा सकते। कही कही तो इनकी क्रूरता के उदाहरण भी दृष्टिगोचर होते है।"

"ठीक इसके विपरीत देश मे पर्यटन शील "व्रात्य" लोगो की परम्परा थी जो व्रत-निष्ठ एव अहिंसक धर्म के आराधक थे जिनका विश्वास आत्म-कल्याण व आत्म शुद्धि मे था। यह परम्परा भी बहुत सम्भवत सिन्धु घाटी की सभ्यता के निर्माताओ की तरह श्रमण-सस्कृत की अनुयायी थी।

"देवो और असुरो के मध्य सघर्ष भी एक प्रकार से दो सस्कृतियो या जातियो के मध्य था। विद्वानो का अनुमान है कि असुर राजा प्राय. अहिंसक जैन सस्कृति से सम्बद्ध थे। यह बात और है कि द्वेष के कारण "असुर" शब्द को हिंसक का पर्यायवाची बना दिया गया। विष्णु पुराण के अनुसार असुर लोग आर्हत धर्म के अनुयायी थे। उनका अहिसा मे पूर्ण विश्वास था। यज्ञ व पशु बलि मे उनकी अनास्था थी। श्राद्ध व कर्मकाण्ड के विरोधी थे। महाभारत मे असुर राजा बलि स्वमुख से आत्म साधना का जो वर्णन करता है वह जैन धर्म के सर्वथा अनुकूल है।

"जैन सस्कृति के तीर्थंकरो की परम्परा ने भारतीय समाज को समय समय पर जो सद्-ज्ञान दिया उसका प्रभाव यह हुआ कि वैदिक सस्कृति मे भी अहिंसा धर्म को बहुमान मिलता गया। वीतराग धर्म के प्रति वैदिक संस्कृति के अनुयायी भी आकृष्ट हुए। सम्भवत प्रारम्भ मे उन अनुयायियो के प्रति वैदिक सस्कृति के लोगो के मन मे अनादर का भाव रहा हो, किन्तु कालान्तर मे समन्वय का रास्ता अपना कर उदार दृष्टिकोण का परिचय दिया गया। दोनो ही सस्कृतियो मे परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान बढता रहा। फलस्वरूप व्यवहारिक जीवन के आचार-विचारो की दृष्टि से दोनो सस्कृतियो मे मौलिक फर्क पाना मुश्किल हो जाता है। अहिंसा परम धर्म है, राग द्वेषादि सासारिक दु ख के हेतु है। मनोविकारो पर विजय तथा शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि से मुक्ति प्राप्त हो सकती है—इत्यादि बाते दोनो सस्कृतियो मे लगभग समान आदर के साथ स्वीकारी गई है और यही कारण है कि उपनिषद, रामायण, महा भारत, गीता, पुराण आदि वैदिक परवर्ती ग्रथो मे जैन सस्कृति के तत्व-स्थल-स्थल पर ढूढे जा सकते है।

आगे डा० दामोदर शास्त्री स्पष्ट करते है—"वैदिक सस्कृति का प्रारम्भ मे लक्ष्य जिस स्वर्ग की प्राप्ति था, उस स्वर्ग का वातावरण भौतिक समृद्धि, काम-सुख, भोग लिप्सा का प्रतीक होते हुए भी वासना-अतृप्ति, अशान्ति तथा विनश्वरता से मुक्त नही समझा गया और परवर्ती कल मे वैदिक सस्कृति का लक्ष्य स्वर्ग के स्थान पर पाप-पुण्य से परे "मुक्त" स्थिति हो गया। इसी तरह यज्ञ का स्वरूप क्रमश अहिंसक होता गया और द्रव्य-यज्ञ की अपेक्षा ज्ञान यज्ञ को प्रमुखता मिल गई। यह सब जैन सस्कृति का वैदिक संस्कृति पर प्रभाव था।"

—डा० दामोदर शास्त्री—"आ० कुंदकुंद और उनका प्रवचन सार" लेख —महावीर स्मारिका १९८० ।

भ. ऋषभदेव की प्राचीनता के उल्लेख वेदो मे सर्वाधिक स्थल स्थल पर प्राप्त हैं । कुछ आख्यायिकाओ मे भी संकेत हैं ।

प्रसिद्ध आख्यायिकाओं के संकेत

(१) प्रजापति और इन्द्र विरोचन का आख्यान

यह आख्यान पर्याप्त रूप से प्रकट करता है कि आदि-ब्रह्मा ऋषभदेव ने सम्पूर्ण मानव जाति को आत्म-तत्व का ज्ञान दिया था । ऋषभदेव का वर्णन राजर्षि ऋषभ के नाम से भी जाना गया था । प्रजापति के रूप मे उन्होने सारी मानव जाति—जो सुर और असुर द्विभागो मे विभक्त थी इन के प्रतिनिधि, इन्द्र तथा विरोचन को उनकी प्रार्थना पर प्रवोधित किया था । कहा जाता है कि विरोचन तो स्व-प्रतिविम्ब को ही आत्मा का स्वरूप समझकर और सन्तुष्ट होकर चला गया । अपनी स्थूल बुद्धि से आत्मा को देह मात्र रूप मानने के कारण उसने अपनी जाति मे भोग और इन्द्रिय-तृप्ति का धर्म के रूप प्रचार किया । सूक्ष्मप्रज्ञान्वित इन्द्र उतने मात्र से सन्तुष्ट नही हुआ । वह वरावर पृच्छना, मनन साधना और ब्रह्मचर्य को लम्वे काल तक जारी रखकर स्वप्न, सुषुप्ति, फिर तुरीय के उत्तरोत्तर स्वरूपो के ज्ञान व अनुभव को प्राप्त करता रहा । उसके द्वारा देव-लोक के आर्यजन आत्म-तत्व के ज्ञान को जान सके ।

(२) यक्ष (अक्षय) पुरुष से इन्द्र को ज्ञान

इन्द्र को पहले आत्म ज्ञान प्राप्त न था—देवो मे इस ज्ञान के लिए जिज्ञासा हुई । उन्होंने इन्द्र को ज्ञान प्राप्ति के लिए प्रेरित किया । देवगण व इन्द्र इससे पूर्व देहाभिमानी थे । यह देहाभिमान यक्ष पुरुष ने किस प्रकार निवृत्त किया, इसका भी मनोरजक आख्यान है । यक्ष यक्षिणी तीर्थंकर के शासन-पुरुष होते है । यक्ष पुरुष और उमा हेमवती का आख्यान इस पर प्रकाश डालता है । यक्ष पुरुष से अभिप्रेत है, 'क्षय' के विपरीत 'अक्षर' पुरुष जो आत्मा के अमृत स्वरूप मे प्रतिष्ठित या दीक्षित हुआ हो—और हेमवती से अभिप्रत है वह शक्ति-मूर्ति, साक्षात् स्वर्णमयी ज्ञान-चेतना जो भगवान् के प्रवचन (अक्षर दिव्यवाणी) के रूप है । अग्नि, सूर्य, वायु, वरुण आदि को जो मिथ्या देह-भाव और देह-वल का मद था उस यक्ष पुरुष के समक्ष-चूर्ण विचूर्ण हो गया । तव उनमे वह भूमिका आई जिसमे आत्म ज्ञान का प्रकाश किया जा सकता था । इसलिए भगवान की वाणी ओंकार ध्वनि उमा सरस्वती से उन्हे प्रवोधन हुआ । ऐसे देव आर्यो मे अध्यात्म-ज्ञान का उदय हुआ तथा इसी से वैदिक जनो मे उन मन्त्र-दृष्टा ऋषियो का आविर्भाव हुआ जिनका परिचय वेद ब्राह्मण एव उपनिषद् ग्रन्थो मे मिलता

है। अगिरस, शौनक, श्वेताश्वतर आदि महत्वपूर्ण नाम है। इनमे वास्तव मे आध्यामिक काष्ठा के प्रस्फुटन के दर्शन होते है। वेद ऋचाओ के जन्म से पूर्व सचमुच योग-विद्या जो हिरण्यगर्भ आदिनाथ से उद्घाटित व प्रवर्तित हुई थी, काफी तरुण हो चुकी थी। वेद-ऋचाओ मे अपरा विद्या के साथ साथ जिस परा विद्या मय ज्ञान के सकेतस्वर है, इस हैरण्यगर्भ योग की ही देन है, जो अहिंसक देव-आर्यो मे याज्ञिक आर्यो से पूर्व परिपक्व हो चुकी थी।

तपोयोग और वरुण भृगु सवाद

कहा जाता है ज्ञानी वरुण ने भृगु को "तप" का उपदेश दिया। तप की यह उद्भावना भी वह ही है जो ऋषभदेव हिरण्यगर्भ से प्रसूत हुई थी। भृगु ने वरुण से प्रार्थना की "भगवान्! मुझे बोध दीजिये।" वरुण ने कहा—"अन्न प्राण चक्षु श्रोत्र मनो वाचमिति। यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति। यत्प्रयन्त्यभिसविशन्ति। तद्विजिज्ञास्व। तद् ब्रह्मेति।" अर्थात् अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन, वाणी तथा यह सब प्राणी मात्र जिसके आश्रय (निमित्त) से उत्पन्न होते है–और उत्पन्न होकर ज्ञान से जीवन्त होते है, और फिर प्रयाण करते हुए अन्त मे विलीन होते है, उस विशेष तत्व को ही जानो, जानने की इच्छा करो, वह ही ब्रह्म है। इस पर उस ब्रह्म को जानने की उत्कृष्ट इच्छा भृगु ने की। वरुण ने कहा "तप से ब्रह्म को जानो-तप ही ब्रह्म है। तब भृगु तपोरत हुए और उन्होने प्राण मन बुद्धि से परे आत्म-विज्ञान प्राप्त किया और अन्त मे क्रमश आनन्द की प्राप्ति हुई। ऐसे उस भृगु ऋषि ने "तप" द्वारा जाना कि आनन्द ब्रह्म है। और प्राणी-मात्र इस अतीन्द्रिय आनन्द का ज्ञान करके आनन्द मे ही तल्लीन होकर ब्रह्म हो जाता है।

> **"सैषा भार्गवो वारुणी विद्या, परमे व्योम्नि प्रतिष्ठिता।**
> **स य एव वेद प्रतिष्ठिति महान् भवति।"**

यह ही वह विद्या है जो वरुण ऋषि से भृगु ऋषि को प्राप्त हुई थी। यह विद्या परम चिदाकाश मे प्रतिष्ठित है–ऐसा जो जानता है वह ब्रह्म मे स्थित होता है, महान् होता है। साधक इस योग मय परा विद्या "तप" के आश्रय से परम व्योम चिदाकाश मे पहुचकर ब्रह्म का साक्षात्कार करता है, और ब्रह्मानन्द को वैसे ही प्राप्त करता है जैसे भृगु ऋषि ने प्राप्त किया।

तपोयोग और श्वेताश्वतर

"तप" के प्रभाव का एक और ज्वलत उदाहरण उपनिषदो मे महर्षि श्वेताश्वतर का है। स्वयं महर्षि श्वेताश्वतर अपनी सम्प्रदाय परम्परा का वर्णन अध्याय ६/२१ मे इस प्रकार करते है—

> "तप प्रभ वाद्देव प्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वतरोऽथ विद्वान्।
> अत्याश्रमिभ्य. परमं पवित्र प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्॥ (६–२१)

अर्थात्—महर्षि श्वेताश्वतर ने "तप" के प्रभाव से तथा "देव" के प्रसाद से उस ब्रह्म को जाना और ऋषि समुदाय से सेवित परम ब्रह्म तत्व का सम्यक् प्रकार से वीतराग परम हस ऋषियो को उपदेश दिया। यहा इस चर्चा मे "तप" और "देव" शब्द विशेष महत्व के हैं। इन शब्दो का प्रयोग इन्ही महर्षि ने अन्यत्र भी किया है—

"एवमात्मात्मिनि गृह्यतेऽसौं, सत्येनेनं तपसा योऽनुपश्यति ।'" (१/१५)

तथा—

"आत्म विद्या तपोमूलं तद् ब्रह्मोपनिषत् परम। तद् ब्रह्मोपनिषत्परम् ।।" (१/१६)

इसी प्रकार जो पुरुष सत्य और तप के द्वारा इसे वारवार देखने का प्रयत्न करता है उसे यह आत्मा आत्मा मे ही दिखाई देता है। तथा, वह आत्म-विद्या तपोमूल है और यह ही उत्कृष्ट ब्रह्मोपनिषद् है।

यज्ञादि कर्म प्रधान अपरा विद्या के साथ परा आत्म विद्या का समन्वय

आत्मा ही स्वय परम ब्रह्म है। यज्ञ पुरुष के रूप मे उस परम पुरुष का ही दर्शन था। वह ही अमृत पुरुष है, अविनाशी है। उसी की प्रभा से ज्ञान सूर्य चमकता है, अत. वही शरण्य है। देवो के समक्ष इस परा वाणी जिन वाणी भगवती उमा सरस्वती के माध्यम से ज्ञान का उद्घाटन हुआ। देव-आर्यों मे इस प्रकार अक्षर-मन्त्राकार-उद्गीत विद्या का महत्व प्रकट हुआ और उसका प्रचार हुआ। कहा जाता है कि इन्द्र को वह बोध वसन्त पचमी को ध्यानलीन अवस्था मे चिदाकाश मे स्फुरित हुआ। तब से ही यह दिवस प्रणवरूपिणी उमा हेमवती और सरस्वती रूपा परा शक्ति के प्रसाद-दिवस के रूप मे प्रतिष्ठित हुआ और अब भी अध्यात्म विद्या के विद्यार्थी इस दिन को विद्यारम्भ के लिए शुभ दिन मानते है। इस प्रकार देव-आर्य जनो मे यज्ञादि कर्म प्रधान स्थूल अपरा विद्या के साथ परा-विद्या का भी सुमेल हुआ।

हैरण्यगर्भीय अक्षर तप विद्या ब्राह्मण वर्ग के पास कैसे पहुंची

भ० ऋषभदेव की "तप" अक्षरो की, यानी अक्षर मय विद्या की उद्भावना किस प्रकार हुई इसका वर्णन मुण्डकोपनिषद् व श्री मद्भागवत ने जिस प्रकार किया है वह पहले बताया जा चुका है। अक्षर विद्या "तप" प्रसाद के रूप मे प्रसूत भ. ऋषभदेव को हुई थी, वह ही निरक्षर भूमिका पर पहुचकर परा-वाणी व दिव्य ध्वनि के रूप मे विकसित हुई। और यह ही आत्म-ज्ञान के उद्घाटन मे निमित्त हुई। अर्थात् योग-विद्या उस परावाणी के आश्रय से ही विकसित हुई। देव-आर्यों मे आत्म-विद्या के इस रहस्य के भ ऋषभदेव के योग शासन से प्राप्त होने पर ऐसा विकास, योग-सामर्थ्य तथा महात्म्य प्रकट हुआ कि इससे अनेक मन्त्र दृष्टा ऋषि हुए।

"तप" महिमा की मान्यता

"तप" की ही महिमा तैतरीय-उपनिषद् मे इस प्रकार स्वीकृत हुई—

"तपस. ब्रह्म जिज्ञासस्व"—तप के द्वारा ब्रह्म का अनुसंधान करो ।

छान्दोग्योपनिषत् मे यह स्पष्ट स्वीकार किया गया है कि यह अक्षर तथा तपोमयी परा-विद्या क्षत्रियो के शासन की थी तथा वह बहुत काल तक क्षत्रियो मे ही प्रचलित रही और फिर उनसे यह विद्या ब्राह्मणो को प्राप्त हुई ।

इसी प्रसग मे हम श्रेद्धय उपाध्याय मुनि श्री विद्यानन्द के प्रवचन का एक उद्धरण देते हैं जो उक्त कथन को प्रमाणित करता है । भ० आदिनाथ और उनके पिता नाभि मनु व माता मरुदेवी की तपस्थल तथा भ० पार्श्वनाथ के विहार-स्थल हिमाचल मे स्थित बद्री विशाल तीर्थ धाम मे आयोजित ज्ञान सर्वाद्धिनी सभा मे वहा के विद्वज्जनो के समक्ष उन्होने यह प्रवचन दिया था—

अध्यात्म विद्या क्षत्रियों की

"शास्त्रो मे अध्यात्म-विद्या का महात्म्मय गाया गया है । यह विद्या हमे क्षत्रियो से प्राप्त हुई—इसके मूल मे क्षत्रिय रहे । बाद को यही ब्राह्मणो द्वारा प्रचार मे आई । अर्थात् अध्यात्मा विद्या के जनक क्षत्रिय रहे और प्रचारक ब्राह्मण । तीर्थंकर ऋषभदेव क्षत्रिय थे, तीर्थंकर महावीर क्षत्रिय थे, श्री भगवान राम और नारायण श्री कृष्ण भी क्षत्रिय थे, महाराजा जनक भी क्षत्रिय थे—जिन्होने अध्यात्म का उपदेश दिया । इनके उपदेशो को प्रसारित करने वाले-गौतम गणधर ब्राह्मण थे । इससे सिद्ध है कि अध्यात्म विद्या आत्म-बल प्रधान विद्या है ।"

छान्दोग्य की साक्षी

श्रद्धेय मुनि श्री ने आगे कहा—"छान्दोग्योपनिषत् मे उल्लेख है कि—

यथेयं न प्राक्त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति ।
तस्मात्तु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रस्यैव प्रशासनमभूत् ।।[1]

भाष्य है—तत्रास्ति वक्तव्य-तथा येन प्रकारेण इय विद्या । प्राक्त्वत्तो ब्राह्णानून गच्छति न गतवती, न च ब्राह्मणा अनया विद्यया अनुशासितवन्तः अनय एतत् प्रसिद्धं लोके यत । तस्माद् पुरा पूर्वसर्वेपु लोकेपु क्षत्त्रस्यैव क्षत्त्रजातेरेव यथा विद्यया प्रशासन प्रशास्तृत्व शिष्याणामभूत् बभूव । क्षत्रिय

---

1 (छान्दोग्योपनिषत् ५/३/७)

परपरयैवेय विद्या एतावन्त कालमागता । तथाप्येता ग्रह तुभ्य वक्ष्यामि । त्वत् सप्रदानादूर्ध्वं ब्राह्मणान् गमिष्यति । ग्रतो मया यदुक्त तत् क्षन्तुमर्हसीत्युक्त्वा तस्मै ह उवाच विद्या राजा ।"

"क्षत्रियो से पूर्व ग्राध्यात्मिक विद्या ब्राह्मणो को प्राप्त नही हुई थी, ग्रतएव यह मान्यता युक्ति-सगत है कि सपूर्ण लोक पर क्षत्रियो का प्रशासन था । ऋषभ पार्थिव श्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम्—(ब्रह्माण्ड पुराण २/१४) । गौतम के ब्रह्म-विद्या सम्बन्ध प्रश्न सुनकर उस क्षत्रिय नृपति ने कहा (उसी का व्यक्तव्य कहते हैं) —जिस प्रकार यह विद्या तुम से पूर्व ब्राह्मणो को प्राप्त नही हुई ग्रौर न ब्राह्मण इस विद्या मे ग्रनुशासित हुए ऐसी ही बात लोक प्रसिद्ध है । ग्रत पूर्व सब लोक पर क्षत्रिय जाति का ही इस विद्या द्वारा प्रशासन हुग्रा । क्षत्रिय परम्परा मे ही यह विद्या इतने काल पर्यन्त प्रवृत रही तथा ग्रब मै तुम्हे बताउगा । ग्राज से तुम्हारे पश्चात् यह ब्राह्मणो मे प्रसारित होगी । ग्रत मैने जो कहा क्षमा करना । तत्पश्चात् राजा ने विद्योपदेश किया ।"[1]

ऐसे यह कर्मठ क्षत्रिय योगीन्द्रो की उद्गीत व त्रित्वकरण ग्रादि विद्या, योगशासन की ग्रात्म-विद्या जो भ० हिरण्यगर्भ-ऋषभदेव की परम्परा व परिपाटी की थी ब्राह्मणो को प्राप्त हुई । छान्दोग्योपनिषत् ने इसी उद्गीत विद्या का त्रित्वकरण ग्रादि रूपो से बडा विशद पुन कथत किया है । यह भारत की गौरवमयी प्राचीनतम ग्रक्षर व निरक्षर मय ग्रध्यात्मयोग विद्या है । इस उद्गीत ग्रक्षर-विद्या की स्तुति व साधना सब उपनिषदो मे फिर ग्राई तथा गाई गई है तथा, भारत के सब सतो मे नाम-विद्या इसी का रूप है ।

जैन योग मे इसी विद्या का दर्शन है । यह योग उसी प्राचीनतम योग की ही एक कडी है ।

ग्रा० श्री पूज्यपाद ने जैनेन्द्र व्याकरण मे इसे "शकरी जिन विद्या" के नाम से ग्रभिहित किया क्योकि यह श-सुख को ही करने वाली जिन-विद्या है ।

भगवान् राम के भावनोद्गार

नाह रामो न मे वाछा भावेषु न मे मन ।
शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनो यथा ।।[1]

यह मर्यादा पुरुषोत्तम श्री राम के ग्रन्तिम दिनो के उद्गार है जो योग वाशिष्ठकार ने प्रकट किये है—

---

1. (छान्दोग्योपनिषत्शकर भास्य--५/७ हिमाचल मे दिगम्बर मुनि मे उद्धृत)
2 योगवासिष्ठ–वैराग्य प्रकरण सर्ग १५

"मै राम (स्थूल देहधारी) नही हू, मेरा मन जागतिक भावो मे (पदार्थ-कामनाओ मे) नही है। मै तो केवल वैसी शाति मे स्थित होना चाहता हूँ—जैसी शान्ति मे भगवान् जिनेन्द्र स्थित है।" इससे प्रकट है कि श्री राम के समय मे तीर्थंकर जिन देव थे और वे परम श्रद्धेय तथा आराध्य माने जाते थे। श्री राम की उक्त उक्ति भगवान् ऋषभदेव की शकरी आत्मा-विद्या की महिमा को प्रकट करती है। जैन तो मानते है कि राम ने जैन-दीक्षा ग्रहण करके जिनेश्वर रूप व सिद्धात्मा रूप मुक्ति की प्राप्त की थी। उनकी निर्वाण भूमि, गिरी मातीतु गी की तथा केवल ज्ञानी केवल प्राप्त श्री राम आर्हत् परमेश्वर की वदना के लिए जैन लोग अब भी तीर्थाटन करते है। मान्यता चली आ रही है कि इस पवित्र गिरि से नल नील हनुमान आदि भी केवल ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष गये।

तीर्थंकर भगवान् मुनिसुव्रत के समकालीन मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम हुए। भगवान् ऋषदेव की परम्परा मे श्री मुनिसुव्रत बीसवे तीर्थकर थे।

बौद्ध साहित्य और भ० ऋषभदेव

"द डिक्शनरी आफ चाइनीज बुद्धिस्ट टर्मस" पुस्तक पृ १८४ मे उल्लेख है कि बौद्ध साहित्य मे आदिनाथ ऋषभदेव का उल्लेख मिलता है।

हिन्दू पुराणो के भाति बौद्ध आगम ग्रन्थो मे प्रत्येक बुद्ध के अन्तर्गत अजित, सुष्पि, पदम, चन्द, विमल और धम्म—इन छ तीर्थंकरो का बुद्ध के रूप मे उल्लेख किया गया है—(अगुतर निकास ३,3७३)

वस्तुत जैन तीर्थंकर कही कृषि के देवता, कही वर्षा के देवता, कही सूर्य देव, कही आद्य प्रजापति, कही वनस्पति के देवता, शकर देव के अवतार के रूप मे माने और पूजे जाते हैं।

पारस वंशी नाथ संप्रदाय और कबीर पंथी संप्रदाय

डा० धर्मचन्द्र ने "प्रागैतिहासिक परम्परा" मे कहा है—ऐतिहासिक तथ्यो और पुरा-प्रमाणो से यह निश्चित है कि महावीर के २५० वर्प पूर्व तीर्थंकर पार्श्वनाथ हुए थे और उनके अनुयायी पार्श्वापत्य कहे जाते थे। महावीर के माता पिता भी पार्श्वापत्य ही थे। आगम ग्रन्थो मे वर्णित पालि साहित्य का चातुर्याम सवर पार्श्व-परम्परा ही तो है। पार्श्वनाथ ने जिस पर्वत पर तप कर मोक्ष प्राप्त किया उसे पार्श्वपर्वत-सम्मेद शिखर कहा जाता है। पूर्वी भारत मे पारसवशी नाथ सम्प्रदाय है जो सदियो बाद विकृत होकर कबीर पथी सम्प्रदाय के रूप मे प्रसिद्ध हुआ।

महात्मा बुद्ध और पार्श्व परम्परा

महात्मा बुद्ध का जन्म शाक्य क्षत्रिय वश मे हुआ था। यह वश भी पार्श्वनाथ के शासन को मानने

वाला था। इस प्रकार महात्मा बुद्ध पार्श्व परम्परा मे ही जन्मे, और बडे हुए। उन्हें बचपन में जिस अजित नाम के मुनि से आशीर्वाद मिला था वह पार्श्व परम्परा के ही जैन मुनि थे। महात्मा बुद्ध बहुत काल तक इसी पार्श्व जैन परम्परा मे प्रव्रजित रह कर विहार करते रहे और पार्श्व परम्परा के जैन साधुजनो मे उपदेश भी करते रहे थे। महात्मा बुद्ध के उपदेशो मे अत तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ की आध्यात्मिक साधनाओ का स्पष्ट प्रभाव देखा जाता है। पार्श्वनाथ भ० ऋषभदेव आदि-तीर्थंकर की परम्परा मे तीर्थंकर हुए थे, और भ० ऋषभदेव ही इस युग मे श्रमण सस्कृति के आदि पुरस्कर्ता थे। भ. बुद्ध ने इसी पार्श्वनाथ निग्रन्थ श्रमण परम्परा के शासन से फिर बाद मे अलग होकर बौद्ध धर्म को जन्म दिया। आदि तीर्थंकर भ. ऋषभदेव की आदि श्रमण सस्कृति से अलग होने पर भी बौद्ध श्रमण सस्कृति मे इस प्राचीन जैन श्रमण सस्कृति के मूल तत्वो की जडे मौजूद रही है, और इसी कारण बौद्ध श्रमण सस्कृति मे जैन श्रमण सस्कृति से अत्यधिक समानता है जो विशेष कर ध्यानादि प्रक्रियाओ की पद्धति मे है।

अपनी ऐतिहासिक अज्ञानता के कारण कई पाश्चात्य तथाकथित विद्वानो मे अभी तक यह भ्रम है, और इसी का वे बराबर प्रचार की करते रहने हैं कि जैन भारत-मे बौद्ध धर्म के अनुयायी है जैसे पडोसी देश लका बर्मा चीन आदि के लोग अनुयायी है। (The kalpe sutra & New Tatva) पुस्तक के अनुवादक लेखक जे स्टीवेन्सन, डी. डी ने इसी प्रकार का मत अनुवादक के (Peface) (प्राक्कथन) मे प्रकट किया है, यह पुस्तक भारत-भारती वाराणसी १९७२ मे छपी है। यह मत्त निनात भ्रमक है। वस्तु स्थिति यह है कि बौद्ध धर्म ऋणी है,—जैन पार्श्व धर्म परम्परा तथा सस्कृति का—श्वे. बुद्ध बौद्ध धर्म प्रचार से पूर्ण पार्श्व नाथ प्रभु की परम्परा मे बुद्ध कीर्ति नाम से जैन मुनि भी रहे थे—उनका सारा लालन पालन पार्श्व जैन परम्परा मे हुआ था। कल्प सूत्र श्वेताम्बर जैन साहित्य है—श्वे० जैन इस असत्य मत का निराकरण कराए।

धम्मपद और मजुश्री मूलकल्प में भ० ऋषभदेव का वर्णन

धम्मपद और मजु श्री मूल कल्प मे ऋषभदेव का वर्णन मिलता है—

उसभ पवर वीरं महेसिं विजिता विनं।
अनेजं न्हातकं बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥[1]

यहा धम्मपद मे भ ऋषभ और महावीर के नाम एक साथ आये हैं।

बौद्ध ग्रन्थ मजुश्री मूल कल्प मे, भारत के आदि सम्राटो मे नाभि पुत्र ऋषभ और ऋषभ पुत्र भरत का उल्लेख किया गया है कि उन्होने हिमालय से सिद्धि प्राप्त की। इसे देवेन्द्र मुनि ने (बौद्ध

1. (धम्मपद–४२२)

साहित्य मे ऋषभदेव) शीर्षक से ऋषभदेव-एक परिशीलन पृ. ४७२ में प्रकट करते हुए "मजु श्री" कल्प के श्लोक ३६०-३६२ भी उद्घृत किये है—जिसमे "नाभित ऋषभ पुत्रो वै सिद्ध कर्म दृढव्रत" तथा "निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभ निर्ग्रन्था रूपि" आदि रूप से वर्णन आया है। तैशी त्रिपिटक (३४/१६८) मे भी श्री ऋषभदेव का उल्लेख प्रकट हुआ है।

त्रिशास्त्र संप्रदाय के चित्संग द्वारा श्री ऋषभ का वर्णन

त्रिशास्त्र-सप्रदाय के सस्थापक श्री चि-त्संग ने उपर्युक्त कथन का विश्लेषण करते हुए कहा है, ऋषभदेव तपस्वी ऋषि थे—उनका सदुपदेश है कि "हमारे देह को सुख दु ख का अनुभव होता है। दु ख पूर्व सचित कर्म-फल होने से इस जन्म मे तप-समाधि द्वारा नष्ट किया जा सकता है, दु ख का नाश होने से सुख तत्क्षण प्रकट हो जाता है। ऋषभदेव का धर्म ग्रन्थ "निर्ग्रन्थ सूत्र" के नाम से विश्रुत है उसमे सहस्त्रो कारिकाए है।"

श्री चित्सग ने स्व रचित "उपाय हृदय शास्त्र" मे ऋषभदेव के सिद्धान्तो का भी वर्णन किया है। उन्होने बताया है कि ऋषभदेव के मूल सिद्धान्त मे पच विधा-ज्ञान, छ आवरण और चार कषाय है। पाच प्रकार का ज्ञान श्रुत मति केवल मन पर्याय और अवधि है। छ. आवरण है—दर्शनावरणी, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, गोत्र और नाम। इनकी विपक्षी शक्तिया छ ऐश्वर्य है। चार कषाय क्रोध-मान लोभ और माया है। इस प्रकार ये ऋषभदेव के मूलभूत सिद्धान्त हैं—इसी कारण वे भगवत् कहे जाते है। (षट् शास्त्र १,२ तैषोत्रि भा. ४२ पृ. २४४)। वह वर्णन जैन दर्शन सम्मत ही है यद्यपि इसमे क्रम तथा सख्या अपेक्षा कुछ त्रुटि है। श्री चित्सग ने षट् शास्त्र मे उल्लखित उलूक, कपिल आदि ऋषियो के बारे मे कहा है—"इन सब ऋषियो के मत ऋषभदेव के धर्म की ही शाखाए है। ये सब ऋषि ऋषभदेव के सम्मत ही उपवासादि करते थे। परन्तु इसमे कुछ ऋषि फल के तीन टुकडे दिन भर मे ग्रहण करते थे, कुछ ऋषि वायु का आसेवन करते थे और तृण घास आदि का आहार करते थे—तथा मौन वृत्ति को धारण करते थे।" (वही पृ ४२७)

यह भी उल्लेखनीय है कि बुद्ध के शिष्य सारिपुत्र और मौद्गलायन भी बुद्ध धर्म में दीक्षित होने से पूर्व पार्श्व परम्परा के ही अनुयायी थे। कहा जाता है कि भगवान् पार्श्वनाथ का तिब्बत चीन आदि में भी विहार हुआ था और वे वहा बुद्ध कहे जाते थे।

यजुर्वेद में अजितनाथ और अरिष्ट नेमि

यजुर्वेद में ऋषभ अजितनाथ और अरिष्ट नेमी तीर्थंकरों के नाम आये हैं। बेबीलोन के राजा नेबुचन्दनेजर प्रथम (ई. पू. ११४०) ने अपने देश की उस आय को जो विदेशी नाविको से कर के रूप में प्राप्त होती थी जूनागढ के गिरनार पर्वत स्थित अरिष्ट नेमी की पूजा के लिए प्रदान किया था।

इसका उल्लेख प्रभास पट्टन के एक प्राचीन ताम्रपत्र के अभिलेख में है—जिसे इतिहासज्ञ प्राणनाथ विद्यालकार ने प्रकट किया और इसका उल्लेख डा ज्योतिप्रसाद ने अपनी पुस्तक (Jainism, The oldest Religion) मे पृ. २३ पर उल्लेख किया है तथा डा भागचन्द भास्कर ने अपने लेख "प्राचीन परम्परा और इतिवृत" (महावीर स्मारिका–१९७४) मे उल्लेख किया है। शौरीपुर नरेश अधकवृष्णि के दस पुत्रो मे ज्येष्ठ समुद्र विजय के पुत्र नेमिनाथ और कनिष्ठ वसुदेव के पुत्र श्री कृष्ण हुए हैं। इस प्रकार भ० नेमिनाथ श्री कृष्ण के चचेरे भाई समकालीन थे।

भ० नेमिनाथ का जन्म और निर्वाण

"यह तो इतिहास प्रमाणित है कि २८ सदी पूर्व से इस देश मे जैन मत प्रचलित रहा है। किन्तु ईसा पूर्व आठवी सदी के पूर्व इतिहास की भी पहुच नही हो पाई है और इसलिए इस काल मे जैन धर्म का भी प्रागैतिहासिक अध्ययन ही सम्भव हो सकता है। भारतीय सस्कृति से अभिन्न पौराणिक परम्पराओ के अनुसार द्वारिका के पास यादवो की एक शाखा मे नेमिनाथ का जन्म हुआ था। पशु-हिंसा के दृश्य से व्याकुल होकर वे ससार से विरक्त हुए और गिरनार पर्वत "ऊर्जयन्त गिरि" पर तपस्या करके निर्वाण प्राप्त हुए।"

नीमनाथ संप्रदाय

नाथ पथी सप्रदाय मे पारस संप्रदाय के समान नीमनाथी सप्रदाय भी सोरथ मे प्रचलित रहा है, जिसका दाय भी सन्त कबीर को मिला था। पौराणिक वशावलियो पर नेमिनाथ का काल १००० वर्ष ई पू सिद्ध होता है। ये ही नेमिनाथ बाईसवे जैन तीर्थंकर हैं।

महा भारत और वेदों में नेमिनाथ

महाभारत और वेदो मे नेमिनाव का उल्लेख है।

ज्योतिष के आधार पर महाभारत युद्ध का समय ई पू ३१०२ है और वेदो का सकलन ब्रूक व प्रो सीटनी के अनुसार क्रमश ई. पू १४१० व १३३० हे। डा धर्मचन्द आगे लिखते है—"इक्कीसवे तीर्थंकर निमि या नेमिनाथ हुए। निमि या नेमिनाथ का काल १२०० ई पू. तथा तीर्थंकर मुनि सुव्रत का काल १५०० ई. पू अनुमानित है। यह कथन ऐतिहासिक काल गणना के अनुसार है। प्राचीन जैन परम्परा का मत भिन्न है। यही काल वेदो की रचना काल है। इस काल के बीसवें तीर्थकर मुनिसुव्रत के पूर्व तथा प्रथम तीर्थकर ऋषभनाथ के पश्चात् अठारह तीर्थंकरो के काल और घटनायें रही है उनके अनुमान तथा अध्ययन के साधन उपलब्ध नही है। किन्तु जैन धर्म तथा संस्कृति का वैशिष्टय तीर्थंकरो व उनके सम्बद्ध अन्य त्रेषट् शलाका महापुरुषो के नाम व जीवन वृतान्तो से भी भरा पडा है—तथा इतना मात्र ही नही, जैन धर्म आध्यात्मिक और नैतिक जीवन की एक विशिष्ट पद्धति है—जो उसे वैदिक जीवन की पद्धति से पृथक सिद्ध करती है। इन भिन्न 2 जीवन पद्धतियो की

1 प्रागैतिहासिक परम्परा—डा० धर्मचन्द

परम्परा युग युगान्तरो कल्पो और मन्वन्तरो से चली आ रही है और उनका विवरण वेदो मे सकेत रूप से तथा उनका उपवृहण करने वाले पुराणो मे थोडे विस्तार से प्राप्त होता है।" एपीग्राफिया इडिका (Vol I. Page ३८९) मे डा फुहररे तथा डा. रामसज ने "मैडिवल क्षत्रिय क्लास आफ इडिया।" की भूमिका मे श्री नेमिनाथ को ऐतिहासिक पुरुष प्रमाणित किया है—इसका समर्थन डा हरिसत्य भट्टाचार्य ने भी किया है।

अब तो इतिहासवेता विद्वानो का भी यह मत है कि परम सन्त अगीरस जिनसे नारायण श्री कृष्ण ने आत्म विद्या का शिक्षण लिया-भ. नेमिनाथ के अतिरिक्त कोई अन्य नही थे। तथा गीता मे इस शिक्षण का प्रभाव स्पष्ट झलकता भी है। भ नेमिनाथ के ही चचेरे भाई योगीश्वर श्री कृष्ण थे। भगवद्गीता मे श्री कृष्ण के ही मुखारविन्द से अर्जुन को ज्ञान और प्रबोधन दिया गया है।

श्री मद्गीता का ज्ञान क्षत्रिय परम्परा का

श्री कृष्ण ने भ ऋषभदेव से प्रवर्तित क्षत्रिय तीर्थंकर परम्परा की अध्यात्म विद्या की ही देन को गीता मे स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। श्री कृष्ण यदु वश मे हुए है और यदुवशी जैन थे। उन्होने गीता मे कहा है—

इदं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् अहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह, मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

मैने विवस्वान् को, विवस्वान् ने मनु को, मनु ने इक्ष्वाकु को यह योग विद्या कही। ध्यान रहे श्री कृष्ण, विवस्वान्, मनु, इक्ष्वाकु—ये सब क्षत्रिय थे और जैन तीर्थंकर सब ही क्षत्रिय सर्वज्ञ श्रमण परम्परा मे हुए है।

इस प्रकार श्रीकृष्ण ने इस अध्यात्म विद्या की क्षत्रिय श्रमण परम्परा और प्राचीनता, प्रामाणिकता को अर्जुन को बताया। उन्होने कहा सर्वज्ञ तत्त्वदर्शियो का परम्परा से जो ज्ञान आया है—वही मैने तुझे कहा है–मै तुझे अब यह अपनी तरफ से नया नही कहता हूँ। आगे उन्होने कहा यह ज्ञान काल प्रवाह से नष्ट हो गया था, अब मैने फिर तुझे इसका उपदेश किया है। स्पष्ट है कि इस प्रकार सर्वज्ञ क्षत्रिय श्रमण अध्यात्म परम्परा का ही ज्ञान गीता मे है। अब यह अलग बात है कि उसकी व्याख्या भिन्न प्रकार से होने लगी है। यह पुन. स्मरणीय है कि स्वय श्री कृष्ण क्षत्रिय थे और तीर्थंकर नेमिनाथ के चचेरे भाई थे।

श्री विनोबा भारत मे वैष्णव भक्त-शिरोमणियो मे विशिष्ट स्थान रखते ही है। "उपनिषद का अध्ययन" पुस्तक उनके ज्ञान मथन का परिचायक है। वे "समण-सूक्त" के प्रेरणा स्रोत भी रहे हैं। ये जैन धर्म के सर्व धर्म सम भाव व भ महावीर के प्रति श्रद्धा भी रखते है। और अपनी इस श्रद्धा

का स्पष्टता से उल्लेख भी करते है। पर फिर भी उनकी उक्त पुस्तक के पृ. १४ पर यह मत कि "कुछ उग्रवादियो ने बाद मे जैन धर्म को प्रकट किया" कुछ अटपटा ही है। यह जैन धर्म तो, जैसा कि स्पष्ट है, किन्ही उग्र वादियो के द्वारा नही परम शान्त वीतरागी तात्त्विक परम हंस ऋषियो-तीर्थंकरो के शीतल प्रवचनो से अनादिकाल से चला आ रहा है। तथा यह धर्म गीता एव उपनिषदो के बाद मे नही-वेदो तथा उपनिषदो से भी पूर्व से चला आ रहा है। पवनार के यह सन्त सम्भवतया यह नहीं जान पाये कि इस धर्म की परम्परा की जडें वेदो से भी पूर्व सूर्य वशी स्वयं भ. हिरण्यगर्भ वृषभनाथ व विवस्वान् तक भी पहुची पाई जाती है।

श्री विनोवा ने अपनी उक्त पुस्तक मे-यह भी प्रकट किया है कि वेदो के प्रति पूज्य बुद्धि स्वंय ऋषियो को कम हो गई थी। यह बात उन्होने ऋषियो की प्रणव ओंकार के प्रति विशेष पूज्य बुद्धि को लक्ष्य करके कहा है—और यह प्रणव-ओंकार उद्‌गीत, विद्या भगवान वृषभ से प्रसूत हुई थी। जिस ऋचा को लक्ष करके श्री विनोवा यह कहते हैं—वह इस तरह है—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वेनिषेदुः ।

यस्तन्न वेद किं ऋचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते ॥

यह मन्त्र है महर्षि दीर्घ-तमस का और ऋग्वेद के पहले ही मण्डल मे आया है। यह इतना महत्त्वपूर्ण भी है कि इसे महर्षि श्वेताश्वतर ने भी अपने श्वेताश्वपरोपनिषद् (४/८) मे भी समाविष्ट किया है।

इसका अर्थ है—यह अक्षर-विज्ञान (ओंकार उद्‌गीत), दिव्य शक्तियो का अधिष्ठान है और इसी पर, ये ऋचाएँ बनी है (१) यदि किसी को अक्षर विज्ञान (अक्षर-विद्या) मालुम नही तो वह ऋग्वेद को भी लेकर क्या करेगा ? जो इसे (अक्षर--उद्‌गीत विद्या) को जानते है, वे समवस्थित हुए कृतार्थ हुए स्थित रहते हैं।

स्पष्ट है कि मन्त्रद्रष्टा महर्षि यहा की ऋग्वेद की ऋचाओ के उद्‌भव के रहस्य को प्रकट करते हुए यह कह रहे है कि ऋचाए इस अक्षर-विद्या उद्‌गीत-ओंकार से ही सम्भूत है, अत यदि कोई अक्षर विज्ञान रूप योग-विद्या को न जाने तो उसका वेद का जानना भी निष्फल है। ऋषि की प्राण चेतना अक्षर योग विद्या के अभ्यास काल मे विहार करती करती दिव्य अध्यात्म शक्तियो के अधिष्ठान परम-व्योम चिदाकाश मे अक्षर मय मन्त्र तथा ऋचाओ को अन्तर मे आविर्भाव कर सकी। इसी कारण वे उन मन्त्रो एव ऋचाओ के दृष्टा ऋषि बने। यह सत्य है कि यह अर्हत् अक्षरात्मक योग-विद्या ही वैदिक मन्त्रो की मूल जननी तथा कारण है, इस लिए यह विद्या वेद-माता है। वेद का प्रकाश योग-विद्या ही से सम्भव हुआ है इसी कारण उस विद्या के प्रति भी महर्षि का (दीर्घ तमस का) पूज्यभाव उचित ही प्रकट हुआ है। अत महर्षि को वेदो के प्रति निरादर भाव का होना मानना निराधार है। महर्षि का

अक्षर योग विद्या और वेद दोनो के प्रति पूज्य भाव ही है।

इसी प्रसग मे भी विनोबा के एक और कथन की ओर भी ध्यान जाता है। उन्होने अपने अध्ययन की प्रस्तावना मे कहा है कि गीता मेरी मा है और उपनिषद् मेरी मा की मा है। अतः वे गीता से भी अधिक उपनिषद् पर अपनी पूज्यता का भाव प्रकट करते है। पर वेद उपनिषदो की मा है तो वेदो की भी मा अक्षर-योग विद्या है। अत इस अक्षर योग-विद्या के प्रति महर्षि दीर्घ तमस से महर्षि द्वारा पूज्य भाव प्रदर्शित करना-वेद के प्रति आदर भाव या पूज्य भाव की कमी होना कैसे कहा जा सकता है ? वास्तव मे तो इससे वेद के प्रति पूज्यता का भाव बढता ही जाना कहा जायगा। उस पूज्यता के विवर्धमान भाव मे न वेद के प्रति और न गीता के प्रति किसी का पूज्य भाव कम हो सकता है। उपनिषद् तथा गीता पर किसे आदर नही है ? श्री विनोबा ने उपानिषदो को गीता की मां बताया पर गीता मे स्वयं भगवान श्री कृष्ण की तो यह घोषणा है कि मै जो यह ज्ञान दे रहा हू, वह ही है जो क्षत्रिय परम्परा मे था और जो काल-प्रवाह से छिन्न हुआ है। यदि उपनिषद् परम्परा मे गीता होती तो भगवान् श्री कृष्ण के द्वारा इसे उपनिषद् का ज्ञान कह देने मे क्या रूकावट थी ? मगर उन्होने नही कहा है। योगीश्वर श्री कृष्ण के इन वचनो से अधिक कोई अन्य सम्माननीय तथा अधिकारिक प्रमाण की अपेक्षा रहती है क्या ? गीता उपनिषद् की सन्तति सीधे तौर पर है ही नही। वह है सूर्य वशी क्षत्रिय मनुओ का ही ज्ञान जैसे कि स्वय भगवान श्री कृष्ण गीता मे इस ज्ञान को बता-रहे हैं। अत क्षत्रिय परम्परा का गीता का ज्ञान क्षत्रिय (श्रमण) सस्कृति व उसके ज्ञान से ही सम्बन्धित है। वेदो की मा-अक्षर योग विज्ञान, ओकार, उद्गीत विद्या है। जैसा कि छान्दोग्योपनिषद ने रहस्योद्घाटन किया है, कि वह पूर्व मे एक मात्र क्षत्रिय परम्परा मे ही प्रचलित थी और यह बाद मे यज्ञ-योग क्रिया-काण्ड वाले आर्य जनो मे उसी क्षत्रिय परम्परा के क्षत्रिय राजाओ से प्राप्त हुई है। उपनिषदो की परा विद्या क्षत्रिय, श्रमण परम्पराओं की ऋणी है। वेदो तो मुख्यत अपरा विद्या हैं ही।

सूक्त और उपनिषदों के रूप में अन्तरंग साक्षियां

नासदीय सूक्त की अन्तरग साक्षी,—उनमे जैन नय शैली, अनेकांत, अंग-शास्त्र तथा केवल ज्ञान अवस्था के उल्लेख

वेदो मे सर्वज्ञ योग धर्म के तत्वो के तथा उसके प्रवक्ता आदि के सकेत प्राप्त हुए हैं। वह सर्वज्ञ योगधर्म वर्तमान जैन धर्म का मूल रूप है। हम यहा ऋग्वेद के प्रसिद्ध नासदीय सूक्त को अपने कथन की पुष्टि मे प्रस्तुत करते है। यह असम्भव ही था कि वेद साहित्य रचनाओ मे तत्समय की व उनसे पूर्व की धर्म-सस्कृतियो के उल्लेख न आते—क्योकि साहित्य देश व काल का दर्पण होता है। यह अब दूसरी बात है कि मत विद्वेषो के कारण इनमे से बहुत से उल्लेखो को बाद के सस्करणो मे से चुन चुन कर निकाल दिया गया।

नासादासीन्नोसदासीत्तदानी, नासीद्रजो न व्योमापरोयत् ।

किमावरीव कुह कस्य शर्मन्तम्भ ।

किमासीद् गहनं गम्भीरम् ॥[1]

अर्थ—वहा (तब, गहन गभीर आत्मलीन अवस्था मे) न सत् था, न असत् था, तब न रज थी, न व्योम थे जो यहा से परे है । किससे यह सब अवतरित (प्रकट) हुआ ? कुह सा क्या था ? किसका प्रभाव था ? क्या वह अम्भ (जल) था ? तब वह एक गहन और गम्भीर जैसा तत्त्व आखिर क्या था ?

महर्षि केवल ज्ञानमय प्रभु-आत्मा की परमोत्कृष्ट कैवल्य अवस्था पर विचार करते हुए कहते हैं और आश्चर्य प्रकट कर रहे है कि वह महान गम्भीर दशा कैसी थी और कैसे आविर्भूत हुई । उस दशा मे न सत् का भाव था, न असत् का भाव था,—अर्थात् वह अनिर्वचनीय निर्विकल्प अवस्था थी । तव उसमे कर्मरज प्रत्ययो (कर्मा-वरण) का भी अभाव था । वह दशा हमारे से परे जो परम व्योम है, आकाश है, उससे भी अतीत अर्थात् परे थी । वह दशा किस प्रकार अवतरित हुई ? वह वरुण (कुबेर) के जल-मण्डल (चिद्-महासागर) से उत्थान पाकर हुई थी ?

वैदिक जन नासदीय सूक्त को सृष्टि-रचना से सम्बन्धित करते है । यदि यह अर्थ लें, तो यह स्पष्टत ही वेदान्त के विवर्तवाद के विरुद्ध ही है । यहा जल (कुह या अम्भस्) से परिणमन रूप मे न कि विवर्त से, सृष्टि रचना का सकेत है । जल सृष्टि रचना का मूलभूत तत्व नही है । पर हाड्रोजन जल (H_2O) का मुख्य तत्व जिसे प्रोटोन कहा जाता है, उसके पुद्गल अणु का धनात्मक वैद्युतिक न्यूक्लियस भूतात्मक सृष्टि (फीजिकल यूनीवर्स) की मूलभूत ईकाई (यूनिट) है । इस तत्व-विचार मे तत्व परिणमनो द्वारा सृष्टि का प्रवाह अनादि ही सिद्ध होता है, किसी वाहरी रचयिता द्वारा रचित सिद्ध नही होता, न वह किसी वाह्य स्थित ब्रह्म का विवर्त ही सिद्ध होता है ।

इस मन्त्र मे स्पष्ट ही है ऋषि परम ज्ञान-चेतना की अवस्था पर ही विमर्ष कर रहे है। उस पुरुष की उस चेतना मे रज कण (कर्म रज) विद्यमान न थे, न चित्त के व्योम (चिद् विकार अवस्थाएं) ही थी । वह तो निष्कम्प गम्भीर-स्व-द्रव्य अन्तस्तल केन्द्र मे अभिन्न हुई अवस्था थी ।

वहा उस अवस्था मे न स्थूल जगत् के अन्तरीक्ष थे, न जागतिक रागात्मक स्फुरण के ही अस्तित्व थे । वह जगत् से परे था, जगत् उसके लिए असत् (अव्यक्त) था । पर साथ ही उस ज्ञान-चेतना मे जगत् प्रतिविम्बित भी था अत वह जगत् सत् (व्यक्त व वर्तमान) भी था यानी ज्ञेयाकार रूप मे व्यक्त भी था । केवल ज्ञानात्मा की वह अवस्था निश्चित ही गहन, गम्भीर, अमर्याद, असीम ही थी ।

---

1 ऋग्वेद मं १० अष्टक ८ अध्याय ७ सूक्त १२९ मन्त्र १६

ज्ञान-चेतना का वह चरमोत्कर्ष कब हुआ है ? यह हुआ जब कि जीवात्मा ने अपने मे सम्यक् श्रद्धा,—आत्म श्रद्धा अटल स्थापित की। श्रद्धा ही सलिल है, तरल भावापन्न-तत्त्व है, जो यहा कुबेर और वरुण के जल-मण्डल के सकेत से सकेतित हुआ है। यहाँ ऋषि का यह विमर्ष भी प्रकट है कि उस केवल ज्ञान की गहन अवस्था का पूर्व क्या वह श्रद्धा सलिल ही था जो केवल स्वरूप की प्रतीति मे परिणमित हुआ। सलिल-जल से ऋषि का सकेत ब्रह्मानन्द आत्मा के घन ज्ञायक आनन्द रूप रस की ओर भी हुआ प्रतीत होता है। शब्दार्णव मे कहा है—

नार घनरस—इसी के नृ धातु से जल वाचक शब्द "नीर" की व्युत्पत्ति होती है।

दर्शन दृष्टि से इस सूक्त का प्रथम पद-सत्, असत् और ध्रौव्य की स्थिति को' अनेकान्त व सप्त भगी नय स्थापना को, जो जैन दर्शन मे स्पष्ट व विशद प्रस्तुत हुई है,— यहा सकेतित करता है। वरुण के जल मण्डल का अर्थ महासागर भी है और आत्मा को एक चिद् महासागर के रूप मे भी सकेतित करता है क्योकि जैन परिभाषा मे आत्मा चिदात्मक है। आत्मा वस्तुत असीम चिद् समुद्र है।

द्रव्य द्रव्य नय से मात्र सत् हो—ऐसा नही तथा वह पर्याय नय से मात्र असत् हो—ऐसा भी नही। पर्याय रूप से मात्र असत् हो तो पर्याय न उत्पन्न हो, न व्यय हो। द्रव्य मात्र सत् ही हो तो पर्याय न उत्पन्न होगी न व्यय होगी—पर्याय ही तब न होगी। और पर्याय द्रवित न हो तो द्रव्य भी न होगा। द्रव्य है अत उसकी पर्याय भी है। पर्याय न होगी तो न द्रव्य का विकार होगा, न सत्कार्य होगा। उसका सद्भाव या असत् भाव कुछ भी न रहेगा, स्वय द्रव्य ही तब असत् (नास्तिक) हो जायेगा। अत जैन दर्शन मे अत मे मात्र असत् या सत् ही शेष रहे ऐसा नही,—परिणामी और अपरिणामी दोनो को लेकर सत् (ध्रौव्य) है। "गुण पर्यय वत् द्रव्यम्।" तथा उत्पाद व्ययशील ध्रौव्य ऐमा सिद्धान्त है।

अत केवली पर्याय मे पर्याय अपेक्षा मात्र असत् ही ध्वनित हो ऐसा नही है। वास्तव मे वहाँ सत् की भी ध्वनि है, पर्याय रूप से भी और द्रव्य रूप से भी। द्रव्य का कथन दृष्टि भेद को ही लेकर हो सकने के कारण दृष्टि भेद (नय भेद) व अनेकात की स्थापना को सम्यक् ग्रहण न कर सकने वाले मात्र अद्वैतवादी यहा उलझन मे पड जाते हैं। इस सूक्त मे—उस अनेकात स्थिति ही का सकेत है जो जैन दर्शन का हार्द है। निर्मल आत्मा अनेकात मय है। इस अनेकात की ही ध्वनि यहा है।

योगाभ्यास दृष्टि से— यहा यह प्रकट होता है कि प्राण-चेतना मूलाधार के सघात मय घन को तरल करके स्वाधिष्ठान के तरल मण्डल मे पहुचकर वडवाग्नि के सहारे उत्पन्न हुए गैसेज (प्रोटोन का) वायु-तत्वो का आश्रय लेती हुई मस्तिष्कीय अतरिक्ष लोक मे पहुचती है तथा फिर वहा परम व्योम के

आगे अनात्म प्रत्ययो से मुक्त स्व-आत्म-लोक मे ही विहार करने लगती है। अत. प्राण का प्रथम घन जड भाव से तरल जल भाव मे परिणमन ही उस प्रक्रिया का आरम्भ है जो द्रव्य कर्मरज को प्राण द्रव्य से विमुक्त करने के लिए आरम्भ होता है। अतः पर्यायान्तर रूप परिणमन के प्रथम तत्व श्रद्धा जल तत्व की तरफ सहज ही ऋषि का ध्यान आकृष्ट हुआ है कि अहो! क्या उस जल मण्डल से ही उस प्राणात्मा ने ज्ञानात्मक परिणमन होने मे प्रथम यात्राचरण आरम्भ किया। यहा से ही आरम्भ कर क्या वह प्राणात्मा ज्ञानात्मा के रूप मे अवतरित हुआ। आत्मा को जैन उर्ध्वगमनशील तत्व मानते हैं। यह तत्व जब तक अज्ञान व प्रमाद से जड रहता है—तव तक उसका उर्ध्वगमनशीलता का गुण भी निष्क्रिय रहता है। कर्मरज प्रत्ययो के विकर्पण होकर विरल होने पर, क्षायोपशमिक भावों मे क्षायिक भावो के आविर्भाव पूर्वक उर्ध्वगमन की क्रिया सक्रिय हो जाती है। और तव परम व्योम से भी ऊपर आत्म-प्रदेशो का विस्तार विहार होने लगता है। फिर वही से आगे लोक के अन्य भाग मे जैन धर्म प्ररूपित सिद्धालय, सिद्ध लोक भी है जहा अशरीरी अवस्था होने पर केवली आत्माए प्रतिष्ठित रहती है। केवल दर्शन (श्रद्धा) के साथ ही केवल ज्ञान युगपत ही परिणमता है। अत सम्यक् श्रद्धा रूप तरल भाव भूमिका ही उस केवल दर्शन के लिए आधारभूत है। इस आधार भूत श्रद्धा (सम्यक् दर्शन) तत्त्व पर ही ऋषि अपना विस्मय प्रकट करते हुए यहाँ विमर्ष कर रहे है।

दूसरा मन्त्र है

न मृत्युरासीदमृत न तर्हि, न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपर.किंच-नाऽऽस ॥ (मन्त्र १७)

अर्थ—

(तब) न मृत्यु थी, न (जागृत) अमृत ही था, न रात्रि थी, न दिन था, वह बिना वायु प्राण लिये था, वह स्वज्ञान से एकात्मक अपनी परिपूर्ण महिमा मे था और निश्चय ही उससे अन्य दूसरा कुछ न था।

यहा उसी केवल ज्ञान पुरुष का मनोहर विमर्ष ऋषि का चल रहा है।

उस तल्लीन केवल ज्ञान या कैवल्यावस्था मे वह पुरुष न सामान्य प्राणी की तरह जीवित था न जागृत ही प्रतीत होता था और न वह मृत ही था। उसके लिये वाह्य जगत् के दिन रात के प्रकाश भी नही थे। वह दिन और रात्रि के प्रकाश आलोक से विलक्षण ही स्व प्रकाश आलोक मे था। वह रात दिन की काल गणना से अतीत कालातीत अवस्था मे था। वह सुपुम्ना गत प्राणो की स्थिति लिये होने के कारण श्वासोच्छ्वास क्रिया के क्षोभ बिना जीवन धारण किये हुए था। अत ही वह वाह्य वायु के बिना था। वह अपनी सम्पूर्ण ज्ञान महिमा से एकात्म हुआ यानी केवल ज्ञान से ही मण्डित था। वह "पर" (पुद्गल अनात्म-कर्मरज) प्रत्ययों से भिन्न तथा असम्पृक्त स्व आत्म द्रव्य से

अद्वैत व अभिन्न था और उसके अत' अपने अन्तर मे कोई भी अन्य (पर) द्रव्य का मेल न था। वह पर–द्रव्य और पर–भाव से विमुक्त था। उसका एकत्व हुआ स्व सम्पूर्ण निर्मल रूप प्रकट हो गया था।

तम आसीत्तमसा गूल्हमग्रेऽप्रकेतमसलिलं सर्वमा इदम्।

तुच्छेयेमानाभ्व पिहितं यदासीत् तपसस्तन्महिनाऽजायतैकम्॥ (मन्त्र १८)

अर्थ—पहले तम था, तम मे वह छिपा था। वह सब लिंग रहित था, वह यह सम्पूर्ण असलिल भी न था। जो था वह तुच्छ से ढका गया था। उसने तप किया, तप की महिमा से एक (निर्मल) पुरुष (आत्मा) आविर्भूत हुआ।

यहा ऋषि यह स्पष्ट कर देते हैं कि यह निर्मल आत्मा पूर्व मे तो यानी तप करने के (योगाभ्यास मे ध्यानादि रूप तप के) पूर्व तो तम-अज्ञान,—अधकार मे था, तमो-भाव, मिथ्या ज्ञान से ही आच्छादित था तथा उसी मे उसका स्व-तत्व रूप निर्मल ज्ञान तत्व छिपा हुआ था, जो अलिंग स्वरूप था, अतीन्द्रिय स्वरूप था। तब जो भी था वह तुच्छ यानी अनात्मा कर्म-पुद्गल द्रव्य से आवृत्त था। तब वह सलिल नही था—श्रद्धा मय व ब्रह्मघनरस नही था। इसके अनन्तर जब उसने तपश्चर्या की तब उस तप की महिमा से एक (विशुद्ध अद्वैत परम) स्वरूपाभिन्न पुरुष (परम-आत्मा) रूप ही प्रकाशित हो गया।

यहा तप का सकेत भी वस्तुत. बड़ा महत्वपूर्ण है। श्रीमद्भागवत मे भी इसी "तप" अक्षर का भ आदिनाथ ऋषभदेव को अपनी ध्यान-चिन्तनात्मक स्थिति मे अन्त. प्रकाश रूप से उल्लसित होने का वर्णन है जिसे हम पूर्व मे कह चुके है। तीर्थंकर भगवान् का तप' कल्याण-पच कल्याणो मे महत्वपूर्ण मध्यवर्ती कडी है, गर्भ तथा जन्म कल्याणो के वाद तथा ज्ञान और मोक्ष कल्याणो के पूर्व इसी तपकल्याण की महत्वपूर्ण भूमिका हुआ करती है। तप के वाद ही ज्ञानात्मा का आविर्भाव होता है। जैनो का सारा योग विज्ञान तपश्चरण, तपोयोग ही है। ध्यान भी तप का ही प्रधान अङ्ग है। सवर तथा निर्जरा तत्व भी तप मे ही है। जैन योग विज्ञान मे तप की ऐसी महिमामय अपरिहार्य भूमिका है।

मन्त्र मे आगे ऋषि उस कर्मरज सृष्टि के विषय मे ही जिससे यह केवल आत्मा-पुरुष तपश्चर्या से पूर्व आच्छादित था, कहते है—

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेत: प्रथमं यदासीत्।

सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा (मन्त्र १९)

अर्थ—उसने पहले सवर्तन की कामना की। प्रथम जो हुआ वह उसके मन की रेतस् (चचल)

शक्ति हुई। असत् मे सत् ने वन्धुत्व किया। यह वात बुद्धिमान सर्वज्ञ ऋषियो ने जिज्ञासा पूर्वक जानी।

प्रवृत्ति रूप संसार मे वर्तन या व्यवहार को सवर्तन कहा गया है। ससार मे व्यवहार के लिए उसने कामना की। उस कामनामय राग सकल्पना की चचल स्फुरणा से उस पुरुष के सत्-स्वरूप निर्मल सम चित्त स्वरूप मे क्षोभ हुआ और असत् (अज्ञान) की उत्पत्ति हुई। इस प्रकार उसने असत् दशा को अपने ससर्ग, वन्धुरूप मे साथ लेकर कर्मावरण की सृष्टि की थी। यह तथ्य उन सर्वज्ञ ऋषियो ने जाना। अर्थात् उस जीवात्मा ने अपने केवल ज्ञान से पूर्व की अज्ञान अवस्था मे रागात्मक चचल विकल्पो को जगत् के व्यवहार (सवर्तन) मे ले करके अपने ऊपर कर्मास्रव व कर्मवन्ध को कर लिया यह उन ऋषियो ने जाना।

कामना (राग) द्वारा ससार प्रवृत्ति मे सवर्तित उस जीव ने चचल मनो दशा के साथ बधुत्व (ससर्ग) करके-यानी विभाव भावमय होकर असत् दशा व कर्मवन्ध को कर लिया। क्योकि मन वचन काय के परिस्पन्दन जव रागात्मक चचल मनोभावो रूप अध्यवसायो रूप होते हैं, तो कर्म प्रत्यय आकर्षित तथा वद्ध होते है। तव ही कर्म-रजो की प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग का आस्रव तथा वन्धरूप निर्माण होता है। कामना के उदय तथा मन की रजोमय चचल दशा में जो ज्ञान से च्युत अज्ञान मय दशा होती है—उसको ही यहा ऋषि ने कहा है और वह ही कर्म सृष्टि की हेतु है तथा उसी से असत् की सृष्टि होती है।

कर्मरजो के आस्रव तथा वन्ध रूप असत् को वताकर आगे ऋषि तप के द्वारा जो केवल ज्ञान दशा प्रकटी है उसका वर्णन इन शव्दो में करते हैं—

तिरश्चीनो विततो रश्मेरषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत्।
रेतोधा आसन् महिमान आसीन्स्वधा अवस्तात्प्रयति परस्तात्॥ (२०)

अर्थ—उस (केवल ज्ञान) की किरणें तिरछी फैलती हुई नीचे की ओर फैली, या ऊपर की ओर वे शक्ति धारण किये हुए थी, वडे विस्तार वाली थी और अपने ही आधार पर दूर तक फैली हुई थी।

उस केवल ज्ञानी की केवल किरणें, तिरछी फैलती हुई नीचे व ऊपर, सर्वत्र ही विस्तृत होती हुई वे किरणें (ज्ञान) शक्ति को धारण किये हुए थी। अर्थात् उसका ज्ञान-चेतनात्मक आत्म-द्रव्य सर्व दिशा विस्तृत केवल किरणो, सर्व ज्ञान-शक्तियो का प्रकाश प्रकाशित हुआ, सम्पूर्ण रूप से प्रकट हो गया तथा वे किरणे सम्पूर्ण तत्व मे अभिन्न विस्तृत व व्याप्त ही थी। तथा वे अपने ही आधार, स्वयोग्यता (स्व उपादान शक्ति) आधार पर फैली हुई थी। यानी वह ज्ञान चेतना-सूर्य स्वयं स्व-प्रकाशित था, निरालम्ब स्वाश्रित था।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय मे आचार्य श्री अमृतचन्द के एक वर्णन से तुलना करे ।

"तज्जयति परं ज्योति· समं समस्तैरनन्तपर्यायै. ।"

वह परम ज्योति सम तथा समस्त अनन्त पर्यायो सहित जयमान होती है प्रकाशित होती है ।

"तस्यैव चायमुदयत्यचलार्चिरात्मा ।"

उसी के अचल ज्ञान-सूर्य आत्मा प्रकाशित होती है ।

यहा ऋषि का भी ऐसा ही वर्णन है । केवल भास्कर परम विशुद्ध आत्मा के केवल किरणो के उदय तथा विस्तार के वर्णन यहा तुलनीय ही हैं ।

को अद्धा वेदक इस प्रवोचत् कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टिः ।
अर्वाग-देवा अस्य विसर्जनो नाथ को वेद यत्त आब भूव ।।२०।।

अर्थ—

किसने यह जाना ? किसने कहा कि कहा से यह आई, कैसे यह विशेष रूप सृष्टि हुई ? इसके विशिष्ट सर्जन से आदि मे (पूर्व मे) इसका क्या अथ (आरम्भ) था, कौन जानता है ? दिव्य शक्तिया तो उससे बाद है । कौन जानता है वे कहा से आविर्भूत हुई ?

ऋषि यहा आत्मा स्वरूप की जो प्रचण्ड केवल किरणो सहित (विशेष,—केवल ज्ञान पर्याय) सृष्टि हुई है, उसी पर आश्चर्य भाव प्रकट कर रहे है । इस सृष्टि से पूर्व कौन जानता था कि ऐसी अपूर्व ज्ञान-दशा की सृष्टि भी होगी । और कौन कह सकता है कि यह स्वय उद्भूत पर्याय कहा से आई, कैसे इसकी सृष्टि हुई, क्या किसी ने पहले ऐसी सृष्टि की बात—इससे पूर्व कही थी ? इस सृष्टि का आरभ क्या कोई कह सकता है ? अर्थात् वह आत्म-द्रव्य ऐसा प्रकट हुआ जिसका न आदि था न मध्य था—न अन्त था । देवता भी–दिव्य शक्तिया भी उसे नही जानती, क्योकि वह उनसे भी परे है, प्राप्त नही है । कोई नही जानता कि वह विशेष सृष्टि कैसे उद्भासित हुई । आत्मा की यह केवल-पर्याय स्व प्रकाशित स्वाधार होने से अनिर्वचनीय ही है । वह तो स्वप्रसाद से स्व शक्ति से स्वत आप ही सकृत् उद्भासित हुआ करती है किसी भी दिव्य शक्ति या साधना के यह वश मे नहीं है, इन सब से वह परे ही है ।

इयं विसृष्टिर्यत आवभूव यदि वा दवेयविवान ।
यो अस्याध्यक्ष परमे व्योमन् सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद ।।२२।।

अर्थ—

जहा से यह विशेष सृष्टि आई (उसने) इसे धारण किया या नही किया ? अथवा—उसको

आधार है या नही है ? परम व्योमो (अतरिक्षो) मे कौन इसका अध्यक्ष है ? अहो ! अङ्ग (जैन शास्त्र-विशेष) मे ही इसे कहा है या नही कहा है ।

"अङ्ग" शब्द—जो जैन पूर्वांगो की ओर सकेत कर रहा है—विशेष रूप से यहा द्रष्टव्य है । जिस केवल ज्ञानी परम-आत्मा, समाधि-प्राप्त पूर्ण आत्मा का यहा वर्णन चल रहा है, इस सदर्भ मे जैन अङ्ग शास्त्र का उल्लेख बडा सगति मय और महत्त्वपूर्ण है ।

पूर्व मन्त्रो मे असत् की उत्पत्ति द्वारा कर्मास्रव व कर्म-बन्ध तत्वो को इगित करके—फिर तप द्वारा कर्म निर्जरा तत्त्व को कह कर केवल किरणो के प्रकाश मे मोक्षकरी जिन अवस्था का वर्णन यहा हुआ है । तप से निर्जरा के बाद ज्ञान और मोक्ष—ये क्रम-विकास जैन तत्व-ज्ञान का ही है । कामना तथा चचल मन की क्रिया से विभाव भाव कहा गया है जो कर्मास्रव व कर्मबन्ध के हेतु है ।

ऋषि का यहा तत्व-विमर्ष चल ही रहा है कि यह विशेष अनुपम अपूर्व विशेष ज्ञान पर्याय की सृष्टि कहा से आई ? तथा इस पर्याय को उस जीवात्मा ने धारण किया या नही किया । परम व्योम चिदाकाश अतरिक्षो मे इस विसृष्टि को किसने धारण किया था अथवा नही धारण किया ?

यहा ऋषि की विचारधारा पर्याय तथा द्रव्य के स्वरूप पर चल रही है । वे यह कहना चाह रहे है कि पर्याय उस आत्म-द्रव्य से प्रवाहित हुई, पर फिर कौन कह सकता है कि उस आत्मा ने उसे धारण किया था या कि वह उसका अध्यक्ष था । प्रत्येक पर्याय चाहे वह केवल ज्ञान पर्याय ही क्यो न हो आत्मा के गुण-भण्डार मे से अपनी योग्यता से अपने ही आधार पर उदय मे आती है और व्यय हो जाती है । और यह क्रम प्रत्येक क्षण चलता रहता है तथा कोई भी क्षण ऐसा नही होता कि कोई पर्याय न रहे । वह आत्मा केवल-ज्ञान गुण के परिपूर्ण विकास प्रकाश को प्राप्त हुआ है, और साथ ही उस केवल ज्ञान गुण की गुणाश पर्यायें प्रवाह रूप प्रवाहित हैं । उनका उदय व व्यय होता रहता है । अत "व्यय" को विचार मे ले तो बडी मुश्किल है यह कहना कि आत्मा ने उन्हे धारण किया—तथा "उदय" को विचार मे लें तो यह भी नही कहा जा सकता कि वे आत्मा-द्रव्य से नही है । तथा वे स्वाधार निज उपादान शक्ति से प्रवाहित होने के कारण द्रव्य-गुण के आश्रय भी नही है । पर्याय कैसे—कहा से आती हैं, उदित होती हैं, और कैसे बिना धारण (स्थित रहे) व्यय भी होती है ? तथा ऐसा भी नही कि ये आत्मा की गुण (शक्ति) न हो । जब पर्याय परिणतिया परम व्योमो मे पहुचकर निर्मल रूप से प्रवाहित होती है—उनका कौन अध्यक्ष है ? वे तो गुणाश रूप से द्रव्य से कथचित् भिन्न ही हैं । वे नित्यानित्य है । वे प्रवाह रूप से नित्य है तथा उदय और व्यय रूप अनित्य हैं । यह सब तथ्य अहो—उस अङ्ग-शास्त्र मे ही सम्भवत है ।

इस सृष्टि का आदि क्या ? यह अनादि प्रवाह है । द्रव्य रूप से आत्मा सदा ही निर्मल है और पर्याय मे ही—विभाव रहने से परिणतियो की अशुद्धि रहती आई है । अत आत्मा-द्रव्य तम से

आच्छन्न (मिथ्या ज्ञान आवृत्त) रहा है। पर्याय की शुद्धि कर्मरज की निवृत्ति होने पर होती है। पर्याय जब विभाव भाव से दिशा पलट कर अपने ही स्वभाव स्वरूप की तरफ प्रवाहित होती है तो वह ही स्वभाव धारा है, शुद्धपरिणतियों का प्रवाह है। निर्मल तम पर्याय की विशेष सृष्टि होना ही मुख्य तत्व है। इसी तत्व पर ऋषि ने यहा अपना ऊहापोह प्रकट किया है। यह भी उल्लेखनीय है कि इस सूक्त मे ऋषि का सत्, असत्, नित्य-अनित्य आदि के रूप से स्याद्वाद नय का सकेत है, जो एक मात्र तीर्थंकर प्रणाली मे तथा तीर्थंकर प्रणाली से ही है। तथा अङ्ग शास्त्र का सकेत तो बहुत ही स्पष्ट है, वह जैन आगम शास्त्रों को ही प्रकट करता है। अङ्ग शास्त्र तो जैनो के प्रसिद्ध ही है।

ऋग्वेद के इस सूक्त मे इस प्रकार कैवल ज्ञान से पूर्व का तमोमय मिथ्या ज्ञान, आत्मा के साथ असत् से रागमय प्रवृत्ति कर्मास्रव व कर्मबन्ध तथा तप से निर्जरा व केवल ज्ञान किरणो का विस्तार तथा स्याद्वाद अनेकात प्ररूपणा की प्रणाली तथा जैन अङ्ग शास्त्र का उल्लेख,—ये इतने सारे सब ऐसे स्पष्ट साक्षी व संकेत है जो जैन परम्परा को व ज्ञान को ऋग्वेद से भी पूर्व पूर्ण विकास को प्राप्त होने को प्रकट करते हैं।

आचार्य श्री शुभचन्द्र का इस नासदीय ऋचा से मिलता जुलता श्लोक "ज्ञानार्णव मे है। यह "ज्ञानर्णव" के अन्तिम प्रकरण मे श्लोक सख्या ८० पर है। वहा यह आत्मा के सिद्ध परमेष्ठी रूप मे परिणमित होने के प्रसग मे कहा गया है। वहां नासत्, सत् नही— अनूठे शब्दो का भी प्रयोग है। इन शब्द व भाव साम्य से निष्कर्ष होता है कि ये उक्त सूक्त के मन्त्र सर्वज्ञ ज्ञान का ही कथन करने के लिए प्रकट हुए हैं। ज्ञानार्णव का यह श्लोक शुक्ल ध्यान के प्रसग मे तो कहा ही गया है, इससे पूर्व प्रकरण ३१ सवीर्य ध्यान में श्लोक न १० पर भी प्रकट हुआ है। यह श्लोक इस प्रकार अति महत्वपूर्ण है।

श्लोक यह है

> नासत् पूर्वाश्च पूर्वा नो, निर्विशेष विकारजाः।
> स्वाभाविक विशेषा ह्य भूत पूर्वास्च तद्गुणाः॥

इसका अर्थ टीका में इस प्रकार दिया हुआ है—

"तद्गुण" कहिये जो आत्मा के गुण है—वे जिनमे विशेष नही है, और विकार मे उत्पन्न हुए मति ज्ञानादि हैं, ये ससारी जीवो के साधारण हैं। सो ये गुण तो असत्पूर्व कहिये, अपूर्व नहीं है, विद्यमान ही है। तथा पूर्व मे नही भी थे। नवीन भी उत्पन्न होते है और स्वाभाविक हैं। ये विशेष अनन्त ज्ञानादिक है,—सो ये अभूतपूर्व हैं,—पूर्व मे कभी प्रकट नही हुए ऐसे नवीन है।"

टीकाकार ने इसके पश्चात् भावार्थ मे इसे स्पष्ट किया है।

शुक्ल ध्यान के सिद्ध परमेष्ठी प्रकरण मे इस प्रकार कहा है—

"सिद्ध परमेष्टी के गुण पूर्व मे नही थे—ऐसे नही है। यानी पूर्व मे भी शक्ति रूप से विद्यमान थे,—क्योकि असत् का प्रादुर्भाव नही होता, यह नियम है। यदि असत् का भी प्रादुर्भाव माना जाये तो शशश्रृंग का भी प्रादुर्भाव होना चाहिये—किन्तु होता नही है। यही इस नियम मे प्रमाण है। और पूर्व मे व्यक्त नही थे तथा विशेष विकारज उत्पन्न नही किन्तु स्वाभाविक है। इस प्रकार पूर्वार्द्ध द्वारा निषेध मुख करके, इसी विषय को पुन उत्तरार्ध द्वारा विधि-मुख से कहते हैं कि सिद्ध परष्मेठी के गुण स्वाभाविक व विशेष है अर्थात् पूर्व मैं भी शक्ति की अपेक्षा स्वभाव ही विद्यमान थे, और अभूतपूर्व अर्थात् पूर्व मे व्यक्त नही हुए ऐसे हैं।" भावार्थ—आत्मा के जो स्वाभाविक गुण पूर्वावस्था मे अव्यक्त रहते है, वे ही सिद्धावस्था मे व्यक्त हो जाते हैं। इसी से शक्ति की अपेक्षा से पूर्व मे विद्यमान होने के कारण उन गुणो को, पूर्ण मे नही थे, ऐसा नही कह सकते। और पूर्व मे व्यक्त नही थे—इससे पूर्ण मे थे, ऐसा भी नही कह सकते। और स्वाभाविक होने के कारण उनको विकारज भी नही कह सकते। किन्तु वे (गुण) शक्ति की अपेक्षा से स्वाभाविक और व्यक्ति की अपेक्षा से अभूत-पूर्व ही कहे जाते हैं।

ऐसे सामान्य, विशेष, शक्ति, सत् (व्यक्त), असत् (अव्यक्त), पूर्व, अपूर्व, कथन पूर्वक वस्तु-तत्व का निरूपण तीर्थंकर प्रणाली मे ही चलता है। और यह ही भाव तथा इस प्रकार की भाषा जो नासदीय सूक्त मे आई है—यह सर्वज्ञ ज्ञान प्रणाली से स्पष्ट ही उपलब्ध हुई निर्णीत होती है।

इस सूक्त मे बीज-मन्त्रो का उद्धार क्रम भी है। मन्त्र स १७ के "तस्माद्धन्यन्न" से "अन्यत् न" का अर्थ —एक अकेले (शुद्ध) परमेष्ठी आत्म प्रभु के वाचक ओम् का स्वरूप प्रकट होना माना गया है। मन्त्र स १८ मे "तप-रूप" मे छिपा था इससे ढकने वाली माया-शक्ति का सकेत लेकर "ह्री" माया बीज निकाला गया है तथा तप-महिमा से,—एक ज्ञान श्री सपन्न पुरुष उत्पन्न हुआ,—ऐसा जो इसी मन्त्र मे है, उससे "श्री" बीज की निष्पत्ति ली गई है। तथा ज्ञान पुरुष से ज्ञान-बीज "ऐं" को ग्रहण किया गया है। फिर मन्त्र स. १९ मे प्रथम "काम" से "क्ली"—काम-बीज ग्रहण करके "ऊ ह्री, श्री, ऐं क्ली"—इस प्रकार मत्राम्नाय की सृष्टि ली गई है। अन्य प्रकार मे इस ही मत्र की सृष्टि इस प्रकार भी ली गई है—"ऊ ऐं श्री क्ली सौ"। इसमे और पूर्व मे दो बातो की भिन्नता है,—एक तो यह कि श्री और ऐं के क्रम आपस मे बदल गये हैं—तथा दूसरी भिन्नता यह है कि इसमें सौ बीज का और ग्रहण हुआ है जो सत् और असत् रूप शक्ति के परिणमन के लक्ष्य से है। ये दो मत्र क्रमश निवृत्ति तथा प्रवृत्ति परक उद्धरित होते हैं।

इस प्रकार इस सूक्त से मत्रोद्धार के द्वारा मत्र भी लिए जा सकते है। पर इस सम्पूर्ण सूक्त की यथार्थ विलक्षणता तो केवल ज्ञानी पुरुष के वर्णन की ही है।

सृष्टि रचना का नहीं,—कर्मा वरण की रचना का कथन

वेदान्त आम्नायो मे नासदीय सूक्तो के साथ ही सृष्टि-रचना के सदर्भ मे गीता के दो श्लोक उद्धृत किये जाते हैं। वे है—अध्याय स. ८ श्लोक ३ और २१। ये भी अनादि जगत् की सृष्टि को नही, मानव प्राणी के साथ कर्मरज के बन्ध रूप सृष्टि को ही यर्थाथत प्रकट करते है। क्योकि न जगत् कभी सृष्ट हुआ, न इसका कोई सृष्टा ही है—यह अनादि उत्पन्न ही है—यह कब नही था ? यह सत् रूप है और सत् का कभी नाश नही होता। पर्याय मात्र ही बदलती रहती है।

स्वभाव व विभाव रचना

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्मुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्ग कर्म संज्ञित ॥[1]

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥[2]

अर्थ—जो अक्षर है, वह ब्रह्म है। जो परम है वह ही (आतमा का) स्वभाव है ये ही अध्यात्म है। जो भूत (पच भौतिक अनात्म तत्त्व रूप) भाव हैं, वे भव को ससार को, उत्पन्न करने वाले है। और वे उस विशेष सृष्टि को करते है, जो "कर्म" यानी कर्मावरण के नाम से कही जाती है। ८/३

जो अव्यक्त (अशरीरी) और अक्षर (अक्षय) है—वह ही परम गति कही जाती है। उस अवस्था को प्राप्त करके कोई ससार मे निर्वतित नही होता। यह ही मेरा (प्रभु का) परम धाम है, ८/२१

दोनो श्लोको के ये सरल और सीधे अर्थ है। यह ही जैन तत्त्व भी है। इनमे स्वभाव (ज्ञान), विभाव (अज्ञान) का वर्णन है, परम स्थिति का वर्णन हे,—अक्षर रूप गुण का कथन है तथा अशरीरी रूप देहातीत भगवान सिद्ध के धाम की चर्चा है। तथा साथ ही विभाव भाव (रागादि भाव को जो अनात्म भौतिक पदार्थों के राग से होते है) को भवकारी विसर्ग (विशेष रचना) का हेतु बनाया है। और इस विशेष सृष्टि (विसर्ग) को कर्म के नाम से भी कहा गया है। जीव अपने ससार-बधन को जिससे सृष्ट करता है उसे ही भौतिक भावो से (जड रागात्मक विभावो से) कहा गया है। यह विसर्ग का विशेष प्रकार की कर्म सृष्टि का हेतु है। परम धाम जहा मे प्रत्यावर्तन ससार मे न हो की सकलपना यहा अवतार बाद का निषेध करने वाले जैन मोक्ष तत्त्व को ही निरूपित करती है।

---

1 (गीता ८/३)

2. (गीता –८/२१)

जैन योग का भेद विज्ञान

जैन योग मे भेद-विज्ञान का कथन विशेष स्थान रखता है। जैन योग में अध्यात्म पुरुष का सारा निर्माण आत्मा और अनात्मा दो भिन्न तत्त्वो के भेद-विज्ञान होने पर ही होता है। यह दो भिन्न तत्त्वो की प्ररूपणा ही जैन तत्त्व ज्ञान है। चेतन द्रव्य अपने को आगन्तुक अचेतन द्रव्य के निमित्त से जो कि उसके विभाव भाव व मिथ्या ज्ञान या अज्ञान के कारण सयोगी होकर आया है, अचेतन वत् मानने लगा है, देह से ही अपने को बधा समझता है। अचेतन द्रव्य से चेतन आत्मा जब अपने को भिन्न व विशिष्ट कर लेता है तो यह ही मुक्ति का स्वरूप है। एक ब्रह्म तत्त्व—निरूपण मे ऐसा भेद विज्ञान सम्भव नही होता। कठोपनिषद् मे जैन तत्त्व, ज्ञान दर्शन इस प्रकार आया है—

"अंगुष्ठमात्र पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदयसन्निविष्ट ।

तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुंजादिवेषीकांर्य्यैण ।

तं विद्याच्छुक्रममृत, त विद्याच्छुक्रम मृतमिति ।। —(कठो २/६/१७)

सब प्राणियो के हृदय मे जो अगुष्ठ प्रमाण आकार मे अन्तरात्मा स्थित है, वह ही पुरुष (आत्मा) है। उस पुरुष को शरीर से धैर्य पूर्वक उसी तरह भिन्न कर लेना चाहिये जिस तरह की मूंज (तृण-विशेप) के तार को उसके आवरक से भिन्न किया जाता है—उसे ही शुक्ल (शुद्ध) तथा अमृत जानो।

यहाँ पुरुष (आत्मा) और देह (अनात्मा) दो तत्त्वो की विलक्षणता को बताकर तथा उनको अलग-अलग करके शुद्ध स्वरूप की प्राप्ति करने रूप भेद विज्ञान की विधि का उपदेश है तथा अन्तरात्मा ही शुद्धात्मा परमात्मा—अमृत स्वरूप परिणमित होता है, यह भी स्वीकार किया गया है।

"ईश्वर सर्व भूताना हृद्देशे अर्जुन ! तिष्ठति—

सब प्राणियो के अन्तर-हृदय मे वह ईश्वर (आत्मा प्रभु) ही विराजमान है। यह गीता मे ही नही अन्य श्रुति मे भी है—

एको देवो सर्वभूतेपु गूढ, सर्व व्यापी भूतान्तारात्मा कर्माध्यक्ष, सर्व कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवास- साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।

एको वशी निष्क्रियाणां बहूनां,
एकं बीजं बहुधा यः करोति,

तत्रात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरा,
तेषां शान्ति शाश्वती नेतरेषाम् ॥

अर्थात्—सर्व प्राणियो के हृदय मे एक (निर्मल) देव (चैतन्य आत्मा) प्रतिष्ठित है, जो देह मे सर्व व्यापी है और सव प्राणियो मे अन्तरात्मा रूप है। वह स्वकर्म का अध्यक्ष है। सब प्राण स्तरो—आधारो का वह अधिष्ठान है। वह साक्षी है, चेता (ज्ञायक) है, केवल (शुद्ध) है, और निर्गुण (गुणत्रय से रहित) है।

वह एक (निर्मल) होकर भी (अज्ञान अशुद्ध दशा मे) अनेक निष्क्रिय जड पदार्थो के वश मे हो जाता है तथा वह एक ही बीज रूप देह (भवयोनि अवस्था) को बार-बार प्राप्त कर लेता है। उस अन्तरात्मा ज्ञायक दृष्टा को जो आत्मस्थ होकर अपने अन्तर मे देख लेते है, उन्हे ही शाश्वत् शान्ति की प्राप्ति होती है, अन्य को नही।

यहाँ अन्तरात्मा के द्वारा परम स्थिति, शाश्वत्-स्थिति की प्राप्ति को कहा है। यह वही प्राप्ति है जो जैन योग-विज्ञान की अन्तरात्मा से परमात्मा की प्राप्ति है। ऐसे गीता मे व श्रुति-उपनिषद् मे भी जैन तत्त्वो की प्रतिध्वनियाँ आई है।

वेदो का पुरुष है भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभ देव)

प्राचीन साहित्य व वेदो आदि मे जिसको पुरुष नाम से स्थापित किया गया वह आदि पुरुष व युग-सृष्टा भ. ऋषभदेव हिरण्यगर्भ ही रहा है। बाद मे यह शब्द उसी शुद्धात्मा पुरुष के शुद्ध परम स्वरूप का वाचक होकर निर्मल परम आत्मा का वाचक भी हो गया है। भगवान ऋषभदेव ने ही सर्व प्रथम धर्म शासन तथा योग शासन प्रवाहित किया। अत ही सब विश्व ने उन्हे पूर्ण पुरुष तथा निर्मल आत्मा के रूप मे स्वीकार किया। तथा देव, असुर, नाग आदि सव ही मानव जातियो ने उनके चरणो मे श्रद्धा सुमन चढाकर अपने को धन्य किया था। अतः आज तक तीर्थंकरो के वर्णन मे "देवासुरार्चिताध्रिपद" व "भक्तामरप्रणतमौलिमणि प्रभाणा" आदि पदो से उनके पूजनीय चरणो का वन्दन होता है,—जो अन्य किसी भी भारतीय पुरुष के लिए प्रचलित नही है। इसी पुरुष के लिए पुरुष-सूक्त का वर्णन वेदो मे आया है और यह सूक्त इतना मगलकारी माना गया कि आज दिन वेद पाठी ब्राह्मण वर्ग मे ही नही, समस्त हिन्दु समाज मे इसका बडा मान व महत्त्व है। तथा विवाहादि मे सात्विक अनुष्ठान आदि के बाद के समापन व यज्ञादि कार्य के समय भी इस पुरुष सूक्त मे उसे ही गाया जाता है। इसे अति पवित्र व मगलकारी माना जाता है।

पुरुष प्रतीक और अयोध्या का प्रतीक

जैन समाज मे अब भी दीपावलि व दशलक्षण पर्व आदि से पूर्व दिन मिट्टी के नए घडो को पानी से भरा जाता है जिसे कोरण्डा डालना कहते हैं और फिर घर के आगन व रसोई मे फूल माडे जाते है और एक प्रतीक भी लिखा जाता है जो अष्ट चक्र तथा नव द्वारो से मिलता जुलता है। यह प्रतीक अयोध्या तथा भ. आदिनाथ की स्मृति है। सिन्धु-घाटी मे जो उत्खनित मिट्टी की मुद्राए

मिली है---उनके बीच मे एक ऐसे ही प्रतीक का लेख मिला है जिसमे दाहिनी तरफ एक पूजनीय "पुरुष" के प्रतीक वृक्ष की एक व्यक्ति पूजा कर रहा है और बाईं तरफ जो प्रतीक है उसमे चारो दिशाओ मे दो दो वृत्त चक्र है तथा उनके चारो कोनो के छोटे त्रिकोणो को छोड दे तो अन्दर नौ भाग है, जो नौ द्वार कहे गये है। यह ही मूल अयोध्या का प्रतीक है और यह मूल अयोध्या वही है जो सिन्धु-घाटी सभ्यता का आदि केन्द्र रही और वर्तमान मे हडप्पा के नाम से परिचय मे आई है। यह प्रतीक अजैनो मे भी प्रचलित है और लोग भारतीय पर्व दिनो मे दिवाली आदि पर भारत के करोडो स्त्री पुरुष आटे आदि की आकृति बनाकर इसका पूजन करते हे यद्यपि वे नही जानते कि इस प्रतीक का किससे सम्बन्ध है और वे क्यो इसे पूजते चले आ रहे हैं। कुछ मत यह भी मानना चाह रहे हैं कि यह भगवान् राम से सबन्धित प्रतीक है—मगर उत्खननो के द्वारा यह स्पष्ट हो गया कि यह मूल अध्योया भगवान् राम से सम्बन्धित नही है। भगवान् राम की अयोध्या तो सरयू किनारे रही है और सरयू नाम से ही उसका वर्णन मिलता है।

पर यह भी सभव है कि वर्तमान अयोध्या भी बाद मे बसी हो और इसी कारण वहाँ राम से सम्बन्धित कोई सामग्री न मिल पाई हो। काल का बीच मे इतना लम्बा प्रवाह रहने से सम्भव है कि श्रीराम वाली अयोध्या भी मूल रूप मे अन्यत्र रही हो और बाद मे उस नाम पर इस वर्तमान अयोध्या की स्थापना की गई हो। बहरहाल यह निश्चित है कि भ. ऋषभदेव, आदिनाथ तथा मनु भरतो से सम्बन्धित और भ ऋषभदेव द्वारा इन्द्र की सहायता से बसाई गई अध्योया जिसे वेदो मे अष्ट चक्रो व नव द्वारो तथा स्वर्ण-मण्डप से विभूषित कहा है, वह हडप्पा सिन्धु-घाटी मे ही कही होनी चाहिये।

चैत्य वृक्ष—वृक्षो की श्रमण मान्यता

उत्खनित मिट्टी की उक्त मुद्रा जो हडप्पा सस्कृति की मिली है, उसमे जिस वृक्ष की पूजा व्यक्ति कर रहा है—वह चैत्य वृक्ष है, और यह चैत्य वृक्ष उस ही पूर्ण पुरुष का प्रतीक है जिसे जैन आदि पुरुष आदीश्वर कहते है और पुरुष सूक्त मे पुरुष नाम से व हिरण्यगर्भ नाम से कहा गया है। जिस प्रकार बीज अपनी खोल को छिन्न करके एक नन्हे स्वरूप से विकास करता हुआ परिपूर्ण वृक्ष बनकर पल्लवित, पुष्पिम तथा फलित होता है, उसी प्रकार जीवात्मा—पुरुष वृक्ष के समान अपने कर्मावरण को तोडकर क्षुद्र भाव से विकास करके एक महान् विराट् पूर्ण-पुरुष के रूप मे पल्लवित, पुष्पित तथा फलित होता है। इस वृक्ष के ज्ञान-पुष्प और मोक्ष फल लगते है। यह पूर्ण चैत्य पुरुष वृक्ष मोक्षार्थियो के ध्यान का ध्येय व आराधना का आराध्य होता है। यह ध्यान का कल्पतरु है। तब ही योग प्रदीप मे भी कहा है—

ध्यानकल्पतरु लोके ज्ञान पुष्पै स पुष्पित ।
मोक्षामृतफलैर्नित्यं फलितोऽय सुखप्रद ॥ १०८ ॥

यह पुरुष अर्हन्त है। अर का अर्थ है क्षुद्र, तुच्छ और हन् का अर्थ है नष्ट करना। तुच्छता एवं क्षुद्रता के खोल को यह नष्ट करके विराट् अर्हन्त होता है। यह ही अर्थ ब्रह्म का भी है—यानी वह पुरुष जो अपने विराट् स्व "स्वरूप" की निर्मलता प्राप्त कर लेता है। अत उक्त मुद्रा मे चैत्य वृक्ष के प्रतीक से उस आदि निर्मल पूर्ण पुरुष भ० ऋषभदेव को निरूपित किया गया है। यह पुरुष तो सत्य-युग कालीन है। भ० राम तो बहुत बाद मे त्रेता युग के महापुरुष हुए है, अत यह पुरुष तो अग्रज पुरुष हिरण्यगर्भ भगवान् आदिनाथ ऋषभनाथ ही है। यह पूर्ण पुरुष ही सर्व प्रथम केवली व केवल-ज्ञान-भास्कर कहलाये। वृक्ष रूप इस प्रतीक को सूर्य भी इसी कारण कहा जाता है,—क्योकि वह पुरुष केवल-ज्ञान सूर्य ही परिणमित हुआ था। यह प्रतीक ही उस आदि प्रभु के विराट् आत्मा के स्वरूप को दिखाता है। वृक्ष की उपमा प्राचीन काल मे निर्ग्रन्थ अध्यात्म क्षेत्र मे प्रचलित थी। गीता मे भी "अश्वत्थ. सर्व-वृक्षाणा"—ऐसा कहा है।[1] जैन तीर्थंकरो से अशोक वृक्ष, कल्प वृक्ष आदि सम्बन्धित रहे है। भ शीतल नाथ का चिह्न कल्पवृक्ष है। ऐसे ही महात्माबुद्ध का पीपल वृक्ष से सम्बन्ध है। सब ही तीर्थंकरो के उनसे सम्बन्धित भिन्न-भिन्न वृक्ष रहे है। इस प्रकार वृक्ष प्रतीक से वर्णन की परम्परा विशेष कर श्रमण परम्परा मे चलती ही आई है। अत यह स्पष्ट है कि अयोध्या के प्रतीक से, उस अयोध्या से, जो देवो के देव (देवेन्द्र) द्वारा निर्माण को प्राप्त हुई, सम्बन्धित उक्त मुद्रा पर उत्कीर्ण वृक्ष भी योगी जनो व जैनो के आराध्य तथा वेद वर्णित अयोध्या के स्वामी,—आदि–पुरुष का ही प्रतीक है जो हिरण्यगर्भ आदीश्वर, हरि, भ. ऋषभदेव, वृषभनाथ आदि नामो से विभूषित है तथा जो देवेन्द्र पूजित होने से देवाधिदेव कहा गया है।

परोक्ष प्रिय ऋषि देवों के वर्णन संकेत रूप में

पुरुष सूक्त मे इसी पुरुष का वर्णन है। तथा ऋषिगण "परोक्ष प्रिया हि देवा" होने मे अनेक वर्णनो के रूपक तथा सकेतो को समझना तथा स्पष्ट करना चाहिए। उस पुरुष सूक्त के वर्णन देने से पूर्व हम थोडा अन्य और विवेचन यहा देते है।

ऋषभदेव, अग्नि देव और अग्नि पूजा

"ऋग्वेद-आदि मे अग्निदेव की स्तुति की गई है। उस अग्निदेव की स्तुति मेप्रयुक्त विशेषणों से ऐसा प्रतिबोध होता है कि वह स्तुति अग्निदेव के रूप मे भ. ऋषभदेव की ही की गई है—जैसे जातवेदस्-शब्द जो अग्नि के लिए प्रयुक्त किया हे, वह जन्म से ज्ञान सपन्न ज्योति स्वरूप भगवान् ऋषभ-देव के लिए ही है। "रत्नधरक्त" अर्थात् ज्ञान दर्शन चारित्र रूप रत्नत्रय को धारण करने वाला, "विश्व वेदस—" विश्व तत्व के ज्ञाता, मोक्ष नेता, "ऋत्विज्ञ" धर्म के सस्थापक, आदि से ज्ञान होता है कि यह अग्नि भौतिक अग्नि न होकर आदि प्रजापति ऋषभदेव भगवान् है। इस कथन की पुष्टि अर्थर्ववेवद के एक सूक्त से होती है जिसने ऋषभदेव भगवान् की स्तुति करते हुए उन्हे "जातवेदस्" बताया है। वहा कहा है रक्षा करने वाला, सब को अपने भीतर रखने वाला स्थिर, स्वभावी, अन्नवान्, ऋषभ ससार के उदर

1 भगवद्गीता १०/२६

का परिपोषण करता है। उस दाता ऋषभ को परम ऐश्वर्य के लिए विद्वानो के योग्य, मार्गों से बडे ज्ञान वाला, अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष प्राप्त करें।" (अथर्ववेद–९/४/३)

"अग्नि देव के रूप मे ऋषभदेव की स्तुति का एक मात्र हेतु यही दृष्टिगत होता है कि जब भ. ऋषभदेव स्थूल सूक्ष्म शरीर से परिनिवृत्त होकर सिद्ध बुद्ध मुक्त हुए उस समय उनके प्रशात रूप को आत्म सात् करने वाली अन्त्येष्टि अग्नि ही तत्कालीन जन-मानस के लिए सस्मृति का विषय रह गई। जनता अग्नि-दर्शन से ही अपने आराध्य देव का स्मरण करने लगी। इसलिए वेदो मे स्थान-स्थान पर "देवा अग्निम् धारयन् द्रविणोदाम्" शब्द द्वारा अग्नि देव की स्तुति की गई है। इसका अर्थ है—अपने को देव सज्ञा से अभिहित करने वाले आर्य जनो ने धन-ऐश्वर्य प्रदान करने वाले अग्नि (प्रजापति-ऋषभ) को अपना आराध्य देव धारण कर लिया।

"इससे यह स्पष्ट होता है कि भ ऋषभदेव के निर्वाण के समय से ही अग्नि के द्वारा पूजा-विधि की परम्परा शुरू हो गई थी।" —(श्री देवेन्द्र मुनि-ऋषभदेव एक परिशीलन)

अथर्ववेद में ऋषभदेव की परमेश्वर के रूप में स्तुति

"अथर्ववेद के नवम् खण्ड मे ऋषभदेव शब्द से परमेश्वर का ही अभिप्राय ग्रहण किया है। और उनकी स्तुति परमेश्वर के रूप मे उत्पन्न भक्ति के साथ की गई है—"इस परमेश्वर का प्रकाश युक्त सामर्थ्य सर्व उपायो को धारण करता है, वह सहस्त्रो पराक्रम युक्त पोषक है, उसको ही यज्ञ कहते हैं। हे विद्वान लोगो! ऐश्वर्य रूप का धारक, हृदय में अवस्थित मगल धारी, वह ऋषभ सर्वदर्शक परमेश्वर हमको अच्छी तरह से प्राप्त हो (अथर्ववेद–९/४/७)

जो ब्राह्मण, ऋषभ को अच्छी तरह प्रसन्न करता है उसको दिव्य गुण तृप्त करते हैं। (अथर्ववेद—९/४/८)

ऋग्वेद के निम्नाकित दो मन्त्रो मे भ ऋषभदेव का जीवन वृत्त उसी प्रकार उल्लेखित है—जैसा जैन परम्परा विधान करती है। उन मंत्रो (ऋग्वेद १०/४५/१) मे कहा गया है कि अग्नि प्रजापति प्रथम देव लोक मे प्रकट हुए, द्वितीय बार हमारे मध्य जन्म से ही ज्ञान-सपन्न होकर प्रकट हुए, तृतीय रूप इनका वह स्वाधीन एव आत्मवान् रूप है—जब उन्होने भव-समुद्र मे रहते हुए निर्मल वृत्ति से समस्त कर्म बन्धनो को जला दिया। तथा हे अग्रनेता! हम तेरे इन तीन रूपो को जानते है, इनके अतिरिक्त तेरे पूर्व मे धारण किये हुए रूपो को भी जानते है, तथा तेरा जो निगूढ परम धाम है वह भी हमे ज्ञात है और जिसमे तू हमे प्राप्त होता है, उस उच्च मार्ग से भी अनभिज्ञ नही है।—ऋग्वेद १०/४५/२)।

गायत्री मन्त्र और केवल ज्ञान सूर्य

गायत्री मन्त्र (ऋग्वेद ३/६२/१०) की व्याख्या देवेन्द्र मुनि ने प्रकट करते हुए कहा है कि सूर्य पूजा के रूप मे भ. वृषभदेव की पूजा सिद्ध होती है,—यथा "ऊ" पच-परमेष्टी,—"भू." सर्वश्रेष्ठ, "भुव" —जन्म मरण आदि दु:खो से मुक्त होने के लिए रत्नत्रय मार्ग के उपदेष्टा, "स्व." शुद्धोपयोग मे स्थित, "तत्"—उस ऊ वाचक परमेष्ठी को "सवितु." हिताहित का मार्ग बतलाने के कारण त्रिलोक के लिए सुखदायक है। वह "वरेण्यम्"—उपासना मार्ग को, "देवस्य" तीर्थंकर को "धीमहि" धारण करते हैं "धी यो न.", उन तीर्थंकर ऋषभदेव के उपदेश से, हमारी बुद्धि "प्रचोदयात्" सत्कार्यो मे प्रवृत्त हो। अर्थात् पच परमेष्टी के स्वरूप आदि ब्रह्म श्री ऋषभदेव के प्रसाद से हमारी बुद्धि राग-द्वेष से रहित होकर शुद्धोपयोग में लगे—(ऋषभदेव-एक परिशीलन-पृ ५२)

पुरुष सूक्त मे भगवान आदिनाथ वृषभेश्वर की स्तुति विराट् सर्व रचयिता उपास्य पुरुष के रूप में स्तुति

सूक्त कार ने सम्पूर्ण सूक्त मे उस भ. आदिनाथ वृषभदेव की ही स्तुति कही है—

ऊं सहस्त्रशीर्षाः पुरुषः सहस्त्राक्ष सहस्त्रपात् ।
स भूमिं विश्वतो वृत्वात्यतिष्ठद्दशांगुलम् ।।१।।

अर्थ—इस परम पुरुष के अनन्त शीर्ष (अनन्त बुद्धि, अनन्त ज्ञान) अनन्त नेत्र (अनन्त दर्शन) और अनन्त ही चरण (चारित्र) है। वे ज्ञान स्वरूप सम्पूर्ण विश्व स्थान को व्याप्त करके दश अगुल भूमि पर स्थित है।

यहा सहस्त्र शब्द अनन्त का बोधक है। दश अगुल भूमि पर अवस्थित होते हुए भी वह सर्व विश्व को अपने सर्वगत सर्वज्ञ ज्ञान से व्याप्त करके, विराट् आत्म स्वरूप मे है। तथा यह विराट् स्वरूप उसके अनन्त चतुष्टय,—अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान तथा अनन्त चारित्र, अनन्त सुख मे परिलक्षित हुआ है। इस रूप मे वह साकार मोक्ष स्वरूप हुआ है; क्योंकि 'सम्यग्दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्ग." (तत्वार्थ सूत्र) कहा गया है। इन तीन अनन्तो को ही लेकर वह चतुर्थ अनन्त, अनन्त सुख रूप है—ऐसे वह अनन्त चतुष्टय का स्वरूप है। दशागुलस्थिति, उनका खड्गासनस्थ होना प्रकट करती है।

ऊं पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यम् ।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति ।।२।।

यह जो इस समय वर्तमान है, बीत गया है, आगे होने वाला है, वह सब (त्रिकाल पर्याय-परिणमन सहित) परम पुरुष ही है। यह अमृतमय गुणो के, तथा अन्न से जीवित (प्राणो) के वा देह

के, स्तर के भी अतीत ईश्वर है, अर्थात् यह प्रभु अपने गुणो का राशि या भण्डार मात्र ही नही है, यह अन्न से जीवित (पोषित) देह या प्राण मात्र भी नही है,—यह तो इन सवसे विलक्षण तथा अतीत है तथा कालातिवर्ती है। अर्थात् वह तो अक्षर अनन्त-गुण, तथा क्षर-देह या पर्याय मात्र से परे परम स्वरूप परम पुरुषही है—

ॐ एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्ज पूरुष॰।
पादौऽस्य बिश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृत दिवि ॥३॥

यह समस्त भूत विषय वर्तमान से सम्वद्ध पर्याय जगत् इस परम पुरुष का वैभव (महिमा) प्रकाशित करता है। वह पुरुष अपने इस गुण-विभूति प्रकाश-विकास (विस्तार) से महान् है। इस प्रभु का एक पाद (चतुर्थांश) ही पचभूतात्मक देह ब्रह्माण्ड है, शेष त्रिपाद मे अन्तरीक्ष द्यु लोक तथा नित्य, शाश्वत् सिद्ध मलोक आदि है।

यहा देह स्तर की लघुता तथा उस स्तर से परे परम पुरुष की महत्ता का विलास कथित हुआ है। नित्य लोक उनके मुक्त स्वरूप को बतलाता है। सृष्टि के चार पाद-अध लोक, मध्यलोक, उर्ध्वलोक तथा सिद्ध लोक का यहा सकेत है तथा देह लोक मे इन चार लोकों की स्थापना से—यह प्रकट किया गया है कि उस प्रभु की चेतना सम्पूर्ण रूपेण जागृत प्रकाशित होकर शीर्ष भाग सिद्धलोक तक प्रकाशित हो गई थी।

ॐ त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहा भवत्पुनः।
ततो विष्वङ्व्यक्रामत् साशनानशने अभि. ॥४॥

यह पुरुष मायिक (अनात्म) जगत् से परे, त्रिपाद विभूति (दिव्य प्रकाश) से भी उर्ध्व (ज्ञान मे) प्रकाशमान है। वह दिव्य शक्तियो के प्रकाश से भी ऊँचे स्वज्ञान से प्रकाशित है। त्रिपाद का अर्थ पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्ग। उनसे एक पाद "पृथ्वी" के ज्ञान मे वनस्पति विज्ञान का आविर्भाव हुआ। वनस्पतियो के साशन (खाद्य) और निरशन (अखाद्य) दो भेद प्रकट हुए। ये दोनो भेद-उसी खाद्य अखाद्य विचार के मूल हैं जो जैनों मे अब भी प्रचलित हैं। अन्तरिक्ष के ज्ञान मे उन्होंने चिदाकाश और आत्म अन्तरीक्ष का ज्ञान तथा स्वर्ग से परे सिद्ध लोक के ज्ञान मे प्रकाशित किया। उन्होने सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप, जिसके त्रिपाद हैं,—ऐसे आत्म-धर्म का प्रकाश किया।

ॐ तस्माद् विराड् जायत विराजो अधिपूरुष॰।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद् भूमिमथोपुर ॥५॥

इस आदि पुरुष के निमित्त से विराट् (ज्ञान) उत्पन्न हुआ। विराट् रूप परम पुरुष ही

अधिपुरुष हिरण्यगर्भ हुआ। हिरण्यगर्भ होकर वह अत्यन्त प्रकाशित, ज्ञानवान हुआ। पीछे भूमि, पुर, नगर, आदि की उसने रचना की।

यहा सूक्तकार ने भगवान् आदिनाथ के द्वारा अपने राज्यकाल मे विश्व-व्यवस्था के सम्बन्ध मे जो जो रचनाए हुई, पुर, नगर, आदि बसाये गये, उनका सकेत किया है तथा उन्हे विराट् ज्ञान से द्युतिमान होना प्रकट किया है।

ॐ यत्पुरूषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वतः।
वसन्तो अत्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्हवि. ॥६॥

देव पुरुष आर्य-जनो ने उस पुरुष के माध्यम (निमित्त) से यज्ञ की सामग्री (हविष्य) से यज्ञ सम्पन्न किया। इस यज्ञ मे बसत ऋतु आज्य (घृत), ग्रीष्म ऋतु ईंधन तथा शरद् ऋतु हविष्य बना। इस प्रकार देवो ने यज्ञ के लिए भावना की। अर्थात् उन देव-पुरुषो ने तीनो ऋतु-कालो को ही उस पुरुष की आराधना रूप यज्ञ मे सुनियोजित किया। यहा यज्ञ से लोक-पावन तथा आत्म-पावन आत्म-यज्ञ का निर्देश हुआ है।

ॐ त यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षत् पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये ॥७॥

सब से अग्रज-आदि-पुरुष हिरण्यगर्भ, उस पुरुष को ही यज्ञ मे देव-पुरुषो ने, साधको ने, ऋषियो ने कुश के द्वारा प्रोक्षण करके यज्ञ को सम्पूर्ण किया। कु का अर्थ होता है पृथ्वी, श का अर्थ है शयन, इसमें पृथ्वी को शयन या स्थिति मात्र भाव से ग्रहण करके-सर्व परिग्रह का त्याग करके उस यज्ञ को सम्पूर्ण किया—यह भाव प्राप्त है। तथा यह भी भाव है, कि साधको ने पृथ्वी रूप देह मे शयन करने वाले पुरुष (आत्म) की भावना द्वारा यज्ञ को (आराधना को) सम्पूर्ण किया। "पुरि शेते इति पुरुष" ऐसी व्युत्पत्ति से "आत्मा", अर्थ गृहीत होता है। तथा योग विज्ञान के विचार से यह अर्थ भी सम्भव है कि पृथ्वी-तत्त्व से आरम्भ करके, क्रमश जल, अग्नि आकाश आदि अनात्मचिद् तत्त्वो को शयन कराते यानी उन तत्त्वो की भेद-भावना करते हुए, तत्त्वो से अतीत उस आत्म पुरुष की आराधना की। भेद विज्ञान आत्म विज्ञान का अभिन्न अङ्ग है ही।

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत' सम्भृत पृषदाज्यम्।
पशून् तांश्चक्रे वायव्यानारण्यान् ग्राम्याश्च ये ॥८॥

उस यज्ञ से—जिसमे सब कुछ (पर-स्वरूप) आहुत कर दिया गया था, प्रशस्त आज्य (घृत,—दया व करूणा का स्नेह) उत्पन्न हुए। उससे ग्राम मे, अरण्य मे, वायु मे रहने वाले अन्य पशु-वृद्धि व समृद्धि को प्राप्त हुए। यहा आत्म शोधन रूप यज्ञ से दया और करूण मय अहिसा धर्म और

उसके परिणाम स्वरूप प्राप्त समृद्धि सकेतित की गई है। सर्वत्र अहिंसा तथा शान्ति की स्थापना से सब प्रकार के जीव प्राणियो को सुख समृद्धि प्राप्त हुई।

यज्ञ-कर्म से सूक्तकार ने भ आदिनाथ के लौकिक तथा पारलौकिक कर्मो (कृत्यो) का सकेत दिया है। उनके द्वारा यज्ञार्थ व अन्न के लिए पशु पालन तथा कृषि कर्म की शिक्षा तथा प्रेरणा दी गई। नगर पुरो की रचना से अपने कुलो, (मानवो) को तथा पशुओ को एक स्थान से दूसरे स्थान पर चराते हुए, चरवाहो के (घुमक्कड जीवन के स्थान पर) स्थिर सभ्य नागरिक जीवन का, कृषि प्रधान जीवन तथा नगर रचना के द्वारा आरम्भ कराया, तथा अपने इन लौकिक कर्मो से सर्वत्र समृद्धि को पुरस्कृत किया। ऐसा भी भाव यहा गृहीत होता है।

आत्म-शोधन रूप अलौकिक यज्ञ-कर्म (साधना) को स्वय किया, साधक-जनो, ऋषियो, देव पुरुषो से भी, उन्हे प्रशिक्षित करके कराया-जैसा कि सूक्त ७ मे सकेत है। उस आत्म-यज्ञ से आत्मा के शुद्ध स्वरूपो का ज्ञान ऋषिगणो को प्राप्त हुआ। वह आदिनाथ इस प्रकार मानव-सस्कृति तथा अध्यात्म योग-विज्ञान का पुरस्कर्ता हुआ। तथा "योग का प्रथम वक्ता" होने की गरिमा उसे प्राप्त हुई। इस योग-विद्या से ही ऋषिगण मन्त्र-द्रष्टा रूप मे अन्तः स्फुरित हुए और इससे ही तदनन्तर ऋचाए बनी व ऋग्वेदादि के सकलन हुए।

ॐ तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋच सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्मान् यजुस्तस्मादजायत ॥९॥

यहा सूक्त कार ने वेदो के प्रादुर्भाव होने की रहस्य को उद्घाटित किया है।

उस पुरुष की आराधना यज्ञ से, जिसमे सब कुछ ही आहुत कर दिया गया था, फिर ऋग्वेद, सामवेद प्रकट हुए। इसी से छन्द प्रकट हुए। इसी मे यजुर्वेद की उत्पत्ति हुई। ऋषियो ने उस पूर्ण पुरुष को निमित्त पाकर सर्व परिग्रह से रहित होकर आत्म-शोधन एव आत्म-साधना का यज्ञ किया, तथा इस तपो मय यज्ञ से जो उस अग्रज हिरण्यगर्भ के वेदो का माध्यम से किया गया, ज्ञान विद्याओ का आविर्भाव हुआ। गीता मे भ श्रीकृष्ण ने भी भ प्रजापति हिरण्यगर्भ द्वारा अध्यात्म साधना रूप यज्ञ व प्रजा-सृष्टि की रचना करने का उल्लेख स्पष्ट तौर पर किया है—कहा है—"सहयज्ञाः प्रजा- सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति." (गीता ३/१०) यह रचना कल्प के आदि मे की गई—ये कहा है। इससे सिद्ध होता है कि यह पुरुष वेद-रचना से बहुत पूर्व मे हुए। इसी से भगवान् ऋषभदेव को पूर्व-गामी व पूर्व-ज्ञान के पुरस्कर्ता कहा गया है। वेद शब्द की व्युत्पत्ति विद् धातु से है—विद् "ज्ञाने" अर्थ होने से वेद का वास्तविक अर्थ ज्ञान है। वेद का अर्थ वस्तुत किसी पुस्तक का भी नाम नही है, यद्यपि इनसे ऋक्, यजु, साम नाम की पुस्तक ग्रन्थो का भी अर्थ अब रूढ हो गया है। वैदिक परम्परा वेद को अपौरुषेय मानती है परन्तु यहा पुरुष सूक्त कार ने इन वेद ग्रन्थो की उत्पत्ति भ० हिरण्यगर्भ आदि पुरुष ऋषभनाथ से होना कहा है। इनके ही अक्षर-तपोयोग मय यज्ञ का अनुष्ठान

करने से वे ऋषि गण मन्त्र द्रष्टा हुए और उन्हे मन्त्रो की प्राप्ति हुई—जिनसे वेद ग्रन्थ सकलित हुए। इस प्रकार वेद साक्षात् मानव पुरुष भ ऋषभदेव से अनुगृहीत ऋषियो द्वारा प्रणीत होने से यहा उन वेदो को उस प्रभु के यज्ञ से ऋक् यजु साम तथा छन्द प्रकट हुए कहा है। वेद किसी अव्यक्त निराकार ईश्वर कृत नही है। वे मनुष्यो की (ऋषियो) की कृति है, जो भ० हिरण्यगर्भ आदि पुरुष वृषभ के माध्यम से सम्भव हुई है।

सूक्तकार उस अग्रज पुरुष के द्वारा पशुपालन को भी सिखाने की बात को कहने के बाद उसका वर्णन एक वर्ण-पुरुष, एक समष्टि (समाज) के ही प्रतीक के रूप मे प्रकट करता हुआ कहता है—

ॐ तस्मादश्वा अजयन्त ये के चोभयादंतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात्तस्माज्जाता अजावय ॥१०॥

उस पुरुष द्वारा घोडे उत्पन्न किये गये, इनके अतिरिक्त नीचे ऊपर दातो वाले (गर्दभादि) पशु भी उत्पन्न किये गये, गाये उत्पन्न की गई, तथा उन्ही के द्वारा बकरियो और भेडे भी उत्पन्न की गई। पशु-पालन का एक विशाल अभियान-यज्ञ ही इस प्रकार उनके द्वारा किया गया।

ॐ यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयत्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का उरू पादा उच्येते ॥११॥

जिस पुरुष का सकल्प (विधान) हुआ, उसको कितने प्रकार से कल्पित किया गया, उसका मुख कैसा था, बाहु क्या था ? जघाए क्या थी, और चरण क्या थे ? वो ही आगे इस प्रकार बताया गया है—

ॐ ब्रह्मणोऽस्य मुखमासीदाद्बाहूराजन्य कृत।
उरूतदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत ॥१२॥

उनका मुख ब्रह्मविद्या को कथन करने वाला ब्रह्मण रूप था, दोनो भुजाए कर्मठ पराक्रम को धारण करने वाली क्षत्रिय रूप थी। दोनो जघाए धैर्य-शक्ति से धृत होने से सभरण करने वाले वैश्य रूप थी, तथा उनके पैर सदा प्रगति के लिए सन्नद्ध व सेवक "शूद्र" रूप थे। इस प्रकार वे समस्त चार वर्णमय जन-समाज के ही प्रतिक रूप थे। वे अकेले ही सब वर्णो के धर्म ज्ञान, पराक्रम, पोषण तथा सेवा को प्रतीयमान करने वाले थे। वे इस प्रकार सर्व वर्ण मय साक्षात् समिष्टि रूप हुए। सूक्तकार ने सर्व वर्णो को भगवत् स्वरूप मे स्थापित करके चारो वर्णो की समान पवित्रता को सूचित किया है।

सूक्तकार उनके इस प्रकार एक विराट् समष्टि पुरुष के वर्णन से ही सतुष्ट नही हुए, वह आगे और भी कहते है—

ॐ चन्द्रमा मनसो जातश्च चक्षो. सूर्यो अजायत ।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत ।।१३।।

ॐ नाभ्यां आसीदन्तरीक्षं शीर्ष्णो द्यौ समवर्तत ।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकान् अकल्पयत् ।।१४।।

उस पुरुष के मन से चन्द्रमा, नेत्रो से सूर्य मुख से इन्द्र और अग्नि तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुए। (१३)

उस पुरुष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक, मस्तक से स्वर्ग लोक, पैरो से पृथ्वी, कानो से दिशाए हुई। इस प्रकार समस्त लोक उस पुरुष से ही कल्पित हुए।

सूक्तकार ने इन दो मत्रो मे भ आदिनाथ आदिपुरुष ऋषभदेव का बडा मनोहर वर्णन एक विश्व-पुरुष के रूप मे किया हैं। इसमे सारे विश्व के महान तत्वो को सूक्तकार मानव स्तर पर ले आये हैं तथा मानव पुरुष मे उनकी स्थापना करके उस पूर्ण मानव पुरुष की अलौकिक विराट्ता का दिग्दर्शन कराया है। विश्व के सारे काव्य या साहित्य का भी अन्वेषण करने पर ऐसा अलौकिक रूपक वर्णन अन्यत्र कही उपलब्ध नही है। यह भारतीय कल्पना तथा काव्य-प्रतिभा का अनूठा उदाहरण हैं। भगवद् गीता मे भी विराट स्वरूप का वर्णन हुआ है, उसमे भी इसी सूक्त का प्रभाव स्पष्ट ही झलकता है। यहा तो जो यह वर्णन है, अपूर्व ही है।

उस महान् पुरुष का मन (निर्मल व शीतल, ज्योति पूर्ण) चन्द्र था, नेत्र (सर्वत्र प्रकाश को विकीर्ण करने वाले व सदा साक्षी, सूर्य थे, मुख (पालक तथा पावक) इन्द्र तथा अग्नि था, तथा प्राण (सर्वगत अबाध सचार करने वाला) वायु ही था। उनकी नाभि अन्तरिक्ष-लोक, मस्तक दिव्य स्वर्ग लोक तथा चरण पृथ्वी तथा कान दिशाये हुई—ऐसे समस्त लोकमय वह पुरुष हुआ।

वास्तव मे यह उस पुरुष का विराट् ध्यान हे। तथा जैन धर्मध्यान के उप भेद लोक-सस्थान विषय ध्यान मे जो अनुप्रेक्षा की जाती है, वह भी इस प्रकार कही गई है—

"इस पुरुषाकार लोक का ऊरू जघादि देश अधोलोक है, कटि प्रदेश मध्य लोक है, उदर प्रदेश महेन्द्र स्वर्गान्त है, हृदय-प्रदेश ब्रह्म ब्रह्मोत्तर स्वर्ग है, स्कन्ध प्रदेश आरणा-च्युत स्वर्ग है। महा भुजाए दोनों ओर की मर्यादा हैं, कण्ठदेश नव ग्रैवयक हैं, दाढी देश अनुदिश हैं, ललाट देश सिद्ध क्षेत्र है, और मस्तक सिद्ध स्थान हैं।" (पुरुषार्थ—सिद्ध्युपाय लाकानुप्रेक्षा पृष्ठ—१०१)

सूक्तकार के तथा लोकानुप्रेक्षा के उक्त वर्णनो मे एक मौलिक भेद है। सूक्तकार ने जहाँ मानव को ही दिव्य विश्वाकार रूप मे वर्णित करके उसका अद्भुत विराट् तथा दिव्य स्वरूप व्यक्त किया है, वहा लोकानुप्रेक्षा मे विश्व का मानवीकरण करके लोक भागो को मानवाकार अङ्गो मे वर्णित किया है। कल्पना दोनो मे ही अति उच्च है। परतु सूक्तकार ने पूर्ण मानव पुरुष मे विश्व के लोक-भागो के दिव्य पदार्थों को स्थापित करके उनके दिव्याकार स्वरूप की कल्पना की है, वह अपूर्व है।

सूक्तकार के विराट् भाव के समान ही एक भाव ऋग्वेद मे और भी आया है—

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहु ।

यस्येमा प्रदेशो यस्य बाहु. कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

बर्फ से ढकी पृथ्वी, पर्वत व समुद्र जिसकी महिमा का गान करते हैं, चारो दिशाए ही जिसकी विशाल भुजाए है, उस विराट् पुरुष-हिरण्यगर्भ का ही हम ध्यान करते है, और किस देव के लिए ध्यान-यज्ञ करे।

इस ऋग्वेद के मत्र मे ऋषि ने भ. हिरण्यगर्भ पूर्ण पुरुष के सम्पूर्ण देश हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त तथा चारो दिशाओ मे व्याप्त होने की विराटता, के रूप मे कल्पना की है। ऐसे पुरुष को उस गौरवशालिनी अयोध्या नगरी का स्वामी कहा गया है। उसे अपना आराध्य घोषित किया है। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्ण पुरुष भगवान् हिरण्यगर्भ कितनी विशाल लोकप्रियता सपूज्यता और श्रेष्ठता को प्राप्त हुए थे। ऋषभ का अर्थ ही श्रेष्ठ है और उनका यह पावन नाम सार्थक ही था। लौकिकरूप मे प्रभु के राज्य काल की राज्य विस्तार सीमा का भी यहा सकेत है जो बर्फ से ढके हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त विस्तृत रहा।

ऊँ सप्तास्यासन् परिधय स्त्रि सप्त समिध. कृताः।

देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम् ॥१५॥

जब यज्ञ करते समय (सकल्प से) पशु (बाह्यात्मा) का बधन किया। उस समय सप्त समुद्र उसकी परिधि (मेखलाए) थी। इक्कीस प्रकार के छन्दो की (गायत्री, अति जगती और कृति मे से प्रत्येक के सात-सात प्रकार से) समिधा बनी।

देवो ने अपने सकल्प से बाह्यात्मा मन-पशु का निरोध किया। उस समय वह मन सात समुद्रो के अवरण से बाधित था। निरोध द्वारा वे देव पुरुष उस बाह्यात्मा को सात समुद्रो से भी

अतीत करके अन्त प्राण,—अन्तरात्मा तक ले गये। और उन्होने इक्कीस प्रकार के छन्दो की रचना से उस प्रभु की स्तुति की।

उल्लेखनीय है—देहस्थ सूक्ष्म चैतन्य प्राण-चक्रो को ही विभिन्न नामो से कहा जाता रहा है, कही उन्हे सप्त चक्र, सप्त पद्म, सप्त ताल, सप्त वन और कही सप्त घाटी या सप्त गुहा, सप्त मजिल सप्त सोपान आदि नाम से संकेतित किया गया है। यहा उन्हे सप्त समुद्र से कहा है।

इस वर्णन से यह भी अर्थ निकलता है कि तब वे देव-पुरुप (ऋपिगण) उस पशु-बधन रूप निरोध-क्रिया को सप्त समुद्र पार भी ले गये और सर्वत्र इसका प्रवचन तथा प्रचार किया और इक्कीस प्रकार के छन्दो से उस पूर्ण पुरुप की स्तुतिया प्रचारित की।

ॐ वेदाहम् त पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमस स्तुपार।
सर्वाणिरूपाणि विचिन्त्य धीरो नामानि कृत्वा भिरन्यदास्ते।।१६।।

मैने उस महान् देदीप्यमान सूर्य सम विशिष्ट पुरुप ऋपभ को जो अधकार से अतीत ज्ञान लोक का बिहारी था जाना। सस्कृति के आरम्भ मे—सब की बुद्धि मे रमण करने यानी बुद्धि को प्रेरित करने वाले (उस परमेश्वर ने समस्त रूपो) दृश्य व ज्ञेय वस्तुओ की रचना मे उसके नाम स्थिर किये, उन ही नामो से व्यवहार चलता हुआ वह स्थित था। ऐसे उस लोकोपकारक लोक पावन परम देव पुरुप ऋपभदेव के अलौकिक तथा लौकिक ज्ञान के विकास तथा प्रवर्तना का वर्णन यहा दिया गया है।

यहाँ भ० आदिनाथ के द्वारा भापा तथा लिपि, वाणी के आविर्भाव करने का सकेत है। प्रसिद्ध है कि ब्राह्मी-लिपि जो विश्व की समस्त लिपियो की जन्मदात्री तथा प्राचीनतम लिपि है—उनसे ही प्रसूत हुई। प्राकृत भापा और ब्राह्मी लिपि प्राचीनतम एव समृद्ध भापाओ मे है। इस विपय पर द्रष्टव्य है। एलाचार्य मुनि श्री विद्यानन्द जी का लेख "प्राकृत भापा और लिपि"—महावीर जयन्ती स्मारिका, जयपुर १९६८। यह लेख साधिकारी विद्वानो के अभिमतो सहित इस विपय मे पर्याप्त ज्ञान वर्धक है।

इस सूक्त के शब्द तथा भावो की ध्वनि भक्तामर स्तोत्र-आदिनाथ काव्य मे भी स्पष्ट है—

"त्वामामनन्ति मुनय परम पु मासं।
आदित्यवर्णममल तमस पर स्तात्।।"[1]

वास्तव मे भ आदिनाथ ही—"आदित्य वर्ण" तथा "परम पुरुप" सर्वत्र ही वर्णित किये गये है। इस मत्र के प्रथम भाग-दो पदो को श्वेताश्वतरोपनिपद (३/८) मे भी इस तरह अविकल लिया

1. भक्तामर स्तोत्र–

गया है "वेदाहमेत पुरुष महान्तमादित्यवर्णं तमस परस्तात्" तम (अज्ञान) से अतीत प्रकाश रूप महान इस पुरुष को मैं जानता हूँ। आगे कहा है कि उसे ही जानकर पुरुष मृत्यु को पार करता है, परमात्मा-प्राप्ति का इसके सिवाय अन्य मार्ग नही है।

ॐ धाता पुरस्ताद्यमुदाजहार, शक्रः प्रविद्वान् प्रदिशश्च तस्त्र ।
तमेव विद्वानमृत इह भवति, नान्यः पंथा विद्यते अयनाय ।।१७।।

पुरा काल मे जिसकी स्तुति धाता (ब्रह्मा) ने की, देव के अध्यक्ष इन्द्र ने जिसे चारो दिशा-प्रदेशो मे ही विशेष जाना, उस परम पुरुष को जो सर्व रूप से इस प्रकार जानता है, वह यही (ससार मे रहते हुए ही) अमृतपद प्राप्त कर लेता है, उसके ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई अमृत-मार्ग नही है।

ॐ यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् ।
ते ह नाके महिमान. सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवा ।।१८।।

देव पुरुषो ने (पूर्वोक्त प्रकार से) यज्ञ (आत्म-यज्ञ) के द्वारा यज्ञ स्वरूप (परम पवित्र) परम पुरुष का यजन-आराधन किया। इस यज्ञ —आत्म-साधना से सर्व प्रथम तो सर्व धर्म (सिद्धान्त) उत्पन्न हुए, उन धर्म-सिद्धान्तो के आचरण से वे देवता देव पुरुष महान् महिमा वाले होकर उस दिव्य (प्रकाश) लोक का सेवन करते है, जहा प्राचीन साध्य (सिद्ध) देव पुरुष निवास करते है।

यहा सूक्तकार ने उस पूर्ण पुरुष आदिनाथ अग्रज प्रभु से ही धर्म की सस्थापना, सिद्धान्त तथा चारित्र (आचरण) के तत्वो की उत्पत्ति कही है। तथा इस आत्म-साधना से आरम्भ करके मोक्ष साधना तक को वर्णित किया हे। ऐसे यह पुरुष-सूक्त इस भगवान् आदिनाथ-हिरण्यगर्भ को विश्व का सर्व प्रथम धर्म-व्यवस्थापक तथा सस्थापक घोषित करता हे। सूक्तकार ने स्पष्ट किया है इन परम पुरुष के आराधन से सिद्धात्माओ का निवास स्थल-यानी सिद्धालय की ही प्राप्ति होती है।

वास्तव मे यह पुरुष-सूक्त अनुपम है। यह उन प्रथम योग-वक्ता तथा धर्म-सस्थापक की लोक-कृति, धर्म-कृति, तथा मोक्ष-कृति आदि सब ही कृतियो का अनूठे रूप मे वर्णन करता है। इस सूक्त मे उन्हे समस्त वेदो का जनक, मानव सस्कृति का आविर्भाव-कर्ता, भाषा, वाणी, तथा लिपि के देने वाले तथा अध्यात्म-ज्योति को देने वाले रूप मे बडी श्रद्धा से स्मरण किया गया है। विश्व मे सभ्यता के दीप उनसे ही उनके द्वारा इस भारत से ही जले। उनके द्वारा ससार को तथा भारत को जो विभूति प्राप्त हुई, वह अवर्णनीय और अतुलनीय ही है। और ये ही कारण है कि मत्र वेत्ता, आराधक तथा ज्ञानी सब ही उन्हे नमन व वन्दन करते हुए स्तोत्रो मे उनका उद्गान करते है, और अपने को धन्य मानते है; और धन्य होते है।

अष्ट चक्र नव द्वारा आयोध्या और उसके स्वामी

ऐसे पुरुष को उस गौरवशालिनी अयोध्या नगरी का स्वामी कहा गया है जिसके वर्णन को अथर्ववेद मे उल्लास के साथ गाया गया है। अयोध्या नगरी की उत्कृष्टता के लक्ष से ही मानव देह को भी योग मे उस ही के नाम से निरूपित करके कहा जाता रहा है। इस देह-नगरी का स्वामी भी उसी पुरातन अयोध्या नगरी के परम पुरुष हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर के समान निर्मल है। वह नगरी अयोध्या थी—अपराजिता थी, शाति का ही केन्द्र थी। इस देह नगरी मे रहने वाला स्वामी आत्मा जब वैसी ही अयोध्या का पति हो जावे, शत्रु विहीन (कर्म रिपु विहीन) हो जाय, परम शात तथा उद्वेग तथा आयुध रहित प्रशम व सम परिणामो वाला हो जाये, तो यह देह नगरी भी उसी अयोध्या नगरी की ही प्रतिकृति हो जाय। वह प्राचीन नगरी अष्ट चक्र, नव द्वारा तथा स्वर्ण मण्डप विभूषित कही गई,—तो यह देह—नगरी भी अष्ट चक्रमय, नवद्वार सहित तथा हिरण्य—प्रकाश के ज्योतिषपिण्ड सहित ही होती है, शर्त इतनी ही हैं कि प्राचीन अयोध्या नगरी के स्वामी के तुल्य ही आत्मा पूर्ण पुरुष रूप मे अपने को परिणमित कर ले।

अष्ट चक्र नव द्वार तथा स्वर्ण मण्डप मय अयोध्या नगरी—

(ये अष्ट चक्र तथा नव द्वार तथा दिव्य ज्योतिष्मान स्वर्ण मण्डप इस देह अयोध्या नगरी मे कौन से हैं ?)

कर्म कांडी ऋषिगण योग रहस्य के लिये लालयित रहते थे

अष्ट चक्रो आदि का विज्ञान योग-विज्ञान मे है। उनके योग रहस्य को जानने के लिए मत्र द्रष्टा ऋषिगण भी उस पूर्व काल मे कितने लालायित रहते थे, यह निम्न मत्र से विदित होता है। उन वैदिक आर्यों मे यज्ञादि का प्रचलन ही अधिक था। उनमे आरम्भ मे अध्यात्म—विद्या का प्रादुर्भाव था ही नही। वे सब यज्ञादि को काम्य भाव से तथा पशुओ—आदि से करते थे, अत' उन यज्ञ-विधानी ऋषि-गणो को क्षत्रिय तीर्थंकर प्रणाली के अध्यात्म योग-विज्ञान एव रहस्यो का ज्ञान अविदित था। यह तो बाद मे वैदिक ब्राह्मणो को क्षत्रिय परम्परा द्वारा ही मिला है। वह मन्त्र इस प्रकार है—

नव त्रिचक्रा त्रिवृतो रथस्य क्वत्रयोबन्धुरो ये सनीडा ।
कदा योगो वाजिनो रासभस्य येन यज्ञं नासत्योपयाथ ।।[1]

अर्थ—

शरीररथ के त्रिचक्र कहा हैं ? त्रिवृत्त कौन से है ? बधूक पुष्प के समान रक्त वर्ण के कदर्प-वायु नामक, सकल्प व कामना से वासित जीव का वास कहा है ? ऊपर के तीन चक्र सहित नीड कहा हैं ? आनन्द घन रसाधार परमात्मा स्व शक्ति अभिन्न कहा शोभित है ? तथा वह शक्ति कब परमात्मा मे अभिन्न-लय को प्राप्त होती है ?—इसका भी हमे पता नही है। आपकी कृपा से ये योग सम्बन्धी बाते मुझे ज्ञात हो और मैं इन्हे जानकर योग का अभ्यास करू।

---

1. (ऋक्- स १ सूक्त ३४ मन्त्र ९)

यज्ञादि बाह्य कर्मकाण्ड मे ही रत ऋषिगणो को कहा से पता होता कि नीचे के तीन चक (मूलाधार, स्वाधिष्ठान तथा मणिपुर, जो क्रमश सूक्ष्म देह मे आधार, कद तथा नाभि प्रदेश मे लक्षित होते है) तथा ऊपर के तीन चक्र (अनाहत, विशुद्ध तथा आज्ञा) जो सूक्ष्म देह मे हृदय, कण्ठ और भ्रूमध्य मे लक्षित होते हैं, तथा इनके ऊपर दो नीड—ब्रह्मरन्ध्र तथा उसके भी ऊतर सहस्रदल पद्म, तथा प्राण-शक्ति तथा शक्ति से अभिन्न शक्तिमान जीव पुरुष का—जो कि योग विषय के सकेत मात्र है,—कहा है ?

अष्ट चक्रों का निरूपण

सूक्ष्म देहस्थ चक्र-ज्ञान तो देह को जिनालय मे परिणत करके जिनोपासना,—परम पुरुष भ० हिरण्यगर्भ जिनेन्द्र रूप निजोपासना करने वाले कर्मठ योगीन्द्र क्षत्रिय तीर्थंकर की प्रणाली मे तब प्रचलित था। उपनिषदो मे भी वह ज्ञान बाद मे ही आया। ये योग के ज्ञेय विषय है। वर्तमान योग प्रणालियो मे भी आठ चक्रो का कथन है। प्राचीन प्रणाली जो अब उपनिषदो मे आई है—उसमे आठ चक्र इस प्रकार बताये हैं—(१) मूलाधार (२) स्वाधिष्ठान (३) मणिपुर (४) सूर्यचक्र (५) चन्द्रचक्र (६) हृदय या अनाहत चक्र (७) विशुद्धि चक्र और (८) आज्ञाचक्र। पुरातन मे योग के चक्रो की क्या सज्ञाए थी—यह उपलब्ध जैन साहित्य मे भी अभी अज्ञात है। परतु आ० श्री शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव मे इन अष्ट चक्रो का ज्ञान इस प्रकार सकलित है—(१) नाभि (मणिपुर), (२) हृदय (अनाहत), (३) मुख (विशुद्धि या कण्ठ), (४) तालु (ललना), (५) दो नयन, (६) भ्रूकुटी (आज्ञाचक्र), (७) ब्रह्मरन्ध्र तथा (८) सहस्त्रार। यह सहस्त्रार ही देह—अयोध्या का स्वर्ण मण्डप—ज्योतिष मण्डल है। ब्रह्मरन्ध्र मे निर्मल परम ब्रह्मचक्र है। देह के नव द्वार,—दो कर्ण, दो चक्षु, दो नासापुट, एक मुख, एक मूल द्वार (गुदा-द्वार) तथा एक मूत्रद्वार (लिंग) है।

ऐसी दिव्य देह रूपी अयोध्या नगरी मे रहने वाला जीवात्मा पुरुष है। यह जीवात्मा आरभ मे तो बाह्यात्मा मिथ्यादृष्टि होता है, वह अपनी दृष्टि को अन्तर्मुखी कर के अन्तरात्मा के दर्शन मे आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द-रस को चखकर सम्यक् दृष्टि परिणमित होता है। तथा इसके अनन्तर वह अन्तरात्मा जब उर्ध्वदृष्टि होकर तन्मयता से परम पुरुष की आराधना करता है, तो यह ही परम पुरुष स्वरूप मे परिणत हो जाता है। यह ही हैरण्यगर्भ अध्यात्म योग की समस्त इति-वृत्ति है। इस अभ्यास के मध्य ही अन्तर्मुखी दृष्टि के उन्मीलन काल मे जब सूक्ष्म देह का स्तर उद्घाटित होता है तो उन अष्ट चक्रो का भी स्वत साक्षात्कार होता है। इसके अनन्तर ही भाव-लोक चित्त की निर्मलता होकर चित् स्वरूप,—ज्ञानस्वभाव की प्रसिद्धि होते होते सम्यक्-ज्ञान तथा अनन्तर आत्म-कृपा प्रसाद से केवल ज्ञान-भास्कर प्रकट हो जाता है और जीवात्मा परमात्मा स्वरूप मे देहस्थ रहता हुआ भी देहातीत हो जाता है। अन्तर्मुखी वृत्ति की स्थापना तथा उपयोग की निर्मल स्थिरता रूप अभ्यास ही चारित्र हैं। इनका सम्यक् स्वरूप आत्म-लक्ष से, आत्म-चिन्तना से, आत्म ध्यान से, विशुद्ध होता जाता

है। ऐसे आत्म-स्वरूप के उद्घाटन के अर्थ ही इस अध्यात्म योग का कथन है और यह भ० आदिनाथ हिरण्यगर्भ की जैन परम्परा मे वर्तमान मे भी प्राप्त है।

भगवान् की बावन गजा मूर्ति

योग के इन प्रथम प्रवक्ता भ० ऋषभनाथ की ८६ फुट ऊची विशाल मनोज्ञ प्रतिमा बडवानी के समीप त्रिपुरा पर्वत पर वर्तमान है, और आज भी वह अपनी मनोज्ञ प्रशात ध्यान मुद्रा से उसी वीतराग योग धर्म का बराबर सदेश दे रही है।

भगवान् बाहु वलि की प्रतिमा

उनके पुत्र बाहुवलि की ५७ फुट ऊची भव्य मूर्ति श्रवण वेलगोला (कर्नाटक मैसूर) मे भी उसी अनुपम सदेश को दे रही है।

योग धर्म प्राचीनतम और भ० हिरण्यगर्भ द्वारा शिक्षण

यह आर्हत् योग-धर्म प्राचीनतम युग से है। यह भगवान आदिनाथ हिरण्यगर्भ का ही शिक्षण है। उन्होने ही "तप" ध्यान एव अक्षर उद्गीथ-विद्या का सचार किया। उनके इस धर्म मे किसी भी धर्म को हीनाधिक या प्राचीन या सनातन कहने का प्रश्न ही नही है। उस परम पुरुष ने योग धर्म मे ऐसी उदार तथा विशाल तात्विक दृष्टि दी है कि सब धर्म, सब मत, सब नय उनके अनेकात के ही अङ्ग हैं। प्रत्येक दृष्टि तथा नय सपूर्ण को ही प्रकट करने के लिए हैं, सब विभिन्न मत तथा नय खण्ड खण्ड होकर भी अखण्ड के ही प्रकाश का उद्योत करते हैं, उनका इस अनेकात मे यथा-स्थान समादर है। योग धर्म के विश्व धर्म होने की यही विशेषता है। यह धर्म आत्म विज्ञान है। अत यह समस्त विश्व मानव आत्माओको समान कह कर आपस मे जोडता है। सामजस्य, समन्वय, समादर तथा सपूर्ण तत्व का आग्रह—यह सब इसकी विश्व धर्म होने की योग्यता है। सपूर्ण सत्य रूप निर्मल आत्मा, स्व स्वान्तर्मुखता से ध्यान का विषय है, अतः यह प्रत्येक के लिए चिर नवीन आत्मा रस लिये हुए है।

प्रशांत स्थिर आत्मा का ज्ञान

ऋग्वेद (५२/३८) मे उनका यह आत्म ज्ञान इस प्रकार प्रशसित हुआ है—

> "असूत पूर्वं वृषभो ज्यायनिम' अस्य शुरुध सन्ति पूर्वी.।
> दिवो न पाता विदथस्य धीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवोदधाथे।"

जैसे जल से भरा मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है, जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी ज्ञान के प्रतिपादक ऋषभ महान् है, उनका शासन वर दे। उनके शासन मे ऋषि-परम्परा

-से प्राप्त पूर्वज्ञात आत्मा के शत्रुओ क्रोधादि का विध्वसक हो। दोनो (ससारी और मुक्त) आत्माए अपने ही आत्मा के गुणो से चमकती हैं। अत. वे राजा है। वे पूर्ण ज्ञान के आगार है। और आत्म पतन नही होने देते, (आत्मा को चचल नही होने देते)।

स्वाश्रित साधना

स्वाश्रित साधना की उद्घोषणा तीर्थंकर ऋषभदेव ने सर्व प्रथम की कि मानव अपनी शक्ति का विकास कर आत्मा से परमात्मा बन सकता है। ऋग्वेद ने उनकी उस आत्म साधना के स्वरूप का भी विवेचन किया है।

अलौकिक रूपक में योग धर्म का स्वरूप वर्णन

चत्वारि शृगास्त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षा सप्त हस्ता सो अस्य।
त्रिधावद्धो वृषभो रोरवीति महादेवो मर्त्यानाविवेश ॥

जिसके चार शृ ग-अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, और अनन्त वीर्य है। तीन पाद हैं सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र है। दो शीर्ष केवलज्ञान और मुक्ति है। तथा जो मन वचन और काय इन त्रय-योगो से बद्ध है, सयत है, उस वृषभ ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मानव के भीतर ही आवास करता है।

जैन धर्म का मौलिक इतिहास-प्रथम भाग तीर्थंकर खण्ड मे भगवान ऋषभदेव का विस्तार से चारित्र का वर्णन किया गया है। और यह पठनीय व मननीय है। इस ग्रन्थ की भूमिका देवेन्द्र मुनि ने लिखी है और उसमे शोधपूर्ण तथ्यो का सग्रह किया गया है।

उपनिषदों में तीर्थंकर के तत्वो का प्रभाव

उपनिषदो मे श्वेताश्वतर उपनिषद बडा बहूमूल्य माना जाता है। हम उसके उद्धरणो को प्रस्तुत करके भगवान् हिरण्यगर्भ ऋषभदेव की मान्यता और आत्म साधना किस प्रकार आई है यह यहा स्पष्ट करेंगे। योग शासन या तपोयोग रूप भगवान् ऋषभदेव की विशिष्ट आत्म साधना के सदर्भ मे इसका यहा अध्ययन अन्तरग साक्षी के रूप मे ही हम दे रहे है।

डा० राधाकृष्णन ने प्रावीनतम उपनिषदो का कालमान ईसा पूर्व आठवी सदी से ईसा पूर्व की तीसरी सदी तक माना है। तथा जैन तीर्थंकर भगवान पार्श्व का जन्म ईसा पूर्व ८७७ और निर्वाण ईसा पूर्व ७७७ एच. सी. राय चौधरी ने पोलीटिकल हिस्ट्री आफ एशियट इण्डिया पृ ५२ पर माना है। अत प्राचीनतय उपनिषद भगवान् पार्श्व के बाद के है। भ० पार्श्वनाथ ने यज्ञ आदि का अत्यधिक विरोध किया था और आध्यामिक-साधना पर बल दिया था, जिसका प्रभाव वैदिक ऋषियो पर भी

पडा और उन्होने उपनिषदो मे यज्ञो का विरोध किया। उन्होने स्पष्ट कहा—यज्ञ विनाशी और दुर्बल साधन है। जो मूढ है, इनको श्रेय मानते है, वे वार वार जरा और मृत्यु को प्राप्त होते रहते हैं—मुण्डकोपनिषद १/२/१७ (श्री देवेन्द्र मुनि की भूमिका पृ. ६३१)

वेदो को गीता मे अपरा विद्या कहा गया है जो मोक्षमूलक नही हैं। इनमे देव स्तुतिया व इतिहास आदि हैं। वेद साहित्य मे आत्मा और मोक्ष की कल्पना नही है। उपनिषद काल मे आने पर वेदो का ध्यान इस तरफ गया। क्योकि तब भ० पार्श्वनाथ का तीर्थ चल रहा था और आत्या और मोक्ष की चर्चा व योग व आत्म साधनाओ की चर्चा उनके शासन मे होती थी। तब उपनिषदो का अध्यात्म-विद्या के अर्थ निर्माण आरम्भ हुआ।

वर्णन साम्यता

"तदेवाग्निस्तदादित्यस्त द्वायुस्तदुचन्द्रमा ।
तदेव शुक्रं तद्ब्रह्म तदापस्तत्प्रजापति ॥[1]

वे (परमात्मा तत्व) अग्नि हैं, केवल ज्ञान (सूर्य) हैं, सर्वग ज्ञान (वायु) हैं, वे ही योगीजन के हृदय कुमुदो का विकास करने वाले ज्योतिष्मान्) चन्द्रमा हैं। वे ही निर्मल शुक्ल ज्योति से देदीप्यमान शुक्र नक्षत्र है, वे ही ब्रह्म आत्मा तत्व हैं, वे ही जीवन जल हैं और वे ही प्रजाओ (प्रजा जन ज्ञान व पर्यायो) के पालन हार प्रजापति हैं।

इस श्लोक के भाष्य मे श्री शकराचार्य ने ब्रह्म तथा प्रजापति का अर्थ यह दिया है—

"तद ब्रह्म हिरण्यगर्भात्मा, तदाप, स प्रजापति विराडात्मा।"

अर्थात्—वही ब्रह्म भगवान, हिरण्यगर्भ, वही जल और वही विराट् आत्मा, परम आत्मा है।

भगवान् हिरण्यगर्भ का यह वर्णन जिस प्रकार ज्योतिष्मान् आदि रूपो मे हुआ है, वह जैनो के ध्यान के वर्णन के अनुरूप ही है। आचार्य सोमदेव ने अर्हन्तध्यान मे वर्णन किया है—

भुवमानन्द सस्यानामम्भ स्तृष्णानलार्चिषां।
पवनं दोषरेणू नामाग्निसेनोवनीरुहाम् ॥
यजमान सदर्थानां व्योमालेपादि संपदाम्।
भानुं भव्यारविन्दानां चन्द्रं मोक्षामृतश्रियाम् ॥[2]

वे आनन्द रूपी धान्य की उत्पत्ति के लिए पृथ्वी, तृष्णा रूपी अग्नि की लपटो को शान्त करने के लिए जल, दोष रूपी धूलि को हटाने के लिए वायु, पाप रूपी वृक्षो को जलाने के लिए अग्नि, भव्य रूपी कमलो के विकास के लिए अर्चि (सूर्य) मोक्ष रूपी अमृत के लिए चन्द्रमा है।

1 (श्वेता० उप ४/२) 2. (उपासकाध्ययन६८३–६८४)

ब्रह्मा तथा प्रजापति के लिए उन्होने स्पष्ट किया है—

"आत्मनि मोक्षे ज्ञाने वृत्ते ताते च भरतस्य राजस्य ।
ब्रह्मेति गोः प्रगीता न चापरो विद्यते ब्रह्मा ।।"[1]

अर्थात्—आत्मा, मोक्ष, ज्ञान, चारित्र के प्रसग मे जिनका ब्रह्मा के रूप मे प्रकृष्ट गान किया गया है, स्तुतिया की गई है, वे चक्रवर्ती महाराज भरत के पिता आदि-तीर्थंकर, आदिनाथ ऋषभनाथ ही हैं, अन्य कोई ब्रह्मा नही है ।

महर्षि श्वेताश्वतर ने इन ही भगवान् हिरण्यगर्भ की इस प्रकार स्तुति की है—

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि ।
हिरण्यगर्भः जनयामास पूर्वं स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ।।

वे जो शिव स्वरूप, देव शक्तियो के कारण है तथा देव-शक्तियो के उद्भव के भी कारण है, जो विश्व के सम्राट (पूज्य) रुद्र, (महान्) तथा महर्षि (सर्वज्ञ) है, जो पूर्व (आदिकाल) मे हिरण्य-गर्भ हुए, अग्रज हुए,—वे हमे सद्बुद्धि से सयुक्त करे । यह मत्र इसी उपनिषद मे अध्याय ४ मत्र १२ पर इस साधारण बदल के साथ पुनरुक्त हुआ है—पक्ति तीन मे "हिरण्यगर्भ पश्यत जायमान" कहा गया है ।

श्वेताश्वतरोपनिषद में हिरण्यगर्भ ऋषभदेव तथा उनकी सकल ध्यान के रूप में मान्यता तथा उनके तपोयोग का वर्णन

महर्षि श्वेताश्वर ने कहा है "ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्व पाशैः" (अध्याय मत्र ८) तथा "ज्ञात्वा देव सर्व पाशापहानि"—अर्थात्–परमात्मा दिव्य हिरण्यगर्भ भगवान् का ज्ञान होने पर साधक के सर्व पाश, कर्म-बधन से मुक्ति हो जाती है । इस देव के साक्षात्कार के लिये ही उन्होने ध्यान का विधान किया है । इस परमात्मा-ब्रह्म को उन्होने आत्म-सस्थ माना है ।

एतज्ज्ञेतं नित्यमेवात्मसस्थ नातः परं वेदितव्यं हिकिञ्चित् ।। (अ० १ मंत्र १२)

अर्थात्—अपने आत्मा मे नित्य स्थित इस आत्म-ब्रह्म को जानना चाहिये, और इससे बढ कर और कोई ज्ञातव्य पदार्थ नही है । इस ब्रह्म-साक्षात्कार के लिये मन्त्र १३ मे प्रणव-चिन्तन को साधन कहा गया है और भगवान् हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर द्वारा अक्षर-विद्या उद्गीथ की ही परम्परा मे ही यह प्रणव चिन्तन का उपदेश है और उसे ही उन्होने कहा है ।

---

1. उपा० अध्य १८२ 2. श्वेता०उप० ३/४

स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्यान निर्मथनाभ्याद्देवं पश्येन्निगूढवत् ।। (अ० १ मन्त्र १४)

अपने देह को अरणि और प्रणव को उत्तर-अरणि करके ध्यान रूप मथन के अभ्यास से देव—स्वरूप परमात्मा को निगूढवत्-छिपा हुआ देखें। जैसे काष्ठ मे अग्नि का सूक्ष्म रूप छिपा है, वैसे ही ध्यान के अभ्यास से हिरण्यगर्भ प्रभु आत्मा स्वरूप को छिपे हुए अग्नि के समान देखे, अनुभव करें।

इस प्रकार हैरण्यगर्भ अक्षर विद्या द्वारा ध्यान का विधान करके महर्षि ने आगे ध्यान की सिद्धि के लिये मन्त्र १५ मे भेद विज्ञान की विधि कही है— तिल मे तैल, दही मे घी, स्रोतो मे जल और काष्ठ मे अग्नि जिस प्रकार अलग देखी जाती है वैसे ही सत्य (सम्यक्) तप से जो पुरुष आत्मा को देखने का प्रयत्न करता है उसे यह आत्मा आत्मा मे ही दिखाई देता है। उसके बाद द्वितीय अध्याय मे जो कुछ भी कहा है, वह तो अनुपमरीत्या ही सर्वज्ञ योग-रहस्य को प्रतिध्वनित करता है।

इस द्वितीय अध्याय मे महर्षि ने बहुत स्पष्ट शब्द मे सविता देव से प्रार्थना करने का उपदेश किया है। योग के रहस्य के ज्ञाता तथा आत्म-सत्य देव को जानने की प्रेरणा करने वाले महर्षि एक बाह्य प्राकृत सूर्य की प्रार्थना के लिए उपदेश करते हो —यह तो युक्ति-सगत भी नही। कुछ पाश्चात्य विद्वानो ने सूर्य, चन्द्र, वृक्ष आदि के प्रतीक से किये गये भगवान् हिरण्यगर्भ के वर्णन को न समझकर योगीश्वर आर्य जनो को अनात्म प्राकृत देवो (Elemental gods) के पूजा करने वाला प्रकट करके एक बहुत बडी भ्राति को ही फैलाया है। वेद, उपनिषद्, व अध्यात्मा-विद्या के प्रतीकात्मक वर्णनो को न समझने के कारण ही ऐसे मत प्रकट हुए हैं।

इस उपनिषद् मे जिस-सविता देव की प्रार्थना की प्रेरणा से अध्याय का प्रारम्भ हुआ है— वह प्राकृत सूर्य नही है, यह ज्ञान-सविता, केवल ज्ञान भास्कर स्वय प्रथम व आदि भगवान ही है— जिनके लिये यह प्रेरणा की गई है—

युञ्जान प्रथमं मनस्तत्वाय सविता धियः।
अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य पृथिव्या अध्याभरत ।। (२/१)

अर्थ—अग्नि आदि ज्योतियो की अवलोकन कर तत्व ज्ञान के लिये, केवल ज्ञान भास्कर प्रभु पृथ्वी के ऊपर, यानी पार्थिव तत्व से ऊपर के तत्व ज्ञान के लिये हमारे मन व बुद्धियो को सयुक्त करते हुये स्थापित करें अर्थात् वह केवल ज्ञान सविता हमारे मन, प्राण (बुद्धियो) को अलौकिक अध्यात्म तत्व ज्ञान के लिए सुस्थिर करे। इस प्रकार लोकोत्तर ज्ञान के अर्थ ज्ञान-सविता हिरण्यगर्भ देव से अनुज्ञा, प्रार्थना की गई है।

युक्तेन मनसा वयं देवस्य सवितु' सवे ।
सुवर्गेयाय शक्त्या ।। (२/२)

अर्थ—तत्व-ज्ञान के लिये मन को जगाने के लिये उस देव का सब (अनुज्ञा) मिलने पर, सुवर्गेय (मोक्ष रूप स्वर्ग प्राप्ति के हेतु भूत) ध्यान-कर्म के लिये हम यथा शक्ति प्रयत्न करेंगे। स्वर्ग शब्द की व्याख्या भी शकर भाष्य मे यह कह दी गई है "परमात्मवचनो अत्र स्वर्ग शब्द" यहाँ स्वर्ग शब्द परमात्मा वाची है। परमात्म-प्राप्ति रूप मोक्ष के हेतु भूत ध्यान-कर्म के लिए इस प्रकार ज्ञान सविता-देव की अनुज्ञा, अनुमति को आवश्यक कहा गया है।

युक्त्वाय मनसा देवान् सुवर्यतो धियादिवम् ।
वृहद्ज्योति करिष्यत' सविता प्रसुवातितान् ।। (२/३)

सुव (स्वर्ग) अर्थात् पूर्णानन्द आत्मा के प्रति यत., जाती हुई देवान् (मन आदि इन्द्रिय शक्तियो के) तथा जो धिया (सम्यग्दर्शन) के द्वारा दिवम्-द्योतन स्वभाव चेतन्यैकरस वृहद् ज्योति, महत् आत्मा-ज्योति को प्रकाशित करेगी (अनुभव करेगी), उन मन व इन्द्रियो को वह केवल-ज्ञान-भास्कर अनुज्ञा (सामर्थ्य) प्रदान करता है। अर्थात् मन व इन्द्रियाँ विषयो से निवृत्त होकर आत्माभिमुखी होकर जिस प्रकार आत्मा को ही प्रकाशित करे, वैसी अनुज्ञा (सामर्थ्य) उन्हे वह ज्ञान-सविता प्रदान करे।

युञ्जते मन उत युञ्जते धियो,विप्रा विप्रस्य बृहतो विपश्चितः ।
वि होत्रा दधे वयुनाविदेक, इन्मही देवस्व सवितुः परिष्टुतिः ।। (२/४)

जो साधक गण मन व अन्य इन्द्रियो को परमात्मा मे लगाते है, उनको चाहिए कि जिस एक प्रज्ञावित् (सर्वज्ञ प्रभु) ने होतृ-साध्य-(आत्म-यज्ञ के क्रियाओ का विधान किया, प्रथम धर्म-शासन का विधान किया)—उस महान्, सर्वज्ञ और विप्र (विशेष रूप से व्यापक-सर्वगत) केवल ज्ञान भास्कर देव, भगवान् हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर की ही महती स्तुति करे।

"वि होत्रा दधे"—जिसने होत्रा यानी यज्ञ-क्रिआओ का विधान किया और जो वयुनावित्,-प्रज्ञावित् सब कुछ जानने वाला है, वह एक अर्थात् जिसने इन आत्म-यज्ञ क्रियाओ का विधान किया, वह प्रज्ञानवान सविता एक ही है। यहाँ केवल ज्ञान भास्कर भगवान् हिरण्यगर्भ पुरुप द्वारा यज्ञ (आत्म यज्ञ) क्रियाओ के विधान होने का उल्लेख वैसा ही हुआ है जैसा पुरुप सूक्त मे हुआ है, जिसे हम पूर्व मे वतला चुके हैं।

युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिर्विश्लोक येतु पथ्येव सूरेः ।
शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा, आये धामानि दिव्यानि तस्थु । (२/५)

हे मन व इन्द्रियो की अधिष्ठात्री शक्तियो ! तुम दोनो के द्वारा प्रकाशनीय (अनुभवनीय) होने के कारण, तुम से सम्बन्ध रखने वाले चिरकालीन ब्रह्म मे, आत्मा मे, मैं मन को नमस्कार (चित्त-प्रणिधान आदि) द्वारा नियुक्त, समाहित करता हूँ। सन्मार्ग मे विद्यमान विद्वान की भाति मेरा यह कीर्तनीय श्लोक (स्तुति पाठ) लोक मे विस्तार को प्राप्त हो। जिन्होने सब ओर से सम्पूर्ण दिव्य द्युलोकान्तर्गत धामो पर अधिकार कर रखा है, वे अमृत (हिरण्यगर्भ) के पुत्र श्रवण करें।

"विश्वे अमृतस्य पुत्रा." का शकर भाष्य है—"विश्वेऽमृतस्य ब्रह्मण पुत्रा. सूरात्मनो हिरण्यगर्भस्य"—अर्थात् अमृत-ब्रह्मा हिरण्यगर्भ के सूर्य रूप समस्त पुत्र।

भगवान् हिरण्यगर्भ के ज्ञान पुत्र यानी अनुगामी तेजस्वी ज्ञानी जन इस प्रार्थना रूप वाक्य को सुने, यह तात्पर्य है।

अग्निर्यत्राभिमथ्यते वायुर्यत्राधिरुध्यते
सोमोयत्रातिरिच्यते, तत्र संजायते मन ॥ (२/६)

जहाँ अग्नि का मथन होता है, (अग्नि परमात्मा अविद्या तत्कार्यस्य दाहकत्वात्-(शकर भाष्य) अग्नि परमात्मा को कहते हैं। क्योकि वह अविद्या को दग्ध करने वाला है) अर्थात् जहाँ ध्यान रूप निर्मन्थन द्वारा परमात्मा-अग्नि का पुरुष मे मन्थन होता है, तथा जहाँ वायु-प्राणवायु उस ध्यान द्वारा अवरुद्ध होता है, तथा जहाँ सोमरस-समरस, समाधि रस की अधिकता होती है, वहाँ मन सुष्ठु प्रकार से उदय होता है यानी आत्माकार वृत्ति को लेकर ही मन रूपातरित होकर प्रवृत्ति करता है।

सवित्रा प्रसवेन जुषेत ब्रह्म पूर्व्यम्।
तत्र योनिं कृणवसे न हि ते पूर्तमक्षिपत् ॥ (२/७)

केवल ज्ञान भास्कर हिरण्यगर्भ प्रभु की ही अनुज्ञा लेकर इस चिरन्तन आत्म-ब्रह्म का सेवन करना चाहिये। तब, उस सविता मे (योनि) निष्ठा को (कृणव से) करो, सम्यक्-प्रतीति (श्रद्धा) को करो। इससे तुम्हारा पूर्त (इष्ट) कर्म पुनः भोग के लिए बंधन नही करेगा।

आगे महर्षि ने ध्यान के लिये ध्यानी का जो चित्र प्रस्तुत किया है वह जैनो के जिनालय मे प्रतिष्ठित भगवान् आदि-जिनेश की प्रतिमा के तुल्य ही है—

त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं, हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य।
ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान्, स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥२/८॥

'शिर, ग्रीवा और वक्ष-स्थल तीनो को ऊचे रखते हुए शरीर को सीधा रखकर मन के द्वारा

इन्द्रियो को हृदव मे सन्निविष्ट कर विद्वान् ब्रह्म-नौका के द्वारा सपूर्ण भयानक जल-प्रवाहो, ससार नदी-प्रवाहो को पार कर जाता है।

ब्रह्मैवोडुप स्तरणसाधन तेन ब्रह्मोडुपेन। ब्रह्म शब्द प्रणव वर्णयन्ति। तेनोडुप स्थानीयेन प्रणवेन, काकक्षिवदुभयत्र सबध्यते। तेनोपमहृत्य तेन प्रतरेतातिक्रामद्विद्वान् स्रोतासि ससार सरित स्वाभाविकाविद्याकामकर्म प्रवर्तितानि भयावहानि प्रेत तिर्यगूर्ध्व प्राप्तिकराणि पुनरावृत्ति भाञ्जि" (शकर भाष्य) अर्थात्-ब्रह्म ही उडुप-तरण का साधन है—उस ब्रह्म रूप उडुप के द्वारा। "ब्रह्म" शब्द का अर्थ प्रणव, उस उडुप स्थानीय प्रणव द्वारा काकाक्षिन्याय से इस प्रणव का सनिवेश और तरण दोनो के साथ सम्बन्ध है अर्थात् प्रणव के द्वारा मन और इन्द्रियो को नियमित कर प्रणव ही से विद्वान ससार सरिता के स्वाभाविक अविद्या, कामना और कर्मो द्वारा प्रवर्तित भयावह-प्रेत तिर्यक् एव उर्ध्व योनियो को कराने वाले पुनरावृत्ति के हेतु-भूत स्रोतो को पार कर लेना है।

प्राणायाम का क्रम, उसकी महत्ता का वर्णन, ध्यान के लिये उपयुक्त स्थानो का निर्देश, योगसिद्धि के पूर्व लक्षण योगाग्निमय देह की प्राप्ति व उसके लक्षण आदि को बताकर महर्षि ने योग सिद्धि या तत्त्व ज्ञान का प्रभाव इसके बाद इस प्रकार कहा है—

यथैव बिम्ब मृदयोपलिप्त, तेजोमय भ्राजते तत्सुधान्तम्।
तद्वात्मतत्त्व प्रसमीक्ष्य देही, एकः कृतार्थो भवते वीतशोक ॥ (२/१४)

जिस प्रकार मृत्तिका से मलीन हुआ बिम्ब (सोने चादी) का टुकडा, शोधन किये जाने पर तेजो मय होकर चमकने लगता है उसी प्रकार देहधारी जीव आत्म तत्व का शोधन करके, व उनका साक्षात्कार करके अद्वितीय, कृतकृत्य और शोक रहित हो जाता है। कर्म-रज से आवृत्त आत्म तत्त्व जब कर्म-रज से शोधित व मुक्त हो जाता है तब वह अपने शुद्ध स्वरूप मे प्रकाशित हो जाता है।

यदात्मतत्वेन तु, ब्रह्मतत्त्वं, दीपोपमेनेह युक्त प्रपश्येत्।
अज ध्रुवं सर्वतत्वैर्विशुद्धं, ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्वपाशै ॥ (२/१५)

जिस समय योगी दीपक के समान प्रकाश स्वरूप ब्रह्मतत्व का,—आत्म भाव से साक्षात्कार करता है, उस समय उस अजन्मा निश्चल और समस्त तत्त्वो से विशुद्ध देव को जानकर वह (योगी) संपूर्ण बधनो से मुक्त हो जाता है। जिस प्रकार दीपक के प्रकाश मे 'स्वय दीपक व दीपक' के पास के अन्य पदार्थ देखे जाते है—वैसे ही ज्ञायक आत्मा के प्रकाश मे स्व तथा पर दोनो ही तत्त्व प्रकाशित होते है। हृदय मे सर्व प्रथम दीपकाकार ज्योति ही अनुभव होती है—उसी मे ज्ञायक पूर्णशक्त आत्म भाव किया जाता है।

दीप के समान प्रकाश स्वरूप का यहा वर्णन हुआ, वह जैनो के एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान को इगित करता है।

> ज पुण सुग्णिप्पकंप निवाय सरणप्पईवमिव चित्तं।
> उप्पाय ठिइ-भगा इयाणमेगंमि पज्जाए ।।[1]

वायु से रहित घर मे धरे दीपक के समान जो चित्त (अन्तःकरण) उत्पाद स्थिति और भग (व्यय) के किसी एक ही पर्याय मे अतिशय स्थिर होता है, वह एकत्व-वितर्क-अविचार नाम का शुक्ल ध्यान है अर्थात् जिस प्रकार गृह-स्थित दीपक वायु के अभाव मे कम्पन से सर्वथा रहित हुआ स्थिर रूप मे जलता है, उसकी लौ इधर-उधर नही घूमती, उसी प्रकार ध्यान की अस्थिरता के कारणभूत राग द्वेष व मोह के न रहने से एकत्व वितर्क अविचार शुक्ल ध्यान स्थिर रहता है।

इस निर्वात स्थानीय दीप की उपमा से उपनिषद्कार ने भी सर्व तत्त्व विशुद्ध आत्म-तत्त्व का ही दर्शन होना कहा है। दीप उपमा से ब्रह्म तत्त्व को कहकर बताया है कि यह ही आत्म तत्त्व का साक्षात्कार है। ऐसे आत्म-स्वरूप देव हिरण्यगर्भ को जान कर जीव कर्म-बधन से रहित हो जाता है। निज स्वरूप व जिन स्वरूप की समानता ही है।

> एष ह देव प्रदिशोऽनुसर्वा, पूर्वो ह जात स उ गर्भे अन्त ।
> स एव जात स जनिष्यमाण, प्रत्यङ्जनास्तिष्ठति सर्वतोमुख ।। (२/१६)

यह देव ही सम्पूर्ण दिशा विदिशा है, यही (हिरण्यगर्भ रूप से) पहले उत्पन्न हुआ था। यही गर्भ के अन्तर्गत रहा। यही उत्पन्न हुआ, और यही उत्पन्न होने वाला है। यह समस्त जीवो मे प्रतिष्ठित और सर्वतोमुख है—

"पूर्वाहजात"—का शकर भाष्य है—सर्वा पूर्वो ह जात सर्वस्माद् हिरण्यगर्भात्मना स उ गर्भे न्तर्वर्तमान', स एव जात शिशु"—यह हिरण्यगर्भ सबसे पहले उत्पन्न हुआ था। अर्थात् भगवान् हिरण्यगर्भ ही सर्व प्रथम योग पुरुष, परम पुरुष हुए थे। उन्होने सर्व प्रथम आत्म-साक्षात्कार किया, और परमात्मा बने। यह ही शिशु, निर्मल पर्याय रूप से उत्पन्न हुआ है। यह उत्पन्न होने वाला भी है, यानी द्रव्य रूप से भी यही प्रकट होने वाला है।

हिरण्यगर्भ प्रभु के समान ही सब ही प्राणियो में वह आत्मा परमात्मा स्थित है, गर्भ (अव्यक्त) अवस्था मे वह ही चैतन्य प्रभु है। वही शिशु रूप से व्यक्त (उत्पन्न) होने वाला है, और वह ही सब प्राणियो का मुख (स्वरूप) है, यानी सब प्राणियो के स्वरूप उसी के समान है। इसलिये

---

1 (ध्यानशतक ७६)

वह ही सर्वतोमुख है। गर्भ और शिशु सज्ञाओ से शक्ति रूप (अव्यक्त) और व्यक्ति रूप जीव अवस्थाए इगित की गई है।

यो देवो अग्नौ यो अप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनम ।। (२/१७)

उस देव रूप आत्मा देव ही अग्नि कायिक जीवो मे है, जल-कायिक जीवो मे है, वह चैतन्य तत्त्व ही समस्त लोको मे,—ससार मण्डल मे सर्व आपूर्ण व्याप्त है, वह ही सब औषधियो और वनस्पतियो मे भी वनस्पति—कायिक जीव रूप से विद्यमान हे। उस देव को नमस्कार है, नमस्कार है।

इस प्रकार देव-हिरण्यगर्भ को चैतन्य आत्म-पुरुष विराट् रूप मे बतलाकर महर्षि ने तृतीय अध्याय मे उसके शासक व शासनीय भाव का समर्थन किया है।

एकोजालवानीशत ईशनीभि सर्वाँल्लोकानीशत ईशनीभि ।
य एवैक उद्भवे सम्भवे च य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ।। (३-१)

य. एको-जो एक-निर्मल परम आत्मा भगवान् हिरण्यगर्भ है, वह जालवान् है। "जाल माया", जाल का अर्थ है—माया, ऐश्वर्य। भगवान् हिरण्यगर्भ को केवल ज्ञान होने के अनन्तर तीर्थंकर नाम-कर्म के प्रभाव से समवशरण का ऐश्वर्य प्राप्त हुआ। वह परमात्मा इस प्रकार उस ऐश्वर्य-जाल से जालवान् हुआ। उस ऐश्वर्य-सृष्टि के उपरात भगवान् का विहार हुआ,—धर्म देशना का प्रवाह प्रकाशित हुआ, और इस तरह उसने धर्म शासक, धर्म सस्थापक रूप से (धर्म) शासन किया। उसने किसके द्वारा शासन किया है? (ईशनीभि, अपनी दिव्य (परम) शक्तियो के द्वारा, शासन किया है। किनका शासन किया हे? उसने उन शक्तियो द्वारो सम्पूर्ण तीनो लोको को योग से शासित किया है। किस समय? उद्भव-अर्थात् विभूतियो (ऐश्वर्य) से योग होने पर और (जगत् के) सम्भव, प्रादुर्भाव के समय,—यानी बहुत प्राचीतम काल मे ही शासन किया है। जो इसे जानते हैं, वे अमृत, (अमरण धर्मा) अमर हो जाते है। शंकर भाष्य मे जाल का अर्थ—माया (प्रपच) किया है। इससे उन्होने भगवान् के लौकिक शासन को ही इगित किया है। मगर इस अध्यात्म-प्रकरण मे यह ही अर्थ युक्ति-सगत है जो यहा हम ने प्रकट किया है। भगवान् ने समस्त विश्व, तीनो लोको के प्राणियो को धर्म देशना द्वारा धर्म मे,—आत्म-योग मे शासित किया। इस शासन की विशिष्टता थी कि इसमे शासक और शासन का भेद समाप्त था—और शासन की "नीति" आत्मानुशासन थी। ऐसे आत्मानुशासन को भगवान् हिरण्यगर्भ आदि-जिनेश ने प्रवर्तित किया था। इन्द्र द्वारा निर्मित दिव्य-समवशरण मे विराजमान रह कर निरक्षरी दिव्य-ध्वनि द्वारा योग शासन (आत्मानुशासन) प्रवाहित किया था।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुर्य इमाँल्लोकानीशत ईशनीभिः ।
प्रत्यङ् जनास्तिष्ठति सचुकोचान्तकाले, ससृज्य विश्वा भुवनानि गोपा. ॥ (३-२)

वह एक ही रुद्र (महान) है, इसलिए (ज्ञानी साधक जन) उससे भिन्न किसी अन्य ध्येय वस्तु के लिए अपेक्षा नही करते । वह अपनी दिव्य-देव शक्तियो द्वारा इन (त्रय) लोको का (धर्म) शासन करता है । वह समस्त जीवो के भीतर स्थित है अर्थात् उनका आराध्य है । और ऐसे वह सम्पूर्ण लोको की रचना (व्यवस्था) करके, उन्हे अपने धर्म शासन से अनुरजित व प्राणवान् करके, जीवो का धर्म-रक्षक होकर प्रलय काल मे देह-ससार के अन्तकाल मे उन्हे (दिव्य शक्तियो को) सकुचित कर लेता है, परित्यक्त कर देता है । यहा इस प्रकार इस हिरण्यगर्भ को ध्यान का ध्येय तथा आराध्य बताकर उसे ही ध्येय व आराध्य रूप से स्वीकार करने की प्रेरणा की है ।

वह तीर्थंकर देव नाम-कर्म के निमित्त से उत्पन्न समवशरणादि ऐश्वर्य को परित्याग करके अशरीरी सिद्ध अवस्था को प्राप्त करता हैं । अघाती नाम-कर्म के नाश के साथ ही वह समवशरणादि ऐश्वर्य समाप्त हो जाता है और सिद्ध पद मे सिद्धालय मे आरोहण हो जाता है ।

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात् ।
स बाहुभ्या धमति सपतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एक ॥ (३-३)

वह सब ओर नेत्रो वाला है, सब ओर मुखो वाला है, सब ओर भुजाओ और सब ओर पैर वाला है । वह एक मात्र देव (प्रकाशमय परमात्मा) द्युलोक और पृथ्वी रूप यानी विराट् स्वरूप की रचना करता हुआ,—दो पैरो वाले मनुष्यो को (पतत्र, पतन से बचाने वाले) पैरो से युक्त करता है । धमति का अर्थ है सयोजन करता है—युक्त करता है । पैरो से चरण वो चारित्र-आचरण को कहा गया है ।

महर्षि ने यहा उस परम पुरुष के विराट् स्वरूप का कथन किया है । इस विराट् स्वरूप वर्णन की तुलना करें—पुरुष सूक्त १३ व १४ से जिसे ऊपर बतला आये है । नेत्र मुख व पैरो के सम्बन्ध मे भी उस पुरुष—सूक्त मे आये वर्णन से तुलना करे । महर्षि ने भी तत्समान ही यहा उस भगवान् परम पुरुष के अनन्त (मुख) ज्ञान, अनन्त (नेत्र) दर्शन, और अनन्त (चरण), चारित्र का ही बखान किया है ।

पुरुष सूक्त के मन्त्र को महर्षि श्वेताश्वतर ने अपने अध्याय ३ मे मन्त्र सख्या १४ के रूप ज्यो का त्यो लिया है । विष्णु-सहस्त्र-नाम स्तोत्र मे भी "अग्रणी गामणी श्रीमान्न्यायोनेता समीरणः । सहस्त्र-मूर्धा विश्वात्मा सहस्त्राक्ष सहस्त्रपात्" ऐसा वर्णन हुआ है ।

महर्षि श्वेताश्वतर ने सर्गादि के पूर्व उत्पन्न भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) की प्रार्थना की है कि हमें शुभ-बुद्धि से युक्त करे।

यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च ।
विश्वाधिपो रुद्रो महर्षि ॥
हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं ।
स नो बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु ॥ (३-४)

इसका पूरा अर्थ ऊपर में दे आये है।

या ते रुद्र शिवा तनूरघोरापापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ॥ (३-५)

हे महान् पूज्य ! आपकी जो, शिवा रूप (मगल रूप), प्रशात (प्रशमरस मय), अघोर (चन्द्र-मण्डल सदृश्य आह्लाद-कारिणी) व अपापकाशिनी—स्मरण मात्र से ही पापो का,—विकारो का नाश करने वाली मूर्ति है—, हे गिरिशन्त (गिरी-कैलास गिरी मे स्थित रह कर श-सुख का विस्तार करने वाले)—उस प्रशान्त प्रशम करने वाली मुख-मुद्रा के द्वारा हमारी ओर दृष्टिपात करो, हमे श्रेयस्-पथ से युक्त करो।

गिरिशत पद यहा बडा महत्वपूर्ण है। गिरि गुहाओ मे रह कर निर्ग्रन्थ मुनि जन प्राचीन काल मे तपस्या करके आत्म-साक्षात्कार करते थे, तथा नदियो के किनारे आश्रसे बना कर ऋषिगण उनसे आत्म-विद्या प्राप्त करके, उस विद्या का प्रसार करते थे। ऐसे उस प्राचीन काल मे दो धाराए प्रवाहित थी—यह प्रकट होता है।

यामिषु गिरिशन्त हस्ते विभर्ष्यस्तवे ।
शिवा गिरित्र ता कुरु मा हिंसी पुरुष जगत् ॥ (३-६)

हे गिरि कैलाश मे विहार करने वाले ! तुम जीवो की ओर छोडने के लिए जो (शब्द) बाण धारण करते हो,—हे गिरित्र,—गिरि की रक्षा करने वाले उसे शिव (मगल मय) करो। हमारे किसी पुरुष और जगत् की हिंसा मत करो —अर्थात् उनकी कुशल क्षेम रहे। आपकी अहिंसक वाणी रूप बाण हमारे शिव व कल्याण करने वाला हो। महर्षि ने भगवान् की धर्म—देशना रूप वाणी के श्रवण करने की कामना प्रकट की है। शकर भाष्य है— 'साकार ब्रह्म प्रदर्शयेत्यभिप्रेत-अर्थं प्रार्तिवान् अर्थात् यहा इस अभिप्रेत अर्थ की प्रार्थना की है कि हमे साकार ब्रह्म के दर्शन कराओ। प्रकट ही है कि साकार से अर्थ सकल स्वरूप से है सकल जिन स्वरूप का दर्शन होकर ही निष्कल परमात्मा स्वरूप की प्राप्ति का क्रम है। सकल अर्हत् व निष्कल सिद्ध ये ही दो ध्यान ध्येय है।

ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं, यथानिकाय सर्वभूतेषु गूढम् ।
विश्वस्यैकं परिवेष्टितारमीश त ज्ञात्वाऽमृता भवन्ति ।। (३–७)

उस हिरण्यगर्भ प्रभु पर्याय से उत्कृष्ट एव महान् जो द्रव्य ब्रह्म-आत्मा चैतन्य प्रभु है, जो समस्त प्राणियो मे उनके शरीर के अनुसार परिछिन्न है, तथा विश्व का एक मात्र परिवेष्टा है, उस परमेश्वर को जानकर प्राणी गण अमर हो जाते है ।

वह हिरण्यगर्भ प्रभु चैतन्य परम आत्म-प्रभु रूप निष्कल स्वरूप का ही अग्रणी सकल जिनेश्वर अर्हत् स्वरूप है । केवल ज्ञान मय सकल अर्हत् पर्याय से भी परे, जो स्वय परम स्वरूप नित्य भगवान सिद्ध आत्मा है, उस परम सिद्ध आत्मा के साक्षात्कार से अमृतत्व की प्राप्ति को महर्षि ने यहा कहा है । वह आत्म-तत्व सब मे (प्राणीमात्र मे) अवगाहित हो कर स्थित है, अर्थात् द्रव्य रूप से चैतन्य निर्मल सिद्ध परम आत्मा रूप ही सब प्राणी मात्र हैं । वही निर्मल स्वरूप सब मे द्रव्य रूप से स्थित है ।

वेदाहमेत पुरुष महान्तमादित्यवर्णंतमस परस्तात् ।
तमेव विदित्वातिमृत्येमेति, नान्य पथा विद्यतेऽयनाय ।। (३–८)

इस मन्त्र का अर्थ पूर्व मे पुरुष सूक्त के अर्थ के साथ बता चुके है । यह मन्त्रद्रष्टा-ऋषि के अनुभव को दिखाता हुआ बताता है कि उस महान् आदित्य वर्ण और तमसे अतीत परम ज्ञान मय पुरुष को मै जानता हू । इसे जानकर जीव मृत्यु के पार चला जाता है, परम पद की प्राप्ति के लिये उस पुरुष से भिन्न कोई मार्ग नही है । आदित्य वर्ण पद केवल ज्ञान भास्कर अर्हत् जिन स्वरूप को बताता है । महर्षि की यहा स्पष्ट घोषणा है कि मैंने उस देव-स्वरूप को जान लिया है, अनुभव कर लिया है । भक्तामर स्तोत्र मे भी आदित्य-वर्ण पद भ० वृषभेश्वर हिरण्यगर्भ के लिये कहा गया है । वेदात और उपनिषद ने आत्मा को अनिर्वचनीय माना है अत इस पुरुष विशिष्ट आदित्य वर्ण हिरण्यगर्भ सकल जिनेश्वर को ही जान लेने, अनुभव कर लेने की यहा घोषणा की है । आदित्य वर्ण पद से साकार ब्रह्म के केवल ज्ञान भास्कर सकल स्वरूप के ही अनुभव कर लेने की यहा घोषणा है और वह प्रथम योग वक्ता आदि जिनेश्वर हिरण्यगर्भ प्रभु ही है ।

यस्मात्परनापरमस्ति किंचिद् यस्मान्नाणीयोन ज्यायोऽस्ति कश्चित् ।
वृक्ष इव स्तब्धो दिवितिष्ठत्येक स्तेनेद पूर्णं पुरुषेण सर्वम् ।। (३–९)

जिससे उत्कृष्ट अन्य नही है, तथा जिससे सूक्ष्म या विराट् भी अन्य कोई नही है, वह परमतम परम आत्मा दिवि मे,–अपनी द्योतनात्मक महिमा मे वृक्ष के समान निश्चल भाव से प्रतिष्ठित है, उस पुरुष ने (अपने ज्ञान से) इस सब जगत् को आपूर्ण व्याप्त कर रखा है । वृक्ष के समान

निश्चल भाव से प्रतिष्ठित, वर्णन से भ० हिरण्यगर्भ आदिनाथ के खड्गासन् मे स्थिर अडोल भाव से सपलीन मुद्रा को व्यक्त किया गया है।

ततोयदुत्तरतर तदरूपमनामयम् य एतद्विदुर-
मृतास्ते भवन्त्यथेतरे दु खवमेवापियन्ति ॥ (३-१०)

जगत् से उत्तरतर, उत्कृष्ट है वह ज्ञान,—वह रूपादि व त्रिविध तापादि से रहित होने से अनामय (दु ख हीन) है,—जो इसे जानते है, अर्थात् अपने अमृत स्वरूप से "मैं" यही हू"—ऐसा जो अनुभव करते है वे अमृत,—अमरण धर्मा हो जाते है, और अन्य जो ऐसा नही जानते, दु ख को ही प्राप्त होते है। यहा प्रकट किया गया है कि जो पुद्गल के रूप रसादि से विलक्षण तथा दु ख हीन ज्ञान-आत्मा को अनुभव करके—मै यही अमृत स्वरूप हू —ऐसे अनुभव स्थिर रहते है वे ही अमृत हो जाते है, अन्य नही।

सर्वाननशिरोग्रीव सर्वभूतगुहाशय ।
सर्वव्यापी स भगवांस्तस्मात्सर्वगत शिव ॥३-११॥

आत्म पुरुष की सर्वात्मकता (अनन्त चतुष्टयता) को दिखाते हुये, यहां फिर से कहा गया है कि यह भगवान् सब मुखो वाला, सब शिरो वाला, सब ग्रीवावाला, सब प्राणियो के हृदय मे स्थित और सर्व व्यापी है, इसलिये वह सर्वगत है, शिव (मगल) रूप है। मुख, शिर, ग्रीवा आदि से उसके ज्ञान, दर्शन, शक्ति का परिचय दिया गया है, तथा हृदय स्थित कह कर उसे ध्येय—स्वरूप बताया गया है।

महान् प्रभुर्वै पुरुष सत्त्वस्यैष प्रवर्तक. ।
सुनिर्मलामिमां प्राप्तिमीशानो ज्योतिरव्ययः ॥३-१२॥

वह पुरुष (देह रूप पुर मे शयन करने वाला) महान् है, वह सत्व (प्रकाश) का, इस (स्वरूप-स्थिति रूप) निर्मल प्राप्ति के उद्देश्य से प्रवर्तक (प्रकाश करने वाला) है, तथा वह ईशान,—धर्म शासक,—ज्योति स्वरूप विशुद्ध विज्ञान प्रकाश स्वरूप और अव्यय अविनाशी है।

अंगुष्ठ मात्र पुरुषोऽन्तरात्मा,
सदा जनाना हृदये सन्निविष्ट ।
हृदा मन्वीशो मनसाभिक्लृप्तो,
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥३-१३

वह (हृदयाकाश के परिणाम की अपेक्षा से) अगुष्ठ मात्र पुरुष है, अन्तरात्मा है सर्वदा जीवो के हृदय मे स्थित है। ज्ञानाधिपति एव हृदय-स्थित-मन के द्वारा सुरक्षित है। जो इसे जानते है वे अमर हो जाते है। यहा देव हिरण्यगर्भ प्रभु को अन्तरात्मा मे स्थित करके आराधना करने का वर्णन किया गया है। अत कहा है कि वह हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर प्रभु जब अन्तरात्मा और हृदय-स्थित रूप मे जान लिया जाता है, तो ऐसा जानने वाले अमर हो जाते हे। भ ऋषभदेव को यहा ऋषि ने स्पष्ट रूप से ध्यान के लिए ध्येय ही स्वीकार नही किया है, बल्कि प्रेरणा की है कि उसे हृदय मे विराजमान करे और अमर पद प्राप्त करे।

इसके आगे मत्र १४ व १५ जो कहे गये है वे पुरुष सूक्त के ही क्रमश १ व २ मन्त्र है और उन्हे तथा उनके अर्थ हम पहले दे चुके है। इन दो मत्रो में उस परम पुरुष का अनन्त चतुष्टय स्वरूप तथा अक्षर रूप गुण व क्षर रूप देह व पर्याय से परे परम स्वरूप को दिखलाया गया। इसी स्वरूप को आगे फिर दिखलाया है।

सर्वत. पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरो मुखम्।
सर्वत श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ।।३-१६।।

उसके सब ओर हाथ पाव हैं—अर्थात् उसकी सामर्थ्य व गति सब ओर है, सब ओर आख है, वह सर्व दृष्टा है। सब ओर शिर है, सर्व ज्ञाता है, सब ओर मुख है, वह चतुर्मुख है, उसकी वाणी का प्रसार सब ही दिशाओ मे है, वह सर्वत्र कर्णों वाला है, सर्वत्र श्रुति मान है। अर्थात् उसका स्वरूप भौतिक ऐन्द्रिक रूप ही नही है, वह अतीन्द्रिय रूप भी है, वह लोक मे सब को (अपने ज्ञान से) व्याप्त करके स्थित है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरण वृहत् ।।

वह समस्त इन्द्रियो के गुणो से अवभासित होता हुआ भी, सकल (सशरीर) स्वरूप होता हुआ भी वह इन्द्रियो से रहित है, तथा सब का प्रभु, शासक और सब का महान् शरण-स्थल है। सकल साकार स्वरूप मे वह इन्द्रियो-सहित है तथा आत्म स्वरूप मे वह अतीन्द्रिय है—प्रभु, और एक मात्र शरण है, आराधनीय है।

नवद्वारे पूरे देही हसोलेलायते बहि।
वशी सर्वस्य लोकस्य स्थावरस्य चरस्य च ।।३-१८।।

चैतन्य आत्मा पुरुष सपूर्ण स्थावर और तिर्यंव जगत् का अधिष्ठाना है, तथा हस

(अविद्या जनित कार्य का हनन करने वाला) निर्मल जीवात्मा ही देहाभिमानी होकर नव द्वार वाले (देह रूप) पुर मे बाह्य विषयो का ग्रहण करने के लिये लालायित हो जाता है ।

अपाणि पादो जवनो ग्रहीता, पश्यत्यचक्षु स शृणोत्यकर्ण. ।

स वेत्ति वेद्य न च तस्यास्तिवेत्ता, तमाहुरग्र्यं पुरुष महान्तम् ।।

वह हाथ-पाव से रहित होकर भी वेग व क्षमता वाला है, नेत्र हीन होकर भी देखता है, कर्ण रहित होकर भी सुनता है, वह सम्पूर्ण ज्ञेय का ज्ञाता है किन्तु उसे अन्य कोई नही जानता, वह आप ही स्वय अपने को जानता है । इसे ही अग्रय पुरुष अग्रणी-सर्व प्रथम परम पुरुष होने वाला एव महान् पुरुष कहा गया है । इस मन्त्र मे महर्षि ने उस हिरण्यगर्भ पुरुप के निर्मल आत्मा स्वरूप का यहा दर्शन कराया है और बताया है कि वह अलिग ग्रहण इन्द्रिय-रहित होकर भी सर्वज्ञान सम्पूर्ण है, उसका अतीन्द्रिय स्वरूप है, उसका ज्ञान इन्द्रिय–रहितता से बाधित नही होता, वह आत्मा–रूप से ज्ञान स्वरूप ही है ।

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा, गुहायां निहितोऽस्य जन्तो ।

तमक्रतु पश्यति वीतशोको, धातु प्रसादान्महिमानमीशम् ।।३-२०।।

वह परम स्वरूप जीवात्मा के हृदय के (अन्तकरण) मे अणु से अणु और महान् से महान् रूप से स्थित है, स्थित हुआ अनुभूत होता है । जो जीवात्मा अक्रतु,—विषय भोग सकल्प से रहित महिमा मय आत्मा को, धातु ईश्वर की अन्तरात्मा की कृपा से, प्रसन्नता व निर्मलता से अथवा देह को धारण करने के कारण इन्द्रिया ही धातु है उनके प्रसाद से, उनकी निर्मलता होने पर प्रभु रूप को देखता है, वह शोक रहित हो जाता है ।

वेदाहमेतमजरं पुराण सर्वात्मानं सर्वगत विभुत्वात् ।

जन्मनिरोधं प्रवदन्ति यस्य, ब्रह्मवादिनोहि प्रवदन्ति नित्यम् ।।३/२१।।

जन्म (उत्पत्ति) और निरोध—(नाश)—इन्हे मूढ लोग आत्मा के बतलाते हैं, और ब्रह्म-वादी,—जिन्हे तत्व-साक्षात्कार हो गया है, उसे नित्य प्रतिपादन करते है । उस जरा (वृद्धावस्था) से शून्य, पुरातन सर्व (सम्पूर्ण अखण्ड) आत्म—स्वरूप को,—जो ज्ञान विभु होने के कारण सर्वगत है,—मै जानता हू ।

इस प्रकार अपने साध्य व आराध्य की अनुभूति का महर्षि श्वेताश्वतर ने तृतीय अध्याय मे सगुण सविशेष स्वरूप से—श्री हिरण्यगर्भ रूप सकल प्रभु का तथा निर्विशेष रूप से परम—निर्मल ज्ञानात्म निष्कल स्वरूप का वर्णन किया है । उन्होने उस देव प्रभु को प्रथम तो साकार ब्रह्म सगुण सकल जिन हिरण्यगर्भ प्रभु रूप से, अन्तर्यामी व विराट् रूप से, तथा अन्त मे शुद्ध आत्मा-रूप से अनुभव किया और अपनी इस अनुभूति का निरूपण किया ।

चतुर्थ अध्याय मे उस देव हिरण्यगर्भ—प्रभु की स्तुति की गई है और अनेक प्रकार से उसके स्वरूप व महत्व का वर्णन किया है । इस चौथे अध्याय के मत्र २ का अर्थ हम पहले कह आये है । इसी अध्याय मे मत्र ५ मे प्रधानवाद, साख्यवाद का भी निषेध हुआ है ।

> अजामेका लोहितशुक्लकृष्णां ।
> बह्वी' प्रजा. सृजमानां सरूपा ।
> अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते
> जहात्येना भुक्तभोगामजोऽन्य ।। (४/५)

साख्यवादी इस मत्र से साख्य की प्राचीनता सिद्ध करते हैं, वे लोहित शुक्ल कृष्ण अजा को रज सत्त्व तमो मयी प्रकृति कहते है, किन्तु शकराचार्य ने अपने शारीरिक भाष्य मे इसका अर्थ त्रिगुण मयी प्रकृति न लेकर छान्दोग्योपनिषद् के छटे अध्याय मे वर्णित पृथ्वी अप और तेज—ये तीन सूक्ष्म भूत किये है । उनमे पृथ्वी कृष्ण वर्ण, अ। शुक्ल वर्ण और तेज लोहित वर्ण है । एक जीव तो तेज, अप और अन्न रूप प्रकृति को ही अपना स्वरूप समझ कर सेवन करता भोगता है, दूसरा जीव इसे अपने से अन्य जानकर छोड देता है । यहा वस्तुतः यह कहा गया है कि एक जीव जो अज्ञानी है, वह लेश्या का सेवन करता है, दूसरा जो ज्ञानी है वह अलेश्य, आत्म स्वरूप का ही सेवन करता है (१) कृष्ण, रक्त, व शुक्ल वर्ण लेश्या वर्ण है जो जैन आगम मे कथित है ।

साख्य सिद्धात का दूसरा मत्र इस उपनिषद मे यह कहा जाता है—

> यो योनिं योनिमधितिष्ठत्येको, विश्वानिरूपाणि योनीश्च सर्वा ।
> ऋषिं प्रसूत कपिल यस्तमग्रे, ज्ञानैर्बिभर्ति जयामान च पश्येत् ।। ।।५/२।।

इस मत्र के शकर भाष्य मे कपिल शब्द को कनकवर्ण हिरण्यगर्भ का वाचक बताया है तथा इसी उपनिषद् का ।।६-१८।। प्रमाण प्रस्तुत किया है,—यो ब्रह्माण हिरण्यगर्भ विदधाति पूर्वं" के भाष्य मे कहा गया है—"यो ब्रह्माण हिरण्यगर्भं विदधाति सृष्टवान् पूर्व सर्गादौ" तथा "यो वैवेदाश्च प्रहिणोति तस्मै"—जिसने सृष्टि के आरम्भ मे ब्रह्मा हिरण्यगर्भ को रचा और जो उसके लिए वेदो को प्रवृत्त करता है । इस उपनिषद्—वचन से कपिल शब्द से हिरण्यगर्भ का ही निर्देश किया गया है । "कपिलोऽग्रज इति पुराण वचनात्कपिलो हिरण्यगर्भो निर्दिश्यते" ।

अखण्डज्ञान की सिद्धि के लिये उस हिरण्यगर्भ देव की प्रार्थना अध्याय ४ मत्र १२ मे की गई है जो "यो देवाना प्रभवश्चोद्भवश्च"—आदि रूप से है । इसका भी अर्थ हम पहले कह आये हैं । आगे कहा है—

यो देवानामधियो यस्मिँल्लोका अधिश्रिता ।
य ईशे अस्यद्विपदश्चतुस्पदः कस्मै देवाय हविषाविधेम ॥ ॥४-१३॥

जो देवेन्द्र है, जिस पर सपूर्ण लोक आश्रित है, अर्थात् समस्त लोक ही जिसका आश्रय लेता है, और जो द्विपद एव चतुष्पद प्राणि मात्र वर्ण का शासन करता है, उस आनन्द स्वरूप देव की हम हवि के द्वारा पूजा करते है ।

इसी भगवान् हिरण्यगर्भ के लिये आगे—मत्र १५ मे महा—"स एव काले भुवनस्य गोप्ता" वही अतीत कल्पो मे विश्व का रक्षक था ।

इस अध्याय के मत्र १८ मे उस हिरण्यगर्भ प्रभु के कैवल्य स्वरूप का वर्णन हुआ है जिसका अर्थ भी हम पहले बतला चुके है—इसमे उन्हे अक्षर व वरेण्य सविता,—ज्ञान भास्कर कहा गया है । ।

अध्याय ५ के मत्र २ मे जिसका ऊपर उल्लेख किया है उसी के भाष्य मे इस प्रकार कहा गया है—

ततस्तदानी तु भुवनमस्मिन्प्रवर्तते कपिलं कवीनाम् सषोडशास्त्रो पुरूषश्च विष्णो विराजमान तमस परस्तात्—इति श्रूयते मुण्डकोपनिपदि । स एव वा कपिल प्रसिद्धोऽग्रे सृष्टिकाले । यो ज्ञानैर्धर्मज्ञानवैराग्यैश्चर्यौर्विर्भति बभार जायमान च पश्येदपश्यादित्यर्थ,' अर्थात् अथवा ततस्तदानी तु भुवनमिस्मन् प्रवर्तते कपिल कवीनाम् । स षोडशास्त्र. पुरुषश्च विष्णोर्विराजमान तमस परस्तात्—इस मुण्डकोपनिषद् की श्रुति के अनुसार वह हिरण्यगर्भ ही पूर्वकाल मे सृष्टि के समय कपिल नाम से प्रसिद्ध हुआ, जिसे परम आत्मा ने अपने ज्ञानों से धर्मज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य से युक्त किया और उत्पन्न होते देखा । शकर भाष्य मे उल्लिखित यह श्रुति अब मुण्डकोपनिषद् मे नही मिलती, अन्यत्र भी उसका पता नही चलता—ऐसा पाद टिप्पणी मे गीताप्रेस सस्करण मे प्रकट किया गया है । और कहा है कि परम्परा से जैसा पाठ मिला वैसा रहने दिया है और अर्थ सगति न लगने के कारण इसका अनुवाद नही किया गया है ।

इस पंचम अध्याय मे क्षर (विनाशशील) पर्याय का व अक्षर (गुणस्वरूप) का व इन दोनो के प्रेरक या कारक परमात्मा के स्वरूप का स्पष्टीकरण किया गया है—

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते
विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढे
क्षरंत्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या
विद्या विद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः ॥—(५/१)

हिरण्यगर्भ सकल देव से उत्कृष्ट अविनाशी निष्कल और अनन्तर (निर्विशेष) पर—ब्रह्म मे जहाँ विद्या और अविद्या दोनो ही परिच्छिन्न (गौण) हो जाती हैं, उनमे क्षर पर्याय रूप तो अविद्या है और अक्षर (गुण) रूप अमृत विद्या है तथा जो इन दोनो विद्या और अविद्या को वा क्षर-पर्याय और अक्षर-गुणमय विद्या को,—इनके ज्ञान को शासन करता है, धारण करता है, वह इन क्षर व अक्षर से अन्य "विलक्षण" है—अर्थात् वह न मात्र क्षर रूप पर्याय का धारण करने वाला है, न अक्षर गुण रूप मात्र ही है, वह इन दोनो सहित विलक्षण है, वह ऐसा निर्मल आत्म द्रव्य है जिसमे निर्मल गुण पर्याय व निर्मल गुण, एक क्रम रूप मे व दूसरा अक्रम (निश्चल रूप से) विद्यमान है, और वह निरक्षर निःशब्द रूप है। इसे ही जैन परिभाषा मे—गुण पर्याय सहित द्रव्य कहा गया है। क्षर सविशेष है, अक्षर निर्विशेष है—सामान्य है—अत आत्मद्रव्य सामान्यविशेषात्मक है।

आगे इसी अध्याय मे प्रदर्शित किया गया है कि जीव अपने सकल्प के अनुसार,—विभाव भाव के अनुसार विभिन्न योनियो को प्राप्त होता है, और परम आत्म स्वरूप के निर्मल ज्ञान को प्राप्त करके वह सब प्रकार के बधनो से मुक्त हो जाता है।

छठे अध्याय मे परम आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए अन्त मे उसी के ज्ञान से सारे दु खो की निवृत्ति का कथन हुआ है और कहा है कि उस देव हिरण्यगर्भ प्रभु या परम आत्म स्वरूप को जाने विना दु खो का अत होना असभव है।

यदा चर्मवदाकाश वेष्टयिष्यन्ति मानवाः ।
तदा देवमविज्ञाय दु खस्यान्तो भविष्यति ॥—(६/२०)

जिस समय मानव चर्मवत् आकाश को लपेट लेगे, उस समय देव को न जानकर भी दु ख का अन्त हो जायेगा।

गीता प्रेस के सस्करण मे इस मत्र का पाद-टिप्पणी मे यह भावार्थ दिया गया है—

"तात्पर्य यह है कि परमात्मा केविना जाने दु ख का अन्त होना ऐसा ही असम्भव है जैसे कि विभु और अमूर्त आकाशको परिछन्न एव मूर्त-स्वरूप चर्म के समान लपेटना।"

इस मत्र के उक्त अर्थ मे परमात्मा-ज्ञान के विना दु.ख निवृत्ति की असभावना को प्रकट किया गया है। ऐसा इस मत्र का प्रचलित अर्थ किया जाता है।

परतु इस मत्र की यथार्थ गूढ महत्ता इस अर्थ मे अप्रकट ही रह जाती है। यह मत्र इस उपनिपद के अन्त भाग मे बडे ही महत्वपूर्ण भाव को लेकर प्रकट किया गया है। यह इस उपनिषद् के

समाहार मे वैसे ही महत्वपूर्ण स्थान रखता है जैसे भगवद्गीता मे यह श्लोक "ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति । भ्रामयन्सर्व भूतानि यन्त्रारूढानि मायया" (गीता १८/१६) श्री कृष्ण ने अपनी समस्त शिक्षा का सार जैसे इस श्लोक मे दिया, वैसे ही उपनिषदकार ने भी इस मत्र मे अपनी ध्यान-अनुभूति का सार प्रकट किया है।

इस मत्र मे आकाश को चर्मवत् लपेटने की बात कह कर प्रकट किया है कि मानवो की स्थूल देह को चर्म जिस प्रकार लपेटे रहता है, वैसे ही जब आत्म-प्रदेशो को आकाश लपेट लेगा-अर्थात् जब आत्मा निरावरण पूर्ण दिगम्बर और निर्ग्रन्थ हो जायेगा और आत्म-प्रदेश मात्र आकाश से आवृत्त, रह जायेगे—समस्त कर्म कलक रूप आवरण नष्ट हो जायेगे तब उस जीवात्मा के समस्त भाव-दुखो का अन्त होकर उसे अमरत्व प्राप्त हो जायेगा। तब उसे-उस हिरण्यगर्भ ऋषभदेव प्रभु का ध्यान भी नही रहेगा—वह स्वय उस प्रभु रूप परिणमित हो जायेगा, अत उस प्रभु के स्वरूप रूप द्रव्य तथा भाव लिग को प्राप्त होकर उसे उस प्रभु का भिन्न ज्ञान या ध्यान भी न रहेगा। ऐसे वह आत्मा त्रिपुटी का वेध करके आत्मलीन स्थित होकर सिद्ध परमात्मा हो जाएगा। त्रिपुटी वेध पर ध्येय का ज्ञान नही रहता। ध्येय रूप स्वय होकर आत्म-साक्षात्कार को प्राप्त हो जाता है। तब ध्येय का ज्ञान क्या रहता हे ? अत कहा है कि उस निरावरण दिगम्बर निर्ग्रन्थ निर्मल अवस्था मे उसे उस ध्येय का ज्ञान न रह कर सिद्धत्व प्राप्त हो जायगा। इस प्रकार उपनिषद कार ने भ हिरण्यगर्भ ऋषभदेव के सकल ध्येय स्वरूप मे आरोहण करके निष्कल ध्येय स्वरूप मे साधक-जीवात्मा के आरोहण की बात को कहा है। सकल जिनेश्वर की ध्यान उपासना करते करते जीव भिन्न ज्ञान से छूट कर अभिन्न ज्ञान मे आरोहण करके अक्षय अव्याबाध सुख को ही प्राप्त कर लेता है। यहा इस प्रकार उपनिषद कार ने जैन योग के सकल तथा निष्कल ध्येय का द्रव्य व भाव लिंग का और अक्षय सुख रूप मे समस्त दु ख की निवृत्ति आदि का वर्णन कर दिया है। आकाश मात्र ही वस्त्र लपेटने का वर्णन यहा जैन मान्यता के असख्यात निज अवगाहना प्रमाण आत्मा के क्षेत्र को तथा साथ ही वातरशना दिगम्बर मुनि परम्परा की महत्ता व सपूज्यता, प्राचीनता और प्रमाणीकता को भी यहा सकेतित किया है। यह मत्र बडा अलौकिक ही है। पहले तो भ हिरण्यगर्भ देव को जानने की प्रेरणा करते हुए कहा गया कि उस देव को जानकर सब आवरणो, पाशो से मुक्ति हो जाती है—(ज्ञात्वा देव मुच्यते सर्व पाशै), अब यहा कहा हे कि जब मानव आकाशमात्र परिधान यानी दिगम्बर रूप हो जायेगे तो उस देव को न जानकर भी उसके दिगम्बर भाव व दिगम्बर मुद्रा को धारण करलेगे-तब ही उनके सब भव दु खो का अन्त हो जायेगा। जैन दिगम्बरत्व की इससे अधिक महिमा और क्या की जा सकती थी !

आ अमृतचन्द्र के पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय मे इसी प्रकार का वर्णन है —

> नित्यमपि निरुपलेप स्वरूपावस्थितो निरुपघात. ।
> गगनमिव परम पुरुष परम पदे स्फुरति विशदतम. ॥ —(२२३)

सदा ही अलिप्त बिना कर्मों के आलेप के, स्वरूप मात्र मे स्थित, सपूर्ण जागतिक विषयो से रहित, अत्यन्त निर्मल, वह परम पद मे आकाश सदृश, निर्लिप्त तथा निर्मल स्फुरायमान (प्रकाशमान) होता है। "गगनपरिधान"—पद से श्रीमद्भागवत मे भी भ ऋषभदेव की दिगम्बरी प्रवृज्या को कहा है। देखें स्कध अ ५/७६

धर्म के अन्वेषक वीतरागी क्षत्रिय और उसके प्रसारक ब्राह्मरण

वस्तुत यह आत्मा दिगम्बर होकर ऐसा हीस्फुरायमान होता है मानो समस्त आकाश को ही उसने धारण कर लिगा हो, लपेट लिया हो। ध्यान की सर्वज्ञ परम्परा ही उपनिषदकार के वर्णन मे भी प्रकट हुई है। इसका कारण है कि इस देश की अद्भुत परम्परा रही है कि यहा धर्म के अन्वेषक वीतरागी क्षत्रिय रहे, और इसके प्रसारक ब्राह्मरण-ऋषिगरण रहे। सब ही तीर्थंकर प्रमुओ के गणधर ब्राह्मरण रहे हैं। उन पर ही दायित्व था कि वे सर्वज्ञ प्रमुओ के प्रवचनो को ग्रहण करे और धर्म तत्वो का प्रसार प्रचार करें। क्षत्रिय तीर्थंकर प्रभु अर्हत्पुरुष और सर्व साधु मुनिजन गिरि-कन्दराओं मे तपोरत तथा योगरत रह कर धर्म तथा अध्यात्म तत्व का उद्घाटन व दर्शन करते थे। उन्होने कभी तव ग्रन्थ निर्माण नही किये थे, वे निग्रन्थ थे, दिगम्बर व निष्परिग्रही थे और वैदिक आर्यगण नदी-किनारो पर आश्रम बनाकर रहते थे, प्राय वानप्रस्थ होते थे और अपनी गृहीणियों तथा शिष्य मडली के साथ निवास करते थे तथा क्षत्रिय परम्परा के ज्ञान को प्राप्त करके उसका प्रसार करते थे, और अध्यापन कराते थे। गिरि-कन्दराओ मे वास के ही कारण वे वीतरागी निर्ग्रन्थ अर्हत्पुरुष गिरीक्षत तथा गिरिष्ठा आदि उपाधियो द्वारा वेदो मे वर्णित हुए है। उनकी जितेन्द्रियता का वर्णन करते हुए कहा गया कि वे अपने न फिसलने वाले (इन्द्रिय) अश्वो के साथ पर्वत शिखर पर खडे हैं। कर्म-पर्वतो को चूर्ण करने के कारण वे गिरिक्षत ही थे। इन वीतरागी अर्हत्पुरुषो मे अग्रज तीर्थंकर हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर ही हुए हैं तथा उन्हे ही अग्रज, आदि-शिव, आदि-ब्रह्मा, प्रजापति, विष्णु, व अग्नि, व्योम, सूर्य, उषस् की विशिष्टता से, विविध प्रतीक बिम्बो से शब्दायित किया गया।

तीर्थंकरो का सत्समागम का वरदान

वस्तुत इन्ही अर्हत् पुरुषो तथा तीर्थंकरो का सत्समागम पाकर वैदिक आर्य-ऋषिगण जो कर्मकाण्डवादी, यज्ञ-प्रधानी तथा हिंसा-प्रधानी तथा स्वर्ग को ही चरम अभ्युदय मानने वाले थे, योग और ज्ञान मे दीक्षित हुए और उपनिषदकार ज्ञान–शिखरो को स्पर्श कर सके। इस सत्समागम के ही कारण वेदो मे इन अर्हत्पुरुषो की स्तुतिया आई हैं। इनमे से बहुत सी स्तुतिया ऋषि देवो की परोक्ष-प्रियता के कारण परोक्ष तथा प्रतीक व सकेत रूपो मे है। इनके सत्समागम के ही वरदान-स्वरूप लोकिक-अभ्युदय के साथ इन वैदिकजनो ने अलौकिक नि श्रेयस् को भी धर्म-लक्षण मे जोडा, मोक्ष की अवधारणा पाई। तब ही इन्होने चिदात्म पुरुष आत्मा और ज्ञान के आलोक पाए, अहिंसा, तप, तथा अक्षर और शब्द-साधनाए, मत्र और प्रणव की महिमा को जाना और उपनिषदो का निर्माण किया।

वीतरागी श्रमर्ण-सस्कृति के वरदान स्वरूप वैदिक आर्य-ऋषिगणो ने मूर्ति-पूजा, व्यक्ति गरिमा, अवतार रूप मे व्यक्ति पूजा, सर्वकालिक दश धर्मों के स्वरूप आदि की उपलब्धि की और अहिंसा को स्वीकार किया । अनासक्ति तथा निवृत्ति के नये अर्थ पाये ।

त्रिविक्रम और त्रिरत्न

वैदिक तथा पौराणिक साहित्य मे जिस त्रिविक्रम का वर्णन है, वह सम्यक्-दर्शन, सम्यक्-ज्ञान, और सम्यक् चारित्र त्रय रत्नमय मोक्ष मार्ग के ही विशेष क्रम का सकेत है और वह विष्णु का तथा उस रूप म हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर का ही विशेषण है । समस्त भूमि, स्वर्ग और आकाश को अपने पराक्रम के पुरुषार्थ से ज्ञानगत कर लेने, माप लेने के ही कारण सारा त्रिलोकी उस त्रिविक्रम के ही चरणो मे अवस्थित कहा गया है, जीवन को उरुकाय बनाने के लिये त्रिलोक की यह परिक्रमा की गई ।

> "प्रत विष्णु स्तवते वीर्येण मृगो न भीम कुचरो गिरिष्ठाः ।
> प्रविष्णवे शूषमेनु मन्म गिरिक्षत उरुगायाय वृष्णे ॥—(ऋक् १/१५४/२–३)–"

श्री देवेन्द्र मुनि ने जैन धर्म के मौलिक इतिहास की भूमिका मे भ. ऋषभदेव की सार्व भौम मान्यता का इस प्रकार उल्लेख किया है—

भ. ऋषभ का नाम और उनकी कृति विश्वव्यापक

"चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित रहे है । चीनी त्रिपिटको मे उनका उल्लेख मिलता है । जापानी उनको "रोकशब" (Rokshab) कह कर पुकारते है ।

मध्यऐशिया, मिश्र और यूनान तथा फोनेशिया एव फणिक लोगो की भाषा मे वे "रेशफ" कहलाये, जिसका अर्थ सीगो वाला देवता है, जो ऋषभ का अपभ्र श है ।

और सुमेरो की सयुक्त प्रवृत्तियो से उत्पन्न बेबीलोनिया की सस्कृति और सभ्यता बहुत प्राचीन मानी गई है । उनके विजयी राजा हम्मूराबी (२१२३–२०८१ ई. पू) के शिलालेखो से ज्ञात होता है कि स्वर्ग और पृथ्वी का देवता वृषभ था ।

सुमेर के लोग कृषि के देवता के रूप मे अर्चना करते थे, जिसे आबू या तामूज कहते थे । वे बैल को विशेष पवित्र समझते थे, सुमेर तथा बाबुल के एक धर्म शास्त्र मे ',अर्हशम्म" का उल्लेख मिलता है । अर्हशब्द अर्हत् का सक्षिप्त रूप जान पडता है ।

हित्ती जाति पर भी भ ऋषभदेव का प्रभाव जान पडता है । उसका मुख्य देवता ऋतुदेव था । उसका बाहन बैल था—जिसे "तेशुव" कहा जाता था, जो तित्थयर उसभ (ऋषभ) का अपभ्रंश ज्ञात होता है ।

वेदो में ऋषभ देव की भावविभोर स्तुतियां

ऋग्वेद मे भगवान् ऋषभ का उल्लेख अनेक स्थलो पर हुआ है । किन्तु टीकाकारो ने साम्प्रदायिकता के कारण अर्थ मे परिवर्तन कर दिया हे जिसके कारण कई स्थल विवादास्पद हो गये है । जब हम उन ऋचाओ का साम्प्रदायिक पूर्वाग्रह का चश्मा उतार कर अध्ययन करते है, तब स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह भगवान् ऋषभदेव के सबध मे ही कहा गया है ।"

श्री देवेन्द्रमुनि ने फुट नोट मे ऋग्वेद के मडल १,२,५,६ और १० के अध्याय २५,४,२१,१२ के सूत्र १६,३३,१८,१,१६ और २६ के मत्र १,१५,४,८,११,१ आदि का उल्लेख किया है, जो ऋषभदेव के सम्बन्ध मे कही गई हैं ।

उन्होने आगे यह ऋचा भी उद्धृत की है—

मखस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियभि वाचमृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितीयामास मानुषीणा विशा दैवी नामुत पूर्वयाभा ।—(ऋग्वेद २'३८/२)—

वैदिक ऋषि भक्ति-भावना से विभोर होकर ऋषभदेव की स्तुति करता है—

"हे आत्म द्रष्टा प्रभो ! परम सुख पाने के लिए मैं तेरी शरण आना चाहता हूँ, क्योकि तेरा उपदेश और तेरी वाणी शक्तिशाली है, उनको मै अवधारण करता हूँ । हे प्रभो ! सभी मनुष्यो और देवो मे तुम्ही पहले पूर्वगामी (पूर्वंगत ज्ञान के प्रति पादक) हो ।"—पूर्वगत ज्ञान वेद पूर्व ज्ञान को प्रकट करता है ।

केशी प्रभु ऋषभदेव

"ऋग्वेद मे भ ऋषभदेव के लिए केशी शब्द का प्रयोग हुआ है, वातरशन-मुनि-प्रकाश मे केशी की स्तुति की गई है, जो स्पष्ट रूप से भगवान् ऋषभदेव से सबधित है । कहा है—

मुदगल ऋषि के सारथी (विद्वान नेता) केशी वृषभ, जो शत्रुओ का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उन की वाणी निकली, जिसके फलस्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गायें (इन्द्रिया) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड रही थी, वो नियुक्त होकर मोद्गलानी (मुद्गल की स्वात्म-वृत्ति)

की ओर लौट पडी।" साराश यह है वि मुद्गल-ऋषि की जो इन्द्रिया परङ्-मुखी थी, वे उनके योग-युक्त ज्ञानी नेता केशी वृपभ के धर्मोपदेश को सुन कर अन्तमुर्ख हो गई ।

ऋक् तथा यजुर्वेदो मे जैन तीर्थंकर

ऋग्वेद में भगवान ऋषभ हिरण्यगर्भ का "छन्दांसिस्तुत," "सूर्य रश्मि," "हरिकेश" "हरिश्मश्रु" रूप में वर्णन :—

ऋग्वेद के दशम मडल मे भगवान् ऋषभ हिरण्मगर्भ की वहुत-वहुत स्तुतियाँ की गई है, वह स्तुतियो से भरा है—इसीलिए उस प्रभु ऋपभ को छन्दासिस्तुत—ऐसा कहा गया है। उन्हे "सूर्य-रश्मि" और "हरि केशः" भी कहा गया है। वही उन्हे 'हरिश्मश्रु' भी कहा है। ये वर्णन उस प्रभु के केवल-ज्ञान-किरणो सहित तथा प्रकाशमान जटाओ तथा दाढी मूछ सहित होने का वर्णन है । इससे प्रकट है कि वह प्रभु अत्यन्त दीप्तिवान प्रकाशवान ज्ञानवान और नर-देही स्वरूप मे इस जगतीतल मे प्रागेतिहासिककाल मे साक्षात् पुरुष-ही हुआ था।

ऋग्वेद मे अनंत चतुष्टय और सम्यग्दर्शन (श्रद्धा) का वर्णन

जैन योग विज्ञान मे सकल जिन-प्रभु को चार-गुणो, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य (वल) मय वर्णित किया जाता है और इन ही गुणो का वर्णन तथा इन गुणो ही की याचना ऋग्वेद मे उस हिरण्यगर्भ प्रभु से की गई है। अमृतत्व को निश्चय से प्राप्त करा देने वाली आत्मा की तत्वश्रद्धा रूप सम्यक्त्व का और उसकी महिमा का जैनो मे वर्णन है। इसी का स्वर ऋग्वेदमे भी उल्लेखनीय हुआ है। श्रद्धा का स्वर सम्मान से अधिक वृहत्तर एव गहन तर है, वह पूजा और अर्चना के भाव तक जाता है क्योकि सम्मान तो लौकिक वस्तु व व्यक्ति को भी दिया जा सकता है और कभी निरादर मे भी वदला जा सकता है—पर अर्चनीय इष्ट मे श्रद्धा अचल होती है ।

श्रद्धयाग्नि समिध्यते, श्रद्धया हूयतेहवि ।
श्रद्धा भगस्व मूर्धानि, वचसा वेदयामसि ।।—(१७/१/११)

आत्म श्रद्धा से ही आत्म ज्ञानाग्नि को प्रज्वलित किया जाता है और उसे श्रद्धा से ही आत्म यज्ञ मे हविष्य (आचरण) की आहूति दी जाती है। हम अपने मूर्धा (मस्तक) मे भग,-परम ऐश्वर्य की (वचसा) वाणी द्वारा स्थापना करे ।

श्रद्धां देवा यजमाना वायु गोपा उपासते ।
श्रद्धा हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्देते वसु ।।—(१५/४/११)

आर्य देव पुरुप, वायुवत् असग विचरण करने वाले, और वलवान पुरुप को अपना रक्षक मानने वाले, आत्म-यज्ञ कर्ता जन सत्य-धारणा मयी श्रद्धा की उपासना करते हैं । हृदय-गत मनो-

भाव से श्रद्धा की उपासना करते है । श्रद्धा से ही, वसु, परम ऐश्वर्यमय अष्ट गुणो को प्राप्त करते है ।

श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि ।
श्रद्धा सूर्यस्य निम्रुचि श्रद्धे श्रद्धापमेह न ।।—(१५/५/११)

हम प्रात काल श्रद्धा का आह्वान करते है, दिन के मध्यकाल मे तथा सूर्य के अस्तकाल मे श्रद्धा का आह्वान करते हैं । हे श्रद्धे ! तू हमे इम जगत् मे आत्म-श्रद्धा को धारण करा । आ जिनसेन ने आदि पुराण मे भ हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ को "सप्रलम्भ जटाभार" रूप ही वर्णित किया है— दृष्टव्य है अध्याय १, श्लोक २०४ । इमी प्रकारका उनका वर्णन ऋग्वेद मे भी दृष्टव्य है ।

अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन् ।
केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मदिन्तम ।।—(१३६/६/२४)

(अप्सरसा) अप्स अर्थात् रूपो मे विचरण करने वाली चक्षु (गन्धर्वाणा) गध आदि मे विचरने वाली नासिकादि, और (मृगाणा) नाना विषयो को खोजने वाली इन्द्रियो के (चरणे) सचरण व्यापार मे (चरन्) आत्म चारित्र का आचरण करता हुआ, (केतस्य विद्वान्) ज्ञान का दाता होकर (सखा) उसके ही समान नाम तथा स्वरूप का धारण होकर (स्वादु) सुख का भोक्ता और (मन्दितम) सबसे अधिक आनन्द-युक्त होता है । वह केशी तेजो मय केश-जटाधारी प्रभु हिरण्यगर्भ है ।

चत्वारि ते असुर्याणि नामादम्यानि महिषस्य सन्ति ।
त्वमङ्ग तानि विश्वानि वित्से येभि· कर्माणि मघवन् चकर्थ ।।—(५४/४/१५)

(मघवन्) हे ऐश्वर्यवान् (तेमहिषस्य) तुझ महान् प्रभु के (चत्वारि) चार गुण—अनन्त चतुष्टय, अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य (बल), (अदम्यानि) कभी नाश न होने वाले अर्थात् न अन्त होने वाले अनन्त है । (त्वमङ्ग = तानि विश्वानि वित्से) तू अग सहित (भेद सहित) उन सब अनन्त गुणो को जानता है, (ये भि) जिनसे तूने (कर्माणि चकर्थ) आत्म कर्मो को किया ।

त्व विश्वादधि षे केवलानि यान्याविर्या च गुहा वसूनि ।
कामानिन्मे मघवन्मा वि तारी स्त्वमाज्ञाता त्वमिन्द्रासि दाता ।।—(५४/५/१५)

हे ऐश्वर्यवान् प्रभो ! तूने समस्त (केवलानि) केवल गुणो—केवल दर्शन, केवल ज्ञान, केवल सुख और केवल वीर्य और (वसूनि) अष्ट गुणो को धारण किया है, जो हृदय-गुहा मे प्रकट हुए हैं ।

हे ऐश्वर्यवान् ! तुम मेरी आत्म-कामना को कभी विनष्ट न होने दो, तुम ही आज्ञा देने वाले शास्ता हो, तुम ही आत्म-दाता हो, आत्म-स्वरूप को प्रकट कराने वाले हो।

सूर्य रश्मि , हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरूदयां अजस्रम् ।

तस्य पूषा प्रसवेयाति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः ।।—(१३६/१/२७)

वह जो (सूर्य रश्मि) केवल ज्ञान किरणो वाला तथा (हरिकेश) प्रकाशमान जटाधारी ऋषभ हिरण्यगर्भ है, अजस्त्र ज्योतियो (ज्ञान प्रवाह) को उत्पन्न करता है । (तस्य प्रसवे) उसके उत्तम शासन मे (विद्वान् पूषा) ज्ञानवान्, ज्ञान-तुष्ट जन और (विश्वा भुवनानि गोपा) समस्त विश्व और लोको की रक्षा करने वाला भी केवल ज्ञानि सूर्य के समान (सम्पश्यंयन्यांति) सम्यक् रीति से ज्ञान दर्शन कराता हुआ प्रयाण करता है।

समुद्रादूर्मिमुदियाति वेनो नभोजा पृष्ठ हर्यतस्य दर्शि ।

ऋतस्य सानावधि विष्टपि भ्राट् समानं योनियभ्यनूषत व्रा ।।—(१२३/२/८)

विचारवान पुरुष समुद्र के समान अपार ज्ञान भण्डार प्रभु से उत्तम ज्ञान की उर्मि (लहर) को प्राप्त करते है । (नभोजा.) आकाश वत् निर्मल उस प्रभु के बीच मे उत्पन्न ब्रह्मज्ञ पुरुष (हर्यतस्य) कान्तिमान् प्रभु के (पृष्ठम्) स्वरूप को (दर्शि) साक्षात् करता है वह (ऋतस्य सानो) ज्ञान के देने वाले (विष्टपि अधि) सताप रहित लोक मे (भ्राट्) भाज्रमान देदी-प्यमान है । (समान योनि अनु) एक समान गृहवत् शरणप्रद उस प्रभु को लक्ष्य करके, (व्रा अभिअनूपत) वरण करने वाली वेद-वाणिया उसकी साक्षात् स्तुति करती है ।

इसी हिरण्यगर्भ वृषभ प्रभु को अग्नि-सूर्य आदि नामों से निरूपित करके प्रार्थनाएँ की गई है और उसका ही अनुकरण अनुगमन करने के लिए प्रेरणा की गई है—

जुषाणो अग्ने प्रति हर्य मे वचो विश्वानि विद्वान् वयुनानि सुक्रतो ।

घृतनिर्णिग्ब्रह्मणे गातुमेरय तव देवा अजनयन्ननु व्रतम् ।।—(१२२/२/६)

हे (अग्ने) ज्ञान के प्रकाशक हिरण्यगर्भ प्रभो ! तुम (जुषाण) सब को प्रेम करते हुये (मे वच प्रति हर्य) मेरे वचन को—स्तुति को प्रेम से स्वीकार करो । (सुक्रतो) हे उत्तम-सम्यक् चरित्र, कर्म वाले ! तुम (विश्वानि वयुनानि विद्वान्) समस्त ज्ञानो के जानने वाले हो—अर्थात् सर्वज्ञ हो । (घृत निर्णिक) हे ! घृत रूप श्रद्धा से पवित्र करने वाले ! (ब्रह्मणे गातुम्) ब्रह्म-ज्ञान के मार्ग का (आईरय) उपदेश करो । (तव अनु) तेरा अनुकरण करके (देवा व्रतम् अजनयन्) सब देव-आर्य-पुरुष आत्म-व्रत को करे ।

यही नही। ऋग्वेद का दशम मडल हिरण्यगर्भ प्रभु के नाम पर दश ऋचामय पूरे एक हिरण्यगर्भ-सुक्त को भी प्रस्तुत करता है जिसमे उस निर्मल अद्वितीय आत्म वेत्ता केवल ज्ञानी ऋषभ हिरण्यगर्भ प्रभु पुरुष की स्तुति की कई है। यह सूक्त ऋग्वेद दशम मडल मे सूक्त १२१ है। इसमे दस मत्र-ऋचाए दी गई है।

हिरण्यगर्भ सूक्त में भगवान हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) की उपास्य रूप में स्तुति

(१)

हिरण्यगर्भ समवर्तताग्रे भूतस्य जात पतिरेक आसीत्।
स दधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

हिरण्यगर्भ पुरुष ही सृष्टि-युग के अग्र समय मे हुए थे। वह समस्त प्राणियो के एक मात्र अधिपति, पालन करने वाले थे। उन्होने पृथ्वी और देव लोक को धारण किया। उन अति अर्चनीय देव पुरुष की ही हम हवि से, भक्ति विशेष से उपासना का विधान करते हैं। हम किस देव के लिए उपासना करे ? कस्मै देवाय (किस देव के लिए, अर्थ के अतिरिक्त—यह भी अर्थ है—"कि ज्ञानी उस आत्म सुख स्वरूप देव-पुरुष (हिरण्यगर्भ) के लिए ही हम उपासना करते है।

(२)

य आत्मदा बल दा यस्य विश्व उपासते प्रशिष यस्य देवा ।
यस्य च्छायामृत यस्य मृत्यु, कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

जो आत्मा को प्रदान कराने वाला, साक्षात्कार कराने वाला और आत्म शक्ति प्रदान कराने वाला है, जिसकी सारा विश्व ही उपासना करता है, जिसके प्रकृष्ट शासन को (योग शासन को) सब देव-आर्य पुरुप मानते है, और जिसकी शरण छाया अमृत स्वरूप है, और जिसकी शरण न लेना मृत्यु के समान है, उस अति अर्चनीय सुख स्वरूप हिरण्यगर्भ प्रभु की ही हम पूजा करते है। अन्य किस की पूजा करें।

(३)

य प्राणतो निमिषतो महित्वैक इद्राजा जगतो बभूव ।
य ईशे अस्य द्विपद श्चतुष्पद कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

जो अपनी महान महिमा से निमेष-उन्मेष मय चक्षु-धारी प्राणिजनो का (एक इद् राजा बभूव) एक मात्र अद्वितीय राजा हुआ, और जो दो पैर और चार पैर वाले प्राणि वर्ग का भी स्वामी

हुआ, उस अद्वितीय अर्चनीय सुख स्वरूप हिरण्यगर्भ देव पुरुष की ही हम उपासना करते है, अन्य किस की उपासना करें ?

(४)

यस्येमे हिमवन्तो महित्वा, यस्य समुद्रं रसया सहाहु ।
यस्येमा प्रादेशो यस्य बाहू कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

बर्फ से ढकी पृथ्वी, पर्वत और सागर जिसकी महिमा का गान करते है, चारो दिशाएँ ही जिसकी भुजाए है—अर्थात् चारो दिशाओ मे जिसका शौर्य व्याप्त है, उस शक्ति-धर सुख-स्वरूप अति अर्चनीय देव-पुरुष हिरण्यगर्भ की हम उपासना करते है, अन्य किसकी पूजा करे ?

(५)

येव द्योरुग्रा पृथिवी च दृढ़हा मेन स्व. स्तभितं येननाक: ।
यो अन्तरिक्षे रजसो विमान. कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जिससे तारक-मडल सहित आकाश और पृथ्वी मे दृढ स्थिरता (शाति) है, जिसने स्व आत्मा को स्तभित (स्थिर-प्रशात) किया है, और जिसने रजसो, कर्म-रज कणो को अतरिक्ष मे, अर्थात् शून्य रूप शुक्ल ध्यान मे विचूर्ण कर दिया है, उस सुख-स्वरूप अति अर्चनीय निर्मल देव पुरुष हिरण्यगर्भ की ही हम उपासना करते है, अन्य किसकी पूजा करे ?

(६)

यं क्रन्दसी अवसा तस्तभाने अभ्यैक्षेता मनसा रेज माने ।
यत्राधि सूर उदितो विभाति, कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जिसको स्वाधीन और दृढ स्थिर हुए दोनो गतिशील आकाश और पृथ्वी (आकाश और पृथ्वी पर सचरण करने वाले) मानो मन के द्वारा साक्षात् देखते है, जिसके आश्रय केवल ज्ञान का सूर्य उदित होकर चमकता है, उस सुखमय अति अर्चनीय देव-पुरुष केवलज्ञानी हिरण्यगर्भ की ही हम उपासना करते है, अन्य किसकी उपासता करे ?

(७)

आपो ह यद् वृहती विश्वमायनोर्भे दधाना जनयन्तीरग्निम् ।
ततो देवाना समवर्ततासुरैक. कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जिस विश्व (विराट) प्रभु को, निश्चय से (बृहति आप) वृहद् श्रद्धा-सलिल प्राप्त हुआ और जिसने गर्भ मे,—अन्तर हृदय मे धारण की हुई ज्ञानाग्नि को प्रकट किया और उसके बाद वह देव आर्य जनो का निर्मल अद्वितीय एक मात्र प्राण (जीवन-सचालक, प्रिय उपास्य) हुआ, उस अति अर्चनीय सुख-स्वरूप धर्म-विधाता की ही उपासना करते है, अन्य किसकी उपासना करें ?

(८)

यश्चिदापो महिम्ना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्ती यज्ञम् ।
नो देवेषु अधि देव एक आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जिसने महान् महिमा से दक्षता पूर्वक धारण की हुई, और आत्म-यज्ञ को उत्पन्न करती हुई चिदाप (चैतन्य आत्म-श्रद्धा सलिल) का परिपूर्ण साक्षात्कार किया, और जो देव आर्य-जनो मे एक मात्र देवाधिदेव था, उस अति अर्चनीय, सुख-स्वरूप केवल-दर्शन विभूषित देव-पुरुष हिरण्यगर्भ की ही हम उपासना करते हैं, अन्य किसकी उपासना करे ?

(९)

मानो हिंसीज्जनिताय्र पृथिव्यायो वा दिवं सत्यधर्माजजान ।
यश्चापचन्द्रा वृहतीर्जजान कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।

जो वह पृथ्वी का जनक (पालन करने वाला) है, हमे हिंसा से पीडित न होने दे, अर्थात् हम अहिंसा धर्म मे ही दृढ रहे । जिसने दिव्य सत्य धर्म, सत्यज्ञान को उत्पन्न किया, और जिसने (चन्द्रा) सर्वाह्लाद कारक व्यापक श्रद्धा,—केवल दर्शन को उत्पन्न किया, उस सुख स्वरूप अति अर्चनीय देव पुरुष हिरण्यगर्भ की ही उपासना करते हैं, अन्य किसकी उपासना करे ?

(१०)

प्रजापते न त्वदेतान्ययो विश्व जातानि परिता बभूव ।।
यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु, वय स्याम पतयो रयीणाम् ।।

हे प्रजापति ब्रह्मा हिरण्यगर्भ ! इन व उन,—निकटस्थ और दूरस्थ वा अतीत और वर्तमान के सब विश्व पदार्थो का तुम सा, अन्य कोई भी पारगामी नही हुआ । जिस कामना से हम उपासना करे, वह हमे पूर्ण हो, और हम आत्म-गुणैश्वर्यो के स्वामी होवे ।

यहा इस प्रार्थना के साथ उस अलौकिक हिरण्यगर्भ पुरुष की, जो इस भूमि पर युग सर्ग के आदि मे हुआ और इस भूमि पर आत्म-प्राप्त पुरुष रूप मे साक्षात् विचरा, केवल ज्ञानी होकर देव पुरुषो का योग-शास्ता हुआ, स्तुति का उपसहार किया गया है ।

ग्रीस देश का परमेथियस,-परमेष्ठी पुरुष

जैनो ने भगवान् ऋषभदेव हिरण्यगर्भ को परम पद मे प्रतिष्ठित आदि प्रभु तथा परमेष्ठी कहा है। ग्रीक माइथोलाजी मे परमेष्ठी पद से ही मिलता जुलता नाम है—प्रोमेथिसय Prometheus। यह परमेथियस (परमेस्थित) परमेष्ठी की ही ध्वनि, रूप और कृतित्व रखता है। जैनो के अनुसार इस अग्रज परमेष्ठी ने ही सर्वप्रथम मानवो को अग्नि का प्रयोग सिखाया, पुरुष-सूक्त मे भी कहा गया कि उसने ही अग्नि से यज्ञ करना सिखाया तथा जैन व वेद वाङमय दोनो ही यह मानते है कि मानवो को लिपि दी, कृषि असि मसि और सारे कला कौशल सिखाये-नगरों के निर्माण कराये। इस परमेष्ठी पुरुष की यशोगाथा ऐसा मालुम होता है उस अति प्राचीन काल मे ग्रीक देश तक पहुंची और उन्होने अपनी माइथोलाजी मे वर्णन किया कि उस परमेथियस ने ही सर्वप्रथम मानवो को अग्नि का प्रयोग करना सिखाया और कला कौशल भी सिखाये। उन्होने वाद मे सभवत: अन्य धर्म के आने पर यह जोडा कि उस परमेथियस को Zeus देवता ने अग्नि स्वर्ग से पृथ्वी पर ले जाने के अपराध पर सारी पृथ्वी के भार को वहन करने की सजा दी। पृथ्वी को अपने मस्तक पर वहन करने की वात हिरण्यगर्भ सूक्त के मत्र १ के इन पदो के ही अर्थ को प्रकाश करती है—"स दधार पृथ्वी"। हिरण्यगर्भ सूक्त का यह वर्णन अलकारिक है और इसका स्पष्ट अर्थ यही है कि पृथ्वी और स्वर्ग के लोगो ने उन्हे अपना इष्ट आराधनीय स्वीकार किया। इस तरह उसने पृथ्वी तथा स्वर्ग को धारण किया। पृथ्वी और स्वर्ग के लोगो को धारण करने की अलकारिक वात को ग्रीक माइथोलाजी मे स्पष्टत ही विकृत रूप मे कहा गया लगता है। कुछ भी हो—यह आश्चर्यजनक है कि इस अति प्राचीन भारतीय महापुरुष की मानवो के प्रति अनन्त उपकार की यशोगाथा गीक प्रदेश की माइथोलाजी मे भी स्वीकृत है। वस्तुत: अखिल विश्व का सपूर्ण मानव समाज सदाकाल इस पुरुष की अप्रतिम सेवा और देन के लिए सदा ऋणी ही रहेगा और यह भारतीय जनो के लिए कम गरिमा तथा गौरव की वात नही है।

ऋग्वेद और यजुर्वेद के और भी स्थल

"ॐ" त्रैलोक्य प्रतिष्ठितान् चतुर्विंशति तीर्थंकरान्।
ऋषभाद्यावर्द्धमानान्तान् सिद्धान् शरणं प्रपद्ये॥

ॐ पवित्र नग्नमुपवि प्रसामहे एषा नग्ना (नग्नये) ज्योतिर्देषा वीरा इत्यादि भी ऋग्वेद मे कहा है तथा यजुर्वेद मे ऐसा कहा है—

ॐ नमो अर्हतो ऋषभो ॐ ऋषभपवित्र पुरुहूतमध्वरं यज्ञेषु नग्न परमं माह संस्तुतं वरं शत्रु जयन्तं पशु रिन्द्रमाहुतिरिति स्वाहा।

ॐ त्रातारमिंद्र ऋषभ वदन्ति अमृतारमिन्द्र हवे सुगत सुपार्श्वमिन्द्र हवे शक्रमजित तद्वर्द्धमान पुरुहूतमिंद्रमाहुरिति स्वाहा ।

ॐ नग्न सुधीर दिग्वाससब्रह्मगर्भं सनातन उपैमि वीर पुरुपमर्हन्तमादित्यवर्णं तमस' परस्तात् स्वाहा ।

ॐ स्वस्तिन इन्द्रो वृद्धश्रवा स्वस्ति न पूषा विश्ववेदा:, स्वस्ति नस्ताक्ष्यों अरिष्टनेमि स्वस्तिनो वृहस्पतिर्दधातु । दीर्घायु स्नायुवलायुर्वा शुभजातायु ।

ॐ रक्ष रक्ष अरिष्ठनेमि' स्वाहा । वामदेव शान्त्यमर्थमनु विधीयते सोऽस्माकं अरिष्टनेमि. स्वाहा ।[1]

इसके अतिरिक्त—

अर्हन्विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्क यजतं विश्वरूपम् ।
अर्हन्निदं दयसे विश्वं भवभुव न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति ।।[2]

अर्थात्–(अर्हन्) हे अरहन्त देव आप अज्ञाननाशार्थ (सायकानि) वस्तुस्वरूप धर्म रूपी वाणो को तथा (धन्व) उपदेश रूप धनुप को तथा (निष्क) आत्म चतुष्टय अर्थात् अनन्त दर्शन अनन्त ज्ञान अनन्त वीर्य और अनन्त सुख रूप आभूषणो को (विभर्षि) धारण किए हो तथा (अर्हन्) हे अरहतदेव आप (विश्वरूप) विश्व स्वरूप अर्थात् जिसमे समस्त विश्व प्रतिभासित होता है (त) उस केवल ज्ञान को यजन किए अर्थात् प्राप्त किए हो। (अर्हन्)—हे अरहत देव आप (इद) इस (विश्व) ससार के (भव भुव) समस्त जीवो की (दयसे) रक्षा करते हो (रुद्र !) हे, काम, क्रोधादि वडे-वडे प्रवल शत्रुओ को रुलाने वाले (त्वद्) आपके समान और कोई भी (ओजीयो) बलवान् (नवा अस्ति) नही है ।

अर्हन् या अर्हत् व निग्गठ या निर्ग्रन्थ जैनो के ही निगूढ शब्द है और जैन धर्म वहुत काल तक अर्हत् धर्म के ही नाम से जाना जाता रहा था ।

बाजस्य नु प्रसव आवभुवेमा च विश्वा भुवनानि सर्वत ।
सनेम राजा परियाति विद्वान प्रजां पुष्टि वर्धयमानो ।।
—अस्मै स्वाहा ।[3]

---

1 मोक्ष मार्ग प्रकाशक—(नाथूरामजी प्रेमी द्वारा प्रकाशित पृ० २०१/२०२)

2 (ऋग्वेद अष्टक २ अ ७ वर्ग १७)

3. (यजुर्वेद अध्याय ९ मंत्र २५)

अर्थात्—

(वाजस्य) भावयज्ञ अर्थात् आत्म स्वरूप को (प्रसव) प्रकट कर देने वाले ध्यान को (इमा) इस (विश्व) ससार के (भुवनानि) सर्वभूत जीवो को (सर्वत) सर्व प्रकार से (आवभूव) यथार्थ रूप कथन करके (स) जो (नेमि) श्री नेमिनाथजी बाईसवे तीर्थंकर (राजा) अपने केवल ज्ञानादि आत्म चतुष्टय के स्वामी (च) और (विद्वान) सर्वज्ञ (परियाति) प्रकट करते है जिनके दयामय उपदेश से (पूजा) जीवो को (पुष्टि) आत्म-स्वरूप की पुष्टता (तु) शीघ्र (वर्धयमानो) बढती है (अस्मै) उस नेमि नाथ जी को (स्वाहा) आहुति प्रदान हो ।

आतिथ्य रूपं मासरं महावीरस्य नग्नहु ।
रूपमुपासदामेतत्तिस्रो रात्री सुरासुता ।।[1]

अर्थात्—

"(आतिथ्यरूप) अतिथि स्वरूप पूज्य (मासर) महिना आदि के उपवास करने वाले (महावीरस्य) कामादिक प्रवल शत्रुओ के जीतने वाले वीर अर्थात् महावीर तीर्थंकर देव के (नग्नहु) नग्न (रूपम्) स्वरूप की (उपासदाम्) उपासना करो जिससे (एतत्) ये (तिस्रो) तीनो (रात्री) अज्ञान अर्थात् सशय विपर्यय और अनध्यवसाय और (सुरा) मद-अर्थात् धनमद, शरीरमद, और विद्यामद (असुता) उत्पत्ति नही होती है ।

ये उद्धरण श्री नाथूराम जी द्वारा ढूढारी भाषा मे प्रकाशित मोक्ष मार्ग प्रकाशक के परिशिष्ट १ पृष्ठ ४८९–४९० पर है और वही से साभार उद्धृत किए हैं । धार्मिक विद्वेष से बाद के सकलित वेदो मे इस प्रकार के बहुत से सकेत विलुप्त कर दिये है । यह कितने दुर्भाग्य पूर्ण बात रही है ।

ऋग्वेद अ २९ अ ४ व २०४ मे अरिष्ट नेमिका आह्वान तथा यजुर्वेद अध्याय २६ मे, व अध्याय ९ के २९ वें मत्र मे तथा सामवेद प्रपा. ९ अ ३ मे भी अरिष्टनेमि की स्तुति है ।

वेदो को ब्रह्मवाणी माना जाता हे इन वाणियो मे वस्तुत ऋषिगणो ने अपने नाना प्रकार के उद्गार भाव, स्तुनिया तथा ऐतिहासिक पुरुषो व घटना तथ्यो के सकेत दिये है । यही नही, इनका ऐतिहासिक मूल्य भी है, इसको वेदात दर्शन मे स्वीकार भी किया गया है—

वेदों का ऐनिहासिक मूल्य

युगान्तेऽन्तर्हितान् वेदान् सेतिहासान् महर्षय ।
लेभिरे तपसा पूर्वमनुज्ञाताः स्वयम्भुवा ।।[2]

---

1 (यजुर्वेद, अध्याय १९ मत्र १४)
2 (वेदात दर्शन, शांकरभाष्य १/३/२९)

अर्थात्—"युग के अन्त मे लुप्त इतिहास युक्त वेदो को महर्षियो ने स्वयंभू भगवान की अनुज्ञा से तप द्वारा पूर्वकाल मे प्राप्त किया ।

यहा स्वयंभू भगवान वृषभदेव का नाम है और "तप" उनके "तपोयोग"—विशिष्ट योग आत्म-साधना को प्रकट करता है ।

इस श्लोक को श्री शकराचार्य ने महर्षि वेदव्यास कृत माना है । इससे भी स्पष्ट है कि वेदव्यास वेदो मे इतिहास मानते थे ।

महर्षि दयानन्द ने वेदो को ईश्वर प्रणीत तथा सृष्टि के प्रारम्भ में प्रकट माना है । वैदिक काल से ईशरचित मानने की जो बात चली आ रही थी, उसे नकारना महर्षि दयानन्द को सरल नही हुआ ।

वेदो में इतिहास

श्री राम स्वरूप शास्त्री "रसिकेश" ने "वेदो मे इतिहास" पर अपना विमर्ष अपने एक लेख (सरिता) अंक (५५) जुलाई (प्रथम)—१९७८—पृ ३७-४४१ मे इस प्रकार प्रस्तुत किया है—

"अब स्वामी दयानन्द के सामने एक समस्या खड़ी हो गई वह यह कि यदि वेद सृष्टि के आरभ मे प्रकट किए गए तब उनमे ऐतिहासिक व्यक्तियो के नाम नही होने चाहिए । परन्तु जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है वेदो मे च्यवन, विमद, तुग्र, भुज्य आदि सेकडो व्यक्तियो के नाम विद्यमान है । पुराने भाष्यकारो ने इस शका का समाधान यो किया कि च्यवन, विमद आदि व्यक्ति प्रत्येक कल्प मे होते है । इस प्रकार वेदो मे इतिहास है तो सही, परतु वह नित्य इतिहास है, जो प्रत्येक सृष्टि मे दोहराया जाता है । इन प्रकार वेदो को ईश्वरकृत भी मान लिया गया और नित्य इतिहास से युक्त भी । पर स्वामी दयानन्द को यह युक्ति नही जची, इसलिए उन्होने तुग्र, भुज्य आदि व्यक्तिवाचक नामो के अर्थ धातुओ के आधार पर और के और कर दिए। उदाहरणार्थ उन्होने "तुग्र" का अर्थ "शत्रु हिंसक सेनापति" कर दिया और उसके पुत्र "भुज्य" का अर्थ "राज्यपालक व सुख भोक्ता" । यह बात ऐसी ही हास्यापद है जैसे कोई कहे कि रामायण मे "दशरथ" का अर्थ कोई भी "दस रथो वाला" व्यक्ति तथा राम का अर्थ कोई भी "रमने वाला मनुष्य है ।"—यहाँ यह भी कह दें कि व्यक्ति वाचक ऋषभ या वृषभ के अर्थ श्रेष्ठ या बैल तथा अरिष्टनेमिका अर्थ रथ का पहिया,—ऐसे अर्थ भी इसी प्रकार हास्यास्पद है और ऐसे अर्थ वस्तुत मत विद्वेष से ही किये जाते हैं ।

"कठिनाई यही नही थी, एक और भी थी—साहित्य मे अतीत की घटनाओ का प्राय भूतकालिक क्रियाओ द्वारा प्रकट किया जाता है, यह स्वाभाविक ही है । वैदिक ऋषियो ने भी इसी

प्रकार अश्विनी आदि के अनुग्रह पूर्ण कार्यों का वर्णन प्राय भूतकाल मे किया है । इन क्रियाओ से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ऋषि पुराने इतिहास का वर्णन कर रहे है । स्वा दयानन्द ने भूनकालिक क्रियाओ का अर्थ वर्तमान काल विधि लिंग काल आदि मे कर किया है ।"

सत्य अर्थ न कर अभीष्ट अर्थ किये गये है

आगे लेखक ने मत प्रकट किया है—"पर सचाई यह है कि जहा सत्य अर्थ को छोड कर अभीष्ट अर्थ किये जाते है वहा पाठको के पल्ले कुछ नही पडता ? यही कारण है कि स्वा दयानन्द तथा अन्य आर्य समाजी विद्वानो के वेद-भाष्य न एक दूसरे के अनुकूल हे, न परम्परागत वेद भाष्यो के ।"

ऋग्वेद का एक यह मत्र है ।

"युवं परास्तुवते कृष्णियाय विष्णाप्वं द दथु विश्वकाम ।
घोषायै चित् पितृपदे दुरोणे पतिं जूर्यन्त्या अश्विवायदत्तम् ।।[1]

यह एक घटना को वर्णित करता है—हे नेता अश्विनी कुमारो । तुम दोनो ने कृष्ण के पुत्र स्तुतिकर्ता विश्वक को उसका पुत्र विष्णाप्‍यु दे दिया था । तुमने पिता ही के घर बूढी होती हुई घोषा को पति प्रदान किया था ।

इस मत्र के अर्थ स्वा. दयानन्द प. वैद्यनाथ शास्त्री, तथा प. जयदेव शर्मा ने जिस तरह भिन्न भिन्न रूप मे दिए है उनका उल्लेख करते हुए अन्त मे श्री रसिकेशने प्रकट किया है—"सचाई यह है कि अश्विनी कुमार दो देवता है, और अश्विनी के पुत्र है । परन्तु स्वा दयानन्द ने (स्वा दया-नन्द—ऋग्वेद भाष्य तृतीय वृत्ति मे) इनका अर्थ सभापति और सेनापति दिया है, तथा प वैद्यनाथ ने (वैदिक इतिहास विमर्ष पृ. २१८ मे) राजा और पुरोहित कर दिया है, तथा प. जयदेव शर्मा ने (ऋग्वेद भाष्य पचमावृत्ति पृ ७०७ मे) विद्वान् स्त्री और पुरुष कर दिया है । घोषा काक्षीवान की पुत्री थी परन्तु स्वा दयानन्द ने उसका अर्थ खेती, प वैद्यनाथ ने विधवा स्त्री और प जयदेव ने वेद-विदुषी कर दिया है ।"

"इसी प्रकार द द थु व अदत्तम—दोनो क्रियाये भूतकाल की वाचक हैं । उक्त महानुभावो ने इनके अर्थ "दो, देते है, प्रदान करो" रूप से क्रमश कर दिये है । यह सब उलट फेर इस कारण करना पडा कि वेदो मे इतिहास सिद्ध न हो जाये । "अन्त मे विद्वान् लेखक ने कहा है—" निष्पक्ष वेदाध्ययन से यही सिद्ध होता है कि वेद प्राचीन ऋषियो द्वारा प्रणीत ग्रन्थ है, जिनमे प्रार्थनाओ,

---

1. (ऋग्वेद १/११७/७)

उपदेशो के अतिरिक्त ऋषि-मुनियो, राजाओ आदि का इतिहास पर्याप्त मात्रा मे विद्यमान है। जब तक हम उन्हे ऐसा न मानेगें, तब तक उनका वास्तविक अर्थ समझने मे सर्वथा असमर्थ रहेगे।"

ऋ १०/९०/६ यजु. ३१/७, अथर्व, १९/६/१३—तीनो वेदो मे एक साथ कथन मे आये इस मत्र का उल्लेख कर लेखक ने प्रकट किया है कि इसके रचयिता ऋषि नारायण हैं, और देवता "पुरुष"। यह नारायण ऋषि नारायण देवता से सर्वथा भिन्न है। नारायण व देवता की एकता का भ्रम रहा होगा, इसी कारण फिर वेदो मे भी ऐसे मत्र डाल दिये गये जिनमे वेदो को नारायण ईश यानी ईश्वर द्वारा रचित कहा गया।"

विद्वान् लेखक ने अपने विवेचन द्वारा ये निष्कर्ष प्रकट किये है—

(१) स्वा दयानन्द तथा उनके अनुगत विद्वानो का वेदाध्ययन निष्पक्ष नही है, उनके द्वारा काल वाचक क्रियाओ के अर्थ नही, अनर्थ किये गये है। और ये अनधिकार पूर्ण हैं।

(२) वेदो मे इतिहास है। सैकडो मत्रो से सिद्ध होता है कि वैदिक ऋषि प्राचीन घटनाओ को ऐतिहासिक सत्य ही मानते थे। इसके अतिरिक्त यह भी न भूलना चाहिए कि सायण आदि प्राचीन वेद-भाष्यकार भी वेदो मे इतिहास होना स्वीकार करते है।

(३) वेद ईश (ईश्वर) द्वारा विरचित नही है, इनको ईश्वर द्वारा रचित कहना मात्र भेडियाधसान है।

यही नही हम तो यह मानते है कि प्राचीन इतिहास को विलुप्त करते की चेष्टा देश, जाति उसके व्यक्तित्व सस्कृति गौरव और सम्मान के साथ द्रोह है। ऐतिहासिक व्यक्तियो की गौरवपूर्ण गाथाओ को विलुप्त कर कर देने के प्रयास, उपदेश परक अर्थ देकर भी कभी प्रशसनीय नही हो सकते। इससे तो देश की ओजस्विना गौरवपूर्ण इतिहास, सस्कृति तथा सम्मान ही नष्ट हुये हैं। यह तो देश के चारित्र-हनन करने का अपराध है। ऋषभादि प्राचीन तीर्थकरो, प्राग्-ऐतिहासिक सत्य-पुरुषो के वेदो मे उल्लेखो के अर्थ भी इसी प्रकार अनर्थ करके प्रस्तुत किये गये है।

अखिल धर्म संप्रदायो का एक आदि धर्म प्रवर्तक

इस विश्व मे जितने भी धार्मिक सप्रदाय हैं उनके मूल मे एक आदि धर्म प्रवर्तक एक ही है—ऐसा हमारा निष्कर्ष है और वह आधार हीन नही है। ऐसा ही एक निष्कर्ष "मनीषी की लोक-यात्रा" मे पृ. १४४ पर अध्याय १८ मे वृद्ध महाशय की प्ररूपणाओ का साराश देते हुए महा महोपाधाय कवि-रत्न प गोपीनाथ द्वारा भी दिया गया है—

"ससार मे जितने धार्मिक सप्रदाय है, सब के मूल मे प्रवर्तक एक ही है, दिशा,

काल तथा अधिकारी भेद से विभिन्न मार्ग प्रवृत्त हुए हैं।"

"गोवत्स" ऋषभ प्रभु की प्राण विद्या जो सुरों को प्रथम प्राप्त हुई

अति प्राचीन काल मे यह मनुष्य जाति एक ही थी। मनु की सतान होने से मानव नाम हुआ और ये ही आर्य कहलाये थे। इनमे ही सुर तथा असुर थे और असुर सुरो के ज्येष्ठ भ्राता थे। सुरो ने समुद्र-मथन से प्राप्त अमृत का पान किया, असुर वचित रहे। इसका अर्थ यह ही है कि सुरो को अध्यात्म विद्या असुरो से पहले प्राप्त हुई थी, तथा कथा यह भी है कि असुरो ने सुरो पर विजय पाकर, सुरो का पीछा किया तव देवो ने गो-वत्स वृषभ के नाद (अर्थात् वृषभदेव का अनक्षर, अस्वर, दिव्य ध्वनिमय प्रवचन) सुना और असुर उसमे गति नही कर सके। इस कथा से पता चलता है कि भ० वृषभदेव ने अमृत मयी प्राणविद्या को अपनी दिव्य-ध्वनि द्वारा प्रवर्तित किया था और यह विद्या आर्यो मे देव (सुर) पुरुषो को प्रथम प्राप्त हुई थी। गोवत्स वृषभ की और भी कथाएं है। असुर भी भ० वृषभेश्वर द्वारा दीक्षित हुए—यह इन्द्र और वैरोचन के आख्यान से पता चलता है।

पूर्व देवाः तथा पूर्व ऋषि : वैदिक आर्यो से भी पूव थे

देव आर्य वैदिक आर्यो से भी पूर्व भारत मे थे। इनमे से ही प्राचीन सुर (देव) आर्यों को ही वेदो मे अत "पूर्व देवा" कहा गया है। परतु कालान्तर मे याज्ञिक वैदिक आर्यो का जव प्रभाव तथा सत्ता बढी तो इन्हे देव कहना भी छोड दिया गया क्योकि ये आर्हत्-धर्म मे थे। सुर (देव) आर्य भी वशिष्ठ आदि याज्ञिक ऋषियो के प्रभाव मे होने लग गये थे। पूर्व देवो के उपासको को ऋग्वेद मे "पूर्व ऋषि" कहा गया-"अग्नि पूर्वोभि ऋपि भिरीजयो नूतने सत"-ऋग्वेद (१,१,२)।

असुर (अहुर) आर्हत् और वार्हत्

असुर शब्द ईरानी "अहर" यानी पारसियो का अहर था और इसी से अहुरमाज्दा शब्द बना प्रतीत होता है। आर्हत्-आर्य अर्हत् तीर्थकर द्वारा प्रचलित धर्म को मानते थे, तथा वार्हत् आर्य यज्ञ-प्रधानी कर्म-काडी वेद धर्म के उपासक थे। आत्म-प्रधानी अहिंसक और तपोमय धर्म सहज मानव धर्म के रूप मे सनातन धर्म ही चला आ रहा था। इसी परम्परा मे सोलह कुलकर मनु हुए और ऋषभदेव के पिता महाराजा नाभि व माता श्री मरुदेवी अपने पुत्र ऋषभदेव को राज्य सभला कर हिमालय के बदरिका प्रदेश मे दिगम्बरी प्रव्रज्या लेकर तप करने चले गये थे।

अनादि धर्म प्रवाह

ऋषभदेव ने भी जव दिगम्बरी दीक्षा लेकर तप करके केवल ज्ञान प्राप्त किया, तो उन्होने इसी अनादि सद् आत्म धर्म का प्रवचन दिया। इस प्रकार वे वर्त्तमान युग मे योग-शासन के प्रथम प्रवक्ता प्रथम तीर्थकर हुए। उनसे पूर्व अतीत युग मे भी २४ तीर्थकर हुए, भविष्यत् युग मे भी २४ तीर्थकर होगे-इस प्रकार अनादि काल के भूत वर्तमान व भविष्यत युग मे तीर्थकरो का धम शासन प्रवाह

अवाध ही रहता है, सनातन ही रहता है। इस धर्म का कभी लोप नही होता-क्योंकि आत्मा द्रव्य अव्यय वशाश्वत् है और उसके धर्म का कथन करने वाला धर्म भी शाश्वत् ही है। उनके समवशरण मे सब ही मनुष्य जाति,–आर्य, अनार्य, देव, व असुर आदि ने धर्म प्रवचन श्रवण किया।

ऋषभदेव और द्राविड़

अनेक मानव जातियो,–ऋक्ष, रक्ष, यक्ष, राक्षस किन्नर नाग आदि इस धर्म मे दीक्षित हुई, और इसी मे द्रविड जाति भी थी। तथा इन द्राविडो मे ही विद्याधर भी थे, जो नाना विद्याओ तथा कला कौशल और सभ्यता मे बहुत अग्रसर रहे। द्रविड ऋषभदेव के अनेक पुत्रो मे एक पुत्र भी कहा जाता है और द्राविड उसकी ही सतति भी बताई जाती है।

ऋषभ के पुत्र भरत, राज्य भारत, राजधानी हस्तिनापुर

ऋषभदेव ने राज्य भरत को दिया जो ज्येष्ठ पुत्र थे, और वे विश्व-विजेता हुए। उनके नाम से ही यह देश भारत वर्ष कहलाया। वे इस भारतवर्ष के प्रथम आदि-सम्राट व प्रथम चक्रवर्ती महाराजा हुए। ऋषभदेव के राज्य काल मे राजधानी अयोध्या थी। भरत ने गजपुर अर्थात् हस्तिनापुर को राजधानी बनाया।

लिपि और ज्ञान विज्ञान के पुरस्कर्ता महाराजा ऋषभ

ऋषभ महाराजा ने ही सवप्रथम देव लिपि व ब्राह्मी लिपि इस विश्व को दी। पशु पालन कृषि पालन आदि रूप मे कृषि मसि असि आदि लोगो को उन्होने सिखाया। उन्होने ही अक्षर मय उद्गीथ विद्या, और फिर निरक्षर (ध्यान-समाधि) की विद्याए सिखाई।

इनसे ही परम पद परमेष्ठी की मूल उद्भावना

इनसे ही "परमेष्ठी पद की मूल उद्भावना प्रकट हुई। सायण ने परमेष्ठिन् का लक्षण 'परमे- *निरतिशय स्थाने वर्तमान.*" दिया है। अथर्ववेद मे इस परमेष्ठी पद को प्रजापति, ब्रह्मा चतुर्मुख ब्रह्मा आदि शब्दो से पहचाना गया (अथर्व ६/३/११ तथा १०/२/२०,२१) वे सब सज्ञाए भ० ऋषभदेव की ही है। तथा अब तो परमेष्ठी सज्ञा जैनो मे पचपरमेष्ठियो के लिए भी है। वेद मे ऋषभ देव ही अज, विरचि, चतुर्मुख ब्रह्मा के रूप मे स्तुत हुए है।

ऋषभ पुत्र भरत, भारत और भारत देश

"भारतीय सस्कृति का इतिहास" पुस्तक मे अध्याय २ पृष्ठ ३१ अनुच्छेद "भारतवर्ष" मे श्री चतुरसेन शास्त्री ने इस प्रकार प्रकट किया है–"भारतवर्ष–इस भूखड का प्राचीन नाम भारतवर्ष है। यह नाम स्वायभुवमनु के वशज ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर पडा था। विष्णु पुराण और

वायु पुराण के कथनानुसार समुद्र के उत्तर और हिमालय का दक्षिण देश भारतवर्ष कहलाता है-क्योकि वहा भारतीय प्रजा रहती थी जो भरत के ही अंश मे थी।" इस प्राचीन महापुरुष "भरत" से ही भारत्तीय प्रजा व उनके वशज भरतजन कहलाये और समग्र भारत भरत-जनो का। श्री ऋषभदेव पुत्र भरत महाराज के नाम पर ही इस देश का "भारतवर्ष" नाम करण हुआ है-यह निर्विवाद है। यह नामकरण व्यक्ति-निष्ठ नामकरण ही है-और इस देश मे, नगरो, प्रदेशो आदि के व्यक्ति निष्ठ नाम करण करने की परंपरा चली आई लक्षित ही है।

इसी पुस्तक मे पृ० १०१ मे यह वर्णन दिया है—

भरत वंश वेद पूर्व अत भारतो का ही उल्लेख

"ऋग्वेद मे भरतो का कही नामोल्लेख नही है,—क्योकि भरतवश वेद पूर्व का वश है। इस वश के उत्तर मे वेदोदय हुआ।"-इसी मे आगे कहा गया है— "मनु-भरतो के प्रसिद्ध सर्व विजयी नेताओं ने भारत से बाहर अपने प्रबल राज्य स्थापित कर लिए थे। भरतो का भारतीय राजवश दक्ष प्रजापति के बाद समाप्त हो गया। पौराणिक कथा प्रसिद्ध है कि दक्ष प्रजापति का यज्ञ-काल मे उसके जामाता रुद्र ने वध किया था। यह घटना किसी हद तक सही हो सकती है। परन्तु रुद्र दक्ष का जामाता नही, प्रदोहित्र प्रतीत होता है। वह दक्ष पुत्री वसु और सूर्य पुत्र यम के पुत्र 'धर' का पुत्र है। जो भी हो। दक्ष भरत वश का अन्तिम प्रजापति था, परन्तु उसके बाद भी भरत-वशियो के राज्य भारत की पश्चिमी सीमाओ पर कायम रहे। ऋग्वेद मे भरतवशी किसी प्रजापति का नामोल्लेख तो नहीं है, परन्तु "भारतो" का उल्लेख बहुत है। ये भारत वही मनुभरत थे और इनसे आर्यों के बडे-बडे निर्णायक युद्ध हुए थे।" यहा "आर्यो" से अभिप्राय वैदिक यज्ञ-प्रधानी आर्यो से है।

तृत्सु सुदास भरतो के कुल मे

श्री शास्त्री ने आगे बताया है—"ऋग्वेद मे "भरता" नाम बार बार आया है। यह नाम विशेषतः तीसरे या चौथे मडलो मे तृत्सु सुदास के नाम के साथ आया है। सातवे मडल मे-जो वशिष्ठ-सूक्त है उस से प्रकट होता है कि वशिष्ठ कुछ दिन तक भरतो के कुल गुरु रहे थे। तथा तृत्सु भी भरतो ही के कुल मे थे। इसी प्रकार विश्वामित्र के सूक्तो मे भी भरतो का बहुत उल्लेख है। ये सूक्त ऋग्वेद के तीसरे मडल मे है। भरतो के राजा सुदास से वशिष्ठ और विश्वामित्र-दोनो ही का सम्बन्ध था। एक सूक्त मे विश्वामित्र "भारत जन" का प्रयोग करते है। छठे मडल मे भारद्वाज के सूक्त हैं, वे भी उनमे भारतो का व भरतो का उल्लेख करते हैं।" पृ० ३६७, १०१-१०२।

महाभारत के कौरव पांडव-भारत-प्राचीन भारतो से भिन्न हैं

"ब्राह्मण ग्रन्थों मे भारत का अर्थ क्षत्रिय योद्धा या पुरोहित के अर्थ मे किया गया है। निरुक्तकार "भारत" शब्द का अर्थ सूर्य वश से सम्बन्धित कहता है। परन्तु महाभारत मे कौरव और

पाडव दोनो ही को भारत कहा गया है। यह वात महाभारत ही मे स्पष्ट कर दी गई है कि प्राचीन भारत प्रसिद्ध हैं–वे अपरे अर्थात् और है–महा० १३१/आ. अ ७४।"

आर्यावर्त की स्थापना का वर्णन करते हुए आगे लिखा है कि भारत मे आकर मनु ने सरयु तट पर अयोध्या वसाई और अपने पिता सूर्य के नाम पर सूर्यवश की गद्दी स्थापित की। वुध ने गगा-यमुना के सगम पर प्रतिष्ठान पुरी वसा कर अपने पिता के नाम पर चन्द्रवश की राजधानी वनाई–पृ० १५५

चक्रवर्ती भरत ने चन्द्रवशी पुरूरवा को परास्त किया

इसी चन्द्र वश मे पुरूरवा को भरत चक्रवर्ती ने विश्व-विजय के समय परास्त किया था तथा इसी के साथ सूर्य व चन्द्र वशियो मे विग्रह का वीज पडा। तथा इस चन्द्र वंश के पुरू से सूर्यवशी सुदास के साथ "दास राज्य युद्ध" हुआ। देव और असुर सग्राम के नाम से वारह युद्ध-सग्राम तीन सौ वरसो तक वरावर चलते रहने के उल्लेख है। इन्ही घटनाओ से आग्नेय, द्राविड और याज्ञिक आर्य सम्वन्धित थे। कहा गया है कि ययाति ने अपने छोटे पुत्र पुरू को चन्द्र वश की प्रधान गद्दी का अधिकारी वना शेष चार पुत्रो को सीमात राज्य देकर उन्हे आर्य-जाति से वहिष्कृत कर दिया था तथा आर्यावर्त क्षेत्र मे उनका विस्तार नही हो सकता था। इसी कारण उन्होने अन्य अनार्य राजाओ को मिलाकर पजाव के प्राचीन भारतो के राज्य को विध्वस कर, अपने राज्यो के विस्तार की चेष्टा की थी-जो सम्पन्न नही हुई।

इन्द्र अर्हन्न् अग्नि

ऋग्वेद मे ३/५३/१२ मे सुदास को "भारत"-अर्थात् भरतवशी कहा है। ऋग्वेद मे ७१/८/२३ मे इन्द्र को अर्हन्न्–अग्नि कहा है—"अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानम्" और सुदास को पिजवन (दिवोदास) का पुत्र वताया है। अर्हत् जैन तीर्थकर के लिए प्रसिद्ध है। प्रकट होता है कि तव इन्द्र अर्हतो, आत्म-अग्नि उपासको का भक्त था और भारतो, सूर्य वशियो का सखा था। ये भी उल्लेखनीय है कि भ० वृषभेश्वर (ऋषभनाथ) से लेकर प्राय सब ही तीर्थ कर (सूर्यवशी) है।

नहुष का भारतों द्वारा पराभव

पुरूरवा कौरववश के प्रणेता सोम (चन्द्र) का पौत्र था और असीरिया (असुर-प्रदेश) का था। परन्तु अपनी माता इला से प्रतिष्ठान पुर (प्रयाग) के राज्य को प्राप्त किया था तथा उसने इन्द्र को प्रसन्न करके उस देश की उर्वशी को भी पाया था, पर वह चक्रवर्ती सूर्यवशी भरत सम्राट से परास्त होकर असीरिया चला गया था और उसकी सतान ने भरतो को कर देना स्वीकार कर लिया था। महाभारत कार ने उसका पराभव ब्राह्मण द्वारा काल्पनिक रुप मे इसलिए दिखला दिया कि वह

इन प्राचीन भारतो की विजय यशो गाथा को प्रकट नही करना चाहता था। इसी प्रकार महाभारतकार ने नहुष की उदण्डता का तो उल्लेख किया मगर अन्तिम परिणाम क्या और किसके द्वारा हुआ वर्णित ही नही किया। परन्तु ऋग्वेद से पता चलता है कि सूर्यवशी भारतो ने नहुप को वश मे करके कर दाता कर लिया था—"सन्निरुध्या नहुपो यह्लो अग्नि विश्चक्रे वलि हृत सहीभि." (ऋग्वेद ७/६/५)।

असुर और देवों के संघर्ष की लहर

"जैन धर्म—प्रागैतिहासिक परम्परा" पुस्तक मे पृ० २५/२६ मे प्रकट किया गया है "असुर और देव सघर्ष की लहर ईरान से भारत तक फैली पाई जाती है। जिस प्रकार भारत मे असुरो के दमन वेद और पुराणो मे भरे पडे है, उसी वेद-यज्ञ के दमन की सूचना अरब मोनियन सम्राट असर्सस के ई० पू० पाचवी शती के शिलालेख से प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि भारत मे सुर–असुर सग्राम के समय असुरो द्वारा पशु–यज्ञ विरोधी मुनि या जैन-धर्म स्वीकार किये जाने का सूचक पौराणिक वृत्तान्त अपनी ऐतिहासिकता रखता है। विष्णु पुराण (३-१६-१२) के अनुसार असुर लोग आर्हत धर्म के अनुयायी थे अन्य २ पुराण मत्स्य पुराण (२४/४८-४६), पद्म पुराण सृष्टि खड (१३/१७०-४१३) व देवी भाग० ४-१३-५४-५६) से भी इसकी पुष्टि होती है। असुर राजा प्राय जैन सस्कृति व धर्म से सम्वन्धित हो गये थे और याज्ञिक सुर लोगो से उनका बाद मे सघर्ष बराबर होता रहता था। याज्ञिक सुर (देवो) ने पूर्व सुर आर्यो को पराभव कर दिया था तब आर्हत धर्म असुर राजाओ मे तो फलता हो रहा। विद्वेष के कारण ही असुर को हिंसक का पर्यायवाची बना दिया गया, वरना वे अहिसा मे विश्वास रखते थे।

राम का रावण के विरुद्ध अभियान भी यज्ञ रक्षा का ही मूलत प्रयोजन रखे हुए था। रावण महा विद्वान था और उसने प्राचीन आष्टिक जातियो आग्नेय सूर्य-वशियो और यज्ञ-प्रधानी वैदिको की सस्कृतियो को मिलाकर एक समन्वित सस्कृति के अर्थ वेदो का नया सस्करण वनाया था। उसकी माता सुमाली राक्षस की पुत्री थी और उसका पिता वेदज्ञ आर्य था और मातृ सत्तात्मक रूप से उसने नाना की सहायता करके स्वय को लकाधिपति बनाया था।

वेदो मे बेद पूर्व महापुरुषो के सकेत प्रमाणिक है

वस्तुत वेदो मे वेद पूर्व महापुरुपो के सकेत वडे प्रमाणीक है-यद्यपि वेदो के कई-२ बार सस्करण हुए और साम्प्रदायिक पक्षपात से उन संकेतो को वेदो से निकाल देने के भी प्रयास हुए है। यही कारण है कि प० टोडरमल जी ने "मोक्ष मार्ग प्रकाश" मे जिन ऋग्वेद आदि के उदाहरणो को दिया है, वे आज के सस्करणो मे से निकाले हुए है, और वे वहाँ नही मिलते। मगर फिर भी जो भी सकेत अवशिष्ट है, मूल्यवान है। जैनो को अपनी प्राचीनतम योग सस्कृति से वचित रखने के ही अर्थ वेदो के पठन से जैनो को निषिद्ध भी रखा गया है।

ो मे कर्म कांडी आर्यो के छन्द नहीं, अति प्राचीन पूर्व आर्यो के भी छन्द भी आये हैं

यह प्रकट ही है कि याज्ञिक छन्दो के अतिरिक्त अति प्राचीन पूर्व आर्यों से सम्बन्धित छदो का भी कलन ऋग्वेद मे आया है। जो प्राचीन सूर्यवशी पूर्व आर्य भारतो से-न कि वैदिक याज्ञिक कर्मकाडी आर्यो सबधित है। आर्यों के ही छन्द "जेन्द" रूप मे पारसियो में "जेन्दा वस्ता" प्रसिद्ध हुए। ये जेन्द अगिरा पि से प्रभावित हुए माने गये हे। ये अगिरा ऋषि प्रजापति (भ० ऋषभदेव) के मानस पुत्र कहे ते है। अर्थात् ये प्रजापति ऋषभदेव (हिरण्यगर्भ) की ही परम्परा मे हुए है। ऋषि गिरस ही तीर्थंकर नेमिनाथ थे ये भी सकेत होना माना गया है- जिनसे कि श्री कृष्ण ने उपदेश या। अगिरा अग्नि शब्द का पर्यायवाची है। इस प्रकार अगिरा-ऋषि की परम्परा प्राचीन भारतो ही धर्म से जुडी है। ये निर्विवाद है कि "जेन्द" से यहूदी धर्म प्रभावित हुआ और यहुदी र्म ने इस्लाम और ईसाई धर्म को प्रभावित किया। इस प्रकार परम्परा से आर्हत् धर्म ने विश्व सारे ही महान् धर्मो को प्रभावित किया है।

र्य बशी इन्द्र "इन्क" एक उपाधि, विष्णु पूजन सूर्य पूजन ही थी

"अनाम की खुदाई मे जो लेख मिले हैं, उनसे प्रकट होता है कि इनके राजाओ की उपाधि र्यवशी इन्द्र थी-जो "इन्क" के नाम से प्रसिद्ध थी। यहाँ मिश्र से मिलती जुलती सूर्यपूजा भी प्रचलित ी। वैष्णव धर्म मे प्रथम विष्णु ही की पूजा प्रचलित हुई जो सूर्य-पूजन ही थी। कुछ लोगो का कहना ा कि वैदिक विष्णु ही द्राविडो के एक आराध्य देवता हैं"-आ चतुरसेन भारतीय ग्स्कृति का इतिहास ृ 152। इससे सहज निष्कर्ष होता है कि वैदिक विष्णु सूर्य ही था, अन्य नही।

इससे भी प्रकट होता है कि सूर्य-वशियो मे केवल ज्ञान सूर्य भ. ऋपदेव की पूजा सूर्य प मे की जाती थी। वे ही आदित्य वर्ण भी कहे जाते थे और आदित्य भी तथा उनही का नाम वस्वत भी था। इन्हे ही भागवतादि शास्त्रो मे विष्णु का विशेप अश व नर नारायर्ण हरि ादि रूप से स्वीकार किया गया।

अब भी तीर्थंकर अर्हतपरमेश्वर का ध्यान सूर्य सम प्रभा भास्वर ज्ञान मडल मध्यस्थ स्थापित रके किया जाता है। गायत्री मत्र भी इन्ही से सबन्धित है तथा भक्तामर मे जहा इन्हे आदित्य- र्ण कहा गया वहाँ यजुर्वेद मे आदित्य तथा वेद व पुराणो मे महाद्युतिमान भी।

ूर्य और अग्नि समानार्थक और भरत का अग्नि रूप में तथा देवो का अग्नि धारण के वर्णन

"स्वामी कर्मानन्द ने अपनी पुस्तक" भारत का आदि सम्राट" मे लिखा है--

शतपथ ब्राह्मण मे स्पष्ट लिखा है --"भरतः एष सूर्यः-अर्थात् भरत ही सूर्य है, तथा च 'अग्नि वै भरतः" (शत पथ १/४/२/२) अर्थात् अग्नि ही भरत है। अग्नि और सूर्य एकार्थ वाचक भी

है। ऋग्वेद मंडल सूक्त ९६ मे इसका सुन्दर वर्णन है-"ऊर्ज. पुत्र भरत सुप्रदानु देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्" (३) इस मत्र, का अर्थ करते हुए श्री सायणाचार्य लिखते हैं कि "प्राण रूपेण सर्वासा प्रजाना भर्तारम्। अर्थात् प्राण रूप होकर सम्पूर्ण प्रजा का पालन करने वाले भरत—यह हुआ ऊर्ज पुत्र का अर्थ। आगे लिखते हैं कि सुप्रदानु "अविच्छेदेनधनानि प्रयच्छन्तम्"—अर्थात् विना बाधा के निरन्तर दान देने वाला। ऐसे दानी भरत को देवो ने धारण किया। इस मत्र मे अग्नि शब्द भरत का विशेषण है—इसलिए "देवा अग्नि धररयन्"—अर्थात् देवो ने अग्नि को धारण किया यह अर्थ है। सायणाचार्य जी का अर्थ यद्यपि सुन्दर है, फिर भी हम उससे सहमत नही—क्योकि ऊर्ज शब्द है, जिसके अन्न, वल आदि अनेक अर्थ है।"......ऊर्ज शब्द का अर्थ वल उत्साह होता है —वही अर्थ अभिप्रेत है। इसी सूक्त के प्रथम मत्र मे इसको स्पष्ट कर दिया है —"स प्रत्नया सहसा जायमान' काव्यानि वलधत्त विश्वा। आपश्च मित्र धिषणा च साधन्देवा अग्नि धारयन् द्रविणोदाम्।" अर्थात् सहसा वल से उत्पन्न अग्नि (भरत) ने उत्पन्न होते ही अर्थात् जन्मते ही पुराने सम्पूर्ण काव्यो को सद्य' शीघ्र ही धारण कर लिया—अर्थात् वह जन्मते ही ज्ञानी हो गया तथा शील स्वभाव रूप वाणी उसका मित्र रूप से कार्य सिद्ध करने लगी। ऐसे दानी अग्नि को देवो ने धारण किया। आगे लिखा है—

"स पूर्वं या निविदा कव्यतायोरिमा प्रजा अजनयन्मनूनाम् विवस्वता चक्षसा द्याम पश्चादेवा धारयन्द्रविणोदाम्"—अर्थात् उस अग्नि से, पूर्व कवियो की कविता अर्थात् उपदेशानुसार मनुष्यो की प्रजा को उत्पन्न किया अर्थात् शिक्षित करके उस साचे मे ढाल दिया। इसके पश्चात् अपने तेज से द्युलोक और अन्तरीक्ष लोक का स्वामी हो गया। अप. का अर्थ समुद्र है और द्याम का अर्थ पार्वतीय देश है। यह अग्नि कौन है ? यह मत्र जिन पर लिखा है—जिसको हम लिख चुके हैं। यह सम्राट् भरत है। इस मत्र मे कई शब्द वडे महत्व के हैं। एक तो मनुना प्रजा-यहा मनु शब्द के वहुवचन होने से सिद्ध हो गया कि भरत सब मनुओ के वाद हुआ, तथा यह भी सिद्ध हो गया कि मनु और भरत एक नही, पृथक पृथक हैं। दूसरा शब्द "पूर्व या निविदा" अर्थात् पूर्व उपदेश इन भरत महाराज को पिता जी मे मिला था जिसका नाम यहाँ "सहसा" अर्थात् वल है। वेदो मे ऊर्ज शब्द भी है—जिसके पुत्र भरत वतलाये गये हैं। यह सब एक ही व्यक्ति के नाम हैं, जिसको हम ऋषभदेव के नाम से जानते हैं। ताण्डव ब्राह्मण मे जो कि सामवेद का ब्राह्मण है, स्पष्ट लिखा है—"वीर्य का ऋषभ.।"[1]

"अर्थात् वीर्य वल ऋषभ है। अत सिद्ध हो गया कि ऊर्ज, सहज, ऋषभ आदि शब्द एकार्थक है। अत इस पुण्य भूमि के प्रथम चक्रवर्ती का नाम भरत तथा सूर्य है। इसी से भारतवर्ष नाम इस देश का हुआ। पहले इस देश का नाम अजनाभ था। यह भागवत मे लिखा है। अब से यह भारत कहलाने लगा और इन्ही के नाम से सूर्यवश चला। इस चक्रवर्ती ने समुद्रो पर तथा पहाडी देशों पर भी अपनी वैजयंती फहराई थी, यह वेद भगवान ने सिद्ध कर दिया। भगवान् ऋषभदेव का वर्णन हम

1. (ताण्डव ब्रा ८/९/१४)

आगे दूसरे ग्रन्थ मे करेगे—उनकी स्तुति मे वेदो का बहुत बडा भाग रचा गया है। इसी प्रकार भरत महाराज और भारतो के लिए भी बहुत कुछ स्पष्ट किया है। हम लोग वैदिक शैली को भूल गये है—इसलिए यह सब विवाद है—परन्तु अब तो प्रकाश का समय है। इसलिए अवश्य ही प्रकाश होगा।"

भरत से भारत

जिस प्रकार निरुक्त मे (भरत आदित्यस्तस्य भा भारती) भारती को सूर्य की शोभा कहा है। उसी प्रकार ऋग्वेद मे ३/६२/३ मे भी भारती को सूर्य की पत्नी लिखा है—इससे भी भारत भूमि ही अभिप्रेत है।

भरत के पुत्र

स्वा कर्मानन्द ने लिखा है—

"आमन्थिष्टां भारत रेवदग्निय देवाश्रवा देववात सुदक्षम्।"[1]

अर्थात् भरत के तीन पुत्रो ने अग्नि को मथन द्वारा उत्पन्न किया। इन पुत्रो का नाम था (१) देवश्रवा (२) देववात और (३) सुदक्ष। जैन साहित्य मे भरत के सबसे बडे पुत्र का नाम अर्ककीर्ति अथवा आदित्ययश है। देवश्रवा अर्ककीर्ति आदित्ययश आदि नाम समानार्थक हैं। इसलिए जैन साहित्य और वेद का कथन परस्पर मिल जाता है। इस वैदिक प्रमाण से भी मनु तथा दौष्यन्ति भरत की मान्यता का स्पष्ट खण्डन की जाता है, क्योकि दौष्यन्ति भरत के तो कोई सतान ही नही थी। अन्त मे उसने एक पुत्र गोद लिया था। इस प्रकार किसी भी मनु के तीन पुत्रो का कथन भारतीय साहित्य मे नही है। इसलिए भी ऋषभदेव जी के पुत्र भरत के कारण ही इस देश का नाम भारत वर्ष प्रसिद्ध हुआ था—यह वेद से भी सिद्ध है।

पूर्व भरत दौष्यन्ति भरत से अति प्राचीन

अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुता।
भरतस्यान्वाये हि देवकल्पा महोजसा॥[2]

अर्थात् इनसे पृथक (यानी दौष्यन्ति भरत के चन्द्र वशियो से पृथक) पहले के भारत हमने सुने हैं—वे सब देवो के समान तेजस्वी है। इससे स्पष्ट हो गया कि जिन भारतो का वर्णन महाभारत मे सौति ने किया है, उससे बहुत पहले इस भारतवर्ष मे भरतवश था, और वह देवो के समान बडा

1. (ऋ० ३/२३/२)

2 (आदिपर्व अ० ७४/१३५)

तेजस्वी और महापराक्रमी था। ये प्राचीन भारत इस अतिम (दौष्यन्ति) भरत के पहले हुए भरत के वशज थे,—भारत नाम से विख्यात हो चुके थे—यह पूर्व भरत स्वय सूर्य थे तथा ऋषभदेव के पुत्र थे।

निविद शास्त्र जो आज उपलब्ध नहीं

महाराज भरत के एक अन्य नाम अनग होने का भी स्वा. कर्मानन्द ने जिक्र किया है। महाभारत शाति पर्व मे युधिष्ठिर के राजन् शब्द की व्युत्पत्ति के पूछने पर भीष्म ने उत्तर मे कहा —प्रथम कृतयुग मे राजा थे ही नही। उस समय सब लोग स्वतन्त्र थे। परन्तु आगे चल कर काम क्रोध लोभ आदि के कारण ज्ञान का लोप हो गया और धर्म का नाश होने लगा। उस समय ब्रह्मा ने अपनी बुद्धि से एक लाख अध्याय का एक ग्रथ बनाया। उसमे धर्म, अर्थ, काम का वर्णन किया। तथा उसमे राजनीति भी विस्तार से बताई। यह ग्रन्थ ब्रह्मा ने शकर को सिखाया। तथा आगे लिखा है कि शकर ने इन्द्र को, इन्द्र ने बृहस्पति को सिखलाया। तथा आगे लिखा है कि ब्रह्मा ने यह ग्रन्थ पृथ्वी के प्रथम राजा अनग को दिया और उससे कहा कि इस शास्त्र के अनुसार राजकार्य करो। जब उसके पौत्र वेन ने इन नियमो का उल्लघन किया, और यह अपनी प्रजा को कष्ट देने लगा, तब ऋषियो ने उसे मार डाला तथा उसकी जघा से पृथु नाम का राजा उत्पन्न किया। उसे ब्राह्मणो और देवताओ ने कहा कि राग और द्वेष त्याग कर सब लोगो के साथ समानता का व्यवहार कर। —"ऐसे यहा भरत का नाम अनग भी मिलता है। स्वामी कर्मानन्द ने आगे यह भी प्रकट किया है कि ब्रह्मा और ऋषभदेव एक ही व्यक्ति थे। तथा एक लाख अध्याय का ग्रन्थ या तो काल प्रभाव से नष्ट हो गया अथवा जानकर नष्ट कर दिया गया। यदि आज यह ग्रन्थ उपलब्ध होता तो भारतीय कीर्ति का सूर्य आज मेघाच्छन्न न होता। वेदो मे उस मूल ग्रन्थ के मन्त्रो का नाम "निविद" लिखा है—(देखो ऋग्वेद १/८६/१२) तथा (ऋग्वेद १/६६/१२)। राज्य प्रथा प्रचलित होने का यह वर्णन जैन पुराणो के अनुकूल ही है।

प्राचीन आर्य अहिंसा प्रधानी

"ऋग्वेद मे सूर्य या चन्द्र वश के नाम नही है क्योकि ये नाम बाद मे प्रसिद्ध हुए। जब सूर्यवशी भारतो का सूर्य अस्त हुआ तो चन्द्र वशियो ने भारतवर्ष का राज्य भोगा और उनमे ही कौरव वशी हुए। ये चन्द्र वशी आर्य हिंसामय यज्ञ प्रधानी थे और सूर्य वशी प्राचीन आर्य अहिंसा प्रधानी थे। ये भी कहा जाता है कि इनके सग्राम राज्य सत्ता तथा सस्कृतियो के ही सग्राम थे।"

अन्तिम मनु सम्राट् भरत

जैन आदि-पुराण मे सोलह मनु बताये गये है—इसमे अन्तिम मनु सूर्यवशी भरत सम्राट को कहा गया है—

नाभिश्च तन्नापि निकर्त्तनेन प्रजासमाश्वासन हेतुरासीत् ।
सोऽजीजनत् त वृषभं महात्मा सोऽप्यग्र-सुनु मनुमादिराजम् ।।[1]

अर्थात्—नाभि राय के प्रथम तीर्थंकर श्री वृषभ नाथ उत्पन्न हुए, तथा ऋषभनाथ के आदि-सम्राट सोलहवे मनु महाराज भरत उत्पन्न हुए। तथा च इसी पुराण के पर्व ३९ के प्रारम्भ मे ही भरत महाराज को सोलहवा मनु तथा प्रथम सम्राट कहा गया है। अभिप्राय यह है कि इन्हीं भरत महाराज का नाम मनु भी था। परन्तु यह नाम नही था। अपितु यह उनकी उपाधि थी। वास्तव मे आपके दो नाम थे,—एक भरत दूसरा सूर्य। भरत नाम से भारत वश तथा भारत देश प्रचलित हुआ और सूर्य नाम से सूर्यवश चला।

भरत नाम की सार्थकता

अब इससे इस अनुश्रुति की भी सगति लग गई। उस अन्तिम मनु भरत के द्वारा भरण पोषण प्राप्त होने से यह वर्ष (देश) भारत कहलाया यह निरुक्त अर्थ यही है।

भरणात् प्रजन्नाच्चैव मनु भरत उच्यते ।
निरुक्तवचनश्चैव वर्ष तद् भारत स्मृतम् ।।[2]

तथा च, वायु पुराण मे भी इसका समर्थन है। कहा है कि प्रजाओ के भरण करने के कारण ही वह मनु-भरत ही कहलाया—

"भरणाच्च प्रजानां वै मनु भरत उच्यते।"[3]

वायु पुराण मे जहा उनका नाम मनु भरत बताया, वहा यह भी बताया है कि यह भरत श्री ऋषभदेव के पुत्र थे और उन्ही के नाम से इस देश का नाम भारतवर्ष हुआ है। वायु पुराण मे यह उल्लेख पर्व अ ३३ पृष्ठ ५१ पर है—जो इस प्रकार है—

ऋषभाद् भरतो जज्ञे, वीर पुत्र शताग्रज ।
तस्माद् भारत वर्षं, तस्यनाम्ना विदु बुधाः ।।

ऋषभदेव और हिरण्यगर्भ एक हो है, यह हम देवी भागवत के उद्धरण आदि से पूर्व मे ही बता चुके है।

---

1 (जैन आ० पु० पर्व० ३/२३६) 2 (मत्स्य पुराण १४/५)
3. प्रथम खण्ड अ ४५/७६

ऋषभदेव और भरत से ही इक्ष्वाकु तथा सूर्यवंश

वैवस्वतो मनुर्नाम माननीयो मनीषिणाम् ।
आसीत् मही भृतामाद्यः प्रणवश्छन्दसामिव ।।

रघुबश मे कालीदास कहते है कि वैवस्वत मनु इस भारत मे आदि—राजा हुए ।

अकनाच्च तदिक्षूणां रससंग्रहणे नृणाम् ।
इक्षवाकु इत्यभूद् देवो जगतामपि सम्मत. ।

...... प्रथम मनुष्यो को इक्षु—गन्ने का रस निकालने की विधि बताई—अतः जनता ने आपका (ऋषभदेव का) नाम इक्ष्वाकु रख दिया । अतः यह सिद्ध होता है कि ऋषभदेव के जहा' प्रजापति, हिरण्यगर्भ, मनु, आदि पुरुष, अग्नि, ब्रह्म आदि अनेक औपाधिक व सार्थक नाम थे—वहा' उनकानाम इक्ष्वाकु भी था । इक्ष्वाकु से भारत का प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवश चला । तथा भरत महाराज से सूर्यवश और भरत वश चला — यथा —

इक्ष्वाकुः प्रथमं प्रधान मुदगादादित्य वंश स्तत ।
तस्मादेव च सोमवश यस्त्वन्ये कुरुग्रादय. ।।

अर्थात्—प्रथम इक्ष्वाकु वश प्रचलित हुआ, तत्पश्चात् सूर्यवंश व चन्द्र वश आदि चले । इन्ही महाराज इक्षवाकु ऋषभदेव का वर्णन वेद मे निम्न प्रकार से किया है—

यस्येक्ष्वाकु रूपव्रते रेवान् मराय्ये धत्ते ।
दिवीव पञ्च कृषय. ।।

अर्थात्—इक्षवाकु राजा की सरक्षकता मे पाचो मनुष्यो के कुल तथा आर्य और अनार्य आदि सब स्वर्गीय सुखो का उपभोग करते हुए अपनी आध्यात्मिक उन्नति कर रहे थे ।

किसी भी राजा की प्रशसा मे इससे अधिक कुछ नही कहा जा सकता । इनकी प्रशंसा मे इसी प्रकार का वर्णन अन्य स्थानो के वेद मत्रो मे भी किया गया है ।

औषधि ज्ञान के प्रणेता

तथा च अथर्ववेद मं. १६/६६ मे एक औषधि का उल्लेख है । वहां लिखा है—" य त्वा

---

1. (धा पु प १६/६४) 2 (जैन हरिवंश पुराता १३/३०)
3 (ऋग० म० १०/६०/४)

पूर्वं वेद इक्ष्वाकोय " दात्वा कुष्ट काम्य ॥" अर्थात् हे औषधे ! सब से प्रथम तेरे को इक्ष्वाकु ने जाना । इस वर्णन से यह सिद्ध हो जाता है कि इक्ष्वाकु (ऋषभदेव) जहाँ आदर्श राजा थे, वे अनुपम अन्वेषक तथा आविष्कारक भी थे ।"

अयोध्या की संगति

इस प्रकार वर्णन करते हुए स्वा. कर्मानन्द ने अयोध्या के लिए इस प्रकार उल्लेख किया है— भारत की प्रथम राजधानी अयोध्या के लिए वाल्मीकि रामायण वालकाड मे लिखा है—

अयोध्या नाग नगरी तत्रासी ल्लोका श्रुता ।
मनुना मानवेन्द्रेण सापुरी निर्मिता स्वयम् ॥

अर्थात् लोक मे प्रसिद्ध अयोध्या नाम की नगरी है उसको नरेन्द्र मनु ने स्वय बनाया था । यही बात जैन पुराण मे आई है—

तस्यामलंकृते पुण्ये देशे कल्पाध्रिपात्याये ।
तत्पुण्यैर्मुहुराहूत । पुरुहूत पूरीं दधान ॥

कल्प व्रक्षो के नष्ट हो जाने पर जिस देश को महाराज नाभि और उनकी धमपत्नी मरू देवी ने अलकृत किया था, उन्ही के पुण्य से प्रेरित होकर एक पुरी रची । तथा आगे श्लोक ७६ मे लिखा है—

"अयोध्या न परं नाम्ना गुणैनाप्यरिभिः सुरा ।"

यह अयोध्या केवल नाम की ही अयोध्या नही थी—अपितु शत्रुओ से भी अजेय थी ।

ऋषभपुत्र भरत के राज्य की सीमा

विष्णु पुराण (अश २/अ ३) मे भरत के राज्य सीमा इस प्रकार कही है—

"उत्तरे यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चैव दक्षिणम् ।
वर्ष तद् भारत नाम भारती यत्र सन्तति ॥
नव योजन सहस्रो विस्तारोऽस्य महामुने ॥

---

1 (आ० पु० पर्व १२/६६)

समुद्र के उत्तर से हिमालय के दक्षिण तक के देश का नाम भारतवर्ष है, वहां के लोग भरत की सन्तान है । इस देश का विस्तार ३६ हजार कोस है । जितनी पृथ्वी पर भरत ने राज्य किया, वही भारत वर्ष कहलाती थी । इस प्रकार यह निर्णय है कि दौष्यन्ति भरत से बहुत पहले यह देश भारत वर्ष रहा है । तथा भरत वश इक्ष्वाकुवश वृषभवश सूर्यकुल आदि बहुत नाम से उनका ही वश रहा और इस वंश ने भारतवर्ष मे राज सहस्त्रो वर्ष तक भोगा था। वैदिक चन्द्र वंशी आर्यो के पहले उस वश मे ही राज भोग किया था ।

महा महोपाध्याय पं० गंगानाथ झा का मत

स्वामी कर्मानन्द के निष्कर्ष उनके विस्तृत व गहरे वैदिक साहित्य के अध्ययन पर आधारित है । उन्होने वैदिक ऋषिवाद, सृष्टिवाद, भारत के आदि सम्राट, धर्म के आदि प्रवर्तक, आदि पुस्तको का प्रणयन किया है । भारत के आदि सम्राट की प्रस्तावना मे श्री कन्हैयालाल मिश्र प्रभाकर, सपादक "विकास" ने प्रकट किया है–खोज के कार्य मे मत भेद होना स्वाभाविक है, पर सस्कृत के प्रकाड पडत श्री गगानाथ झा एम डी लिट (वायस–चान्सलर) प्रयाग विश्वविद्यालय के शब्दो मे वैदिक ऋषिवाद एक निष्पक्ष गवेषणात्मक पुस्तक है । दूसरी पुस्तको के भी सम्बन्ध मे भी इसी तरह की सम्मत्ति दी जा सकती है । आगे प्रस्तावना–लेखक ने "भारत के आदि–सम्राट्" पर कहा है । कि "मै" इतना कह सकता हु कि स्वामी ने आज तक की इस विषय मे प्रचलित परपराओ की दीवारो को लाघकर अनुसधान के दूरवीक्षण से बहुत दूर तक झाका है और एक नई सृष्टि खडी की है । दूसरे शब्दो मे भारतीय इतिहास के पडितो और विद्यार्थियो को एक नये दृष्टि कोण पर विचार करने का आमन्त्रण है, ऐसा आमन्त्रण जिसमे अपनी भारत माता के प्रति श्रद्धा है, अनुसधान की उत्कण्ठा है, और विचार विनिमय की तत्परता है"

डा. ज्योतिप्रसाद के शोधपूर्ण निष्कर्ष, प्रागैतिहासिककाल से ही प्रवाहमय यह धर्म

"जैनिज्म दी ओल्डेष्ट लिविंग रिलीजन" पुस्तक भी स्वामी कर्मानन्द के अनुसधानो को ही आगे बढाती हुई है । इस महत्वपूर्ण पुस्तक के विस्तारमय विवेचन तथा साधिकारी मनीषी शोध कर्ताओ के बहु उद्धरणो से भरपूर भाग को सपूर्ण यहा देना सभव नही है, फिर भी हम इसके अन्तिम २-३ अनुच्छेदो का हिन्दी रूपान्तर देते है—

"भारत के प्राचीनतम रहस्य–चिन्हो यथा स्वस्तिक त्रिदण्ड या त्रिशूल (जो रत्न त्रय को उपलक्षित करते हैं) धर्मचक्र (धर्म सस्थापना का चक्र तथा काल चक्र) नन्द्यावर्त और वर्धमानक्य (अथवा नन्दी पद) वृक्ष, स्तूप, नवचन्द्र, कमल, वृषभ, हस्ति, सिंह, कच्छप, अहि आदि का जैनो द्वारा आदितम कालो से ही प्रयोग मे लाना पाया जाता है और यह इनके ब्राह्मण धर्म और बौद्ध धर्म के द्वारा अपनाये जाने से भी बहुत पूर्व तथा मूर्ति (प्रतिमा) पूजन को रिवाज (fashion) बनाए जाने

भी पूर्व जैनो मे इनका प्रयोग प्रचलित रहा था। कतिपय प्राग्-ऐतिहासिक चित्र भी नियो लिथिक काल (नव प्रस्तर-अस्त्र प्रयोग काल) की गुफाओ मे जो दसियो सहस्र वर्षो पुरानी है, अब उपलब्ध हुए है यथा सिंगनपुर (रायगढ स्टेट) की गुफाये हैं। ये जैनो के उन प्रथम कालीन काल मे प्रभाव के अमिट चिह्नो को लिए हुए है। पेलियोलेथिक और निग्रोलेथिक भारतीय मानवो के धार्मिक विश्वास,-जितने भी वे ज्ञात हुए है,-जैन दर्शन के मूल भूत तत्व (Cardinal features) यथा-आत्मवाद (animism). मृत्यूपरात जीवन, आत्मा की सत्ता और शाश्वत् प्रकृति, जैन कर्मवाद से मिलता जुलता कार्य-कारण मनोविषयक सिद्धात आदि आदि-से अतिसन्निकट की समानता रखते है। इस बात को भी प्रकट करने वाली पर्याप्त साक्षिया है कि सदा से ही हिंसा प्रधानी उग्रस्वभावी मासाहारी जनो की विद्यमानता के साथ साथ ही अहिंसक शात जन भी रहे है जो शाकाहार पर जीवन यापन करते थे। अति प्राचीन राजवश प्रथा से पूर्व के मिश्रदेश का धर्म भी,-जो लक्ष लक्ष वर्ष प्राचीन अनुमान किया गया है, जैन धर्म से सपूर्णत सगोत्रीय (Akin) प्रतीत होता है। यथार्थत फर्लांग महोदय के शब्दो मे "जैन धर्म के आदि का पता पाना असभव है।" स्वय जैनो की मान्यतानुसार उनका धर्म सनातन है, यह धर्म तो ऋषभदेव से भी पहले विद्यमान ही था, और ऋषभदेव की भी जो काल अवधि वे बताते है, गणनातीत है।

"लेकिन वैज्ञानिक इतिहास के ठोस तथ्यो पर पहु चने हेतु भूगर्भ शास्त्रियो, एन्थ्रायो-भौगोलिको तथा अन्य प्राग् इतिहास वेत्ताओ के अनुसार अन्तिम आदि हिम युग आठ से दस हजार ई पू समाप्त हुआ और इसके साथ ही उत्तर हिमकाल आरभ हुआ। क्वार्टरी कालावधि के निग्रोलेथिक युग के समाप्ति की भी यही समयावधि कही जाती है। इसी समय के आसपास उन तथा कथित आर्य-जनो का भी अपने ध्रुवीप्रदेश के निवासो से निष्क्रमण का आरभ कहा जाता है। इस समय के तुरतबाद स्वय भारत मे क्लैकोलिथिक (ताम्र-प्रस्तर) युग आरभ होना था जिसने उस सभ्यता का जिसे आज हम समझ रहे है-प्रारभ चिह्नित किया। ऋषभ प्रभु के लिए एक अतिमनोरजक साक्षी यही समयावधि विलक्षण रुप से प्रदान करती है। सम्राट् चन्द्र गुप्त मौर्य-जिन्हे इतिहासज्ञो ने अब जैन होना माना है, के राज-दरबार मे कुछ काल तक प्रवासी रहे सेल्यूकसीय दूत मेगस्थनीज ने ई पू ३०५ वर्ष पूर्व उल्लेख किया है कि तब स्थानीय रूढ परम्परा (Tradition) भारत के इतिहास के आरभ का उस समय से ६४६२ वर्षो पूर्व से होने की मान्यता स्थिर रुप से प्रचलित थी। जब कि महान् भारतीय डाइओनिसस को वह मेरू पर्वत और कैलास (Hamodos) से भी संबधित बताता है। और उससे ही विभिन्न नाना प्रकार की कला-कौशल, उद्योग के आविष्कार और खोज नगरनिर्माण, राज्य स्थापनाए आदि का भी सम्बन्ध ठहराता है। वह उन्हे लेनाइस (Lenaios) कहता है क्योकि उन्होने फल–पैदावर को सग्रह करने तथा उनके रस निकालने की प्रक्रिया को भी खोजा था। इससे पूर्व समय मे तो वहा के निवासी स्वत पृथ्वी पर पडे व मिल जाने वाले फलो पर आश्रित थे। उनका पुत्र हरकुलीश बडा योद्धा और विजेता था, उसके बहु पत्निया थी, अनेक सताने थी। उस डाइयोनिसस (Dionysus) ने ढाई सौ वर्षो की दीर्घ आयु पाई थी।

"यह सब वर्णन किसी अन्य ओर को नही, एक मात्र ऋषभदेव या आदिनाथ को ही निर्देश करता है, जो धर्म-तत्व के प्रथम प्रवक्ता व्यवस्थाओं के प्रथम सस्थापक और कला-कौशल उद्योग और सामाजिक सगठन के आदि पुरस्कर्ता थे, जिन्होने भोग-भूमि (प्रकृति पर निर्भर करने वाले आदि जीवन) के काल के अवसान पर कर्म भूमि व्यवस्था, बुद्धि और श्रम (कर्म) के युग का उद्घाटन किया। उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती के जो प्रथम सर्वभौम विश्व सम्राट थे अनेक रानिया और बहुसख्या मे सताने थी। अत इसमे कोई सदेह नही कि दो सहस्त्र वर्षों से प्राचीन वह परम्परा निश्चय रूप से ऋषभदेव प्रभु को ही प्रमाणित करती थी जिनके काल की अवधि इस परम्परा के अनुसार ई. पू ६७६५ वर्ष या १०००० वर्ष निर्दिष्ट हो जाती है। कम से कम यह वह काल अवधि है जो उस चली आती परम्परा मे तृतीय व चतुर्थ शताब्दी ईसा पूर्व की होना विश्वस्त समझी जाती थी। लेकिन यही काल अवधि प्रसग-वश पूर्वोक्त भूगर्भीय निर्दिष्ट सिद्धान्त की काल अवधि सेभी मेल खाती है। और यह प्राचीनतम सिंधुघाटी (C. ६००० B C) की प्राचीनतम सभ्यता से, मिश्र देशीय आदि पूर्व सभ्यता (C. ५००० B C) से तथा आर्य-आगमन (C. ३००० B C) से पर्याप्त पूर्वकालिक है। और इस प्रकार जैन धर्म Pre historic प्राग् ऐतिहासिक तथा Proto historic इतिहास लेखन के आदि से तथा Historical ऐतिहासिक समयो से बराबर वर्तमान चला आना पाया जाता है।

"मानव का यह प्राचीन तम धर्म मूलत. (Primarily) मात्र धम्म (धर्म) या मानव धर्म या मग्ग (मार्ग, पथ) कहा जाता था,—यह सिंधु घाटी सभ्यता के काल मे ऋषभधर्म सम्प्रदाय या जैन धर्म, वैदिक जनों द्वारा व्रात्य या अहिंसा धर्म, उपनिषदो के काल मे अर्हत्-धर्म या आत्म-धर्म, भ बुद्ध के समय निग्गथ धर्म, इण्डो-ग्रीक व इण्डो-सीथियन काल मे श्रमण धर्म, तथा जैन धर्म तथा कथित हिन्दू काल मे स्याद्वादमत या अनेकात मत, भक्ति आन्दोलन के काल मे विशेप कर दक्षिण मे भव्य धर्म, राजपूताना मे श्रावक धर्म, पजाब मे भावदास आदि रूप से कहा जाता रहा है। सभ्यमानव का यह विशुद्धत स्वस्थानोत्पन्न तथा पूर्वतम कालिक धार्मिक रीति प्रबन्ध रूप होने के अतिरिक्त यही एक मात्र धर्म है— जिसने इतने दीर्घ काल तक भी अपनी पूर्ण पवित्र यर्थाथता को चमात्कारिक रूप से स्थिर सुरक्षित रखा है। यह अपने पूर्व प्राचीन काल से ही तमाम अन्य धार्मिक पद्धतियो को जिनके यह सम्पर्क मे आया अपने वाद सवाद तथा प्रतिवाद द्वारा प्रभावित करता रहा है और इस प्रकार यह मानव-चिंतन और सस्कृति पर अपना सुप्रभाव देता रहा है। इसकी भूमिका और देन मानव सस्कृति के बहु क्षेत्रो मे किसी भी प्रकार से क्षुद्र या अल्प नही रही है। इसमे शाति सद्भावना के, वैश्विक बधुत्व के, प्रकृष्ट और स्वस्थ आनन्द और सुख के, प्रकृष्टतम और उत्कृष्टतम रूप से व्यवहार्य सदेश—न केवल अपने स्व देश के लिए बल्कि समूची अखड मानव जाति के लिए निहित रहे है। डा. नाग ने कहा "जैन सिद्धात (Jainism) किसी एक विशिष्ट जाति या समुदाय का धर्म नही,—यह अन्तर्राष्ट्रीय और वैश्विक है।" रे जे. डूबोय के शब्दो मे" ओह! उस (जिनेश्वर) का धर्म ही एक मात्र समूची मानव जाति का समीचीन धर्म और आदिकालिक धर्म निष्ठा है।" (पृ. ५८ से ६२)

ईसा से चार शतक पूर्व दक्षिण मे दिगम्बराचार्य भद्रबाहु प्रथम बारह हजार दिगम्बर मुनियो के साथ सम्राट चन्द्रगुप्त मौर्य के साथ पहुचे थे। चन्द्रगुप्त स्वय ने दिगम्बर प्रव्रज्या ग्रहण की और वह दिगम्बर जैन मुनि विशाखाचार्य के नाम से विख्यात हुए है। उनके राज्य मन्त्री राजनीतिज्ञ चाणक्य भी जैन थे और वे दिगम्बर मुनि हुए तथा उस अवस्था मे उपसर्ग होने पर भी से ध्यान समाधि से विचलित नही हुए। चीन जापान लका वेबीलोन आस्ट्रेलिया आदि मे भी दिगम्बर जैन मूर्तियो की उपलब्धि होने से इस धर्म का कभी विश्व व्यापी प्रचार रहा यह प्रकट होता है।

यह आत्म धर्म के रूप में सदा सनातन

यह सनातन योग शासन रूप जैन धर्म वस्तुत भ. वृषभदेव के प्रागैतिहासिक काल से पूर्व ही बराबर प्रवाहित चला आ रहा है। यह ऐसा महान् नद-स्रोत रहा है जिसके अनेकात ज्ञान प्रवाह मे से अलग-अलग नय दृष्टिया लेकर विभिन्न दर्शन तथा धर्म की सरिताए भी निकली है। विशिष्ट प्रमाणिकता प्राग् व आदि नृ-इतिहास के आलोक के साथ जुडे होने के अतिरिक्त एक अन्य गहनतम तथ्य पर भी यही एक मात्र स्वावलम्बी, ज्ञान-परक, विशुद्ध चारित्र-परक, तथा अद्वद अपूर्व आत्म परक, निर्मल जीवन का एव उसकी कर्म कालिमा से निर्जरा-मुक्ति, निर्वाण, और अक्षय अव्याबाध आनन्द का सुनिश्चित मार्ग है, जिसे एक नही, चौवीस अर्हत्पुरुषो तीर्थंकर पुरुषो ने कोटिश जनो के साथ आत्म-चारित्र मे उतार कर और स्वय चल कर प्रशस्त किया है।

यह शुद्ध आत्मा के निज स्वभाव के ही परिष्कृत स्वरूप को उपनीत करता है जो एक मात्र अनादि सार्वकालिक और सर्वोपरि सत्य है और रहेगा। चैतन्य निर्मल आत्मा का वह सहज स्वाभाविक सनातन ज्ञान स्वरूप जो मात्र उसका ही है—को भ वृषभेश्वर का यह शासन सस्थापित करता है। जब तक चैतन आत्माए-प्राणी जगत् इस पृथ्वीतल पर विद्यमान रहेगे,—यह उनका निजी सहज आत्म-धर्म उन्हे अनुप्राणित करता अजस्र प्रकाश ही करता रहेगा। इस गहन और उदार दृष्टि मे यह सनातन है, प्रमाणिक है, प्राचीनतम है और मानव के प्रकृत रूप से निकटतम है। यह मानव के ही स्व स्वातन्त्र्य स्वभाव का स्वाधीन विवेचन करता है और इसका यह अनुपम वैशिस्ट्य ही रहने वाला है।

सर्व धर्म और संस्कृतियो के एक आदि प्रवर्तक की स्थापना में समन्वय सामञ्जस्य की ही अन्तर्दृष्टि

सर्व धर्म सस्कृतियो के एक आदि प्रवर्तक की प्रस्थापना

इस ही मूल हैरण्यगर्भ-स्रोत को निर्देशित करती है। उपनिषद्, पुरुष सूक्त और नासदीय सूक्त के अर्थ जो इस अध्याय मे पूर्व मे दिए गए है किसी सम्प्रदाय दृष्टि से नही,-एक गहन महत्तम समन्वय और सामंजस्य की अन्तर्दृष्टि पूर्वक ही दिए गए है। समन्वय और सामजस्य ही एक उत्कृष्ट ज्ञान दृष्टि है। ज्ञानीजन तो,—यह कहना व्यर्थ ही है कि समानता ही देखते है, विभिन्नता को प्रधानता नही देते, न प्रधनता

करते । ज्ञान का कार्य प्राणी जनो को उन्हे विभिन्न प्रवृत्तियो, क्षेत्रो, विचारो, चिन्तनो तथा सस्कृतियो मे भी एक समान धरातल पर लाकर जोडना है, समता सौहार्द और सद्भावका के स्तर पर लाना है, न कि उन्हे विखण्डित या विशृ खलित करना है । यही देन (Contribution) इस योग–शासन की तथा इसके अनेकान्त की है ।

नव निर्माण की आधार भूमि

आज का जातीय समाज भारत मे ऐतिहासिक मोडो पर खडा है । वीर कर्मठ क्षत्रिय श्रमण परम्परा के स्वतन्त्र्य और पुरुपार्थी दर्शन और आचार को दलित करने वाले आक्रान्ता विजेताओ की सत्ता और स्वार्थो की रक्षा-हेतु प्रसारित तथा प्रचलित अध–जीवन मूल्य तेजी से वैज्ञानिक बुद्धिवाद के दवाब मे, यान्त्रिक जीवन के प्रवाह मे, आर्थिक विषमताओ और अभावो के कारण गिरते जा रहे है । नव निर्माण के लिए विध्वस आवश्यक भी है । पर नव-निर्माण को सहज स्वाभाविक आधार-भूमि न मिली तो क्या हम एक अभिनव विराट् देश तथा समाज का निर्माण कर सकेगे यह विचारणीय ही है ।

हम कब तक भटकेगे

आज के चिन्तको के लिए यह विचारणीय क्या नही है कि हम कितनी सदियो से हैरण्य गर्भीय उत्कृष्टतम व्यवहार्य योग-परक जीवन दर्शन से जीवन आस्थाओ, स्वावलम्बी कर्मठ क्षत्रिय श्रमण सस्कृति तथा शुद्ध चारित्र से भटके हुए चारित्र सकट से त्रस्त है । भ. हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ ने आत्म स्वतन्त्र्य स्वावलम्बन का, तपोमय जीवन का, अमर आत्मा की आस्था का जीवन दर्शन दिया । क्या हम उस दर्शन की निष्ठा ज्ञान और चारित्र से—ऐतिहासिक घटनाओ चक्रो तथा प्रवाह मे मे पड कर विमुख होते नही चले गये है । यद्यपि काल-काल पर विभिन्नवाद, प्रतिवाद आए-अर्हत्पुरुप बुद्ध और सतजन भी बराबा आते रहे और सवाद भी दिये मगर क्या हमने मानव के सहज आत्म धर्म को स्वीकार करके सरल व अध विश्वास, मुक्त कर्मठ और त्याग तपस्या का जीवन अपनाया ? राष्ट्रीय जीवन मे नाना मत मतातर सम्प्रदायो के झमेले ने ज्ञान क्षितिज को इन्द्र धनुष के से नाना वर्णो से चित्रित करके साधारण व वौद्धिक पुरुषो के लिए एक रूप प्रखर ज्ञानालोक को अस्पष्ट सा कर दिया है । पर क्या नाना नयो के समीकरण रूप अनेकात के सकेत हमारे जीवन दर्शन की समृद्धि के, और जीवन की व्यवहार्य साधना की एकता के भी हेतु नही बन सकते ? पर दुख तो यह है स्वय जैन भी विमुख हुए पडे हुए है ।

निष्पक्ष चिन्तनशील दृष्टि की अपेक्षा

ज्ञान की सत्य खोज के लिए निष्पक्ष और निरपेक्ष शोध सामर्थ्य पूर्ण सामजस्य तथा साम्य रस प्रपूरित मानसिक स्थितियो तथा चिन्तन शील दृष्टियो की महती अपेक्षा है । चिन्तन के लिए समदृष्टि तथा सम्यक् दृष्टि ही वहुमूल्य व अनुकूल है वही ऐसा नेत्र है जो सत्य का आलोक निर्भय होकर देख व बता सकती है । वेद, उपनिषद् आगम-शास्त्र मे ऋषियो अर्हत्पुरुषो की वाणी ऋषियो की परोक्ष-

प्रियता आदि कई हेतुओ से इस प्रतीक्षा मे है कि उनसे न केवल गौरवमय इतिहास का प्रकाश ही प्राप्त किया जाए बल्कि उनसे इस योग शासन के चरम प्राप्तव्य के अर्थ अन्तर्ज्ञान और योग के प्रत्यक्ष अनुभवो से ही अनावृत किया जाए, न केवल व्याकरण के धातु-प्रधान अर्थों या साम्प्रदायिक उपदेश व शिक्षा की खीचतान से। हमारी ये प्राचीन ज्ञान-निधि मय पुस्तके अमूल्य राष्ट्रीय थातिया है।

नई पीढी क्षमा नही करेगी

इतिहास को उपदेशात्मक अर्थ से आवृत कर देने की प्रवृत्ति तथा दुष्कृति को आगे आने वाली निष्पक्ष ज्ञान मयी पीढिया कभी क्षमा नही करेगी, क्योंकि देश या समाज, अपने गौरवमय इतिहास से भ्रष्ट किये जाने पर दिग्भ्रात तथा मृत-प्राय हो जाते हैं, जैसे कि हम आज वर्तमान मे है। वर्तमान मे हम नाना दर्शन या धर्मो का अपना पृथक् मह अस्तित्व रख कर भी वेद व उपनिषद पूर्व की उनमूल आस्थाओ, प्रस्थापनाओ एव अवधारणाओ को स्थापित करें जिन्होने प्राचीन प्रागैतिहासिक समृद्ध वैज्ञानिक विद्याधरी एव अध्यात्म योग मय आर्हत्-श्रमण सस्कृतियो को जन्म दिया और जिन्होने औपनिषदीय ज्ञान को विकसित होने मे महत्वपूर्ण योग दान यिया।

आत्मा कीआलौकिक चैतन्य प्रकाश की धारा अपेक्षणीय

आत्मा की आलौकिक चैतन्य प्रकाश की धारा पाई ही जानी चाहिए और यह पाई भी जा सकती है। वर्तमान जन-युग की स्वातन्त्र्य विचार-धारा ने तथा प्राचीन उत्खननो ने मौलिक चिन्तन के द्वार खोले है,—बडा अनुकूल समय है, नये चिन्तन और उदार निरपेक्ष मनोवृत्तियो के लिए, जो हमे अनुदार कूपमूण्डूकता तथा जड स्तब्धता (Rut) से उन्मुक्त कर दे। हमारी यह प्राचीन कर्मठ क्षत्रिय सस्कृति, शिक्षा का, शोध का, जीवन का, एक उच्चतर उदार जीवन के लिये अभिन्न अग बन जाना चाहिए।

प्राचीन वाड्मय राष्ट्रीय निधियां है जीवन निर्माण के प्रकाश और करुणा के ये स्रोत है

इसी सदर्भ मे अध्यात्म-शास्त्र, वे चाहे वैदिक हो, चाहे बौद्ध या जैन हो अमूल्य राष्ट्रीय निधिया है, इनका समादर पूर्वक अध्ययन करके हम सोच पायेगे कि इनमे परम सत्य तथा ज्ञान के साक्षात्कार तथा विकास के, प्राचीन इतिहासवृत्त के ज्ञान के हेतु इनमे कहा-कहा तक तत्त्व तथा आलोक प्रकट हैं और वर्तमान के लिए हैं, भारतीय दर्शन, धर्म तथा सस्कृति के यथार्थ समन्वयार्थ इनके द्वारा कहा तक कर्तृत्व एव अश-दान हुआ व सम्भव है। और भविष्य के लिए निर्मल आत्मा की, मानवता की वे प्राचीन आस्थाए तथा अवधारणाये हमे कितना उज्ज्वल आलोक हमारे जीवन के परिवेश, साधना, चारित्र-गठन तथा आध्यात्मिकता, सस्कृति प्रवाह तथा आर्थिक नव जीवन निर्माण के लिए दे सकती है, तथा अल्प जीव स्वरूप को विराट् प्रभु रूप परिणत करने के लिए परमपुरुषार्थं परम दिव्य बीतराग केवल ज्ञान प्रकाश की किरणो तथा जीवन मे करूणा रस को देने वाले प्रवाह, कहा से आ रहे है या आना सम्भव है।

अतीत से आता यह प्रकाश पुज और आस्था का शखनाद—

निश्चय ही भ० हिरण्यगर्भ आदि तीर्थंकर एक महान् ज्योति पुज हुए हैं, वे अब भी है और रहेगे। उनका योग विज्ञान, ज्ञान परक, आत्मा के अहिंसा मय तथा पर-पीडा को जानने वाली करुणा के प्रवचन, एव श्रुत-वचन रूप अक्षर विद्या, तप तथा ध्यान-समाधि रूप वचनातीत निरक्षरी दिव्य ध्वनि (ध्यान) मय आत्मविद्या, जो सक्रिय तथा निष्क्रिय तत्वो के सामरस्यो को प्रकट करती, व अभिव्यक्ति मे भी परे, स्वय केन्द्रभूत परमज्ञान-आत्म तत्त्व को ही प्रकट करती है, वे सब प्रत्येक मानव-प्राणी को निर्मल चारित्र पुरुष बनने के लिए एक सार्वकालिक, सार्वभौम, महान् प्रेरणा, आदर्श, तथा आलोक-स्त्रोत है। वस्तुत अतीतकाल से आता उनका प्रकाश दिव्य एव अनुपम है। उनमे निश्चय ही निर्माण और निर्वाण की अटूट विकास सभावनाओ की उज्ज्वल रेखाए भरी है।

अतीत के प्रकाश के वरण व अवतरण की कामना तथा उसकी आरती से जीवन मे नई बहार तथा सवार देने के आज के अपेक्षणीय सकल्प तथा ललक मनीषी कवि "मयूख" के इन शब्दो मे रेखाकित है—

"छू सके जो भूतकाल के प्रकाश-चरण

आस्था की आरती को बाँट दू मैं वो किरण।

एक तार मीड दो, अनन्त काल तक बजे,

वह नवीन वीण दू, मै वो नया सितार दू।

वह नवीन वीण दू, मैं वो नया सितार दू।"

काश! भूतकाल के उस महान् प्रकाश के वरण को हम अपने अतर मे तथा जन-जन के जीवन के बीच मे अवतीर्ण कर सके, तथा उसके लिए अटूट आस्था की आरती को सजो सके। आइए! अक्षय ज्ञान आस्थाओ के हम निर्धूम प्रकाशमय दीप जलायें कि हमारी वर्तमान शून्यता उस सुखद अक्षय आलोक से ही भर जाये! आइए! आत्म-आस्था को नया शंख नाद दे, नये प्रकार से आस्था को एक नया शखनाद दे!

• •

बोधि, सिद्धि और मुक्ति का यह अणुत्तर मार्ग

और

योग शास्ता प्रभु ऋषभ के जीवन तथा तत्वों के संक्षिप्त रेखा-चित्र

- निग्गन्थं पावयरा अणुत्तरं मग्ग
- योग विज्ञान एक "मग्ग" एक तीर्थ
- "मग्ग" का स्वरूप
- त्रयी मार्ग (सयम मार्ग)
- त्रयी मार्ग के त्रित्व तथा त्रय रत्न या रत्न त्रय
- त्रयी मार्ग के अष्टाग आठ परम आर्य सत्य
- त्रयी मार्ग की अलौकिकता
- परमपद प्राप्ति का यह त्रिवित् मार्ग
- अप्पाण धम्म
- व्यवहार से धर्म का स्वरूप ।
- आत्मा के स्वभाव के शाश्वत तत्वो मय योग मार्ग की परम्परा
- भ० ऋषभदेव का प्रवचन एव क्रांति रूप शाश्वत् ज्योति मार्ग
- तप और तपश्चर्या
- एक मात्र योग शासन और योग शास्ता
- योग मार्ग के प्रवचन का प्रसग
- योग का प्रथम प्रवचन और तत्वोपदेश
- योग मार्ग के सस्थापक भ० हिरण्य गर्भ ऋषभदेव का सक्षिप्त मे जीवन चरित्र
- भ० ऋषभदेव की दिगम्बरी प्रव्रज्या का श्रीमद् भागवत मे उल्लेख
- भगवान् ऋषभदेव के प्रसिद्ध नाम और सार्थकता
- भगवान् का तपोयोग सधारण
- भगवान् की महा भागवद् प्रकाश सत्ता
- भगवान् के प्रथम गणधर
- भगवान् की उत्तारवादी परम्परा
- भगवान् द्वारा योग निरूपण
- षडग योग और तपोयोग
- मन वचन काय की क्रिया रूप योग के शुभ एव अशुभ भेद

- समाधि लक्षण
- प्राणायाम और धारणा के लक्षण
- योग लक्षण
- प्रत्याहार के लक्षण
- स्मृति का लक्षण
- दुःख क्षय कारक अर्हं मत्र
- ब्रह्म तत्व विद् होने की विधि
- योग का ऐश्वर्य
- योग से कर्म-विमुक्ति
- मत्रार्थ भावना की श्रेष्ठता
- ध्यान सदर्भ मे पदार्थ बोध, नित्य अनित्य आदि अवधारणाए
- ध्यान सिद्धि मे सम्यक् पदार्थ निरूपण तथा बोध आवश्यक
- जिनेश्वर के कुछ विशेष लाक्षणिक नाम
- आ० जिनसेन द्वारा वर्णन मे प्राचीन परम्परा से चले आये भगवान् ऋषभदेव का ही योग मार्ग
- योग परम्परा मे ध्यानाध्ययन, एक सक्षिप्त विषय विवेचन
- धर्म ध्यान की प्ररूपणाए
- शुक्ल ध्यान की प्ररूपणाए
- ध्यान से जीव की शुद्धि
- भगवान के मार्ग के अन्य तत्व—उपासना भक्ति
- दश प्रकार के तप और उनके स्वरूप
- योग के षडग
- पटलोपम अज्ञान-आवरण का क्रिया द्वारा ही छेदन सभव
- क्रिया-योग
- प्रणिधान
- सयम का स्वरूप
- यम-नियम की सार्थकता
- जीवन उर्ध्वगामी तेज
- सम्यक्त्व का उदय
- विष-पाचन और अमृतीकरण
- वस्तु-व्यवस्था की ज्ञान-रश्मियाँ और गुरुत्तरणो का अकन
- ध्यान प्रकाश के चरण
- भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभदेव) के मार्ग मे मानव भी देव वद्य

निग्गन्थं पावयणं अणुत्तरं मग्गं

"इणमेव निग्गन्थ पावयण सच्च अणुत्तर केवलिय पणि पुण्ण
सुसिद्ध णेया उथ सल्लकत्तण सिद्धिमग्ग मुक्ति मग्ग
विज्जाण मग्ग निव्वाणमग्ग अविणहमसदिद्ध'
सव्व दुक्खप्प हीण मग्ग एन्था णिया जीवा सिज्झन्ति
बुज्झन्ति मुच्चन्ति परिणिव्वायन्ति सव्व दुक्खामन्त करेन्ति।"

यह निग्रन्थो का ज्ञान तथा योग का प्रवचन सत्य है

यह अणुत्तर है
यह केवलि भाषित है
यह पूर्ण है
यह अत्यन्त शुद्ध है
यह न्याय सम्पन्न है
यह मन-शल्यो को काट देने को कैंची तुल्य है
यह सिद्धि का मार्ग है
यह मुक्ति का मार्ग है
यह आवागमन निवारण के लिए विज्ञान मार्ग है
यह निर्वाण मार्ग है
यह सत्य है
यह असदिग्ध है
यह दु खो को क्षय करने का मार्ग है

इस मार्ग के पथिक

जीव सिद्धि को पाते हैं
बोध को पाते हैं
सर्व कर्मों से मुक्त होते हैं
निर्वाण पाते है, और
सर्व दु खो का अन्तकर लेते हैं।

योग विज्ञान एक "मग्ग", एक तीर्थ

यह योग विद्या "मग्ग"—एक "मार्ग" के रूप मे—ससार सागर के दुखो से पार होने के लिए

एक मार्ग के रूप मे—एक तीर्थ के रूप मे,–अव्याबाध निज परमानन्द अक्षय धाम के, सिद्धालय के मार्ग के रूप मे, भगवान श्री वृषभेश्वर-हिरण्यगर्भ, आद्यतीर्थंकर के प्रवचनो द्वारा वेदो से भी पूर्व प्रागैतिहासिक काल मे ही प्रचलित हुई। यह भगवान का धर्म शासन था,—योग का शासन था, आत्म शासन था। यह भारत वर्ष की प्राचीन ज्ञान थाति है,अमूल्य ज्ञान- निधि है। मारा मानव समाज ही नही, समस्त प्राणीलोक, मानव देव दनुज पशु पक्षी प्राणि मात्र इस ज्ञान से अनुप्राणित हुए, इसके अहिसक करुणामय स्पदनो से, शान्ति सदेशो से सुखी, आनदित तथा कृतज्ञ और धन्य हुए है।

अध्यात्म-जगत् के परम देदीप्यमान नक्षत्र आ. श्री कु दकु द ने "नियमसार" मे इसी "मग्ग" का परिचय इस प्रकार दिया है—

मग्गो मग्ग फलंति या दुविहं जिणसासणे समक्खाद।
मग्गो मोक्खउवायो तस्स फलं होइ णिव्वाण ॥[1]

मार्गो मार्ग फलमिति द्विविध जिनशासने समाख्यातम् ॥
मार्गो मोक्षोपाय. तस्य फलं भवति निर्वाणम् ॥

जिन शासन मे मार्ग और मार्ग का फल—इस प्रकार द्विविध रूप से "मार्ग" समाख्यात हुआ है। यह मार्ग मोक्षोपाय है, और इस मार्ग का फल निर्वाण है।

त्रयी मार्ग

यह मार्ग "नियम" अर्थात् सयम द्वारा अनुष्टित होता है और उस सयम का स्वरूप ज्ञान दर्शन चारित्र रूप है।

णियमेण य जं कज्ज तण्णियमं णाणदसणचरित्त।
विवरीयपरिहरत्थं भणिदं खलु सारमिदि वयणम् ॥

नियमेन च यत्कार्यं स नियमो, ज्ञान दर्शन चारित्रम्।
विपरीतपरिहारार्थं भणितं खलु सारमिति वचनम् ॥

अर्थात्—जो करणीय कार्य है वह नियम (सयम) है, और वह नियम ज्ञान दर्शन चारित्र है। मार्ग से विपरीतता न हो अर्थात् मार्ग से स्खलन न हो इसलिये इस नियम को ही "सार" शब्द से कहा गया है। ऐसे ज्ञान दर्शन चारित्र रूप यह मार्ग ही ससार मे एक मात्र सार है।

---

1. नि सार १/२ 2 नि सार१/३

दर्शन ज्ञान चारित्र रूप से वह सयम मार्ग, मार्ग त्रय के नाम से कहा जाता है ।

त्रयीमार्ग, त्रयीरूप त्रयीमुक्तं त्रयीपतिम् ।
त्रयी व्याप्त त्रयीतत्व त्रयीचूडामणिस्थितम् ।।

त्रयी मार्ग के त्रितत्व तथा त्रयरत्न या रत्नत्रय

यह मार्ग त्रयी-मार्ग है, रत्नत्रय का मार्ग है । त्रयी रूप से यह स्वय त्रिरत्न मय रूप है । यह त्रयी-मुक्त है, रागद्वेष और मोह रूप त्रयी-रहित, वा जाति (जन्म) जरा (बुढापा) और मरण ऐसे त्रय भयो से मुक्त है । तथा सत्ता सुख और चैतन्य इन तीन त्रयी सहित है । त्रय लोको के जान लेने के कारण त्रय लोको मे व्याप्त, तथा सदा बहने से त्रय कालो मे व्याप्त है । उत्पाद व्यय और ध्रौव्य रूप त्रय-तत्वो से युक्त है । लोक त्रय के शिखर पर विराजमान चूडीमणि रूप है । आत्मा के ही धर्म-सम्यक् श्रद्धा, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप यह त्रयी मार्ग है ।

त्रयी मार्ग के अष्टांग आठ परम आर्य सत्य

यह "मोक्ष" मार्ग है इसे आ. श्री कुदकुद ने स्पष्ट किया है । यह त्रयी मार्ग ही अष्टागिक मार्ग है । अष्ट परम आर्य-सत्यो का मार्ग है ।

सम्यक्त्व ज्ञानयुक्तं चारित्र रागद्वेषपरिहीनं ।
मोक्षस्य मार्ग मार्गो भव्याना लब्धबुद्धीना ।।

मोक्ष का यह मार्ग उसे मिलता है, जो भव्य (रूचिवान) तथा लब्ध-बुद्धि सम्यक्-ज्ञानी हो । रूचि और ज्ञान दो महत्वपूर्ण अर्हताए है । इस मोक्ष के मार्ग का चरण भी दो विशेषताओ सहित है, यानी यह चारित्र, सम्यक्त्व तथा ज्ञान सहित, तथा रागद्वेष रहित है । ये चार तत्व ही साधन-चतुष्टय है, स्वरूपाचरण है ।

ऐसा स्वरूपाचरण मय चारित्र ही मोक्ष मार्ग है । और यह वध का मार्ग नही है । अमार्ग नही है । प्रत्युत चरम उत्कृष्ट विज्ञान प्रक्रिया है । इसमे ध्रुव चार आर्य सत्य इस प्रकार कहे हैं—त्रिकाली आत्मा के स्वभाव मे न राग है, न द्वेप है, न उत्पाद, न व्यय है । (२) एक रस चिद्—भाव मे निर्विकल्प निर्विकार—स्थिरता वाले, रुचिवान (सम्यक् निष्ठवान) को ही यह प्राप्त होता है । (३) इस त्रिकाली वीतराग स्वभाव मे स्थिरता से ही आत्मानुभव होकर

---

3 (उपासकाध्ययन ६८७)

मार्ग की पूर्णता होती है। (४) पूर्ण राग रहितता एव कषाय रहितता से ही चारित्र मार्ग की पूर्णता होती है। इन चारसत्य और साधन चतुष्टय रूप आठ परम आर्य—सत्यो को ही हृदयगम रखकर साधक प्रकाश को, ज्ञान को, और मुक्त–दशा को आविर्भाव करता है।

इनके ज्ञान—प्रकाश मे त्रिकालिक स्वय ही मै हू—इस प्रकार निश्चल स्थिरता, आत्म–स्वभाव मे स्थिरता ही शुद्ध परिणतियो का तथा मोक्ष का हेतु होता है। स्व–आत्म-निग्रह व स्व आत्म–अनुग्रह मार्ग का भ० वृषभेश्वर द्वारा सर्व प्रथम प्रवचन किया गया। आत्मा अजन्मा अव्यय अनादि तत्व है अत इसका प्रवचन भी तीर्थंकरपुरुषो द्वारा अनादि से चला आ रहा है। यह योग मार्ग इस प्रकार "मग्ग" रूप से अनादि धर्म ही है।

त्रयी मार्ग की अलौकिकता

यह मार्ग निर्ग्रंथ प्रवचन द्वारा आविर्भूत हुआ और वीतराग निर्ग्रन्थ, और परम निर्मल आत्म स्वरूप उद्घाटक होने से इस मार्ग की जगत् मे सर्वत्र पूज्यता तथा वदना है।

इस मार्ग के पथिक होकर जीव सिद्ध होते है। इसका बोध पाकर बुद्ध हो जाते है। वे सर्व कर्मो का अभाव कर के मुक्त हो जाते है, परिनिर्वाण को प्राप्त करते है, तथा समस्त दु ख, क्लेशो का क्षय कर देते है। ऐसा यह लोकोत्तर "मग्ग" रुप से अनादि—आदि काल मे सनातन रुप से प्रवाहित है। यह स्वय आत्मा का ही आत्मा से मार्ग होने के कारण विश्व प्राणियो के हित के लिए है, और विश्वधर्म के रूप मे है।

योगियो का यह परम पद प्राप्ति का त्रिवित् मार्ग

तिहितिण्णि धरवि णिच्चं तियरहिओ तह तिएण परियरिओ।
दोदोस विप्पमुक्को परमप्पा झायए जोई ॥[1]

योगी पुरुष मन वचन काय—इन त्रय योगो को साधकर वर्षा, शी,त उष्ण—इन तीन काल के योगो को धारण करके, माया मिथ्या निदान—इन त्रिक् शल्यो से रहित होकर, दर्शन ज्ञान और चारित्र—इन तीन त्रिको से मडित होकर, राग द्वेष—इन दो दोषो से परिपूर्ण मुक्त होकर परम (निर्मल) आत्मा का ध्यान करता है। इस प्रकार योगीजनो को आत्मा के परमपद प्राप्ति का यह आश्चर्य जनक त्रिवित् मार्ग है।

---

1. (अष्ट पाहुड–६/४४)

अप्पाण धम्म

सो झायदी अप्पाण परिहरइ पर ण सदेहो"। जो आत्मा का ध्यान करता है, वह निश्चय ही "पर"-रूप कर्म रज-प्रत्ययो से विमुक्त होता हे। आत्मा को आत्मा द्वारा आत्मा ही आत्मा के लिये ध्यान करके आत्मा को प्राप्त करती हे, अतः यह मात्र अप्पाण धर्म है आत्मा परक धर्म है आत्मा ही धर्म हे। अत जीव मात्र, प्राणि मात्र का आत्म धर्म है। अप्पाण धम्म है।

ज जाणिऊण जोई जो अत्थो जोइऊण अणवरयं।

अव्वाबाहमणत अणोवम लहइ णिव्वाण ॥[1]

उस परम आत्मा के पद का आत्मा का अनुभव करके, उसे देख करके अव्यावाध (बाधा रहित) तथा अनुपम और अनन्त स्वरूप निर्माण किया जाता है। आत्मा परमात्मा है, और परमात्मा आत्मा है, कोई स्वरूपत भेद नही, अखड अभेद है। आत्मा ही आराधक होकर सत्यरूप उसकी आराधना करे यह आवश्यक है।

व्यवहार से धर्म का स्वरूप

इस धर्म का प्रथम परिचय सागार—(श्रावक) धर्म के आरम्भ से तथा शास्त्र तथा गुरू प्रवचन के पठन व श्रवण तथा मनन चिन्तन से, तीन मकार (मास मधु और मद्य) आदि के त्याग से आरम्भ होता है तत्व पठन व श्रवण से तत्व—धारणा होकर आत्मा के स्वरूप की आस्था जागृत हो जाती है। तथा पच परमेष्ठी का दर्शन व श्रद्धान तथा अर्चना तथा चार लोगुत्तमा, चार मगल, तथा चार शरण का ग्रहण होता है। इसके अनन्तर धर्म ध्यान द्वारा सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होकर नैष्ठिक, प्रमत्त, विकल सयम चारित्र धारण होता है और इसके साथ प्रतिमा का क्रमश धारण होता है। तदन्तर अनागार (अप्रमत्त सकल) निर्मल सयम—चारित्र का मार्ग प्राप्त करना होता है। तब शुक्ल ध्यान मे चरम परिणति सकल जिन परमात्म दशा के विकास रूप होती है और मानव ही परमेश्वर बन जाता है। ऐसे यह धर्म नियम शास्त्र (व्यवहार व क्रमिक शिक्षा) तथा अध्यात्म शास्त्र (निश्चय अक्रम शिक्षा) का प्ररूपण करने वाला परमेश्वर का धर्म होता है।

योग मार्ग की परम्परा

योग मार्ग के प्रथम प्रवक्ता होने के कारण निर्ग्रन्थ भगवान् हिरण्यगर्भ, आदिनाथ—वृषभेश्वर सर्व योगाम्नायो मे श्रद्धावनत भावो मे भिन्न २ नामो से सर्व प्रथम स्मरण किये

1- (अष्ट पा०—६/३)

जाते हैं। इन आदि पुरूप की स्मृति तथा धारणा व इनके पुत्र बाहुबलि एव भरत की स्मृति तथा धारणा युग—२ से बराबर जैनो मे चली आ रही है। इनकी प्रतिमाए मूर्तिया इनके चारित्र—आख्यान अभी तक विद्यमान है। तथा सिन्धु घाटी का हडप्पा घाटी के उत्खननो से ध्यानस्थ निर्ग्रन्थ मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई है। इन आदि साक्षियो के समक्षता मे अब तो उनका व्यक्तित्व व चारित्र योग की प्रवृति आदि, प्राग्—ऐदिहासिक तथ्य के रूप से प्रकाशित एवं मान्य हो चुके है।

इस योग शासन मे भ० आदिनाथ तीर्थंकर के बाद तैवीस और तीर्थंकर हुए हैं और इनमे भ० वर्धमान महावीर प्रभु अन्तिम तीर्थंकर है। इन सब तीर्थंकरो ने तत् समय की धार्मिक व सामाजिक आदि स्थितियो के अनुमार ही सर्व साधारण को उनकी ही साधारण भाषा मे दिव्य ध्वनि सहित धर्म के मार्ग को कहा और उन्हे परमार्थ मार्ग मे अग्रसर किया। इन सबके प्रवचन निश्चय ही उसी आद्य योग-मार्ग के अनुसार उसी मूलयोगधर्म की भावना, लक्ष्य और प्रक्रियाओ को लेकर हुए है। यद्यपि इनके प्रतिपादन की शैली निश्चय ही समयानुकूल विशेषताये भी रही होगी। आद्य तीर्थंकर के बाद तीर्थंकरो की वाणी पूर्व तीर्थंकरो की प्रतिध्वनि मात्र रही हो ऐसा नही है। प्रत्येक तीर्थंकर ने स्वय तप व योग—साधना के कठीन मार्ग से ही आत्म साक्षात्कार किया और वह उनकी निजी मूल एव महत्पूवर्ण घटना रही। उनके प्रत्येक का एक-एक क्षण एक परमानन्द आत्म महोत्सव को ही लेकर रहा। उनकी वाणी मे आत्मा के स्वभाव के वे ही शाश्वत तत्त्व रहे हैं, जो आद्य तीर्थंकर के द्वारा उद्घाटित्त किये गये और उन्होने स्वय उनका साक्षात्कार किया, स्व सवेदन किया। वे उनकी निजी अनुभूति मे निजी अनुभूति रूप अनुभूत किये गये।

योगीश्वर श्री कृष्ण भगवान् नेमिनाथ के ही समयवर्ती ही नही, वे तो एक ही कुटुम्ब मे बहुत निकट सबधी रहे और भगवत् गीता मे उस समय के तीर्थंकर की शिक्षा का प्रभाव देखा जा सकता है। इनही तीर्थंकर श्री नेमिनाथ को अरिष्ट नेमि नाम से वेदो मे भी स्मरण किया गया है। भ० पार्श्वनाथ का वर्णन बौद्ध साहित्य मे भी प्रचुर रूप से है। भ० महावीर और महात्मा बुद्ध समकालीन रहे है। भ० बुद्ध का जन्म तथा प्रारम्भिक जीवन पार्श्व—परम्परा मे रहा है। ये सब हम पूर्व मे बता चुके हैं।

यह निर्विवाद रूप से मान्य हे कि ऋषभेश्वर—हिरण्यगर्भ ही यो। के प्रथम प्रवक्ता तथा शास्ता है, और पुरूष सूक्त—नासदीय सूक्त, हिरण्यगर्भ सूक्त मडल—जो अथर्ववेद व ऋग्वेद मे है वे भ० आदिनाथ हिरण्यगर्भ से ही सम्बन्धित है। इसका हम पूर्व मे उल्लेख कर चुके है।

भ० ऋषभदेव के ही सहस्त्र नाम है और उस सहस्त्र जिन नाम को आ० श्री जिनसेन ने प्रकट किया है। भ० ऋषभदेव के प्रवचन मे प्राणी मात्र की एकता का बराबरी

का पैगाम है, अमर सदेश है और इसमे मानव के अमर जीवन की कला का चरम-उत्कर्ष प्रकट हुआ है क्योकि इसमे उस आत्मा का प्रवचन है जो प्राणी मात्र मे है, और समान रूप से सब मे मूल निर्मल शुद्ध स्वरूप मे विकसित होने की प्रतीक्षा मे है ।

भगवान् ऋषभदेव का प्रवचन एव कृति रूप शाश्वत् ज्योति मार्ग

भ० ऋषभदेव ने प्रवचन ही किया, इतना मात्र नही हैं। उन्होने अपने जीवन मे शाश्वत जीवन तत्वो को चरितार्थ भी किया। वे स्वय प्रभु पद, सिद्ध–पद पर आरूढ हुए और मूर्तिमान परिपूर्ण योग पुरुष हुए। उनका निर्मल सर्वज्ञ वीतरागी निर्ग्रन्थ स्वरूप तथा प्रतिमा योग की एक साक्षात् स्वय प्रेरक शिक्षा है। उनके स्वरूप तथा प्रतिमा से प्रत्यक्षत प्रशम रस और वीतरागता की झलकती शिक्षा वस्तुत उस सपूर्ण ज्ञान से भी विराट् और उच्चतर है, जो आज हमे उपलब्ध है । उनका वीतराग स्वरूप कोटिश साधको तथा अध्यात्म–योगियो को दीप–स्तम्भ रहा है, और है क्योकि आज भी वह उसी तरह अक्षय सुख के रहस्य को, ज्योति व अनन्त ज्ञान के मार्ग को ही दिखलाता है ।

तप और तपश्चर्या

इस योग मार्ग की तप प्राचीनता की अलौकिकता को श्री मद्भागवतकार ने वडे मनोहर रूप से प्रकट किया है। भ० ऋषभदेव जव विश्व व्यवस्था के हित मे चिंतना मे प्रवर्त हुए तो अपने ध्यान मे दो अक्षर "त" और "प" अन्तर–लक्षित हुए। "तप" सूत्र का और अक्षर–विद्या तथा ध्यान का इस प्रकार सर्व प्रथम सूत्रपात हुआ। ऐसे इस तपोमय योग विद्या का प्रथम उत्स वर्णित हुआ है। तप और तपश्चर्या योगाभ्यास के ही वर्णन मे जैन आगमो का विस्तार हुआ है । द्रष्टव्य है श्रीमद् भागवत (२/६/६) ।

योग शासन और शास्ता

योग का शासन भ० हिरण्यगर्भ के अलावा किसी और का रहा हो—ऐसा कही भी न माना जाता है, न कही उल्लेख है। जैन इनको हिरण्यगर्भ, आदिनाथ, वृषभेश्वर प्रभु कहते हैं, तो अजैनो ने भी उन्हे ब्रहमा प्रजापति विष्णु, आदिनाथ और हिरण्यगर्भ कहा है। जैन इनका विस्तृत चरित्र आख्यान भी प्रस्तुत करते है। मगर अजैनो ने यद्यपि अन्य—अन्य कपिल आदि ऋषियो के चरित्र वर्णन किये मगर इनके सम्बन्ध मे नितान्त ही मौन धारण कर लिया है। हा पुराण व स्मृतियो मे सकेत है तथा ऋग्वेद मे भी हिरण्यगर्भ नाम से पूरा एक मण्डल भी है। अजैन सूत्रो मे हिरण्यगर्भ प्रभु वृषभेश्वर के किस प्रकार सकेत विश्व भर मे फैले हुए हैं उन पर हम पूर्व अध्याय "योग-शासन' प्रागैतिहासिक व वेद पूर्व" मे किंचित् प्रकाश डाल चुके है ।

सार्वभौम रूप से यह निर्विवाद है कि योग के प्राचीन प्रवचनकार भगवान् आदिनाथ हिरण्यगर्भ प्रभु रहे है। हिरण्यगर्भ नाम भगवान् आदि तीर्थंकर के हा अन्य अनेक नामो मे से है। तीर्थंकर शब्द की व्युत्पत्ति से यह अर्थ है कि वह पूर्ण योगीपुरुष, जिसने ससार के प्राणियो के लिए ससार—सागर से पार होने व तिर जाने के लिए घाट वनाया, तीर्थ का निर्माण किया, एक मार्ग का उपदेश दिया। तीर्थंकर वह है जो स्वय आत्म—यात्रा को पूर्ण करके यात्रा—मार्ग को प्रशस्त कर देता है, तथा मार्ग का पूर्ण ज्ञाता होकर मार्ग को प्रस्तुत करने वाला होता है। भगवान् वृषभेश्वर ने ही प्रथम योग मार्ग का 'मग्ग' के रुप मे, योग मार्ग के रूप मे प्रवचन किया। आ० श्री जिनसेन ने "आदि पुराण" मे ऐसे प्रसग का सक्षेप मे वर्णन दिया है कि कव और कैसे इस "मग्ग" का सर्व प्रथम का प्रवर्तन भगवान वृषभेश्वर हिरण्यगर्भ ने किया।

योग मार्ग के प्रवचन का प्रसग कैसे हुआ

आदिकाल के उस योग पुरूष केवल ज्ञानी भगवान् वृषभेश्वर की धर्म सभा, इन्द्र द्वारा रचित समवसरण मे उपस्थित होकर पुण्य श्लोका छ खण्ड के चक्रवर्ती महा सम्राट भरत महाराज ने स्तुति पूर्वक विनम्र प्रार्थना की थी कि भगवान हमे "मार्ग" दे। बह प्रश्न सार्वभौम कल्याण की कामना से किया गया था।

> भगवान! बोद्धुमिच्छामि कीदृशस्तत्त्वविस्तरः।
> मार्गो, मार्गफलंचापि कीदृक् तत्त्वविदावर॥[1]

हे भगवन्! तत्वो का विस्तार कैसा है? मार्ग कैसा है? और उसका फल भी कैसा है? तत्वविदो मे श्रेष्ठ! यह सब प्रबोधित होने की इच्छा रखता हूँ। इस प्रकार जिज्ञासा करने पर भगवान् ने दिव्य वाणी से कहा। वर्णन है—

> तत्प्रश्नावसिता वित्थं भगवानादि तीर्थकृत्।
> तत्वं प्रपञ्चयामास गंभीरतया गिरा॥[2]

उस प्रश्न के समाप्त होने पर प्रथम तीर्थंकर भगवान् वृषभदेव ने अतिशय गभीर वाणी मे तत्वो को सविस्तार कहा—

योग का प्रथम प्रवचन तत्वोपदेश

> आयुष्मन् तत्वार्थान् वक्ष्यमाणा ननु क्रमात्।
> जीवादीन् काल पर्यन्तान् सप्तप्रभेदान् सपर्ययान्॥[3]

---

1 (आदिपुराण २४ वां पर्व श्लोक ७६) 2. (आ० प्र० २४/८०)

3- (आ० प्र० २४/८५)

जीवादीना पदार्थाना याथात्म्य तत्वमिष्येत ।

सम्यग्ज्ञानाड्गमेतद्धि विद्धि सिद्धाड्गमड्गिनाम् ।। (आ० पु० २४/८६)

भगवान् ने कहा—हे आयुष्मन्] जिनका स्वरुप आगे अनुक्रम से कहा जायेगा ऐसे भेद, प्रभेद तथा पर्यायो से सहित जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल इन षट् द्रव्यो को तू सुन। जीव आदि पदार्थो का यथार्थ स्वरुप ही तत्व कहलाता है, यह तत्व ही सम्यग्ज्ञान का अ ग (कारण) है और यही जीवो की सिद्धि (मुक्ति) का अ ग है ।

भगवान् ने फिर भेद—प्रभेद सहित इन तत्वो का निरूपण किया यह आदिपुराण मे वताया गया हे । जीव का लक्षण इस प्रकार वताया गया—

चेतना लक्षणो जीवः सोऽनादिनिधनस्थिति ।

ज्ञातादृष्टा च कर्ता च भोक्ता देह प्रमाणक ।।[1]

गुणवान् कर्मनिर्मुक्तावूर्ध्वव्रजास्वभावक ।

परिणन्तो सहारविसर्पाभ्या प्रदीपवत् ।।[2]

चेतना,— जानने, देखने की शक्ति वाला जीव हे, वह अनादि निधन है। न उत्पन्न हुआ, न कभी नष्ट होता, वह ज्ञाता है, ज्ञानोपयोग मय है, द्रष्टा है—दर्शनोपयोग मय है, कर्ता है द्रव्य कर्म और भाव कर्मों का करने वाला है, भोक्ता ज्ञानादि गुण तथा शुभ अशुभ कर्मों के फल को भोगने वाला है, देह प्रमाण है, गुणवान है, निर्मुक्त हो पर उर्ध्वगमन स्वभाव वाला है, वह परिणमन शील है, प्रदीप वान सकोच व विस्तार रूप परिणमन करने वाले प्रदेशो वाला है ।

भगवान् ने फिर पदार्थो के सग्रह का निरूपण किया तथा सक्षेप से कुछ और तत्वो का भी स्वरूप कहा ।

पुरुष पुरुषार्थं व मार्गं मार्गफल तथा ।

बध मोक्ष तयोर्हेतु बद्ध मुक्त च सोऽभ्यधात् ।।[3]

उन्होने आत्मा "धर्म" अर्थ काम और मोक्ष–ये चार पुरुषार्थ,, मुनि तथा श्रावको का मार्ग, स्वर्ग और मोक्ष रूप मार्ग का फल, बंध और वध के कारण,, मोक्ष और मोक्ष के कारण,, कर्म—रूपी

1 (आ० पु० २४ वां पर्व—६२) 2 (आ० पु० २४ वा पर्व—६३)

3 (आ० पु० २४/१५०)

बधन से बचे हुऐ ससारी जीव और कर्म—बधन से रहित मुक्त जीव आदि विपयो का निरूपण किया। इस प्रकार भ वृपभ ने परमेश्वर होने के धर्म का प्रवचन किया। यह धर्मतत्व श्रद्धान से प्राप्त होता है और उन सब के लिए है जो विश्वास करेगे। यह धर्म अनादि सद्धर्म रूप है। यह आमन्त्रित करता है अपने परमेश्वरत्व को प्रकट करने के लिए।

ऐसे आदि तीर्थ कर भगवान् ऋपभेश्वर—हिरण्यगर्भ द्वारा "मार्ग" के रूप मे जिसे प्राचीन काल मे "मग्ग" कहा जाता रहा—सर्व प्रथम योग का उपदेश भरत चक्रवर्ती महराजा को निमित्त करके सर्व ससार के प्राणी मात्र के सबोधनार्थ इस तरह दिया गया। यही मूल योगशासन रहा हे। इसी के योग धर्म मय उपदेश को आ० उमा स्वामी ने "सम्यक् दर्शन ज्ञान चरित्राणि मोक्ष मार्ग"—इस प्रकार सूत्र वद्ध किया। यही आत्मा-प्रकाश के दर्शन का,, ज्ञान की दृष्टि का तथा अभय का नित्य मार्ग है, जिसे तीर्थकर बार—बार उद्घटित करते है, प्रवचन करते है। इस ही मार्ग को भगवत् कु द कु द ने समय सार, प्रवचन सार, नियम सार, अष्टपाहुड, रयणसार से तथा आ. गुण भद्र ने आत्मानुशासन मे निर्वधित किया है और इसे ही भिन्न–२ दर्शनकारो ने अपनी–२ दृष्टि के अनुसार प्रतिपादित किया और इन दाशनिको मे प्रमुख कपिल है, जिनका दर्शन साख्य-दर्शन के नाम से विदित है। भ० हिरण्यगर्भ की योग शासन परम्परा मे ही म० पतजलि ने योग का अनुशासन योग दर्शन मे सूत्रबद्ध किया, जिसमे दर्शन दृष्टि साख्य की परिलक्षित हे।

जब भ० ऋपभदेव गर्भ मे थे तब छ माह तक स्वर्ण-वर्षा अयोध्या मे निरतर होती रही—अत आपका नाम ऋपभदेव के अतिरिक्त हिरण्यगर्भ भी हुआ था।

योग मार्ग के संस्थापक हिरण्यगर्भ ऋषभदेव का संक्षिप्त जीवन चरित्र

भ० ऋपभदेव इस अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थकरो मे प्रथम तीर्थकर है। जब ऐन्द्रिय सुख भोग वाली, भाव–अभाव रहित, पशु स्तर की भोग–भूमि की व्यवस्था नष्ट होने के निकट थी, और कर्म–भूमि की रचना की आवश्यकता मानव समाज को हो रही थी—तब उस सधिकाल मे चौदहवे मनु कुलकर अयोध्या के महाराज नाभि के घर उनकी महारानी महादेवी मरुदेवी से ऋषभ का जन्म हुआ। आप जन्म से ही विलक्षण प्रतिभाशाली थे। बाल्यकाल मे इन्द्र से इक्षु दण्ड को दाहिने हाथ मे लेने पर उनका नाम इक्ष्वाकु हुआ और इनका वश आगे चलकर इक्ष्वाकु तथा कश्यप कहा गया।

तब बिना बोये धान से लोगो की उदर पूर्ति होती थी। पर तव ऐसे धान का भी अभाव होने लगा था। मानव जन सख्या बढने लग गई थी। अन्न के अभाव मे लोग भूख से क्षुभित होने लगे। लोग सब नाभि महाराजा के पास समस्या-समाधान की पुकार लेकर पहुचे। नाभि राजा शरणागत प्रजा को राजकुमार श्री वृषभदेव के पास ले गये। लोगो ने अपनी करुण कथा उनके

समक्ष प्रकट की। प्रजा जनो की विह्वल दशा देखकर उनका हृदय दयाद्र हो गया। ध्यान मग्न हो कर अपने अवधि ज्ञान मे कल्प वृक्षो का अवसान देखा और विदेह क्षेत्र की व्यवस्था का स्मरण पाया और इस भारत क्षेत्र मे तपो मय, कर्म प्रधान व्यवस्था की योजना की। उन्होने अल्पारभी असि (सैनिक कार्य) मसि (लेखनकारी) कृषि (खेती व पशु पालन विद्या), कला कौशल (सगीत-नृत्यगान आदि) शिल्प (विविध वस्तुओ का निर्माण) और वाणिज्य (व्यापार)—इन छ कार्यों की शिक्षण व्यवस्था की। अग्नि का प्रयोग सिखाया, और अग्नि पाक धान का उपयोग सिखाया। वायु व वातावरण शुद्धि के लिए अहिंसक यज्ञो का अग्नि द्वारा आरम्भ कराया। इन्द्र के सहयोग से देश, नगर, ग्राम आदि की रचना कराई। उनके द्वारा प्रशिक्षित् छ विद्याओ से लोगो की आजीविका शिरु हुई। कृषि प्रधान अर्थ-व्यवस्था को लेकर कर्म भूमि प्रारम्भ हो गई। तब उस युग के आरभ मे सारी लौकिक व्यवस्थाए श्री वृषभदेव ने अपने बुद्धिबल तथा विलक्षण प्रतिभा से की। इसीलिये ये ही सभ्यता के आदि निर्माता आदि पुरुष, ब्रह्मा, विधाता, बृहस्पति ज्ञानी आदि सज्ञाओ द्वारा व्यवहृत हुये। "कृषि और ऋषि" रूप सस्कृति के ये ही मूलाधार हुए है।

उन्होने कच्छ, महाकच्छ, राजाओ की बहनें यशस्वनी (सुमगला) और सुनन्दा के साथ विवाह कर गृहस्थाश्रम का निर्वाह किया। पिता नाभिराज के आग्रह पर राज्य भार स्वीकृत किया और प्रजापति हुए। आपके आदर्श राज्य मे प्रजा सुखी एव सतुष्ट रही। ऋषभदेव ने युगलिया परपरा को समाप्त कर, सर्वप्रथम पवित्र सयममय विवाह प्रथा को स्वय ने अपना विवाह करके चलाया। शक्र ने नवीन विधि से विवाह को सम्पन्न कराया। इस प्रकार मानव समाज को व्यवस्थित करने वाले पवित्र विवाह विधान परम्परा का सूत्र पात आप से ही हुआ।

यशस्वती के गर्भ से भरत आदि १०० पुत्र तथा ब्राह्मी नामक पुत्री हुई और सुनन्दा के गर्भ से बाहुबली पुत्र तथा सुन्दरी नामक पुत्री हुई। महाराजा प्रजापति वृषभदेव ने अपने पुत्र पुत्रियो को अनेक जन-कल्याणकारी विद्याए पढाई और ब्राह्मी लिपि का आविर्भाव करके लिपि-लेखन का प्रचलन किया और समस्त प्रजा मे पठन पाठन की व्यवस्था का प्रारम्भ किया। उन्होने शासन व्यवस्था, व धर्मानुकूल लोक-व्यवस्था तथा कला विज्ञान का विकास किया। ब्राह्मी और सुन्दरी दोनो कन्याओ ने प्रभु ऋषभदेव से प्रवज्या ग्रहण की—और ये बाल ब्रह्मचारिणिया रही। ब्राह्मी ने भगवान ऋषभदेव के साथ ही प्रव्रज्या ली।

ऋषभदेव को जब तीर्थंकर नाम-कर्म का भोग हुआ और समवशरण धर्म-सभा का ऐश्वर्य उत्पन्न हुआ, उनकी मातु श्री मरूदेवी ने उस ऐश्वर्य मात्र के दर्शन से सम्यक् दर्शन की प्राप्ति की और वे प्रथम प्रसिद्ध महिला बनी। उनके पुत्र बाहूबलि इस युग के प्रथम केवलि और सिद्ध पुरुष हुए। उन्होने भ ऋषभदेव से पूर्व सिद्ध पद सिद्धालय को प्राप्त किया।

भ ऋषभदेव स्वय बोध थे। जब नृत्यागना नीलाजना का उनकी सभा मे नृत्य करते अचानक निधन हुआ तो नृत्य आनन्द समा मे मग्न ऋषभदेव उस घटना से झकजोर गये-वृत्ति अन्तर्मुख हो गई। इस नश्वरता के आगे क्या सत्य है? पम उन्होने अपने जीवन के अगले चरण पर अग्रसर होने का निश्चय किया। वडे पुत्र भरत को राज्य तथा अन्य पुत्रो को यथायोग्य प्रदेशो का विभाजन करने के उपरात जन कल्याण के परम करुणा भाव से आर्द्रित् उनका महानिष्क्रमण हुआ।

वे परम हस गगन परिधान, शरीर मात्र परिग्रह अकिंचन वित्त अपरिग्रही दिगम्बर निर्ग्रन्थ हो गये। चार हजार अन्य राजा भी उनके साथ प्रवृजित हुये पर वे राजा गण क्षुधा तृषा आदि के परिग्रह न सह सकने के कारण प्रवृज्या और आत्म-साधना मे स्थिर न रह सके। महामुनि वृषभदेव का प्रथम कायोत्सर्य ध्यान-योग छ माह का था जिसमे उन्होने त्रिगुप्ति पूर्वक प्रथम तो धर्म ध्यान तदन्तर शुक्ल ध्यान का साधन किया। छ: माह समाप्त होने पर वे आहार के लिये निकले। पर लोगो मे मुनि आहार -विधि का ज्ञान न होने के कारण आप अपनी विशेष लब्धि प्रभाव से छ माह निराहार विहार करते रहे।

इस विहार मे अयोध्या से उत्तर की ओर चलते चलते हस्तिनापुर जा पहुचे। वहा तत्कालीन राजा सोमप्रभ थे और उनके छोटे भाई श्रेयास थे। इन श्रेयास के जीव का श्री वृषभदेव के जीव से पूर्वभव मे सम्बन्ध रहा था। वज्रजघ की पर्याय मे यह उनकी श्रीमति नाम की पत्नी थे। और उस भव मे इन दोनो ने एक मुनिराज के लिये आहार दान किया था। राजा श्रेयास को जाति-स्मरण हुआ, और उन्हे सब आहार दान की घटना तथा विधि स्मृत हो गई। इसलिये उन्होने इस तपस्वी महामुनि ऋषभ को देख कर आहार के लिए विधि पूर्वक पडगाह लिया और इक्षुरस का आहार दिया। यह आहार वैसाख सुदी तृतीया को हुआ और यह तिथि भी अत पवित्र अक्षय-तृतीया नाम से प्रसिद्ध हुई चली आ रही है।

राजा सोमप्रभ, श्रेयास तथा उनकी रानियो को तथा लोगो को इस आहार दान से वडा सस्कार, प्रभाव, तथा महात्म्य मिला। पच आश्चर्य हुये। इसके बाद भगवान् बन व प्रकृति की गोद मे कैलास गिरि के वातावरण मे उन्मुक्त स्वच्छ वायुमण्डल मे आत्म साधना करते रहे। एक हजार वर्ष के तपश्चरण रूप तप-कल्याण को सम्पन्न करने पर उन्हे घातिया कर्मो की निर्जरा कर लेने पर दिव्य केवल-ज्ञान प्राप्त हुआ और वे अर्हन्त और सर्वज्ञ हो गये। तीर्थंकर नाम कर्म के उदय से अब वे साधक मुनि वृषभदेव से भगवान् वृपभदेव हो गये। समवशरण मय धर्म सभा की रचना इन्द्र द्वारा हुई। सब के समान स्थान तथा समभाव मे वहा स्थिति के कारण इस धर्म सभा का नाम समवशरण सार्थक हुआ।

भगवान् की वह परमानन्द मय केवल ज्ञान की धारा शिव के मस्तक के नीचे वहने वाली पवित्र गगा के समान सब के लिये समान रूप से प्रवाहित होने लगी। आत्मा का जो परमानन्द इस प्रभु ने अपने मे समग्र चैतन्य से एकाकार होकर प्राप्त किया था, वही दिव्य ध्वनि मे अर्थ रूप से प्रवाहित हुआ, और कोटि कोटि भक्त साधको के हृदयो को अपने रस और ज्ञान से आलावित करने लगा। और युग पर युग बीतने के वाद भी आज भी साधको को अतरीक्ष मे वही ध्वनि ध्वनित होती श्रुति गोचर होती है। भगवान् ऋषभदेव की जीवन घटनाए महत्वपूर्ण है पर इससे भी अधिक महत्वपूर्ण है उनकी वह अध्यात्मिक साधना जिससे वे परम सत्य को उपलब्ध हुए। उनका तत्वोपदेश युगान्तकारी है, और उनका योग शासन भी, जो कि विश्व मे मानव के लिये आध्यात्मिक उत्क्रान्ति के लिये सर्व प्रथम आदि रूप से प्रवर्तित हुआ।

उनके पुत्र भरत चक्रवर्ती महा सम्राट हुये। उन्होने चक्ररत्न के द्वारा षट् खण्ड पृथ्वी के ऐश्वर्य को भोगा और राजनीति का विस्तार कर आश्रित राजाओ को राज्य-शासन की पद्धति दिखाई। उन्होने समाज-व्यवस्था को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्व और शूद्र—मे तीन वर्ण आजीविका-गुण भेद से निर्धारित हुए और ब्राह्मण व्रती के रूप मे स्थापित हुए। सब विना ऊच-नीच के भेद-भाव के अपनी अपनी वृत्ति का निर्वाह करते थे और कोई दुखी न था। इतना ऐश्वर्य भोग कर भी उन्हे न ऐश्वर्य की आसक्ति थी, न सत्ता का मोह ही था। वे परम गुरु भगवान् ऋषभदेव की धर्म सभा मे धर्म-लाभ लेने जाते रहते थे, और अपनी धर्म-जिज्ञासाओ का समाधान करते थे।

भगवान् वृषभदेव के प्रवचन दिव्य ध्वनि मे होते थे, जिसे प्राणी मात्र अपनी अपनी भाषा मे अवधारित कर लेते थे। ससार के भूले-भटके प्राणियो को आत्म-हित और आत्म यज्ञ साधना का उपदेश मिला। इस प्रकार इस युग के वे प्रथम (आदि) धर्म प्रवक्ता योग शासन के शास्ता आदि योग पुरुष और आदितीर्थकर हुए। उनका समस्त आर्यखण्ड मे विहार हुआ। तथा इसदेश के मुकुट तुल्य पवित्र कैलास पर्वत पर से उन्होने निर्वाण को अशरीरी अव्यावाध आनन्द अवस्था को प्राप्त किया।

भरत चक्रवर्ती षट्-खण्ड पृथ्वी के अधिपति प्रजापति थे, फिर भी राज्य मे आसक्ति नही थी और मोक्ष-पुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए सब राज्य सता का त्याग करके प्रव्रज्या धारण की और अन्तर्मुहूर्त मे ही उन्होने केवल ज्ञान को प्राप्त किया और केवल ज्ञानी भरत महामुनि अरिहत हो गये। उन्होने ने भी अन्य देशो मे विहार कर समस्त जीवो को उसी मुक्ति-मार्ग का उपदेश दिया और अन्त मे निर्वाण प्राप्त किया। "अन्त्य ब्रह्मा भरतो" (आ नेमिचन्द्र) प्रतिष्ठा तिलक १८। भरत अन्तिम प्रजापति ब्रह्मा हुये।

भरत के भाई वाहु-बलि ने भी भरत के चक्रवर्तीत्व को न स्वीकार करके उन्हे दृष्टि व जल

व मल्ल युद्ध मे परास्त करके भी राज्य वैभव की नश्वरता को जान कर निर्ममत्व होकर प्रव्रज्या लेकर दिगम्वरी दीक्षा ले ली। उन्होने भ. वृषभदेव और भरत से भी पूर्व अपनी लम्बी दुर्धर तप तथा ध्यान साधना से मुक्ति को प्राप्त किया। वे इस युग के प्रथम मुक्त पुरुष की प्रतिष्टा से प्रतिष्ठित हुये। लोक मे निर्ग्रन्थ दिगम्बर श्रमण—मुनिजनो का, उनकी पवित्र वीतराग आत्म—साधन तपोमय जीवन के कारण बहुमान हुआ और सम्राट और श्रेष्ठ जन उनके दर्शन तथा परिचर्या मे अपना अहो—भाग्य मानते थे। यद्यपि मानव जीवन की समृद्धि मे १४ कुलकरो का भी प्रारंभिक लौकिक व्यवस्था स्थापित करने मे वहुत योग दान रहा मगर भगवान ऋषभ ने न केवल लौकिक निर्माण के ही अपितु आध्यात्मिक निर्वाण के भी उत्कृष्ट आयाम प्रस्तुत किये। अत उनको मानव जाति सम्मान ही नही, अपनी अनन्य श्रद्धा अर्पित करती है और करती रहेगी।

युग के आरम्भ मे प्रागैतिहासिक काल के भगवान वृषभदेव और सम्राठ भरत इतने अधिक पुण्य तथा प्रभाव शील भूमिका वाले पुरूष हुये है कि उनका जैन ग्रन्थो मे तो उल्लेख है ही उसके सिवाय वेद के मन्त्रो, जैनेतर पुराणो, उपनिषेदो आदि मे भी सकेतो के रूप मे उल्लेख मिलते है, जिनका सक्षिप्त वर्णन हम पूर्व अध्याय मे कर चुके है। "भागवत्" मे भी मरू देवी नाभिराज वृषभदेव और उनके पुत्र भरत का विस्तृत विवरण है। यद्यपि जैन वर्णन से ये अशो तथा विगतो मे भिन्न भी हैं। 'भागवत्' आदि चाहे वाद मे ही रचे गये हो—पर यह तो सत्य ही है कि इनमे जिन प्राग् ऐतिहासिक वर्णनो का समावेश है–वह इतिहास को परम्परा से आई इतिहास-स्मृतियो को सक्षिप्त रूप से जीवित रखने के अमूल्य प्रयास हैं। वे प्राचीन सास्कृतिक घटनाओ तथा पुरुषो की झाकी देते है। इसलिए पुराण इनका सार्थक नाम है। इनमे खखोल भूगोल आदि के वर्णन आज के वैज्ञानिक तथ्यो से मेल न खाने पर भी अपने अद्भूत वर्णन से अद्भुत रस तथा विस्मय से हमे भर देते है और इनसे स्पष्ट है कि पुरातन काल से ही वे विषय भी मानव की रुची के रहे है। इस देश का नाम जैसा कि इनमे वर्णित है, महाराजा भरत के नाम से हुआ और यह तो अद्यावधि ऐसा ही चला ही रहा है।

भगवान ऋषभदेव की दिगम्बरीप्रव्रज्या श्रीमद् भागवत् मे उल्लेख·—

भ० वृषभदेव के महा निष्क्रमण तथा दिगम्वर श्रमण दशा ग्रहण की घटना को श्रीमद् भागव त् (स्कन्ध प्र० अ० ५—७९) मे अभिराम शब्दो से शब्दायित किया है। भागवत कार ने भ ऋषभ को आठवाँ अवतार माना है। जैन इन्हे चौदह कुलकरो के बाद मानते है। धर्म व योग शास्ता के रूप मे ये ही सर्व प्रथम व अग्रज पुरूष माने जाते है।

"एवमनुशास्यात्मजान् स्वयमनुशिष्टानपि लोकानुशासनार्थ महानुभावः परम सुहृद भगवानृषभोदेव उपशम शीलानामुपरतकर्मणाम् महामुनीनां भक्ति ज्ञान वैराग्य लक्षणम् परम

हसस्य धर्ममुयाशिक्ष्यामाण स्वतनयशतज्येष्ठ परम भागवन्त भगवज्जनपरायण भरत धरणीपाल-नायाभिषिच्य स्वय भवन एवोर्वरितशरीर मात्र–परिग्रह उन्मत्त इव गगन परिधान प्रकीर्णकेश आत्मन्यारोपिता हवनीयो ब्रह्मावर्त्तात् प्रवव्राज।"

अर्थात्—महायशस्वी और सवसे सुहृद ऋषभ भगवान् ने यद्यपि उनके पुत्र सब भाति से चतुर थे, परन्तु मनुष्यो को उपदेश देने के हेतु प्रशान्त और कर्मवधन से रहित परम हस (दिगम्बर) आश्रम धर्म की शिक्षा देने के हेतु अपने सौ पुत्रो मे ज्येष्ठ परम भागवत हरि भक्तो के सेवक भरत को पृथ्वी पालन के हेतु राज्याभिषेक कर तत्काल ही ससार को छोड दिया और आत्मा मे होमाग्नि का आरोप कर, केश खोलकर, उन्मत्त की भाति गगनपरिधान यानी नग्न (दिगम्बर) होकर केवल शरीर मात्र परिग्रह (सग) लेकर ब्रहमावर्त से प्रव्रज्या (सन्यास) धारण कर निष्क्रमण कर गये।

श्रीमद् भागवत कार का–जो न दिगम्बर है, न श्वेताम्बर हैं योग के आदि–प्रवक्ता तथा जैन धर्म के आदि सस्थापक भ. वृषभेश्वर का दिगम्बर नग्न स्वरूप मे प्रव्रजित होकर तपोयोग के लिए महानिष्क्रमण का यह उल्लेख ऋग्वेद के वातरशना निग्रन्थ दिगम्बर मुनियो के वर्णन के अतिरिक्त, जैन धर्म के दिगम्बर आम्नाय की प्राचीन तम आदि–स्वरूप की यानी प्राचीनतम प्राचीनता के प्रमाण की एक अति बहुमूल्य स्पष्ट व निष्पक्ष और अबाधित (Third party) की साक्षी है। श्वेताश्वतरोप निषद मे "यदाचर्मवदाकाश वेष्टयिष्यन्ति मानवा" मे "गगनपरिधान": रूप नग्न दिगम्बर अवस्था का ही बखान है और दिगम्बर आम्नाय की अति प्राचीनता वेदो के वातरशना मुनियः आदि उल्लेखो के अतिरिक्त भी सूचित होती है। दिगम्बर परम्परा भ० ऋषभदेव व उनसे पूर्व नाभि महाराज तथा १४ कुलकरो के एक अति दीर्घ प्राचीन काल तक से ही रही चली आई सिद्ध होती है। इसकी प्राचीनता इनकी मुख्यता से है—न कि किसी ग्रन्थ, मन्दिर, मूर्ति या तीर्थ स्थान के अर्वाचीन परिग्रहो। से ये सब तो बाद की वस्तुएं हैं।

पर हम तो यह भी कहते है वस्तुत इस विज्ञान-मार्ग, धर्म या आम्नाय की मात्र प्राचीनता के आधारो पर ही प्रमाणिकता मानी जाए, यह दि० जैनो को मान्य भी नही रहा है। वस्तु की विशेषता ही वस्तु की प्रमाणिकता है, यह तर्क सम्मत भी है। इसकी प्राचीनता तो मात्र उस विषय मे अग्रणी होने, सर्व प्रथम पुरस्कर्ता होने को ही निर्णीत करती है। तथा वह इतिहास और प्रागैतिहास का एक अग है। इस दृष्टि से यह महत्वपूर्ण भी है।

भ० हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर (ऋषभनाथ) के योग धर्म की प्रमाणिकता न केवल प्राचीनतम होने पर आधारित है, यह तो आत्मा की विशुद्धि, पवित्रता और निर्मलता का सरल और सहज

मार्ग है और यह मार्ग तीर्थंकरो ने अनादि काल से पुरस्कृत किया है। यह जीवो की विशुद्धि तथा चिर शान्ति और आनन्द का मार्ग होने से सनातन सद् धर्म रूप रहा है। परम निर्ग्रन्थ वीतराग आत्मा का स्वरूप अत' सर्वत्र वदनीन सदा से रहता आया है। विश्व के निरपेक्ष रूप से सब ही प्राणी जीवात्माओ द्वारा आचरणीय चारित्र विशुद्धि रूप धर्म का सर्वों परि निरूपण करने से यह तो न केवल प्राचीनतम, वल्कि विश्व धर्मरूप भी है। सम्यक् चारित्र की प्रासगिकता त्रिकाल है, और रहेगी अत. यह शाश्वत् (Eternal) धर्म मार्ग है।

प्रकाड ज्योतिषाचार्य वराहमिहिर के प्रतिष्ठाकाण्ड मे भी "नग्ना जिनाना विदु" ऐसा इस दिगम्बर जैनत्व के लिए उल्लेख है। वेद मे जहा वातरशना: मुनय कह कर दिगम्बर मत वर्णन किया है भागवत मे "समस्त मनसो नग्ता." कह कर इसका वर्णन किया है। जर्नल फर्लाग का मत है कि जैन धर्म इतना प्राचीन है कि इसका आदिमूल स्रोत खोज निकालना मुश्किल है।

भगवान के प्रसिद्ध नामों की सार्थकता —

आदि पुराण (भ० ज्ञानपीठ) की प्रस्तावना मे भगवान वृषभदेव के प्रसिद्ध नामो का परिचय इस प्रकार दिया गया है—

लोक मे ब्रहमा नाम से प्रसिद्ध जो देव है—वह जैन परम्परानुसार भगवान वृषभदेव को छोडकर नही है। भगवान वृषभदेव के अन्य अनेक नामो से निम्न लिखित नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है।

हिरण्यगर्भ, प्रजापति, लोकेश, नाभिज, चतुरानन, सृष्टा, स्वयभू।

इनकी यथार्थ सगति भी भगवान वृषभदेव के साथ ही बैठती है, जैसे—

हिरण्यगर्भ–जब भगवान माता मरुदेवी के गर्भ से आये थे उसके छ माह पहले से अयोध्या नगरी मे हिरण्य तथा रत्नो की वर्षा होने लगी थी। इसलिये हिरण्यगर्भ नाम सार्थक है।

हिरण्यगर्भं माह स्त्वां यतो वृष्टिहिरण्यमयी।
गर्भावतरणे नाथ प्रादुरासीत्तदाद्भुता ॥[1]

प्रजापति—कल्प वृक्षो के नष्ट हो जाने के बाद असि मसि कृषि आदि छ कर्मों का उपदेश देकर आपने ही प्रजा की रक्षा की थी। इसलिए आप प्रजापति कहलाते थे।

---

1. (आ० पु० २४/६९)

लोकेव—समस्त लोक के स्वामी थे इसलिए लोकेश कहलाते थे ।

नाभिज—नाभिराज नाम के चौदहवे मनु से उत्पन्न हुए थे इसलिए नाभिज कहलाते थे ।

चतुरानन—समवशरण मे चारो ओर से आपका दर्शन होता था इसलिए चतुरानन व चतुर्मुख कहलाते थे ।

सृष्टा—भोगभूमि नष्ट होने के वाद, देश नगर आदि के विभाग, राजा प्रजा गुरू शिष्य आदि का व्यवहार विवाह प्रथा आदि के आप आद्य प्रवर्तक थे—इसलिए सृष्टा कहे जाते थे ।

स्वयभू—दर्शन विशुद्धि आदि भावनाओ से अपने आत्मा के गुणो का विकास कर स्वय ही आप तीर्थंकर हुए थे इसलिए स्वयभू कहलाते थे ।

आ० श्री जिनसेन ने भगवान के श्रेसास कुमार व राजा सोमप्रभ द्वारा आहार के उपरात भगवान ने जिस ध्यान वीर्य का अलौकिक प्रकाश विस्तीर्ण किया, उसका भी वर्णन किया है ।

जिनकल्प तपोयोग का भगवान द्वारा संधारण—

भगवानथ सजात बल वीर्यो महाधृति ।
भेजे पर तपोयोग योगविज्जिनकल्पितम् ॥
मोहांधतमसध्व सकल्पा सन्मार्गदर्शनी ।
दिदीपेऽस्य मनोऽगारे समिद्धा बोध दीपिका ॥

आहारग्रहण करने के अनन्तर उन्होने अपने बल वीर्य और महाधृति (निश्चल स्थिरता) की ऐसी उत्पत्ति की कि योगवित् जिनकल्प (निरामय) तपोयोग को उन्होने धारण किया । उनके मन मन्दिर मे मोहाधकार को नष्ट करने वाला समीचीन मार्ग दिखलाने वाला और अतिशय देदीप्यमान ज्ञान रूपी दीपक ही प्रकाशमान हो गया ।

भगवान की महा भागवद प्रकाश सत्ता --

योगानुष्ठान रूप तप कल्याणक की काष्ठा पर शुक्ल ध्यानाग्नि के चिदग्नि रूप प्रज्वलित होने पर भगवान ऋषभ को केवल ज्ञान हो गया और इस महाज्ञान के प्रकाश होते ही महामुनी ऋषभदेव भगवान ऋषभदेव हो गये । वे मानव से महाभागवत परम-आत्म प्रकाश सत्ता मे परिणत हो गये । वे समग्र चैतन्य भाव रूप महामानव होकर आत्म प्राप्त हो गए । ज्ञानकल्याण भगवान ऋषभदेव का

1. (आदि पुराण २४/१५४/१५५)

सम्पन्न हुआ। वे भगवद् सत्ता की परिपूर्ण विकास की सम्भावना रूप भव्यता को लिए हुए जन्मे थे। तीन ज्ञान के धारी भगवान ऋषभदेव ने पच कल्याणको को सम्पन्न करके अनादि की भव यात्रा का अवसान किया।

गर्भ के समय हिरण्य वर्षा हुई। जन्म के समय देवो द्वारा अभिषेक हुआ। तपोमय जीवन की भावना के साथ ही ऋद्धिधारी लोकान्तिक देवो द्वारा प्रस्तुति को प्राप्त हुए। ज्ञान कल्याणक मे केवल ज्ञान प्राप्त हुआ। तब प्रभु को अक्षय आनन्द रूप नित्य जीवन मुक्ति का धारण ही शेष था। मुक्ति-कल्याणक भी सम्पन्न करने के पूर्व उन्होने तप और ज्ञान द्वारा जिस परमानन्द स्थितियो को पाया, उस समग्र आनन्द को भी जन-जन मे अपने दिव्य प्रवचन द्वारा बाट दिया।

उन महा करुणामय प्रभु मे अमित अक्षय जीवन का महा स्रोत ही प्रस्फुटित हो गया था। उन्होने इस ससार की कटकाकीर्ण पगडडी पर अपने करूणामय चरण-चिन्ह ऐसे छोडे है, जो पूर्ण जीवन के,—परिपूर्ण योग के स्वर्ण कलशो तक, चरमोत्कर्ष तक जाते हैं–जिनकी खोज मे साधारण मानव भी महामानव परिणत होता है। तब से उन कलशो की दिव्य आभा–केवल किरणो के रूप मे बराबर मानव को उस मार्ग का आमन्त्रण दे रही है। काश! भव-ज्वाला तप्त मानव उधर उन्मुख होकर उस आमन्त्रण को स्वीकार करे! और उनके द्वारा प्रवर्तित योग शासन के आत्मानु शासन रूप को अगीकार करें! इस शासन मे स्वयं आत्मा ही अपना शासक है और शासक और शासित को कोई भेद भी नही होता। स्वय ही नियामक, स्वय ही नियमित और स्वय ही नीति है। यही इस योग शासन हैरण्यगर्भ अर्हत् योग शासन की विशिष्टता है।

भगवान के प्रथम गणधर

भ ऋषभदेव के प्रथम गणधर ऋषभसेन हुए। इन्हे श्वेतम्बर जैन तो सम्राट भरत के पुत्र तथा दिगम्बर जैन भ ऋषभदेव के पुत्र बताते है। भ. ऋषभदेव के उत्तराधिकारी शीर्षक से विवेचन करते हुए देवेन्द्र मुनि ने इस प्रकार कहा है "हा जो प्रथम गणधर ऋषभसेन को ही भगवान ने आत्म विद्या का परिज्ञान कराया। वैदिक परम्परा से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि आत्म विद्या क्षत्रियो के आधीन रही है। पुराणो की दृष्टि से भी क्षत्रियो के पूर्वज भ. ऋषभदेव ही हैं। ब्रह्माण्ड पुराण पूर्वार्द्ध अनुषग पाद १४/६० (वे मोक्ष मार्ग के प्रवर्तक अवतार हैं), वायु पुराण पूर्वार्ध ३३/५० (जैन साहित्य मे ऋषभसेन को ज्येष्ठ गणधर कहा है। सम्भव हैं वैदिक साहित्य मे उसे ही मानस पुत्र और ज्येष्ठ पुत्र अथर्वन कहा है। उन्हे ही भगवान ने समस्त विद्याओ मे प्रधान ब्रह्म विद्या देकर लोक मे अपना उत्तराधिकारी (गणधर) बनाया (मुण्डकोपनिषद् १/१)

भगवान की उत्तरवादी परम्परा

भगवान् ऋषभदेव ने मानव के अन्तर्निहित तत्त्व आत्मा के सम्पूर्ण विकास रूप केवल ज्ञान

का धारणा किम्ध्यानं किं ध्येय कीदृशीस्मृति. ।
किं फलं कानि बीजानि प्रत्याहारोऽस्य कीदृश ।।[1]

छः प्रकार के भेद से योग की निरूपण करने वाले योगवादी से ये पूछा जाना चाहिए— (१) योग क्या है (२) समाधान क्या है (३) प्राणायाम कैसा है (४) धारणा क्या है (५) आध्यान (चिन्तवन) क्या है (६) ध्येय क्या है (७) स्मृति कैसी है (८) ध्यान का फल क्या है (९) ध्यान के बीज क्या हैं (१०) प्रत्याहार कैसा है ?

बडी-बडी ऋद्धियो के धारक गौतम गणधर स्वामी ने फिर उस ऋषि सभा मे इसे स्वय ही निरूपण किया —

मन वचन काया के क्रिया रूप योग के शुभ और अशुभ दो भेद

कायवाङ्मनसा कर्म योगो योगविदां मत ।
स शुभाशुभ भेदेन भिन्नो द्वैविध्यमश्नुते ।।[2]

योग विदो के मत मे काय वचन और मन की क्रिया को योग कहते हैं। वह योग शुभ अशुभ के भेद से दो भेदो को प्राप्त है।

समाधि लक्षण

यत्सम्यक्परिणामेषु चित्तस्याधानमञ्जसा ।
स समाधिरिति ज्ञेय स्मृतिर्वा परमेष्ठिनाम् ।।[3]

उत्तम परिणामो मे चित्त का स्थिर होना या रखना ही यथार्थ मे समाधि या समाधान है अथवा पच परमेष्ठियो की स्मृति को भी समाधि कहते है।

प्राणायाम और धारणा के लक्षण

प्राणायामो भवेद् योगनिग्रह शुभ भावन ।
धारणा श्रुतनिर्दिष्ट बीजानामवधारणाम् ।।[4]

शुभ भावना रखना तथा मन वचन काय–इन तीनो का निग्रह (आयाम) रखना प्राणायाम है।

---

1 आ. पु. २१/२२४
2 (आ. पु २१/२२५)
3. (आ पु २१/२२६)
4. (आ० पु० २१/२२७)

श्रुत वर्णित बीजाक्षर-मन्त्रो की अवधारणा धारणा है। प्रत्याहार तथा धारणा दोनो मे मन्त्र सिद्धि की गहन भूमिका रहती है।

ध्येय लक्षण

आध्यानं स्यादनुध्यानमनित्यत्वादिचिंतनैः ॥
ध्येयं स्यात् परमं तत्त्वमवाङ्मनसगोचरम् ॥[1]

अनित्यादि भावनाओ (बारह अनुप्रेक्षाओ) का बार-बार चिन्तवन करना आध्यान कहलाता है तथा मन और वचन के अगोचर जो अतिशय उत्कृष्ट शुद्ध आत्म तत्व है, वह ध्येय है।

स्मृति का लक्षण

स्मृतिर्जीवादितत्वानां याथात्म्यानुस्मृतिः स्मृता।
गुणानुस्मरणं वा स्यात् सिद्धार्हत्परमेष्ठिनाम् ॥[2]

जीवादि तत्वो के यथार्थ स्वरूप का स्मरण करना स्मृति कहलाती है—अथवा सिद्ध और अर्हन्त परमेष्ठी के गुणो का स्मरण करना भी स्मृति कहलाती है।

प्रत्याहार का लक्षण

फलं यथोक्त बीजानि वक्ष्यमाणान्यनुक्रमात्।
प्रत्याहारस्तु तस्योपसंहृतौ चित्तनिवृत्ति ॥[2]

ध्यान का फल यथोक्त (ऊपर कहा जा चुका) है, बीजाक्षरो को अनुक्रम से आगे कहेगे। मन की प्रवृत्ति का सकोच करने पर जो चित्त की निवृत्ति (वृत्ति-हीनता, सन्तोष) ही प्रत्याहार है।

दुःख क्षय कारक "अर्हं" मन्त्र

अकारादि हकारान्त रेफमध्यान्त बिन्दुकम्।
ध्यायन् परममिदं बीजं मुक्त्यर्थी नावसीदति ॥[4]

अकार है आदि मे, हकार है अन्त मे, रेफ है मध्य मे और बिन्दु है अन्त मे, ऐसे उत्कृष्ट

---

1 (आ०पु० २१/२२८)
2 (आ० पु० २१/२२९)
3. (आ० पु० २१/२३०)
4. (आ० पु० २१/२३१)

अर्हं बीजाक्षर का ध्यान करता हुआ मुमुक्षु कभी दु ख को प्राप्त नही होता है। वस्तुत. मन्त्र सिद्धि ही योग का आधार है।

ब्रह्मतत्व विद् होने की विधि

पच ब्रह्मयैमन्त्रैः सकलीकृत्य निष्कलम्।
परतत्त्वमनुध्यायन् योगी स्याद् ब्रह्म तत्त्वावित् ॥[1]

पच ब्रह्म (परमेष्ठी) मन्त्रो से सकलीकरण करके निष्कल भाव को प्राप्त होकर जो योगी पर तत्व (परम-आत्मा) का ही ध्यान बार-बार करता है,—वही ब्रह्मतत्व विद् होता है।

योग का ऐश्वर्य

योगिन परमानन्दो योऽस्य स्याच्चित्तनिवृते.।
स एवैश्वर्यं पर्यन्तो योगजा किमुतर्द्धय. ॥[2]

योगियो को चित्त की निवृत्ति से जो परमानन्द होता है—वह ही सबसे अधिक ऐश्वर्य है। योग से होने वाली ऋद्धियो का तो कहना ही क्या है।

योग से कर्म विमुक्ति

अणिमादि गुणैर्युक्तमैश्वर्यं परमोदयम्।
भुक्त्वेहैव पुनर्मुक्त्वा मुनिर्निर्वाति योगवित् ॥[3]

योग वित् मुनि अणिमादि गुणो से युक्त ऐश्वर्य तथा परमोदय को प्राप्त करता है और बाद मे कर्म बन्धन से मुक्त होकर निर्वाण प्राप्त करता है।

मन्त्रार्थ--भावना की श्रेष्ठता

बीजान्येतान्यजानानो नाममात्रेण मन्त्रवित्।
मिथ्याभिमानोपहतो बध्यते कर्मबन्धनै ॥[4]

जो बीजाक्षर मन्त्रो को (अर्थ रूप से) न जानकर नाम मात्र (शब्द रूप से) ही से मत्र वित् होता है,—वह झूठे अभिमान से दग्ध होता है और कर्मबधनो से बधा रहता है।

---

1. (आ० पु० २१/२३६) 2 आ० पु० (२१/२३७)
3. (आ० पु० २१/२३९)

भगवान गौतम गणधर ने इसके आगे उन सब तत्समय के अन्य मतो मे प्रचलित जीवादि पदार्थो की नित्य-अनित्य आदि अवधारणाओ को निराकृत करके सम्यक् पदार्थ बोध की महत्ता प्रकट की है—

ध्यान संदर्भ में पदार्थ बोध,—नित्य व अनित्य आदि अवधारणाएं

नित्यो वा स्यादनित्यो वा जीवो योगाभिमानिनाम् ।
नित्यश्चेद विकार्यत्वान्न ध्येय ध्यान सगति. ।।[1]

योगाभिमानियो के मत मे जीव नित्य है या अनित्य ? यदि नित्य है तो विकार (परिणमन) से रहित होने से-उसके ध्येय व ध्यान की सगति भी नही हो सकती ।

सुखासुखननुभवन स्मरणेच्छाद्यसभवात् ।
प्रागेवास्य न दिध्यासादूरात्तत्वानुचिंतनम् ।।[2]

नित्य जीव के सुख दु ख का अनुभव स्मरण और इच्छा आदि परिणमनो का होना भी असभव है,—इसलिये जब इस जीव के ध्यान करने की इच्छा ही नही हो सकती,—तब तत्त्व चिन्तन तो दूर ही रहा ।

तन्निवृत्तो कुतो ध्यानं, कुतस्तस्यो वा फलोदय ।
बध मोक्षाद्यधिष्ठाना प्रक्रियाप्याफला तत ।।[3]

तत्त्व चिन्तन की निवृत्ति होने से फिर ध्यान कैसे हो सकता है ? ध्यान के बिना ध्यान फल की प्राप्ति कैसे हो सकती है ? उसके बिना बध और मोक्ष के कारण भूत समस्त प्रक्रियाये ही निष्फल हो जाती है ।

क्षणिकानाश्च चित्तानां सन्ततौ का कानुभावना ।
ध्यानस्य स्वानुभूतार्थस्मृतिरेवात्र दुर्घटा ।।[4]

यदि जीव क्षणिक (अनित्य) है तो क्षण-क्षण मे नवीन उत्पन्न चित्त सतति मे ध्यान की भावना ही नही हो सकेगी,—क्योकि इस क्षणिक वृत्ति मे अपने द्वारा अनुभव किये हुए पदार्थो का स्मरण होना अशक्य है ।

---

1 आ० पु० २१/२४०)
2 (आ० पु० २१/२४१)
3. (आ० पु० २१/२४२)
4 आ० पु० २१/२४३)

सन्तानान्तरवत्तस्मान्न दिध्यासादि सम्भवः ।
न ध्यानं न् च निर्मोक्षो ताध्य स्याष्टाग भावना ।।[1]

सतानान्तरत्व के कारण से अर्थात् देवदत्त चित्त-सतान के प्रति यज्ञ दत चित्त सतान के समान कारण से ध्यान करने की इच्छा नही हो सकती । जिस प्रकार एक पुरुष का अनुभूत पदार्थ-स्मरण दूसरे पुरुष को नही हो सकता—क्योकि वह उससे सर्वथा भिन्न है, ऐसे ही अनुभव करने वाले मूलभूनजीव चित सतान के नष्ट हो जाने पर उसके द्वारा अनुभून पदार्थ स्मरण उनकी सतान प्रति सतान को नही हो सकता । क्योकि मूल पदार्थ का निरन्वय नाश मानने पर सतान प्रति सतान के साथ उसका कुछ भी सम्बन्ध नही रह जाता । ऐसे अनुभूत पदार्थ के स्मरण के बिना ध्यान करने की इच्छा होना असम्भव हो जाता है । ध्यान की इच्छा बिना, ध्यान नही हो सकता और ध्यान के बिना उसके फल मोक्ष की प्राप्ति नही हो सकती तथा इस मोक्ष की अष्ट भावना—(१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् सकल्प, (३) सम्यक् वचन, (४) सम्यक् कर्मान्ति, (५) सम्यक् आजीव, (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् सहृति और (८) सम्यक् समाधि–इन अष्ट अङ्गो की भावना भी नही हो सकती ।

तत्त पुद्गल वादेऽपि देह पुद्गल तत्वयो ।
तत्वान्य त्वाद्यवक्तव्य सगराद्ध्यातुरस्थितिः ।।

दिध्यासा पूर्विका ध्यानप्रवृतिमात्र युज्यते
न चासत खपुष्पस्य काचिद गधादिकल्पना ।।

विज्ञप्ति मात्र वादे च ज्ञप्तेर्नाहस्त्येव गोचर ।
ततो निर्विषयाज्ञप्तिः क्वात्मान विभृयात् कथम् ।।[2]

इसी प्रकार जीव को पुद्गल रूप मानने के मत मे भी देह और पुद्गल तत्व के भेद-अभेद और अवक्तव्य पक्षो मे ध्याता की सिद्धि नही हो पाती । सर्वथा असत् आकाश–पुष्प मे गध आदि की कल्पना नही हो सकती । तात्पर्यय यह कि पुद्गल रूप आत्मा यदि देह से भिन्न है तो पृथक् आत्म तत्त्व सिद्ध हो जाता है । यदि अभिन्न है तो देहात्मवाद के दूषण आते है । यदि अवक्तव्य है तो उसके किसी रूप का निर्णय न हो सकने से ध्यान की इच्छा प्रवृति आदि नही बन सकते ।

इसी प्रकार विज्ञप्ति मात्र वाद मे विज्ञान का सिवा विज्ञान कुछ भी विषय शेप नही रहता । अत विषय के अभाव मे—ज्ञेय (जानने योग्य पदार्थो के बिना विज्ञान स्व स्वरूप को,—निर्विषय विज्ञान स्वरूप को कहा धारण करेगे,—अर्थात् विज्ञान स्वरूप का लाभ नही कर सकता-यानी विज्ञान का ही अभाव हो जाता है ।

1 (आ० पु० २१/२४४)   2. (आ० पु० २१/२४५–२४७)

तदभावे च न ध्यानं न ध्येयं मोक्ष एव वा ।
प्रदीपार्कहुताशादौ सत्यर्थे चार्थ भासनम् ।।[1]

और विज्ञान के अभाव होने पर न ध्यान, न ध्येय और न मोक्ष, कुछ भी सिद्ध नही हो सकते, क्योकि दीप सूर्य अग्नि आदि प्रकाशक और घट पट आदि प्रकाश्य पदार्थों के रहते हुए ही पदार्थों का प्रकाशन हो सकता है ।

विज्ञान और विज्ञेय दोनो प्रकार के पदार्थों का सद्भाव होने पर ही ध्यान ध्येय और मोक्ष आदि की सिद्धि हो सकती है, विज्ञानाद्वैतवादी केवल प्रकाशक (विज्ञान) को ही मानते है, प्रकाश्य (विज्ञेय पदार्थों) को नही मानते और युक्ति पूर्वक विचार पर तो उनके उस विज्ञान की भी सिद्धि नही होती, ध्यान सिद्धि तो दूर ही रही ।

नैरात्मवाद पक्षेऽपि किं तु केन प्रमीयते ।
कच्छापांगरुहैस्तत् स्यात् खपुष्पापीड बंधनम् ।।[2]

नैरात्म्यवादी, शून्यवादी के मन मे भी ध्यान सिद्ध नही हो सकता क्योकि सब कुछ शून्य है तब कौन किसको जानेगा, कौन किसका ध्यान करेगा, उनके इस मन मे ध्यान की कल्पना करना कुछुए के वालो से ख-पुष्पों का शेखर (सेहरा) बाधने के समान है ।

ध्येय तत्वेऽपि नेतव्या विकल्प द्वय योजना ।
अनादेया प्रहेयातिशये स्थास्नौन किंचन ।।[3]

शून्य वादी मन मे ध्येय तत्व की भी सिद्धि नही हो सकती—क्योकि ध्येय तत्व मे दो प्रकार के विकल्प होते है—एक ग्रहण करने योग्य और दूसरा त्याग करने योग्य ।

मुक्तात्मनोऽपि चैतन्य विरहाल्लक्षण क्षते ।
न ध्येयं कापिलानां स्यान्निर्गुणत्वाच्च खाब्जवत् ।।[4]

साख्य मुक्तात्मा का स्वरूप चैतन्य रहित मानते है परन्तु इस मान्यता से चैतन्य रूप लक्षण का अभाव होने से आत्मा रूप लक्ष्य की भी सिद्धि भी नही हो पाती । जिस प्रकार रूपत्व और सुगन्धि आदि गुणो के अभाव होने से आकाश कमल की सिद्धि नही हो सकती वैसे ही प्रकार से चैतन्य (ज्ञान) रूप विशेष गुणो के अभाव होने से मुक्तात्मा की भी सिद्धि नही हो सकती । ध्येय के विना ध्यान भी सिद्ध नही हो सकता ।

---

1. (आ० पु० २१/२४८)
2. (आ०पु० २१/२४९)
3. (आ० पु० २१/२५०)
4. (आ० पु० २१/२५१)

सुप्तसदृशो मुक्त स्यादित्येवं ब्रुवाणक ।
सुषुप्तत्येष मूढ़ात्मा ध्येय तत्व विचारणे ।।[1]

कपिल मती कहते है कि मुक्त जीव गाढ निद्रा मे सोए पुरुष के समान (अचेत) रहता है तो मालुम होता कि ध्येय तत्व का विचार करते समय वे स्वय सोना चाहते है अर्थात् अज्ञानी ही बने रहना चाहते हैं ।

शेषेष्वपि प्रवादेषु न ध्यान ध्येय निर्णय ।
एकात दोषदुष्टत्वाद् द्वैताद्वैतादि वादिनाम् ।।[2]

इसी प्रकार द्वैतवादी और अद्वैत लोगो के शेष मत सभी एकान्त दोष से दूषित हैं—अत उन सब मे ध्यान और ध्येय निर्णय नहीं है ।

ध्यान सिद्धि में सम्यक् पदार्थ निरूपण तथा बोध आवश्यक

नित्यानित्यात्मकं जीवतत्वमभ्युपच्छताम् ।
ध्यान स्याद्वादिनामेव घटते नान्य वादिनाम् ।।[3]

(वस्तु विवक्षा के वश से) जीव तत्व को नित्य और अनित्य दोनो रूप से मानने वाले स्याद्-वादी मत मे ही ध्यान सिद्धि घटित होती है,—अन्य वादियो के मत मे नही ।

विरुद्ध धर्म योरेक वस्तु नाधारता व्रजेत् ।
इति चेन्नार्पणा भेदादविरोध प्रसिद्धित ।।
नित्यो द्रव्यार्पणादात्मा न पर्यायभिदार्पणात् ।
अनित्य पर्यायोत्पाद विनाशैर्द्रव्यतो न तु ।।

देवदत्त पिता व स्यात् पुत्रश्चैवार्पणावशात् ।
विपक्षेतरयो योगः स्याद् वस्तुन्युभयात्मनि ।।[4]

यदि कोई यह कहे कि एक ही वस्तु दो विरुद्ध धर्मों का आधार नही बन सकती अर्थात् एक ही जीव नित्य और अनित्य नही हो सकता तो यह कहना ठीक नही—क्योकि विवक्षा भेद से वैसा कहने से कोई विरोध नही हो सकना । जहां अनेक विवक्षा से अनेक धर्म कहे जाते हैं, वहा कोई विरोध नही आता । द्रव्य विवक्षा से जीव नित्य है न कि पर्यायो के भेदो की विवक्षा से भी । वही

---

1. (आ० पु० २१/२५२)
2 (आ० पु० २१/२५३)
3 (आ० पु० २१/२५४)
4 (आ० पु० २१/२५५-२५७)

जीव पर्यायों की विवक्षा से अनित्य हैं, न कि द्रव्य की अपेक्षा से भी। एक ही देवदत्त विवक्षा के वश से पिता और पुत्र दोनो ही रूप होता है अपने पुत्र अपेक्षा पिता है और अपने पिता उपेक्षा पुत्र है, इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु विवक्षा वश नित्य अनित्य दोनों रूप होती है, द्रव्य अपेक्षा नित्य है, पर्याय अपेक्षा अनित्य है। इससे सिद्ध होता है कि वस्तु मे विरूद्ध धर्म पाये जाते है।

जिन प्रवचनाभ्यास प्रसरद्‌बोधसंपदाम्।
युक्तं स्याद्‌वादिना ध्यानं नान्येषां दुर्दृशामिदम्॥[1]

जिन वाणी–अभ्यास से जिनकी ज्ञान सम्पदा प्रसूत है ऐसे स्याद् वादियो को ध्यान की सिद्धि होती है अन्य दुर्दृष्टियो को नही।

जिनेश्वर के विशेष लाक्षणिक नाम

जिनो मोहारि विजयादाप्त स्याद् वीतधीमल
वाचस्पति रसौ वाग्भि सन्मार्ग प्रति बोधनात्॥

स्यादर्हन्नरिधातादिगुणैरपरगोचरः।
बुद्धस्त्रैलोक्य विश्वार्थ बोधनाद् विश्वभुद् विभुः॥

सविष्णुश्च विजिष्णुश्च शंकरोऽप्यभयकर।
शिवः सनातनः सिद्धो ज्योतिः परमाक्षरम्॥[2]

जिनेश्वर देव ने मोह शत्रु पर विजय प्राप्त की है, अत वे जिन है, उनकी बुद्धि समस्त मल रहित है, अत वे आप्त है, अपनी वाणी द्वारा सन्मार्ग मोक्ष का प्रतिबोध (उपदेश) दिया है अत वे वाचस्पति हैं, अन्य किसी मे गोचर न हो ऐसे रागद्वेषादि कर्मशत्रुओ को नष्ट करने आदि गुणो के कारण वे अर्हत् अथवा अरिहन्त कहलाते है। तीन लोक के समस्त पदार्थों को जानने के कारण वे बुद्ध है, वे सब जीवो की रक्षा करने वाले हैं इसलिये विभु हैं, वे समस्त ससार मे व्याप्त होने से विष्णु, कर्मशत्रुओ को जीतने से विजिष्णु, शाति करने से शकर, सब जीवो को अभय करने से अभयकर, आनन्द रूप होने से शिव आदि और अन्त रहित होने से सनातन कृतकृत्य, होने से सिद्ध, केवल ज्ञान रूप होने से (ज्योति), अनन्त चतुष्टय रूप लक्ष्मी से सहित होने परम, और अविनाशी होने से अक्षर कहलाते है।

रागाद्यशेषदोषाणा निर्जयादतिभानुषम्।
मुखाब्ज मस्य शास्तृत्वमनुशास्ति सुमेधसः॥

---

1. (आ०पु० २१/२५८
2. (आ० पु०२५६-२६१

स एवाप्तो जगद् व्याप्तज्ञानवैराग्यवैभवः ।
तदुपज्ञमतो ध्यान श्रेयोऽर्थिनामिदम् ॥[1]

जिनका ज्ञान और वैराग्य का वैभव समस्त जगत् मे फैला हुआ है—ऐसे अर्हत् प्रभु ही आप्त हैं। यह ध्यान का स्वरूप उन्ही के द्वारा कहा हुआ है इसलिये यह कल्याण चाहने वालो के लिये कल्याण स्वरूप है। भगवान अर्हत् तीर्थंकर ही धर्म शास्ता, योग प्रवक्ता और विश्व गुरु हैं। वे ही योगीजनो के सकल ध्येय और परम आराध्य है। उन्होने आत्मा स्वरूप ब्रह्मस्वरूप की ऐसी अवधारणा (Concept) प्ररूपित है कि जिससे बेहत्तर व गहनतर अन्य कोई अवधारणा न हुई और न होना सम्भव ही है। उन्होने आत्मा का वह लोकोत्तर स्वरूप बताया है जो उत्कृष्टतम है।

आ. जिन सेन का वर्णन परम्परा से भगवान वृषभदेव का मार्ग

इस प्रकार महान् ऋद्धियो के धारी महर्षि गौतम गणधर ने मुनियों-ऋषियो की सभा मध्य ध्यान तत्व तथा ध्येय का निरूपण किया, तब वे मुनीन्द्रगण अत्यन्त प्रतुष्ट हुए और बार-बार हर्ष से रोमाचित हुए और जिस प्रकार सूर्य की किरणो से कमल समुदाय प्रफुल्लित हो जाता है इसी प्रकार उनके भी मुख कमल हर्ष से खिल उठे। तब उनसभी योगियो ने योगी मुख्य गौतम गणधर की स्तुति की और समस्त ज्ञान के तेज को प्राप्त किया है और जो आत्म-स्वरूप मे स्थित हैं ऐसे भगवान् वृषभदेव की आर्हत्य-लक्ष्मी को सुनने लिये समाधिगत समग्र ज्ञान धाम रूप होकर स्वरूपावस्थित ही हो गये।

इस प्रकार आचार्य श्री जिनसेन ने भगवान वृषभदेव प्रणीत तपोयोग मय ध्यान-विज्ञान-योग को,—परम्परा से प्राप्त करके भगवान् श्री गौतम गणधर के श्री मुख से वर्णन किया है। भगवान् वृषभदेव ने पूर्व कालीन इतिहास तीसरे काल के अन्त मे कहा था—उसे वृषभसेन गणधर ने अर्थरूप से अध्ययन किया और पुराण रचना की। फिर चौथे काल के अन्त मे एक समय सिद्धार्थ राजा के पुत्र सर्वज्ञ श्री महावीर स्वामी विहार करते हुये राजगृही के विपुलाचल गिरि पर विराजमान हुए—वहा राजा श्रेणिक महाराज ने उन अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर से उस पुराण वृत्त को पूछा। महाराजा श्रेणिक के प्रति महावीर स्वामी के अनुग्रह को विचार कर श्री गौतम गणधर देव ने उस समस्त पुराण (इतिहास) का वर्णन किया। बाद मे उन्होने सुधर्माचार्य को कहा और सुधर्माचार्य ने जम्बू स्वामी से कहा और उसी समय से अद्यावधि यह गुरु परम्परा से चला आ रहा है। श्री जिनसेनाचार्य ने कहा है कि महाराजा श्रेणिक के प्रश्न को उद्देश्य करके गौतम स्वामी ने उत्तर दिये थे—उनका अनुसधान विचार करके मै इस पुराण ग्रन्थ की रचना करता हू। ऐसे इस महापुराण (आदि पुराण) के २१वें पर्व मे योग विज्ञान के प्रवचन का सारा प्रसग सक्षेप मे प्राचीन परपरा से ही आया तथा वर्णित है।

---

1 आ० पु० २१/२६५-२६६

आदि पुराण में ध्यान की परिभाषा, ध्यान और अनुप्रेक्षा का भेद

एकाग्रयेण निरोधो यश्चित्तस्यैकत्र वस्तुनि ।
तद्ध्यानं वज्रकं यस्य भवेदान्तर्मुहूर्ततः ॥

स्थिरमध्यवसानं यत्तद्ध्यानं यच्चलाचलम् ।
सानुप्रेक्षाथवा चिन्ता भावना चित्तमेव वा ॥[1]

तन्मय होकर किसी एक ही वस्तु मे जो चित्त का निरोध कर लिया जाता है—उसे ध्यान कहते है । वह वज्रक ध्यान अन्तर्मुहूर्त तक ही ध्यानी को रहता है । जो चित्त का परिणाम स्थित होता है उसे तो ध्यान कहते हैं और जो चचल रहता है उसे अनुप्रेक्षा, चिन्ता-भावना अथवा चित्त कहते है ।

"ध्यानाध्ययन" में ध्यान प्ररूपणा

जं थिरम ज्झवसाण, तं झाणं ज चल तयं चित्तम् ।
तं होन्न भावणा वा, अणुपेहा वा अहव चिन्ता ॥[2]

जो स्थिर अध्यवसाय रूप-एकाग्र चित्त परिणाम रूप है वह ध्यान है, जो अस्थिर चचल चित्त है वह ध्यान भावना, चिन्त्ता या अनुप्रेक्षा है ।

आ कुदकुद ने भी उसी चतुर्भेदात्मक ध्यान का वर्णन किया है जो भगवान् हिरण्यगर्भ आदिनाथ की दिव्य वाणी द्वारा कहा गया और महापुराण मे आ. श्री जिनसेन ने श्रद्धा लोक महर्षि गौतम गणधर के मुख से कहा गया है और परम्परा से वही ज्ञान ज्ञानार्णव आदि ग्रथो से आया है । यहा "ध्यानाध्ययन" का विषय सक्षेप मे प्रस्तुत करते है । इसी चतुर्भेदात्मक ध्यान का वर्णन हमने "ध्याना-नुचितन" भाग मे किया है ।

धर्म ध्यान की प्ररूपणाएं

धर्म ध्यान की ये प्ररूणाए है—(१) ध्यान की भावनाए, (२) देश, (३) काल, आसन विशेष, (५) आलम्बन, (६) क्रम, (७) ध्यातव्य, (८) ध्याता, (९) अनुप्रेक्षा, (१०) लेश्या, (११) लिंग और (१२) फल । इन्हे जान कर धर्म-ध्यान का चिन्तन करना चाहिए ।

(१) भावना—ज्ञान के आसेवन रूप अभ्यास "ज्ञान भावना" (१) तत्त्वार्थ श्रद्धान रूप

---

1. आ० पु० २१/८/९

2. ध्याना० २

"दर्शनभावना (२) सर्वसावद्य (पाप) योग की निवृत्ति रूप चारित्र भावना (३) तथा विषयासक्ति से रहित होने से वैराग्य भावना (४) कही गई है और इह व परलोक के भय व सुखाभिलापा से विवर्जित होने पर स्थिर ध्यान होता है।

(२/४) देश, काल, आसन विशेष के लिये इतना मात्र निर्देश है कि जैसे योगी को सुख पूर्वक ध्यान हो, प्रयत्न करना चाहिये अन्य कोई नियम विशेष नही है।

(५) आलम्बन —यथा दृढ रस्सी आदि के आश्रय मनुष्य दुर्गम स्थान पर चढ जाता है वैसे ही ध्याता सूत्रादिका वाचना, पृच्छना (प्रश्न), परावर्तना अनुचिन्तन सद्धर्म देशना, सामायिक आदि आलम्बन के आश्रय उत्तम ध्यान पर आरूढ हो जाता है।

(६) क्रम—सूक्ष्मता (लाघवता) पर दृष्टि रखकर धर्म ध्यान मे शुक्ल ध्यान का क्रम है। धर्म ध्यान मे ध्यान प्रतिपत्ति का क्रम समाधि के अनुसार है।

(७) ध्यातव्य (ध्येय)—चार भेद पूर्वक आज्ञा, अपाय, विपाक और सस्थान कहा है।--फिर इनको निरूपण करते हुए इनके स्वरूप का कथन किया है। इन ही चार भेदो से चतुर्भेदात्मक ध्यान का स्वरूप बनता है।

ससार सागर से तरने के विषय मे उपमा–चित्रण से कथन किया है कि चारित्र महापोत है जो ससार समुद्र से तरने मे समर्थ है सम्यग्दर्शन अमूल्य सुकारण है और सम्यग्ज्ञान कर्णधार है—उस पोत मे सवरमय निश्छिद्रता है, तप-रूप पवन से बढा हुआ णमोकार जाप रूप बडा भारी वेग है और यह पोत बराबर वैराग्य के मार्ग की ओर बढ रहा है–कुश्रुत की लहरो से होने वाला क्षोभ इसके मार्ग मे नही है। अमूल्य शील रूप रत्नो को लेकर योगी मुनिराज रूप वणिक इस पोत मे आरुढ हैं और यह पोत निर्वाण पुरी को पहुच जाता है। तीन रत्न (सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र) और सवर तप, वैराग्य और शीलरूप सम्पदा के साथ योगी चरित्र (ध्यानाभ्यास) के आश्रय ससार से अतीत निर्वाण धाम को प्राप्त होता है।

(८) ध्याता—धर्म ध्यान के ध्याता प्रमाद रहित गुणस्थान वर्ती–क्षपक व उप शमक निर्गन्थ होते है। शुक्ल ध्यानी चोदह पूर्व गामी होकर पृथकत्व व एकत्व वितर्क ध्यान के ध्याता होते है, शेष दो ध्यानो-सूक्ष्म क्रियानिर्वति और समुच्छिन्न क्रिया–प्रतिपाती क्रम से सयोगी केवली व अयोग केवली होते है।

(९) अनुप्रेक्षा—अनित्यादि १२ भावना का चिन्तन है जो ध्यान से उपरत हो जाने पर भी चिन्तनीय है। प्रेक्षकवत् स्थिर रह कर अन्तर मे प्रकर्षरूप ईक्षण करना प्रेक्षा ध्यान है। तदनन्तर

यानी प्रेक्षा ध्यान के अनन्तर अनुप्रेक्षाका क्रम रखना युक्ति सगत तथा वैज्ञानिक है। वह ध्यान है, यह भावना है।

(१०) लेश्या—धर्म ध्यानी के उत्तरोत्तर पीत पद्म और शुक्ल लेश्या तीव्र मद और मध्यम भेद युक्त है।

(११) लिग—धर्म ध्यानी को तत्व परिचय,—आगम, उपदेश, आज्ञा और निसर्ग से तत्व श्रद्धान होता है। दूसरे तत्व श्रद्धान से तथा जिनेश्वर साधु के गुण कीर्तन आदि से होता है।

(१२) फल—धर्म ध्यान का फल भी आगे शुक्ल ध्यान फल के साथ वर्णित है।

शुक्ल ध्यान की बारह प्ररूपणाएं—क्षमा, मार्दव, आर्जव और मुक्ति को आलम्बन कहा है। तथा आलम्बन से पूर्व भावना, देश, काल और आसन विशेष रूप प्ररूपणाओ की धर्म-ध्यान से अधिक विशेषता शुक्ल ध्यान मे नही है। अर्थात् इन तत्व प्ररूपणाओ की दोनो धर्म और शुक्ल ध्यानो मे समनता है।

(६) क्रम–चार भेद पूर्वक है। इनमे पृथकत्व व एकत्व के क्रम तो धर्म ध्यान के क्रम मे ही कह दिये हैं। शेप दो मे क्रम-२ से मन को अणु–सस्थ करके, अति सक्षेप करते हुए—फिर उस मन से सर्वथा रहित होकर योगी मुनि शुक्ल ध्याता हो जाते है। यथा मान्त्रिक विप को एक स्थानीय करके-उसे फिर वहा से भी निकाल देता है वैसे ही ध्याता परमाणु रूप मन–विष को करके, फिर वहा से भी हटा देते है।

(७) ध्यातव्य—पृथकत्व व एकत्व मे श्रुत का आश्रय होता है। प्रथम मे अनेक नयो के आश्रय व पर्यायो का विचार करता है और अर्थ, व्यजन (शब्द) और योग-से अन्य-२ मे व अन्तरो मे संक्रमण होता है और अत. यह सविचार व बीतरागी योगी को होता है। दूसरे मे अर्थान्तिर आदि के सक्रमण नही होते। तीसरा शुक्ल ध्यान काय योग मे व चौथा शुक्ल ध्यान काय योगादि के अभाव मे होता है।

(८) ध्याता—धर्म ध्यान के ही समान है।

(९) अनुप्रेक्षा—मुक्ल ध्यानी आस्त्रव द्वारा पाप, ससार शुभानुभाव, अनन्त भव-सतति और वस्तु-विपपरिणाम—इन चार अनुप्रेक्षाओ का चिन्तन करता है।

(१०) लेश्या—पहले दो शुक्ल ध्यानो मे शुक्ल लेश्या, तीसरे मे परम शुक्ल लेश्या व चौथें ध्यान मे लेश्या रहित ध्यान होता है।

(११) लिंग—(१) अवधा (परिषह व उपसर्ग पर अविचलित व निर्भय रहना), (२) असम्मोह (सूक्ष्म पदार्थों व देव निर्मित माया से मूढ न होना), (३) विवेक (देह से आत्मा को विलक्षण व सबको– सयोगी मात्र देखना), (४) व्युत्सर्ग (देह व उपाधि का त्याग)—ये चार शुक्ल ध्यान के लिंग है।

(१२) फल—अन्तिम दो शुक्ल स्थानो के भल निर्वाण कहे है और बाकी के शुभास्रव, निर्जरा व देव–सुख रूप फल है।

ध्यान व तप सवर निर्जरा का व मोक्ष के हेतु है। कहा है जीव रूप वस्त्र की शुद्धि जल से, जीव रूप लोह की शुद्धि अग्नि से, जीव रूप कीच की शुद्धि से सूर्य से होती है। वस्त्र, लोह और कीच के दृष्टान्त से जीव की निर्मलता की आवश्यकता को प्रतिपादित किया है। ध्यान से योगी का तपन, शोपण और भेद होता है। ध्यानी का कर्म प्रत्यय तपता है, सूखता है और खिरता है। रोग का शमन विशोपण, विरेचन और औषधि सेवन से होता है। कर्म रोग का भी शमन शोपण आदि व अनशनादि योगो से होता है। ध्यानानल कर्म-इंधन को क्षणात् भस्म कर देता है।

ध्यान महात्म्य से कपाय वाधा नही देते, मानसिक दुख या विकार (ईर्ष्या, शोक, विषाद) नही होते, न शीत आतप वा अन्य वाधा ही वाधित करते है। ध्यान से सर्व गुणो का आधान एव दृष्ट और अदृष्ट सुख मिलता है। अत प्रशस्त ध्यान के श्रद्धान, ज्ञान और चिन्तन हितकर है।

ध्यानाध्ययन का बाद के जैन योग ग्रन्थो पर बडा प्रभाव रहा है।

भगवान् के मार्ग के अन्य तत्त्व

ज्ञान और ध्यान के अतिरिक्त इस योग शासन मे उपासना और भक्ति भी गृहीत हैं। वस्तुत यहा ध्यान उपासना रूप ही गृहीत हुआ है। आत्मोपासना ही यह विज्ञान है। इस उपासना विज्ञान मे दश प्रकार की भक्तियो के विधान का आ श्री पूज्यपाद ने वर्णन किया है। भ गौतम गणधर ने भ महावीर की "ज्योति भगवान्" आदि रूप से स्तवन करके भक्ति का सूत्र वर्तमान धर्म-शासन में यथावत् चालू रखा है। आ. श्री पूज्यपाद ने विभिन्न भक्तियो का सकलन दस भक्तियो मे किया है। अत ये भक्तिया अति प्राचीन हैं। सिद्धि भक्ति, श्रुत भक्ति, चारित्र-भक्ति, योगि- आचार्य-भक्ति पच गुरु-भक्ति, तीर्थंकर-भक्ति, शान्ति भक्ति समाधि-भक्ति, निर्वाण-भक्ति, नन्दीश्वर-भक्ति, और चैत्य-भक्ति का वर्णन दश भक्तियों मे है। ये भक्ति-स्तवन छिद्र प्रतिक्रमणादि विभिन्न अवसरो मे मुनि जनो के द्वारा अभी तक मूल रूप मे अति प्राचीन काल से की जाती चली आ रही हैं। यथा केशलोचन, दीक्षा के अवसर पर योगी-भक्ति तथा सिद्ध-भक्ति की जाती है। दोष दूर के निमित समाधि-भक्ति, प्रतिमा योगी के साम्ने सिद्ध भक्ति, ऋषि भक्ति और शान्ति भक्ति की जाती है। सामान्य ऋषियो के देह-पात पर

सिद्ध-भक्ति, योगि-भक्ति और शाति-भक्ति की जाती है। रात्रि योग का धारण करने तथा विसर्जन योगी-भक्ति पढकर किया जाता है। प्रतिक्रमण के समय प्रति क्रम-भक्ति, तीर्थंकर-भक्ति और वीर-भक्ति की जाती है। गृहस्थ के सन्यास ग्रहण के समय सिद्ध-भक्ति, श्रुत-भक्ति, और शाति की जाती है। इसी प्रकार वर्षा योग आदि के समय विभिन्न-२ भक्तियो की परिपाटी है। भक्तिया आत्म-शोधन तथा तन्मयता के मुख्य उपाय है। ये भक्तिया मुनि-चर्या से विशेष सम्बन्धित है। गृहस्थ-जनो को भक्तिया-तीर्थंकरो की उपासना, चैत्य-वदना, पच-परमेष्ठियो की वदना आदि रूप से प्रमुख है। पर्व, पाक्षिक तथा अष्टान्हिका मे अन्य भक्तिया यथोक्त की जाती है। इन भक्तियो से आत्म-प्रेरणा आत्म-भावो की उज्ज्वलता तथा धर्म-ध्यान के साधन होते है। इनमे ही उत्कर्ष को प्राप्त होकर गृहस्थ-जन भी समाधि की क्रिया को और व आत्म-ध्यान की योग्यता को प्रकट करते हुए निस्पृह शुद्ध आचार-विचार सहित समाज और देश को भी अपनी सेवा से समृद्ध और उन्नत करते है।

उक्त भक्तियो के अतिरिक्त "उपासना-योग" पर विशेष विवरण हेतु *"स्वरूपानानुचिन्तन"* ग्रन्थ अवलोकनीय है।

भ. वृषभेश्वर का यह ध्यान, उपासना-योग और ज्ञानालोक का मार्ग ज्ञान परक उपयोग की प्रेरणा करता है और साथ ही सयम और तप की भी महत्ता को प्रकट करता है। तप प्रधानता से इसे तपोयोग भी कहा गया है और इसी कारण मुनि-चर्या रूप निवृत्ति की श्रेष्ठता से इसे निवृत्ति प्रधान भी कहा जाता है, पर वस्तुत यह निवृत्ति और प्रवृति से (यानी गृही श्रावक-श्राविका और यती मुनि और आर्यिका रूप चतुर्विध धर्म-सघ व्यवस्था से, सुव्यवस्थित समन्वयता को ही प्रस्तुत करता है और प्रवृत्ति और निवृत्ति के सामजस्यपूर्ण उत्तरोत्तर मार्ग से एक सहज अध्यात्मिक सोपान को ही प्रस्तुत करता है।

दस प्रकार के तप, उनका स्वरूप

तप का कथन बाह्य और आभ्यन्तर ऐसे दो भेद पूर्वक है। प्रत्येक भेद के छः-छः उप-भेद होकर तप का स्वरूप द्वादश भेदो वाला भी हो गया है। वाह्य तप के भेद है—(१) अनशन, (२) अवमौदर्य या अनोदर्य, (३) वृत्ति-परिसख्यान (४) रस परित्याग, (५) विविक्त शय्यासन, (६) काय-क्लेश। क्रम इस प्रकार भी वर्णित है (१) अवमौदर्य, (२) उपवास, (३) रस परित्याग, (४) वृत्ति परिसख्यान (५) काय-क्लेश, (६) विविक्त शय्यासन।

(१) अवमौदर्य तप—परिमित आहार रूप है। अपने आहार मे से एक दो तीन आदि ग्रासो से लेकर अन्तिम वत्तीसवे ग्रास तक योगी मुनिजन आहार को आगम-विधि अनुसार छोडते हैं। यह अवमोदर्य या उनोदर्य रूप है।

(२) उपवास (अनशन) तप—खाद्य, स्वाद्य, लेह्य और पेय, इन चार प्रकार के आहार का

मोक्षार्थी को त्याग उपवास तप है। इसके षष्ठ भक्त (बेला), अष्टम भक्त (तेला) आदि अनेक भेद होते है।

(३) रस परित्याग तप—तेल, दूध, इक्षु, दधि और घी इनका त्याग करना रस परित्माग है। उक्त रसो मे एक दो, तीन चार रसो को छोडते हुए यह तप पाच प्रकार का हो जाता है।

(४) वृत्ति परिसख्यान तप—इनमे आहार-पान सम्बन्धी चित्त वृत्ति सक्षेप या तनु करने का सकल्प किया जाता है—वह वृत्ति परिसख्यान तप है। गोचरी जाने के पूर्व अनेक प्रकार अटपटी प्रविज्ञाए जो भिक्षा-वृत्ति सम्बन्धी की जाती है वे वृत्ति-परिसख्यान लप के रूप मे की जाती है।

(५) काय क्लेश तप—अनेक प्रकार के प्रतिमा-योग धारण कर स्थित रहना, मौन धारण करना, शीत-वाधा सहना, आतप (उष्ण) बाधा सहना, अर्थात् आतापन योग धारण करना इत्यादि प्रकार से देह व चित्त को सहिष्णु तथा तितिक्षा पूर्ण करना और परिषह-सहन के योग्य रखना काय-क्लेश तप है।

(६) विवक्त शय्यासन तप—प्राणियो की पीडा से विमुक्त एकात वसतिका मे शयन, स्थान, और आसन को शुचिता पूर्वक सेवन करने वाले योगी साधु कोविविक्त शय्यासन तप होता है।

अदु खभावितं ज्ञान, क्षीयते दु खसन्निधौ।
तस्माद् यथाबलं दु खैरात्मान भावयेन्मुनि ॥[1]

यदि साधक पुरुष ने पूर्व मे ही अपने को तप से तप्त न किया, तो दु ख प्राप्त होने पर उसका ज्ञान क्षीण हो जाता है। वह ज्ञान लुप्त होकर आकुलित एव पतित हो जाता है। तप से प्राप्त अतीन्द्रिय आनन्द से ही ससार का ताप सहनीय हो जाता है।

आभ्यन्तर तप के छ भेद—(१) प्रायश्चित्त, (२) विनय, (३) वैय्यावृत्य (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग और (६) ध्यान है। इनके क्रम इस प्रकार भी कहे गये है—

(१) स्वाध्याय (२) शोधन (प्रायश्चित्त) (३) वैय्यावृत्य (४) व्युत्सर्ग (५) विनय और (६) ध्यान।

(१) स्वाध्याय तप—वह पठन, चिन्तन मनन, जप रूप से स्वयं योगी का अपने को शिक्षण रूप है। वाचना, पृच्छना, आम्नाय, धर्मोपदेश और अनुप्रेक्षा पच विध है। वाचना मे पाठन पाठन

---

1. (समाधि तन्त्र १०२)

किसी, शास्त्र सम्बन्धी संशय दूर करना, तथा जिज्ञासु पात्र को शास्त्र का मूल व अर्थ का प्रतिपादन करना है। पृच्छना मे शका समाधान तत्वार्थ-निश्चय के लिए करना है। शास्त्रवचनो तथा श्लोको का निर्दोष उच्चारण तथा आवृत्ति करना आम्नाय स्वाध्याय है। धार्मिक कथाओ का व्याख्यान करना धर्मोपदेश है। गुरु से पठित तत्त्व का मन से चिन्तवन-अभ्यास करना अनुप्रेक्षा स्वाध्याय है।

(२) प्रायश्चित्त तप—आत्मा की परम शुद्धि के हेतु भूल (त्रुटि) तथा प्रमादादि दोषो के लिए परिमार्जन करना है। (१) आलोचन (२) प्रतिक्रमण (३) तदुभय, (४) तप (५) व्युत्सर्ग (६) विवेक (७) उपस्थापना (८) परिहार और (९) छेद ये प्रायश्चित्त के नौ भेद हैं।

निष्कपट भाव से गुरु सम्मुख अपने दोष निवेदन करना आलोचन है। अपने दोष जानकर हा! हा! मैंने बुरा किया, इस प्रकार अपनी निन्दा करना प्रतिक्रमण है। यह दोष से वापिस लौटना तथा भविष्य मे दोष न हो इसके कलए सावचेत व सकल्पी होना है। किसी महान् दोष पर आलोचन तथा प्रतिक्रमण दोनो का साथ साथ करना तदुभय प्रायश्चित तप है। उपवासादि तपो के द्वारा आत्म-शुद्धि करना तप प्रायश्चित है। किसी दोष या अपराध पर कायोत्सर्ग करके अपने को शुद्ध करका व्युत्सर्ग प्रायश्चित है। किसी दोष पर गुरु द्वारा दिये गये दण्ड को शिरोधार्य कर आत्म-शुद्धि करना विवेक प्रायश्चित तप है। व्रत के खण्डित होने पर या किसी महान पाप लग जाने पर पुन दीक्षित होकर पूर्ववत् स्थापित होना उपस्थापना प्रायश्चित तप है। महिने-मास आदि के विभाग से कुछ काल सघ से दूर रह कर आत्म-शुद्धि करना परिहार प्रायश्चित तप है। कुछ काल तक दीक्षा को छेद कर आत्म-शुद्धि करना छेद-प्रायश्चित है। इससे सचित दोष दूर करके कर्म-निर्जरा की जाती है।

(३) वैय्यावृत्य तप—आचार्य, उपाध्याय, साधु, नवीन दीक्षित शैक्ष्य रोगी, तपस्वी आचार्य परम्परा के साधु श्रमण मुनि वृद्ध जनो की व्याधि व उपसर्ग आदि आ जाने पर स्व-शक्ति अनुसार प्रतिकार व उपाय करना तथा सेवा सुश्रुषा करना वैय्यावृत्य तप है।

(४) व्युत्सर्ग तप—क्षेत्र, वास्तु आदि बाह्य उपाधि का तथा क्रोधादि कषाय रूप आभ्यन्तर उपाधि का उत्सर्ग (त्याग) करना व्युत्सर्ग तप है।

(५) विनय तप—यह ज्ञानी तथा चारित्र निष्ठो के प्रति सम्मान और वन्दना रूप है। दर्शन विनय, ज्ञान विनय, चारित्र विनय और उपचार विनय रूप चार भेद इस विनय तप के हैं। सात तत्वो के श्रद्धान का जो नि शकित आदि अङ्गो सहित हो तथा सम्यग्दृष्टि का विनय दर्शन विनयतप है, अति आदर भाव से ज्ञान का अभ्यास तथा ज्ञानी जनो की भक्ति ज्ञान विनयतप है। दर्शन ज्ञान, शील सम्यक् चारित्र के प्रति तथा सयमी के प्रति विनय चारित्र-विनयतप है। आचार्य आदि पूज्य पुरुषो के आने पर उठ खडा होना, वदना करना, उनके पीछे चलना उपचार-विनयतप है।

(६) ध्यान तप—ध्यान के चतुर्भेदात्मक स्वरूप है। चार प्रकार के ध्यानो मे आर्त व रौद्र हेय

है और धर्म और शुक्ल-ध्यान ही तप के अङ्गभूत है। ध्यान का सविस्तार विवेचन के लिए हमारा "ध्याना-नुचिन्तन" ग्रन्थ अवलोकनीय है।

ध्यान तप तपोयोग का चरम अङ्ग है।

तेरह प्रकार की क्रियाओ का कथन किया गया है। इनमे १. प्रतिक्रमण २ प्रतिशरण ३. परिहार ४ धारणा ५ निवृति और ६, गर्हा निन्दा या आत्म-आलोचन है—तथा पच परमेष्ठियो के पाच ध्यान तथा रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र) मे स्थिरता और सावद्य (पाप) क्रियाओ से मन निवृत्त करना ऐसे सात क्रियाए और हैं। पूर्व की छ· और ये सात क्रियाए मिलाकर तेरह क्रियाए होती है।

चारित्र के पाच भेद—(१) सामायिक सावद्य कर्म त्याग सहित निर्विकल्प अवस्था मे नियत समय रहना (२) छेदोपस्थापा—विकल्प पूर्वक चारित्र धारण करना या व्रत दहेद होने पर पुन उस चारित्र को शुद्धि पूर्वक धारण करना (३) परिहार विशुद्धि—शरीर साधना (प्राणायाम आदि साधनो) से प्राणि घात का परिहार रूप चारित्र विशुद्धि (४) सूक्ष्म सापराय—प्रशान या प्रक्षीण कपाय होने पर सूक्ष्म-लोभ के रहने से जो चारित्र हो और (५) यथाख्यात चारित्र—जैसा आत्मा का स्वभाव आख्यात किया गया है, वैसे निर्मल स्वभाव का प्रकट रहना है। ये चारित्र मोहनीय कर्म के उपशम हो जाने पर ग्यारहवें से चोदहवे गुणस्थानी का चारित्र रूप है।

प्राचीन आम्नाय मे सयम इन ही पाच चारित्र के रूप था। अब अर्वाचीन आम्नाय मे व्रतो के रूप मे है। अब पाच व्रत, पाच समिति तथा तीन समिति के रूप मे श्री महावीर वर्धमान तीर्थंकर द्वारा तेरह प्रकार का चारित्र कथन है जो मुनि जनो को सकल देश रूप और गृही श्रावको को एक देश रूप चारित्र ग्रहण होता है।

"तपसा निर्जरा च"—यह कह कर तत्वार्थ सूत्रकार ने तप को कर्म-निर्जरा का मूल हेतु कहा है। अतः तपोयोग ही मोक्षमार्ग है। स्वरूपाचरण का भी मूल तप ही है क्योकि शुक्ल-ध्यान रूप तप अङ्ग मे ही स्वरूपाचरण प्रकट होता है। तप के फल भाव-शुद्धि, मानसिक-शुद्धि तथा चित-विशुद्धि है।

तप आलोचन अर्थ मे तप आत्म-निरीक्षण, आत्म-ध्यान, मन वचन के सवर, कपाय तथा रागद्वेष के निग्रह आदि विस्तृत अर्थ को प्राप्त होता है। काय, इन्द्रिय, तथा मन के निग्रह के लिए ही मासी तप, वरसी तप आदि रूप से तप-साधनाए है। तप के लिए कहा गया है कि शक्ति—के अनुसार तप करना चाहिए, न अपनी शक्ति (सामर्थ्य) से कम, न अधिक ही तप होना चाहिए। "शक्तित तप"—इसीलिए सूत्र दिया गया है। "इच्छा निरोध तप"—इस लक्षण मे राग का उपशम या क्षय होने पर जो निरिच्छुकपणे का उदय होता है, वह यथार्थ तप का स्वरूप है। ज्ञान सहित तप ही असख्यात गुणी निर्जरा रूप होता है।

तप की शोभा क्रोध का जय एव क्षमा है; द्वन्द्वो का सहन करना तथा इन्द्रियो का जय भी तप रूप है। अशुद्धि और पापो की अपार राशि को तपाग्नि (ध्यानाग्नि) क्षणात् भस्म कर देती है।

तप से परा तथा अपरा दोनो प्रकार की सिद्धिया प्राप्त होती है। कफ, मल अमर्प सर्वोषधि की ऋद्धिया तथा सभिन्नश्रोत्रलब्धि आदि लब्धिया तप से प्राप्त अपरा सिद्धिया है।

तप से प्राप्त इन्द्रिय जय से ही मनोजयित्व, विकरण-भाव तथा प्रधान जय का होना महर्षि पतंजलि ने भी स्वीकार किया है। मनोजयित्व मन के समीप मे व दूर कही भी क्षणात् से गति-शक्ति की प्राप्ति है। विकरण भाव-स्थूल देह के बिना ही दूर देश मे स्थित वस्तु या व्यक्ति को प्रत्यक्ष कर लेने की शक्ति है प्रधान जय प्रकृति-लय है जो अस्मिता अन्वय और अर्थत्व अवस्था मे फलित होता है। अस्मिता तो दसो इन्द्रियो की सूक्ष्मावस्थाहै। त्रय-गुण रूप प्रकाशित क्रिया तथा स्थिति की व्याप्ति जो मन सहित इन्द्रियो मे है, वही इनकी अन्वय अवस्था है। और मन सहित इन्द्रियो की जो सार्थकता है वही इनका अर्थत्व है।

सभिन्नश्रोत्रोलब्धि रूप ऋद्धि मे एक ही इन्द्रिय सभी इन्द्रियो केविपयो को ग्रहण करने लगती है। चरण-लब्धि, आशीविपयलब्धि, अवधि-ज्ञान लब्धि, मन पर्याय लब्धि तय प्रसाद से होती है। जघा-चारण लब्धि तप से, विद्या-चरण लब्धि विद्या से प्राप्त होती है। आशीविष-लब्धि अनुग्रह तथा श्राप, यानी अनुग्रह तथा निग्रह रूप होती है। अवधि ज्ञान लब्धि "रूपी" पदार्थों का नियत अवधि तक जानने वाला ज्ञान होता है और मन पर्याय ज्ञान अढाईद्वीप मे सज्ञी जीवो के मनोद्रव्यो को जानने वाला होता है। ये दोनो ज्ञान भी है और ये लब्धियो मे भी गिने जाते है।

बौद्ध योग की षड् अभिज्ञाए भी योग-विभूति रूप होती है। ये (१) प्रति सचित् (२) चतुर्विध ऋद्धि, वहन, अधिमोक्ष, मनोवेग रूप तीन प्रकार की आकाश-गमन ऋद्धिया तथा चौथी प्रकार की सकल्प से विषय निर्माण ऋद्धि है, (३) दिव्य श्रोत्र तथा पर-चित्त ज्ञान (४) पूर्व जन्म-स्मृति (५) दिव्य दृष्टि तथा (६) आस्रव क्षय-कर ज्ञान है। इनमे पहली पाच अपरा ऋद्धिया और अन्तिम ही मोक्ष मूलक सिद्धि है।

बौद्ध साहित्य मे शून्य मार्ग यानी आकाश मे चलने की सामर्थ्य को अर्हन्त-जिनेश्वर का वाह्य लक्षण माना है। यह जैनो की चारण-ऋद्धि से तुलनीय है। यह भी उल्लेखनीय है कि अर्हन्त केवली तथा तीर्थंकरो को जैन भी अन्तरीक्षस्थ ही मानते है। यह सब तप व ध्यान की ही महिमा है।

योग के षडंग

तपोयोग वा योग के षडगो को आ० जिनसेन ने आदि-पुराण मे कहा है। आ० सोमदेव ने भी "योगमार्ग" मे योगागो का वर्णन किया है। इनमे —(१) प्राणायाम से प्राण सयम तथा सूक्ष्म

प्राणोदय होता है। सूक्ष्म प्राण ही उर्ध्व गमनशील होते है। (२-३) प्रत्याहार तथा धारणा मन्त्र (पदस्थ ध्यान) साधना की सिद्धि रूप मे अनुष्ठित होते हैं। (४) ध्यान मे उप योग का एक तान प्रवाह आत्मा मे प्रवाहित होता है। ध्यान से स्व-शक्ति विकास तथा अद्वय ज्ञान का प्रकाश होता है। (५) स्मृति मे आत्म स्मृति पूर्वक शुद्धात्मा जिनेश्वर के ध्यान करते हुए सुपुम्णा के प्रभामण्डल को उद्योतित करते हुए उसमे उनके प्रभामण्डल मे प्रवेश तथा वेध होता हैं। (६) समाधि मे शुक्लध्यानावेश से सपूर्ण मोह, कपाय तया राग के सस्कारो का क्षय करके सर्व कर्मावरणो से निरावरण व स्वय प्रकाश आत्मा के ज्ञान मे स्थिति की जाती है। इनका आगे और विवेचन करेंगे।

वस्तुत. तप से प्राण-शक्ति उत्थित, प्रचलित तथा उर्ध्व-गतिशील होती है। आ० समन्तभद्र ने उस तपस्वी को ही प्रशस्त कहा है, जो ज्ञान-ध्यान और तपोरत है। वह आशा, विषय, और परिग्रह से रहित होता है। विषयाशा तथा तृष्णा मोक्ष मे बाधक है।

अज्ञान आवरण का नेत्र-जाले के समान क्रिया द्वारा ही छेदन सम्भव

आच्छादिते ज्ञान नेत्रे विषयै पटलोपमै।
ध्यान सिद्धि पुरीद्वार नेव पश्यन्ति जन्तव. ॥[1]

पाशयुक्त पशु यानी अज्ञानी पुरुप जिनके ज्ञान-नेत्र विषय रूप पटल (जाले) से आच्छादित हैं, ध्यान सिद्धि के पुरीरूप मोक्ष के मार्ग द्वार को नही देख सकते।

इस वर्णन से सिद्ध होता है अज्ञान बुद्धि-गत मात्र ही नही होता, वह आवरण युक्त है। जैसे नेत्रो मे जाला द्रव्यगत है—वैसे ही अज्ञान के आवरण भी द्रव्यगत हैं। जैसे जाले को आप्रेशन क्रिया द्वारा अलग किया जाता है, मात्र ज्ञान से वियुक्त नही होता, वैसे ही आत्मगत आवरण भी तपोयोग की साधन-क्रियाओ से दूर करना होता है। इनके द्वारा जब ज्ञान निरारण हो जाए, तब मोक्ष मूलक ज्ञान-क्रिया सभव होती है।

तप की अनन्त महिमा है। कहा जाता है—"सर्व तपसा साध्य, तपो ही दुरतिक्रमम्।" तप से अन्तर-परमात्मा भी प्रकाशता है तो ऐसा कौन सा कार्य है जो तप से साधित न हो। तप से शक्ति जागरण के उपरात ही साक्षी-भाव तथा ज्ञान-भाव आता है। जब तक शक्ति नही जाग जाती, कर्म का ही भाव मानव मे रहता है। और जब तक कर्म का भाव रहे—तप से विमुख भी नही होना चाहिए। तप से तो तीर्थ कर प्रभु ज्ञान युक्त होकर भी विरत नही होते।

---

1 (योग प्रदीप ७४)

ध्यान का पहला अङ्ग चित्त-एकाग्रता है। एकाग्र चित्त लौकिक है, पर वही अणु सस्थ होने पर लोकोत्तर हो जाता है। ब्रह्म-अणुसस्थ चित्त से जिनेश्वर तुल्य अपना ध्यान करने पर विभुत्व की प्राप्ति होती है, अद्वय ज्ञान होता है और साधक स्वय सयोगी जिनेश्वर रूप मे परिणत होता है।

मानव मे ज्ञान ही व्यग्र रहता है अतः ध्यानाभ्यास से ज्ञान ही निश्चल होता है।

जो ध्यानी मन वचन काया के त्रियोग से, गर्मी वर्षा और शीत —त्रिकाल के योग को धारण करके, त्रिक् (माया, मिथ्या और निदान) से रहित होकर, सम्यक्-दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय से मण्डित होकर त्रिभेद (राग, द्वेष और इष्टानिष्ट बुद्धि) से रहित होकर निर्मल भाव से शुद्धात्मा के ध्यान रूप तपाचरण को करता है, परिषह आने पर भी विचलित नही होता, गहन ध्यानाग्नि को ही जलाये रखता है, निराकुल अभेद रूप से जिनेश्वर के प्रभा मण्डल में प्रवेश करके उस स्वरूप मे लवलीन, समरस और तद्रूप परिणत होता है, वही ज्ञानी ध्यानी त्रय गुप्ति सहित अन्तर्मुहूर्त के ध्यान रूप लय से अनन्त कर्मो का क्षय कर देता है।

क्रिया योग

तप, स्वाध्याय और ईश्वर-स्मृति (आप्त देव का ध्यान) ही क्रिया-योग है। योगाग "नियम" मे ही क्रिया योग समाविष्ट है। शौच सतोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वर स्मृति या ईश्वर प्रणिधान योग के पाच "नियम" हैं।

क्रिया योग का फल अन्त करण की शुद्धि, चित्ति शक्ति का उद्बोधन और निर्बीज समाधि का हेतु कहा गया है। ऐसे योगी जन जिनके देह व मन मे मल व दोप-विकार घने व अधिक होते हैं, वे सीधे ही योगाभ्यास मे तत्पर नही हो सकते, उन्हे अपने दोषो की शुद्धि के लिये क्रिया योग प्रथम ही विधेय है। यह क्रिया-योग समाधि की सिद्धि करने वाला और अविद्या आदि क्लेशो का क्षीण करने वाला है।

प्रणिधान

प्रणिधान को "भगवती आराधना" मे "सर्व क्रियाणा परम गुरवर्पण तत्फल सन्यासो वा" कहा गया है अर्थात् परम गुरु-प्रभु मे ही सब ही शुभाशुभ कर्मो का अर्पण कर देना या कर्म फल का त्याग कर देना कहा गया है। ईश्वर (प्रभु-जिनेश्वर) मे ऐसा प्रणिधान समाधि प्राप्ति का उपाय हो जाता है।

प्रणिधान के दो भेद प्रशस्त और अप्रशस्त हैं। पाच समिति और तीन गुप्तियो मे जो परिणाम है—वे शुभ हैं। शेष पंचेन्द्रिय विषयो मे जो परिणाम होते हैं वे अप्रशस्त हैं। स्पर्श रस गध वर्ण और शब्द ये इष्ट और अनिष्ट प्रकार के हैं। इन से आत्मा मे राग द्वेप होते हैं। ये इन्द्रिय-प्रणिधान

कहे जाते हैं। क्रोध मान, माया, लोभ हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा तथा तीनो वेद—ये सब नो इन्द्रिय प्रणिधान कहे जाते है। राजवार्तिक मे परिणाम, प्रयोग और प्रणिधान को एकार्थक कहा गया है। "सर्वार्थसिद्धि" मे सम्यक् प्रणिधान को योग और समाधि कहा गया है। योग समाधि सम्यक् प्रणिधानमित्यर्थ" (६/१२/३३१/३)

स्मरण की इच्छा से मन को एक स्थान मे लगाना भी प्रणिधान माना गया है। स्मरण रूप स्मृति वृत्ति की योग-विज्ञान मे बहुत महत्ता है। समाधि मे जब निष्क्रिय शून्य सा चित्त हो जाता है तो यह स्मृति ही चित्त की उस शून्यता मे सकल जिनेश्वर के आप्त ध्येय स्वरूप को जागृति से तथा चिन्तन की सक्रियता से भरित करती रहती है। ऐसे ध्येय का प्रणिधान प्रशस्त प्रणिधान है। जैनो की यह ईश्वर स्मृति पातजल योग के ईश्वर प्रणिधान से इसलिए भिन्न है कि पातजल ईश्वर तो कल्पना-मात्र है—वह लोक मे साधक से बाह्य एक शक्ति की एक कल्पना मात्र है जिसका न कोई रूप है न ध्येयाकार है। परन्तु जैन ध्येय सकल जिनेश्वर वस्तुत इस पृथ्वी पर विचरे है, और वे साक्षात् स्वरूप यथार्थत इस जगती-तल पर हुये है। जैन प्रतिमाओ मे वही स्वरूप साकार सकल रूप से लक्षित होता है और साधक उस के ध्यान से उस स्वरूप को अपने अत करण मे साक्षात् उल्लसित करके ग्रन्थि-मुक्त और कृतार्थ होते हैं और आत्म साक्षात्कार को प्राप्त होते हैं।

जिनेश्वर रूप पवित्र शुद्ध आत्मा के ध्यान से पर्याय-परिणतियाँ शुद्ध होने लगती हैं और उनकी परिपूर्ण शुद्धि पर आत्मा तथा पर्याय दोनो की समान शुद्धि ही आत्म-स्वरूप की निर्मलता है। यह निर्मलता भाव-निर्मलता तथा साथ ही द्रव्य कर्म-प्रत्यय निर्मलता रूप होती है। जो चित्त चलाचल रूप वृत्ति तथा आशय से रहित होता है, वही मुक्ति के लिये योग्य होता है।

संयम का स्वरूप

तप स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान-इन तीनो की एकता को भी सयम का स्वरूप माना गया है। इनमे स्वाध्याय रूप निज आत्मा का ही शुद्धोपयोग मय ध्यान ही सर्वोत्कृष्ट तत्त्व है। वह ही उत्कृष्ट तप है तथा साथ ही वह ही परम शुद्ध स्व आत्म प्रभु आत्म देव की स्मृति है, स्मरण है, चिंतन है। स्वात्मा जिनोपम है अत जिनस्वरूप ध्यान मे भी जिन शुद्धात्मा के स्वरूप की स्मृति तथा भावना रहनी चाहिए। ऐसा होने पर इसकी सतत् स्मृति मे तप, स्वाध्याय एव ईश्वर स्मृति रूप प्रणिधान सब ही अनुष्ठित हो जाते है। पच व्रत जो अणु तथा महाव्रत रूप है-जो क्रमश गृही श्रावक तथा मुनि के होते हैं—का पालन सयमपालन है। इस रूप मे सयमाचरण और स्वरूपाचरण दो भेद रूप चारित्र का आचरण होता है।

चित्त के विचार मे ही चित्त के स्वरूप, चित्त की एकाग्रता, चित्त की प्रशस्तता, चित के निरोध-यानी चित्त के एकाग्र परिणाम, चित्त के निरोध-परिणाम, तथा चित्त के समाधि-परिणाम तथा प्रतिप्रसव-सस्कार-शेष की चर्चा की जाती है तथा इनके ही विचार-विवेचन मे सवितर्क, सविचार,

सविकल्प, साकार, सगुण, सप्रज्ञात तथा निर्वितर्क, निर्विचार, निर्विकल्प, निराकार, निर्गुण, असम्प्रज्ञात समाधियाँ भी स्पष्ट की जाती है। इनमे चित्त सापेक्ष सबीज समाधि तथा निर्मल आत्म-सापेक्ष तथा चित्त-निरपेक्ष निर्बीज समाधि के भी वर्णन होते है। ध्यान विचार से अर्हत्-योग मे इन सबका अन्तर्भाव धर्म-ध्यान तथा शुक्ल-ध्यान मे हो जाता है। जीव का—"चित्त भावोऽहं" से निकल कर "चिद्भावोऽहं" में आना ही अध्यात्म का आरम्भ है, वह ही ब्रह्म-विद्या है। यानी स्व आत्मा के ज्ञान स्वरूप का अध्ययन तथा आराधना ही ब्रह्म-विद्या है। इस योग परम्परा मे वीतरागता से मोक्ष होता है।

यम नियम की सार्थकता

अर्हत् योग-विज्ञान मे पच व्रत रूप यम है। ये पच व्रत तथा पच नियम रूप सयम धर्म योग साधना की आधार भित्ति है। इन यम व नियम रूप स्तम्भो पर योग विज्ञान का प्रासाद प्रतिष्ठित है। चिन्तन पक्ष मे तो अनेकात आधार शिला है ही, मगर योग महल के सजग चोकीदार संयम, तप, त्याग, तथा स्वाध्याय ही हैं। इस योग के भवन के वे अधिकारी हैं जो सयम साधना, तप-तेज, और त्याग-तृप्ति से सवलित है। इस योग परम्परा मे श्रावक तथा श्राविका, श्रमण तथा आर्यिका, सब के लिये समान रूप से साधना का सम मूल्य उद्घोषित और निनादित है। कही पर भी पक्षपात या भेद नही किया गया है तथा समता के सधारण पर जीवन मे सर्वांगीण विकास को लक्षित किया गया है। इस समता मे मानवीय तथा आध्यात्मिक उच्चता की पराकाष्ठा है तो त्याग के समर्पण मे तर्कातीत आनन्द का सागर उमडता है। साधक आप अपने पथ का निर्माण करता है। स्वय ही अकेला उस पथ का पथिक होता है तथा उससे आत्म-तेज ही आत्म परिपूर्णता के विकास को लेकर प्रस्फुटित हो जाता है।

जीवन उर्ध्वगामी तेज

जीवन उर्ध्वगामी तेज है। आत्मा को उर्ध्वगतिशील इसी कारण से कहा गया है। तेज है अतः वह अग्नि के समान उर्ध्व परिणमन भी करता है। आत्मा परिणमन मुक्त तथा परिणमन युक्त और परिणमनकारी है, अतएव वह ससारी दशा मे आसपास के वातावरण के अनुकूल होकर उसे अपने अनुकूल वनाकर ग्रहण (अडाप्ट) करता है। वह इस जीवन मे सदृश्यता (अनुकूलता) मे सहयोग और साथ ही विसदृश्यता (प्रतिकूलता) से सघर्ष मे रत होता है। इसे ही जीवन-सघर्ष (स्ट्रगल आफ लाइफ) कहतेहैं। इसी मे जीवन पचता है। अब या तो वह वाह्य-मुखी होकर अधिकाधिक भव-भ्रमण के कारणो मे फसता, डूवता और क्लेश-भोग करता रहता है अथवा अपने विषय-विकारो को जानकर, आत्मनिर्णय करके अपने को अन्तर्मुख करके अन्तर्शोधन द्वारा उनसे मुक्त होने का प्रयत्न करलेता है।

अत कहा गया है

बध बंधावे अंध ह्वै ते आलसी जनजान।
मुक्ति हेतु करनी करै, ते नर उद्यमवान ।।

सम्यक्त्व मा उदय

कर्तव्य भाव से अपने को युक्त व्यवहार मे दृष्टा भाव तथा ज्ञान भाव की स्थिरता से जीवन के विषो को पचा लेना होता है। पचाने का ऐसा कार्य ही स्वजीव मरक्षण है। इसी पाचन क्रिया से द्वैत मय सघर्ष और आकुलता से विमुक्ति मिलती है। इस पाचन क्रिया मे बाहर से अ दर की ओर तथा अ दर से फिर बाहर की ओर—इस प्रकार द्वि–मुखी दिशा बराबर रहती है। इह पाचन क्रिया मे द्वैतके भाव, अनुभाव तथा अनुभवो तथा ताप अनुताप आदि मे से गुजरना होता है। इनसे ही जीवन मे विष और अमृत की प्राप्ति भी है। विषो को पीना पडता है और पीकर भी अनासक्त तथा अडोल रहना होता है। जीवन की मर्वागीण दृष्टि को सद्दृष्टि या सम्यक् दृष्टि कहते है। उसमे जीवन मे अनुभूत जो ऊच व नीच, अच्छा-बुरा, शुभ-अशुभ सब का अनुभव द्वारा विवेक व हेयोपादेय का ज्ञान प्राप्त होता है। जीवन की सब अनुकूलताओ को तो सहज स्वभाव से लेना ही होता है, प्रतिकूलताओ को भी न केवल अनुद्विग्न रह कर प्रत्युत अनुकूलता मे परिणत कर लेने के लिये प्रत्येक घटना को आसक्ति वीतराग असग भाव से लेना आवश्यक होता है। कहा है "जहा न रागादिक दशा, सो सम्यक् परिणाम।" तब ही सम्यक्त्व के प्रभाव से अबध दशा का उदय है। तब सम्यत्क्व तत्वश्रद्धा मात्र ही नही होता सम्यक्त्व मे ज्ञान मगन रहने की भी चेष्टा होती है।

विष-पाचन और अमृतीकरण

जीवन यहा मोक्ष के अवसर को लेकर है। यहा पर यह मोक्ष सरलता से प्राप्तव्य भी नही है। अनादि काल की अज्ञान तथा मिथ्याज्ञान से उत्पन्न परिस्थितियो मे प्राप्त एव व्याप्त विप को वापिस उगलने की प्रक्रिया सरल नही होती। जीवन मे जैसा भी विप- व्याप्त है, यह भी सामर्थ्य (शक्ति) जीवन मेमौजूद ही है कि वह इस विष को पचा भी जाए। अत अमृतीकरण की प्रत्येक जीव मे सामर्थ्य (शक्ति) मोजूद है। सुर-असुर रूप वृत्तियो के मथन मे पहले तो विष तथा बाद मे अमृत की प्राप्ति होती है। तप त्याग आरम्भ मे कठिन और विपसम प्रतीत होते है, पर अत मे अमृतीकरण कर देते है। अत यदि जीवको अमृत की आकाक्षा है तो विप को शिव की भाति पीना पडेगा। पर शिवकी ही भाति इस विप को अपने मे व्याप्त भी नही करना होगा, वह गले से नीचे न उतरे। विष से कण्ठ के नीचे के आतर प्रदेश अप्रभावित ही रहने चाहिये। "करै न नूतन बध, महिमा ज्ञान विराग की।" वैराग्यमय ज्ञान दशा मे ही अबध दशा है और वही वस्तुत अमृतीकरण है। असग दृष्टाभाव मे अमृत का ही उद्‌भव रहता है।

चित्त के चाचल्य व दुर्बलता को चित्त के एकाग्र तथा निरोध परिणामो द्वारा हटाना होता है। हीट प्रूफ काच के वर्तन के निर्माण के लिये जैसे पहले उसे ऊचे तापक्रमो मे ही पकाया जाता है, तब

है तवही वह विद्युत् को रोक रखने के योग्य होता है। ससार के ताप से भी अधिक ताप वाले तप के ताप को सह्य कर लेने पर अव्यक्त अलिंगग्रहण आत्म-तत्त्व को व्यक्त करने की क्षमता का उदय होता है। वह क्षमता ही शक्ति-प्रकाश को प्रकट रूप से ग्रहण रखने तथा अभिव्यक्त करने की निमित्त होती है। ससार के ताप रूप विष से ही उस शक्ति का अमृत प्रकट होता है। तब ही जीवन का, आत्मा का यथार्थ आनन्द समझ मे आता है। अमृत चित्त मे ही परिणमता है। आत्मा तो अमृत स्वरूप ही है। अमृत से चित्त का प्रागाट्य नही, अमृत ही चित्त को निर्विकार और रस मय कर देता है।

ससार का ताप अनुताप जब असग निर्लिप्त भाव से सहनीय होता है, तब ही अमृत परिणमित होता है। इन्द्रियाँ, और विषयो का सुखाभिलाषी तो अपना बधन ही दृढ करता है—सुखादि की कामना से अमृत की प्राप्ति नही होती। आत्मा स्वय चिन्तामणि है, सब अभावो की उसी मे पूर्ति है। आत्मा ही स्वय आप अपना चिन्तन, शोधन, मथन करके अमृत स्रूप को घटित करके अमृत की प्राप्ति करता है। विभाव से प्रतिक्रमण होने पर स्वभाव धारा मे आना ही अक्षय जीवन का मोड़ है।

मानव जीवन प्रभु परिणति के लिए महान सुखद अवसर रूप है अत अमूल्य है और दुर्लभ है। स्वर्ग, नरक तथा पशु गति मे तप योग सयम नही हो सकते। नारकी इतने दु खी व आकुल व्याकुल रहते है कि सयम साधना ग्रहण व धारण ही नही कर सकते। देव गति मे देवो के कण्ठ मे सदा अमृत झरता है—वे अनशनादि तप कैसे करे? पशु पक्षी न विवेकी है न स्वतन्त्र। यह तो मात्र मानव जीवन का गौरवमय अवसर है। मानव ही मोक्ष का पथिक बन सकता है—वही सयम तप तथा ध्यानादि का अनुष्ठान कर सकता है। ध्यान रूपी दीपक राग रूपी पवन से रहित रहने पर निश्चल प्रज्ज्वलित होकर आत्मा के परम स्वरूप को प्रकाशता है। स्व और पर पदार्थ के भेद ज्ञान कराने वाले निर्विकल्प ध्यान और ज्ञान के दीप जलाए बिना शीतल शान्ति की किरणे प्राप्त नही होती।

वस्तु व्यवस्था की ज्ञान रश्मियाँ तथा गुरु चरणो का अंकन

यह विश्व अनादि है। यहाँ प्रत्येक पदार्थ पूर्ण स्वतन्त्र है। सब पदार्थ अपनी-२ निजी उपादन शक्ति से परिणमन करते है। निजी योग्यता से स्वत सचालित विश्व व्यवस्था की आकाशीय (निर्मल) ज्ञान रश्मियो को जब मानव अपनी चिन्तामणि रत्न द्वारा आकर्षित करके ग्रहण व एकाग्र करता है तो जीवन मे सब क्षोभ विक्षोभ आकुलता व्याकुलता रूप विष समाप्त हो जाते है, स्व मे तन्मय और पर मे निस्पृह भाव उदय होता है। ऐसे ज्ञान के प्रकाश मे वह अपनी ज्ञान प्रकृति की निर्मल अभिव्यक्ति तथा पूर्णत्व के प्रकाश की चाहना करता है। तब उसे ध्यान मे अपनी चिन्तामणि मे परम गुरु के चारित्र-चरण प्रकाशकिरणमालाओ के मध्य वैश्विक ज्ञान धाराओ को लेकर आविर्भूत होते अनुभूत होते है और उस स्थिति मे स्व की मर्यादा, स्व के उपयोग, एव स्व की स्थिरता और अनन्त विराट्ता के रहस्य व मन के बोध अधिगत होते है। वह पाता है कि स्व की प्राप्ति की विभिन्न भूमिकाओ मे गुरु चरणो के अकन ही निरालम्ब एव एकाकी निर्विकल्प शून्य अनन्त पथ मे एक मात्र मार्ग प्रदर्शक प्रकाश स्तम्भ है।

अनादि भव–भ्रमण की भीषण व्याधि जीव प्राणी को लगी है। अत जिस प्राणी-महा करुणा से अभिभूत महा प्राण व्यक्तित्व के धनी आदि गुरु भ० ऋषभनाथ ने महान् ऐश्वर्य–जगत को विसर्जित कर दिया था और जिस निर्लेप वीतराग भाव स्थिति मे महानिष्क्रमण किया था, वह अभूत पूर्व और अतिदिव्य था। उन्होने वन के उन्मुक्त आकाश के नीचे भव-व्याधि पर, एक अनोखे गुणी विशेषज्ञ के समान अन्त-खोज आरम्भ की, और वे चिन्तन के परदो को एक के वाद एक खोलते चले गये और उन्होने भव-व्याधि की आमूल विध्वसकारिणी औषधि योग मय "अप्पाण धम्म" को प्राणी मात्र के हित के लिए प्रस्तुत किया। उनके तप त्याग और आत्म साधना की विनम्र ((प्रशात) दीप्ति का कैसा दिव्य आलोक रहा होगा ? अल्वर्ट श्वाइत्जर की ये पक्तियाँ भी उनके लिए छोटी लगती हैं—

"अनन्त गहरा चिन्तन अत्यन्त विनम्र होता है। उसे केवल यह चिन्तना रहती है कि वह जिस "लौ की रक्षा कर रहा है, वह तीव्र ऊष्मा और शुद्वता से शुद्ध आलोक के साथ जलती रहे। वह इस चिन्ता मे नही पडता है कि उसकी लौ का प्रकाश कितनी दूर तक पहुच रहा है।"

पर आज तो हम हजारो वर्ष के अन्तराल के वाद भी उस प्रकाश की लौ को देख रहे है। और यह भी देख रहे हैं कि इस लौ ने किस प्रकार समस्त विश्व के अनन्त चिन्तको तथा धर्म प्रवर्तको को भी प्रभावित किया है।

ध्यान प्रकाश के चरण

वस्तुत उन्होने गहरे आत्म-तत्व मे उतर कर यह सिद्ध कर दिया कि मानव प्राणी के अनादि से साथ लगे कर्म कलक के वज्र कणो से निर्मित कर्म-सस्थान को जर्जरित तथा अदृश्य किया जा सकता है। कर्म सस्थान सूक्ष्म पुद्गल के रूपक कणो से निर्मित आवरण है जिसमे आत्मा अनादि से बन्धन मे है। ध्यान की गहरी स्थिति मे काल और क्षेत्र से उत्तीर्ण होकर समस्त वासना तथा राग के टूट जाने पर आत्मा के चुम्बकीय (Magnetic) क्षेत्र मे पहुच कर ऐसा एक शून्य क्षेत्र का निर्माण हो जाता है कि जिसके स्पर्श से अनात्म सस्थान छिन्न-भिन्न हो जाता है। तव ध्यान मे जीवात्मा काल जयी क्षणो को स्पर्श कर लेता है। उसमे काल प्रभाव नही होता। ऐसे क्षण के साथ जब क्षेत्र का भी एकत्व हो जाता है तो कालव क्षेत्र (Time and Space) से अवाधित होते ही जीवात्मा अपनी त्रय देहो के पाशो को शिथिल करके देहातीत दशा का अनुभव करता है। उसी मे स्व एकत्व की निर्माण प्रक्रिया मे होकर लेश्याओ का क्रमश घनत्व निर्जरित होता हैं और हरी व नील लेश्याए उन्मुक्त होने लगती हैं। निर्जरा के कार्य का आरभ भी अनुभूत होने लगता है। हरित् वर्ण और नीलवर्ण ज्योतियो मे जब साधक अपने को आवृत्त देखता है और अङ्ग-अङ्ग से तद्रूप-वर्ण ज्योतियाँ प्रवाहित होने लगती हैं—उस काल ही साधक देहातीत होकर और स्व मे एकाग्र हुआ अनन्त गगन मे अपने को अदृश्य हुआ प्रतीत करता है। पर आदुष्य कर्म का बन्धन रहता है अत वह वापिस अपने देह मे जागृत हो जाता है पर ससार की वासना से रहित होकर हरित् और नील वर्ण का ज्योति प्रवाह अन्तंवाह्य प्रवाहित

हुआ ध्यानाग्नि से पीत पद्म और शुक्ल लेश्याएं रूप परिशुद्ध होकर श्वेतिमा मे परिणत होने लगता है तब परिपूर्ण शुक्ल वर्ण होकर आत्मा रूपक वर्णो से रिक्त हो जाता है और अन्तर्बाह्य सूर्य सा शुद्ध शुक्ल प्रकाश छा जाता है। जीवात्मा तब सर्व दु खो से अतीत तथा सपूर्ण घातिया कर्मों से विवर्जित, प्रभु तुल्य निर्मल स्व दशा को प्राप्त हो जाता है, वही सकल जिन अर्हत्परमेश्वर केवल ज्ञान अवस्था हे। तब वह प्रभु आत्मा इस स्थूल देह मे रहते भी इससे परिपूर्ण परे और अस्पृष्ट ही रहता है यद्यपि वो इस देह मे क्रियाशील यानी सयोग अवस्था मे होता है। वह तव सपूर्ण नराकार चैतन्य धन परम ज्योति रूप ही होता है और उस निर्मल धन स्वरूप मे ही आयुष्यादि अघातिया कर्मों को भी विशीर्ण करके सिद्धालय मे जा विराजता है।

भ० हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) के मार्ग में मानव भी देववन्द्य हो जाता है

ऐसी ध्यान समाधि की प्रक्रिया को और वीतराग ज्ञान को प्रवर्तित करने वाले उस आदि प्रभु हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ को, जिन्होने अपना सारा जीवन प्राणियो के अक्षय आनन्द की, केवल ज्ञान की खोज मे समर्पित कर दिया था,—उस विनम्र निष्परिग्रही निर्ग्रन्थ वीतरागी परम करुणा मय निर्मल चारित्र पुरुष को–जो अब सिद्धालय मे अमर विराजमान है—हम श्रद्धा सुमन चढाते हुए उनके प्रति श्रद्धावनत है और कृतज्ञता से आत्म विभोर है। हम उनकी स्मृति से अपने प्राणो की नि.श्वास वायु को स्निग्ध और सुमधुर बनाते हैं। उनका जीवन, ज्ञान, और चारित्र अभाव व भव-प्रताडित मानव मात्र के लिए एक नव आशा, एक दीप्त ज्योति-शिखा है। वे विश्व के सब ज्ञानियो व सत पुरुषो मे अग्रज व अग्रगण्य है और वदनीय है।

जब तक जीवात्मा प्राणी विश्व रग स्थली पर रहेगा—उनका आत्मानुशासन रूप योग प्रवचन जीवात्माओ को शुद्ध और निर्मल जीवन जीने और समस्त चैतन्य सभावनाओ को विकसित करने की प्रेरणा देता रहेगा। इस विज्ञान मे सर्व जागतिक वस्तु तथा भाव के राग के त्याग पूर्वक चैतन्य ज्ञान वस्तु की दृष्टि लेकर आत्म चिन्तन को अनन्त चरम विकास पर ले जाने की शिक्षा है जिसमे आत्म-ध्यान और आत्म-ज्ञान एकाकार हो जाते है। जीवन उर्ध्वगामी तेज है—निर्मल और अखण्ड रूप है, अत जीवन की दृष्टि एकागिक नही–अनेकात मय दृष्टि ही पूर्ण दृष्टि है जिसमे जीव को समता, शाति, निर्मलता, और सर्वज्ञत्व की प्राप्ति होती है। विश्व के सब प्राण अपनी सब सम्भावित समस्याओ का समाधान इस पूर्ण दृष्टि से प्राप्त करें। दश वैकालिक सूत्र गाथा मे कहा है—

"धम्मो मगलमुक्किकठ्ठं अहिंसा संजमो तवो।
देवादि त नमंसन्ति, जस्स धम्मे सया मणा॥

अर्थात्—यह आत्म धर्म उत्कृष्ट मगल रूप है। अहिंसा सयम और तप रूप है ऐसा धर्म जिसने मन मे धारण कर रक्खा है, उसे देव गण भी नमस्कार करते है।

फरिश्ते सर झुकाए, ताजीम और तबाजो के लिए।
अय आदमी! आदमियत हो तो ऐसी हो॥

• •• •

६. योग संदृष्टियाँ आदि; अष्ट विध विष कुंभ और अष्ट विध अमृत कुंभ; योग-मार्ग और अष्टांग

(१)

- आ० हरिभद्र की योग-सद्दष्टिया आदि
- योग बिन्दु
- योग दृष्टि समुच्चय
- सद्दष्टियो की समीक्षा
- योग शतक

(२)

- अष्ट विध विष कुंभ और अष्ट विध अमृत-कुंभ
- पडिकम्मरण क्रिया मे योग के अष्टाग
- तीन भूमिकाए
- जीव की तीन कोटिया
- मोक्ष होने मे अनुक्रम

(३)

- योग मार्ग और योग के अष्टाग
- प्राणायाम
- प्रत्याहार, धारणा, चतुर्भेदात्मक ध्यान
- स्वाध्याय
- समाधि
- यम
- नियम
- ध्यान
- भगवान ऋषभदेव द्वारा कायोत्सर्ग विधान (काय निरोध) और खड्गासन
- भगवान् ऋषभदेव द्वारा कषाय निरोध
- भगवान् ऋषभदेव का मन वचन काय निरोध रूप ध्यान
- ध्यान करने की पात्रता
- बाईस परिषह और दृष्टात
- आत्म स्वरूप ध्यान की सिद्धि
- योग–मुद्रा

- ध्यान–ऋद्धियाँ
- देह और मन की शून्य निश्चल स्थिति मे ज्ञान-बोधक शुक्ल ध्यान
- अमनस्क योग का सकेत
- धर्मध्यान चैतन्य चक्रो का ध्यान
- निर्मनस्क योग रूप शुक्ल ध्यान तथा धर्म ध्यान के फल
- देव सरिता–ध्यान गगा मे अवगाहन
- चतुर्भेदात्मक ध्यान प्रत्यय और चतुर्गति
- शुक्ल ध्यान मे आरोहण, सामर्थ्य का स्वरूप
- मुक्ति का स्वरूप

(४)

- इस सर्वज्ञ अन्तरग-योग विज्ञान की कुछ विशेषताए और उपनिषद ज्ञान मे समानताए और असमानताए
- आत्मा का एकत्व स्वरूप
- आत्मा का द्रव्य, क्षेत्र, और काल
- दिव्य मणि,—आत्मा
- तीर्थंकरो की विशिष्ट ध्यान प्रक्रिया
- वर्तमान क्षण का केवल किरणो वाले निर्मल स्वरूप मे सतत् समर्पण
- वर्तमान क्षण का पुरुषार्थ आत्मा मे
- आत्म शक्ति निःसीम
- आत्मा का भाव
- आत्मा का भव
- आत्मा भव-बाधा से विवर्जित
- एक ज्ञान मात्र-भाव मे सम्बोधित सिद्धि और मुक्ति का मार्ग
- रत्न त्रयात्मक आलोक की शिखा निर्वाण तक जलती जाती है ।
- धर्मों मे जिन प्रणीत अप्पाण धम्म ही उत्कृष्ट
- करुणा रस मय योग-शासन एव धर्म तीर्थ की वन्दना
- चार मगल
- चार लोकोत्तर तत्त्व
- चार शरण
- "अप्पाण सरणं पवज्जामि" [illegible]
- तीर्थंकर पुरुषो के अमिट चरण चिन्ह और अमृत घट बनने की भावना

अर्हत् शासन के ध्यान और समाधि के सदर्भ मे ध्यान पर अनूठे ग्रन्थ "ध्यानाध्ययन" अपर नाम "ध्यान शतक" के टीकाकार आचार्य श्री हरिभद्र का यहाँ उल्लेख आवश्यक है। वे वैदिक सम्प्रदाय मे से निकल कर जैन महा साध्वी याकिनी महत्तरा के शिष्य हुए। उनकी कृतियो का यहाँ सक्षिप्त वर्णन देते हैं। ये श्वेताम्बर आचार्य हुए है।

आ० श्री हरिभद्र की योग संदृष्टियां आदि

आ० श्री हरिभद्र योग साहित्य मे अपना अलग ही स्थान रखते हैं। उन्होने परम्परागत वर्णन शैली को अपनी नई सज्ञाओ तथा परिभाषा से मोड देने का प्रयास किया। इनकी योग विषयक चार रचनाए प्रमुख है-(१) योगबिन्दु (२) योग-दृष्टि समुच्चय (३) योग शतक और योग-विंशिका। इनमे प्रथम दो सस्कृत तथा अन्तिम दो प्राकृत भाषा की रचनाए है। इनकी एक वृत्ति "ध्यानाध्ययन" पर भी है।

(१) योग बिन्दु — मे मुक्ति से योग कराने वाले व्यापार को योग का अर्थ कहा है।

योग के अधिकारियो को दो वर्गो मे लक्षित किया हैं-(१) चरमावर्ती और (२) अचरमावर्ती। मिथ्या दर्शन की ग्रन्थि का वेध कर लेने वाले योगी चरमावर्ती है—उनका ससार-काल मर्यादित हो गया है। अचरमावर्ती वे है-जो विषयी व काम-सेवी है, जिनके मोह कर्म की प्रबलता है। ये योग के अनधिकारी है। चरमावर्तियो को पुनः चार विभाग मे कहा है (१) अपुनर्बन्धक (२) सम्यग्दृष्टि (३) देश विरति और (४) सर्व विरति। ये विभाग जैन गुणस्थान उत्क्रान्ति की श्रेणियो के ही विभाग है। चारित्र विकास को ५ भूमिकाओ मे लक्षित किया है-(१) अध्यात्म (२) भावना (३) ध्यान (४) समता और (५) वृत्ति-सक्षय। अध्यात्म के क्षेत्र मे व्रत-ग्रहण, मैत्री आदि चतुर्विध भावना तथा आत्म चिन्तन साधना का समावेश है। भावना मे बार-बार चिन्तन द्वारा अशुभ भावो की निवृत्ति तथा शुभ भावो की स्थापना की अभ्यास-साधना है है। ध्यान मे-दो बातो के अभ्यास को साधन कहा है (१) तत्व चिन्तन की भावना का विकास तथा (२) एक पदार्थ या तत्व पर चित्त की एकाग्रता यह भव-भ्रमण के नाश का हेतु है। समता मे वस्तु तथा व्यक्ति के सम्बन्ध पर माध्यस्थ (तटस्थ) वृत्ति रखने की अभ्यास-साधना है। वृत्ति-सक्षय मे विसदृश द्रव्य के निमित्त से होने वाली चित्त वृत्तियो का समूलत नष्ट करने का अभ्यास रूप साधना है। इस प्रकार पाँचो भूमिकाओ का स्वरूप पृथक-२ कहा है।

समाधिरेष एवान्यै.सम्प्रज्ञातो अभिधीयते।
सम्यक्प्रकर्ष रूपेण वृत्यर्थ—ज्ञानतस्तया ॥[1]

---

1. योग बिन्दु-४१८

असंम्प्रज्ञात एवोऽपि समाधि र्गीयते परै ।
निरुद्धाशेष वृत्यादि तत्स्वरूपानुवेधत ।।[1]

इस प्रकार अशेष वृत्तियो के निरुद्ध स्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि को ही वृति-संक्षय साधना के नाम से कहा हे। इस वृत्ति संक्षय साधना मे ही घाती व अघाती कर्मो का क्षय बताया है। वृति सक्षय की साधना से पूर्व की चार साधनाये सम्प्रज्ञात समाधि अभ्यास की ही कोटि मे है । आ० श्री हरिभद्र साधना को देश विरति से आरम्भ कराकर सर्व विरति —१४वें गुण स्थान पर्यन्त ले गये है ।

(२) योग दृष्टि समुच्चय.– इसमे योग बिन्दु से भिन्न प्रकार से योग पर विचार हुआ है ।

यहाँ आ० श्री० हरिभद्र ने अध्यात्म विकास के आठ विभाग किये है,—इन विकास क्रमो को ही आठ दृष्टियाँ कह कर स्पष्ट किया है । सत् श्रद्धा युक्त श्रुत बोध को दृष्टि कहा है । उपाध्याय श्री अमर मुनि का मत है "ये आठ विभाग पातजल योव—सूत्र मे क्रमश यन, नियम, प्रत्याहार आदि के तथा बौद्ध परम्परा के खेद, उद्वेग आदि, अष्ट पृथक जनचित दोष परिहार और उद्वेग, जिज्ञासा आदि अष्ट योग गुणो के प्रकट करने के आधार पर किये गये है" (योग शास्त्र—एक परिशीलन)। श्री हरि भद्रसूरी ने इन दृष्टियो का अध्यात्म रूप से सस्कृत मे वर्णन किया है और उसके ऊपर से श्री यशोविजयजी ने उन्हे ढाल रूप से गुजराती मे लिखा है।

इस आठ दृष्टियो के नाम है (१) मित्रा दृष्टि (२) तारा दृष्टि-(३) बला दृष्टि (४) दीप्रा दृष्टि (५) स्थिर दृष्टि (६) कान्तादृष्टि (७) प्रभा दृष्टि तथा (८) परा दृष्टि । महर्षि पतजलि ने जहाँ योग का अर्थ चित्त वृत्ति निरोध मे किया, वही आ० श्री हरिभद्र ने इसे आत्ममूलक आध्यात्म अर्थ मे प्रयुक्त किया है।

जन साधारण व्यक्तियो की सामान्यत ओघ दृष्टि रहती है। वह ससारोन्मुख सामान्य दर्शन की दृष्टि हैं। उसमे विचार और विवेक का सद्भाव कम होता है । योग दृष्टियो का आरम्भ विवेकशीलता से होता है अत ये बोध दृष्टि से विलक्षण है । इनमे प्रथम चार आरम्भिक है। इनमे सम्यग्दर्शन प्राप्ति के अभिमुख जीवो को मिथ्यात्व का अश वर्तमान रह सकता है। यानी ये चारो दृष्टियाँ तो मिथ्या दृष्टि जीवो को भी हो मकती हैं अत इनमे पतन की आशका है। अन्तिम चार दृष्टियाँ नियम से सम्यग्दृष्टि जीवो को ही प्राप्त रहती है। इनमे पतन न होने से ये अप्रतिपाती कही जाती हैं । ओघ दृष्टि से निकल कर योग दृष्टियो मे आना अध्यात्म जीवन का विकास चरण है। जीवन के क्रिया—कलाप का आधार तो दृष्टि ही होती है । योग दृष्टियो मे जीवन की धारा अध्यात्म दिशा की ओर बहती है ।

---

1 योग बिन्दु–४२०

(१) मित्रा दृष्टि—इसमे ५ यम यानी पाँच व्रत सामान्यतया आते हैं। इस दृष्टि की भूमिका मे साधक का प्राप्त बोध तृण की अग्नि सदृश है जो जलता तो है परन्तु तुरन्त ही समाप्त हो जाता है। इसे अखेद लक्षण कहा है, सद्—प्रवृति करते साधक को खेद या दुख नही होता, पर असदवृति प्रवृति वालो के साथ भी सहिष्णु यानी अद्वेप भाव रखता है। यह सामान्य तथा अस्थायी बोध भूमि है। यह "यम" योगांग से समता रखती हैं।

(२) तारा दृष्टि—ये योगाग "नियम" भूमि के तुल्य है। इसमे शौच सतोष, तप, स्वाध्याय एव ईश्वर प्रणिधान रहते है। शारीरिक एव मानसिक शुद्धि शौच है। जीवनोपयोगी पदार्थो के स्तर पर वस्तुओ की स्पृहा न रखना सतोष है। परिषहो के कष्ट आदि का बिना खेद सहन करना तप है। आगमादि शास्त्रो का पठन व मनन स्वाध्याय है। परम तत्व आत्मा का चिन्तन ईश्वर—प्रणिधान है। इस तारा दृष्टि मे बोध को कण्डे की अग्नि तुल्य कहा है। यानी इसमे थोडा स्थायित्व है। इस दृष्टि मे आकर "जिज्ञासा" वृत्ति का जन्म होता है। इससे पूर्व की दो वृत्तियाँ अखेद तथा अद्वेपमय है। इम अभिनव वृति के कारण तत्वज्ञान-अभिमापा आती है, योग रुचि होती है, साधको के प्रति मान की वृद्धि हो जाती है तथा शुभ कार्य की प्रवृति विशेप प्रवल हो जाती है।

(३) वलादृष्टि—इस दृष्टि मे यथा नाम साधक को विशेष वल का जो पहले कभी नही हुआ अनुभव होता है। जागतिक पदार्थों की तृष्णा शात होने लगती है, सौम्यता का स्वभाव मे प्रादुर्भाव होता है अत स्थिरता भी होने लगी है। ये ही आसन—दृढता या आसन—सिद्धि के सदृश है और इमी कारण यह दृष्टि योगागो मे "आसन" भूमिका है। इस दृष्टि मे तत्व श्रवण मे विशेष आनन्द रहता है। इस दृष्टि मे बोध को काष्ठाग्नि तुल्य कहा गया है। इस दृष्टि की विशेषता है कि सद्-प्रवृत्ति अविघ्न होती है, यदि विघ्न हो भी तो निवारण कुशलता रहती है और वे बाधक नही हो सकते।

(४) दीप्रा-दृष्टि—यहा आध्यात्मिक प्राणायाम की प्राप्ति होती है, ब्रह्मभाव नियन्त्रण रूप रेचक, आन्तरिक भाव नियन्त्रण रूप पूरक तथा स्थिरता रूप कुभक होता है यानी वि-सदृश अनात्म-भाव का रेचन, सदृशभाव आत्मभावो का पूरक तथा ब्रह्म भाव की स्थिरता मय कुभक का अभ्यास होता है। यह अध्यात्म प्राणायाम भूमिका है। यह श्वास नियन्त्रण रूप प्राणायाम की भूमिका है। यहा प्राप्त बोध दीपक की ज्योति के समान स्थिर होता है। वला दृष्टि मे तत्व-श्रवण इच्छा रहती है। यहा वह इच्छा श्रवण रूप मे परिणत होती है। यहा बोध की स्पष्टता तो होती है तथापि सूक्ष्म बोध का ही अभाव रहता है। इसी कारण से इस चौथी दृष्टि को पाकर भी साधक वापिस नीचे चला जा सकता है।

(५) स्थिरा-दृष्टि—ये वेद्य सवेद्य पद है यहा सत्यासत्य की निश्चित प्रतीति, तत्वातत्व का

निश्चित ज्ञान—अत सूक्ष्म बोध की प्राप्ति होती है। अर्थात् क्षायिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है। इससे पूर्व की दीप्रा दृष्टि तो अवेद्य-सवेद्य पद ही था तथा वहा मिथ्यात्व का भी कुछ अश वर्तमान था जहा साधक अपनी ही मान्यता को लेकर अथवा बिना परीक्षा जिस किसी का अनुसरण किया करता है। दीप्रा मे सम्यक्त्व की केवल भजना है—सम्यक्त्व रहता भी है और नही भी। यहा इस स्थिरा दृष्टि मे वह निश्चित रूप से रहता है। ग्रथि भेद हो जाने से सम्यक्त्व का निश्चित आविर्भाव हो जाता है। यहा से साधक बिना पतन की आशका के आगे विकास करता ही चला जाता है। यहा का बोध "रत्न प्रभा" के सदृश स्थिर होता है। यह योग की "प्रत्याहार" भूमिका है। यहा आत्मा इन्द्रिय विषयो की ओर आकृष्ट न होकर स्वरूप की ओर झुकता है—वह इन्द्रिय-जय की प्राप्ति करता है। जितेन्द्रियता के कारण चारित्र मे शिथिलता दूर होने लगती है—दोष निवारण होने लगते है—निर्मलता तथा विशुद्धि की उपस्थिति से सूक्ष्म बोध गुण की उपलब्धि होती है। स्थिरता, निरोगता, मृदुता, मलो—विषयक अल्पता, स्वर सुन्दरता, मन-प्रियता आदि कई योगिक गुणो की प्राप्ति होती है। तथा सामान्य-

तया अतिचार दोष निर्मुक्त रहने लगती है।

(६) कान्ता दृष्टि—किसी पदार्थ के एक भाग पर चित्त की स्थिरता यानी एक-चित्तता की प्राप्ति इस दृष्टि मे होती है। यह योग की "धारणा" भूमिका है। सदसद् विवेकिनी यानी तत्व-परीक्षण बुद्धि-शक्ति की,—मीमासा गुण की विशेषता होती है। इस दृष्टि मे प्राप्त बोध "तारा" की प्रभा के समान स्थिर, स्पष्ट तथा एकसा होता है। यहा साधक, जित-मोह" व अतःकरण-विरक्ति से पूर्ण होता है। आचरण मे प्रमाद का विवर्जन, आशय उदार एव गभीर होते है। मन श्रुत व साधना मे आसक्त तथा व्यवहार की प्रचुरता शनै शनै लुप्त होती जाती है। इस दृष्टि मे वीतराग स्वरूप के सिवा अन्य सब आडम्बर रूप लगता है। वीतराग स्वरूप के बिना कही भी स्थिरता नही हो सकती।

(७) प्रभा-दृष्टि—यह महत्वपूर्ण दृष्टि है। इसमे प्राप्त बोध सूर्य की प्रभा के समान होता है जो दीर्घ काल तक स्पष्ट व वर्तमान रहता है। कान्ता दृष्टि मे जहा विचारित, परीक्षित तथा मीमासित तत्व का ग्रहण रहता है यहा प्रति-पत्ति गुण की प्राप्ति है। अपूर्व शाति, शम, गुण व सर्व-व्याधि उच्छेद की प्राप्ति होती है। कर्म-मल प्राय क्षीण हो जाता है। यही योगागो मे ध्यान भूमि तथा "प्रशान्त वाहिता" भूमि है। यहा एक आत्म-तत्व पर अन्तर्मुहुर्त पर्यन्त चित्त की एकाग्रता, एकाकार चित्त-वृत्ति का प्रवाह रहता है। कान्ता की धारणा भूमि मे चित्त वृत्ति एक देशीय तथा अल्प कालीन ही विद्यमान रहती है। यहा वह प्रवाह रूप तथा दीर्घ कालीन हो जाती है। इस दृष्टि मे वीतराग सुख प्रीतिकर लगता है।

(८) परा-दृष्टि—यह प्रभा दृष्टि की ही उच्चतर भूमि है। प्रभा दृष्टि मे चित्त वृत्ति प्रवाह धारा रूप नही रहती, अन्तर्मुहूर्त मे ही उच्छेद हो जाता है। परा-दृष्टि मे अविच्छिन्न धारा रूप चित्त वृत्ति प्रवाह रहता है। यही योग की समाधि भूमि है। यहाँ बोध चन्द्र-प्रभा के समान शान्त व स्थिर होता है। स्वरूप मे प्रवृत्ति होती है। प्रभा-दृष्टि मे प्राप्त प्रतिपत्ति गुण यहा विकास को प्राप्त हो

जाता है। यथाख्यात चारित्र होने लगता है। इसी की दृष्टि मे सम्यक् दृष्टि व सम्यक् ज्ञान का पर्यवसान केवल दर्शन व केवल ज्ञान मे तथा सम्यक् चारित्र का पर्यवसान अखण्ड आनन्द व अनन्त सुख प्राप्ति मे होता है। अनन्त चतुष्टय की प्राप्ति ही आत्म स्वरूप की प्राप्ति है—मोक्ष या निर्वाण है। श्री यशो विजय ने योग दृष्टि ग्रन्थ मे इस आठवी दृष्टि मे बताया है कि परभावगाढ सम्यकत्व होता है, केवल ज्ञान होता है।

संदृष्टियो की समीक्षा

इन दृष्टियो पर तनिक ही विचार करने पर लक्षित होता है कि आ श्री हरिभद्र ने गुण स्थान के रूप मे आध्यात्मिक विकास क्रम को योग की शैली पर एक नये रूप मे विवेचित किया है। उन्होने सम्यक् बोध को अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र अथवा तारे की उपमा से वर्णित किया है। तृण, कण्डा और काष्ठ के समान बोध को कहकर दीपक बोध की प्राप्ति दीप्रा दृष्टि मे कही है। इन चार तृण, कण्डा, काष्ठ तथा दीप रूप बोध मय दृष्टि भूमिकाओ मे मिथ्यात्व की विद्यमानता की आशका कही है। इसके अनन्तर पाचवी स्थिरता मय स्थिर दृष्टि मे "रत्न प्रभा" व छठी कान्ता दृष्टि मे नक्षत्र व तारे के समान बोध दृष्टि कहकर स्वय-प्रभा बोध दृष्टि की तरफ साधक की गति होना कहा है। वास्तव मे सम्यकत्व गुण की प्राप्ति जब पाचवी रत्न प्रभा दृष्टि मे हो जाती है, तो स्वय प्रकाश आत्मा की ही तरफ साधक ढलने लगता है। यह ही आत्म-साधना का प्रारम्भ है। तारे के समान प्रकाश-बोध को पतजलि ने "प्रातिभ" का ही उदय कहा है। नक्षत्र सम प्रत्यय रूप प्रातिभ के उदय होने पर सम्यक् ज्ञान भूमिका हो जाती है, तब स्वत सम्यक्-ज्ञान हो जाता है। प्रकट होता है कि "अग्नि" रूप से जो प्रकाश बोध कहा गया है वह सुषुम्णा के उन्मुक्त होने पर अग्नि मण्डलमय नाभि पद्म के विकास की सूचना है। दीपक के प्रकाश का उद्योत होना अनाहत-पद्म के विकास की सूचना है। तारे प्रकाश बोध से आज्ञा पद्म का विकास सूचित होता है। सूर्य सम प्रखर प्रकाश का उदय त्रिकुटी वेध, या प्रणव भूमि का विकास है तथा वही प्रखर प्रकाश चन्द्रसम सुशीतल प्रकाश रूप जब लक्षित होता है तब वह सहस्त्रार पद्म का साक्षात्कार है। इस प्रकार अग्नि दीप, तारक, सूर्य तथा चन्द्र सम प्रत्ययो के उदय से तथा अन्तर्पद्मो के विकास से आ० हरिभद्र ने प्रकाश तथा कमल स्वभावी आत्मा के क्रमश साक्षात्कार को कहा है।

यहाँ तक सब भूमिया सम्प्रज्ञात-धर्म व ध्यान भूमिया है। फिर परा-दृष्टि के उत्कर्षकाल मे जब वृत्तिया एक ही तत्व आत्म तत्व में निबद्ध होकर निरुद्ध रहने लगती है तब असप्रज्ञात समाधि व शुक्ल ध्यान की प्राप्ति होती है। उसकी ही परिपक्वता मे जब छद्मस्थ वीतराग, व "क्षीण-मोह" गुण स्थान अति क्रान्त हो जाते है तब सर्व वृत्तियो का सक्षेप ही नही-सक्षय हो जाता है और तब तेरहवें गुण स्थान की प्राप्ति होती है जो निर्वाण का द्वार है। इस विश्लेषण सहित हम इन सद्दृष्टियो के अध्याय का उपसहार करते है।

दृष्टि-समुच्चय मे तीन विभाग इच्छा, शास्त्र, तथा सामर्थ्य आचार्य द्वारा और वर्णित हुए हैं। (१) इच्छा योग इच्छा का अर्थ योग-साधना मे आगे बढने की आन्तरिक इच्छा, भावना, रुचि, प्रीति भक्ति रुप लिया है। निदर्श इच्छा ही उत्तर वर्ती विकास को पृष्ठ भूमि देती है (२) शास्त्र—योग आगम के अनुसार होने वाले विशिष्ट बोध यानी श्रुत ज्ञान को शास्त्र योग कहा है। तथा (३) सामर्थ्य योग— आत्म विकास करके जो शास्त्र मर्यादा से ऊपर उठा हुआ शक्ति के उद्रेक पर हो उसे ही सामर्थ्य योग कहा है। सर्व सन्यास रूप इस सामर्थ्य-योग को ही प्रधान योग कहा है।

योग का अधिकारी कौन है' इसका चार विभाग मे वर्णन किया है। इनमे (१) कुल योगी और (२)प्रवृत-चक्र-योगी योग साधना के अधिकारी कहे गये है। इस विभाग का पहला गोत्र-योगी साधना मे पूर्व का पुरुष होने से उसे योग-साधना का अभाव कहा है तथा अन्तिम निष्पन्न योगी को साधना के सिद्ध कर चुका होने से योग की आवश्यकता ही नही रहती। गोत्र-योगी वे हैं जो भव्य-भूमि मे जन्म पाते हैं। कुल योगी वे है जिनमे पूर्व जन्म के सस्कार है और बिना प्रेरणा व उद् बोधन योग-मार्ग मे आजाते हैं। प्रकृत-चक्र योगी वे हैं जिनकी चेतना का कोई सा अश उद् बोध का सस्पर्श पाकर जाग पडता है और वे योग-मार्ग मे चल पडते हैं। निष्पन्न योगी वे हैं जो योग मार्ग मे सिद्धि की स्थिति मे है। यह विशेद चर्चा योग परपरा के रूप की है और इस ग्रन्थ के उपसहार मे वर्णित हुई है।

(३) योग-शतक.—

आरम्भ मे ही योग के दो स्वरूप निश्चय और व्यवहार कहे है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक दर्शन और सम्यक्-चारित्र का आत्मा के साथ सम्बन्ध को निश्चय योग कहा है। उक्त तीनो के कारणो को-साधना को व्यवहार योग कहा है। ये वर्गीकरण निश्चय व व्यवहार धर्म के ही अनुसार है तथा ये ही धर्म-ध्यान साधना तथा शुक्ल-ध्यान साधना है अर्थात् आ० श्री हरिभद्र ने आर्प वर्गीकरण को ही स्वीकार किया है। इस ग्रन्थ मे अन्य वर्णन योग-बिन्दु के ही समान है। आ० श्री हरीभद्र ने साधना विकास के लिए नियमो का वर्णन किया है (१)अपने स्वभाव की आलोचना यानी आत्म-निरीक्षण, तथा प्रवृत्ति मे हेय-उपादेय (उचित-अनुचित) का विवेक (२)गुण -वृद्ध पुरुषो का सत्सग (३) आतर दोषो के निराकरण के लिये आतर साधना यथा लोक स्वरूप व रागादि दोषो का चिन्तन तथा कषायादि व भय शोक आदि अकुशल प्रवृत्ति के निराकरण के लिए बाह्य साधना यथा जप, तप आदि का आश्रय। इन साधनाओ की प्रेरणा उन साधक के लिये है, जो विकसित भूमिकाओ मे प्रवृत्तमान होना चाहे।

प्रारम्भी साधक श्रुताध्ययन व मनन, गुरुनाज्ञिय तथा शास्त्रानुसार चर्या का पालन करें। रागादि दोषो के विषय तथा परिणामो का चिन्तन किस प्रकार किया जावे—यह भी प्रकाश डाला गया

है। साथ ही यह भी कथन किया गया है कि योगी आहार-विहार को योग-अनुरूप रखकर अशुभ कर्म का क्षय तथा शुभ कार्य का वध करते हुए—फिर आत्म-विकास मे प्रवृत्तमान होकर अवध दिशा की प्राप्ति करें। तब उस अवध दशा के अभ्यास मे योगी कर्म-बधन से सर्वथा मुक्त व निर्बन्ध हो जाता है।

(४) योग विंशिका

यह वीस गाथाओ मे अनुबधित योग साधना का सक्षिप्त वर्णन व आध्यात्मिक साधना तथा विचारणा का तथा विकासशील अवस्थाओ का निरूपण है। योग का लक्षण-चारित्रशील साधन की धर्म क्रिया कह कर पाच भूमिकाए—

(१) स्थान—(आसन, पद्मासनादि आसन)
(२) ऊर्ण—(धर्म क्रिया के समय उच्चरित सूत्र के शब्द या वर्ण)
(३) अर्थ—(उक्त सूत्र के अर्थ का बोध होना)
(४) आलम्बन—(सालम्बी ध्यान)
(५) अनालम्बन—(निरालम्बी ध्यान)

कही हैं।

ऊर्ण—समन्त्र या सबीज धर्माचरण या पदस्थ ध्यान साधना का ही स्वरूप है।

स्थान, ऊर्ण और अर्थ—ये तीन भूमिकाए बहिरग क्रिया-प्रधान है।

आलम्बन और अनालम्बन ध्यान भूमिकाए अन्तरग साधन है। ये ज्ञान की प्रमुखता रखकर होती हैं। आलम्बन के रूपी व अरूपी दो भेद है। अरिहत प्रतिमा का आलम्बन रूपी-आलम्बन है सिद्धो के गुणो की परिणति रूप आलम्बन अरूपी आलम्बन है और इसे सूक्ष्म होने से निरालम्ब कहा गया है। ये सालम्बन व निरालम्बन रूपस्थ व रूपातीत ध्यान के समान है।

पाचो भूमिकाओ के स्थान-ऊर्णादि को भूमिकाओ को कर्म योग तथा शेष तीन को ज्ञान योग बताया गया हैं—इन पाच भूमिकाओ को निम्न चार-चार उपभेदो मे कहा है।

ये (१) इच्छा (२) प्रवृत्ति (३) स्थैर्य तथा (४) सिद्ध रूप से हैं।

ये चारो उपभेद—(१) आरभ (२) घट (३) परिचय तथा (४) निष्पत्ति रूप योग भूमियो के नामान्तर मात्र हैं।

आचारांग सूत्र के अष्टांग मय योग साधन

जैन आचाराग सूत्रो के अष्टाग योग-साधन पातजल अष्टागो से थोडे भिन्न प्रकार

से हैं। पातजल अष्टाग योग जो प्रचलित है, यह उस प्राचीन जैन योग शासन से ही अनुशासित है, प्रभावित है। इसके सब अष्टागो का उस प्राचीन परपरा के अङ्गो मे अन्तर्भाव है। योग के अष्टागो की क्रियाए प्राचीन पद्धति के पडिक्कमणादि क्रियाओ मे अन्तर्गर्भित ही हे। पडिक्कमणादि क्रियाओ को आचारांग मे अष्ट विध अमृत कु भ के नाम से कहा है। पडिक्कमणादि अष्ट विध क्रियाओ का न होना ही अष्ट विध विषकु भ कहे गये है।

अष्ट विध विषकु भ व अष्टविध अमृत कु भ

आ० श्री अमृत चन्द्र ने समयसार टीका में आचारांग सूत्र की दो गाथायें उल्लिखित (उद्धृत) की हैं—

> अप्पडिकमणमपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
> अणि पत्तो य अणिदो गरहा सोही य विस कुम्भो ।। १ ।।
>
> पडिकमणं पडिसरणं पडिहारो धारणा णियत्ती य।
> णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमय कुम्भो दु ।। २ ।।

अर्थ—(१) अप्रतिक्रमण (२) अप्रतिसरण (३) अपरिहार (४) अधारणा (५) अनुवृत्ति (६) अनिन्दा (७) अगर्हा और (८) अशुद्धि—ये आठ विषकु भ है।

(१) प्रतिक्रमण (२) प्रतिसरण (३) परिहार (४) धारणा (५) निवृत्ति (६) निंदा (७) गर्हा और (८) शुद्धि—ये आठ अमृत कु भ है।

प्रतिक्रमण का अर्थ है कृत दोषो का निराकरण। प्रतिसरण सम्यक्तादि गुणो में प्रेरणा है।

परिहार मिथ्यात्व रागादि दोषो का निवारण है। धारणा-पार्च नमस्कारादि मन्त्र, प्रतिमा इत्यादि के अवलम्बन से चित्त का स्थिर करना हैं। निवृत्ति विषय कषायादि इच्छा मे प्रवर्तमान चित्त को हटा लेना है। निन्दा आत्म-साक्षी पूर्वक दोषों को उचित न जानकर प्रकट करना हे। गर्हा गुरु-साक्षी से अपने दोषों को वचन से प्रकट करके एवं आलोचना करना है। शुद्धि, —दोषो की शुद्धि के लिये प्रायश्चित्त लेना, तथा चित्त को स्वच्छ व निर्मल दर्पणवत् रखने की चेष्टा करना है।

पडिक्कमणादि क्रियाओं का योग के अष्टांगों में अन्तर्भाव

योगी व ध्याता पुरुष के लिये इन आठ क्रियाओ को आचारशास्त्र ने व्यवहार दृष्टि से अमृत कु भ कहा है। ये सब क्रियाएं उचित आसन, काल, प्राणायाम, व धर्म ध्यान आदि रूप योग-क्रियाओ मे ही विशेष सम्बन्धित होकर हो होती हे। प्रतिक्रमण क्रिया ने अशुभ लेश्या से मन को लौटाते है, अत.

आर्त व रौद्र ध्यान की वर्जना रूप है। दोषो के निराकरण से साधक शुद्ध होता है। प्रतिशरण क्रिया मे पचपरमेष्ठी व धर्म स्वरूपो के प्रति शरण भावना शुभ लेश्या का उद्‌भव करती है जो धर्म ध्यान का ही स्वरूप है। परिहार क्रिया मे मानसिक विकृतियो को हटाते है, अत यह योग मुद्रा को-ध्यानावस्था रूप योग भूमिका को देती है। प्रतिक्रमण प्रतिशरण तथा परिहार क्रियाओ मे आत्म निरीक्षण है और प्रतिशरण क्रिया मे आत्म निवेदन है अत उपासना रूप है। इन तीनो क्रियाओ के अनुष्ठान मे अवश्य कर आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार व धारणा रूप चार योगो के स्वरूप बनते ही है। धारणा क्रिया रूप चौथा अङ्ग तो स्पष्टत योगाग धारणा के ही स्वरूप को स्मरण कराता ही है। निवृत्ति मे योग के यम नियम गर्भित है। आत्म-निन्दा व आलोचना अन्तर निरीक्षण रूप ध्यान है। धारणा मे पिंडस्थ पदस्थ आदि धारणाये होती है—जो सस्थान विषय ध्यान से सम्बन्धित है और योग के ध्यान अङ्ग की इनमे सूचना है। आवश्यक परिकर्म मे योग के आसन, प्राणायाम, मुद्रा, काल आदि समाविष्ट हो जाते है। प्रतिशरण अङ्ग मे वे अन्तर भाव है जो लय व समाधि के अन्तर भाव है। इसी मे ध्येय के भाव भी अन्तर्भूत है। प्रत्याहार का अन्तर्भाव निवृत्ति मे भी आता है। इस प्रकार इस प्राचीन पडिक्कमणादि रूप अमृत-कुंभ मयी अष्टाग साधना मे वर्तमान योग के अष्टाग विद्यमान ही रहे है—ऐसा निर्णीत हो जाता है। निष्कर्ष यह है कि योग शासन की प्राचीतम साधना शैली प्रतिक्रमण के रूप व सामायिक के रूप मे अति प्राचीनकाल से परपरा रूप मे चली ही आ रही है और वर्तमान की योग शैली थोडी भिन्नता से उसके ही सब भावो को ग्रहण किये हुए है।

अशुद्ध भूमिका

प्राचीन आगम जीव को इन आठ साधनो से रहित रहने पर अपराधी कहता है क्योकि उसके दोषो की निवृत्ति होती नही,—और वह अपने आत्मा के प्रति अपराधी ही रहता है। पडिक्कमणादि से रहित जीव की भूमिका तो स्पष्टतः ही अशुद्ध व अशुभ भूमिका है—क्योकि इस भूमिका मे जीव आत्मा की तरफ उन्मुख ही नही हुआ है।

शुभ भूमिका

जब जीव इन आठ अङ्गो रूप प्रतिक्रमण करता है तो वह अपने अपरावो से, अशुद्धि से शुद्ध होने लगता है—अत इन आठ अङ्गो को अमृत-स्वरूप अमृतकुंभ कहा गया है। यह व्यवहार चारित्र का आरम्भ है। यह दूसरी शुभ भूमिका है।

शुद्ध भूमिका

आ० श्री कुंदकुंद ने समयसार मे मोक्ष अधिकार मे इन प्रतिक्रमण रूप क्रियाओ को एक अन्य चमत्कारिक प्रकार से आठ प्रकार के विषकुंभ कहकर, अन्य तीसरी भूमिका शुद्ध-भूमिका को उद्‌घाटित करने की प्रेरणा की है। उन्होने कहा है—

आचार्य कुंदकुंद

पडिक्कमणं पडिसरणं पडिहारो धारणा णियत्तीय ।
णिन्दा गरहा सोही अट्ठविहो होइ विसकुम्भो ।। ३०६ ।।

अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव ।
अणियन्ती य अणिदा गरहा सोही अमय कुम्भो ।। ३०७ ।।

अर्थ—प्रतिक्रमण, प्रतिशरण, परिहार, धारणा, निवृत्ति, निन्दा, गर्हा, और शुद्धि—ये आठ प्रकार का विषकुंभ है ।

अप्रतिक्रमण, अप्रतिशरण अपरिहार अधारणा अनिवृत्ति अनिन्दा अगर्हा और अशुद्धि अमृत-कुम्भ है ।

आ० श्री कुंदकुंद यहा इस प्रकार आचार सूत्र के उपदेश के विपरीत कहने लगते प्रतीत होते हैं । किन्तु विचार करने पर वस्तुत ऐसा नही है । आ० श्री अमृतचन्द्र ने इन दो गाथाओ मे कहे गये, अति सूक्ष्म तत्व को स्पष्ट किया है । और यह तत्व जैन योग का हार्द है । इस स्पष्टी करण मे आचाराग सूत्र के उपदेश अपने स्थान पर यथावत् ही हैं और साथ ही इसमे योग के यथार्थ लक्ष्य पर विशेष इंगित कर दिया गया है ।

जीवो की तीन कोटियां

आ० श्री अमृतचन्द्र ने जीवो की तीन कोटि बताई है—और इनके अर्थ को स्पष्ट किया है ।

(१) वे जीव जो अज्ञानी हैं और शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव रूप स्वभाव वाले है अत स्वमेव अपराध रूप विषकुम्भ हैं । वे प्रतिक्रमण आदि अष्ट आवश्यक क्रिया को करते ही नही ।

(२) वे जीव जो अज्ञानी है, पर प्रतिक्रमणादि क्रियाओ को करते है, और अपने अपराध रूप विष के दोष को कम करने के हेतु प्रतिक्रमणादि अष्ट आवश्यक क्रिया करते है—उन्हे यह प्रति-क्रमणादि अष्ट आवश्यक क्रिया अमृत कुम्भ हैं यानी निर्मलता रूप ज्ञानामृत को देने वाले हैं ।

(३) तीसरे वे जीव हैं जो ज्ञानी है, वे स्वय शुद्धात्मा की सिद्धि रूप है । अत वे समस्त अपराध रूपी विष–दोषो को सर्वथा नष्ट कर चुकने वाली भूमिका पर है । ये तीसरी ज्ञान-भूमि साक्षात् स्वयं अमृत कुंभ हैं । इस तीसरी भूमि मे आत्मा निरपराध है । इस तीसरी भूमि मे अत. अपराध दूर करने वाली क्रियायें भी अनावश्यक हो गई हैं । अथवा यो भी कहा जा सकता है कि इस तीसरी भूमि की अप्राप्ति तक अपराध रहता है और तीसरी भूमि मे दूसरी भूमि के मार्ग से आ पहुचना ही निरपराधत्व है ।

अर्थात् यह ज्ञान-भूमि ही साधना की इष्ट है। यह ज्ञान-भूमि प्रतिक्रमण व अप्रतिक्रमणादि से आगे की भूमि है। अप्रतिक्रमणादि से रहित प्रथम भूमि व प्रतिक्रमणादि के सहित द्वितीय भूमि-दोनो से विलक्षण तथा उच्च यह तीसरी भूमि है। और यह अप्रतिक्रमणादि रूप भूमि शुद्ध आत्मा की सिद्धि का लक्षण है।

तात्पर्यय यह है कि अज्ञानी की अप्रतिक्रमणादि रूप भूमिका अशुभ भूमिका है तथा अज्ञानी की प्रतिक्रमणादि रूप भूमिका शुभ भूमिका है तथा ज्ञानी की प्रतिक्रमणादि न होने पर भीशुद्ध भूमिका है। अशुभ भूमिका तो कर्म वधन करने वाली है ही। शुभ भूमिका भी कर्म-बधन करने वाली है। दोनो मे भिन्नता इतनी ही है प्रथम भूमिका वाले को घोर अशुभ व असाता कर्म का वधन है, तो द्वितीय भूमिका वाले को शुभ व साता कर्म का बधन है। अर्थात् वधन तो दोनो ही भूमिका मे है, प्रथम मे लोह वधन सा है तो द्वितीय मे स्वर्ण वधन सा। एक दु खमय है, पाप रूप है। दूसरा साता मय है व पुण्य रूप है। मगर तीसरी भूमिका शुद्ध व अवध भूमिका है। इसमे मोह व कषायमय क्रिया के, योग के (आत्म-प्रदेश रूप परिस्पन्दन के) अभाव मे कर्म वधन का अभाव है।

प्रथम भूमिका वाले जन तो किसी भी मार्ग मे स्थित नही है। द्वितीय भूमिका वाले व्यवहार मार्ग मे स्थित हैं। तृतीय भूमिका वाले मार्ग को अतीत करके लक्ष्य मे ही स्थित है,—वे व्यवहार च्युत या व्यवहार भ्रष्ट नही, व्यवहार के अतीत व उत्तीर्ण अन्य उत्कृष्ट भूमिका पर है। व्यवहार के अवलम्बन मे शुभ रूप अनेक प्रवृत्तियो मे जीव का चित्त भ्रमण करता है, अत इस जीव को शुभ से भी छुडाकर शुद्ध चैतन्य मात्र अवस्थाओ मे ही अपने चित्त को वाधकर रखने के लिये तथा अनेक प्रवृत्तियो मे चित्त को भ्रमण न कराने के लिये इस तीसरी भूमिका मे जो अमृत कु भ रूप व मोक्ष रूप है स्थित होने के लिये आ० श्री कु दकु द ने प्रेरणा की है।

प्रश्न हो सकता है कि जव ज्ञानी आत्मा की प्रतिक्रमणादि भी विषकुम्भ है और मात्र अप्रतिक्रमणादि ही अमृत कुम्भ है तो क्या प्रतिक्रमणादि छोडकर जीव अप्रतिक्रमणादि रूप हो जाय ? तो समाधान किया गया है कि प्रतिक्रमणादि को ही विष कहा है, वहा अप्रतिक्रमणादि तो स्पष्टत विष ही हैं, अमृत कहा से हो सकता है ? यदि तब जीव व्यवहार भूमि मे रह कर प्रतिक्रमणादि भी छोड देगा तो वह तो और भी नीचे गिरता हुआ प्रमादी ही हो जायेगा। प्रमाद और अहकार से छूटने के लिए ही प्रतिक्रमणादि क्रियाए है। जो प्राणी प्रमादी एव देहाध्यासी हैं व अभिमानी हैं, उन्हे तो गिडगिडा कर, विनयी होकर आत्म-प्रभु से अपने दोषो व पापो की क्षमा याचना तथा प्रायश्चितादि करना चाहिए जिससे बुद्धि निर्मल होकर ज्ञान की प्राप्ति हो।

यह जीव अज्ञानी रहकर प्रमादी क्यों हो, ज्ञानी होकर निष्प्रमादी ही क्यो न रहे, ज्ञान जागरुक क्यो न रहे, निष्प्रमादी होकर ऊपर ही क्यो नही चढे तीसरी ज्ञान-भूमि को ही क्यो नही ग्रहण कर लेता ? इस तीसरी भूमि मे जो अप्रतिक्रमणादि है, वह अज्ञानी का अप्रतिक्रमणादि नही है। यह

तीसरी भूमि वाला तो निष्प्रमादी है—शुद्ध भाव में ही है, वह तो उद्यम पूर्वक स्व स्वभाव मे ही प्रवृत है। अत वह पडिक्कमणादि क्रियाएं किस योजना से करे ? ज्ञान स्वभाव मे स्थित होने से वह तो शुद्ध मुक्त ही है।

मोक्ष होने मे अनुक्रम

मोक्ष तत्त्व के अनुक्रम को यहा उद्घाटित किया गया है। जीव प्रथम तो अशुभ कर्म बन्ध में कर्म मलीन ही रहता है, तथा इसके उपरात वह अशुभ कर्म से निकल कर शुभ कर्म मे जब आता है तो दु:ख भार कम होकर और पुण्य का सयोग होकर—सद्गुरु सद्धर्म के सयोग प्राप्त करता है, तब वह आत्मा के स्वरूप को भी समझने का सुअवसर प्राप्त करता है। इस शुभ अवस्था मे उसे सद्गुरु फिर देशना देते है, कि वह शुभ को भी परित्याग करके शुद्ध-भाव मे ही आए, तब ही सर्व सुख की जननी मुक्ति की प्राप्ति होगी। अगर इस वक्त जीव अपने प्रमाद को छोडकर शुभ से शुद्ध मे पहुच जाये, सब ग्रन्थि भेद कर ले तो उसे फिर शुभ की भी भूमि स्वत ही छूट जाती है, और शुद्ध आत्म-ज्ञान भूमिका मे प्रवेश हो जाता है।

आचार्य श्री इस प्रकार सहज रूप मे ही शुभ से शुद्ध मे आने की बात बताते है—भूमिका बलात् न तो छोडी जाती, न छुडाई जाती है। जीव स्वय ही अपने ही पुरुषार्थ बल से भूमिका आरोहण करता है, और जब तक भूमिका मे दृढ स्थित न हो जाये, और जब जब वह भूमिका से नीचे खिसके, उसे स्वत. ही शुभ मे ही रहना होगा, अशुभ का तो प्रश्न ही नही हो सकता।

कर्म बन्ध के छेदने से ही अतुल अक्षय मोक्ष सुख को उद्योत करने वाली सहज अवस्था खिल उठती है—अतः कर्म बध का छेद करके—इस सहज शुद्ध भूमि मे ही रहते अपने पूर्ण ज्ञान को प्रकाशित रखना चाहिए। मोह कर्म ही सब कर्मों मे बलिष्ठ है, इस मोह कर्म के बल को क्षीण करने के लिये आत्म-ज्ञान की औषधि कार्यकर है।

ज्ञान प्रथम तो श्रुत रूप से तथा अन्त मे केवल रूप से उद्योतित होता है। श्रुत रूप से व केवल रूप से—के अर्थ है कि श्रुत तो परोक्ष ज्ञान है और केवल प्रत्यक्ष ज्ञान है, और दोनो ही मे एक ही आत्मा निर्मल आत्मा के ज्ञान का आस्वादन है। श्रुत से प्राप्त ज्ञान की स्थिरता अल्प है पर केवल रूप प्रत्यक्ष ज्ञान शाश्वत् आतम ज्ञान है। अत श्रुत के परोक्ष ज्ञान का अवलम्बन लेकर केवल ज्ञान का प्रयत्न करना चाहिये। यह केवल ज्ञान ध्यान मे—आत्मा मे एकाग्रता रूप प्रवृत्ति से ही उद्भासित तथा स्थिर होता है .

योग साधन व्यवहार चारित्र होकर भी यथाख्यात शुद्ध चारित्र के लिये पूर्व पीठिका है। आत्मा की सम्यक् श्रद्धा लेकर कम से कम धर्म ध्यान तो निरपराधी होने के लिये प्रथम मे प्रथम करणीय

होता है । इस धर्म ध्यान से ही मोह की ग्रन्थि टूटती है वरना आरम्भ मे बिना ध्यान क्रिया के तो ज्ञान को सुन कर व समझ कर या मनन करके भी स्थिरता न होने से ज्ञान मे अवधारणा ही दृढ नही होती, ज्ञान-स्थिति की अचलता की तो बात ही क्या है ! शुद्धोपयोग मय शुक्लध्यान का क्रम ध्यान साधना के उपरान्त है ।

शुद्ध अवस्था की परिणति रूप सिद्धि के लिये ध्यान क्रिया के सम्बध मे आ० सोमदेव ने बडी मनोहर ही आत्म रसायन निर्माण की बात कही है । कीमिया बनाने वाले लौह से सोना बनाते हैं। यहाँ आचार्य श्री देह रूपी लौह प्रणाली मे आत्म रसेन्द्र को तैयार कर देने की प्रक्रिया कह रहे है ।

"श्रद्धा सिद्धोषधैः स्यात्पुरुष रस रतिर्ध्यान वैश्वानरे ऽस्मिन् ।
नि संगमेध्म वृप्रद्धे समवगमदृढा धार सम्बन्धनेन ।।
सजायेतार्थसिद्धि कथमिति न परा देहि लोहे जनस्य ।
पश्चाद् व्योमोपयोगाल्लघुसमधि गते काचनस्था रसेन्द्रे ।।[1]

अर्थ—सम्यग्ज्ञान रूपी मजबूत आधार के सम्बन्ध से निःसग निर्ग्रन्थता (समस्त अन्तरग तथा बहिरग रूप परिग्रह-मूर्च्छा के त्याग) रूपी ईधन से जलाई गई ध्यान रूपी अग्नि मे श्रद्धा-सम्यग्दर्शन रूपी सिद्धोषधि के प्रभाव से पुरुष रस रति, आत्म रस,– आत्म स्वरूपास्वादन मे प्रेम होने लगता है । इसके बाद आकाश के समान निर्मल उपयोग हो जाने के कारण शीघ्र अवर्णनीय काचन (मनोहर) अवस्था को रसेन्द्र-आत्मा के प्राप्त हो जाने पर ससारी साधक आत्मा का, देह रूपी लौह मे कैसे नही अर्थ-सिद्धि, अभीष्ट की प्राप्ति होगी ? अर्थात् इष्ट निर्मल आत्मा की सिद्धि की प्राप्ति अवश्य अवश्य होगी ।

जैसे पारद रस अग्नि और सिद्धौषधि के प्रभाव से लौहे को सुवर्ण बनाने मे समर्थ हो जाता और उस शुद्ध पारद से आकाश मे स्वच्छन्द गमनागमन भी किया जा सकता है इसी प्रकार सम्यग्दर्शन रूपी सिद्धौषधि के साथ धर्म-ध्यान रूपी अग्नि, निर्ग्रन्थता वीतरागता, निस्पृहता, असगता रूप ईधन के सयोग से सम्यक् ज्ञान रूप सुदृढ पात्र मे जलाई जाए तो अवश्य ही सिद्ध पद प्राप्त कराती है ।

योग मार्ग और योग के अष्टांग

भगवान् वृषभेश्वर की परम्परा मे प्रणीत अपने अलौकिक ग्रन्थ "योगमार्ग" मे आ० श्री सोमदेव ने योग-मार्ग को स्पष्ट करते हुए ध्यानावस्था का वर्णन किया हैं । उन्होने ध्यानावस्था को योग-मुद्रा सज्ञा से ही कहा हैं । वस्तुत ध्यानावस्था ही योगी मुद्रा है । ध्यान क्रिया योग का उत्कृष्ट अङ्ग है, मुद्रा है ।

---

1 (योग मार्ग १२)

प्राणेशो धारणाया चतुरवयवजे, संप्रयोगे धियोऽर्थे,

प्रत्याहारऽक्षवृत्ते. स्वविषयविश (स) राद्युक्तयुदर्के वितर्के ।

ध्याने तद्ध्येयलीने यमनियमयथावस्थिते क्षेत्रनाथे,

माध्यस्थ्याब्धौ समाधौ समाधिकधिषणो योगमुद्रामुपैति ।।[1]

अर्थात्—जो प्राणो (श्वासोच्छ्वास) का स्वामी, (सम्यक्-अभ्यासी) है, यानी **प्राणायाम** मे निपुण है, धारणा मे जिसकी बुद्धि अधिक निष्णात है, चार अवयव से उत्पन्न अर्थ मे बुद्धि को अच्छी तरह लगाने मे, इन्द्रियो की प्रवृत्ति को अपने अपने विषय मे जाने से रोकने मे,—अर्थात् **प्रत्याहार** मे, युक्ति-सयुक्त श्रुताध्ययन रूप **स्वाध्याय** मे, योग्य ध्येय मे लीन होने रूप **ध्यान** मे, **यम नियम** के मार्ग मे अवस्थित आत्मा मे, तथा माध्यस्थ-समुद्र रूप **समाधि** मे जो समाधिकधिषण,—अधिक बुद्धि के उपयोग को लगाने वाला है—वह ही योग मुद्रा को प्राप्त करता है ।

इस प्रकार "योग-मार्ग" मे योग के इन आठो अङ्गो का कथन आ० श्री सोमदेव ने प्रस्तुत किया है—

(१) प्राणायाम (२) धारणा (३) प्रत्याहार (४) स्वाध्याय (५) यम (६) नियम (७) ध्यान और (८) समाधि । इन आठ अङ्गो द्वारा योग की प्राप्ति होती है ।

(१) प्राणायाम—मे प्राणो की सम-स्थिति रूप प्राण स्वामित्व का निर्देश है । अर्थात् इसमे कुभक प्राणायाम से प्राणो का निश्चल नियन्त्रण तथा ब्रह्माण्ड मे स्थित किये गये निश्चल सम-स्थित प्राणो का निर्देश है ।

(२) **प्रत्याहार**, (३) **धारणा**—कहा है कि चार अवयवो से उत्पन्न अर्थ को बुद्धि को लगाए—इसका यह स्पष्टीकरण है कि इसमे साधक (१) आज्ञा विचय (२) अपाय विचय (३) विपाक विचय और (४) सस्थान विचय-इन चार अवयव वाले चतुर्भेदात्मक धर्म ध्यान मे बुद्धि को लगाकर अक्ष-वृत्ति का प्रत्याहार करता है । यह आत्मोपयोगी वृत्ति से विसदृश वृत्ति के विकर्षण रूप है । धारणा आत्मोपयोगी सदृश वृत्ति के धारण करने, आकर्षण तथा भरित करने की चेष्टा रूप है । इसमे अस्थिर व अज्ञान प्रत्यय मय वृत्ति को रोकने व स्थिर व आत्म प्रत्यय मय चित्त वृत्ति लाने रूप प्रत्याहार अङ्ग का तथा स्थिर व ज्ञान प्रत्यय मय वृत्ति को धारण रखने रूप धारणा का अभ्यास है ।

(४) **स्वाध्याय**—स्याद्वाद युक्ति सयुक्त श्रुत के अध्ययन मे स्वाध्याय रूप ध्यान या समाधि का ही कथन है ।

---

1 (योगमार्ग–३)

मनोवोधीनं विनयविनियुक्त निज वपु वर्चः पाठायत्तं करणगणयाधाय नियतम् ।
दधानः स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैन वचने, करोत्यात्मा कर्मक्षयमिति समाध्यन्तरमिद ।।[1]

जिस स्वाध्याय मे मन ज्ञान के ग्रहण व धारण करने मे लीन रहता है, शरीर विनय युक्त होता है, वचन पाठ के उच्चारण मे लगा होता है, इन्द्रिय-गण नियत रहते हैं, जिनेश्वर की वाणी की ओर ही सारी परिणति जिसमे लगी रहती है ऐसे स्वाध्याय को करने वाला या धारण करने वाला आत्मा कर्मो का क्षय करता है । यह स्वाध्याय समाधि का रूपातर ही है । समाधि का एक अर्थ है-सम रूप बुद्धि की स्थिरता, स्थित प्रज्ञता, अत स्वाध्याय मे रमण शील व लीन बुद्धि भी समाधिस्थ व्यक्ति की बुद्धि के ही समान स्थिर रूप ज्ञान मे ही स्थिर हुई आनन्दमग्नता को भोगती रहती है ।

(५) समाधि– माध्यस्थाब्धौ" पद उक्त श्लोक मे वहुत महत्वपूर्ण है । माध्यस्थ भाव को उदासीन या शून्य-भाव कहा जाता है । जो भाव द्वन्द्वाभिघात से परे हानि-लाभ, या इष्ट अनिष्ट से परे व शत्रु-मित्र मे समान है अर्थात् वह न राग करता न द्वेष करता है, उसे माध्यस्थ भाव कहते है। इस माध्यस्थ भाव की ज्ञान योग मे वडी प्रशसा है । क्षोभविक्षोभ से परे होकर जव मन की अडोल स्थिति होती है तव ही ध्याता ध्यान राग रहित आत्म ध्यान मे ही हो जाता है, अर्थात् राजयोग समाधि का ही यही स्वरूप होता है । इस माध्यस्थ भाव को ध्यानी ध्यान से तथा ज्ञानी ज्ञान से, विचार मथन से प्राप्त करते हैं । विचार की चरम तल्लीन अवस्था ही निर्विचार भूमि मे भी उपनीत करदे तो व्यक्ति वाह्य जगत् की सज्ञा से शून्य होकर अन्तर्जगत् मे चला जाता है । और जव तक फिर विसदृश विचार का स्पदन नही होता वह समाधि अवस्था को ही प्राप्त रहता है । यहाँ इस प्रकार उदासीन राग द्वेष रहित भाव को प्रचुरता को माध्यस्थ रूप समाधि से तो कहा ही गया है साथ ही यह भी कहा है कि मध्य नाडी रूप सुषुम्णा मे जो स्थित रहना है और उस सुषुम्णा नाडी रूप समुद्र मे पहुच कर आत्म-मग्न रहकर आत्मा के चिदानन्द मे विहार करता है, ऐसी स्थिति को भी माध्यस्थब्धि मे विहार रूप समाधि कहा गया है । इडा वाई नाडी और पिंगला दाहिनी नाडी के मध्य सुषुम्णा नाडी ही मध्य नाडी है । इस मध्य-नाडी मे जव मन व प्राण पहुचकर विहार करते है, तो यह ही वास्तव में यौगिक माध्यस्थ अर्थात् सम भाव सम स्थिति है । सुषुम्णा नाडी मे स्थिति राग और द्वेष से उदासीन तीसरी मध्यस्थ (समतामय अवस्था) होती है । त्रिगुण विचार से-इडा रजो मय, पिंगला तमो मय और सुषुम्णा सतोमय कही जाती है । साधक के जड व प्रमाद भाव दूर हो जाताहै तो कहा जाता है कि पिंगला का प्रचार हो गया, जब साधक चचलता व रजो मय भावो से दूर होजाता है, तो कहा जाता है कि इडा नाडी का प्रचार हो गया । तथा जव साधक मे तम और रज भावो से परे अन्तर्प्रकाश और समता आते हैं, तो कहा जाता है कि सुषुम्णा का प्रचार हो गया है । इस समता मय सुषुम्णा नाडी मे ही प्रचार पाकर कुण्डलिनी का प्रकाश होता है । सुषुम्णा नाडी मानव के मेरुदण्ड के नीचे मे होती

1. (आत्म प्रबोध ५१)

हुई एक नाली है जो पिण्डदेह से मस्तकीय ब्रह्माण्ड तक गई है। अत इस नाडी की उन्मुक्ति होने पर पिण्ड का ब्रह्माण्ड से सबध हो जाता है। नीचे पाँव से उपर कण्ठ तक का देह-भाग पिण्ड व कण्ठ से उपर का भाग ब्रह्माण्ड तथा मस्तक का शीर्ष भाग पार-ब्रह्माण्ड है। इस पार ब्रह्माण्ड का ऊपरांश ही सिद्ध शिला, या सिद्ध पद से संत्रवित होता है। सुषुम्णा जब तेजोलब्धिमय प्राण शक्ति 'कुडलिनी' के मध्य सचरण के निमित्त से एक ज्योतिर्मण्डल या प्रभा मण्डल के रूप मे भासमान हो जाती है, तब ही योगी ज्योति के आश्रय ब्रह्माडीय ज्योतिर्मण्डल के भी पार, पार-ब्रह्माण्ड-मण्डल मेपहुंच जाता है। ऐसा होना ही सुषुम्णा का उत्क्रमण कहा जाता है। योगी गण सुषुम्णा के ज्योतिर्मण्डल के मध्य ही विभिन्न सूक्ष्म पचतन्मात्रिक पद्मो की रचना का भी साक्षात्कार करता है जो अति कमनीय ज्योति स्वरूप होते हैं। इन ज्योतिपद्मो मे मन को किस प्रकार भ्रमण कराया जाता है, यह आगे श्लोक (११) मे आ० श्री सोमदेव ने स्पष्ट किया है, उसे भी हम आगे दे रहे है। यहाँ "माध्यस्थाब्धौ" से आचार्य श्री ने इस सुषुम्णा के ज्योतिर्मण्डल या प्रकाश मण्डल के प्रकाश-समुद्र मे तल्लीन होकर (शून्य वीतराग भाव मे) सम भाव स्थिति होने का सकेत किया है। यह स्मरण रखना चाहिये कि आचार्य श्री अपने इस 'योग-मार्ग' मे योग मार्ग को ही स्पष्ट कर रहे है। अतः सुषुम्णा नाडी को उन्मुक्त करके योगी उसमे तेजो लब्धि मय प्राण, शक्ति सहित प्रचार व विहार करता है। तथा फिर उस सुषुम्णा नाडी को भी ऊपर ब्रह्माण्ड मण्डल मे दिव्य सकल जिन परमेश्वर ध्येय के आविर्भाव पूर्वक धर्म ध्यान को करता है। —तदनन्तर शुक्ल ध्यान मे आत्मा के निर्मल ध्यान मे स्वय जिनेश्वर रूप परिणत होता है और मात्र ज्ञान भुवन रूप अशरीरी सिद्ध अवस्था की तब प्राप्ति होती है, जब ब्रह्मरन्ध्र को तोडकर सिद्ध योगी पुनरावृति रहित सिद्धालय मे प्रतिष्ठित होकर सदैव के लिये भव मुक्त हो जाता है। सुषुम्णा मे व सुषुम्णा से आगे ब्रह्माड में पच शून्यो की परम्परा हैं। इन्हे ही शून्य, गगन व खमण्डल कहा गया है और इनमे ही स्थिति से वीतरागभावोका अभ्यास होता है। इन शून्यो मे विहार रूप निर्मनस्क राज योग का अभ्यास होता है। शून्य मे वासरूप स्थिति को भी आचार्य श्री ने आगे श्लोक १० मे कहा है। जागतिक समस्त भाव तथा सम्बन्धो से शून्य हुई इस परम शून्यता को सकल जिन परमेश्वर के दिव्य-स्वरूप व गुणो की आकारता से ही फिर भरना होता है और साधक जिनेश्वर परमेश्वर सम निर्मल, सर्वज्ञ तथा वीतराग परिणत होता है। इन शून्यो मे ही भावोत्क्रमण रूप (गुण श्रेणी) आरोहण होता है।

(६) यम—जो स्व के अनुशासन संबधी पाँच महाव्रत जन्म पर्यन्त के लिये धारण किये जाते हैं वे पंच महाव्रत सत्य, अहिंसा, अचौर्य, अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य है तथा पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि है। गृहस्थ योगी अणुव्रत रूप मे तथा विरत योगी महाव्रत रूप मे व्रत लेता है।

(७) नियम—"पर" के सम्बन्धो को लेकर स्व के अनुशासन के लिये द्रव्य क्षेत्र काल की मर्यादा लेकर व्रत, गुणव्रत, शिक्षाव्रत धारण किये जाते हैं।

(८) ध्यान—ध्येय (ध्यान करने योग्य) सकल व निष्कल परमात्मा है। अर्हत्परमेश्वर व भगवान वृषभेश्वर आदि चतुर्विशति तीर्थंकर सकल ध्येय है। तथा सिद्ध परमात्मा अथवा शुद्धतम स्व आत्मा,—ये निष्कल ध्येय है। ये दोनों ही ध्येय चैतन्य ध्येय है।

"योग मार्ग" मे इस प्रकार अष्टांगो का वर्णन है। इसमे आसन अग के स्थान पर स्वाध्याय के ग्रहण की विशेपता है।

असम्पूर्ण रत्नत्रय के धारक गृहस्थ को सकल भगवान् वृषभेश्वरादि तीर्थंकरो की भक्ति, पूजा, आराधना का विकल्प रहता है इसके लिये आ० श्री अमृतचन्द्र कहते है—

असमग्रं भावयतो रत्नत्रयमस्ति कर्मबधो यः।
स विपक्षकृतोऽवश्यं मोक्षोपायो न बन्धनोपायः॥[1]

रत्नत्रय (सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र) को सम्पूर्ण विकल रूप से भावित करने वाले पुरुष को जो शुभ कर्म वन्ध है, वह विपक्ष कृत है, रत्नत्रय कृत नही होने से है। वह रागकृत होने पर भी अवश्य ही मोक्ष का उपाय है, बध का उपाय नही है। आचार्य अमृतचन्द्र ने यहा स्पष्ट किया है कि विकल रत्नत्रय मे सकल तीर्थकरादि के आराधन व ध्यान मे शुभ भाव का प्रादुर्भाव पुण्य व शुभ प्रकृति के बध का कारण होता है, वह मिथ्या-दृष्टि की तरह ससार का कारण नही है किन्तु परम्परा से मोक्ष का कारण है। तथा यह भी स्पष्ट किया है कि जिस अश मे ध्याता की सुदृष्टि है—उस अश मे उसे बध नही है तथा जिस अश मे उसे चारित्र है—उस अश मे उसे बध नही है। इस प्रकार स्पष्ट हुआ है कि सुदृष्टि, ज्ञान तथा चारित्र की जितने-जितने अश मे स्पष्टता होती है—उतने-उतने अश मे बध का अभाव ही होता है तथा जितने-जितने अश मे राग का सद्भाव होता है। बध भी उतने-उतने अश रहता ही है। सकल ध्येय से अत जब ध्याता अपने स्वभाव रूप परिणति को प्राप्त हो जाए तो उसे बध का कोई हेतु भी नही होता। अत सकल ध्येय मे ध्याता को अभेद रूप, अद्वैत रूप से ध्यान मे उत्कर्ष करना उपदिष्ट है। सकल ध्येय शुद्ध आत्म स्वरूप है, और इस ध्येय मे मग्न होने पर ध्याता शुद्धात्मा को ही वस्तुत रमण करता है, उसे तब सकल या निष्कल का भेद समाप्त होकर, स्व शुद्ध आत्मा का ही आस्वादन होता है। ऐसे सकल ध्येय से निष्कल ध्येय की तरफ गतिमान होने की प्रेरणा है। वास्तव मे जागतिक राग भाव मे ही बध है और वह बध ही भव भय का हेतु है। सकल ध्येय मे निजरूप मग्नता निर्जरारूप है, न कि बध रूप। बध तो प्रमाद अविरति मिथ्यात्व कषाय और मन वचन काय के परिस्पदन रूप योग से होता है।

दर्शन मात्र विनिश्चितिरात्मपरिज्ञान मिष्यते बोध.।
स्थितिरात्मनि चारित्रं कुत एतेभ्यो भवति बधः॥

1. (पुरुषार्थ सिद्ध-युपाय-२११)   2 (पुरुषार्थ सिद्ध युपाय–२१६)

स्वकीय आत्मा-तत्व का विनिश्चय (प्रतीति) सम्यक् दर्शन, आत्मा का परिज्ञान (परित ज्ञान, विशेष व परिपूर्ण ज्ञान) और आत्मा मे स्थिरता सम्यक्-चारित्र कहा गया है अत इन तीन सहित बध कैसे सभव हो सकता है ?

वास्तव मे बंध होता है भिन्न वस्तु से। परन्तु जब भिन्नता ही न रहे, स्वरूप अभेद हो जाये, पर का भाव ही नही रहे, तद्रूप स्व वस्तु,-स्व आत्मा मे ही रमणता प्राप्त हो जाए तो फिर बध का प्रश्न ही नही है।

यह योग मार्ग अन्तर्उपासना से अभेद आत्म-साधना मे उत्कर्ष की योजना प्रस्तुत करता है। यह इसीलिये सकल ध्येय प्रभु वृषभेश्वर से निष्कल ध्येय विशुद्ध आत्मा मे आरोहण रूप मार्ग को प्रशस्त करता है।

ध्यान का ही उत्कर्ष स्वरूप समाधि है। धि-रूप बुद्धि के अथवा प्राण के समरूप होने पर, अपनी समस्त विषमताओ से विवर्जित होने पर आत्म प्रदेश निश्चल समान, व हो जाए वह ही समाधि है। देह मे प्राणो का जब उच्चावचय नही होता, आकर्षण-विकर्षण नही होता, यानी श्वासोच्छ्वास की निरुद्धता या मदता होती है, तो यही काय-योग का निरोध है। मन मे सकल्प विकल्प की स्पदता नही होती, मन सुनिश्चल स्थिर रहता है, तो वह मनोयोग का निरोध है। बुद्धि जब पदार्थो मे इष्ट-अनिष्ट भाव से निर्मुक्त हो जाती है, द्वन्द्वाभिघात से विवर्जित समाहित रहती है, तो वह ही उसकी स्थित-प्रज्ञता है, निरोध है। जब वाणी न बाह्य जल्प करती, न अन्तर्जल्प करती, निश्चल व सम रह कर मौन रहती है तो यह वचननिरोध है। ऐसे यह मन वचन तथा काया का निरोध ही योग का (तथा उसके परिणाम स्वरूप आत्म-प्रदेशो के स्पदन व आदोलन का भी) निरोध है। पातजल योग मे चित्तवृत्ति निरोध योग है, तो सर्वज्ञ योग मे मन वचन और काया तीनो का निरोध योग है।

मन वचन काया की परिस्पदन क्रिया रूप 'योग' कर्मास्रव के लिये निमित्त है। यहा योग शब्द का अर्थ मन वचन काय की क्रिया के अर्थ मे है—"काय वाङ् मन कर्म योग" यह सूत्र है। इस सूत्र मे वर्णित परिस्पदनात्मक योग को अपरिस्पदनात्मक रूप अयोग-स्थिति मे ले जाने का अभ्यास ही योग विज्ञान है। अतः निरोध व सवर क्रियाए —मन, वचन, तथा काया के निरोध व सवर रूप से त्रिविध की जाती हैं और चिन्तारोध लक्षण जैन ध्यान का विशेष अङ्गीभूत हैं।

योगात्प्रदेश बंध स्थिति बधोभवति तु कषायात्।
दर्शन बोध चारित्रं न योग रूपं कषायरूपं च ॥[1]

---

1 (पुरुषार्थ सिद्ध् युपाय—२१५)

मन वचन काय के व्यापार रूप योग से कर्म प्रत्ययों का प्रदेश बंध होता है तथा कषायो (क्रोधादि मनो विकारो) से कर्मो की स्थिति का बंध होता है, सम्यग्-दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र न योग (कर्म-स्पदन रूप) होता, न कषाय रूप ही होता है, अत वह अबंध रूप है। सकल ध्येय के माध्यम से अभेद आत्म रमण होने पर बध का कारण कैसे हो सकता है ? आचार्य श्री ने प्रदेश बध के कथन से यहा प्रकृति बध तथा प्रदेश बध दोनो को ग्रहण किया है तथा स्थिति बध से—स्थिति बध तथा अनुभाग बंध दोनो को ग्रहण किया है। ऐसे चारो प्रकार के बंध का निराकरण ध्यान समाधि मे प्राप्त होना कहा है।

चेतना लक्षण युक्त अनन्त गुणात्मक आत्मा स्वतत्वविनिश्चय (निर्णय) रूप चेतना परिणाम सम्यक् दर्शन है। इससे दर्शन मोहनीय कर्म का क्षय हो जाता है।

निश्चित आत्मा का सम्यक् परिचय (साक्षात्कार) रूप चेतना परिणाम सम्यग् ज्ञान है, इस परिचित आत्मा मे निराकुल सम-स्थिरता रूप चेतना परिणाम सम्यक् चारित्र है। इन तीनो का जहा अभेद हो जाता है, वह अभेद स्वरूप की प्राप्ति ही सम्यक्-समाधि है। इससे चारित्र मोहनीय कर्म का क्षय होता है।

योग मार्ग मे—(१) प्राणायाम (२) धारणा (३) प्रत्याहार (४) स्वाध्याय (५) यम (६) नियम (७) ध्यान और (८) समाधि रूप योग मुद्रा की प्राप्ति आचार्य श्री सोमदेव ने कही है। यह भेद पूर्वक योग मार्ग है और अभेद प्राप्ति के अर्थ ही कहा गया है। इस अष्टागिक योग मार्ग मे व्यवहार रत्नत्रय तथा अभेद रत्न त्रय सब कथित हो गया है।

भगवान् ऋषभदेव का काया निरोध कायोत्सर्ग विधान और खड्गासन

पूर्व के दो श्लोको मे आचार्य सोमदेव ने प्रथम तो भगवान वृषभेश्वर आदिनाथ हिरण्यगर्भ का खड्गासन धारण करके ध्यानस्थहोना कहा है। भगवान श्री आदिनाथ अतुलबल के धारक हैं, उन्होने उत्कृष्ट ही आसन माडा और एक साथ छ मास तक कायोत्सर्ग करके धर्म-ध्यान किया। आसन का योग मे विधान है—इस बात को आ० सोमदेव ने इन श्लोको मे इस प्रकार प्रकट कर दिया है, यद्यपि अपने उक्त अष्टागो मे आसन को स्थान नही दिया था।

अल्पबल धारक पद्मासन आदि लगा सकते हैं और अन्तर्मुहूर्त ही ध्यान कर सकते हैं पर तीर्थंकर हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर उत्कृष्ट बल तथा सकल्प धारी होने से उत्कृष्ट आसन स्थ रह कर दीर्घ-काल तक ध्यान मे रहे।

काय निरोध अंग का वर्णन

आसन ग्रहण मे भगवान् के काय निरोध का मनोरम वर्णन इस प्रकार किया गया है—

भगवान् इस पृथ्वी पर भार देकर चरण नही धरते हुए खडे हुए। क्योकि यह पृथ्वी नीचे पाताल तल मे न धस जाए। कुलाचल पर्वत नाश को प्राप्त न हो जाए—इसलिए सूक्ष्म-सूक्ष्म श्वासोच्छवास छोड़ते हुए स्थिर रहे तथा आकाश चारी देव विद्याधरो का प्रचार न रूक जाए इसलिए उर्ध्व बाहू न रखकर दोनो हाथो को नीचे लटकाये रखे। ऐसे वे भगवान् तुम्हारे लिए हमेशा परम लक्ष्मी मोक्ष को प्रदान करे—(प्रथम श्लोक का भावार्थ)।

मन वचन के निरोध रूप प्रत्याहार का वर्णन

भगवान् के स्थिरकाय धारण रूप काय निरोध को कह कर आचार्य सोमदेव ने फिर आगे भगवान् के स्थिर मनोयोग व वचन योग रूप मन व वचन के तथा कषाय के निरोध का भी वर्णन किया है—कहा है—

पवन के द्वारा उडी हुई धूलि के द्वारा शरीर के चर्चित होने पर व पाप-वृक्ष की जटाओ के समान केशो की राशि को जड से उखाड कर, केशो को (मुष्टिलुचन करके) तथा दिशा रूपी वस्त्र को धारण करने पर,—दिगम्बर मुद्रा को लेकर तथा वीतमोह (रागद्वेष-रहित) आपके होने से दुष्ट जनो के दुर्वचन रूपी बाण बिना अपकार किये ही पाताल मे समा गये तथा दुष्ट जनो ने क्रोध मे आकर जो भी दुष्ट चेष्टाए की, वे भी आपका ध्यान भग न कर सकी, विपरीत इसके इन्होने तो आपकी बुद्धि को मलीन न करके उसे उसी प्रकार विकसित ही किया–जिस प्रकार सूर्य की किरणे कमलिनी को सतप्त न करके प्रफुल्लित ही करती है।

आ० श्री सोमदेव ने यहा भगवान के द्वारा अपने को देह भाव से मुक्त करने, वचन भाव से मुक्त करने तथा बुद्धि को मलीन न होने देने क्रिया के वर्णन से योग का प्रत्याहार अङ्ग उपदिष्ट किया है तथा भगवान के कषाय निरोध को भी कहा है।

धारणा का वर्णन

हे प्रभो! जो मैत्री भाव का पात्र नही है, जिसके आशा पिशाची उपगत नही हुई है, जिसके चित्त मे स्थिरता नही है, जिसके काम रूप अग्नि शात नही हुई है, जो क्लेशो को सहन नहीं कर सकता, जिसकी इन्द्रियो की परिणति वशीभूत नही है—ऐसा आपके ध्यान को धारण करने की इच्छा वाला पुरुष सज्जन पुरुषो के हसी के लिये कैसे नही है? अर्थात् हसी का पात्र है ही। यहा योग के ध्यान धारणा अङ्ग कथित कर दिये है। बताया है कि ध्यान-धारणा के लिए किस-किस सामग्री (पात्रता) की आवश्यकता है।

ध्यान करने का पात्र

ध्यान करने का पात्र वही है जिसे प्राणी मात्र से मैत्री हो, जो सर्वत्र समान भाव वाला हो,

इन्द्रिय-जयी हो—अनिद्रालु हो, **बाईस परीषहो** की सेना का जय करने वाला हो —जो ध्यान के विरोधी शुभाशुभ द्रव्य के प्राप्त होने पर भी धैर्य को ही धारण करता हो। यहा ध्यान पात्रता को उपदिष्ट किया है। यह सामग्री विशिष्ट दृढ मानसिक तथा नैतिक सरचना रूप है। इससे सज्जित ध्याता ध्यान अर्हता को पालेना है। इस सामगी रूप कवच से सज्जित ध्यानी आत्म-ध्यान से स्खलित नही होता।

बाईस परिषह और दृष्टांत

बाईस परीषह ये है—(१) क्षुधा परिषह(२) तृषा परिषह (३) शीत परिषह (४) उष्ण परिषह (५) नग्न-परिषह (६) याचना परिषह (७) अरति परिषह (८) अलाभ परिषह (९) दशमसकादि परिषह (१०) आक्रोश परिषह (११) रोग परिषह (१२) मल परिषह (१३) तृणस्पर्श परिषह (१४ अज्ञान परिषह (१५) अदर्शन परिषह (१६) प्रज्ञा परिषह (१७) सत्कार पुरस्कार परिषह (१८) शय्या परिषह (१९) चर्या परिषह (२०) बध बधन परिषह (२१) निषिद्या परिषह (२२) स्त्री परिषह। ध्याता को ध्यान सिद्धि के लिए इन बाईस परिषहो का जय होना चाहिए।

शुद्धात्मा के ध्याता चतुर्विध उपसर्ग आने पर भी अपने स्वभाव से विचलित नही होते—इसे आचार्य श्री ने स्पष्ट किया है—

चतुर्विध उपसर्ग हैं—(१) देवकृत (२) तिर्यञ्च कृत (३) मनुष्य कृत तथा (४) अचेतनोपसर्ग।

चिलाती मुनिराज पर पूर्वभव के शत्रु ने देव पर्याय से उपसर्ग किया, सारे शरीर को कीट बनकर खा डाला। कुल भूषण मुनि तथा भगवान् पार्श्वनाथ पर देवकृत उपसर्ग हुए।

सजयत मुनि पर विद्याधर ने घोर उपसर्ग किया। राजकुमार मुनि के शरीर पर उनके श्वसुर ने अग्नि जलादी—आदि रूप से मनुष्य कृत उपसर्ग हुये हैं।

सुकुमाल सुकौशल आदि मुनियो पर तिर्यंच कृत उपसर्ग,—ध्यान मे स्थित सुकुमाल मुनि के देह को शृगाली ने दो बच्चो सहित तीन दिन तक खाया व सुकौशल मुनि का व्याघ्री ने खाया। शिव-कुमारादि के ऊपर तृण पु ज काष्ठ आदि कृत अचेतनोपसर्ग हुये।

आत्मा स्वरूप ध्यान की सिद्धि का क्रम वर्णन

उक्त चार प्रकार के—चेतनोपसर्ग अचेतनोपसर्ग को सहन करते हुए,—कर्म विपाक से भिन्न आत्म-स्वरूप का विचार करते हुए ध्यान से विचलित नही होना चाहिये। ऐसे नो कर्म (शरीर) द्रव्य, कर्म (कर्म-विपाक) तथा भाव-कर्म से भिन्न आत्म—स्वरूप के ध्यान से सम्पूर्ण ध्यान सिद्धि का क्रम कहा है।

ध्यान सिद्धि महात्म्य—

ध्यान के सिद्ध होने पर ध्यान के महात्म्य से ध्यानी पुरुष के निकट मनुष्य की तो बात ही क्या, परस्पर विरोधी तिर्यंचो का समूह भी—बधुता व स्नेह को प्राप्त हो जाता है—न्योली सर्प बच्चो को, हथिनी सिंह बच्चे को, भैंसे घोडी के बच्चे को, सिहनी मृगशावक को, पुत्रवत् प्रेम करने लगते हैं। ध्यान सिद्ध पुरुष के अन्तर मे विशुद्ध भाव-स्पदन प्रवाह का ऐसा अचिन्त्य प्रभाव होता है।

तत्वोपलभ होने पर योगीश्वर पुरुषो की बहिमुद्रा कैसी होती है—उसे स्पष्ट किया गया है—

योग मुद्राः—

आनन्दस्पंदि विंदूद्गमनजटलितेलोचने निष्प्रकम्पे,
यद्ध्याने नावसेय कथमपिमरुतां' गंधवाहान्तराले।
रोमांचोद च वृद्धिर्भवति च सरण कोऽप्यवाक् सप्रकाशो,
ध्यानं धन्योऽयमुच्चैर्दधदधधुनतात् साध्वसंव सयोगी ॥[1]

जिस ध्यान मे आनन्द के बहाने वाली,परम-आत्मा के अनुभव के सुख को प्रवाहित कर देने वाली अश्रु-विन्दुओ से चिन्हित पर निष्प्रकम्प (टिमकार रहित) नेत्र है, नासिका के मध्य मे वहने वाले श्वासोच्छवासो की गति किसी भी प्रकार नही जानी जाती—तथा रोमाचो की अति उत्कृष्ट वृद्धि होती है, और जिस ध्यान मे वचनो के अगोचर प्रकार है—वह ही अद्वितीय (अनुपम) शरण है, ऐसे ध्यान को धारण करने वाला धन्य योगी अतिशय रूप से तुम्हारे भय को नष्ट करें—अर्थात् अभय के कारण होवे। ऐसे यहाँ आनन्दाश्रुमयस्थिर नेत्र, स्थिर श्वास, रोमाचित देह तथा अमित अन्तर्प्रकाश की प्राप्ति लक्षणो रूप चिन्हो से आनन्द समाधि मय भाव समाधि प्राप्ति के चिन्हो को कहा है।

अन्यत्र भी कहा गया है—

श्वासो येन विनिर्जितोऽजितरयो देहस्य खेदास्पदो।
येनोन्मेषनिमेष भाव रहिते नेत्रे स्थिरे स्थापिते।
यस्याशेष कुनीतिमार्ग विषयो व्यापारसंगो गतो।
योगी सोऽत्र मनोगतोऽद्भुतरसे प्राप्तो दशामीदृशीम् ॥

---

1. (योग मार्ग–८)

देह को खिन्न करने वाले श्वासो के प्रचण्ड वेग को जिसने जीत लिया है, उन्मेष निमेष रहित नेत्र स्थिर हो गये है कुनीति के उत्पत्तिस्थान आरम्भ तथा परिग्रह का समस्त सहवास जिसने छोड दिया है ऐसा पुरुष ही शाति के अद्भुत रस का आस्वादन करता है, वह ही योग मग्न दशा प्राप्त होने से योगी कहलाता है । अर्थात् वही योगी है जो समश्वास, स्थिर नेत्र तथा आरम्भ परिग्रह के भाव से रहित निर्मल चित्त होकर आत्मा से युक्त होता है ।

योगी को अन्तरायों विघ्नों से सावचेत रहने की अपेक्षा

जो महा पुरुष स्वय उदय को प्राप्त होने वाली लक्ष्मी के विनोद मे-देवो से प्राप्त भोगो मे, ध्यान से प्राप्त ऋद्धियो के प्रभाव मे–देवागनाओ के स्वर्गीय भोगो के सेवन मे, कल्प वृक्षो की प्रवृत्ति मे पृथ्वी, आकाश व दिशाओ में काम–चार होने (इच्छा–नुसार विहार करने) मे वीतेच्छा हैं,—इनके प्राप्त होने पर भी इनमे इच्छा नही रखते—वे योगीश्वर तुम्हारे उस अद्वितीय ऐश्वर्य वाले तेज को वृद्धिगत करे–(योग मार्ग–पद्य ९वें का भावार्थ) ।

यहाँ योगी को योग-साधन के विघ्नो से, प्रलोभनो से, ऋद्धि सिद्धियो से सावचेत किया है जो योगी को लक्ष्य भ्रष्ट कर देते हैं।

ध्यान ऋद्धियां—

ध्यान की सात ऋद्धियां है— (१) बुद्धि ऋद्धि-(२) तप ऋद्धि-(३) वैक्रियक ऋद्धि (४) सर्वौषधि ऋद्धि–(५) बल ऋद्धि–(६) रस ऋद्धि तथा–(७) अक्षर्यर्द्धि

बुद्धि ऋद्धि—मति श्रुति सर्वावधि परमावधि देशावधि ऋजुमति विपुलमति कोष्ठबुद्धि आदि बुद्धि की अतिशयता है ।

तप ऋद्धि—से महाघोर तप करने की शक्ति होना है ।

वैक्रियक ऋद्धि—छोटे बडे अनेक प्रकार के देह की रचना कर सकना है ।

सर्वौषधि ऋद्धि—सब रोगो को नष्ट करने वाली शक्ति है ।

बल ऋद्धि—अन्तर्मुहुर्त मे सारे श्रुत के विचार करने रूप मनोबल । अन्तर्मुहुर्त मे द्वादशाग के पाठ करने की शक्ति आदि वचन–बल । काय बल से जघा बल से चलना, आकाश मे चलना, तंतु पर चलना, आदि रूपबलर्द्धि से प्राप्त होते है ।

रसर्द्धि—जिसके प्रभाव से योगी के हाथ मे अनेक प्रकार के रूखे सूखे भोजन भी रस रूप परिणत हो जाए ।

अक्षयर्द्धि–प्राप्त योगी जिसके घर जो आहार करे, उसके वह वस्तु अक्षय हो जाए। एक हाथ जगह मे चक्रवर्ती की कटक समा जाए—ये अक्षयमहानस सवार्सद्धि है। कल्पवृक्ष जनित दशाग –(१) भोजनाग–अनेक प्रकार के खाद्य वस्तु देना–(२) भाजनांग-अनेक प्रकार के वर्तन देना (३) वस्त्राग-अनेक प्रकार के वस्त्र देना-(४) भूषणाग-अनेक प्रकार के आभूषण देना-(५) गृहाग-अनेक प्रकार के प्रासाद-गृह आदि देना (६) माल्याग-अनेक प्रकार की माला देना-(७) वादित्राग-अनेक प्रकार के वाद्यो के देना-(८) ज्योतिरग (९) मद्याग-(१०) प्रदीपाग है। ये दश प्रकार के कल्प वृक्ष है।

देह और मन की शून्य निश्चल स्थिति में ज्ञान बोधक शुक्ल ध्यान

लौकिक—अलौकिक विषय भोगो तथा ऋद्धियो से उपरत व विरक्त हो जाने से तत्व ज्ञान के बोधक ध्यान के सन्मुख किस प्रकार हुआ जाता है—उस उत्कृष्ट तत्व के रहस्य को ही आगे प्रथम मे प्रथम आ० श्री सोमदेव ने प्रकट किया है।

आत्म–व्योम प्रकाम्भ्रमभिदुर तनुं यो मनोराजहस,
योगोद्योग प्रयोगोन्मिषदमृतरसास्वाद मंद प्रचार।
नि संज्ञीकृत्य सर्वेन्द्रियविधि विगमादुद्वेसे देह गेहे,
सानाथ्यं संविधत्ते प्रशमयतु स वो निर्मम कर्मधर्मम् ॥

आत्मा रूपी आकाश, (चिदाकाश) मे अतिवेग से भ्रमण करने से भिन्न हुआ है देह जिसका, ध्यान के प्रभाव से उत्पन्न अमृत के रस के आस्वाद से मन्द हो गया है फैलाव (प्रचार) जिसका—ऐसे मन रूपी राजहस को पाचो इन्द्रियो के विषय से निर्ममत्व कर, हटाकर, उद्व से शून्य देह गृह मे ले जाकर जो उस पर प्रभुत्व को धारण करते है,— वह योगीश्वर तुम्हारे कर्म रूपी ताप को दूर करे।

निर्मनस्क (अमनस्क) योग

यहा आ० श्री ने इन्द्रिय जय को कह कर शून्य ध्यान की प्ररूपणा की है, मनोरूप राजहस को शून्य गृह मे ले जाकर–अर्थात् सकल्प विकल्पो से रहित देह-अतरीक्ष मे ले जाकर उस मन पर प्रभुत्व को प्राप्त करने का उपदेश किया है। यहाँ इन्द्रिय जय के उपरान्त मनोजय का अनुक्रम कहा है तथा इस मनोजय के हेतु-भूत ध्यान को प्ररूपित किया है। तथा यह विशेष उल्लेखनीय है कि यहा इस शून्य रूप हुए मन के द्वारा ध्यान मे अति उत्कृष्ट निर्मनस्क [1](अमनस्क) योग का कथन किया है।

---

1. (योग–मार्ग–१०)

जैन परपरा मे प्रथम मे प्रथम उत्कृष्ट तत्व के ही कथन की परपरा होने से शून्य ध्यान रूप अमनस्क योग का ही सकेत प्रथम मे प्रथम आचार्य श्री सोमदेव द्वारा किया गया है। इसके अनन्तर उन्होने धर्म ध्यान का वर्णन किया है।

इसके उपरान्त आचार्य श्री सोमदेव ने इस शून्य (शुक्ल) ध्यान का निर्मनस्क निर्विकल्प योग की सिद्धि के हेतु-भूत सविकल्प ध्यान—अभ्यास का वर्णन आगे श्लोक मे इस तरह किया है। यह सविकल्प ध्यान ही विशिष्ट धर्म ध्यान है।

धम ध्यान; चैतन्य चक्रो का ध्यान

ब्रह्मग्रन्थे रूदीर्ण तदनु च सुचिर नाभिपद्मेऽवतीर्ण,
हृत्पकजे प्रकीर्ण परिचितरसने तालुरन्ध्रे विशीर्ण।
चक्षुभ्रू भालमूर्द्धान्तर परिसरणोपास्ति निस्तीर्ण विभ्रम्,
यस्यासीत्स्वान्तमित्थ प्रथयतु पृयता प्राथितैर्व समान्य ॥

जिसका स्वान्त (मन) ब्रह्मग्रथि से उदीर्ण हो गया है यानी ब्रह्मग्रन्थि के स्थान मूलाधार व स्वाधिष्ठान पद्मो से जिसका मन विहार करके उत्तीर्ण हो गया है,—और इसके बाद नाभि-कमल मे अवतीर्ण हुआ है, तथा इसके बाद सुचिर (बहुत-काल) तक हृदय-कमल मे प्रकीर्ण (विस्तृत) हुआ है। और फिर रसना से अति परिचित—मुख कमल (विशुद्धि-कण्ठ पद्म) मे विशीर्ण (सूक्ष्म) हुआ फिर तालुरन्ध्र (ललना पद्म) मे विशीर्ण हुआ—और फिर चक्षु, भ्रू भाग (आज्ञापद्म), ललाट (त्रिकुटी पद्म तथा मूर्धा (मस्तिष्कस्थ सहस्र दल पद्म) तथा मूर्धान्तर (ब्रह्मरन्ध्र) मे निर्विघ्न परिवर्तित (प्रवर्तित) हुआ करता है—इस प्रकार मन जिसका हो,—ऐसा वह ध्याता पुरुष प्रार्थियो द्वारा पूज्य भगवान् योगीश्वर तुम्हारे लिये उत्कृष्ट लक्ष्मी को प्रदान करे।

देह-गेह मे विभिन्न ज्योतिमर्य पद्मो—व चक्रो मे मन को विहार कराने रूप योगाभ्यास के ही रहस्य को तथा इसके साथ ही देह मे शून्य-अन्तरीक्षस्थ आत्मा को प्रतिष्ठित करने के रहस्य को भी आ० श्री सोमदेव ने सकेतित करके प्रकट किया है। सुषुम्णा रूप शून्य मे उपनीत होकर, सुषुम्णा के ज्योतिर्मण्डल मे पिण्ड के पद्मो का, तथा सुषुम्णा का उत्क्रमण कर ब्रह्माण्डीय पदमो का साक्षात्कार होता है, तब ब्रह्मरन्ध्र मे ,रम शून्य अन्तरीक्ष की प्राप्ति होती है।

इसी योग परपरा मे आ० श्री शुभचन्द्र ने भी चक्रोन्मीलन का यही रहस्य कहा है। यह आगे हमारे "ध्यानानुचिन्तन" ग्रथ के पदस्थ ध्यान प्रकरण मे स्पष्ट किया है। सुषुम्णा मे प्राणो का विहार, शक्ति का उत्क्रमण तथा शून्यो के स्तर-भेद आदि के सब वर्णन "ध्यानानुचिन्तन" नामक ग्रथ मे विस्तार से दिये हैं।

---

1. (योग मार्ग ११)

शून्य ध्यान (निर्मनस्क योग) से आ० सोमदेव ने शुक्ल ध्यान तथा देह–वीणी के कमल बनो मे मन को विहार कराने रूप ध्यान से धर्म ध्यान का वर्णन किया है तथा इन दोनो के सकेत करने के तुरन्त बाद आचार्य श्री ने इन ध्यानो के फल को इस तरह कहा है कि लौह धातु जैसे स्वर्ण बन जाता है वैसे ससारी आत्मा भी परमात्मा बन जाता है। इस बाहरवे श्लोक को हम ऊपर पूर्व में दे चुके है। इसका भाषा पद्यान्तर इस प्रकार दिया है—

"सम्यग्दर्शन सिद्ध औषधी,, इसका मेल मिलाने से।
सम्यग्ज्ञान पात्र है (मूसी) दृढ़तर इसमें, जीव रमाने थे।
सकल परिग्रह त्याग काठ से, सद्ध्यान की अग्नि जलाने से।
होता जीव शुद्ध है जैसे लोहा सुवर्ण पारे से ॥

सद् ध्यान की ही अग्नि जीव को वैसे ही परिशुद्ध कर देती है जैसे अग्नि लोहे को स्वर्ण रूप शुद्ध कर देती है। लोहा पारे के सग से स्वर्ण बन जाता है। तो जीव भी सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान, परिग्रह-त्याग और सद्ध्यान से परमात्मा बन जाता है। आ० सोमदेव ने यहाँयोग-क्रिया की अनिवार्यता को प्रकट किया है।

देव सरिता ध्यान गंगा मे अवगाहन

इस योग मार्ग मे उद्घोष किया गया है कि जो ध्यान रूप देव–सरिता मे स्नान करते है। उनके जन्म मरण का अवश्य उच्छेद हो जाता है। वैराग्य रूपी अगाध जल जिसमे भरा है, समता भाव, इन्द्रिय–दमन, और प्रशम भाव रूप अपार करुणा दया व अहिंसा के रूप–तीन धाराओ का जिनमे त्रिवेणी सगम है सम्यक्-ज्ञान की वृहत्-तरगे जिसमे बढ रही है–तथा-बुद्धि रूपी जिसके तट है—ऐसी यह देव सरिता, ध्यान गगा है।

इसके अनन्तर आ० सोमदेव ने धर्म ध्यान व शुक्ल ध्यानो का सभेद वर्णन इस योग-मार्ग" मे किये है। इनका ही हम अन्यत्र ग्रन्थमे विमर्ष प्रस्तुत करेगे। यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि आचार्य श्री ने आर्त व रौद्र ध्यान को धुआ तथा अधकार के समान कह कर उनका फल क्रम से तिर्यच तथा नरक गति मे ले जाने वाला कहा है। धर्म ध्यान को अग्नि ध्यान के समान देदीप्यमान कह कर स्वर्ग मे ले जाने वाला, तथा शुक्ल-ध्यान को सूर्य-किरणो के समान देदीप्यमान कह कर मोक्ष मे ले जाने वाला प्रकट किया है। सूर्य-किरणो के समान भास्वर स्वरूप का प्रकट होना ही केवल-ज्ञान-भास्कर सकल निज दर्शन होता है—और उस स्वरूप का नित्योदय ही मोक्ष का हेतु है। महामहिमा-शाली उत्कृष्टतम आत्म स्वरूप के उत्कृष्ट ध्यान तत्वो का उद्घाटन इस "योग मार्ग" मे किया गया है। पश्चिम द्वार के उन्मुक्त होने पर ही भास्वर सूर्यसम स्वरूप उद्दीप्त होकर देदीप्यमान होता है।

धर्म ध्यान से पापो का क्षय होता है। इनके नाश न होने तक शुक्ल ध्यान की

अर्हता भी नही होती। विकारो के क्षय न होने तक पश्चिम द्वार भी उन्मुक्त नही होता! प्राण पवन उलटकर षट् चक्रो का वेध करके मेरुदण्ड मे प्रवर्तित होता गगन मे विस्तार पाता है। उसी मध्य प्राणो की गरजना मे मन शून्य हो जाता है।

शुक्ल ध्यान के लिये योग कब समर्थ होता है—इसे यो प्रकट किया है, धारावाही धर्म ध्यान, प्राणायाम, आसन-जय आदि अंगो पर अपना ध्यान केन्द्रित करके योगी को आत्म ध्यान मे आरोहण करना चाहिये। उस आरोहण मे प्राण शक्ति की विशेषता है। प्राणायाम से प्राणो का वशीकार होकर उर्ध्ववाही प्राण ब्रह्माण्ड मे स्थिर होते हैं तब आत्मभावना पूर्वक निश्चल स्थिरता मे आत्म ध्यान होता है।

धर्म-ध्याने प्रबधाभ्यसन समधिक स्थैर्यलब्धावतारे,

प्राणायामोर्म्यबाधाऽऽसन जयहृदय स्थान विज्ञान सारे।

द्वि श्रोतोवाहि सर्वासो ऽऽशय शमन समासन्न ससारपारे,

सिद्धश्चित्त प्रचारे भवति कृतमनि शुक्लयोगोपचारे॥ (योग मार्ग)॥

धर्म ध्यान के धारावाही निरन्तर अभ्यास से उत्कृष्ट स्थिरता (निश्चलता) को धारण करने वाले, प्राणायाम से प्राण-अपान रूपी श्वासोच्छ्वास रूप लहरो के खेद की बाधा से जो रहित हो गया है, आसन-जय से प्राप्त कर लिया है हृदय मे सशय रहित विशिष्ट विज्ञान-सार जिसने, तथा शुभ और अशुभ—पुण्य और पाप रूप द्विश्रोतवाही—दो प्रकार के कर्म रूपी आस्रवजल को प्रवाहित करने वाली मन प्रवृत्ति के शात हो जाने से ससार के तट को पा लिया है जिसने ऐसी चित्त अवस्था प्राप्त कर लेने पर, शुक्ल ध्यान करने मे कृतमति (कृत—सकल्प, या कृत--बुद्धि) योगी समर्थ व सिद्ध होते है।

अर्थात् धर्म ध्यान की दीर्घ काल तक अभ्यास परिपक्वता के बाद जब प्राण मद, आसन-जय, हृदय सशय रहित व विशिष्ट आनन्द व ज्ञान से भरित, शुभ अशुभ कर्मास्रव द्वारो का निरोध होने तथा प्रशात मन की अवस्था होने—आदि रूप अवस्था प्राप्त हो जाए—तथा दृढ सकल्पी योगी को शुक्ल ध्यान की सामर्थ्य होती है। धर्म ध्यान ही शुक्ल ध्यान का आधार तैयार करता है।

बहुत स्पष्ट कर दिया गया है कि भेद पूर्वक "योग-मार्ग" के अनुष्ठान-यम, नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि के ही सम्यक् अनुष्ठान पूर्वक प्रथम धर्म ध्यान तथा तत शुक्ल ध्यान की प्राप्ति होती है।

मुक्ति का स्वरूप :-

मुक्तौ ना पूर्वमाप्य किमपिसुकृतिभिश्चेति तामात्मरूप,
प्राप्ति प्राहु प्रणीताखिल निगमनया केवल ज्ञान भाज. ।
सूक्ष्मा तेषां जिनेन्द्रोदितम तमहितज्ञान साम्राज्यसपत्-,
सपन्ना. सर्वसोत्वोत्पल विपिनमुदे सोमेदेवाश्च साक्षात् ।।

भाग्यशाली पुरुषो को मुक्ति मे कुछ भी नवीन गुण आत्मा मे प्राप्त नही होते, आत्मा का जो शुद्ध स्वरूप है, उसकी प्राप्ति हो जाना ही मुक्ति है । इस प्रकार द्रव्यार्थिक पर्यायार्थिक नयो का कथन करने वाले केवल ज्ञानी सर्वज्ञ प्रभु कहते हैं ।

जो भगवान् जिनेन्द्र के उपदेश से महिमा वाले ज्ञान-साम्राज्य की सपदा से सयुक्त है, जो समस्त प्राणी रूप कमल वन को प्रफुल्लित करने के लिये साक्षात् चन्द्रमा है—उनको सूक्ष्म अमूर्तिक मुक्ति के स्वरुप की प्राप्ति होती है । स्व स्वभाव मयी दर्शन ज्ञान आदि अनन्तानन्त गुण सम्पदा का, अनादि काल से उसके आच्छादक ज्ञानावरणादि कर्मो के आवरण के हट जाने से, इनसे मुक्त हो जाने पर, प्रकट हो जाना, यह ही मुक्ति का स्वरुप है ।

ऐसे भगवान वृषभेश्वर हिरण्यगर्भ प्रभु के "योग - मार्ग" का वर्णन "योग - मार्ग" में गुण गरिमा से व योगेश्वर्य से विभूषित अगाध विद्वता के धारी आ० सोमदेव ने वर्णन किया है ।

सर्वज्ञ अन्तरंग योग विज्ञान की कुछ विशेषताए और उपनिषद् ज्ञान से समानता तथा असमानताएं—

इस योग अनुशीलन मे हमने भगवान वृषभेश्वर हिरण्यगर्भ व हरिस्वरुप प्रभु ("वृषभो हरि"—श्री मद्भागवत) के "योग - मार्ग" मे योग के उत्स, प्रमाणिकता, प्राचीनता, उपनिषदो मे उसका अगीकार करने व महर्षि श्वेताश्वतर द्वारा भगवान हिरण्यगर्भ के सकल व निष्कल स्वरुपो का ध्येय रूप को ग्रहण करने व इन हिरण्यगर्भ ईश्वर व देव के वाचक ओंकार प्रणव के उपदेश देने आदि का अध्ययन दिया है । उपनिषदो मे ऋषियो ने उस हिरण्यगर्भ प्रभु (देव) को रूपक प्रतीकों से सजाया है । इन ही प्रतीको मे सूर्य भी एक प्रतीक है । यह सूर्य परमब्रह्म, परम - आत्मा का ही प्रतीक है । इसे ही केवलज्ञान - भास्कर जैनो ने कहा है । इसे ही गायत्री मत्र मे सविता रूप से लिया गया है । सूर्य का रथ उषा काल मे उदित होता क्षितिज मे ऊँचा और ऊँचा मध्यान्हकाल तक चलता चला जाता है — उसकी किरण प्रखरता (अभिव्यक्ति) उत्तरोत्तर विवर्धमान रहती है । जैन योग मे केवल स्वरुप आत्म - सूर्य ज्ञान - क्षितिज मे उत्तरोतर ऊँचे आरोहण की प्रेरणाए हे ।

जैन योग और उपनिषद् योग मे मूलभूत एकता अभिव्यक्ति की ही है । उपनिषद् ने प्राचीन योग धर्मसे अभिव्यक्ति को तो प्राप्त किया — मगर फिर भी भिन्नता जोरही है वह है अभिव्यक्तियो के

(योग मार्ग-४०)

पार केन्द्रस्थ अपरिणामी नित्य शाश्वत तत्व पर प्रमुखता तथा गौणता प्रदान करने की । पर्याय को अस्वीकार करके भी औपनिषदीक (वैदिक) ऋषिगण अभिव्यक्तियो पर आकर रुक गये । पर्याय को स्वीकार करके भी जैन–योग मे अर्हत् पुरुष अभिव्यक्तियो के पार नित्य अपरिणामी तत्व को प्रमुखता दे रहे है । यथार्थ मे यह एक अनुपम चमत्कारिक ही बात है ।

सत्य दर्शन की विद्या ही मूल बात है । अनेकात रूप से सत्ता को देखकर जैन न पर्याय पर रुके है, न पर्याय को उन्होने अस्वीकार किया, वे तो उसे लेते हुए केन्द्रस्थ सत्य पर ही पहुँच गये है । तमाम अनुभव पर्याय स्तर पर पर्याय से ही हैं—पर पर्याय पर लक्ष्य से नही, पूर्ण द्रव्य (आत्मा) पर ही लक्ष से वे आत्मा-केन्द्रस्थ हुए और केन्द्र-सत्य का ही अनुभव किया है ।

जैसे दिन के प्रकाश मे आख ही सब कुछ देखती है और इस प्रकाश का मूल सूर्य है-वैसा ही ज्ञान-जगत् मे आत्मा स्वय ज्ञान-सूर्य है और वह स्वय ही वास्तविक सत्य रूप स्वस्वरूप देखती है । वह विभ्रम से ही विपरीत निकृष्ट ज्ञान स्थिति को प्राप्त होती है । आत्मा न मात्र ज्ञान है, न ज्ञेय मात्र ही, यद्यपि वह इन दोनो का नाथ है—वह ज्ञायक, ज्ञान और ज्ञेय की अखड त्रिपुटी है । आत्मा ही वास्तविक चैतन्य अस्तित्व (प्राण या जीवन) सत्ता और सार का कारण है । यद्यपि वह मात्र अस्तित्व नही है वह उस अस्तित्व से परे भी बहुत कुछ है, वह है ऐसा रूप जो स्वय प्रकाश है, स्वत प्रकाश है और उसका रूप ही प्रकाश है, अनन्त गुण व पर्याय है । इसीलिये छान्दोग्योपनिषद ने" आदित्यो ब्रहम" कहा । जैन इसे आदित्य वर्ण कह कर स्मरण करते है, ज्ञान-सूर्य, ज्ञाता, ज्ञान व ज्ञेय का अभिन्न अखण्ड स्वरुप—ऐसा ज्ञान रूप कहते हैं ।

तज्जयति परं ज्योति समं समस्तैरनन्तपर्यायै ।
दपर्णतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र ।।

वह परम ज्योति —परम ज्ञान रूप शुद्ध चेतना तत्व जयवत है— जिसमे दर्पण तल के समान सपूर्ण ज्ञेय पदार्थो का समूह त्रिकाल अनन्त पर्यायो सहित प्रतिबिम्बित हो जाता है ।

स्व क्या है ? इस चिन्तन से ही जीव आत्माभिमुख होता है । ये ही जैनो का मार्ग है—योग का मार्ग है, मोक्ष का मार्ग है । आत्मा ही स्वय का निवास है, स्वय ही अपना धाम है, तत्व है । मानव को आत्म-दर्शन (ब्रहम-दर्शन) होना आवश्यक है । क्योकि यह उस प्रकाश का ज्ञान है जिससे सब ही ज्ञेय प्रकाशित होते हैं और स्वय भी प्रकाशित होता है ।

सब प्राणियो मे वही "एक"—निर्मल आत्मा है । सत्य ही वही सब मे निवास करता है । वह स्थूल मे वाहयात्मा है, सूक्ष्म मे अन्तरात्मा (ईश्वर) है और परम स्वरूप मे वही परम (विशुद्ध-तम) परम-आत्मा है । आत्मा ही सिद्ध व प्रभु है—वह ही जैनो का तत्त्वमसि ज्ञान है ।

---

1 (पुरुषार्थ सि०-१)

तत् का यह ही स्वरूा है जो अर्हत् होकर प्रकट होता है। आत्मा मे आत्मा ही सर्वत्र, सर्व प्रदेश गत व सर्व-गुणगत वही है अर्थात् एक मात्र वही आा- अपने मे परम शुद्ध, शिव व सुन्दर है।

यह आत्मा अनन्त रूपो मे भी वह ही है। ज्ञान स्वरुपा "धी" (बुद्धि) स्वय आत्मा की ही ज्ञान-पर्याय है, वह आत्मा से भिन्न नही है। वह निर्विकार गुण रुप से आत्मा ही है। गुण और गुणी की अभिन्नता है। यह ज्ञान पर्याय अप्रतिहत प्रवाहित रहता है। यह अलग वात हैं कि इसका प्रकाश मदतम भी दृष्टिगत होता है और इस तारतमत्ता का कारण कर्मावरण है। पर वह चाहे कितनी ही मद रहे, यह रहता ही है, कभी उसका पूर्ण अभाव या क्षय नही होता—यह नष्ट नहीं होता। यह सब प्राणियो मे ही है। यह ज्ञान पर्याय या ज्ञान का प्रकाश प्रत्येक ही आत्मा (ब्रह्म) मे है। इसके "एक" निर्मल स्वरूप मे सब ही विभिन्नताएँ, अनेकताएँ – गुणस्थान व मार्गणा स्थान – समाहित है अथवा वहाँ तिरोहित है। इस दर्शन मे आत्मायें किसी अमानवीय कल्पित शक्ति से नही आई। प्रत्येक आत्मा स्वाधीन अस्तित्व मय व अलग–अलग है, अनादि है, अव्यय है। देहस्थ जीव की तात्कालिक पर्याय अपने परम स्वरूप स अनादि काल से विमुख रही है अत दु.खी है। उस स्वरूप से मिल कर ही निराकुल रह सकती है—क्योकि वह विशुद्ध स्वरुप ही उसका विश्राम स्थल है—निज धाम है। प्रत्येक जीवात्मा मे यही अटूट स्व निष्ठा एव आस्था होनी है। मानव का स्वरूप उसी परम सत्ता स्वरूप से, जो अपने से भिन्न नही, जुड कर नित्य निश्चल हो जाता है। ग्रीक प्रदेश के प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो ने भी इसी प्रकार स्वतत्र व अलग – अलग आत्माओ मे विश्वास प्रकट किया है और अतः यह उसे सर्वज्ञ जैन सिद्धान्त से ही जोडता है। जैन आत्मा को अपने अज्ञान से मोह ससार का भव – भ्रमण का कर्ता (सृजक) मानते है — और इस वाह्य-ससार लोक की स्थिति को स्वतंत्र व स्वाधीन तथा अनादि कहते हैं। कोई भिन्नात्मा ईश्वर या ब्रह्म इसका रचयिता या नियामक नही है। जीव या जीवन आदि से अजन्मा है और उसके उत्पन्न होने की वात तो मात्र उसके देह — पर्याय के उत्पन्न होने की बात है। पर्यायो के रहते भी वह आत्मा पर्यायो से परे अभिव्यक्तियो से परे — स्वय सवेद्य है। यहाँ स्रष्टा की कल्पना नही, अस्तित्व की, अस्मिता की ही मान्यता है— क्योकि स्वय जीवन स्वय-भू है और परम आत्मा उसका चरम विकास। और निर्मल-अस्तित्व का भोग ही परम समाधि – मुक्ति का हेतु है।

इस योग मे जो अग्नि, ज्योति, सविता की चर्चा है, यह मात्र अभिव्यक्ति या पर्याय की ही चर्चा है। ये सब उस ही परम सत्ता की ही विविध उत्तरोत्तर अभिव्यक्तियाँ है। जो विभावमय नही, स्वभाव मय केवल ज्ञान सूर्य मात्र है, वो ही विशेष परम चैतन्य सत्ता है और प्रत्येक आत्मा की सत् - सत्ता तथा विशेष (केवल ज्ञान) अभिव्यक्ति ही परम चरम उच्च सत्ता है। प्रत्येक आत्मा इसी को प्रकाशने की, इसकी ही अभिव्यक्ति करने की प्रतीक्षा मे है। इस परम सत्ता का ज्ञान इन्द्रिय- स्तर से नही अन्तर प्रज्ञा से होता है। मनन मन की क्रिया है – वह शुद्ध रूप मे आत्मा की ही क्रिया है। विचार

मथन व मनन चिंतन क्रिया (व्यवहार) से आवरण क्षीण होता है। परा विद्या विचार-ज्ञान की विद्या है उससे आत्मा विभाव मन से अतीत होता है। मन से अतीत निर्विकल्प होते ही सहज स्वभाव ज्ञान का प्रकाश होता है, प्रकाश अभिव्यक्ति के शुद्ध होने पर, उसमे अभेद का भाव स्थिर होना भी ज्ञान की ही क्रिया है अर्थात् ज्ञान ही व्यग्रता से एकाग्रता की ओर गतिमान होकर अभेद हो जाता है, च्युति रहित निश्चय हो जाता है।

इस परम आत्म — स्वरूप की प्राप्ति वाणी या भाषा या प्रतीको से नही होती। वचन पुद्गल है, पुद्गल की रुचि से स्वरूप की प्राप्ति नही, परन्तु भाव वचन के द्वारा जो उपादेय वस्तु है, उसका अनुभव करने पर ही उसकी प्राप्ति होती है। उस परम की प्राप्ति के लिए ज्ञान की, शब्द व अर्थ (अभिव्यक्ति) से परे बोध की, पूर्ण ज्ञान की आवश्यकता है। अस्तित्व के ज्ञान से आस्था पर आस्था से स्व-अनुरक्ति पर, स्व-अनुरक्ति से चारित्र एव ज्ञान पर जीवात्मा पहुँचता है। ऐसे ही अनुक्रम से उस ज्ञान मे पूर्ण स्थिरता व रमण होता है। अत यह दर्शन ज्ञान और चारित्र का मार्ग है। इसे ही मोक्ष का मार्ग कहा है, योग का मार्ग कहा है।

मोह व ममता मय अह को जैन विभाव कहते हैं। यह अस्मिता आत्मा से भिन्न नही है, विभाव व स्वभाव आत्मा मे ही है। उपनिषद् इस अह को ब्रह्म से भिन्न मानते है— जैन इसे निर्मल भाव रूप नही मानते। आत्मा का वर्णन जैनो व उपनिषद् मे समान ही है— दोनो ही उसको अज, अव्यय, अनश्वर अमरणशील मानते है। आत्मा की विशुद्धि तथा उत्थान के लिये उपनिषद् ने भी जैनो के समान ही साधन माने हैं। उपनिषद् मे आत्मा के तीन गुणो, इच्छा, वासना और विवेक को प्रकृति की सज्ञा दी है, और उन्हे सत्, रज और तम कहा है। पर जैनो ने इस अर्थ मे गुण को नही लिया है। गुण को आत्मिक गुण (Qualities) अर्थ मे ग्रहण किया है। दर्शन, ज्ञान और चारित्र रूप गुणो को ग्रहण किया है। जैनो की सम्पूर्ण मान्यता, विशुद्ध—चैतन्य सत्ता की अनात्म सत्ता से भिन्न होने की है। वस्तुऐं चाहे चैतन्य हो या अनात्म, उनकी पर्यायें उनकी ही अश है। और जो अ श अ शी के निर्मल अभेद रूप से कालातित प्रवाहित है, वही केन्द्र रूप मे नित्य शाश्वत् अपरिणामी है, परम सत्ता है, परम सत्य है। चैतन्य परम सत्ता शब्द स्थितियो से, ससार की सब उपाधियो से, परिच्छिन्नताओ से, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, व भव से परे है। इस प्रकार चैतन्य व अनात्म—दो परम सत्ताए विश्व मे हैं।

यह परम चैतन्य आत्मा सत्ता परम शान्ति मे, निःशब्द शून्य चित्त होने पर व प्राकृत तत्वो की शून्यता मय निर्मल परा-स्थिति मे ही जाना जाता है। यह सब लौकिक तत्वो से अतीत निर्मल गगन वत् स्थिति है। यह ही जैनो का शून्य है, अन्तरिक्ष है। यह ही बौद्धो का ख-मण्डल है। सर्व श्रमण सस्कृति मे यह ही ख (शून्य, अन्तरिक्ष) मण्डल परम प्राप्तव्य का द्वार है।

धर्म और शुक्ल ध्यानो मे क्रमश. सकल जिन अर्हंतपरमेश्वर स्वरूप व निष्कल शुद्ध आत्मा स्वरूप ध्येय हैं। ये ही आत्मा के साक्षात्कार के सोपान हैं, क्योकि इनमे जिन स्वरूप व निज आत्मा

के ही साक्षात्कार है। महर्षि श्वेताश्वतर ने अपने उपनिषद् मे हिरण्यगर्भ-प्रभु को सगुण ध्येय रूप स्वीकार किया है—इस की पूर्व मे विस्तार से विवेचना कर चुके है। ध्यान के विशेष २ चितन अध्ययन व अनुशीलन के लिए हमारा "ध्यानानुचितन" द्रष्टव्य है।

धर्म ध्यान के भेदो मे "पिण्ड", "पद" व "रूप" ध्यानो मे आत्मा के भावो की त्रिविध निर्मलता से, निर्मल पर्याय—अभिव्यक्तियो का उद्भव सभव होता है। मूर्ति व मन्त्र समान तत्व है। मूर्ति भी मत्र–अभिषिक्त एव मत्र से प्राण-सजीवित या प्रतिष्ठित होकर ही पूज्य होती है। मत्र स्वय मानव के मनन का विचार का, धन–स्वरूप है। अत मानव अपने ही निर्मल पवित्र भाव का आराधक है, यानी शुद्धतम विचार का अत अपने शुद्धतम चिदश का ध्याता है और यह उसके भावानुसार तथा विचारानुसार ही अभिव्यक्ति को प्राप्त करता है। इसीलिये भगवान् आत्मा ज्ञान-भावग्राही है और ज्ञान भाव से अभिव्यक्त होते है। ऐसी दृष्टि मे जो आत्मा की विष्णु, शिव, सीताराम या राधाकृष्ण या पार्वती आदि विविध रूप सज्जित करके आराधना करता है वह अपने ही कल्पित भावो की आराधना करता है। इनमे एक-एक कल्पना—दृष्टि को लेकर तत्प्रकार के भाव की सिद्धि का प्रयोजन है। मगर यह विचारणीय है कि आत्म-योग या योग-विज्ञान साधनाओ मे एक-एक भावदृष्टियो का कितना योगदान सभव है। योग दर्शन मे पतजलि ने भी योग के अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति मे पर-वैराग्य की ही बहुत ऊची भूमिका मानी है। उसी पर-वैराग्य से मोक्ष मूलक, कैवल्य मूलक असम्प्रज्ञात की प्राप्ति कही है। योग दर्शनकार की इस योगदृष्टि से समीचीन अन्त-मूल्याकन करे कि इन देवी-देव-प्रतिमाओ के दर्शन-पूजन से अलौकिक वैराग्य तथा मोक्ष-मूलक अर्थ तथा भाव गृहीत होता है या नही। ऐसे अनेक रूप-मय देवो की पृष्ठ भूमि मे जो एक परम-तत्व, परम आत्मा की सत्ता है, निश्चित भावना है, वही यदि गृहीत की जा सके तो ही परमार्थ के, आत्म-चारित्र के इच्छुक साधक को कुछ परमार्थ ग्रहण हो। अतः प्रशम रसमय वीतराग निराकुल प्रशात निर्विकार जो आत्मा का स्वरूप है वह ही मानव के परमार्थ कैवल्य के निकट से निकट ही ऐसा है जो साधक की सिद्धि के अर्थ का अभिव्यजक है। अत· ही ऐसे प्रत्यक्ष-स्वरूप के साक्षात्कार के लिये ही श्वेताश्वतरोपनिषद् ने भी वीतराग सकल देव भगवान् हिरण्यगर्भ (आदिनाथ) को व निकल स्वरूप आत्मा को परग ध्येयनिर्णीत किया है, जिसे हम पूर्व मे स्पष्ट कर चुके है। यह साधको को विशेष कर अजैन व वैदिक साधको के लिये परम विचारणीय ही है। योग साधना मे सुदृष्टि ही बडी बात है। गलत दृष्टि से ससार के भव मे उद्भव है, और सम्यक् दृष्टि से ससार व भव का सहार है। स्वभाव प्राप्ति तथा विभाव त्याग के प्रयोजन से दुःखेष्वनुद्विग्नमना सुखेषुविगतस्पृहः कहकर एक दार्शनिक दृष्टि दी गई है। इसी का सार यह है कि मात्र वीतरागता ही शिव–स्वरूप है और शिव–स्वरूप को उद्घाटित कर देने मे हेतु है। वीतरागता मात्र ज्ञायक रहने मे ही है—अत ज्ञायक मात्र रहना ही शिवत्व है।

तीन भुवन मे सार वीतराम विज्ञानता।
शिव स्वरूप शिवकार, नमहुं त्रियोग संभारि के ॥

मोह के सर्वथा स्थायी रूप मे नष्ट हो जाने पर ही सपूर्ण सहज केवल ज्ञान प्रतिफलित होता है। वह ज्ञान ही निर्मल अक्षय ज्ञान है। इसी मे सर्वज्ञता है। वीतरागता और सर्वज्ञता की प्राप्ति होने से स्वरूप मे समवस्थिति हो जाती है और वही मोक्ष का स्वरूप है। भगवान् वृषभेश्वर की इस मोक्ष मार्ग प्रणाली मे निश्चय और व्यवहार रूप दो कथन शैली हैं। निश्चय रूप से आत्मा अनादि से ही मुक्त द्रव्य ही है। बधन का भोग व कथन व्यवहार से है। अत मोक्ष भी व्यवहार से ही है। व्यवहार रूप साधना अभ्यासो के माध्यम से वह ससार स्थिति से, सकुचित अल्प भावो से ऊपर उठकर निश्चय मे सुस्थिर होता है। जीव तभी आत्मिक सुख को प्राप्त कर लेता हैं। व्यवहार सक्रियता है, तो निश्चय निष्क्रियता है। व्यवहार ध्यान एव एकाग्रता की क्रिया है, तो निश्चय ज्ञान और समाधि की प्रशान्ति है। ऐसे सक्रिय और निष्क्रिय तत्व जब एक केन्द्र बिन्दु पर सुस्थिर हो जाए, तो परम समता के आलोक को उदित करता भगवान् अर्हत् परमेश्वर स्वरूप आत्मा ही परिपूर्ण निर्मलता को लिए जगमगा जाता है। शुद्ध अर्हत् स्वरूप आत्मा से ही आत्मा का अनन्त अवर्णनीय आनन्द रूप अनुभूत होता है। इसीलिए भगवान् अर्हत् तीर्थंकर के उपदेश तथा सर्वज्ञोक्त तत्त्व-मनन से जीव को आत्मा का निश्चय और निर्णय प्राप्त होता हे। तत्पश्चात् पुरुषार्थ जागृत होकर श्रद्धा गुण के प्रसार सहित योगानुष्ठान या धर्माचरण रूप चारित्र का साधन होता है। कैवल्य तत्त्व रूप आत्म-तत्त्व का चिन्तन, मनन, स्मरण, ध्यान, उपासना और रमण आवश्यक है। पहले होती है स्वरूप-प्रतीति। इसके बाद ही ध्यान द्वारा निर्मलता मे सक्रमण तथा आत्म-स्थिरता क्रमशः होते हैं। ध्यान समाधि के द्वारा अथवा ज्ञान धारणा द्वारा व उपासना द्वारा स्वरूपानुभूति होने से क्षीण-मोह व क्षीण कषाय होकर वीतराम सर्वज्ञता का उद्घाटन होता है, जो कैवल्य मे पूर्ण सर्वगुणाकीर्ण अवस्था मे प्रस्थापित करती है। कहा है—

"गुण अनन्त के रस सबै, अनुभव रस के माहि।"

तथा—

"जैसो शिव खेत बसै, तैसो ब्रह्म यहा बसै।
यहाँ वहाँ फेर नाही, देखिए विचार के ॥

इसीलिये उद्बोधन है—

चिद् राय गुण सुनो, सुनो प्रशस्त गिरा।
समस्त तज विभाव, हो स्वकीय मे थिरा ॥

हे चिद्राय जीवात्मा! सुनो। इस बोधि, मुक्ति और आनन्द के मार्ग की प्रशस्त गुरु गिरा (वाणी) को सुनो। सब विकल्पो को छोड़कर अपने निज महान् तत्व-स्वरूप मे ही आकर सुस्थिर हो जाओ।

सब के पल्ले लाल, लाल बिना कोई नहीं ।
याते भयो कगाल, गाठ खोल देखी नहीं ।।

सार सर्वस्व तत्त्व यह है कि जीवात्मा आप अपने मे अपने शुद्ध निर्मल अखण्ड स्वभाव मे सुस्थिर हो जाए । इस सार-ज्ञान मे जीवात्मा को अनादि काल से अपने पच परावर्तन रूप भव-भ्रमण, अनात्म द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव और भव की अनन्त अभिव्यक्तियो मे इनके अनन्त खण्ड भावो मे घूमते रहने के दुश्चक्रो से छुटकारा मिलता है और निज प्रशान्त ज्ञानरस का पान होता है । पर से भिन्नता करके निर्मल स्व मे ही स्थिरता करनी होगी । स्व की प्रतीति, स्व का ज्ञान, तथा स्व मे ही रमण—ये ही यथार्थ मुक्ति एव स्वातन्त्र्य का मार्ग है ।

आत्मा का द्रव्य. क्षेत्र, काल, भाव

(१) द्रव्य —

आत्मा का निजी द्रव्य सत् चित् आनन्द रूप, अनन्त अनन्त गुणो का एकत्व, व राशि-पिड है और इनमे निर्मल ज्ञान और चैतन्यता ही प्रमुख गुण है, जो अनन्त और अखण्ड है ।

जीव अपने द्रव्य मे अभिन्न न रह कर जब अपने से बाहर,—पर, द्रव्य (अनात्म प्रकृति व उसके जड भावो) मे रागाक्रान्त होकर सक्रमण करता है, तो वह अपने ही चैतन्य व ज्ञानस्वरूप द्रव्य को आवृत्त करके अपेक्षतया जड, प्रमादी और अज्ञानी होता जाता है । पर-द्रव्य से इस प्रकार एकत्व भाव से खडित होकर जीव कर्म-कालिमा से आच्छन्न हो जाता है । तो जीव अपने ही अखण्ड द्रव्य मे निश्चल रहे तो उसे पर-द्रव्य मे परावर्तन का दुःख क्यो कर होगा ? स्व द्रव्य मे ही जीव मे आनन्द का नृत्य है । पर-स्वाग को लेकर रहना ही जीव का दुःख है । मैं तो एक हूँ, अनग हूँ, सर्व पर भाव से मुक्त हूँ । ऐसा इस जीवात्मा का स्व द्रव्य है ।

(2) क्षेत्र —

कुल क्षेत्र रूप विश्व का माप त्रिलोक है । यह अधो लोक रूप नरक भूमिया, मध्य लोक रूप पृथ्वी के प्रदेश, ऊर्ध्वलोक रूप स्वर्ग भूमिया तथा इनसे उत्तर सिद्ध शुद्ध क्षेत्र है । वस्तु मात्र की लौकिक कल्पना,—अच्छी, बुरी या मिश्र है तथा इनमे परे अलौकिक ही होती है । ऐसे ही नरक स्वर्ग और पृथ्वी रूप मे लौकिक क्षेत्र है और इनसे परे अलौकिक सिद्ध क्षेत्र है । लौकिक क्षेत्र शुभ, अशुभ और मिश्र रूप हैं— इन्हें ही पुण्य के लोक स्वर्ग, पाप के लोक नरक तथा पुण्य व पाप के मिश्र लोक पृथ्वी कहा गया है । पृथ्वी का क्षेत्र मध्यवर्ती क्षेत्र होने से लौकिक क्षेत्र मे अपनी कुछ ऐसी सभावना रखता है कि यहा से अलौकिक क्षेत्र के साथ सबध जुडता है । जब मानव स्वर्ग के अति भौतिक सुखो से, पृथ्वी के भौतिक सुखो से विरक्त होकर तथा नरक के अति दुःखो से तथा पृथ्वी के

दु खो से त्रस्त व भयभीत होकर, अक्षय सुख के क्षेत्र की तलाश करता है, उसका खोजी होता है, तब ही वह भौतिक व अतिभौतिक सुखो व स्थितियो के तथा पार्थिव सुख दु खो के आकर्षण-विकर्षणो के जाल को तोडकर पार्थिव राग व मोह के क्षेत्रो से उन्मुक्त होकर शुद्ध सिद्ध क्षेत्र के ज्ञान व अक्षय सुख के महा-भाव-क्षेत्र का वासी बनता है जो स्वय उसका ही क्षेत्र है। ऐसे वह पर-क्षेत्र के आकर्षण से उन्मुक्त होकर, फिर पर-क्षेत्र मे सक्रमण करने के दोष का दण्ड भागी नही बनता।

इस पृथ्वी का स्वरूप गोलाकार है, और समस्त विश्व की तुलना मे एक बिन्दु रूप है। इस गोल बिन्दु का आकर्षण टूटता है बिन्दु का ही वेध करके। प्राण चेतना पिंड शरीर मे पार्थिय मध्याकर्षण को तोडकर — और वहाँ से अपनी रागात्मक प्रधानता को समेट कर 'मस्तिष्क रूपी ब्रह्माण्ड मे प्रवेश करने के लिये अपार ज्योतिर्बिन्दु रूप मे अपने को परिणत कर लेती है और फिर उस ज्योतिर्बिन्दु के स्वरूप - क्षेत्र का आज्ञा - पद्म मे वेध कर देती है, तब वह ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्डातिवर्त्ती क्षेत्रो मे स्व असीम गति तथा ज्ञान को प्राप्त कर सकने मे योग्य हो जाती है, तब पार्थिव अनात्म - तत्वो के कारागृह से मुक्ति भी हो जाती है।

पिंड मे ससीम स्थूल रूप प्राण पिंड बिन्दु का वेध करके सूक्ष्म व विभु रूप होने के योग्य होता है। व्यष्टि प्राण समष्टि प्राण मे अपना रूपान्तरण करके ही ऐसा होता है। जब पिंड से निकलकर मस्तिष्क के समष्टि (ब्रह्माण्ड) मे प्राण एकाग्र होते हैं तभी साधक के प्राण भगवान् हिरण्यगर्भ आदिनाथ के ही नाम पर हिरण्यगर्भ प्राण सज्ञा प्राप्त करते है क्योकि मस्तिष्कीय ब्रह्माण्ड के ब्रह्म-समष्टि मे ऐसा एकाग्र हुआ प्राण ही परमेश्वर माना गया है।

नाभिस्कधाद्विनिष्क्रान्त हृत्पद्मोदरमध्यगम्।
द्वादशान्ते सुविश्रान्तं तज्ज्ञेय परमेश्वरम्॥[1]

अर्थ — नाभि-प्रदेश से निकला हुआ तथा हृदय-कमल मे से होकर तालुरन्ध्र से गया हुआ प्राण पवन परमेश्वर है। तालुरन्ध्र मे ही जाने पर वह प्राण फिर स्वत ही या तो आज्ञा पद्म मे होकर अथवा सीधे ही सहस्त्रार के महा कमल मे चला जाता है। पिंड कारागार से मुक्त हुआ ऐसा प्राण ही फिर विश्वाकार पुरुपाकार स्वरूप मे उस सहस्त्रार महाकमल पर अपना साक्षात्कार करता है। विश्व का स्वरूप भी खडे हुए पुरुषाकृति का है। ब्रह्माड मे पहुँचा प्राण पुरुपाकार रूप मे हो जाता है। वह पुरुपाकार-प्राण विभु विराट अनन्त ज्ञान मय पुरुषकारता को ही स्व तन्मयता मे प्राप्त होकर, पर-क्षेत्र से कालातर मे मुक्त होकर विश्वोत्तीर्ण व अलौकिक हो जाता है। अब वह कभी पर क्षेत्र से व उसके भावो से खडित नहीं होगा क्योकि वह स्व क्षेत्र मे निश्चल प्रतिष्ठित हो गया है। उसका पर-क्षेत्र परावर्तन समाप्त हो जाता है। असख्यात निज-अवगाहना प्रमाण ही इस सिद्ध जीवात्मा का स्व क्षेत्र हो जाता है।

---

1 (ज्ञानार्णव –29/7)

(3) काल —

काल-अनन्त है। समस्त द्रव्य व वस्तु इसी मे वर्तना करते है। अत यह अनन्त और ध्रुव है। इसमे ही उत्पाद व व्यय है। और यह काल उत्पाद व्यय को लेकर भी ध्रुव व अनन्त है। जो उत्पाद है वह वर्तमान तात्कालिक है। जो व्यय है वह भूत है, अतीत है। भविष्यत् तो सदा ही अनुत्पन्न है। जो ध्रुव समय मे से उत्पन्न है, वही वर्तमान है, पर प्रतिक्षण वह वर्तमान भी अतीत् मे चला जाता है। समय अनन्त ध्रुव है, और उसी मे वर्तमान अतीत होकर सिमटता रहता है और उसी मे से वर्तमान उत्पन्न होता रहता है। पर अतीत व्यय होकर भी अपने सस्कार वर्तमान के लिए छोड जाता है। ऐसे उत्पाद (वर्तमान) और व्यय (अतीत) रूप पर्यायो सहित अनन्त ध्रौव्य काल,— आत्मा एक एव अखण्ड अनादि से ही है।

जैसा भी हमने अपना जीवन अतीत मे जिया है, उससे वर्तमान प्रभावित है और वर्तमान मे जैसा जीयेगे, वह जब अतीत होगा तो वह भी आने वाले वर्तमान मे जीवन की अच्छाई या बुराई को बनायेगा या बिगाडेगा। आज का अच्छा जीवन आगे भी अपना फल अच्छा ही देगा। कारण से कार्य और कार्य से कार्य-फल इस प्रकार अनादि कार्य कारण प्रवाह है। जीवात्मा व अध्यवसाय कर्मावरण को बनाते है और कर्मावरण की प्रकृति और अनुभागादि कर्म-विपाक के रूप मे जीव की अभिव्यक्ति रूप पर्याय प्रवाह को बराबर प्रभावित करते हैं। जीवन इस प्रकार वर्तमान और अतीत, अतीत और वर्तमान—इन ही दो सिरो पर अनादि से घूमता रहा है, पर इस जीव ने कभी अपने ध्रौव्य अनन्त समय का परिचय नही किया। इसने कभी अपने अखण्ड काल का स्मरण भी नही किया। तीर्थंकर प्रभु जीवो को उनके अतीत जीवन की कुछ झाकिया दिखा कर उन्हे समझाते रहे है कि तुम अतीत व वर्तमान मे रहकर भी वस्तुत तुम तो एक अमर व अखण्ड ज्ञान मात्र वस्तु हो, न वस्तुतः उत्पन्न होते—न व्यय होते—मात्र देह पर्याय ही बदलती रही है और तुम्हारे भाव-परिणमन ही होते रहे है। पर-द्रव्यो के परिणमन—विलास मे,—प्रतिक्षण नाम और रूप को लेकर जो सृष्टि बनती व बिगडती है, उसमे ही एकत्व करने से तुम खण्ड काल मे, वर्तमान व अतीत रूप पर्यायो मे बधे अपने को अनित्य प्रतीत करते रहे हो। पर अपने ध्रुव स्वरूप मे अब स्थिरता करो तो तुम न उत्पाद (वर्तमान), न व्यय (अतीत) रूप अभिव्यक्ति मात्र हो, तुम तो इनसे तटस्थ नित्य स्व स्वरूप शुद्ध निर्मल और सुन्दर ध्रुव समय के सार ही हो। अनित्य से दृष्टि हटाकर स्व नित्य मे स्थिर हो जाओ।

आत्मा का एकत्व स्वरूप

जीवो चरित्त दंसण णाण ट्ठिउ तं हि ससमयं जाण।
पुग्गल कम्म देस सट्ठिय च त जाण पर समय ॥[1]

1. (समयसार–२)

जो जीव अपने दर्शनज्ञान चारित्र गुणो मे स्थिर हुआ है, उसे ही स्व समय जानो और जो जीव पुद्गल कर्म-प्रदेश मे वर्तन कर रहा है उसे पर—समय जानो।

पौद्गलिक नो कर्म (देह) और द्रव्य-कर्म (कर्मावरण) और भाव-कर्म (सुख-दु खादि) जो कर्म-विपाक के निमित्त से हैं. इनसे अपने को भिन्न जानकर जो अपने दर्शन ज्ञान चारित्र रूप सहज चैतन्य ध्रुव स्वरूप मे स्थिति करता है, वही स्व समय है यानी वही ध्रुव अनन्त अखण्ड स्वरूप के केन्द्र मे विराजमान है। वही अपने निश्चय निर्मल एकत्व मे सुस्थिर है। इस एकत्व के लिए वर्तमान को ध्रुव के प्रति समर्पित कर दो। इस समर्पण मे ध्रुव के लक्ष्य से विशुद्धि का परिणमन स्वत होता जाता है और सत्ता मे वर्तमान कर्मावरण भी निर्जरित होता जाता है।

अपने अनन्त विराट् अनादि चैतन्य स्वभाव को अखण्ड रूप से विचारने तथा लक्ष मे लेने से यह जीवात्मा स्वभाव से ज्ञान-वस्तु मात्र स्वरूप को प्राप्ति हो जाता है। ज्ञान-ज्ञेय और ज्ञाता का अखण्ड वस्तु-मात्र ही यह आत्मा वस्तु है। यह खण्ड खड ज्ञायक, या ज्ञान या ज्ञेय,—ऐसा नही। यह तो मात्र वचन-भेद ही हुआ। "ज्ञान-ज्ञेय-ज्ञातृमद्वस्तु मात्र" ऐसा है, एक और अखण्ड है। अखण्ड है, अत ही यह "परस्पर सुसहत प्रकट शक्ति-चक्र" है और सर्वकाल उद्योतमान है। अखण्ड होने से ही परस्पर घन-ज्ञान प्रदेशमय है। प्रत्येक प्रदेश सर्वज्ञ और सर्वदृष्टा है। सदाकाल ज्ञान वस्तु रहने से यही ध्रुव वस्तु है। अनात्म प्रत्ययो से,—रूप रस गध स्पर्श और शब्द से भी परे तथा सूक्ष्म तथा इनसे भिन्न और विशिष्ट, व इन अनात्म वस्तु सम्बन्ध से होने वाले रागात्मक, मोहात्मक भेद-भावो से व कषायरूप भेदभावो से विवर्जित और पवित्र यह वस्तु है और ऐसी ही पवित्र यह वस्तु साक्षात्कार भी होती है। सर्व विकल्पो से रहित, सर्वनय पक्षो से रहित स्वय निर्विकल्प एक विज्ञान घन स्वभाव रूप होकर समयसार होता है। और वह समयसार रूप अनुभव ही सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान है। आत्मा इनका ही एकत्व स्वरूप है।

दिव्य मणि आत्मा

ऐसी वस्तु को अन्य किस से जाना जाए ? किसी अन्य वस्तु के क्या यह आश्रय है ? यह आप अपने आश्रय है। यह आप अपने से जानी जाती है। अपना ही यह तत्व है। अपनी ही यह वस्तु है, निधि है। इसमे ही स्वय अपना बोध है, मार्ग है. सिद्धि है और मुक्ति है। प्रत्येक आत्मा स्वय आत्म-मणि है, अनुपम और दिव्य मणि है। इस अपूर्व मणि रत्न के दिव्य-अक्षय सदोदित प्रकाश की खोज मे जीवन का समस्त सार,—अमृत रस पाया जाता है और जीव स्वय अमृत घट बन जाता है। "लालन देखन मे गई, मै भी हो गई लाल" विराट् निर्मल स्वरूप के ध्यान और चिंतन मे यह जीवात्मा स्वय आप अपने को अपने अन्तर मे अक्षय सुख धाम के रूप उल्लिसित कर लेता है। यह शुद्ध स्वरूप आत्मा निश्चल आत्मलीन पुरुषो द्वारा स्वय एक रस स्वरूप अनुभव मे आता है।

तीर्थकंरों की विशिष्टध्यान प्रक्रिया

तीर्थंकर पुरुषो की यही टैक्नीक है कि आप अपने को अपने मे देखो। वही परम स्वरूप लुका छुपा है। ज्ञायक ज्ञान स्वरूप आत्मा को, ज्ञान पर्याय को जागृत करके ज्ञान पर्याय द्वारा अन्तर मे आपमे अचल दृष्टि को अग्रसर करके खोजो, और निरीक्षण करो। अचल श्रद्धा से निर्मल दृष्टि को चलाओ। और मात्र देखो ही। अन्तर्दृष्टि को यात्रा कराओ। अपने अन्तर मे निरीक्षण करो। आप अपने को देखो मात्र ही, राग-द्वेष रहित होकर देखो। वीतराग परिणति की यह प्रक्रिया है।

"धीर! स्वात्मानमत्मनि निरूपय"—(ज्ञानार्णव) यह अर्हतो उद्घोष है। इसमे अपने को अपने मे देखने की विशेष प्रक्रिया है। आप अपना अपने मे निरीक्षण, अपने को अपने मे मात्र देखना। इस ध्यान-रहस्य को बौद्धो ने भी स्वीकारा। वे इसे विपस्सना कहते है। पर फिर भी तीर्थकरो के दृस सप्रेक्षा (अन्त त्राटक) ध्यान मे कुछ विशेषताए हे। वे नासिका-अग्र प्राण वायु की गति तथा स्पर्श का अनुभव करते है और प्राण वायु को सूक्ष्म और सम करके मन को स्थिर और वशी बनाते है। उसे फिर देह व देह के वाहर स्वेच्छानुसार भ्रमण तथा विश्राम कराते-कराते लय करते है। दृश्य की अनित्यता को देखकर अनित्य के बोध को प्राप्त करते है। मन की वर्तनशीलता से या दृश्य के प्रत्येक क्षण परिणमन या रूपातरण से वस्तु-मात्र की वर्तनशीलता और अनित्यता को को पहचानने का प्रयत्न करते है, और मात्र दृष्टा रहकर वर्तमान को ही जानने और देखने के प्रयत्न मे मन के राग-द्वेष मोहादि विकारो से शून्य रहने की स्थिति मे आनन्द प्राप्ति से मन की शुद्धि का रहस्य हस्तगत कर लेते हैं। पर सर्वज्ञ प्रक्रिया मे इनके अतिरिक्त जो विशेषता है—वह यह है कि मन से मन को विस्मरण करके, अमन अवस्था प्राप्त करके आत्मा से आत्मा को, यानी ज्ञायक स्वभाव आत्मा से ज्ञान स्वभाव आत्मा को ही देखते है, प्रसिद्ध करते हैं और स्थिरता करते हैं; वहा बौद्धो मे आत्म वस्तु की विचारणा ही नही है। यहा पुरुषाकार व पुरुषका स्वरूप को प्राप्त किया जाता है और अन्य सब को गौण रखते है।

केवल किरणों मय पवित्र स्वरूप में वर्तमान क्षण का सतत समर्पण

वस्तुत तीर्थकरो का वस्तु स्वरूप का यह उद्घोष कि वस्तु-उत्पाद व्यय सहित ध्रौव्य है बडा गहन और महत्वपूर्ण और सार्थक हे। अतीत रूप स्मृति शृ खलाये और अनागत रूप स्वप्न या वासनायें,—इनसे अपने को बचाकर ही साधक वर्तमान को आत्म ध्यान मे, आत्मा चिंतन मे स्थिर करे। अतीत व्यय हो चुका और अनागत (भविष्य) अनुत्पन्न है। अन वर्तमान ही मानव के लिये स्थिरता का क्षण है। इस क्षण के ही ध्यान तथा चिंतन मे अधिकतम और प्रकृष्टतम उपयोग करना मानव के हाथ मे है। जीवन के प्राप्तव्य को प्राप्त करने का रहस्य इसी मे हैं। वर्तमान क्षण मे पलायन को प्रश्रय मत दो, जीवन से भागो नही। इसी क्षण को लेकर अपने मे जगे रहो।

वर्तमान क्षण को अपने आप मे पूर्णत समर्पित करते रहो। सर्व विषमताए व विकारो को, जो मात्र सयोगी हैं विस्मरण करके, अपने अन्तर मे अपने को समर्पित कर दो और सम रूप से,—समता और शीतल भाव से, अनुद्विग्न और अडोल भाव से स्थिर रहो। यह मात्र अपने मन को निर्मल और अचल करने या अपने बुद्धि को स्थिर और सम करने की ही प्रविधि नही है। आत्मा को सहज ज्ञान भाव, चैतन्य स्वभाव को जगाओ। दृश्यो से हटकर अपने दृष्टा और ज्ञायक स्वभाव पर ही जमे रहो। कालान्तर मे जीवात्मा सव अनात्म वस्तु और अचिद् अपरम भावो को उल्लघन करता हुआ, स्व आत्म-प्रकाश, परम चैतन्य ज्योति, व तेजो पिंड केवल ज्ञान भास्कर को, जो अन्तर सर्व दिशाओ को प्रकाशित करने वाला है अपनी केवल किरणो सहित निर्मल पवित्र स्वरूप साक्षात्कार को प्राप्त हो जाएगा। अचिद् वस्तु और भावो से लौटने के, अतिक्रमण करने के काल मे नाना दृश्यो तथा भावो की समक्षता साधक को ध्यान मे होती है। इसी काल मे अन्त स्थित अनादिकाल की विभाव ग्रन्थिया भी खुलती हैं, और कर्म-निर्जरा होती जाती है। ज्ञायक भाव ही क्षायिकभाव है और यही अन्त मे पारिणामिक भाव, ज्ञान मात्र भाव, ज्ञान-भुवन होने के भाव मे केन्द्रस्थ करता है। ज्ञायक भाव मे नया कर्म-बध होता नही, शुद्ध ज्ञान भाव ही अधिक प्रसिद्ध और प्रखर होता जाता है। अन्तर मे देखने का अर्थ न प्राण वायु को, न मन को न इनकी गति को या पौद्गालिक रूप रस, गध, शब्द व स्पर्श को देखने की आवश्यकता है। अन्तर मे प्रवेश लेकर अपने केवल ज्ञान स्वरूप की केवल किरणो को ही खोलने, देखने और जानने मे समर्पित रहो। उसी मे नित्य स्वरूप ध्रुवकाल भी साक्षात् होगा। उस ध्रुव मे अपने को केन्द्रित करो, वर्तमान क्षण की यही सार्थकता है। यही निश्चय से अपने आप मे एकत्व का, स्व समय सार अनुभव का रहस्य है। जैन लक्ष्य वेधी प्रेक्षाध्यान और बौद्ध विपस्सना का अत भेद भी है।

वर्तमान क्षण का पुरुषार्थ आत्मा में ही

मानव का चिरकाल से असफलता व अशुद्धि का सूत्र यही रहा है कि वह वर्तमान क्षणो मे निज से पलायन करता रहा है। अखण्ड ध्रुव जीवन धारा वर्तमान क्षण को ही लेकर व्यक्त व उल्लसित हुई है। वर्तमान क्षण बीतकर भी अपने स्थान पर अमिट सस्कार छोडते है अपनी प्रकृति का। और फिर उसी स्थान पर अन्य वर्तमान क्षण उदित होता है, ऐसे परम्परा का प्रवाह अजस्र है। अतीत की सुख दु ख की यादें निष्फल हैं। वहाँ आप वापिस नही जा सकते हैं। भविष्य के लिए स्वप्न या दिवा स्वप्न भी निरर्थक हैं। वे वर्तमान क्षण मे हैं ही नही। मानव का पुरूषार्थ केवल वर्तमान क्षण तक ही सीमित है। इस क्षण मे यदि सारा पुरूषार्थ सिमट जाए तो । सारा अस्तित्व अपने ज्ञान तत्व मे सिमट जाएगा— केन्द्रस्थ हो जायेंगे, अनात्म व जड-वस्तु और भावो से परिशुद्ध होकर – आप अपने मे समग्र हो जायेंगे। यही तो भगवान वृषभेश्वर आदिनाथ का योग विज्ञान का आह्वान है आमन्त्रण है। यह आमत्रण स्वय आप अपने को पूरे तौर पर समझने, परिचय करने, अन्तर्मुख होने तथा वही स्थिर रम जाने का है और अपने आपको प्राप्त कर लेने का है–उस अपने आप को जो सर्व काल ध्रुव, अमर, अमृत तथा ज्ञानानन्दी है।

आत्म शक्ति नि सीम

आत्मा की शक्ति मन बुद्धि इन्द्रियो की अनात्म शक्ति जितनी नही है। इसकी अबाध शक्ति – नि सीम शून्य गगन के समान है। वह निर्लेप हैं, कोई बंधन ही स्वीकार नही करती। मन बुद्धि आदि की भी शक्ति है, पर वह सब ससीम और मर्यादा पूर्ण है। पर यह इस मानव का दुर्भाग्य ही रहा है कि इन ससीम शक्तियो का भी उसने सही उपयोग नही किया—न विस्तार ही किया। इनकी भी सही दिशा उसे प्राप्त नही रही है। आत्म-शक्ति का रहस्य उसकी प्रसिद्धि मे है, निर्मलता मे है, कर्म के आच्छादन व आवरण से विशुद्धि मे है रागद्वेष व कषाय विभावो से विशुद्धि मे है। वह तो अनादि से अबाध ही है। पर जो मन बुद्धि आदि की भी निर्मलता से परिचित न हुआ हो वह कैसे जीवात्मा की भी निर्मलता से परिचित हो पायेगा ? जो गुरु-मुख से आत्मा की विशुद्धि और सहज ज्ञान शक्ति की वार्ता सुन कर—उस शक्ति की तदाकारता और नि र्मलता की धुन लेकर अपने अन्त करण के ज्ञान-महासागर मे अवगाहन व गोता लेगे, वे ही तो उसके विशाल अनन्त तल मे वरी अपनी निधि मुक्ताओ का दर्शन भी कर लेगे, तब वे सतह पर उपलब्ध सीपियो के मोह का विसर्जन भी कर देगे—अनात्म वस्तु या व्यक्ति से सम्बन्धित राग मोह वा कषायो के तीव्र अ श आत्मा के स्व चिद् सरोवर मे एक बारगी ही गोते लेने मे नष्ट हो जाते हैं।

चिद् महासागर मे जो एकत्व को प्राप्त हो गए, वे तो निश्चय ही विश्व से परली पार ही हो जाते हैं। वे अपने मौलिक शिव सत्य सुन्दर स्वरूप अपूर्व चिन्मय स्वरूप को ही प्राप्त कर लेते है। सत्य शिव सुन्दर—का क्रम है। आत्मा ही परम सत्य है। यह सत्य शिव स्वरूप है—कल्याण मय है और इसीलिए अन्तिम परिणति मे सुन्दर भी है अर्थात् वही क्रम निर्मल और पवित्र है। निर्मलता और पवित्रता—ये ही अच्छाई है और ये ही शक्ति है। ये सदाचरण और सम्यक्-आचरण आत्म रमण के ध्रुव नक्षत्र ही है। विकार व कर्म-कालिमा दुर्भावना व दुराचरण से प्राप्त होती है। इनमे आत्मा की पर्याय अर्थात् अभिव्यक्ति भ्रष्ट होती है। जीव अपने अध्यवसाय के अनुसार पर्याय अभिव्यक्ति को प्राप्त होता है। वही उसका व्यक्त रूप है। इस पर्याय ही को अपने निर्मल आत्मा स्वरूप के अनुरूप पवित्र और शुचि होना होना है। यह व्यक्त पर्याय ही वर्तमान क्षण है, इसे अव्यक्त ध्रुव आत्मा को समर्पित करते रहो, सपूर्ण समर्पण कर दो। तब देखोगे कि यह भी अपनी विषमता से शुद्ध होकर तद्रूप ही सम और प्रशात परमानन्द मय परिणत हो गया है, सुन्दर पवित्र कमल के समान निर्मल निर्लेप उद्भासित हो गया है।

एयत्तणिच्छयगओ समओ सव्वत्थ सुन्दरो लोए।
बन्ध कहा एयत्ते तेण विसंवादिणी होई ॥[1]

एकत्व व निश्चय (ध्रुव) को प्राप्त जो समय (आत्मा) है, वही लोक मे सर्वत्र सुन्दर है। अत' अपनी एकत्व (निर्मलता) मे अन्य द्रव्य के साथ बंधने रूप वर्तन क्षण तो विरोध करने वाला, संकर

1. (समयसार–३)

और व्यक्ति के दोषो से पूर्ण है। अनात्म वस्तु या भाव के काल परिणमन मे न बध कर अपने ध्रुव शाश्वत् ज्ञान स्वरूप मे ही निर्मल आत्मा बधकर अपने ही स्व काल मे स्थिर हो जाता है। समय की गणना आत्मा से है। आत्मा की पर्याय-अभिव्यक्ति से जो है, वह गणना ही समय का खडन है। आत्मा इस समय मे नही, समय ही इस आत्मा मे जीता है और आत्मा तब स्वय काल जयी अखड रहता है, और काल के परावर्तन से मुक्त रहता है। एक-एक अनुभव-क्रम रूप पर्याय की प्रधानता से ही जीव खण्ड काल है। इनसे अतीत निर्विकल्प, नयोत्तीर्ण गुण-राशि मय, दर्शन ज्ञानादि भाव-अखण्डता मे जीना ही और वही स्थिर रहना ही कालजयी अमर जीवन को पा लेना है। अन्तर्निरीक्षण ध्यान ज्ञान मे अत सपूर्ण अपने मे अपना समर्पण करके उस अपने वर्तनशील वर्तमान क्षण को भी परिधि मे रखते हुए अपनी नित्य अपरिणामी स्वरूपाकारता मे बैठ रहो। मैं तो अजर अमर शाश्वत् हूँ। स्व पर्याय-परिणामी समयात्मक हू ये आत्म भाव ही जीवात्मा का स्व काल है।

(४) भाव

चैतन्य ज्ञानादि अनन्त गुणो रूप यह आत्मा एक सत्-भाव-द्रव्य अनादि से है, अव्यय और ध्रुव ही है। पर-द्रव्यो तथा अनात्म जड रागादि भावो के उन्मुख होकर यह अपने शुद्ध-भाव से भ्रष्ट होता है। यह तब पौद्गलिक जड प्राकृत अज्ञान भावो से बध कर जड-ससार मे भव-भ्रमण के लिए बधन मे ही रहता है। पर स्व-द्रव्य के भाव मे सवृत योगी इस प्रकार कैसे बाधा जा सकता है? नही बाधा जा सकता। भाव रूप से यह शुद्ध ज्ञायक ज्ञान रूप सदा ही है।

(५) भव

जीवात्मा का चार गतियो मे भ्रमण ही भव-भ्रमण है। यही इस जीव का क्लेश है कि यह अनादि काल से जन्म और मरण के चक्र मे है और इस जन्मने व मरने के चक्र मे कायिक तथा मानसिक अनन्त दुखो, वेदनाओ और यातनाओ को ही भोगता आ रहा है। यह इसी प्रकार से भोगता भी रहेगा जब तक कि यह स्व-द्रव्य के अभिमुख न होगा। द्रव्य क्षेत्र काल और भावो मे इसने बराबर अपराध ही अपराध किये है। स्व द्रव्य स्व क्षेत्र, स्व काल और स्व भाव की अखण्डता मे निश्चल न रह कर, यह पर-द्रव्यो मे, पर-द्रव्यो के काल, क्षेत्र और भावो मे एकत्व करके अतिक्रमण करता रहा है। अतः ही इन पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल, और पर-भावो मे इच्छा राग तथा वासना के निमित्त से, उनमे उन्मुखता करके तथा एकत्व बुद्धि करके अनात्म आस्त्रव, बध संवर निर्जीव कर्म व भाव सृष्टि रचना मे रहता हुआ, यह जीवात्मा उस सृष्टि की ससृति मे ही रुलता रहता है। प्रज्ञा-भेद करके जब स्व-द्रव्य, स्व-क्षेत्र, स्व-काल और स्वभाव का लक्षी हो जाएगा और वही स्थिरता करेगा तो यह अनादि के भव-परावर्तन से भी मुक्त हो जायेगा। भेद-ज्ञान करने वाली प्रज्ञा आत्म ध्यान मे प्रत्यक्ष ज्ञान रूप उदित होती है। भाव से मैं तो चेतन मात्र निर्विकल्प व द्रष्टा हूँ, अखड ज्ञान स्वरूप हूँ। उसी अचल भाव-स्थिति मे भव बाधा से विवर्जित हू।

एक ज्ञान मात्र भाव ही संबोधि, सिद्धि और मुक्ति का मार्ग

अलमलमति जल्पैर्दु विकल्पैरनल्पै रयमिह परमार्थश्चेत्यतां नित्ममेक. ।
स्वरस विसर पूर्णज्ञान विस्फुर्तिमात्रान्न खलु समयसारादुत्तर किंचिदस्ति ।।[1]

बहुत कहने या विकल्पो से क्या ? यहा मात्र इतना ही कहना है कि इस एक मात्र परमार्थ का ही निरन्तर अनुभव करो, क्योकि निज रस के प्रसार से पूर्ण जो ज्ञान, उसके स्फुरायमान होने मात्र जो समय सार शुद्ध परम आत्म स्वरूप से उच्च वास्तव मे अन्य कुछ भी नही है ।

वस्तुतः निज रस-प्रसार से पूर्ण ज्ञान मात्र भाव मे ही सबोधि है सिद्धि है और मुक्ति भी है । आत्म स्वरूप की अचल निर्मल स्थिरता ही मुक्ति है । यह आत्म स्वरूप निर्मल ज्ञान मात्र ही है— इस निर्मल ज्ञान मात्र भाव मे ही अनत2 गुणैश्वर्य का निवास है ।

"न द्रव्येण खडयामि, न क्षेत्रेण खडयामि, न कालेन खडयामि, न भावेन खडयामि, सुविशुद्ध एको ज्ञान-मात्र भावोऽस्मि ।"

मै तो अखण्ड वस्तु माल हूँ, चेतना-ज्ञान मात्र है सर्वस्व जिसका ऐसा हू । एक-यानी विकल्प रहित हूँ, सुविशुद्ध हूँ । जीव स्व द्रव्य रूप है, ऐसा अनुभवने पर भी अखण्डित हूँ । जीव स्व क्षेत्र रूप है, ऐसा अनुभवने पर भी अखडित हूँ । जीव स्व-काल रूप है, ऐसा अनुभवने पर भी अखडित हूँ । अर्थात् जीव द्रव्य क्षेत्र काल भाव रूप चार भेद से कहे जाने पर भी एक व अखण्ड ही है, और इसी अखण्ड अनन्त स्वभाव मे निमग्न रहना ही पवित्रता, निर्मलता और आनन्द की प्राप्ति का प्रयोग है । इसी मे स्व स्वातन्त्र्य का आनन्द है । यही स्व सवेदन है । स्वभाव का साक्षित्व तथा ज्ञायकपना ही परमात्म-तत्त्व है । तथा परम आत्म-स्वरूप मे परिणमन से उत्कृष्टतर तथा निर्मलतर आज तक न कुछ हुआ, न है, और न होना ही है । यही सबसे ऊचा चरम कलश रूप, अमृत कलश रूप होना ही श्रेष्ठ तत्त्व है । इसी की इयत्ता मे केवल ज्ञान दिवाकर रूप प्रभु है । यही है—संबोधि, सिद्ध और मुक्ति का मार्ग ।

एको मोक्ष पथो य एव नियतो दृग्ज्ञप्ति वृत्यात्मक—
स्तत्रैव स्थितिमेति यस्तमनिशं ध्ययेच्च तं चेतति ।
तस्मिन्नेव निरन्तरं विहरति द्रव्यान्तराण्यस्पृशन्—
सोऽवश्य समयस्य सारमचिरान्नित्योदयं विन्दति ।।[2]

---

1. (समयसार–आ० अमृतचन्द्र—सर्व विशुद्धि अधि०–२४४)
2 (वही—२४०)

यह मोक्ष मार्ग दर्शन ज्ञान चारित्र रूप रत्नत्रयात्मक है, एक (निर्विकल्प) और नियत (सुनिश्चित) है। जो पुरुष इस मार्ग को ग्रहण करता है, इसमे स्थिति करता है, इसका निरन्तर ध्यान करता है, अनुभव करता है और अन्य किसी का स्पर्श नही करता हुआ निरन्तर इसी मे विहार करता है, वही अल्पकाल मे नित्योदय समयसार शुद्ध परमात्म स्वरूप को अवश्य प्राप्त करता है। उत्कृष्ठ परमावस्था का एक ही अव्यर्थ हेतु है तो यह है कि चित् धातुमय परम शात अडिग, एकाग्र एक स्वभाव मय असख्यात प्रदेशात्मक चिदानन्द आत्मिक स्वरूप का ध्यान करो।

रत्नत्रयात्मक आलोक शिखा निर्वाणतक

वस्तुतः रत्नत्रयात्मक आलोक की शिखा निर्वाण तक जलती चली जाती है और आत्मा सिद्ध भूमि मे स्थित हो जाती है। तप (सम्यक्-चारित्र) तैल से प्रपूरित करके ज्ञान-दीप को आत्मा की सपूर्ण निष्ठा (सम्यक्-दर्शन) से प्रज्वलित कर देने पर प्राप्त रत्नत्रात्मक आलोक निरन्तर उर्ध्व शिखाओ मे उत्तरोत्तर श्रेणीगत होकर नित्योदित नित्य-प्रज्वलित रहता है। यही ससार-अधकार सागर मे से तिरने का हेतु रूप परम धर्म है।

अपने आत्मा का अपने आत्मा मे रत होने रूप यही परम धर्म है, "अप्पाणो धम्म" है– इसके ही निरजन शुद्ध निर्विकल्प रस पीजिए।

सब धर्मों मे अप्पाण धम्म, जिन प्रणीत धर्म उत्कृष्ट

जह रयणाणं पवर वज्ज जह तरुगणाणगोसीर।
तह धम्माण पवर जिणधम्म भाविभव महण ।।

जैसे रत्नो मे प्रवर हीरा, तरुओ मे गोक्षीर चदन, वैसे ही धर्मों मे उत्तम व भवका, ससार प्रपच का मथन (क्षय) करने वाला, यह जिन प्रणीत धर्म है।

यह धर्म नोकर्म (शरीरादि), द्रव्य कर्म (कर्मावरण) और भाव कर्म (सुख दु खादि रूप कर्म विपाक) से रहित आत्मा को आत्मा के ज्ञान-अन्तरिक्ष (गगन) मे ही उर्ध्व होने को प्रेरित करता है।

उड चल उड चल चेतन पछी, जग सुध फिर क्या लेना,
चेत सयाने चेतन पछी, निज गृह की सुध लेना ।।
मोह लोक मे क्यो भरमाना, ध्यान पंख उड लेना,
शून्य गगन से उडकर जाना, भेद अनन्त पा लेना।
ज्ञान-भानु की सुध रखना, भव अतीत हो लेना,
सिद्धलोक तक उडकर जाना, अमृत घट हो लेना ।।

करुणा रस मय योगशासन व धर्म तीर्थ की बंदना

करुणा रस प्रपूरित चिदानन्द अर्हत्परमेश्वर स्वरूप स्वयं अमृत घट बन जाना, यही सिद्धालय की अमर यात्रा है। इस अमर यात्रा को सफल कराने वाला धर्मतीर्थ-भगवान हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर, अग्रज परम प्रभु का योग शासन वस्तुत' प्रणम्य है, वदनीय है और परम आचरणीय है।

पवित्र और निर्मल चारित्र धर्म-पुरुष को परिणमाने वाले इस अन्तरग महायोग मय धर्म तीर्थ की इस तरह बदना की गई है।

> पवित्री क्रियते येन येनैवोध्दृयते जगत्।
> नमस्तस्मै दयार्द्राय धर्मकल्पांङ्घ्रिपाय ॥[1]

जो समस्त ससार के प्राणियो को पवित्र कर देता है, तथा उनका उद्धार करता है, ऐसे इस करूणार्द्र, हरे-भरे धर्म-कल्प वृक्षके लिए नमस्कार है।

संसार में प्राणियों को चार मंगल

> चत्तारि मगल, अर्हन्ता मंगलम्।
> सिद्धा मंगल, साहू मगलम्
> केवलि पण्णत्तो धम्मो मंगलम् ॥

ससार मे चार ही लोकोत्तम तत्व

> चत्तारि लोगुत्तमा, अर्हन्ता लोगुत्तमा।
> सिद्धा लोगुत्तमा, साहू लोगुत्तमा
> केवलि पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा ॥

चार शरण

भव-अटवी मे दु ख दावानल से तप्त प्राणियो को यदि कोई उत्तम शरण है तो चार ही शरण है—

> "चत्तारि शरण पव्वज्जामि, अर्हन्ता शरणं पव्वज्जामि
> सिद्धा शरणं पव्वज्जामि, साहू शरणं पव्वज्जामि,
> केवलि पण्णत्तो धम्मो शरण पव्वज्जामि ॥

अप्पाण शरण ही इसका उद्घोष

वस्तुत· ये चार शरण आत्मा की ही शरण है—आत्म शरण के ही ये चार स्वरूप हैं, पर्याय हैं। अप्पाण शरण पव्वज्जामि ही इसका उद्घोष है, स्वर है, मगलमय शरण और भाव है।

1 (ज्ञानार्णव)

७. अर्हत् शासन के अन्तरंग विशिष्ट बोध; सर्वोदय तीर्थ, विश्व-धर्म स्वरूप एव उपसंहार

- "एक"—अर्थात् निर्मल आत्मा बोध मे सर्व बोध
- चिद् भाव मे, चिद् परिणति से जीवन-कला
- कर्म की भूमि की निर्मलता ज्ञान मे
- ज्ञान सचेतना आस्तिक्य से,—आस्तिक्यता से ज्ञान सचेतना
- अध्यात्म जीवन का द्रव्य सन्यास मात्र से समीकरण के दुष्परिणाम
- मानव विकास के सूत्र
- भौतिक वाद मे तृप्ति कहा
- धर्म और विज्ञान का समन्वय
- जीवन मे निर्मल प्रवाह धारा का सूत्र
- परमार्थ और व्यवहार का भेद करके नही
- मोक्ष पथ निष्क्रिय शीलता मे नही
- समाज परिप्रेक्ष्य मे समग्र व्यक्ति विकास
- मानव को मानव से जोडने वाला धरातल
- ज्ञानी का अमृत अभिषेक
- चैतन्य की विराटता को समर्पित
- ऋषि और कृषि
- चित् तत्व के परिष्कार मय प्रवृत्ति और निवृत्ति की परम्परा
- चित्—तत्व स्वय अपना अधिष्ठाता
- पाच भावो रहित आत्मा का देखना
- स्वय प्रमाण ज्ञान मूर्ति
- दभ त्रास एव झूठे प्रदर्शन से टूटा व्यक्तित्व, ज्ञान और सयम से मिलता आनन्द
- शुद्ध निश्चय नय से आत्मा मे देखो
- ज्ञान सर्वोत्कृष्ट दिव्य गुण

- अनादि अन्धकार—विच्छेदक स्व तत्व
- प्राणी मात्र मे समता और जातीय एकसा
- देह लिंग तथा वेष से अतीत
- योग और ज्ञान की सपूर्णता चारित्र
- भाव तथा प्रज्ञा बोध का सशक्त सवाद
- श्री महावीर प्रभु द्वारा सपूर्ण ज्ञान सत्ता का साक्षात्कार
- तपस् और चारित्र बल से ज्ञान सविता का अभियान
- चारित्त खलु धम्म ।
- स्व अनन्त सत्ता मे अन्तरंग उपयोग की प्रेरणा
- असीम सवेदनात्मक उर्ध्व मुख प्रज्ञा दृष्टि
- सर्व धर्म मय अनेकात
- केवल स्वय प्रमाण अवलोकन (मात्र देखने) मे समीचीन आत्म धर्म
- शुद्ध शील का सूत्र
- शाश्वत् जीवन मूल्यो का निर्माण
- अमृत मय केवल किरणो की वर्षा तथा धाराए
- मानसिक दास्ता से मुक्ति
- तीन डायमैन्शन के समन्वय मे चौथा डाइमैन्शन
- भोग नही, अनुशासन
- प्राचीन काल का ज्योतिर्मय चैप्टर
- अन्तर्तत्व एक,—मात्र निरूपण मे भेद
- दर्शनो मे भाव भेद से नानात्व, मोक्ष लक्ष्य मे एकता
- अतीत का इतिहास भविष्य की प्रेरणा
- प्राचीन आस्थाओ के चिंतन की अपेक्षा
- उन्मुक्त सम्यक् दृष्टि, वस्तु स्वरूप का ज्ञान और सर्वज्ञता
- सर्वोदय धर्म तीर्थ
- प्रकृत विश्व धर्म स्वरूप
- समता, सामजस्य और सापेक्षता
- योग मार्ग—मुक्ति मार्ग

- वेदो मे जैनो के योग मय धर्म रथ तथा परम तत्व "सिद्ध पद" की भावन।
- अथर्व वेद मे जैनो के सम्यक् चारित्र (गति शील आचरण-चरण) की प्रेरणा
- निश्चल गोपद (गोधाम)
- आत्मा के स्वरूप-ज्ञान से मृत्यु-विजय
- भ० हिरण्य गर्भ के ज्ञान मय अप्राकृत देह के पुरुषकार ध्यान द्वारा अमर जीवन
- मात्र तत्व-चर्चा नही, ध्यान समाधि की चर्या से परमानन्द मय आत्मानुभव
- उपसहार
- अन्तिम मगल वाचन

"एक" आत्मा के बोध में सर्व बोध

मानव की नियति स्वबोध की दिशा मे है। इसी मे विश्व बोध है। "एक" आत्मा के बोध मे सर्व बोध समा जाते है। "एक" निर्मल अविभक्त आत्मा स्व तथा पर के विमल बोध मय स्वय प्रकाश हैं। एक का अर्थ है निर्मल यानी विषय कषाय एव रागद्वेष मोह से विवर्जित शुद्ध सौ टन्व निर्मल स्वर्ण सदृश स्व स्वरूप मात्र।

स्व बोध से ही स्व प्रतीति तथा स्व का वर्तन सभव होता है। स्व निष्ठा जागृत होने पर ही मानव की अच्छाई-उसकी सपूर्ण सहज मानवता जागती है। तव मानव मे निहित परम का शनै शनै निर्माण होता है, विकास होता है और प्रकाश आता है।

जीवन कला, चिद्भाव, चिद् परिणति

ज्ञायक रहना वह ही चिद्भाव है, ब्रह्म भ व है, प्रभु भाव है। यह ही यथार्थ जीवन की कला है, यह ही अध्यात्म है। स्व षट्कारता इसी मे है, इसी मे पराश्रयता की निवृत्ति, स्व का शौर्य है। "ज्ञान भाव ज्ञानी करे" -- ऐसा इसलिए कविवर वनारसी दास ने भी कहा है। ज्ञानी को ज्ञान भाव के अतिरिक्त अन्य कुछ भी करणीय नही रहता। अर्थात् ज्ञान भाव के साथ ही ससार मे सत्प्रवृत्ति रखनी है—उसकी निवृति भी अनन्त प्रवृति मय होती है। और वह सब अबध रूप होती है। पद्मपत्रमिवाम्भस्थ वह ससार मे होते हुए भी ससारातीत है।

कर्म भूमि की निर्मलता ज्ञान से

मैं आत्मा हूँ, —शरीर नही, राग नही, मोह नही ज्ञान ही हूँ। इसमे ही वास्तविक ज्ञान और वीतरागता है। यह ही भाव-सन्यास है। यही कर्म-सन्यास को देता है। कर्म की आसक्ति को ही नष्ट कर देता है। कर्म का निषेध नही करना, कर्म की भूमिका को ही निर्मल कर देता है। ज्ञान से वीतरागता स्वत स्फुरित होती है तथा वीतराग एव वीत मोह होने से ही ज्ञान भी प्रकृष्ट होता है।

ज्ञान प्रकर्षता मे ही जीवन उर्ध्व प्रगति शील और समृद्ध होता है। ज्ञान जीवन से पलायन को, मात्र निवृति को प्रश्रय नहीं देता। यहाँ भगवान भी प्रव्रज्या रूप निवृति लेकर भी प्रवृति रूप धर्म देशना तथा धर्म के लिए मगल विहार करते है। यह श्रमण सस्कृति है, कर्मठ क्षत्रिय परम्परा है। श्रम से ही श्रमण हे। निठल्ले, प्रमादी, आलसी, इन्द्रिय-लोलुप भोगी, कायर, मोही तथा भीरू जनो का न यह ज्ञान है, न मार्ग ही है।

ज्ञान अभय करता है। यह स्वभाव विजय है। अन्तः शौर्य का जागरण है। अपने चिन्मय प्रभु स्वरूप के चिन्तन तथा आसक्ति रहित वर्तन से निश्चित निर्मलता आती है और आनी चाहिये। ज्ञान का प्रतिपक्षी मोह है— मोह से ही राग है, आसक्ति है। मोह ही प्रभु आत्मा का प्रतिपक्षी दुरा-

चार की मूर्ति शैतान है। यह ही बधन है। राग का छेद हो जाए, मोह का मर्दन हो जाए तो यह जीव प्रभु ही है, ज्ञान रूप ही है। यथार्थ ज्ञान-भाव वीतरागता के साथ ही उदय होता है। मोह रहित होकर ही जब ज्ञान परिणमता है तब क्रिया व चेष्टा होते रहने पर भी कर्म-बधन नही होता।

ज्ञान सचेतना मे कर्म-बधन का प्रश्न ही नही होता। ज्ञान सचेतना सब भूमियो से, कर्म और अभ्यास की सब अनुभव भूमिकाओ से उत्तीर्ण होकर वीतमोह होकर परिणमता है और समस्त स्वसत्ता, आस्तिक्य और अस्तित्व को व्याप्त कर वर्तमान होती है। ज्ञान सचेतना मे आस्तिक्यता और आस्तिक्यता से ज्ञान सचेतना वर्तमान रहती है, ये अविनाभावी है। सर्वथा राग रहित होने से ही ज्ञान परिणमित होता है। मोह मात्र हेय है। तथा अपना राग भी हेय है और पर—व्यक्ति व पर—वस्तु का राग तो हेय है ही। वीतराग होना ही यथार्थ स्वतत्रता है, मुक्ति है। ज्ञान भाव से आये सन्यास की ही उत्कृष्टता है। उसी मे वीतरागता है। तब जीव अपने लिए नही,—किन्तु परमार्थ के लिए जीता है।

द्रव्य सन्यास से अध्यात्म के समीकरण के दुष्परिणाम

यह कैसी दुखद स्थिति हुई है कि कुछ सदियो से इस अध्यात्म प्रधान भारतवर्ष मे अध्यात्म जीवन को मात्र द्रव्य—सन्यास के जीवन से, सन्यास आश्रम से ही समीकृत किया जाने लगा और सपूर्ण जीवन को माया मय अभूतार्थ कहा जाने लगा। सारे देश मे एक पलायन वादी आत्म--विमूढ मान्यता व्याप्त हो गई और द्रव्य—सन्यास यानी ओढे हुए, आरोपित सन्यास मात्र को ही विशेष गौरव दिया गया न कि मानव के सद्चारित्र को, राग व मोह के नष्ट होने को, न मानव की मानवता को, न उसके स्वतत्र आत्म—वाद को तथा प्रभुता को। वह एक निरीह परतत्र असहाय भावना से ही भर दिया गया। उसे सिखाया गया कि वह एक अन्य बाह्य ईश्वर शक्ति का खिलौना मात्र है,—उसके जीवन के तार सचालित होते है एक अन्य अदृश्य काल्पनिक महा शक्ति से। अपने विकास, परिष्कार तथा उन्नति के लिए ऐसे मे श्रम व प्रेरणा के लिए स्वतत्रता व अवकाश ही कहा रह जाता है? परिणमत जन—साधारण के विवेक और कर्मशीलता को घुन लग गया। वे अन्धविश्वासो मे ही भटक गये, सामान्य जन को धर्म के व्यवसायियो ने हर प्रकार से धर्म के नाम पर खूब लूटा। अज्ञान ने प्रगति को अवरूद्ध कर दिया।

यह बदलाव आया पिछले डेढ-दो हजार वर्षो के दीर्घकालिक इतिहास मे। यह दीर्घकाल ईश्वर युग रहा, मधुर यानी शृगार भाव का ईश्वर—युग रहा है या शुष्क माया वादी विवर्त वादी अग का युग रहा है।

चौदहवी सदी मे यूरोप मे तो धार्मिक क्राति हो गई। मानव अन्ध विश्वास की मृग मरीचिकाओ से उबर कर विज्ञान की ओर उन्मुक्त हो गया। वैचारिक तथा आध्यात्मिक स्वतत्रता स्व

अनुशासन, तर्क व कर्म शीलता व ज्ञान का उदय अभी भी भारत के सामान्य जन के लिये होना बाकी है। स्वाश्रित जिस व्यक्ति-गरिमा प्राचीन अर्हत्परपरा के योग धर्म ने कभी उद्‌घोषित की थी, मानव को आप अपना ही भाग्य विधाता एव आप स्वय हीईश्वर—प्रभु बताया था और वैसा ही होने की प्रेरणा दी थी उसकी पुन प्रतिष्ठा की अपेक्षा है। यहा मानव अब भी घोर अशिक्षा और अज्ञान के अंधेरो मे पडा है। शिक्षा एव विज्ञान के बढते चरण जब मानव ज्ञान की अनन्तता, विराट्ता और महत्व को ही उद्‌घाटित करते जाएगे तब इसी मे मानव को अपने निरालम्ब ज्ञान का विश्वास होने लगेगा और यह होना ही चाहिये। विज्ञान पदार्थ—सत्ता को अनादि अनन्त और परिणमनशील मानता है। अत सृष्टि मात्र को भी अनादि और अनन्त कहता है। किसी बाह्य रचियता शक्ति का इसे विश्वास नही। स्वय पदार्थ मे ही पदार्थ की अपनी (निजी) उपादान शक्ति है।

मानव विकास के सूत्र

मानव एक वृक्षबीज की तरह जन्म लेता है। वह अपनी ही उपादान—शक्ति से तथा उपयुक्त उन्मुक्त वातावरण से उपयुक्त साधन व शोषण के निमित्त से विकास करता है, प्रगति करता है, सारी विशाल और अनन्त प्रकृति उसके ही स्व तथा पर के अर्थ विद्यमान है। इस प्रकृति मे ही सुकृति की शिक्षा मानव को मिलती है और सुकृति से सस्कृति के चरण बढते हैं और उसी मे स्व कृति का भी बोध होता है।

भौतिकवाद से तृप्ति नहीं

भौतिक वाद से तृप्ति मानव को हो नही सकती,—क्यो कि यह वाद मानव के अन्तः तत्व को उपेक्षित करता है। मानव को अपने अध्यात्म पर वापिस लौटना ही हैं। भौतिकता से जब कुंठाये बढ जायेगी और जडता छा जाने लगेगी तो जागृत शाति की खोज मे, आनन्द मय लय-गीत की खोज मे इधर आना ही होगा, अन्य कोई मार्ग नही है।

धर्म और विज्ञान का कोई विरोध नही है, कोई विवाद नही है। क्योकि दोनो के प्रयोग—क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। विज्ञान प्रकृति व आत्म जगत् का विज्ञान है, वैसे ही धर्म चेतन—आत्मा का विज्ञान है। विज्ञान मे मानव—चेतना "पर"—ज्ञेय पर प्रयोग करती हैं। विज्ञान विश्व-विजेता बनाता है यानी वह समस्त विश्व-तत्वो की ज्ञान यात्रा है, पर-ज्ञेय के ज्ञान का अभियान है तो धर्म अपने आलोक मे मानव को अपने चैतन्य गुण की प्रसिद्धि मे सर्वज्ञ वीतरागता का कारुण्यमय परमार्थी एव जन सेवक व क्रात दृष्टा बनाता है। ज्ञानी का धर्म स्व ज्ञान का ही अभियान है। विज्ञान अनेकता कर ले जाता है—ज्ञान एकता एव समन्वय पर खडा करता है। धर्म और विज्ञान का समन्वय करना ही होगा।

जीवन मे निर्मल प्रवाह धारा का सूत्र

जीवन ऐसी धारा है जो सतत् स्व आत्म सुवासित ज्ञान मय कर्म प्रवाह से निर्मल रहती

है। मोह रहित दृष्टि से, बीतरागता निर्मलता परिणमती है। जिसमे कर्म और ज्ञान का सामजस्य रहता है। वह गति व अगति का, परिणामी अपरिणामी का ज्ञान सामजस्य है। तब ज्ञान के साथ निर्विकारता स्वय उदित होती है, वह आरोपित नही होती। श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र अभ्यास को लेकर ही इस ससार मे जीवन का निर्मल प्रवाह रह सकता है। कर्म रूप व्यवहार अर्थात् करणीय कर्तव्य एव परमार्थ को साथ-साथ लेकर चले, तो जीवन मे न निष्क्रियता आ सकती है, न दुष्प्रवृत्ति स्थान पा सकती है।

परमार्थ और व्यवहार को अलग करके चलना गलत

जब व्यवहार परमार्थ के ज्ञान से शून्य होता है तो भौतिक वाद अपने समस्त दुर्गुणो सहित जन्म लेता है। मानव तब अपने चैतन्य स्तर पर नही, अपने इन्द्रिय एव पशु स्तर पर जीने लगता है। जब परमार्थ और व्यवहार मे भेद किया जाता है और मात्र परमार्थ पर ही जोर देकर व्यवहार को झुठलाया जाने लगता है तो मानव जीवन से पलायन करने वाला निष्क्रिय हो जाता है जीवन का विकास रुक जाता है। उस विकास के न होने से जीव को स्वय परमार्थ की भी प्राप्ति असभव हो जाती है।

केवल ज्ञान अवस्था न हो जाए तब तक सव्यवहारिक कर्म-शीलता का, सर्व निमित्त का तिरस्कार योग्य नही है। व्यवहार तथा परमार्थ, निमित्त तथा उपादान का समन्वय, दोनो का सामन्जस्य न कि अति, व्यक्ति और समाज के लिये आवश्यक है।

निष्क्रिय शीलता में मोक्ष नही

मोक्ष का आदर्श इसलिए नही है कि मानव की कर्मशीलता को घुन लग जाए। मोक्ष का पथ निष्क्रियता नही है। वह भी कर्मशोलता मे ही है। व्यक्ति अपने अह मे ही केन्द्रित रहे तो वह अपनी आत्मा की उस विस्तार मय विराट्ता को विकसित नही कर सकता जो आगे उत्कृष्ट उच्च अध्यात्म व विराट ब्रह्माण्डीय केन्द्रो तथा अति केन्द्रो की उन्मुक्ति के लिये आवश्यक है।

समाज परिप्रेक्ष्य मे समग्र व्यक्ति का विकास

मानव एक सामाजिक प्राणी है समग्र समाज की प्रगति तथा उत्थान के परिप्रेक्ष्य मे ही व्यक्ति का विकास सभव है। यदि मानव को व्यक्तित्व-विकास और स्वतत्रता के इस परिप्रेक्ष्य मे न देखा जाए तो व्यक्ति की गरिमा एव स्वय अपने मे अपनी आस्था तथा विश्वास भी समाप्त हो जायेगे, सारी भावनाओ तथा कर्म और श्रम के अवसर व्यक्ति को समाज मे ही उपलब्ध होते है। इसके बिना सारे उत्प्रेरक जीवन के स्त्रोत भी सूख जायेगे।

और वही यथार्थ निष्पाप चारित्र का आधार बन जाता है। शुद्ध जिजिविषा विराट् अमृत पद मे समर्पित हो जाती है। स्व समयसारता स्व सौंदर्य की प्राप्ति है।

ऋषि और कृषि

कुरल काव्य मे कृषि की अनिवार्यता के उपलक्ष द्वारा श्रम की, शुद्ध व्यवहार की अनिवार्यता को ही उद्घोषित किया है–क्योकि मानव या तो शुद्ध व्यवहार रूप कृषि ही करे या ऋषि सम सदा आत्म-दृष्टा ही हो अर्थात् ऋषि ही बने।

"नरो गच्छन्तु कुत्रापि सर्वत्रमन्नपेक्षते।

तत्सिद्धश्च कृते तस्मात् सुभक्षऽपिहिताय॥"[1]

मानव कही भी विचरण करे, उसे अन्न भोजन की तो सदा अपेक्षा रहती है अत उसे अन्त मे भोजन के लिये हल का तो आश्रय लेना ही पडेगा। अर्थात् उसे कृषि (श्रम) का आश्रय लेना ही होगा। वस्तु की रागात्मक इच्छा को ही परिग्रह माना गया है, जब राग द्वेष से परे होकर निरीच्छुक पणे वस्तुत. ज्ञाता दृष्टा भाव से प्रवृति हो–तो मानव ऋषि ही हो जाता है। वह फिर कही भी हो, किसी भी आश्रम मे हो प्रवृति मय रहता हुआ भी जल मे कमल वत् निर्लिप्त ही रहता है।

श्रम का मूल्य कभी इस ससार मे कम नही होने वाला है। विश्व की सारी सस्कृति को आज भी कृषि ही आधार व आश्रय देती है। कृषि तो मानव जीवन मे श्रम का प्रतीक ही है। श्रम की उपेक्षा से यानी जीवन के सव्यवहारिक धरातल की व उसकी शुद्धी को नकारने से लोक व व्यक्ति जीवन की भूमि उर्वर न होकर मरूभूमि ही हो जाती है। स्व के ज्ञान मे जब सब का ज्ञान आता है तो अपनी चिन्ता के स्थान पर सब की ही चिन्ता सब के दुखो की निवृति रूप अनुकम्पा प्रतिष्ठित होकर स्व चिन्ता का उदात्त स्वरूप बनता है. स्वार्थ का श्रम नही, परमार्थ का, आसक्ति रहित वीतराग श्रम का जो मानव को पशु स्तर से मनुष्य और मनुष्य से प्रभु बना दे की महत्ता हैं यही श्रमण का आदर्श है। वरना जैसे कि तिरूवल्लुवर ने भी कहा हैं–वह का पुरूष जो तपस्वी जैसी तेजस्वी आकृति बनाए फिरता है उस गधे के समान है जो शेर की खाल ओढे घास चरता है। परमार्थ की वृद्धि से ही वृत्ति-नियन्त्रण है। इस वृत्ति की प्रवृत्ति मे स्वत प्रवृत्ति है, अत परमार्थ का श्रम करो।

चिद् तत्व के परिष्कार मय वृत्ति और निवृत्ति का सामञ्जस्य

अध्यात्म जीवन और आधुनिक सदर्भ पर विचार करने पर कर्मठ सव्यवहारिक एवं शुद्ध आधारो पर चलने वाली तीर्थंकरो की कर्मठ जीवन से चित्-तत्त्व के निरन्तर परिष्कार की प्रवृत्ति और निवृति की सामजस्य परम्परा ही एक मात्र मानव के लिये सदुपाय व त्राण दृष्टिगत होती है। इस

1. (कुरल काव्य-104-1)

यह अबद्ध स्पृष्ट है क्योकि यह सर्वथा निर्लिप्त व स्वाधीन तत्व है। आत्मा अनन्य है क्योकि इसकी कोई अन्य तुलना या उपमा नही है। आत्मा नियत है—क्योकि यह अपने ही द्रव्य क्षेत्र काल तथा भाव मे सदा सुरक्षित है और समान है। चिन्मयता इसका सत् सामान्य स्वरूप है, अत चिद्-स्वरूप होने से ही सामान्य है, अविशेष है। परद्रव्य भाव से रहित होने से निर्विकार व असयुक्त है। आत्मा के इन पाच भावात्मक स्वरूप की प्रतीति की स्थापना ही सतेज ज्ञान-दृष्टि है। यह दृष्टि ही शुद्ध व अक्षय अमृत जीवन का सर्वस्व है।

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त विमुक्तमेकम्।
विलीनसकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोभ्युदेति ।।[1]

यह शुद्ध ज्ञान दृष्टि पर-द्रव्य से, पर-भाव से, पर-भाव से उत्पन्न विभाव से भिन्न आत्मा के ही स्वभाव को प्रकट करती उदित होती है। यह आत्म स्वभाव सपूर्ण ही पूर्ण है, आदि व अन्त से रहित है, सर्व द्वैत भावो से रहित व एकाकार हैं, समस्त सकल्प विकल्प समूहो को विलीन करता प्रकाशित होता है।

केवलणाण सहावो केवल दंसण सहाव सुहमइयो।
केवलसत्ति सहावो सो हं इदि चितए णाणी ।।[2]

यह आत्मा एक मात्र केवल ज्ञान और केवल दर्शन स्वरूप है यानी लोकालोक के सर्वज्ञेय पदार्थों को, तथा स्व व पर को जानने वाला, देखने वाला है। यह स्वभावत' अनन्त शक्ति का धारक और अनन्त सुख हैं। केवल ज्ञान होने का अर्थ है परम ब्रहम हो जाना–तब और कुछ जानने की, सीखने या करने की बात ही नही रह जाती। उस ज्ञान मे जो कुछ भी है, केवल वही है—यही केवल ज्ञान है।

मल रहिओ कल चत्तो अणिदिओ केवलोविसुद्धप्पाओ।
परमेट्ठी परम जिणो सिवकरो सासओ सिद्धो ।।[3]

यह आत्मा ही–सर्व दोष रहित, शरीर विमुक्त, इन्द्रियो के अगोचर, सर्व अन्तरग बहिरग मलों से मुक्त, विशुद्ध स्वरूप का धारक है ऐसा परम निरजन शिवकर शाश्वत् सिद्ध आत्मा ही परमात्मा है। वस्तुत' वास्तविक ज्ञान का अर्थ ही यह है, जो कुछ भी है वह आत्म-ज्ञान ही है। अतः यहां सपूर्ण अपरिग्रहता ही फलित है। एक मात्र उन्मुक्त ज्ञान ही मेरा है, वही मैं हूँ, अन्य कुछ भी नही इस प्रकार अन्यत्व रहित अपने को अपने मे देखना, अन्तर्दृष्टि से मात्र देखना आत्मा को देखना है।

ऐसा यह आत्मा अपनी ही प्रतीति अनुभव व चिन्तन से प्राप्त होता है। चेतनता की अनुभूति की ही बात है। आत्माभिमुख होने की ही बात है। पंथ, ग्रन्थ, रूढी, परम्परा और अभिव्यक्तियो के

1 (समयसार कलश जीव अधि० १०) 2 (नियमसार ९६)
3. अष्ट पाहुड (मोक्ष० पा० ६)

का लक्ष्य भोग नही—ज्ञान और सयम से प्राप्त निजानन्द है। ज्ञान और सयम से ही मिलता है निज आनन्द का स्त्रोत।

शुद्ध निश्चय नय से आत्मा को देखना

ज्ञानी करोति न, न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्पर करणवेदनयोरभावात्
शुद्ध स्वभाव नियत स हि मुक्तएव ॥[1]

ज्ञानी स्वेच्छया, स्वाधीनत्ता पूर्वक कर्म का न कर्ता है—और न ही भोक्ता ही है, वह मात्र ज्ञाता ही है। वह तो शुद्ध स्वभाव नियन हुआ मुक्त ही है। वही शुद्ध निश्चय नय से आत्मा का देखना है। जो मात्र देखता है, ज्ञायक मात्र ही है, प्रिय—अप्रिय के क्षोभो मे नही जाता, वह तो मुक्त ही है।

कर्म फल के उदय बध, पाप और पुण्य को ज्ञानी मात्र जानता ही है। कर्म अनात्म प्रत्यय है, वह उदय मे आकर ज्ञानी का कर भी क्या सकता है? जीव मे जब तक पुरुपार्थ-निर्बलता का भाव है कर्म का जोर प्रतीत होता है। किन्तु ज्ञानी तो क्रमश स्व शक्ति का उद्योत करके—अन्त मे सर्व कर्म को समूल नष्ट कर ही देगा। अत ज्ञानी को तो कर्म विपाक का साक्षी व ज्ञाता होकर मात्र देखना ही है। यह उस ज्ञानी की चर्या है जो वीतमोह परिणत हुआ है। वस्तुत ज्ञानी भी वही है जो वीतमोह हुआ है। वीतमोह ज्ञान दशा ध्यान समाधि अभ्यास मे ज्ञाता दृष्टा अभ्यास से होती है।

तव ज्ञानी कर्म को सचेतन न करके स्वय अकर्ता ही रहता है, कर्म फल चेतना रहित रहने से स्वय अभोक्ता है। वह कर्मशील होते हुए भी न कर्म का कर्ता है न भोक्ता है। एक मात्र शुद्ध भाव मे ही अबध दशा है। शुद्ध का अर्थ है जिसमे न राग है, न द्वेष है—न मोह है—न कपाय है पर जो सर्व व्याप्त रूप करुणा रस आद्रित है एव वासना से रहित है।

नेत्र दृश्य पदार्थ को मात्र देखता ही है उसका कर्त्ता भोक्ता नही होता, यदि वह पदार्थ को करे या भोगे तो अग्नि नेत्र के द्वारा जलनी चाहिये. और नेत्र को अग्नि की उष्णता अनुभव होनी चाहिये। ज्ञान भी नेत्र के समान सबको मात्र देखता ही है। वस्तु मात्र के वेदन (भोगने) व करने मे असमर्थ होने से ज्ञानी कर्म को न करता है और न वेदता (भोगता) ही है। अत वह ज्ञानी कर्मबध को, मोक्ष को, कर्म उदय को व निर्जरा को होता हुआ निरीक्षण ही करता है, जानता ही है, उनमे अपने आत्मत्व के भाव को नही करता। उसका आत्मत्व निज आनन्द रस मे ही है। वह आनन्द रस वाहर करुणा रस रूप मे ही बहता है।

ऐसे ज्ञानी को जिसे मात्र ज्ञान सचेतना ही है, ससार का अभाव ही है, उसे नये कर्म का

1. समयसार टीका—१९८

कैसी स्व स्वरूप एकता तथा निर्मलता की मानव के लिये उद्घोषणा करता है,–कैसा इसका उदात्त रस तथा उदात्त स्वर है, कितना यह पावन व आश्चर्यजनक है ! इसके तत्त्व–ज्ञान मे व्यक्ति–गरिमा एव वस्तु स्वातन्त्र्य तथा स्व रस का कैसा रमण है। यह अनुशासित स्वाधीनता का समर्थक है और सयम के स्वावलम्बन मार्ग को ही—स्वैच्छिक आनन्द मार्ग को यह देता है। इस स्वावलम्बन की जागृति ही ऐसी प्रकाश–किरण है जो अनादि के अ धकार को विच्छेद करके आत्मा के सन्मार्ग को प्रकाशित करती है।

चैतन्य आत्मा के मात्र प्रकाशमान, तेजोमय, ज्ञानमय, आनन्द रस की ही वह बात कहता है, उसे ही प्राप्त करने का निमत्रण देता है और प्राप्ति के लिये आश्वस्त भी करता है और उस स्व-रूप रस को आस्वादन कराता हुआ उसी मे प्रतिष्ठित भी कर देता है।

प्राणी मात्र में समत्व और जातीय एकता

यह प्राणी मात्र मे—जातीय एकता और समत्व भाव को कहता है अतः चैतन्य मात्र को एक सूत्र मे जोडता हे। यह सब के लिये समान रूप से द्वार उन्मुक्त करता है। प्राणी मात्र एक दिव्य व पवित्र ज्योति है,–चैतन्य पिंड है, सर्व प्रभुतामय भगवान् ही है। अत मानव की सेवा हित कार्य स्वय प्रभु का ही कार्य एव सेवा है। यह वस्तुत. करुणा एव अनुकम्पा रूप ही है—स्वय पर के प्रति अनुकपा का भाव, दुख को दूर करने का भाव, वह ज्ञान भाव से ही नि सृत होता है, वह ही निर्मल सरल अन्तर आत्मभाव है। सब चैतन्य आत्माओ के प्रति सम दृष्टि, सम दर्शन से अपने मे समता रस का प्रवाह होता है।

देह लिग तथा वेष से अतीत

णदु होइ मोक्ख मग्गो लिंगं ज देहिणि म्ममा अरिहा।

लिग मुचित्तु दसण णाण चरित्ताणि सेयन्ति ।।

न तु भवति मोक्ष मार्गो लिंगं यद् देह निर्ममा अर्हंत ।

लिग मुक्त्वा दर्शनज्ञान चारित्राणि सेवन्ते ।।[1]

लिग व वेष (Appearances and Externalities) मे मोक्ष का "मग्ग"–मार्ग नही है, अर्हत्पुरुषो ने देह मे निर्मम होकर द्रव्य–लिग को छोड करके–आत्मा के दर्शन, ज्ञान तथा चारित्र मय अखण्ड गुण के सार (Essence) का ही कथन किया है और स्वय सेवन किया है। पर्याय को–अभि-व्यक्ति को गौण करके आत्मा के स्वय सत्य प्रकाश तथा ज्ञान रूप नित्य अपरिणामी केन्द्रस्थ तत्त्व का ही रमण किया है। द्रव्य-लिग मोक्ष मार्ग नही है—भाव लिग को ही आश्रय करता है। द्रव्य-लिग

1. (समयसार ४०९)

भाव से आगे न जा सकी। कालान्तर मे वह ज्ञान भी विकृत होकर स्वेच्छाचारियो के हाथो मे निष्क्रियता, पलायन और स्वार्थ का औजार बना। अवसर पाकर दबे हुए कर्मकाण्डी ब्राह्मणत्व ने फिर सिर उठाया, ब्रह्म-विद्या पर, फिर छद्म वेद-विद्या हावी हो गई। उपनिषद के ब्रह्म ज्ञानीयो से लगाकर श्रमण पार्श्व तक, भाव, दर्शन, ज्ञान को तपस् द्वारा जीवन के आचार व्यवहार मे उतारने की जो एक महान प्रक्रिया घटित हुई थी, वह कुण्ठित हो गयी थी। तब महावीर का उदय एक अनिर्वार विप्लवी शक्ति के रूप मे हुआ। दीर्घ और दारुण तपस्या द्वारा उन्होने दर्शन और ज्ञान को जीवन मे प्रतिपल के आचरण की एक शुद्ध क्रिया के रूप मे परिणत कर दिखाया। इसी से दर्शन व इतिहास कारो ने उन्हे क्रियावादी कहा है–क्योकि उन्होने वस्तु और व्यक्ति मात्र के स्वतत्र परिणमन का मत्र-दर्शन जगत् को प्रदान किया था ''''मनुष्य स्वय ही अपना भाग्य विधाता है। कर्म करने, न करने, बधने या न बधने को स्वतत्र है। वह स्वय ही अपना कर्ता और विधाता है। वह स्वय ही अपने सुख-दुख, हर्ष-विषाद, जीवन-मृत्यु का निर्णायक और स्वामी है।

"इससे प्रकट है कि आज का मानव जिस आत्म स्वातत्र्य की खोज कर रहा है, उसकी प्रस्थापना उपनिषद युग के ऋषि, श्रमण पार्श्व और महा श्रमण महावीर कर चुके थे। इस तरह मूलत आधुनिक युग चेतना का सूत्रपात ईसा पूर्व की छठवी सदी मे ही हो चुका था। विचार और आचार की एकता ही इस चेतना का मूलाधार था। महावीर के ठीक अनुसरण मे ही बुद्ध आये। उनके व्यक्तित्व मे मैं महावीर का ही एक प्रस्तार (प्रोजेक्शन) देख पाता हूँ। वे दोनो उस वृक्ष की एक ही क्रियाशक्ति के दो परस्पर पूरक और अनिवार्य आयाम थे। महावीर को परात्पर परब्राह्मी सत्ता के पूर्ण साक्षात्कार के बिना चैन न पडा। बुद्ध जगत् के तात्कालिक दुख से इतने विचलित हुए कि दुख मोचन के लिये ससार के समक्ष एक महाकारुणिक परित्राता के रूप मे अवतरित हो गये। आत्म-तत्व और विश्व-तत्व तथा उनके बीच के मौलिक सबध के साक्षात्कार तक जाना उन्हें अनिवार्य न लगा। पूर्ण आत्म-दर्शन नही, आत्म-विलोचन ही उनके निर्वाण का लक्ष्य हो गया। सो "अव्याकृत" और "प्रतीत्यसमुत्पाद" का कथन करके उन्होने विश्व-प्रपच से उत्पन्न होने वाले सारे प्रश्नो और समस्याओ को गौण कर दिया। मगर महावीर तत्व तक पहुचे बिना न रह सके। सो वे तत्व के स्वभाव को ही अस्तित्व मे उतार लाने को बेचैन हुए थे। ताकि जीवन की समस्याओ से जो समाधान इस तरह आये, वह केवल तात्कालिक निपट बाह्याचार का कायल न हो, वह स्वयभू सत्य का सर्वभौमिक और सर्वकालिक प्रकाश हो। यह केवल भाविक और कारुणिक न हो, वह तात्त्विक, स्वाभाविक और स्वायत्त भी हो, स्वय तत्व ही भाव बनकर जीवन के आचार मे उतरे। उनका प्राप्तव्य चरम परम सत्ता स्वरूप था, इसी कारण उन्होने इतिहास मे अप्रतिम ऐसी दीर्घ और दुर्दान्त तपस्या की। वस्तु मात्र और प्राणी मात्र के साथ वे स्वगत व तद्गत हो गये। सर्वज्ञ अर्हत महावीर मे स्वय विश्व तत्व मूर्तिमान होकर इस पृथ्वी पर चला।"

(श्री वीरेन्द्र कुमार जैन)

तपस् और चारित्र बल से ज्ञान–सविता का अभियान

जो मानव को उसके ही अन्तः ज्ञान सविता के केन्द्र-चरम परम तक ले जाए उससे उत्कृष्टतर

स्व अनन्त सत्ता में अन्तरंग उपयोग की प्रेरणा

इन तीर्थंकर प्रभुओ की स्पष्ट घोषणा है स्व अनन्त परम सत्ता, परम निर्मल आत्मा मे ज्ञान रूप एकाग्रीभूत तथा एकीभूत होना ही एक मात्र विश्व भर के मानवो का सहज स्वाभाविक धर्म है, स्वरूप है, स्वभाव है। इन महाकारुण्य वासित परम अहिंसक कैवल्य भगवानो ने ज्ञान-सूर्य के प्रकाश से अज्ञान अधकार, सकीर्णता मतान्धता, कट्टरवादिता, एकान्त वादिता का परिहार किया है और प्रेरणा की है कि मानव अपने केन्द्रस्थ आत्म सूर्य के प्रकाश को प्राप्त करे—बहिरग उपयोग को अन्तर्दृष्टि की यात्रा द्वारा अन्तरग उपयोग मे जोडे और निराकुल निर्विकार आत्म सुख व आत्म समृद्धि का उपभोग करें।

असीम संवेदनात्मक उर्ध्वमुखी प्रज्ञा-दृष्टि

यह आत्मा, अनन्त दर्शन (श्रद्धा, प्रेम) अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति है। तीर्थंकर अर्हतपुरुषो ने इन चतुर्गुणो से ही आत्म द्रव्य को परिज्ञात किया और इनकी चतु सीमा रेखा मे ही रेखाकित "एक" निर्मल असीम आत्मा को परिलक्षित किया, जाना और कहा है। उन्होने आत्मा का यानी जीव मात्र का ही अति प्रोज्जवल परम दिव्य स्वरूप ही विश्व के सामने रखा है। उन्होने कहा है मानव स्वय अपनी नियति है। वह एक स्वतत्र ईकाई है, प्रत्येक जीव ही अपने अस्तित्व मे विराट् व दिव्य है, स्वतत्र स्वाधीन है। यह निरीह प्राणी नही है न किसी अन्य की इच्छा का स्पदन या ज्ञप्ति मात्र है। इन कैवल्य प्रभुओ की प्रज्ञात्मक दृष्टि असीम उर्ध्वमुखी व अबाध रही हैं। उन्होने आत्मा के स्वाधीन वर्चस्विता के आलोक को देखा है, उन्होने जीवन-दृष्टि की सागर सी गहनता को लेकर मानवीय अद्वेष ही नही महाकरुणमय अहिंसा तथा प्रेम के परिमल को विश्व के धरातल पर प्रसारित करके उसे सुगन्ध मय बनाने का प्रयास किया है, और सर्व अनन्त को ही आलिगत करने वाली मानवीय चितना एव विवेक विचार के सूत्र-अनेकात के अरूणोदय को भी उदित किया। अर्न्तदर्शन के गहरे धरातल पर असीम सवेदनात्मक उर्ध्वमुखी प्रज्ञा-दृष्टि का अनावरण होता है।

सर्व धर्म मय अनेकांत

उनका परमावधि तथा केवल ज्ञान की दृष्टि का अनुपम ज्ञान ही अनुपम भेट है इस विश्व भर के प्राणियो को व मानवो को। इसमे अनन्त सत्ता, अनन्त करुणा-प्रेम, अनन्त ज्ञान, अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति का मूल स्त्रोत विद्यमान है और इन्हे वह उद्घाटित कर देता है। इन तत्वो के समन्वय तथा उद्घाटन मे ही पूर्णता का विकास है जिसकी सर्वात्मक सपूर्तिमय प्रमाण ज्ञान को ही अनेकात धर्म कहा गया है। इस सर्वधर्ममय अनेकात मे षट्-दर्शन ही क्या, सर्व-दर्शनो का ही यथा स्थान समावेश है, आदर है। "षट्-दर्शनजिन मत माँहि मणीजे" ऐसा इन सर्वदृष्टा ऋषियो का उद्घोष है। अपने अपने विषय के कथन करने मे समीचीन किसी भी नय या दृष्टि का यहा अनादर नही है। सब को उपयुक्त स्थान प्रदान करते हुये, सपूर्ण सत्य की सन्मूर्ति अनेकात ज्ञान के यहा दर्शन किये

शाश्वत् जीवन मूल्यो का निर्माण

स्व आत्मा मे निज ज्ञान सविता की ही पहचान, अपने ही उस अप्रतिम स्वतत्व की पहचान और उस ज्ञायक स्व स्वभाव मे ही अडोल स्थिरता पूर्वक, दृष्टा भाव से भी अतीत मोह व राग से अतीत, मात्र ज्ञान रूप, असग निर्विकार व निर्लिप्त रहकर लोक सग्राही निरिच्छुक वीतरागता मय परम अहिंसा के महा कारुण्य—सौरभ को विकीर्ण करते हुए विश्व के सर्व प्राणियो से निर्पेक्ष निस्पृह सम भाव से ही जुट जा सकना होता है। निश्चय ही यह उच्चतम जीवन मूल्यो का ही निवेदन होता है। इस योग विज्ञान ने निश्चय की इस प्रकार जीवन मे क्रान्त जीवन-दृष्टि देकर जीवन के शाश्वत् मूल्यो को ही वाणी दी है। वह दृष्टि विश्व—धर्म की ही तदाकारता से ही फलित हुई होती है। जीवन तथा वस्तु स्थितियो का न केवल सैद्धान्तिक निरूपण ही किया गया है, अपितु उनका व्यावहारिक चारित्रिक निरूपण तथा निर्माण हुआ है। उन्होने सपूर्ण निर्वेद की स्थिति मे शाश्वत् मानव-मूल्यो को, मानव प्रतिष्ठा, मानव स्वातन्त्र्य तथा मानव सयम को सशक्त व्यक्तिमयता तथा वर्चस्विता भी प्रदान की। जड और चेतन, ज्ञेय और ज्ञायक दोनो अनन्त तत्त्वो को निर्लेप समदृष्टि से, अनादि निधन तथा स्वतत्र ही देखा है तथा इनकी अभिव्यक्तियो व पर्यायो को समान सम दृष्टि मे उल्लसित भावोत्लास विलास पाकर तथा उन सहित भावातीत होकर केन्द्रस्थ नित्य शाश्वत् ज्ञान सूर्य को उदित किया और वही सम रूप से निश्चल विराजमान भी हुए, जडीय प्रगति को गौण करके आत्मिक आलोक के आरोहण मार्ग को ही प्रशस्त किया, जडीय अनात्म तत्त्व की सत्ता की स्वीकृति करते हुए, उनके द्वारा भावोल्लासो को देखकर भी मानवीय चिन्मय स्वत्व की न केवल रक्षा की, उसे ही उदात्त बनाकर ऐसी सर्वोच्चता प्रदान की, जिसके विराट् औदात्य मे सब मे सर्वत्र सम-आत्मिकता का सवेदन प्रकट होता है और जीवन के इस सवेदनात्मक स्तर "स्व" का ऐसा प्रचुर और गहन साक्षात्कार प्रस्तुत होता है जो एक अलौकिक, शाश्वत् मूल्य ही नही, साक्षात् परमार्थ के स्वरूप को प्रकट करने वाला होता है।

अमृत मय केवल किरणो की वर्षा

स्व की सवेद निर्वेद वीतराग स्थिति मे स्व अहैतुकी कृपा का निर्झर सदा निरन्तर प्रस्रवित रहता है जो युग युगान्तर तक इस समस्त विश्व मे आलोक मय सुधा के रूप मे बरसता ही रहताहै। वह "केवल" प्रकाश व ज्ञान किरणो की वर्षा है, इसे ही वीतरागी साधक जन अपने हृदय के कनक—कमल पर अमृत वर्षा व निर्झर के रूप मे अनुभूत करके कृतार्थ होते है। वह ही वीतरागी चिन्मय घन—आत्म—रस है, जिसे पान कर योगी जन सिद्ध व अमर और मस्त हो जाते है और तब ही उनके अनादि आकुलता के और अभाव के भाव सब अशेष हो जाते है। ज्ञान सविता की ज्ञान—किरणो का निर्झर ही जिसे प्राप्त हो जाए— उसके लिये फिर क्या प्राप्तव्य शेष रहे? यह निर्मल परम आत्मा सूर्य सामान्य (निराधार निष्क्रिय शिव भाव) तथा विशेष (सक्रिय अभिव्यक्ति मय शक्ति भाव) का अखड अद्वय व पूर्ण चिन्मय सत्ता के रूप सम रस मे नित्य विद्यमान ही रहता है।

सिद्धात, दर्शन और जीवन पद्धतिया भी प्रस्तुत करता है। काश ! मानव जाति अपनी सभ्यता और अध्यात्म के पुरस्कर्ता के वचनो, आदर्शों और पद्धतियो तथा जीवन दर्शन के प्रति जागे ! इस जागने मे ही एक नया मोड होगा भटकती मानव सस्कृति, सभ्यता और अध्यात्म के लिए। प्रज्ञावतार भ० आदिनाथ हिरण्यगर्भ के जीवन, चारित्र और प्रवचनो के उस प्राचीन ज्योतिर्मय चैप्टर (अध्याय) को जिसे हमने इतिहास मे भुला दिया है, हम पुन मनन करें, अनुष्ठित करे और प्रतिष्ठित करे।

अक्षुण्ण मूल तत्व की धारा आज भी है

भगवान् हिरण्यगर्भ—ऋषभदेव का योग शासन रूप "मग्ग" की धारा अनन्तर के तेईस तीर्थंकरो के शासन मे प्रवाहित होती हुई आज भी जैन धर्म के रू। मे वर्तमान है। काल प्रवाह तथा शासन भेदो से निरूपण पद्धति मे भले ही परिवर्तन हुये हो—परन्तु इसके मूल तत्व वैसे ही अक्षुण्ण विद्यमान है।

अन्त स्तत्व एक, मात्र निरूपण के भेद

विभिन्न दर्शनो तथा धर्मों के वस्तु-निरूपण मे ही भिन्नता है परन्तु उस आदिकालीन योग मग्ग से अनुप्राणित इनके अन्त स्तल का प्रवाह,-साधना प्रवाह, भी अपनी अद्भूत एक रूपता से उस मूल स्रोत को ही दृष्टिगा्चर कराता है तथा अब भी यह योग मार्ग विभिन्न दर्शनो व धर्मों के साम-जस्य मे एक मात्र मूल हेतु है।

भाव भेद से नानात्व, पर मोक्ष लक्ष्य मे सब दर्शनो व धर्मों मे एकता

"स्फटिको बहुरूप. स्याद्यथैवोपाधि भेदत ।
स तथा दर्शनै षड्भि र्ख्यात एको ऽप्यनेकधा ।।[1]
यथा प्यनेक रूपं स्याज्जल भूवर्ण भेदत ।
तथा भाव वि भेदेन नाना रूप स गीयते ।।[2]

उपाधि भेदो से एक ही स्फटिक यथा बहुरूप प्रतीत होता है, ऐसे यह एक योग मार्ग एक होते हुए भी षट्दर्शन भेदो से नाना विधि रूप प्रतीत हो रहा है। पृथ्वी के आधार भेद से जैसे एक निर्मल जल भी नाना वर्ण हो जाता है ऐसे ही भाव भेद से यह एक निर्मल योग तत्व मार्ग भी नाना रूप कहा जाने लगा है।

धर्म मार्गां धना सन्ति दर्शनानां विभेदत ।
मोक्षार्थं समतां यान्ति, समुद्रे सरितो यथा ।।[3]

1. (योग प्रदीप—३५)
2. योग प्रदीप—३६)
3 (योग प्रदीप—८५)

के ही मार्ग पर आरूढ होने के लिये आह्वान करता रहा है। वास्तव मे कठोर सत्य तो यह है कि हमने ही धर्म को धोखा दिया है, धर्म ने हमे नही। हमने ही उसके चिरन्तन स्वरूप को सुनकर भी न समझा है, न उसके अनुरूप अपने को ढाला है। हम अन मृत व्यवहारो के जजाल मे फसे मृत प्राय हो रहे है। नई पीढी की दिशा हीनता एव उखडेपन को जीवन की अक्षय सफल शीलता से तथा उज्जवल उदार प्राचीन सस्कार शीलता से भर देना होगा ताकि अपना सही मार्ग खोज सके, बना सके। हमे पश्चिम की अवधारणाओ, कल्पनाओ तथा जीवन आदर्शों तथा अर्थो एव रूपो को बिना विवेक अवेपन से ग्रहण करके या ओढ कर उद्वेग पूर्ण निराशा से जीवन को नही भर लेना चाहिए। पश्चिम का विज्ञान ग्राह्य है पर उसके जीवन मूल्य या अवधारणाये तो स्वय पश्चिम मे भी पुराने पड चुके है। गहन चिन्तन तथा श्रम मय जीवन की उन प्राचीन मूल आस्थाओ की ही आज तो हमे माग है और यह माग सदा ही रखनी होगी। तब ही हम अपने यथार्थ व्यक्तित्व को अभिव्यक्त कर सकेगे। इसी मे हमे आत्म सतोष तथा आत्म–अभिव्यक्ति की वृद्धि मिलेगी, सर्वतो मुख विकास भी होगा और दिशाहीनता की समाप्ति भी। अपने सहज आप को खोकर व्यक्ति मर जाता है, अपने सहज आप को पाकर व्यक्ति महान् हो जाता है। इसी से समता उदारता औदात्य, सामजस्य और मानवता की प्रतिष्ठा भी होती है। उदार मानवता वाद ही आत्मवाद का व्यवहारिक स्वरूप है। इस व्यवहारिक स्वरूप से ही ऊपर चढकर मानव प्रभु हो जाता है। अर्हत्पुरुष व बुद्ध हो जाता है, जो परम निर्मल ज्ञानात्मा कैवल्य पुरुप होता है और उस मे अगाध करुणा तथा अहिंसा का वास होता है। श्रमण सस्कृति की मूल आस्थाओ, स्वरूपो, अवधारणाओ तथा सम्यक् चारित्र की प्रतिष्ठा मे भारत का उज्जवल भविष्य निहित रहा है और आगे भी निहित रहेगा।

उन्मुक्त दृष्टि, वस्तु स्वरूप का ज्ञान और सर्वज्ञता

इस विश्व मे सब कुछ खेल या रहस्य दृष्टि का ही है। ज्ञान-अध पुरुष की दृष्टि ही उन्मुक्त नही होती। दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति को ही नेत्र होने की सार्थकता है। जो व्यक्ति सब ओर बाहर भीतर, ऊपर नीचे सब ओर चतुर्मुख होकर देख सकता है, वही सर्वदृष्टा होता है। तीर्थंकर पुरुष ऐसी ही अनेकात सर्वान्तर दृष्टि का धनी होता है। यह दृष्टि खुलती है जागरुक एकाग्र चिन्तन, ध्यान व उपासना से। इसी सर्वदर्शन मय अनेकात-दृष्टि मे सर्व वादो तथा विवादो का अन्त करती सर्वज्ञता प्रस्फुटित होती है। सर्वज्ञता का अर्थ हे जिसे जान लेने के बाद, जिस ज्ञान की प्राप्ति के बाद अन्य सब जानना प्रतिफलित हो जाता है, जिसमे अन्य सब ज्ञान नि शेप हो जाते है। यथावस्थ वस्तु स्व-रूप को जान लेने के बाद तीर्थंकर व बुद्ध-पुरुष को अन्य कुछ भी जानना आवश्यक नही रहता। चेतन व अचेतन, ऐसे वस्तु मात्र के स्वरूप का ज्ञान, सर्वज्ञान को अपने मे समाविष्ट कर लेता है और फिर अन्य जानना क्या आवश्यक होता हे ? इसी वस्तु-स्वरूप मे निज व पर के ज्ञान रूप सद् दृष्टि की विश्व को सत्-चारित्र के हेतु भारी अपेक्षा है और श्रमण सस्कृति की सदृष्टि इसी दिशा का निद-शन करती है। वस्तु-स्वरूप के ज्ञान मै सब ज्ञान घटित होता है, स्व व पर सब का ज्ञान घटित होता है और तीर्थंकर व बुद्ध जनो ने इसी मे आत्म-साक्षात्कार भी किया ओर सपूर्ण सत्य को अनावृत

के ही प्रकृष्ट स्वरूप प्रवचन द्वारा घोषित व कथित किया जाता हैं। कोई भी जीवात्मा उनके द्वारा कथित तीर्थ (मुक्तिमार्ग) का अवलम्बन लेकर परमात्मा बन सकता है। ऐसा सर्वजीव सम भाव इस तीर्थ मे प्रतिपादित है। समता सर्वोदय का प्राण है और यही इस तीर्थ का मूल आधार भी है।

इस तीर्थ का अनादि प्रवाह

आचाराणा विघातेन कुदृष्टिनां च सम्पदा ।

धर्मग्लानि परिप्राप्तमुच्छ्रयन्ते जिनोत्तमा ॥[1]

जब जब आचार का, चारित्र का विघात होता है, कुदृष्टि लोग सम्पन्न होते है, धर्म की (सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र रूप जीवात्माओ के स्वभाव की) ग्लानि (हानि) होती है, तब तब जिनोत्तम श्री तीर्थंकर-उत्पन्न होते है। यह ही सनातन काल नियम है, प्रवाह है। अत यह कोटिशः अर्हन्त एव सिद्ध-आत्माओ का सतत प्रवाहित मार्ग है। इस मार्ग ने सर्व विश्व को निष्ठा, ज्ञान, और चारित्र की सम्यक्ता, परिष्करण रूप सार्वभौम व सार्व कालिक तीन रत्न दिये है। ये क्या कम उनकी अलौकिक एवं मौलिक देने हैं सारें विश्व को ?

इस सर्वोदय तीर्थ का—परा योग विद्या रूप अध्यात्म-विज्ञान के ही देवाधिदेव भगवान् हिरण्यगर्भ आदिनाथ से लेकर श्री सन्मति वर्धमान महावीर प्रभु के चौबीस शासनो मे बार बार द्रव्य,क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार प्रवचन होते रहे हैं। ये विज्ञान ही आत्मा का मार्ग है। यह यथार्थ वादी मार्ग है योग और ज्ञान का मार्ग है। यह सद् धर्म रूप से प्रवाहित सनातन हैं। सारे विश्व के प्राणी मात्र चेतन आत्मा, शुद्ध सिद्ध सम आत्मा है। उन सबको यह पक्षपात रहित निर्विकार "स्व" विशुद्धि का ही मार्ग दिखाता है। इसमे धर्म एव चारित्र, धर्म और तपस्या, धर्म और ज्ञान, धर्म और स्व आस्था की यानी सचाई और अच्छाई की गति सब एक ही दिशा को सूचित करते है। वह दिशा है स्व निमग्न सिद्ध सम नित्य परिणामी-अपरिणामी केवल व केन्द्रस्थ अचि स्वरूप अनन्त आत्म तत्व की। इसके प्रवचन मे समय सम-दर्शन व सर्व का अभ्युदय, उत्कर्ष तथा विकास है। यह धर्म सर्वोदय स्वरूप है, सामाजिक रूप से समान रूप से ही इसमे सब प्राणियो के समग्र हित तथा समान उदय की भावना है तथा यथार्थ निर्मल स्वरूप केन्द्रस्थ सविता के अरुणोदय की वार्ता है, संदेश एव शुभ समाचार है। अहिंसा तथा समता इसी सर्वोदय तीर्थ के अग्र सदेश वाहक तत्त्व हैं। "दुनिया के तीर्थों से ऊंचा है अपना तीर्थ, दामाने आसमा से इसका कलश मिला है" यही इसकी शुद्ध विराट्ता का चित्रण है। आत्मा का आत्मा ही अपना पवित्र तीर्थ है उससे परे व अन्य कुछ ऊँचा नहीं है।

प्रकृत विश्व धर्म स्वरूप

प्राणी-मात्र के लिये, जाति, कुल, देश, वर्ण, लिंग आदि से अनपेक्ष-सर्व विश्व के सर्व प्राणियों

1: (पद्म पुराण—५/२०६)

समता, सामंजस्य और सापेक्षता

इसमे उद्घोष किया गया है कि ससार मे विरोध वस्तु-व्यवस्था मे नही, मानव की ही दृष्टि मे विरोध रहता है और इसी कारण सापेक्षता और समन्वय मे ही अविरोध है विवेक और सत्य की राह है, गतिशील शान्ति की राह है। धर्म का यही स्वरूप चिर शाति देता है।

"भते करोमि समाइय"—इसमे प्रशात समता, शान्ति सामन्जस्य, सापेक्षता के ही अभ्यास का वह निर्देश है, जो इस योग धर्म की सार्वकालिक उपयोगता को प्रकट करता है। आज के आधुनिक जीवन के भी नाना सदर्भो मे इसकी उपयोगता निर्विवाद तथा स्पष्ट रूप से प्रकट होती है। तथा वर्तमान के वैज्ञानिक तथा यान्त्रिक युग के विकास से उत्पन्न बौद्धिक तथा श्रमिक वर्गो के हितो के आपस के टकराव की समस्या भी सापेक्षता के,—समता के आधार पर ही हल हो सकती है। बुद्धि की अनिवार्यता इससे प्रकट है कि बिना बुद्धि कोई कर्म या प्रयोग नही सभव होता, पर यह भी उतना ही सत्य है कि बिना प्रयोग बुद्धि का चिन्तन थोथा और निष्फल हो जाता है। बुद्धि का ज्ञानात्मक पक्ष तथा प्रयोग का क्रियात्मक पक्ष दोनो ही व्यवसाय तथा उद्योग की समृद्धि के लिए परस्पर परिपूरक रूप मे आवश्यक है—इसकी ऐसी सापेक्ष पहचान ही एक मात्र समस्या का हल भी है। ऐसे ही यत्र तथा मानव के हाथ के कौशल भी सापेक्ष है,—दोनो की अतिवादिता वैषम्य को उत्पन्न कर दगे। इनकी प्रधानता और गौणता का प्रश्न न रखकर इन्हे सहज मानव सेवा मे सापेक्ष रूप से प्रयुक्त रखना ही होगा। पर्यावरण सतुलन (Ecological) बैलेन्स की बात भी समता और सापेक्षता की ओर ही ईगित करती है। बुद्धि को शिक्षा से जागृत करते है—परन्तु प्रज्ञा के ज्ञतत्व के लिए अभ्यास भी उतना ही आवश्यक है। शिक्षा जगत् मे आज का अवरोध (Stalemate) ग्रहणात्मक तथा अभ्यासात्मक पक्षो के सामंजस्य की ही अपेक्षा करता है। बुद्धि जागकर भी यदि आचरण मे न आई तो सब कुछ व्यर्थ है। जन शक्ति और शासन शक्ति का आपस का विरोध भी सामजस्य, सापेक्षता और समता की माग कर रहा है। यदि व्यक्ति केन्द्र है तो समाज परिधि, तथा यदि समाज केन्द्र है तो शासन परिधि, और विस्तार रूप परिधि और केन्द्र के सामजस्य मे न व्यक्ति, न समाज और न शासन गौण है। इनमे से न कोई एक प्रधान है। इनमे समतौलता आवश्यक ही है। पदार्थ और ज्ञान—दोनो ही सासारिक जीवन मे समान रूप से आवश्यक है, इनमे से किसी को गौण या प्रधान नही किया जा सकता। पाश्चात्य सभ्यता ने पदार्थों की सचय तथा इच्छा की प्रधानता को उभार दिया है। इससे मानव प्रत्येक क्षेत्र मे असतोष आपाधापी,—अशाति से ही घिर गया है। पदार्थों की लक्ष्य-प्रधानता मे मानव परिधि की ओर दौडता जा रहा है और अत सुख एव शान्ति के स्व केन्द्र से, आत्म ज्ञान से दूर होता जा रहा है। गुण, ज्ञान तथा वीतरागता के आदर्श तथा स्वरूप मुनि को गृही जन दोनो हाथ जोड कर नमस्कार करता है, तो साधु दोनो हाथो को गृही के सामने फैलाकर उदर–पूर्ति को करता है, तो प्रवृत्ति व निवृत्ति मे कौन किससे ज्यादा प्रधान या उपयोगी है, क्या कुछ कहा जा सकता है? चिंतन और बुद्धि की कुशाग्रता नई-नई समस्याओ की समझ को समक्ष करती है जो मूढ या जड बुद्धि के परे है। पर विचार से उत्पन्न उलझनें अध्यात्म के निर्विचार क्षणो मे सुलझती हैं, ऐसे

तेज पुंज-प्रसर-प्रकाशितशेषदिक् क्रमस्य तदा ।
त्रैलोक्य-चक्रवर्तित्व चिन्ह मग्रे भवति चक्रम् ॥[1]

अपने तेज के समूह से समस्त दिशाओ को प्रकाशित करने वाला और तीनो लोको के चक्रवर्तित्व (आधिपत्य) का बताने वाला चिन्ह,—(प्रभा रश्मि) चक्र प्रथम उदित हो जाता है। ऐसा ही वर्णन ऋग्वेद मे है—

उदित्यु जात वेदस देवं वहन्ति केतव ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥

उस ज्ञातवेदस (सर्वज्ञ) सूर्य को ससार को प्रकट करने के लिये किरणे ऊपर लाती है। अर्थात् अब केवल ज्ञान सूर्य उदित होने वाला है, इस बात को आभा मडल का रश्मि-विकास प्रथम ही उदित होकर प्रकट कर देता है। इस प्रकार किरणे उदय से पूर्व ही केवल-ज्ञान-सूर्य को प्रकट करने लगती है—मानो वे ही उसे ऊपर ला रही है। अरुण-किरणोदय के तुल्य अरुण व पीत लेश्या विशुद्धि का क्रमोदय अलेश्य निर्मल केवल ज्ञान सूर्य आत्मा को ही बाहर प्रकट कर रहा होता है।

यह पूर्व मे बता चुके है कि हिंसक यज्ञो व कर्म काड तथा स्वर्ग-प्राप्ति मे विश्वास करने वाले वैदिक आर्यजनो ने भारत मे भ० हिरण्यगर्भ आदि तीर्थंकर के द्वारा प्रवाहित योग शासन मे निष्ठ अहिंसक आत्मोपासक तथा सिद्ध पद व मोक्ष मे विश्वास करने वाले वातरशन दिगम्बर अर्हंतपुरुषो के सम्पर्क मे आकर—उनकी अक्षर तथा निरक्षर आत्म-साधनाओ से परिचित हुए और उन्होने भी मोक्ष रूप श्रेयस तत्व को जाना और उसके सम्मुख हुए—तथा उन्होने इस आदि पुरुष व अर्हंत् पुरुषो की स्तुतिया भी गाई तथा उपनिषदो की रचनाए की, वेदो के संकलन किये।

वेदो की उत्पत्ति को इसी लिये पुरुष सूक्त मे इस तरह कहा गया कि ऋक्, यजु साम उस प्रभु को बताये आत्म-यज्ञ साधना से उत्पन्न हुए। उस आदि पुरुष भ० हिरण्यगर्भ की बहुत स्तुतिया नाना प्रकार नाना विशेषणो से तथा प्रतीक विम्बो से परोक्ष रूप मे की गई है—उसे हिरण्यगर्भ, ऋषभ द्युतिमान बृहस्पति चतुर्मुख, ब्रह्म प्रजापति, विभु ऋभु सूर्य, अग्नि, हिरण्यश्मश्रु हिरण्यकेश आदि आदि कह कर स्तुत किया है। यह भी कहा गया है कि वही पुरुष मनुष्य योनि मे देवत्व को, देव-भाव को प्राप्त हुआ था। कहा गया है "उन अर्हंत् देवो ने जो रथ बनाया है, वह घोड़े आदि वाहन की और लगाम आदि उपकरण की कोई अपेक्षा नही रखता अत यह ऋभु स्वरूप देव ही सर्वथा स्तुति के योग्य है। तीन पहियो का वह रथ अन्तरिक्ष लोक मे भ्रमण करता है, वह आपका बहुत महान् कार्य आपके देव-भाव का प्रकाशक है और ऐसे कार्यो से आप पृथ्वी और स्वर्ग दोनो को पुष्ट करते है। आपने अपने विचार से बिना प्रयत्न ही सुन्दर, गोल और अकुटिल रथ बनाया है उसको हम अपने इस यज्ञ मे सोम पान के लिए निमन्त्रित करते है।" इसी रथ को तीनो लोकों मे

1. हेम योग शास्त्र—११/४६

आहिर रोहेममृतं सुखं
रथमथ जिविं विर्दंयाम वदासि ।।[1]

अर्थ — ऊचे जाओ, उर्ध्वगमन शील होओ, गति रूप चारित्र-चरण को नीचे न करो, दक्षता (कुशलता) की अति (चरमता) यानी यथाख्यात चारित्र स्वरूप की प्राप्ति की ही पराकाष्ठा को प्राप्त होओ । जीवन का परम अन्त (चरमविन्दु) पराकाष्ठा अथवा परम धर्म यह ही है । स्व केन्द्रस्थ सविता यानी ज्ञान भास्कर के (धर्म) रथ को आरोहण करके अमृत (अव्याबाध, अक्षय) सुख को ही प्राप्त होओ, ऊचे ही (सिद्धालय को ही) आरोहण करो ।

यह सिद्ध अमृत पद अनन्त ज्ञान आत्मा का ही है । इसे ही शिव पद व इसे ही विष्णु का पद कहा गया हे । यह परम कल्याण का पद है । अत यह शिव पद भी कहा गया है । यह विभु इन्द्रिय ज्ञान का पद है, अत. विष्णु का पद हैं, गोलोक का गोचर पद है । गो का अर्थ पृथ्वी, गाय व परम आकाश, अन्तरिक्ष तथा सूर्य प्रकाश भी है । परन्तु गोलोक या गोचर पद मे यहा गो का लौकिक अर्थ नही है, यहा गो का अर्थ है ज्ञान, अलौकिक आत्म ज्ञान । ज्ञान का पूर्ण वैभव जहा प्रकट रहता है, ज्ञान का सदा बिहार जहा है, अथवा ज्ञान मे ही सदा जहा विचरण है ऐसा वह नित्य सर्वज्ञ केवल ज्ञान मय ध्रुव अक्षय पद है । यह ही गोलोक आत्म-अतरिक्ष स्थ केवल ज्ञान भास्कर का प्रकाश लोक है, ज्ञान लोक है । इसी ज्ञान भास्कर को निरीक्षण करते-करते लोकाकाश के अग्र-सिद्ध भूमि मे, सिद्धात्माये जा विराजती है । जैन योग की मूल संकलपना है सिद्धालय के सम्बन्ध मे । वही वेद की एक अन्य ऋचा मे भी गृहीत होकर इस प्रकार प्रकट हुई है—

चरन् वै मधु विन्दति
चरन् स्वादुमुदम्बरम् ।
सूर्य पश्य श्रेयाण
य. न तन्द्रयते चरैश्चरैवेति ।।

अर्थात् चरण शील, चारित्र आचरण वाले पुरुष मधु अमृत मय इष्ट) को प्राप्त होते हैं । चरण-शील (गतिशील) आचरण मे आगे जाने वाले अग्र पुरुष उत्-अम्बर, उर्ध्वतम आकाश के अग्रतम भाग को प्राप्त होते है । अविश्रात गति (आचरण) को प्राप्त सूर्य, ज्ञानालोक मय केवल ज्ञान सूर्य बन्ध होता है । दृढ निश्चय के साथ अपने आचरण चरण को बढाते चलो, निरतर अग्र गति शील (आचरण शील) रह कर गति-प्राप्त बनो ।

आत्म-चारित्र चरण की गति की उत्कृष्टता-प्राप्ति की प्रेरणा मे ज्ञानालोक पद की प्राप्ति की ही प्रेरणा है । लोक-सूर्य को प्रतीक करके आकाश के अग्रतम प्रदेश लोकाग्र शिखर सिद्धालय

1. अथर्व (८/१/६)

उसके मूल स्वरूप के हेतु—कारण परमात्मा—ज्ञायक स्वरूप की, अपरिणामी अक्षय आनन्द ज्ञान धाम को (धीरा पश्यन्ति) धारणा, ध्यान और समाधि मे निश्चल धीर योगी जन देखते है, जान लेते है। (हतस्थु भुवनानि विश्वा) सभी लोक उसी मे अर्थात् उसके ज्ञान मे प्रकाशित है। ज्ञायक परमात्म स्वरूप ही वह कारण परमात्मा है, (जैन योग मान्यतानुसार) जिससे कार्य परमात्मा,—सिद्धात्मा परिणत होता है। इसी ज्ञायक परमात्मा कारण (योनि) परमात्मा को उस हिरण्यगर्भ ऋषभ प्रबु के माध्यम से योगी जन देख कर अनुभव करके सभी लोका लोक जिसमे प्रकाशित है—ऐसे ज्ञान स्वरूप आनन्द ज्ञान धाम स्वरूप को अनुभव कर लेते है। इसी भाव को इस वेद मत्र मे प्रकट किया गया है।

इसी सूक्त के अगले मन्त्र मे कहा है—

"तमेव विदित्वा अति मृत्युमेति नान्य पथा विद्यते अयनाय"—उसी ज्ञान स्वरूप प्रजापति से आत्मा के स्वरूप को जानकर मनुष्य मृत्यु का अतिक्रमण करता है, मृत्यु पर (जन्म मरण रूप परम्परा पर) विजय प्राप्त करता है, अन्य कोई मार्ग नहीं है।

यह मन्त्र पुरुष सूक्त मे भी प्रजापति भ० हिरण्यगर्भ आदिनाथ (वृषभेश्वर) की स्तुति करते हुए आया है। उस हिरण्यगर्भ ऋषभनाथ प्रभु के सकल जिन स्वरूप,–ज्ञान मय अप्राकृत देह–स्वरूप को ध्यान द्वारा देखकर (सयोगी जिन गुण-सत्राति प्राप्त करके) अमर जीवन को प्राप्त किया जाता है। अविकल पुरुष-सूक्त के अर्थ इसी "योगानुशीलन" के भाग द्वितीय के चौथे अध्याय मे आ चुके है। यह हिरण्यगर्भ प्राचीन योग शासन ही एक मात्र प्राचीन सद्-धर्म मार्ग और मोक्ष पथ है। इस योग-शासन के प्रथम और मूल प्रवक्ता भ० हिरण्यगर्भ वृषभेश्वर हैं। सारे विश्व मे योग एव अध्यात्म का प्रवचन तथा प्रसार सर्वप्रथम उनके द्वारा हुआ।

वस्तुत योगाभ्यास मे परम समाधि की उपलब्धि सकल जिन स्वरूप से होती है, वही आत्मा की अमर अक्षय पद की साक्षी होती है। यह आत्मा तत्व चर्चा से नही,—योग के ध्यान और समाधि अगो की चर्या से ही साक्षात्कार होकर सप्राप्त होता है। कहा गया है कि तर्क द्वारा असत्य को भले ही सत्य करना सभव हो जाए, मगर तर्क द्वारा, चर्चा द्वारा मृत्यु पर विजय की उपलब्धि नही की जा सकी। आत्म-प्राप्ति मे चर्चा व तर्क का अभ्यास वैसा हीं वचकाना है जैसा किसी नीचे कक्षा के किसी छात्र की गणित से आईस्टीन के सापेक्षवाद सिद्धात को प्राप्त करने का प्रयास है, अथवा आकाशीय विज्ञान से अनभिज्ञ का चन्द्रमा के ऊपर पहुचने के तथ्य का प्रतिपादन है। तर्क तथा चर्चा महज सतही तत्व हैं, उनसे न आत्म प्राप्ति के प्रयोग तथा अनुभव खुलते, न उनका खडन ही हो सकता है। ध्यान समाधि की नि. शब्द जिनेश्वर सम प्रशातिमय अवस्था मे ही परमानन्द मय चिदानुभव की दिशा खुलती है।

हुआ देह–नागरी को सदा के लिये छोड़ कर लोकाग्र—प्रदेश पर अर्थात् अलौकिक परमानन्द आत्म धाम पर जा विराजता है। जो विश्व सत्ता सम्बन्धी तत्व प्राण तत्व की प्रकाश–किरणो को देखकर तथा उनसे अपने को भिन्न विशिष्ट ज्ञान मात्र ही, विविक्त ही अनुभव कर लेता है और इसी अनुभूति मे नित्य सम रूप स्थिर हो जाता हैं, उसी के लिए आत्म-साम्राज्य का यह अक्षय राज–सिंहासन है।

समयसार का उपरहार करते हुये आ० श्री कुंदकुंद ने कहा—

> मोक्खपहे अप्पाणं ठवेहिवेदयहि झाहि त चेव।
> तत्थेव विहर णिच्च मा विहरसु अण्णदव्वेसु ॥
> मोक्ष पथे आत्मानं स्थापय, वेदय ध्यायस्व तं चेतयस्व।
> तत्रैव विहर नित्यं मा विहार्षीरन्यद्रव्येषु ॥[1]

हे भव्य जीवात्मन्! तू मोक्ष के इस "मग्ग"—मार्ग मे अपने आत्मा को स्थिर स्थापित कर, इस मार्ग का ही वेदन (अनुभव) कर, इसी का ध्यान कर, इसी का ज्ञान कर और इसी मे निरन्तर विहार कर, अन्य पर–द्रव्यो मे (पर–पदार्थो तथा पर–भावो) मे विहार मत कर, विहार मत कर।

अन्तिम मंगल वाचन :—

> भवभयमपतन्वु ज्ञान विज्ञान सारं,
> निगमकुदुयजिव्हे भृंगवद् वेद सारम्।
> अमृतद्रधितश्चापायद् भृत्यवर्गान्,
> पुरुषमृषभमाद्यं जिनसंज्ञं नतो ऽस्मि ॥

भौरा जैसे पुष्प के सार मधु का संग्रह कर लेता है, वैसे ही उस सर्वज्ञ प्रभु ने ससार से मुक्त करने के लिए ज्ञान का सार ज्ञान विज्ञान का रहस्य–सार निकाला है। उन्होने क्षीरोदधि से अमृत को निकाला और भक्त–जनो को पिलाया। उन ही आद्य पुरुष श्री जिनेश ऋषभ प्रभु को मैं नमस्कार करता हूँ।

> इत्थं यथा तव विभूतिरभूज्जिनेन्द्र,
> धर्मोपदेशनविधौ न तथा परस्य।
> यादृक्प्रभा दिनकृतः प्रहतांधकारा
> तादृक् कुतो ग्रहगणस्य विकाशिनोऽपि ॥

1. (समयसार–४१२)

देव प्रशान्त चरित· शनकैर्विहृत्य,
देशान् बहूनिति विबोधित भव्यसत्व ।
भेजे जगत् त्रय गुरुर्विघुत्रोप्रमुच्चै ।
कैलासमात्म यशसोऽनुकृति दधानम् ।।[1]

वे प्रकृष्ट शान्त चारित्र वाले देव अनेक भव्य—जीवो को तत्य–ज्ञान प्राप्त कराते, तीन लोक के परम गुरु भगवान् वृषभदेव अनेक देशो मे विहार करके चन्द्रमा के समान उज्ज्वल, ऊचे और अपना अनुकरण करने वाले "कैलास" को प्राप्त हुए ।

मंगलं हि हिरण्यगर्भं स्त्वर्हत्, प्रमंगलं जिन ।
मंगलं स्याद् यद्विज्ञानं, मंगल योग शासनम् ।।

भगवान् हिरण्यगर्भ (ऋषभनाथ) और अर्हत् जिनेश्वर प्रभु मगलकारी हो, मगलकारी हो स्याद्वाद (अनेकात) विज्ञान और उनका योगशासन सब को मगलकारी हो ।

कैलाश को अपने शुचि चरण कमल विहार से पवित्र बना देने वाले प्रभो ! आपके अपूर्व योग शासन के दिव्य योग और ज्ञान मे सर्व जन ही तद्रूप ही परिणत होकर परम शान्ति और अक्षय श्रेयस् सुख को प्राप्त हो ।

यत्र स्याद्वाद सिद्धान्तो यत्र वीरो जिनेश्वर ।
तत्र श्री विजयो भूति ध्रुवानन्दो ध्रुवादर ।।

ओ शान्ति शान्तिः शान्ति

समाप्तमिदं योगानुशीलन ग्रन्थम् ।

।। शुभमस्तु ।।

1. (आदि पुराण—२५/२८)

(६)

हे हिरण्यगर्भ! वीतराग सर्वज्ञ अपार,
हे दिव्यमनोज्ञ! स्फटिक सम विमल ध्येयाकार।
योग की जले अति ज्योति, जन जन मे अविकार,
आलोकित करे यह जन जन मे शुद्धाचार ॥

(७)

कैलास के ऋषभ जिन का जन करें जयकार,
करे जयकार नाभि पुत्र ऋषभ का जयकार।
प्रभु हिरण्यगर्भ ऋषभ का करें जय जय कार,
जय गान महामानव ऋषभ का जय जय कार ॥

(८)

हे अमृत तत्व! दाता आत्म सिद्ध रस सार,
हे केवल-किरण! भव तरणी, अमित गुण प्रसार।
हे शिव सत्य चैतन्य प्रकाश! ज्ञान आधार!,
प्रभु शतप्रणाम आपको, करो शान्ति विस्तार ॥

• • •
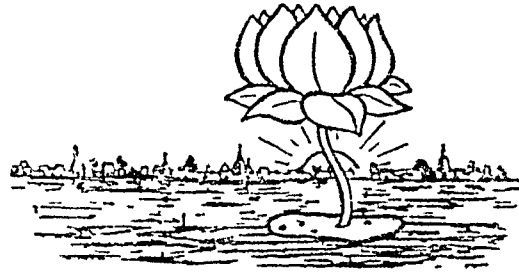
पुष्प दन्त–अ गधारी, पुष्प दत्त भूतवली ।
गुणधर–आदि अनेक आचार्य इस शताब्दी मे हुए है ।

ईसवीं शताब्दी-२—

इसमे जिनचन्द्र, पद्मनन्दि (कुंदकुंद), उमा स्वामी, समन्तभद्र आदि आचार्य हुए हैं ।

ईसवीं शताब्दी–३—

शाम कुंद, यशकीर्ति, वादिराज, तुम्बुवुर आदि आचार्य

ईसवीं शताब्दी-४—

देवनन्दि, मल्लवादि, जयनन्दि आदि प्रमुख आचार्य ।

ईसवी शताब्दी–५—

पूज्यपाद, कुमारनन्दि, आर्यमक्षु, नागहस्ती आदि प्रमुख आचार्य ।

ईसवी शताब्दी–६—

योगेन्दुदेव, यतिवृषभ, सिद्धसेन दिवाकर, इन्द्रसेन, पात्र केसरी कीर्तिधर आदि प्रमुख आचार्य ।

ईसवी शताब्दी–७—

जटासिंहनन्दि, वसुनन्दि प्रथम, वीरनन्दि प्रथम, माणिक्यनन्दि प्रथम, अकलकदेव, रविषेण आदि प्रमुख आचार्य हुए ।

ईसवी शताब्दी–८—

वप्पदेव, विद्यानन्द प्रथम, जिनसेन, वीरसेन, विजयसेन, देवसेन प्रथम आदि अनेको आचार्य इस शताब्दी मे हुए ।

ईसवी शताब्दी–९—

गुणभद्र, महावीराचार्य, हरिषेण, देवसेन द्वितीय, वादीभसिंह, गुणनन्दि आदि आचार्य प्रमुख रूप से हुए ।

ईसवी शताब्दी–१०—

अनन्त कीर्ति प्रथम, माणिक्यनन्दि द्वितीय, अमितगति प्रथम, सोमदेव, प्रभाचन्द्र, अनन्तवीर्य प्रथम, अमृतचन्द्र, अमितगति द्वितीय, लघु शमन्तभद्र, वादी राज द्वितीय आदि प्रमुख आचार्य ।

आपने जयपुर खानिया मे ही नश्वरदेह छोडकर सुर लोक प्रयाण कर गये। तीसरे आचार्य श्री शिव सागर जी हुए। आपका जन्म १९०१ ई० मे हुआ। ११ वर्ष आचार्य पद पर रहे। आपके आचार्यत्व मे खानिया–तत्व चर्चा का आयोजन हुआ। १९६८ ई० के वर्षायोग को प्रतापगढ मे पूरा कर श्री महावीर जी (राजस्थान) आये वहा आपका फाल्गुन की अमावस्या को समाधि मरण हुआ। तब चतुर्विध सघ ने श्री धर्म सागरजी को जो आ० श्री शिव सागरजी के गुरु भाई है, आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। ये ही वर्तमान आचार्य धर्म सागरजी है।

ये विवरण नव भारत टाइम्स के आलेख से साभार सग्रहीत है।

लेखक ने स्वय बचपन मे सम्मेद शिखरजी मे आचार्य शिरोमणि शान्ति सागरजी ससघ के दर्शन किये। आपके ही अन्य शिष्य चन्द्र सागरजी के भी बचपन मे दर्शन किये। बचपन मे आचार्य श्री सूर्यसागरजी का दर्शन तथा सत्सग मिला। आचार्य श्री वीर सागरजी के जयपुर विहार काल मे ही उनके सघ की माता श्री पार्श्वमतिजी के सान्निध्य मे सपत्नी ब्रह्मचर्य व्रत ग्रहण किया। आचार्य वीरसागरजी के दर्शन जयपुर मे व आचार्य शिव सागरजी के देवलि मे तथा आ० प्र० धर्मसागरजी के जयपुर मे ही दर्शन लाभ लेखक को हुए है। इन सब आचार्य गणो को सादर वदन। आ० देशभूषण जी महाराज के दर्शन जयपुर व भीलवाडा मे तथा ऐलाचार्य मुनि विद्यानन्द जी के जयपुर मे तथा आ० श्रीविमल सागरजी महाराज के जयपुर तथा सम्मेद शिखरजी मे दर्शन तथा वदना के लाभ हुए है— इन सबको भाव सहित बार-बार नमन।

परिशिष्ट—३

दिगम्बर जैन संस्कृति के वैश्विक स्वरूप प्रवाह के सदर्भ मे

किसी भी सस्कृति के स्वरूप की उसमे विद्यमान आराध्य, उपास्य और ध्येय से तथा आराधना, उपासना और ध्यान पद्धति और भावना से पहचान स्पष्ट झलक जाती है। क्योकि यह वह पक्ष है जो उस सस्कृति का हृदय है और आत्मा से सम्बन्धित है। इस सस्कृति के इस भारत धरा पर इस युग मे आदि पुरस्कर्ता महा श्रमण वीतराग दिगम्बर सर्वज्ञ केवल ज्ञान भास्कर भगवान् ऋसभदेव हिरण्यगर्भ है। पर यह सस्कृति सनातन और अनादि कालीन है—वैसे ही जैसे स्वय आत्म एक अव्यय अजन्मा अनादि निधन नित्य सनातन तत्व है—क्योकि सब य स्वय आत्मा से ही है— ऐसे ही आत्मा की वास्तविकता का तथ्य ही इस सस्कृति का अटल-अचल वज्रवत् मूलाधार है। उसकी चिन्मय सत्ता अति आश्चर्य जनक है। किसी मनीषी ये भावोद्गार सही ही है—

"If you have near been amazed by the fact that you exist you are squandering The greatest fact of all"

भावना ही प्रत्येक आराधना का प्राण है, हृदय है। उसकी उत्कृष्टता निर्मलता और विराट्ता अभिभूत करके ग्रन्थि मुक्त करती है और विराट् उत्कृष्ट और पवित्र आत्म तत्व को प्रकट करने के लिए विशेष अगीभूत होती है, अत ही इस सस्कृति के अनुपम त्रिरत्नो मे सम्यक् श्रद्धा सर्वागणी है। वही उस अलिग ग्रहण तत्व को साकार रूप मे पर्यवसित करती है और फिर निर्विशेप नित्य, परिणामी-अपरिणामी मे केन्द्रस्थ भी कर देती हे।

दि० जैनो मे पूजा काल मे कृत्रिम और अकृत्रिम सब ही लोक तथा सर्व तीन काल मे विद्यमान जिनालयों, चैत्यालयो मे विराजमान जिन बिम्बो की वदना तथा पूजार्थ प्रदान किये जाते है। यहा जिन बिम्बो से उन सब ही जिनेश्वर बिम्बो का ग्रहण है जो सहज रूप से तथा कृत्रिम रूप से सर्व क्षेत्रो तथा कालो मे है, और होगें—यह वदना उन ध्येय, पुरुपाकार, सकल स्वरूप-बिम्बो की भी है जो अकृत्रिम व सहज रूप से मानव-हृदय-स्थलियो मे भी अनादि से अभिव्वक्त होते है—हुए है और होगें। यह वदना इस प्रकार प्रत्येक आराधक के अपने हृदय मे वर्तमान और अभी तक अव्यक्त निज सकल पुरुपकार या निष्कल पुरुपकार स्वरूप की भी है जो व्यक्त होने की प्रतीक्षा मे है। यह इस प्रकार वस्तुत और मूलतः अपनी ही तो आराधना—अपने ही परम निर्मल चिदानन्द स्वरूप की ही पूजा है।

स्व आत्मा का और सर्वत्र ही समान आत्माओ का जो समान एकत्व भाव इस सस्कृति की पूजा मे निहित है वह अनोखा ही भाव हे। यह इस सस्कृति के विराट् और अनुपम भाव-विस्तार को प्रकट करता है। सम दर्शन और समता के इससे ऐसे पवित्र सूत्र प्रवाहित होते है जो दुनिया मे शाति और अविरोध को प्रतिष्ठित करने को सक्षम है।

यहा इस सस्कृति की आराधना मे आराध्यो की नाम गणना करके तथा नाम न गणना करके जो पूजा तथा वदनाए की जाती है—वस्तुत व्यक्ति निष्ठ आदर्श-पुरुप-निष्ठ होकर भी भावत और वस्तुत व्यक्ति व पुरुप निष्ठ न होकर स्व भाव निष्ठ, गुण निष्ठ ही है। ये तो निस्पृही वीतरागी पवित्र स्वरूप आत्मा की ही है—जो किसी भी क्षेत्र मे हो, किसी भी काल मे हो।

पच नमस्कार (णमोकार) मत्र मे परमेष्ठियो की—निर्मल पवित्र अवस्था मे परम प्रतिष्ठित स्वरूपो की वदना है—जो देश व काल निरपेक्ष है—कोई पक्षपात नही है सर्व अरिहत, सिद्ध आचार्य, उपाध्याय और सर्व ही साधुओ को जो परमेष्ठी हुए हे, हे और होगें—उनकी वदना है—किसी एक व्यक्ति की वदना नही है। किसी जाति वर्ण लिग का कोई आगह नही हे इसमे। अपने ही सौन्दर्य मे प्रतिष्ठित गुणी पुरुपो की व उनके विशिष्ट केवल ज्ञानादि अनन्त गुणो की वदना है, पूजा है—भाव के माध्यम से भावोत्तीर्ण होने के लिये। इस सस्कृति के योग मार्ग स्वरूप के साथ साथ जो सख्यावाद-सख्या प्रसार अत साख्य स्वरूप भी जो इसके ज्ञान का प्राचीन और महत्वपूर्ण अग रहा है—उसके भी सकेत हम आगे प्रकट करेगे जो विद्वज्जनो के लिए विचारणीय है।

यहा हम प्रथम सप्त शत विशति जिनेश्वरो के नाम दे रहे है—जो इस सस्कृति के अनोखे अग हैं।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ सिद्धार्थजी २ विमल स्वामीजी ३ जयघोषजी ४ आनन्दसेनजी (नदिसेनजी) ५ स्वर्ग मगलजी ६, वज्र धरजी ७ निर्वाणजी ८ धर्मध्वजजी ९ सिद्धसेनजी १० महासेनजी ११ रविमित्रजी १२ सत्यसेनजी १३. चन्द्रनाथजी १४ महीचन्द्रजी १५ श्रुताजनजी १६ देवसेनजी १७ सुव्रतजी १८ जिनेन्द्रजी १९ सुपार्श्वजी २० सुकौशलजी २१ अनतजी २२. विमलजी २३. अमृतसेनजी २४ २४ अग्निदत्तजी।

३. धातकी खड विजयमेरु भरत क्षेत्र सम्बन्धी चतुर्विशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ रत्नप्रभजी २ अमितजी ३. सभवजी ४ अकलकजी ५. चन्द्रस्वामीजी ६ शुभकरजी ६ तत्वनाथजी ८ सुन्दरजी ९ पुरदरजी १० स्वामीजी ११ देवदत्ताजी १२ वासव दत्तजी १३ श्रेयसजी १४ विश्वरूपजी १५ तप्ततेजजी १६ प्रवोधदेवजी १७ सिद्धार्थजी १८ अमलप्रभजी १९ सजमजी २० देवेन्द्रजी २१ प्रवरनाथजी २२ विश्वसेनजी २३ मेघनदिजी २४ त्रिनेत्रजी।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ जुगादिदेवजी २. सिद्धान्तजी ३ महेशनाथजी ४ परमार्थजी ५ वरसेनजी ६ समुद्ररजी ७ भूधरनाथजी ८ उद्योतजी ९ आर्ज्जवजी १० अभयजी ११ अप्रकपजी १२ पद्मस्वामीजी १३ पद्मनन्दिजी १४. प्रियकरजी १५ सुकृतनाथजी १६ भद्रेश्वरजी १७ मुनिचन्द्रजी १८. पचमुष्टिजी १९. गागयिकनाथजी २० गणनाथजी २१ सर्वागदेवजी २२ ब्रह्मेन्द्रनाथजी ९३ इद्रदत्तजी २४. दयानाथजी।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ सिद्धनाथजी २. सम्यग्गुणजी ३ जिनेन्द्रनाथजी ४ सपन्नाथजी ५ सर्व स्वामीजी ६ मुनिनाथजी ७ विशिष्टजी ८ अद्वितयनाथजी ९ ब्रह्मशातिजी १० पर्वनाथजी ११, अकामुकजी १२ ध्याननाथजी १३ कल्पजिनजी १४ सवरजी १५ स्वच्छनाथजी १६ आनन्दनाथजी १७ रविप्रभजी १८ चन्द्रप्रभजी १९ सुनन्दजी २० सुकर्णजी २१ सुकमजी २२ अममजी २३ पार्श्वनाथजी २४ शाश्वतजी।

४. धातकी खडपूर्व विजय मेरु ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी चतुर्विशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ वज्रजी २ उदयदत्तजी ३ सूर्यजी ४ पुरुषोत्तमजी ५ शरणजी ६ अवबोधजी ७ निर्विकमजी ८ विक्रमजी ९ हरीन्द्रजी १० परिनेत्रिनजी ११. निर्वाणसूरजी १२ धर्मधुरधरजी १३ चतुर्मुखजी १४ सुकृतेन्द्रजी १५ श्रुताम्बुजजी १६ विमलादित्यजी १७ देवदेवजी १८ धरणेद्रजी १९ तीर्थनाथजी २० उदयानन्दजी ११ सर्वार्थजी २२ धार्मिकजी २३ क्षेत्रस्वामीजी २४ हरिचन्द्रजी।

मानजी ८ अमृतेदुजी ९ संख्यानन्दजी १० कल्पकृतजी ११ हरिनाथजी १२ बाहुस्वामिजी १३ भार्गवजी १४ भद्रदेवजी १५ प्रविपातजी १६ ब्रह्मचारित्रजी १७ विपोषितजी १८ अमाक्षिकजी १९ चारित्रसेनजी २० पारिणामिकजी २१ शाश्वतनाथजी २२ तिघिनाथजी २३ कौशिकजी २४ धर्मेशजी ।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ साधितजी २ जिनस्वामीजी ३ स्तिमितीद्रजी ४ अत्यानदजी ५ पुष्पकोत्फुल्लजी ६ मुडकजी ७ प्रहतजी ८ मदनहिंजी ९ हर्शमिद्रजी १० चन्द्रपार्श्वजी ११ अब्जबोधजी १२ जिनवल्लभजी १३ विभूतजी १४ कुकुप्सजी १५ सुवर्णशरीरजी १६ हरिवासजी १७ प्रियमित्रजी १८ सुधर्मजी १९ प्रियारत्नजी २० नदनाथजी २१ अश्वानीकजी २२ पर्वनाथजी २२ पार्श्वनाथजी २४ चितहृदयजी ।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ रवीदजी २ सुकुमालिकजी ३ प्रश्रितवजी ४ कुलरत्नजी ५ धर्मनाथजी ६ शोमजिनजी ७ वरुणेन्द्रजी ८ अभिनन्दजी ९ सर्वनाथजी १० सुदिष्टनाथजी ११ शिष्टजिनजी १२ सुधन्यजी १३ सोमचन्द्रजी १४ क्षेत्राधीशजी १५ सदतिकजी १६ जय तजी १७ तमोरिपजी १८ निर्मलजी १९ कृतपार्श्व जी २० बोधलाभजी २१ वहुनदजी २२ दिष्टस्वामिजी २३ कु कुमाभजी २४ वक्षेशायजी ।

७. पुष्करार्द्ध द्वीप मन्दिर मेरु भरत सम्बन्धी चतुर्विशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ मदनेद्रजी २ मूर्तस्वामिजी ३ निरागजी ४ प्रलवितजी ५ पृथ्वीपतजी ६ चारित्रनिधि स्वामीजी ७ अपराजितजी ८ सुवोधकजी ९ बुद्धेशजी १० वेतालिकजी ११ त्रिमुष्टजी १२ मुनिबोधकजी १३ तीर्थस्वामीजी १४ धर्माधीशजी १५ धरणेशजी १६ प्रभावजी १७ अनादिदेवजी १८ अनादि प्रभजी १९ सर्वतीर्थजी २० निरूपमजी २१ कुमारजी २२ विहारग्रहजी २३ धारणेश्वरजी २४ विकाशजी ।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ जगन्नाथजी २ प्रभाशजी ३ सूरस्वामीजी ४ भरतेशजी ५ दीर्घाननजी ६ विजातकीर्त्तिजी ७ अवणानजी ८ प्रबोधनजी ९ तपोनिधजी १० पावकजी ११ त्रिपुरेशजी १२ सौगतजी १३ श्रीवासजी १४ मनोहरजी १५ शुभकर्मजी १६ इष्टसेवकजी १७ अमलेद्रजी १८ धर्मवासजी १९ प्रशादजी २० प्रभामृगाकजी २१ अकलकजी २२ स्फटिकप्रभजी २३ गनेद्रजी २४ ध्यानजिनजी ।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ वसनध्वजी २ त्रिजयतजी ३ त्रिस्थभजी ४ परमब्रह्मजी ४ अवालीशजी ६ प्रवादिकजी ७ भूमानदजी ८ त्रिनयनजी ९ विद्वेपजी १० परमात्मप्रसगजी ११ भूमीन्द्रजी १२ गोस्वामीजी १३ कल्याण प्रवाशितजी १४ मडलेशजी १५ महावासवजी १६ तेजउदयजी १७ दिव्यज्योतिपजी १८ प्रबोधितजी १९ अभयकरजी २० प्रमितजी २१ दिव्यस्फारकजी २२ व्रतस्वामीजी २३ निधिनाथजी २४ निष्कर्मकजी ।

१४ नारायणजी १५ प्रशमौकजी १६ भूपतजी १७ सुदिष्टजी १८ भवभीरकजी १९ नन्दनजी २० भार्गवजी २१ वासवजी २२ परवासजी २३ वनवासिजी २४ भरतेशजी ।

१०. पुष्कराद्धं द्वीप विद्युन्माली ऐरावत क्षेत्र सम्बन्धी चतुर्विंशति जिनेश्वर तीर्थंकर

अतीत काल सम्वन्धी जिनेश्वर

१ उपशातिजी २ फाल्गुजिनजी २ पूर्वाशजी ४ सुन्दरजी ५ गौरवजी ६ त्रिविक्रमजी ७ नरसिंहजी ८ मृगवासजी ९ शोभजी १० शुद्धावरजी ११ अपापजिनजी १२ विवाधजी १३ साधिकजी १२ माधात्रजी १५ अश्वतेजजी १६ विद्याधरजी १७ सुलोचनजी १७ मौननिवजी १९ पु डरीकजी २० चित्रगणजी २१ मुनीद्रजी २२ सर्वकलजी २३ भूरिश्रवजी २४ पुष्पागजी ।

वर्तमान काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ गागेयकजी २ मल्लवासजी ३ भीमजी ४ दयानाथजी ५ भद्रनाथजी ६ स्वामिजिनजी ७ हनिकजी ८ नदघोपजी ९ रूपवीजजी १० वज्रनाभजी ११ सतोषजी १२ सुधर्मजी १३ फनीश्वरजी १४ वीरचन्दजी १५ मेघानीकजी १६ स्वच्छनाथजी १७ कोपक्षयजी १८ अकामजी १९ धर्मधामजी २० सुक्र-सेनजी २१ क्षेमकरजी २२ दयानाथजी २३ कीतपायजिनजी २४ शुभकरजी ।

भविष्यत् काल सम्बन्धी जिनेश्वर

१ अदोपजी २ वृपभजी ३ विनयानदजी ४ मुनिभारतजी ५ इद्रकजी ६ चद्रकेतजी ७ ध्वजा-दित्यजी ८ वस्तुबोधकजी ९ मुक्तगतजी १० धर्मबोधकजी ११ देवाङ्गजी १२ मारीचजी १३ जीवनाथजी १४ जशोधरजी १५ गौतमजी १६ मुनिसुद्धजी १७ प्रवोधकजी १८ सदानीकजी १९ चारित्रवाथजी २० सदानन्दजी २१ वेदार्थजी २२ सुधानीकजी २३ ज्योतिमूर्तजी २४ सुरार्घजी ।

जैन परम्परा काल को एक चक्र की भाति ऊपर नीचे घूमते हुए मानते है । अत काल का ऊपर उठता भाग उत्सर्पिणी और नीचे जाता भाग अवसर्पिणी होता है—अर्थात् काल गति मे उत्थान भी है और पतन भी है—यानी तव प्राणी जगत् की विवर्धमान गति और हीनमान गति लक्षित होती है । इन प्रत्येक दो विभागो के ६-६ वेद लक्षित किये गये है । इस प्रकार अवसर्पिणी के पहले तीन काल विभागो मे उत्तम मध्यम और जघन्य भोग भूमि रहती हे । चौथे काल मे कर्म भूमि की रचना आती है । इस काल मे केवल ज्ञान उत्पन्न होता है और मुक्ति भी सभव होती है । तीर्थङ्कर जिनेश्वरो का विहार होता हे । पचम तथा छठा काल ह्रास वहीनता का समय रहता हे क्योकि इस काल मे चक्र नीचे घूमता है । उत्सर्पिणी मे उसी प्रकार फिरवृद्धि होती जाती है । इस प्रकार अनादि शाश्वत् ध्रुवकाल की वतमानता इस अनादि ससार मे होती रहती है । पर्याये उदित होती है और व्यय होती है—उनका ही एक प्रवाह–एक सतत् सन्तति रहती हे—यह सृष्टि तथा लप-प्रलय का स्वरूप है । विदेह भूमियो मे सर्वथा चोथा काल वर्तमान रहने से सदा ही तीर्थङ्कर प्रभु वहा विद्यमान हैं और वर्तमान मे जीवन्त सीमन्धर महाप्रभु का शासन है ।

व्यक्ति देह पर विभिन्न अगो पर धारण भी करते है। चैत्यो यत्र प्रतिष्ठा यत्र होते है। वैसे राजगृहो राजकिलो पुर द्वारो पर भी यत्रो के उत्कीर्ण करने की परम्परा रही है।

यत्र निर्माण की विधि का श्लोक विद्यानुवाद मे इस प्रकार आया है—

                                        ९   १६   ७   ८
इच्छा कृतार्द्धकृत रूप हीनं। धने गृहे, षोडश, सप्त चाष्टौ।
१५   १०   १   २   ७   ६   ३   १   ४   ५
विधि दशमे प्रथमे च कोष्ठे। द्वि, सप्त षट् त्रि, कु वेद वाण ॥

अर्थात्—जिस सख्या का यत्र इच्छित हो, उस सख्या को अर्ध कर दे, उसमे से एक-एक को कम कर दे। इसे एक कोष्ठ को हीन (कम) करके अगले कोठे मे लिख दे। अब प्रत्येक सख्या को एक-एक कम करके लिखना होगा और उनका क्रम धन गृह ९ वा कोठा तथा आगे २ के एक-एक कम की हुई सख्या को क्रमश १६ वें कोष्ठे, ७ वे कोष्ठे, ८ वे कोष्ठे फिर १५ वे कोष्ठे मे लिखते चले जाए। तथा फिर १० वे कोष्ठे मे लिख दे। अब जो कोष्ठे खाली रहे उनमे क्रमशः १, ७, ६, ३, ८, १, ४, ५ लिख दे। बस यत्र पूरा हो गया। तीस चौबीस चौसठ आदि किसी भी सख्या के सोलह कोष्ठे वाले यत्र इसी विधि से लिखे जा सकते हैं। सब सोलह कोष्ठे यत्रो की यह एक ही विधि है। यत्र निर्माण व लिखने या उत्कीर्ण करने की कई विधिया है।

अलग-अलग यत्रों के धारण के फल अलग-अलग है। ऊपर तीस चौबीस के यत्रो मे सख्याओ से जैन तत्वो को सकेत रूप से ही कह दिया गया है। तत्व-साकेतिक सख्याओ को धारण की ही महिमा है तो जो पुण्य शील व्यक्ति इन तत्वो को स्वय अपने अन्तर मे आचरित करते है और सदा धारण करते है वे तो अपने आपको धन्य ही कर लेते है। अष्ट सिद्ध गुणो को ही वे धारण करने वाले कालान्तर मे क्यो न हो जायेगे ?

(३) दिगम्बर श्रमण परम्परा में १६९ पुण्यात्मा पुरुष :—इस काल मे इस परम्परा मे १६९ पुण्यात्मा पुरुष हुए। इनमे से बहुतो ने उसी भव से मोक्ष की प्राप्ति की और बहुत से शीघ्र आगे मुक्ति प्राप्त करेंगे।

इनमे १०६ पुरुष तो पुण्यात्मा ही है। बाकी ६३ पुरुष शलाका पुरुष है। इनमे १०६ पुरुषों के पद इस तरह बताये गये है—

(१) कुलकर—१४।

(२) २४ तीर्थंकर देवो की २४ माता व २४ पिता—कुल मिला कर ४८ व्यक्ति।

(३) २४ कामदेव।

(४) ११ रुद्र।

(५) ९ नारद।

सुदर्शन (६) नन्दी (७) नन्दि मित्र (८) राम (९) पद्म (बलराम या बलदाऊ)। इनमे पहले ८ ने मुक्ति प्राप्त की व ९ वे ने स्वर्ग प्राप्त किया।

(२) नारायण—ये ९ हुए। नाम है—(१) त्रिपृष्ठ (२) द्वि पृष्ठ (३) स्वयम्भु (४) पुरुषोत्तम (५) पुरुषसिंह (६) पुंडरीक (७) दत्त (८) लक्ष्मण नारायण (९) कृष्ण नारायण।

(३) प्रति नारायण—ये भी ९ हुए। नाम है—(१) अश्वग्रीव (२) तारक (३) मेरक (४) मधु कैटभ (५) निशुम्भ (६) बलि (७) प्रहरण (८) रावण (९) जरासिंधु।

नारायण व प्रतिनारायण भरत खंड (आर्य खंड) के व दो इसी से लगे मलेच्छ खंड के—इस प्रकार तीन खण्ड पृथ्वी के शासक होते है। पहले प्रतिनारायण होता है—उसका संहार कर नारायण राज्य करते है।

तीर्थंकर चौबीस तीर्थङ्कर ऋषभादि के नाम पहले ऊपर आ चुके हैं।

रुद्र—ये ११ हुए हैं। नाम है—(१) भीम बली (२) जितशम्भु (३) रुद्र (४) वैश्वानर (५) सुप्रतिष्ट (६) अचल (७) पुंडरीक (८) अजितधर (९) अजित नाभि (१०) पीठ (११) सात्यकि पुत्र।

ये रुद्र तीर्थङ्करो के समय मे होते है। ये ११ रुद्र भव्यात्मा ही होते है और कालांतर मे नियम से मोक्ष जाते है।

नारद—ये ९ हुए है। इनके नाम है—(१) भीम (२) महा भीम (३) रुद्र (४) महारुद्र (५) काल (६) महा काल (७) दुर्मुख (८) नरक मुख (९) अधोमुख। ये अटल ब्रह्मचर्य के धारी व भव्यात्मा होते है। ये भी कालांतर मे मोक्ष जाते है।

कामदेव—ये २४ हुए है। (१) बाहूबलि (२) अमिततेज (३) श्रीधर (४) दश भद्र (५) प्रसेन जीत (६) चन्द्रवर्ण (७) अग्नि मुक्ति (८) सनत्कुमार चक्रवर्ती (९) वत्सराज (१०) कनकप्रभ (११) सेध वर्ण (१२) शान्तिनाथ तीर्थङ्कर (१३) कुंथुनाथ तीर्थङ्कर (१४) अहरनाथ तीर्थङ्कर (१५) विजयराज (१६) श्रीचन्द्र (१७) राजा नल (१८) हनुमान (१९) बल राजा (२०) वसुदेव (२१) प्रद्युम्न (२२) नाग कुमार (२३) श्रीपाल (२४) जम्बू स्वामी।

ये भव्य जीव थे। इनमे कई तद्भव मोक्ष गामी हुए और कई कालांतर मे मोक्ष को प्राप्त करेगे। इन की सुन्दरता अनुपम थी और महान् पुण्यात्मा थे।

इस प्रकार २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्री, ९ नारायण, ९ प्रति नारायण तथा ९ बलभद्र मिलकर ६३ शलाका के पुरुष हुए है।

भ० तीर्थङ्करो के माता पिता आदि सम्बन्धी कुछ ज्ञातव्य बाते इस प्रकार है। ये सब क्षत्रिय कुलोत्पन्न बलवान्, शूरवीर पुरुषार्थी थे तथा साथ ही अत्यन्त करुणा दया तथा अहिंसा से प्रपूरित थे।

(९) **पुष्पदन्त स्वामी**— नगरी–काकन्दी नगरी। माता का नाम–रामा। पिता का नाम–सुग्रीव। गर्भ तिथि–फालगुन कृष्णा ६। जन्म तिथि–मगशिर शुक्ला १। तप तिथि–मगशिर शुक्ला १। ज्ञान तिथि–कार्तिक शुक्ला २। निर्वाण तिथि–भादवा शुक्ला ८। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–मगर।

(१०) **शीतलनाथ**—नगरी–भद्दलपुरी। माता का नाम–नन्दा। पिता का नाम–दृढरथ। गर्भ तिथि–चैत्र कृष्णा ८। जन्म तिथि–माघ कृष्ण १२। तप तिथि–माघ कृष्णा १२। ज्ञान तिथि–पौष कृष्णा १४। निर्वाण तिथि–आसोज शुक्ला ८। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–श्री वृक्ष।

(११) **श्रेयास नाथ**—नगरी–सिंहपुरी। माता का नाम–वेणुदेवी। पिता का नाम–विष्णु गर्भ तिथि–जेष्ठ कृष्णा ६। जन्म तिथि–फालगुन शुक्ला ११। तप तिथि–फाल्गुन कृष्णा–११। ज्ञान तिथि–माघ कृष्णा ३०। निर्वाण तिथि–श्रावण शुक्ला १५। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–गैंडा।

(१२) **वासुपूज्य**—नगरी–चम्पापुर। माता का नाम–विजिया। पिता का नाम–वसुपूज्य। गर्भ तिथि–आषाढ कृष्णा ६। जन्म तिथि–फालगुन शुक्ला १४। तप तिथि–फालगुन कृष्णा १४। ज्ञान तिथि–भादो कृष्णा २। निर्वाण तिथि–भादो शुक्ला १४। निर्वाण स्थल–चम्पापुर। चिन्ह–भैंसा।

(१३) **विमलनाथ**—नगरी–कम्पिला नगरी। माता का नाग–जयशामा। पिता का नाम–कृतवर्मा। गर्भ तिथि–जेष्ठ कृष्ण १०। जन्म तिथि–माघ शुक्ला १४। तप तिथि–माघ शुक्ला ४। ज्ञान तिथि–माघ शुक्ला ६। निर्वाण तिथि–आषाढ कृष्णा ८। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–सूअर।

(१४) **अनन्त नाथ**—नगरी–अयोध्या नगरी। माता का नाम–शर्वयशा। पिता का नाम–सिंहसेन। गर्भ तिथि–कार्तिक कृष्णा १। जन्म तिथि–जेष्ठ कृष्णा १२। तप तिथि–जेष्ठ कृष्णा १२। ज्ञान तिथि–चैत्र कृष्णा ३०। निर्वाण तिथि–चैत्र कृष्ण ३०। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–सेही।

नोट —(१) भ० श्री ऋषभदेव से लेकर भ० श्री अनन्त नाथ तक सब तीर्थंकर प्रभु-क्षत्रिय कुल–सूर्य वंश मे ही उत्पन्न हुए है। इनके अतिरिक्त शान्तिनाथ, मल्लिनाथ तथा नमिनाथ तीर्थंकर भी क्षत्रिय कुल–सूर्य वंश यानि इक्ष्वाकु वंश मे ही हुए हैं। मुनि सुव्रत तथा नेमनाथ यादव वंशी क्षत्रिय कुल मे, धर्मनाथ, कुंथुनाथ व अरहनाथ क्षत्रिय कुरु वंश मे, पार्श्वनाथ व महावीर प्रभु नाथ ज्ञातृ क्षत्रिय वंश मे जन्मे थे।

(२) भ० ऋषभनाथ ही एक मात्र कैलाश गिरि से मोक्ष गये। तथा भ० वासुपूज्य व

(१९) मल्लिनाथ—नगरी–मिथिलापुरी। माता का नाम–प्रभावती। पिता का नाम–कुम्भ। गर्भ तिथि–चैत्र शुक्ला १। जन्म तिथि–मगशिर शुक्ला ११। तप तिथि–मगशिर शुक्ला ११। ज्ञान तिथि–पौष कृष्णा २। निर्वाण तिथि–फाल्गुन शुक्ला ५। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–कलश।

(२०) मुनिसुव्रत—नगरी–राजगृह। माता का नाम–पद्मा। पिता का नाम–सुमित्र। गर्भ तिथि–श्रावण कृष्णा २। जन्म तिथि–आसोज शुक्ला ११। तप तिथि–वैसाख कृष्णा १०। ज्ञान तिथि–वैसाख कृष्णा ६। निर्वाण तिथि- फाल्गुन कृष्णा १२। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–कछुआ।

(२१) नमिनाथ—नगरी–मिथिलापुरी। माता का नाम–वप्रिला। पिता का नाम–विजय नरेन्द्र। गर्भ तिथि–आसोज शुक्ला २। जन्म तिथि–आषाढ शुक्ला १०। तप तिथि–आषाढ कृष्णा १०। ज्ञान तिथि–मगशिर शुक्ला ११। निर्वाण तिथि–वैसाख कृष्णा १४। निर्वाण स्थल-सम्मेद शिखर। चिन्ह–नील कमल।

(२२) नेमिनाथ—नगरी–शौरीपुर। माता का नाम–शिवा देवी। पिता का नाम–समुद्र विजय। गर्भ तिथि–कार्तिक शुक्ला ६। जन्म तिथि–वैसाख शुक्ला १२। तप तिथि–श्रावण शुक्ला ७। ज्ञान तिथि–आसोज शुक्ला १। निर्वाण तिथि–आषाढ शुक्ला ८। निर्वाण स्थल–गिरनार पहाड़। चिन्ह–शख।

(२३) पार्श्वनाथ—नगरी–बनारस। माता का नाम–वामादेवी। पिता का नाम–अश्वसेन। गर्भ तिथि–वैसाख कृष्णा २। जन्म तिथि–पौष कृष्ण १२। तप तिथि–पौष कृष्ण ११। ज्ञान तिथि–चैत्र कृष्णा ४। निर्वाण तिथि–श्रावण बुदी ७। निर्वाण स्थल–सम्मेद शिखर। चिन्ह–सर्प।

(२४) महावीर वर्धमान—नगरी–कुंडलपुर। माता का नाम–प्रिय कारिणी। पिता का नाम–सिद्धार्थ। गर्भ तिथि–आषाढ शुक्ला ६। जन्म तिथि--चैत्र शुक्ला १३। तप तिथि--मगशिर कृष्णा १०। ज्ञान तिथि--वैसाख शुक्ला १०। निर्वाण तिथि--कार्तिक कृष्णा ३० (दीपमालिका)। निर्वाण स्थल--पावापुर। चिन्ह--सिंह।

सर्वज्ञो के ज्ञान मे आगे भविष्यत् काल मे होने वाले १६ कुलकरो के भी नाम आये हैं। वे इस प्रकार कहे जाते है—(१) कनक (२) कनक प्रभ (३) कनक राज (४) कनक ध्वज (५) कनक पुंगव (६) नलिन ७) नलिन प्रभ (८) नलिन राज (९) नलिन ध्वज (१०) नलिन पुंगव ११) पद्म १२ पद्म प्रभ १२ पद्म राज १४ पद्म ध्वज १५ पद्म पुंगल १६ महाप्रभ। यह महाप्रभ कुलकर श्रेणिक राजा का जीव होगा तथा यही भविष्य का अन्तिम कुलकर ही भविष्य का प्रथम तीर्थङ्कर भी होगा।

तीर्थङ्कर अवस्था का पद षोडश कारण भावनाओ से आत्म शुद्धि तथा जीव-करुणा के भावो से जीवो को प्राप्त होता है। अन्य चक्रवर्ती आदि शेष त्रेसठ शलाका पुरुष पद तपस्यादि मे प्राप्त

पराक्रमी आदि–सम्राट चक्रवर्ती भरत तथा बाहूबली से ही नही, यह तो उनके पूर्व १४ कुलकर मनुओ से भी जुडी है तथा इसी लिए इसकी परपरा मे ६३ शलाका महापुरुषो की मान्यता है । तथा यही नही,—कि यह भ० महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर से है,—यह तो भरत क्षेत्र व विदेह क्षेत्रो के धर्म ज्ञान से भी जुडा है, आ० कुदकुद के माध्यम से यह विदेह क्षेत्रीय जीवन्त तीर्थङ्कर सीमधर स्वामी मे भी जुडा ही है । अत यह धर्म प्राचीनतम ‘कल’ का भी है और नवीनतम वर्तमान ‘आज’ का भी है । यह तो समस्त लोक क्षेत्र से जुडा होने से विश्वव्यापी विश्व धर्म का सनातन स्वरूप है—आत्मा के स्वरूप से जुडा होने से आत्मा के साथ ही अनादि तथा सनातन है । इसकी शृ खला उस सुदूर कृतयुग के आरभ तथा अवसर्पिणी काल से ही चली आ रही है । यह इस रूप मे है कि व्यवहार दृष्टि से इसका यह सादि स्वरूप है पर आत्म-परक तथा आत्म ज्ञान परक होने से आत्म तत्व के साथ ही सदा जीवन्त रहने वाला निश्चय दृष्टि से इसका अनादि स्वरूप है । प्रथम जिनेश भ० ऋषभदेव ने इसका इस युग मे व्यवस्थित प्रवचन किया—अत वे योग धर्म या योग शासन के प्रथम प्रवक्ता एवं शास्ता प्रथम तीर्थङ्कर कहलाये । ससार भव महा समुद्र को पार करने वाले घाट रूप तीर्थ का इस प्रकार उनसे निर्माण मानने से—उन्हे तीर्थङ्कर कहा गया । तथा तीर्थ अर्थ गुरु का भी है—अत अध्यात्म गुरु परपरा को उन्होने ही इस युग मे सर्व प्रथम जन्म दिया । इस कारण भी वे प्रथम तीर्थङ्कर कहलाये और यह धर्म उनके जिन स्वरूप परिणत होने से जैन कहलाया ऐसा यह व्यवहार दृष्टि से प्रवर्तित हुआ कहा जाता है ।

यह धर्म ही मग्ग, तपोयोग, अर्हत्—धर्म, व्रात्य, निर्ग्रन्थ धर्म, अरिहतो का धर्म, अहिंसा धर्म आदि नाना सज्ञाओ से व्यवहृत हुआ है ।

दिगम्बर जैन आम्नाय मे ऋषभादि दिगम्बर निर्ग्रन्थ तीर्थङ्करो से लेकर भ० महावीर स्वामी तक—के चतुर्विशति तीर्थङ्कर प्रभुओ की ही वदना नही की जाती, इन सहित तीन काल,—वर्तमान, भविष्यत् तथा अतीत काल के सर्व क्षेत्रो द्वीपो तथा खण्डो के चतुर्विशति जिनेश्वर–तीर्थङ्करो की भी पूजा की जाती है । तथा सामायिक काल मे,—त्रियोग सभाल कर हृदय मे साक्षात् सम्मुख की भावना करके वदना की जाती है । सब जिनेश्वरो की कुल सख्या सप्तशतविंशति (७२०) है । ये सब भूत भविष्यत् तथा वर्तमान की परम गुरु परमात्मा परिणत शुद्ध बुद्ध आत्माए है । अत इनका वदन भी शुद्ध निर्मल स्व आत्मा के ही वदन तुल्य है । तथा इस वदन मे सर्व लोक गत व सर्व काल गत आत्माओ से भी भावना द्वारा सबध जुड जाने से उनके परम निर्मल स्वरूप भावो मे नि सृत अपार अक्षय प्रकाश-ज्ञान के निर्झर-धाराओ से अवगाहन होकर न केवल नित्य नवीन निर्मलता को,—साथ ही एक दिव्य विराट् सर्व गत भाव को भी पा लिया जाता है ।

दिगम्बर जैन परपरा की इस विराट् वदना मे—

तीन काल से—३

प्रत्येक काल के जिनेश्वरो की सख्या–२४

आत्म-साधक शुद्धोपयोग मे चढकर अनन्त चतुष्टय को तथा साथ ही—नव केवल लब्धियो को प्राप्त करके सयोगी जिनेश स्वरूप की प्राप्ति होती है। ऐसे इन ३, २४ व ७२० संख्याओ मे जैन अध्यात्म विज्ञान का अन्तर्रहस्य ग्रन्थित है। 'ॐ आ क्रो ह्री श्री अर्हं ऐ सप्त शत विशति जिनेभ्य: नम —ये मत्र शुद्ध बुद्ध निर्मल परम स्वरूप परमात्मा परिणत होने के विज्ञान मे उत्कर्ष की प्रेरणा देता है।

जैन पुराण साहित्य तथा प्रथमानुयोग-ग्रन्थो मे १६६ तथा ६३ शलाका पुण्यात्मा महापुरुषो का—जिनके कि नाम हमने यहा ऊपर अकित किये है वर्णन आया है। यहा तो हमने मात्र नाम सकेत ही दिये है। इस योगानुशीलन मे—गुण स्थान वर्णन करणानुयोग से सम्बन्धित है। सात द्रव्य, सात तत्व तथा पुण्य पाप व आतमा का निश्चय स्वरूप तथा उस स्वरूप का श्रद्धान द्रव्यानुयोग से सम्बन्धित है, तप सयम ध्यानादि के वर्णन चरणानुयोग से सम्वन्धित है। जैन ज्ञान विज्ञान के चार अनुयोग द्वार है। इस परिशिष्ट मे प्रथमानुयोग सम्बन्धी सकेत देकर चारो अनुयोग द्वारो की ही इस ग्रन्थ मे भावना पूर्ण की है।

जैन योग विज्ञान का मूल आधार अनादि णमोकार मत्र है। इसका वाच्य निर्मल आत्मा स्वरूप है। णमोकार मत्र अपने आप मे सपूर्ण योग शास्त्र है। इस महा मत्र का,—प्रस्तार भग सख्या नष्ट, उद्दिष्ट आनुपूर्वी तथा अनानुपूर्वी—गणित विधियो मे, वर्णन मे जो सख्याओ की उपलब्धि है उनमे सर्व द्वादशाग वाणी के अन्तर्गत के तथ्य सकेतित हो जाते है।

तथा इस महामत्र के स्वर, व्यजन, पद, अक्षर,—इनके सयोग, वियोग, गुणन आदि द्वारा जैन ज्ञान-विज्ञान के अनूठे कर्म सिद्धात की उत्पत्ति को भी लक्षित किया जाता है।

डा. नेमिचन्द्र जैन "मगलमय णमोकार एक अनुचितन' मे पृ. ३७ पर स्पष्ट करते है—

"अनादि निधन इस णमोकार मत्र मे आठ कर्म, कर्मों के आस्रव के प्रत्यय-मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग. बध क्रिया और बध के द्रव्य भाव भेद तथा उसके प्रभेद, कर्मो के करण, बध के चार प्रधान भेद, सात तत्व, नव पदार्थ, बध, उदय, सत्व, चार गति, चार कषाय, चौदह मार्गणा, चौदह गुण स्थान, पाच अस्तिकाय, छह द्रव्य, त्रैसठ शलाका पुरुष आदि निहित हैं। स्वर, व्यजन, पद आदि इस मत्र मे निहित है। स्वर, व्यजन, पद अक्षर—इनके सयोग वियोग गुणन आदि के द्वारा उक्त तथ्य सिद्ध किये जाते है। जिस प्रकार द्वादशाग जिन वाणी के समस्त अक्षर इस मत्र मे निहित है, उसी प्रकार इसमे उक्त सिद्धान्त भी। यद्यपि द्वादशाग जिन वाणी के अन्तर्गत सभी तथ्य यो ही आ जाते है, फिर भी इनका पृथक् विचार कर लेना आवश्यक है।

"इस मत्र मे (१) णमो अरिहताण (२) णमो सिद्धाण (३) णमो आइरियाण (४) णमो उवज्झायाण (५) णमो लोए सव्व साहूण—ये पाच पद है। विशेषापेक्षया (१) णमो (२) अरिहताण (३) णमो (४) सिद्धाण (५) णमो (६) आइरियाण (७) णमो (८) उवज्झायाण (९) णमो (१०) लोए (११) सव्व साहूण—ये ग्यारहपद है। अक्षर इसमे ३५, स्वर २४, व्यजन ३० है।

जतेण कोद्दवं वा पढ़मुव सम्म जतेण ।

मिच्छं दव्व तु धा असंखगुण हीण दव्व कम्मा ।।[1]

अर्थात्—प्रशमोपशमसम्यक्त्व परिणाम रूप यत्र से मिथ्यात्व रूपी कर्म रूप ग्रव्य प्रमाण मे क्रम से असख्यात गुणा–असख्यात गुणा कम होकर तीन प्रकार का हो जाता है । अर्थात् बध केवल मिथ्यात्व प्रकृति का होता है और उदय मे वही मिथ्यात्व तीन रूप मे बदल जाता है । जैसे धान के चावल, कण और भूसा ये तीन अ श हो जाते हैं अर्थात् केवल धान उत्पन्न होता हे पर उपयोग काल मे उसी धान के चावल, कण और भूसा ये तीन अ श हो जाते है । यही बात मिथ्यात्व के भी सम्बन्ध मे है ।

इस प्रकार णमोकार मत्र बध उदय और सत्व की प्रकृतियो की सख्या पर समुचित प्रकाश डालता है । कुल प्रकृति सख्या १४, बध सख्या १२०, उदय सख्या १२२ और सत्व सख्या १४८ इसी मत्र मे निहित हैं । १२० सख्या निकालने का क्रम यह है—३४ स्वर, ३० व्यजन बताये गये है । ३ × ४ = १२, ३ × ० = ० गुणन शक्ति के अनुसार शून्य को दस मान लेने पर गुणनफल = १२० ।

३० से ३ + ० = ३ रत्नत्रय सख्या, ३ × ० = ० कर्माभाव रूप मोक्ष । ३० + ३४ = ६४, ६ × ४ = २४ तीर्थकर, ३ × ४ = १२ चक्रवर्ती, ६४ + ३५ = ९९, ९ + ९ = १८, ८ + १ = ९ नारायण, ९ प्रति नारायण ९ बलदेव इस प्रकार २४ + ८२ + ९ + ९ + ९ = ६३ शलाका पुरुष । ५८ मात्राए इनके विश्लेषण द्वारा ५ + ८ = १३ चारित्र, ५ × ८ = ४०, ४ + ० = ४ प्रकार के बध–प्रकृति, प्रदेश स्थिति और अनुभाग । प्रदेश के भेद-प्रभेद भी इसमे निहित है—प्रमाण के मूल भेद दो हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष । ५ – ३ = १ लब्ध शेष २, यही दो वस्तु के व्यवस्थापक प्रमाण के भेद है । परोक्ष के पाच भेद-स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम रूप पाच पद है । नय के द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक भेदो के साथ नैगम, सग्रह, व्यवहार, ऋजु-सूत्र, शब्द, समभिरुढ और एवंभूत । ये सात भी ३ + ४ = ७ रूप मे विद्यमान है । इस प्रकार इस महामत्र मे कर्म बधक सामग्री–मिथ्यात्व ५, अविरति १२, प्रमाद १५, कषाय २५ और १५ की सख्या भी विद्यमान है, साथ ही कर्म बधन मे मुक्त करने वाली सामग्री ५ समिति, ३ गुप्ति, ५ महाव्रत, २२ परिषह–जय, १२ अनुप्रेक्षा और १० धर्म सख्या भी निहित है । १० धर्म की सख्या तथा १० करणो की संख्या निम्न प्रकार आती है । ३५ अक्षरो का विश्लेषण सामान्य पदो के साथ किया तो ३ × ५ = १५–५ पद = १० । इस मत्र के अ को मे द्वादशाग के पृथक्-पृथक् पदो की सख्या भी निहित है, आचारांग, सूत्र कृताग, स्थानाग, समवायाग, व्याख्या प्रज्ञप्ति, ज्ञातृ धर्म कथाग, उपासकाध्ययनाग आदि अ गो की पद सख्या क्रमशः अट्ठाईस हजार, छत्तीस हजार, बियालीस हजार, एक लाख चौसठ हजार, दो लाख अट्ठाईस हजार, पाच लाख छप्पन हजार, ग्यारह लाख सत्तर हजार, तेईस लाख अट्ठाईस हजार, बानवे लाख चवालीस हजार, तिरानवे लाख सोलह हजार और एक करोड चौरासी लाख पद है । इन सब संख्याओ की उत्पत्ति इस महा-मत्र से हुई है । दृष्टिवाद पदो की सख्या भी इस म त्र मे विद्यमान हैं ।

वाचस्वति मिश्र का कथन है—

"सर्गादादि विद्वानत्र भगवान् कपिलो महामुनिर्ध्मर्यज्ञान—वैराग्यैश्वर्य सम्पन्न प्रादुर्बभूव ।"

अर्थात् सृष्टि के आदि मे आदि–विद्वान् पूजनीय महा मुनि कपिल धम-ज्ञान-वैराग्य और श्वर्य से सम्पन्न हुए ।

"सिद्धाना कपिलो मुनि "—ऐसा भगवद् गीता (१०/२५) का उद्घोष है ।

पंच शिखाचार्य जो आसुरिमुनि के शिष्य कहे जाते है–का वचन है—

"आदि विद्वान् निर्माण चित्तमधिष्ठाय कारुण्याद् भगवान् परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय न्त्रं प्रवोच ।"

अर्थात् आदि ज्ञानी व दर्शनकार भगवान् परम ऋषि (कपिल) ने निर्माण-चित्त (सामारिक स्कारो से विवर्जित चित्त) के अधिष्ठाता होकर जिज्ञासा करते हुए आसुरि को दया भाव से (साख्य) ास्त्र का उपदेश दिया ।

इस आसुरि की ही परपरा मे पच शिखाचार्य, पतजलि, पराशर (वादरी) व्यास, ईश्वर ृष्ण आर्य आदि कहे जाते है ।

कपिल नाम से कहे जाने वाले आदि ज्ञानी व आदि दर्शनकार क्या हिरण्यगर्भ नही थे ? म से कम श्वेताश्वर महर्षि तथा पूज्यपाद भगवान् शकराचार्य के मत मे तो हिरण्य-गर्भ ही वह पिल थे ।

"ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्तमग्रे ;
ज्ञान विभर्ति जायमान च पश्येत् ।।

अर्थात् जिसने सृष्टि के आरभ मे उत्पन्न हुए कपिल ऋषि (हिरण्यगर्भ को ज्ञान सपन्न किया ा और जन्म लेते हुए भी देखा था । (श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ५/२"—गीता प्रेस, गोरखपुर) ृ० २१६ ।

इसका शकर भाष्य का अ श इस प्रकार उल्लखित हुआ है—

"ऋषिं सर्वज्ञमित्यर्थ । कपिल कनक कपिल वर्ण प्रसूत स्वेनै वोत्पादित हिरण्यगर्भं जनया-ास पूर्व मित्यस्यैव जन्म श्रवणात् । अन्य स्य चाश्रवणात् । उत्तरत्र "यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै ेदाश्च प्रहिणोति तस्मै" (श्वे उ० ६/१८) इति वक्ष्यमाणत्वात् "कपिलोऽग्रज" इति पुराण वचना कपिलो हिरण्यगर्भो वा निर्दिश्यते—

"कपिलर्षि भगवत सर्वभूतस्यवै किल ।
विष्णोरंशो जगन्मोहनाशाय, समुपागत ।।"

नही किया गया है।" अत. अपूर्ण ही चाहे हो, पर शकराचार्य द्वारा उधृत होने से इसकी महत्व कम नही है और टीकाकार ने व अनुवादक ने और श्री शकराचार्य ने हिरण्यगर्भ ही अर्थ स्वीकार दिया है।

इस सारे उद्धरण से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि श्वेताश्वतरो० व मुण्डको० व शंकराचार्य आदि को कपिल का अर्थ हिरण्यगर्भ ही मान्य है—क्योकि वही सृष्टि मे आदि ज्ञानी व अग्रज व पूर्व है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि पूर्व मे ज्ञान वाचक साख्य के वक्ता के रूप मे हिरण्यगर्भ ही कपिल है तथा योग वक्ता के रूप मे हिरण्यगर्भ ही हिरण्यगर्भ कहे जाते रहे है। इसी लिए महाभारत कार ने कहा—

सांख्यस्य वक्ता कपिल', परमर्षि स उच्यते।
हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता, नान्य' पुरातन ॥(२/३४९-६५)

और भगवद्गीता ने तो स्पष्ट ही कर दिया—

"सांख्य योगौ पृथग्वाला प्रवदन्ति न पडिता।(५/८)।

साख्य अर्थात् ज्ञान और योग एक ही है—केवल मूर्ख ही इन्हे अलग-अलग कहते है,—न कि पडित जन।

यह निर्विवाद है कि उस प्रथम वीतराग सर्वज्ञ को—किसी भी नाम से कहो—उसे चाहे कपिल कहो—या हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा, विष्णु, प्रजापति किसी भी नाम से कहो उसका यह मार्ग आत्म परक व निग्रंथ वीतरागी महामुनि व परमर्षियो का निरावरण कर्म विवर्जित परम-आत्मा की विशुद्धि का ही ज्ञान व योग का मार्ग है। यह मग्ग, योग, तपोयोग आदि नाना नामो से व्यवहृत चला आ रहा है। इसे मात्र तीर्थंकर महावीर, पार्श्वनाथ या नेमिनाथ (अरिष्टनेमि) आदि से ही जोडने वाले अल्प दृष्टि इतिहासकार भी अपनी दृष्टि को निर्पेक्ष प्रसारित कर सुदूर प्राचीनतम काल तक,—१६ या १४ कुलकर—मनुओ के काल तक,—सृष्टि के आदि पुरा काल तक ले जाने तथा खोज करने का प्रयत्न करेंगे तो मार्ग का—ज्ञान और योग का, धर्म और सस्कृति का तथा क्षत्रिय श्रमण परपरा की प्राचीनता और उत्कृष्टता का पता पाकर धन्य और गद् गद् हो जायेगे। वह प्राचीन काल भारत व भारत जनो तथा क्षत्रिय श्रमणो के शौर्य, कृतियो,—विद्या, ज्ञान, कला कौशल, योग तथा पुरुषार्थ तथा अध्यात्म साधनाओ का उद्‌भव व उत्कर्ष काल रहा है। इन क्षत्रिय श्रमणो की गाथाए आज भी भारतियो का मस्तक गर्व से उचा कर देने को सक्षम तथा पर्याप्त है।

इन्हे पढे व समझे तो सब ही आनन्द-रोमाचित हुए बिना नही रह सकते। प्रत्येक आत्मा की स्वतन्त्यता का, आनन्द का, ज्ञान का, गरीमा का, अच्छाई का और मुक्ति का,—स्वरूप समृद्धि तथा आत्म-विशुद्धि का उनका उद्‌घोष आज भी गगन मे ध्वनित है। यह ज्ञान-विज्ञान हम भारत जनो को, प्राणी मात्र को शुद्ध जीवन के लिए उत्प्रेरक हो। इत्यल ॥

• • •

23 नासदीय सूक्त (ऋग्वेद)

24 भावद्गीता (गीता प्रेस)

25 भारतीय सस्कृति का इतिहास (आ० चतुरसेन)

26 श्री श्वेताश्वतरोपनिषद् (गीता प्रेस)

27 श्री महावीर जयन्ती-पत्रिकाए—(१९६८ आदि जयपुर)

28. भारत का आदि सम्राट (स्वा० कर्मानन्द)

29. मासिक "कल्याण"—(वेदाताक)

30. योग प्रदीप (गोरखपुर—स्वामी ओमानन्द)

31 अवधूत की डायरी (प० दरबारीलाल सत्य भक्त)

32. रहस्यो के घेरे मे (नव भारत टाइम्स—१९७०)

33 जैनिज्म दी ओल्डैस्ट लिविंग रिलीजन—डा ज्योतिप्रसाद

34. आत्म-विज्ञान (योग–निकेतन–ऋषिकेश)

35. जैन धर्म प्रागैतिहासिक जैन परपरा (डा० धर्मचन्द्र)

36 श्री ऋषभदेव–एक परिशीलन (श्री देवेन्द्र मुनि)

37. योग प्रदीप (स क्षु सिद्धसागर)

38 ऋग्वेद सहिता–सप्तम खड भाष्यकार प जयदेव, प्रकाशक आर्य साहित्य मडल, (अजमेर)

39 योगामृत—स आ श्री देशभूषणजी

40. अनुभव प्रकाश—प. दीपचन्द शाह (सोनगढ प्रकाशन)

41 मगलमय णमोकार—एक अनुचिंतन (डा. नेमीचन्द्र)

● ● ●

(२) होमियोपैथी ।

(३) रमल ।

(४) लेखन ।

—वर्तमान मे मात्र ध्यानाभ्यास मे अभिरुचि ।

7 कार्य प्रवृत्ति —(१) प्लीडर जयपुर चीफ कोर्ट तथा एडवोकेट जयपुर हाइ कोर्ट । तथा आजीवन सदस्य जयपुर बार–एसोसियेशन ।

(२) सन् १९४२ मे जयपुर राज्य सेवा, मे नियुक्ति । मार्च १९४५ मे प्रथम श्रेणी दण्ड नायक (जयपुर न्यायिक सेवा) ।

(३) राजस्थान के निर्माण पर १९४८ मे राजस्थान प्रशासनिक सेवा मे चयन ।

१९६८ तक राजस्थान सेवा ये विभिन्न पद—सहायक कलक्टर सब डिवीजनल आफिसर, सब डिवीजनल मैजिस्ट्रेट, डिप्टी कलक्टर, डिप्टी जिला पचायत एवं विकास अधिकारी, डिप्टी जिला निर्वाचन अधिकारी, एडीशनल कलक्टर, आदि पदो पर कार्यरत । अक्टूबर ६८ से विश्राम वृत्ति ।

(४) विश्राम वृत्ति के अवकाश काल मे—लेखन तथा ध्यानादि अभ्यास ।

8 योग-साहित्य कृतियां—

(१) योगानुशीलन (प्रथम तथा द्वितीय भाग) । (ये आपके हाथो मे है)

(२) ध्यानानुचिंतन (यह प्रकाशन की प्रतीक्षा मे है)

(३) स्वरूपानुचिंतन (यह प्रकाशन की प्रतीक्षा मे है)

9 चित्र —लेखक और उनकी धर्म पत्नी उमारानी ।

• • •

योगानुशीलन

प्रथम भाग

शुद्धि-पत्र

पृ० सं०	पंक्ति संख्या	अशुद्धि	शुद्धि
६	३	पाणी	प्राणी
१२	२०	मण्णति	मण्णति
१२	२१	माणुश्रा	माणुपा
१२	२१	भणिता	भणिदा
१६	८	महाबल·	महावातः
१६	१३	र्मोक्षो	मोक्षो
१६	२२	तस्याजननि	तस्याजवनि
१७	१५	स्माद	स्याद्
२१	८	मार्गाविलम्बिनाम	मार्गाविलम्बिनाम्
	११	विरोध	निरोध
	१३	एप	एष
२२	७	चात्मानि	चात्मनि
२३	७	त्ररित्राणि	चारित्राणि
	१८	अस्फुट	स्फुट
	१७	इस विवेचन से परिपूर्ण है जैन आगम	
	२६-२७	(भावी तीर्थंकर)	×
	२७	"न योगः	ने "योग'
३३	१६	स्याद् जीव	स्याद्ऽजीव
३६	१३	घौव्यै	ध्रौव्य
४८	५	पंच	चतु
	२२	कषाश्रो	कषायो
५०	१४	कर्तृव्य	कर्तृत्व
५७	१७	अप्रतिमाती	अप्रतिपाती
५८	८	स्व-संबध	स्व-सवेद्य
५६	१३	नियागेन	नियोगेन

२०३/२०४	२८/२८	भावोत्क्रमण	भावोत्क्रमण
	३०	ऐसो अवेश	ऐसे आवेश
२०६	२	उद्धाम	उद्दाम
२१०	१	श्वेताश्वंत	श्वेताश्वतर
२१५	२५	असमानता	असमान
२१८	१३	अपते	अपने
२२२	१३	व्यक्तिक्त	व्यक्ति
	२२	सजुक्त	सजुवत
२२५	२४	दाजख	दोजख

नोटः—इनके अतिरिक्त भी जो मात्राओं की टूट या छूट अथवा अशुद्धि है, उन्हे शुद्ध करके पढने का पाठक गण कष्ट करें, कष्ट के लिए क्षमा करें।

———

२७३	२३	नियमस्तर	नियमसार
२८०	५	निभ्रन्ति	निभ्रन्ति
२८१	१२	thougt	thought
२८२	१३	धर्म मे	धर्म ध्यान मे
२८३	१३	छड्मस्थ	छद्मस्थ
२८४	१६	यह् जानता	यह् जानना
२८७	२६	गु थन	गुणस्थान
२८८	६	विचरत	विचारत
	दूसरा उपशीर्षक	यग्नता	मग्नता
	२३	ब्रह्ममानन्द	बह्मानन्द
२८६	२२	प्रमाण	प्रणाम
२६०	२	किया-व्रत	क्रिया व्रत
२६१	५	मे	से
	प्रथम उपशीर्षक	प्रमख	प्र मुख
	१२	स्मरमणीय	स्मरणीय
२६२	८	आभ्यासो	अभ्यासो
२६३	शीर्षक	प्रेर्यालोचन	पर्यालोचन
२६४	२७-२८	×	पंक्तियाँ लुप्त समझें
२६५	१८	अन्त	अन्तर
२६७	१५	अपेक्षसया	अपेक्षतया
२६८	१६	अविंद	अचिद्
२६६	उपशीर्षक	हस,, सोऽह	हस सोऽह
३००	३	दैनिक	दैहिक
	८	अनुरण	अनुरणन
	१७	वालु	तालु
३०१	१२	प्राणप्रेक्षा	प्राणप्रेक्षा
	पाद टिप्पणि	१४—१४	१४—१५
३०२	१	पाननम्	पावनम्
	४	सूक्ष्म	सुसूक्ष्म
		मार्ग यायि	मार्गयायि
३०४	१३	निजरित	निर्जरित
३०५	उपशीर्षक	अतिन्द्रिय	अतीन्द्रिय
३०६	"	प्रक्षायें	प्रेक्षाये

	१७	रामणाधिपतये	रामाधिपतये
	१६	त्रिविक्त	विविक्त
	२०	भोग निपुण	योग नैपुण
	२०	भगवान्न	भगवान्
३६२	१	पुरुष	पूरुष:
३६३	१४	जज्ञ	जज्ञे
	१५	सिंच्यग्रर्षभि	सिंच्यर्षभ'
	२४	कीर्त्यंत.	कीर्त्यंते
३६७	७	नैपुण	नैपुण
३७३	१०	पदमचरिय	पउमचरिय
	१२	दक्षिण मे जैन ब्राह्मण ही वर्तमान	दक्षिण मे ही जैन ब्राह्मण वर्तमान
	१४	नुध्रर्जि	नुध्रार्जि
	टिप्पणि	६१	१
३७४	४	सर्वे ऋषि	सर्वे अपि ऋषि
	२१	स्वसरशे	स्वर्सदृशे
३७५	उपशीर्षक	स्वायमुव....मे	स्वायमुव. ..मे
३७६	१	क्राक्रित	काक्रित
३७८	८	हिमवर्प	हिम वर्ष
	१२	स्मृति	स्मृति
३८०	६	प्रध	प्रभ
३८१	१	स्तति	स्तुति
३८१	१३	रादित्य	रादित्ये
३८३	२	का	को
३८४	७	देवी	देव
	१५	देवी	दिव्य
३६०	५	त्मिनि	त्मनि
	६	ब्रह्मी	ब्रह्मो
	१३	उद्गीत	उद्गीथ
	दूसरा उपशीर्षक	रण्य	हैरण्य
३६१	१७	प्राक्त्वत्ता	प्राक्त्वत्त
	२०	अनय	यथा
	२१	पूर्व . .यथा	पूर्व....अनया

४१७	२१	अनात्मचिद्	अनात्म
४१८	१६	तस्मान्	तस्माद्
४१९	२२	ब्रह्मण	ब्राह्मण
४२०	२३	विषय	विचय
४२१	२७	अवरण	आवरण
४२५	४	ऊतर	ऊपर
४२८	२०	र्चिर्षा	र्चिपाम्
	२१	सेनो	मेनो
४३३	१	हृदव	हृदय
	४	ससार	ससार
	४	क्राम	क्रामे
	४	पूर्णशक्त	पूर्णाशि
४३४	४	पज्जाए	पज्जाए
	२०	गर्भेन्तर्वर्तमान·	गर्भेऽन्तर्वर्तमान
४३५	११	एको	य एको
४३७	१६	आश्रसे	आश्रम
	२०	हिंसी	हि ँ सी
	२५	साकार–प्रार्तिवान्	साकार–प्राथितवान्
४३८	२	परिवेष्टित्ताग	परिवेष्टितार
	२	ज्ञात्वान्मृता	ज्ञात्वामृता
४३९	१८	प्रभुवै	प्रभुर्वे
४४०	२७	तिर्यव	तिर्यञ्च
४४१	१४	हृदय के	हृदय
	२०	ब्रह्मचादिनो	ब्रह्मवादिनो
४४२	१८	जयमान	जायमान
	२१	ब्रहमाण	ब्रह्माण
४४३	२	चतु ंस्पद:	चतुष्पद:
	४	वर्ण	वर्ग
	६	महा	कहा
	१५	वैराग्यैश्चयौ	वैराग्येश्वर्यौ
४४७	८	उरुकाय	उरुगाय
४४८	१३	यात्रा	याया
४४९	२	अन्तमुर्ख	अन्तर्मु ंख

४७६	प्रथम उपशीर्षक	धम	धर्म
	११	अद्वद	अद्वय
	१८	सहन	सहज
	२५	प्रधनता	प्रधानता
४७८	१	प्रफास	प्रकाश
	३	उपदेश	उपदेश
	तृतीय उपशीर्षक	निर्मांण	निर्माण
४८०	शीर्षक	अणुत्तर	अनुत्तर
४८२	२	उथ	उय
	३	अविग्रह	अविवह
४९०	१	मिण्त	मिण्यते
४९०	६	नस्थिति	नास्थित.
४९४	२४	सता	सत्ता
४९५	२८	महामुनीर्ना	महामुनीना
४९६	१	धर्ममुया	धर्ममुपा
४९७	१	वदनीन	वदनीय
	६	समस्त....नग्ता	समत्व . .नग्ना
४९८	१	लोकेव	लोकेश
	१०	श्रेसास	श्रेयास
५०५	१८	का कानुभावना	कानुभावना
५०६	१७	र्नाहस्त्येव	नस्त्येव
५०९	२	उपेक्षा	अपेक्षा
५११	१	एकाग्र	एकाग्र
	६	होन्न	होइ
	१३	ने	के द्वारा
	१६	भाग	×
५१३	२३	मुक्ल	शुक्ल
५१४	७	शुद्धि से सूर्य	शुद्धि सूर्य
	२१	ज्योति	जयति
	२३	सिद्धि	सिद्ध
	२८	ऋपि	ऋषि
५१६	७	प्रविज्ञायें	प्रतिज्ञाये
५१७	१०	कलए	लिये

६२१	७	पूजार्थं	पूजार्घं
६२७	१६	उत्हर्पिणी	उत्सर्पिणी
	२१	वेद	भेद
	२७	लप	लय
६२८	३	योगी	योग
	१६	जिस प्रकार	×
	१६	ये	मे
	२०	लेते	×
६२९	१	चैत्यो यत्र	चैत्यो के यत्र
६३०	१५, १७, २१	अहरनाथ	अरहनाथ
	२६	स्वेच्छ	मलेच्छ
६३२	१–४	नाथ	नाम
६४३	२	महामुनिर्घर्य	महामुनिर्घर्म
६४४	२	जगती	जगतो
	३	ब्रह्मविदमसि	ब्रह्मविदामसि
	८	शास्त्र्यो	शास्त्रो
सादर समर्पण	३	हिरण्गर्भ	हिरण्यगर्भ
ग्रन्थ-प्रस्तुती पृष्ठ XX	१२	आन्तरो	आन्तर
,, XXI	१३	सन्तर्चया	सतत चर्या
,, ,,	१६	प्ररुपण	प्ररूपणा
,, XXII	६	मे	पर
,, XXVIII	२७	अविर्भाव	आविर्भाव
,, XXVIII	३१	विद्या	विधा
,, XXIX	६	,,	,,
,, ,,	१७	सूक्त	सूक्त
,, ,,	२१	आलीकत	आलोकित
,, XXXI	१०	१६४२	ई. सन् १६४२ मे
,, ,,	२३	कौर	और
,, XXXII	६	ससग	ससघ
अनुक्रमणिका XXXIV	६	महा महो दयाध्याय	महा महोपाध्याय
,, ,,	७	ग्रन्थ-स्तुति	ग्रन्थ-प्रस्तुती
,, XXXV	१५	अन्तय् वाचन	अन्त्य मगल वाचन
,, ,,	१६	वेदना	वदना

नोट.—इनके अतिरिक्त भी जो मात्राओ की टूट या छूट या अशुद्धि पाठकगण पायें–उन्हे शुद्ध करके पढ़ने का कष्ट करें। कष्ट के लिए क्षमा करें।

६२१	७	पूजार्थं
६२७	१६	उत्सर्पिणी
	२१	वेद
	२७	लप
६२८	३	योगी
	१६	जिस प्रकार
	१६	ये
	२०	लेते
६२६	१	चैत्यो यत्र
६३०	१५, १७, २१	अहरनाथ
	२६	स्वेच्छ
६३२	१–४	नाथ
६४३	२	महामुनिर्धर्य
६४४	२	जगती
	३	ब्रह्मविदमसि
	८	शास्त्र्यो
सादर समर्पण	३	हिरण्गर्भ
ग्रन्थ-प्रस्तुती पृष्ठ XX	१२	आन्तरो
,, XXI	१३	सन्तर्चया
,, ,,	१६	प्ररुपण
,, XXII	६	मे
,, XXVIII	२७	अविर्भाव
,, XXVIII	३१	विद्या
,, XXIX	६	,,
,, ,,	१७	सूक्त
,, ,,	२१	आलीकत
,, XXXI	१०	१६४२
,, ,,	२३	कौर
,, XXXII	६	ससग
अनुक्रमणिका XXXIV	६	महा महो दयाध्याय:
,, ,,	७	ग्रन्थ-स्तुति
,, XXXV	१५	अन्तय् वाचन
,, ,,	१६	वेदना

नोट —इनके अतिरिक्त भी जो मात्राओ की टूट या छूट या करके पढने का कष्ट करे। कष्ट के लिए क्षमा करें।